समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का

द्वैमासिक मुखपत्र

अनेकान्त

★

छोटेलाल जैन स्मृति अंक

इस अंक के सम्पादक

जैनेन्द्रकुमार

यशपाल जैन

अक्षयकुमार जैन

सहकारी

परमानन्द शास्त्री

वर्ष १९]

वार्षिक मूल्य ६)

[अंक १-२

इस अंक का ४)

स्व० बा० छोटेलालजी के उद्गार

● संसार में अपने और पराये का जो व्यवहार चल रहा है वह अर्थहीन है। यहां न कोई अपना है, न पराया। यह कोई नहीं जानता कि संसार के इस महा-समुद्र के प्रवाह में पड़कर कौन कहां से बहता हुआ आ जाता है और कौन बहकर दूर चला जाता है।

● बहु परिग्रह के भीतर जीवन तुच्छ होने लगता है, दुःख दैन्य और अभाव में से गुजर कर मनुष्य का चरित्र महान और सत्य हो जाता है।

● जीवनकी बहुतसी बड़ी बातो को हम तब पहचान पाते है जब उन्हे खो देते है।

● त्याग और विसर्जन की दीक्षामे सिद्धि प्राप्त करना ही हमारी सबसे बड़ी सफलता है। इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर हमारी कितनी ही विधवा बहनें जीवन की सर्वोत्तम सार्थकता का अनुभव कर गई हैं।

● प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि के सामने एक लक्ष्य तो रहना ही चाहिए। लक्ष्य प्राप्ति की चेष्टा जीवन को सयत बनाती है।

● उदारता मनुष्य की महानता है, परन्तु उदारता ममत्व का बलिदान करने पर ही आ सकती है। ममत्व प्राणो के समान प्यारा है। इस भावना का अनुभव किसे नही है कि जो मेरा है वह मेरा रहकर ही—पूरा पूरा मेरा रहकर ही—दूसरों का हो सकता है।

● हमारी जो विश्व वेदना है, इसे मनुष्य जीत सकता है। उपाय केवल एक ही है। सभी बातो और घटनाओं को दूसरो की आंखो से देखना छोड़ कर अपनी आंखों से देखना सीखे।

जिन्होंने अपने जीवन से जैन समाज को प्रबुद्ध तथा अपने कर्तृत्व
से जैन धर्म, साहित्य, कला एवं पुरातत्व को समृद्ध
करने का अहर्निश प्रयत्न किया, उन

स्व० बाबू छोटेलालजी जैन की

पावन स्मृति में

प्रकाशकीय

जैनधर्म और जैन संस्कृति के अनन्य प्रेमी, प्रमुख समाज सुधारक और वीरसेवा मन्दिर के अध्यक्ष बाबू छोटेलालजी का ७० वर्ष की अवस्था मे २६ जनवरी सन् ६६ को कलकत्ता मे प्रातःकाल स्वर्गवास हो गया। इस समाचार से वीरसेवा मन्दिर परिवार मे शोक की लहर दौड़ गई। ता० ३० जनवरी की शाम को साढे सात बजे वीरसेवा मन्दिर भवन मे जैनसमाज के गणमान्य व्यक्तियो की शोक सभा हुई, जिसमे बाबूजी की सेवाओ, जैनधर्म और जैन साहित्योद्धार की भावना एव वीरसेवा मन्दिर की लोकोपयोगी प्रवृत्तियो पर प्रकाश डालते हुए श्रद्धाजलिया अर्पित की गई तथा उनके परिवार के प्रति सम्वेदना व्यक्त करते हुए एक शोक प्रस्ताव पास करके भेजा गया।

साथ ही यह विचार किया गया कि वीरसेवा मन्दिर के प्रति उनकी अपूर्व सेवाओ के उपलक्ष्य मे 'अनेकान्त' का लगभग २०० पृष्ठ का एक स्मृति-अङ्क प्रकाशित किया जाय। भारत के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमारजी, श्री यशपाल जैन, श्री अक्षयकुमार जैन ने केवल उसमे सक्रिय योग देने का आश्वासन ही नही दिया, अपितु उसके सम्पादन का भी दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

बाबू छोटेलालजी जैन समाज के उन इने-गिने व्यक्तियो मे से थे, जिन्होने अपने जीवन के बहुत से वर्ष सेवा मे व्यतीत किये थे। वे इतिहास और पुरातत्त्व के विद्वान ही न थे, बल्कि उनके सवर्धन मे पर्याप्त रुचि रखते थे और तदनुकूल सामग्री के सचय मे संलग्न रहते थे। वे सेवाकार्य मे जीवन खपा देने वाले उदार व्यक्ति थे। वीरसेवा मन्दिर के भवन-निर्माण मे उन्होने जो कठोर श्रम किया, वह उनकी निःस्वार्थ सेवा-वृत्ति का परिचायक है। इसके माध्यम से उन्होने अनेक लोकोपयोगी प्रवृत्तियो का सचालन किया और आर्थिक सहयोग स्वय देकर तथा दिलवाकर उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। उनकी सस्था के प्रति जितनी उच्च भावना थी और जैसा वे चाहते थे, वैसा साधन-सामग्री के अभाव मे दुर्भाग्य से नही कर सके।

'अनेकान्त' पत्र के प्रति उनकी अपूर्व सेवाएं है। उसके सचालन का श्रेय भी उन्ही को है। उनके ही प्रयत्न से सन् १९६२ से 'अनेकान्त' बराबर द्वैमासिक रूप मे निकल रहा है। उनके निधन से अनेकान्त को बडी क्षति पहुँची है। अनेकान्त का यह 'छोटेलाल जैन स्मृति अङ्क' उनकी सेवाओ का प्रतीक है। इसमे सम्पादक-मण्डल ने प्रयत्न किया है कि बाबू छोटेलालजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर तो प्रकाश पडे ही, साथ ही वे विषय भी आ जायँ, जिनमे उनकी गहरी अभिरुचि थी।

सम्पादक-मण्डल ने इसके लिए बडा परिश्रम किया है, जिसके लिए मै उन्हे धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि उनका सहयोग हमेशा इसी प्रकार मिलता रहेगा।

—प्रेमचन्द जैन

प्रकाशक—'अनेकान्त'

वीर-सेवा-मन्दिर की श्रद्धांजलि

वीर-सेवा-मन्दिर की यह आम सभा जैन-धर्म और जैन-समाज के अनन्य सेवी तथा पुरातत्व के विद्वान् बाबू छोटेलालजी जैन के निधन पर गहरा शोक प्रकट करती है। बाबू छोटेलालजी उन इने-गिने व्यक्तियों मे से थे, जिन्होंने अपने जीवन के बहुत से वर्ष सेवा में व्यतीत किये। वीर-सेवा-मन्दिर को वर्तमान रूप देने का श्रेय मुख्यतः उन्हीं को है। इस सस्थान के द्वारा उन्होंने अनेक लोकोपयोगी प्रवृत्तियों का सचालन किया। बाबू छोटेलालजी के निधन से जैन-समाज की विशेषकर वीर-सेवा-मन्दिर को जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती। यह सभा दिवंगत आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है और प्रभु से प्रार्थना करती है कि उनकी आत्मा शान्त उच्चपद प्राप्त करे। उनके परिवार के साथ यह सभा सहानुभूति प्रकट करती है।

सम्पादकीय

'अनेकान्त' का विशेषांक प्रस्तुत करते हुए हमें जहाँ हर्ष का अनुभव हो रहा है वहाँ गहरे विषाद का भी। हर्ष इसलिए कि पाठकों को अनेक विद्वान लेखकों की रचनाएँ इस अंक में पढ़ने को मिलेंगी। विषाद इसलिए कि इस विशेषांक को हम एक ऐसे विशेष व्यक्ति की स्मृति में प्रकाशित कर रहे हैं, जिन्हे अभी बहुत समय तक जीना था और अनेक लोकोपयोगी कार्य करने थे। विविध क्षेत्रों मे उन्होंने जो सेवाएँ की, उन पर विस्तार से विभिन्न लेखो मे प्रकाश डाला गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि बाबू छोटेलालजी व्यक्ति नही, एक संस्था थे और अपने जीवन-काल मे उन्होने इतना कार्य किया, जितना एक विशाल संस्था भी नही कर सकती थी।

'अनेकान्त' तथा वीर-सेवा-मन्दिर के साथ छोटेलाल-जी का कितना गहरा संबंध था, यह बताने की आवश्यकता नही है। वस्तुत. अनेकान्त और वीर-सेवा-मन्दिर छोटेलालजी के पर्यायवाची बन गये थे। अपने जीवन के अंतिम क्षण तक उन्हे इन दोनो की चिन्ता रही। उनकी इच्छा थी कि 'अनेकान्त' भारत की प्रमुख शोध-पत्रिकाओं मे से एक हो और 'वीर-सेवा-मन्दिर' सक्रिय रूप मे समाज और राष्ट्र की सेवा करे। लेकिन प्राय. देखने मे आता है कि मनुष्य सोचता कुछ है, होता कुछ है। बाबू छोटेलालजी के स्वप्न पूरे नही हो सके और अब उनको पूरे करने का दायित्व उन महानुभावो पर है, जो छोटेलालजी के स्नेहभाजन थे और जो इन संस्थाओं के साथ अभिन्न रूप मे आज भी जुड़े हुए है।

जिस समय 'अनेकान्त' का विशेषांक निकलने की कल्पना की गई थी, यह सोचा गया था कि इसके कुछ पृष्ठो में छोटेलालजी के संस्मरण रहें और कुछ में उनके कृतित्व पर प्रकाश डाला जाय, लेकिन अधिकाश पृष्ठो मे साहित्य, जैन दर्शन, जैन पुरातत्व, जैन कला तथा जैन संस्कृति पर विद्वानों के सारगर्भित लेख रहे।

हमे खेद है कि हमारी यह योजना पूरी नहीं हो सकी। आज का युग व्यस्तता का युग है। घटना-चक्र बड़ी तीव्रता से चलता है। हमने अनेक महानुभावो को पत्र लिखे। हमे यह कहते हुए परम प्रसन्नता होती है कि बहुत से विद्वान लेखकों ने अपनी-अपनी रचनाएँ भेजी, लेकिन कुछ लोग अपनी व्यस्तता के कारण हमारे अनुरोध को स्वीकार करके भी लेख नही भेज सके। जिन्होने रचनाएँ भेजी है, उनके तो हम आभारी है ही, लेकिन जो नही भेज सके, उनको भी हम धन्यवाद दिये बिना नही रह सकते। इस अनुष्ठान मे सभी हमारे साथ थे। इससे स्पष्ट है कि बाबू छोटेलालजी के प्रति सभी व्यक्तियों के हृदय मे बड़ा स्नेह और आदर था।

विधिवत रूप से विभिन्न विभागों का विभाजन न कर पाने पर भी हमने इस अंक मे अधिक-से-अधिक विचार-प्रेरक एवं ज्ञान-वर्द्धक सामग्री देने का प्रयत्न किया है। इसमे बाबू छोटेलालजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर जहाँ मर्मस्पर्शी संस्मरण पढने को मिलेगे, वहा जैन दर्शन, साहित्य, कला तथा पुरातत्व पर भी सार गर्भित रचनाएँ पाठको को प्राप्त होगी।

हमे इस बात का बडा दु:ख है कि स्थानाभाव के कारण कई लेखो का चाहते हुए भी हम उपयोग नही कर सके। उनमे से चुने हुए लेखो को हम 'अनेकान्त' के आगामी अंको मे निकालने का प्रयत्न करेगे।

विशेषांक कैसा बन पडा है, इसका निर्णय तो स्वयं पाठक ही करेगे। हम इतना ही निवेदन कर देना चाहते है कि इसकी सामग्री के संकलन तथा प्रकाशन मे हमने यथासामर्थ्य परिश्रम तथा ईमानदारी से काम लिया है। यदि इसमे कोई अच्छाई है तो उसका श्रेय विद्वान लेखकों को है और यदि इसमे कोई त्रुटिया या कमिया है तो उनके लिए हमारी जिम्मेदारी है।

हमे विश्वास है कि पाठक इस विशेषांक को सुपाठ्य तथा संग्रहणीय पायगे।

विशेषांक मे २०० पृष्ठसे ऊपर सामग्री दी गई है और आर्ट पेपर पर दो दर्जन से भी अधिक चित्र दिये गये हैं।

—सम्पादक

विषय-सूची

	पृष्ठ
१ सम्यग्दृष्टि का स्तवन (कविता)—बनारसीदास	१
२ उदारमना स्व० बाबू छोटेलालजी —प० बशीधर शास्त्री	२
३ कल्याणमित्र—डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये	८
४ अनासक्त कर्मयोगी—प० कैलाशचन्द जैन	१०
५ वे क्या नहीं थे—श्री नीरज जैन	१२
६ नाम बडे दर्शन सुखकारी—अमरचन्द जैन	१७
७ उनके मानवीय गुण—अक्षयकुमार जैन	१८
८ मूक सेवक—प्रो० भागचन्द जैन	१९
९ सच्चा जैन—डा० दशरथ शर्मा	२०
१० ज्ञान तपस्वी गुणिजनानुरागी —रतनलाल कटारिया	२१
११ एक अविस्मरणीय व्यक्तित्व—भवरलाल नाहटा	२७
१२ व्यक्तित्व के धनी—यशपाल जैन	२९
१३ मूक जनसेवक बाबूजी—प्रभुलाल प्रेमी	३१
१४ पुरानी यादे—डा० गोकुलचन्द जैन	३२
१५ एक अकेला आदमी—मुनि कान्तिसागर	३४
१६ स्व० बाबू छोटेलालजी का वंशवृक्ष —श्री नीरज जैन	३५
१७ ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धासहित प्रणाम (कविता)—कल्याणकुमार शशि	३६
१८ बयाना जैन समाज को बाबूजी का योगदान —कपूरचन्द नरपत्येला	३७
१९ जीवनसगिनी की समाधि पर सकल्प के सुमन —(स्व० बाबूजी की डायरी का एक पृष्ठ)	३९
२० देश और समाज के गौरव— डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	४२
२१ श्रद्धाजलि (कविता)—अनूपचन्द न्यायतीर्थ	४४
२२ तीन दिन का आतिथ्य—डा० नेमिचन्द शास्त्री	४५
२३ धर्म और सस्कृति के अनन्य प्रेमी —पं० के. भुजबली शास्त्री	४८
२४ उनकी अपूर्व सेवाएँ—पन्नाल अग्रवाल	४८
२५ राजघाट की जैन प्रतिमाएँ—श्री नीरज जैन	४९
२६ सतुलन—अपना व्यवहार—मुनि श्री कन्हैयालाल	५०
२७ जसहर चरिउ की एक कलात्मक सचित्र पांडुलिपि —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	५१
२८ मध्य भारत का जैन पुरातत्व—परमानन्द शा०	५४
२९ आश्रम पत्तन ही केशोराय पट्टन है —डा० दशरथ शर्मा	७०
३० वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ —डा० राजकुमार जैन	७४
३१ तलघर मे प्राप्त १६० प्रतिमाएँ —श्री अगरचन्द नाहटा	८१
३२ अपभ्रंश चरित काव्य—डा० देवेन्द्रकुमार शा०	८४
३३ बौद्ध साहित्य मे जैनधर्म—प्रो० भागचन्द जैन	९०
३४ विदर्भ के दो हिन्दी काव्य —डा० विद्याधर जोहरापुरकर	९७
३५ क्रोध पर क्रोध—	१००
३६ महाकवि रइधूकृत सावयचरिउ —डा० राजाराम जैन	१०१
३७ अचलपुर के राजा श्रीपाल ईल —नेमचन्द धन्नूसाजैन	१०५
३८ सस्कृत जैन प्रबन्ध काव्यो मे प्रतिपादित शिक्षा पद्धति—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री	१०९
३९ चातुर्मास योग—प० मिलापचन्द्र कटारिया	११७
४० सुजानमल की काव्य-साधना—गगाराम गर्ग	१२०
४१ धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध —प० गोपीलाल अमर	१२२
४२ आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा —प० कुन्दनलाल जैन	१२४
४३ गधावल और जैन मूर्तियाँ—एम. पी गुप्ता और बी. एन. शर्मा	१२९

विषय	पृष्ठ
४४ जैनकथा साहित्य की विशेषताएँ —डा० नरेन्द्र भानावत	१३१
४५ स्थायी सुख और शान्ति का उपाय —पं० ठाकुरदास जैन	१३६
४६ धर्मचक्र सम्बन्धी जैन परम्परा —डा० ज्योतिप्रसाद जैन	१३९
४७ जैन मूर्तिकला का प्रारम्भिक स्वरूप —रमेशचन्द शर्मा	१४२
४८ द्रव्यसंग्रह के कर्ता और टीकाकार के समय पर विचार—परमानन्द जैन शास्त्री	१४५
४९ वीरनन्दी और उनका चन्द्रप्रभ चरित —अमृतलाल शास्त्री	१४८
५० राजस्थान का जैन पुरातत्त्व —डा० कैलाशचन्द्र जैन	१५३
५१ जैन-बौद्ध-दर्शन—प्रो० उदयचन्द्र जैन	१५८
५२ स्याद्वाद का व्यावहारिक जीवन में उपयोग —पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ	१६५
५३ जैनदर्शन और वेदान्त—मुनिश्री नथमल	१६७

विषय	पृष्ठ
५४ आधुनिक विज्ञान और जैनदर्शन —पदमचन्द्र जैन	१७३
५५ प्राकृत वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा का विहगावलोकन—डा० सत्यरंजन बनर्जी	१७५
५६ अनेकान्त और वीरसेवामन्दिर के प्रेमी श्री बा० छोटेलाल जी—जुगलकिशोर मु०	१८१
५७ एक निष्ठावान साधक—जैनेन्द्रकुमार जैन	१८७
५८ विचारवान एक सहृदय व्यक्ति (एक संस्मरण) —पन्नालाल साहित्याचार्य	१८८
५९ एक संस्मरण—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	१९०
६० संस्मरण—हीरालाल सिद्धान्त-शास्त्री	१९२
६१ विनम्र श्रद्धांजलि—कपूरचन्द बरैया	१९४
६२ अभिनन्दन-पत्र	१९५
६३ अभिनन्दन-पत्र	१९६
६४ धर्मप्रेमी बाबू छोटेलालजी—किशनचन्द जैन	१९७
६५ श्रद्धांजलि—प्रेमचन्द जैन	१९८
६६ दो संस्मरण—'स्वतन्त्र' जैन	१९९
६७ वे महान् थे—प्रकाश हितैषी शास्त्री	२००
६८ साहित्य समीक्षा—परमानन्द	२०१

बाबू छोटेलाल जी जैन

जैन-समाज जिनका चिर ऋणी रहेगा

जन्म : १९ फरवरी १८६६   मृत्यु : २६ जनवरी १९६६

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १९ किरण १-२, | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९२, वि० स० २०२३ | अप्रैल और जून सन् १९६६

सम्यग्दृष्टि का स्तवन

कविवर बनारसीदास

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन,
केलि करै शिवमारग में, जगमांहि जिनेश्वर के लघु नंदन।
सत्य स्वरूप सदा जिन्हके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकंदन,
सांत दशा तिन्हकी पहिचान, करै करजोरि बनारसि वंदन ॥

× × × ×

सम्यक्वंत सदा उर अंतर, ज्ञान विराग उभै गुन धारै,
जासु प्रभाव लखै निज लक्षन, जीव अजीव दशा निरवारै।
आतम को अनुभौ करि ह्वै थिर, आपु तरै अरु औरनि तारै,
साधि सुदर्व लहै शिव सर्म, सुकर्म उपाधि व्यथा वमि डारै ॥

—नाटक समयसार

उदारमना स्व० बाबू छोटेलालजी

वंशीधर शास्त्री

गत २६ जनवरी को प्रात. श्री छोटेलालजी जैन जैसे मूक सेवक, पुरातत्व संस्कृत के प्रेमी तथा निर्भीक कार्यकर्त्ता का देहावसान हो गया है। इन जैसा उदारमना तथा निर्भीक व्यक्तित्व वाला पुरुष सहज सुलभ नहीं होगा।

उन जैसे विविध प्रवृत्तियों में लीन व्यक्ति की जीवन-गाथा आने वाली पीढियों के लिए हमेशा प्रेरणास्पद रहेगी, जो व्यापार व्यवसाय मे रहते हुए भी पुरातत्व, शिक्षा, साहित्य, सस्कृति, समाज सुधार एवं संगठन तथा अभावग्रस्त एवं पीड़ित मानवों की सेवा आदि में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते रहे, जो चिर अविस्मरणीय होगे।

आपका जन्म ७० वर्ष पूर्व १६ फरवरी १८९६ फाल्गुन शुक्ला २ वि० स० १६५२ को हुआ था। आपके पिता श्री रामजीवनदासजी सरावगी कलकत्ता जैनसमाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियो मे से थे। आप बचपन से ही अपने पिताजी के अधिक सम्पर्क मे रहे थे। पिताजी के पास आनेवाले व्यापारियो एव विद्वानो की चर्चा आप रुचिपूर्वक सुना करते थे एवं कभी-कभी आप चर्चा मे भाग भी लेते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ है कि आप प्रारम्भ से ही सार्वजनिक व सामाजिक क्षेत्र मे अभिरुचि लेने लगे। इस अभिरुचि ने ही इन्हें मूक सेवक बनने की प्रेरणा दी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय दिगम्बर जैन पाठशाला मे हुई। आपने मैट्रिक परीक्षा श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय से पास की। तत्पश्चात् कालेज मे पढना जारी किया, किन्तु कुछ विशेष कारणों के कारण आप अध्ययन छोडकर गनि व हैसियन के व्यापार मे लग गये, जहाँ आपने अपने बुद्धि-कौशल से धनोपार्जन के साथ साथ अपने सहज निर्मल व्यवहार से प्रतिष्ठा भी अर्जित की।

आपने व्यवसाय से सन् १९५२ के दिसम्बर मे ही निवृत्ति ले ली थी, तब से आप अपना पूर्ण समय सस्कृति के उत्थान मे देने लगे। जब किसी असहाय जैनी के बीमार होने का समाचार मिलता तो आपके पिताजी स्वयं जा कर उसकी सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था करते थे, वे अपने अन्य पुत्रो के साथ आपको भी रोगी के पास ले जाते थे। आपकी नि.स्वार्थ सेवा से रोगी अपनी बीमारी के सारे दु:ख भूल जाता था, आप बीमार के मल-मूत्र साफ करने में भी नहीं हिचकते थे।

इस प्रकार की परिचर्या आप केवल सम्बन्धी या परिचित की ही करते हों, ऐसा नही था। सन् १९१८ दिसम्बर मे कलकत्ता मे हुए इन्फ्ल्यूएन्जा के समय बडा बाजार मे गरीबो को ढूढ-ढूंढकर आप उनकी चिकित्सा, पथ्य आदि की व्यवस्था करवाते थे। उन्होने कलकत्ता कारपोरेशन से लिखा-पढी कर एक चिकित्सक की व्यवस्था कराई। इस प्रकार रोगाक्रान्त मानवो की सेवा मे आप एक माह तक लगे रहे।

आप प्रारम्भ से ही सेठ पद्मराजजी रानीवालो के सम्पर्क मे आये। उनके पिता सेठ फूलचन्दजी से आपके पिताजी का घनिष्ट सम्बन्ध था, इसीलिये आपका उनके यहाँ बराबर आना-जाना बना रहता था। आप उनकी समाज सुधार एवं राजनैतिक विचारधारा से बहुत प्रभावित थे। आरा के श्री सिद्धान्त भवन के बाबू करोडीचन्दजी कलकत्ता आते रहते थे, वे रानीवालों के यहां ठहरते थे। अत बाबूजी का भी उनसे परिचय हुआ। जो आगे चलकर घनिष्ठता मे परिवर्तित हुआ, आपकी पुरातत्व, साहित्य के प्रति रुचि जागृत करने मे श्री करोडीचन्दजी का बहुत बडा हाथ रहा। यह रुचि आपके जीवन का मुख्य अग बन गई।

आप कलकत्ता जैन समाज की ही नहीं, अपितु अन्य

अनेक सार्वजनिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लेते रहे थे, जिनमें कुछ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

स्थानीय महावीर दि० जैन विद्यालय के मन्त्री २५-३० वर्ष तक रहे। आप अपने कार्यकाल मे बच्चों की धार्मिक शिक्षा एवं सस्कारो पर विशेष जोर देते थे। जैन बच्चो के लिए धार्मिक विषय मे सफल होना अनिवार्य रखते थे, जिसका यह परिणाम हुआ कि उस कालके विद्यालयो के विद्यार्थियो मे धार्मिक रुचि अधिक बढी थी।

अपने पिता श्री के ट्रस्टी होने के कारण आप भी प्रारम्भ ही से दिगम्बर जैन मन्दिरो की व्यवस्था आदि मे सक्रिय भाग लेते रहे। आप भी वर्षो मे दिगम्बर जैन मन्दिरो के ट्रस्टी एव रथयात्रा कमेटी के भी ट्रस्टी रहे।

जैन भवन के निर्माण मे प्रमुख भाग लेते रहे है।

अहिसा प्रचार समिति के सस्थापको मे से है एवं इसके निर्माण एव सवर्द्धन मे सक्रिय भाग लेते रहे हैं।

कलकत्ता मे सन् १९४४ मे वीर शासन जयन्ती महोत्सव विशाल स्तर पर मनाया गया, उस समय वीर-शासन सघ एव विद्वत् परिषद की स्थापना कराई।

आप कलकत्ता में श्वेताम्बर दिगम्बर समाजो को सयुक्त रूप मे महावीर जयन्ती मनाने के पक्ष मे प्रारम्भ से रहे है। आप जैन समाज के सभी सम्प्रदायो मे ऐक्य चाहते थे। जैसे आप दिगम्बर समाज मे प्रिय एवं सम्मानित थे वैसे ही श्वेताम्बर समाज मे भी थे। आप जैन समाज की एकता की प्रतीक श्री जैन सभा मे कार्य करते रहे हैं। आप १९४७-४८ में इसके सभापति चुने गये थे। आपके कार्य-काल मे सभा की ओर से महावीर जयन्ती उत्सव मनाया गया, जिसमे दोनों समाजों व इतर समाजो के उच्च कोटि के विद्वान् सम्मिलित हुए थे। आप उसके बाद मे सभा की कार्यसमिति मे बराबर रहते आये हैं। आपने सदैव जैन समाज की सभी शाखाओ की एकता पर बल दिया।

'श्री दिगम्बर जैन युवक समिति' कलकत्ता की एक महत्वपूर्ण संस्था है। इसके स्थापन एवं प्रारम्भिक कार्यो मे आपका विशेष हाथ रहा है। इस समिति की ओर से महावीर पुस्तकालय संचालित होता है, उसमें आपने अपनी सगृहीत बहुमूल्य पुस्तके दी थी। समिति की ओर से सन् १९२१ मे 'जैन विजय' नामक पत्र प्रकाशित हुआ था, उसमे आप सहायक सम्पादक नियुक्त किये गये थे। सन् १९२२ मे बाढ-पीड़ितों की सहायता के लिए चन्दा हुआ, उसके लिए भी आपने प्रयत्न किया था।

सन् १९१७ मे सेठ पद्मराजजी रानीवालों एवं आप के प्रयत्नों से जैन समाजो की एकता व उन्नति के लिए श्री महावीर जैन समिति की स्थापना की गई, जिसके सभापति रानी वाले एव आप मन्त्री रहे थे। समिति की ओर से मासिक सभा करवाने तथा विशेषत: स्त्री-जाति में विद्या प्रचार करना आदि तय किया गया। समिति की ओर से १९१७ मे जैनधर्म भूषण स्व० ब्र० शीतल-प्रसादजी के सभापतित्व मे भारत जैन महामण्डल का अधिवेशन हुआ, जिसमे प्राय सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। समिति की ओर से काग्रेस अधिवेशन के समय २७-१२-१७ को All India Jain Association व Political Jain Conference का भी आयोजन किया गया था, जिसमे लोकमान्य बाल गगाधर तिलक व देश-पूज्य खापर्डे भी सम्मिलित हुए थे। श्री खापर्डे जैन पोलिटिकल कान्फ्रेंस के सभापति थे।

समिति १९१७ मे कांग्रेस—Affiliate हो गई थी और समिति को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया था। बाबूजी भी अनेक वर्षो तक कांग्रेस के प्रतिनिधि होते रहे हैं।

बगाल, बिहार, उड़ीसा दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अनेक वर्षो तक मन्त्री रहे। बिहार प्रान्तीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के एवं अखिल भारतीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की प्रबन्धकारिणियों मे अनेक वर्षों वे सम्मानित सदस्य के रूप मे रहे थे।

आपने खण्डगिरि, उदयगिरि का इतिहास समाज के सामने रखा। भ० महावीर के फूफा जितारी का निर्वाण स्थल सिद्ध कर इसे सिद्ध-क्षेत्र घोषित किया। इस क्षेत्र को प्रसिद्धि मे लाने का श्रेय आपको ही है।

आप कलकत्ता के गनी ट्रेडर्स एसोसिएशन के स्थापनकाल (सन् १९२५) से ही सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे है। आप ३२ वर्ष तक इसकी कार्यकारिणी समिति के सदस्य

रहे, दस वर्ष तक अवैतनिक संयुक्त मन्त्री पद को सुशोभित करते रहे हैं। तीन वर्ष तक आप एसोसिएशन के उप-प्रधान एव दो वर्ष तक प्रधान पद पर भी आसीन रहे थे। अपनी निष्पक्षता के आधार पर आपने जो ख्याति प्राप्त कर ली थी, उसके कारण आपका निर्णय सहर्ष स्वीकार होता था। आपके मन्त्रित्व काल मे एसोसिएशन को व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त जनकल्याण मे भी प्रवृत्त किया गया, जिसमे लगभग पाँच लाख रुपये खर्च किये गये। आप इस एसोसिएशन की ओर से अनेक व्यापारिक संस्थाओ के प्रतिनिधि भी रहे थे।

आप जैन सस्कृति की सुरक्षा एवं उत्थान के लिए हमेशा अग्रसर रहते थे। आप प० जुगलकिशोरजी मुख्तार की लेखनी से प्रभावित हुए उनके कार्यों को प्रकाशन आदि के लिए हजारों रुपये दान में देते रहे। वीर सेवा मन्दिर को सरसावा जैसी छोटी जगह से लाकर देहली जैसे केन्द्रीय स्थान में लाने का श्रेय आप ही को है। आपने हजारो रुपया स्वय व औरों से दिलाकर स्थायित्व प्रदान किया। मन्दिर का अपना भवन बना जो आनेवाली पीढी के लिए प्रेरणा स्रोत एव जैन इतिहास व संस्कृति के विद्यार्थियो के लिये महत्वपूर्ण केन्द्र सिद्ध होगा। आपने सस्था की ओर से प्रकाशित 'अनेकान्त' पत्र को महत्वपूर्ण सहयोग दिया। अपनी रुग्णावस्था में भी आप इस पत्र के लिए चिन्तित रहते थे एवं इसके समय पर निकलने की आवश्यक व्यवस्था भी करते थे। लेखादि के लिए विद्वानों को प्रेरणा करते थे।

आपको शिक्षा से प्रेम अपने पिता श्री के संस्कारो से मिला था। आप स्याद्वाद विद्यालय, वाराणसी के बहुत समय से सदस्य थे साथ ही ट्रस्टी एवं उप-सभापति भी थे। इस संस्था का सम्मेदशिखरजी मे १९५६ मे स्वर्ण जयन्ती महोत्सव मनाया गया था, जिसके मूल प्रेरक एव आयोजक आप ही थे। इस अवसर पर संस्था के लिए एक अच्छी धन-राशि एकत्रित की गई थी। आप एव आपकी प्रेरणा पर परिवार के अन्य सदस्यों की ओर से सस्था को अब तक लगभग ५० हजार रुपया दिया जा चुका है। आपको विद्यालय की उन्नति तथा खर्चे की पूर्ति एवं यथायोग्य संचालन का सदा ध्यान रहता था।

साहू शातिप्रसाद जी ने साहित्यिक विकास उन्नयन एवं सास्कृतिक अनुसन्धान तथा प्रकाशन के उद्देश्य से सन् १९४४ मे भारतीय ज्ञान-पीठ की स्थापना की। इसकी स्थापना की प्रेरणा मे आपका प्रमुख हाथ रहा है। आप इसके ट्रस्टी एवं सचालन-समिति के सदस्य रहे थे। आप इसके जैन प्रकाशनों के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण सुझाव देते रहते थे। स्वर्गीय प० नाथूरामजी प्रेमी के अनुरोध पर आपने माणिकचन्द ग्रन्थमाला का कार्यभार ज्ञानपीठ को स्वीकार करने की प्रेरणा दी थी।

आप स्वामी सत्यभक्तजी एव ब्र० शीतलप्रसादजी से बहुत प्रभावित थे। आपने सत्यभक्तजी के आश्रम के सचालन एव साहित्य प्रकाशन के लिए हजारो रुपया दान दिया था। आप शीतलप्रसादजी की धर्म-प्रचार-भावना एवं साहित्य-सृजन की अथक वृत्ति से बहुत प्रभावित थे। आप उन्हे हर प्रकार का सहयोग देते रहते थे।

आप जैन सस्कृति के पुरातत्व विभाग मे प्रेम रखते थे इसलिए जैन सामग्री की खोज मे विभिन्न स्थानो पर जाते रहते थे। आप वहा से सामग्री एकत्रित करते थे। आपके पास पुरातत्व की दुर्लभ सामग्री के अनेक बहुमूल्य चित्र थे, जिनको विस्तृत कराकर स्थानीय बेलगछिया उपवन के हाल मे सर्वसाधारण के प्रदर्शनार्थ रख दिया गया है। आपके पास २५००-३००० के लगभग बहुमूल्य पुस्तके थीं। आपका पुरातत्व विशेषज्ञो एव अधिकारियों से घनिष्ट सम्पर्क था। आप यथावसर जैन पुरातत्व पर लेख भी लिखते थे। आपने कलकत्ता के जैन मन्दिरो की मूर्तियो और यन्त्रो के लेखों को भी पुस्तकाकार प्रकाशित कराया था। आपने जैन बिब्लियोग्राफी का प्रथम भाग प्रकाशित कराया था। आप दूसरा भाग तैयार कर रहे थे जो लगभग प्राय. पूर्ण हो चुका था, किन्तु आपकी निरन्तर बीमारी के कारण प्रकाशित नही हो सका। आशा है अब वह प्रकाशित हो सकेगा।

आप रायल एसियाटिक सोसायटी के सम्मानित सदस्य थे। आप इसके प्रतिनिधि के रूप मे हिस्ट्री काग्रेस मे भी कई बार गये थे। आप विदुषी चन्दाबाईजी के 'जैन बाला-विश्राम' आरा से भी सम्बन्धित रहे है। आप वहा की व्यवस्था, शिक्षा आदि से बहुत प्रभावित थे। किसी

भी कन्या की पढ़ाई का जिक्र आने पर आप उसे आरा भिजवाने का परामर्श देते थे।

आप आल इण्डिया ह्यूमैनिटेरियन लीग आगरा की प्रबन्धकारिणी कमेटी के उपसभापति व सदस्य अनेक वर्षों तक रहे हैं।

अपराधियों की देखभाल कर उन्हें सुमार्ग में लाने वाली Bengal-after-care Association कमेटी के आप सदस्य रहे हैं, इस संस्था के प्रधान संरक्षक भारत के राष्ट्रपति थे एवं बंगाल के अनेक मुख्याधिकारी इसके सदस्य रहते थे।

आप सन् ४३ में भारतीय जैन परिषद् कलकत्ता के सक्रिय मन्त्री चुने गये थे। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य जैन साहित्य और संस्कृति का प्रचार व प्रसार करना था। इसके तत्त्वावधान में अनेक विद्वानों के साप्ताहिक, मासिक सभाओं में भाषण होते थे, जिन्हें प्रकाशित भी कराते थे Jain System of Education और Theory of Nhn-Absolusion नामक संग्रह प्रकाशित किये गये थे।

आप आल इण्डिया दिगम्बर जैन परिषद् की प्रबन्ध कारिणी समिति के सदस्य रहे हैं।

आप आल इण्डिया म्यूजिक कान्फ्रेंस, कलकत्ता के उप-सभापति रहे हैं।

आप Indian Association of Mental Hygiene के १९४४ से ४७ तक कोषाध्यक्ष रहे हैं।

१९३९ में इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट के सदस्य रहे हैं।

आप सन् ५० से ५७ तक प्राकृत टेक्स्ट् सोसाइटी के सदस्य रहे हैं। इस संस्था के संरक्षक डा० राजेन्द्र प्रसादजी थे, उन्होंने इस संस्था के लिए बहुत प्रयत्न किये थे। इस संस्था का कार्य करते हुए बाबूजी राजेन्द्र बाबू सम्पर्क में आये। इसके आप कलकत्ता की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, पिंजरापोल सोसाइटी आदि सर्व-हित-कारी अनेक संस्थाओं के सदस्य रहे हैं। कलकत्ता दि० जैन समाज की प्राय सभी संस्थाओं के महत्वपूर्ण आयोजनों में आपका योगदान किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहता था।

श्री दिगम्बर जैन प्रान्तीय सभा बम्बई के मुख्य पत्र जैन मित्र के हीरक जयन्ती उत्सव का २ अप्रैल ६० को आपने उद्घाटन किया।

आपने अपने उद्घाटन भाषण में 'जैनमित्र' का इतिहास संक्षिप्त में प्रस्तुत कर दिया था।

श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा के २८-१२-६३ को हुए हीरक जयन्ती महोत्सव के आप स्वागताध्यक्ष थे। इस अवसर पर जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व के सेवकों को 'सिद्धान्ताचार्य' उपाधि देकर सम्मान किया गया था, उसकी मूल प्रेरणा में आपका भी हाथ था।

आपको जैन पुरातत्त्व से बहुत रुचि थी। आपका पुरातत्त्व विशेषज्ञों यथा—डा० बी० सी० छाबड़ा M. A. M. O 2 श्री एच० एन० श्रीवास्तव, पण्डित माधोस्वरूप वत्स, अशोककुमार भट्टाचार्य श्री शिवराम मूर्ति, श्री टी० एन० रामचन्द्रन आदि से बहुत मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। ये सब पुरातत्त्व विभाग में उच्च पदों पर आसीन थे। इन सबके जरिये आप जैन सामग्री प्राप्त करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। आपने पुरातत्त्व-प्रेम के वशीभूत होकर जैन पुरातन अवशेषों की खोज के लिए भारत के विभिन्न प्रदेशों की अनेक बार यात्राएँ की थी। आपकी पुरातत्त्व की अभिरुचि एवं सेवाओं के सम्मानार्थ भारत सरकार ने आपको सन १९५२ में पुरातत्त्व विभाग का अवैतनिक Correspondent बनाया था।

आप पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर अनेक लेख प्रकाशित कराते थे। आपने अपनी विभिन्न यात्राओं में जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री एकत्रित की थी, जिनमें प्राचीन संस्कृति के अनेक सुन्दर-सुन्दर कलापूर्ण दुर्लभ चित्र भी हैं, जिनमें कुछ स्थानीय बेलगछिया उपवन के एक हाल में सुन्दर ढंग से लगाये गये हैं। आपकी इच्छा थी कि पूरे हाल में ऐसे चित्र लगा दिये जावें जो दर्शनार्थियों को जैन संस्कृति के प्राचीन गौरव से परिचित करावें। किन्तु वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। वे रुग्ण शय्या से भी बराबर इसके लिए अपनी प्रेरणा देते रहते थे।

आपने खण्डगिरि-उदयगिरि पर एक शोधपूर्ण पुस्तक लिखी। आपने कलकत्ता जैन मूर्ति-यन्त्र संग्रह भी सन् १९२३ में प्रकाशित किया था, तत्पश्चात् जैन बिबिलियो-

वाणी का प्रथम भाग सन् ४५ में प्रकाशित किया था। आप इसके दूसरे भाग के लिए भी अपनी रुग्णावस्था में सामग्री संकलित करते रहते थे, किन्तु आपकी निरन्तर रुग्णता के कारण वह सामग्री प्रकाश मे नही आ पाई।

आप देश-विदेश के जैन-अजैन विद्वानो को जैन साहित्य एव सस्कृति सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री देते रहते थे एवं उन्हे जैन विषयो को प्रकाश मे लाने की प्रेरणा भी करते रहते थे। डा० विन्टर निट्ज, डा० ग्लासिनव, श्री आर० डी० बनर्जी, राय बहादुर आर० पी० बनर्जी, श्री एन० जी० मजूमदार, श्री के० एन० दीक्षित, अमूल्यचन्द्र विद्याभूषण, डा० विभूतिभूषण दत्त, डा० ए० आर० बनर्जी, डा० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० कालिदास नाग आदि अनेक विद्वान् जैन विषयो पर आपसे जानकारी प्राप्त करते रहे हैं।

आप का जैन विद्वानों मे तो बहुत ही निकट का सम्बन्ध रहता था। आप उनकी सेवा एव सम्मान का कोई अवसर हाथ से नही जाने देते थे। आपका पं० नाथूलाल जी प्रेमी, पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ब्र० शीतलप्रसाद जी, बैरिस्टर चम्पतराय जी, पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, डा० हीरालाल जी जैन, डा० ए० एन० उपाध्याय, प्रो० चक्रवर्ती, पण्डित कैलाशचन्द जी, पण्डित चैनसुख दास जी न्यायतीर्थ आदि से आपका नियमित एव मधुर सम्पर्क था। आप नई पीढी के विद्वानों को भी जैन विषयो पर अध्ययन एवं लिखने की प्रेरणा देते थे। आवश्यकता पडने पर आर्थिक सहयोग भी देते थे।

आप पुरातत्व, सस्कृति और शिक्षा के प्रेमी थे वहा दीन दुखियों के दुखो से जल्दी ही द्रवित हो जाते थे। धनी होते हुए भी वे उनके दुखो और अभावो की अनुभूति अपने अन्तर्मन से करते थे इसलिए वे हमेशा उनके दुखों को दूर करने के लिए तन, मन, धन से तत्पर रहते थे। उन्होंने धनी ट्रेड एसोसियेशन जैसे व्यापारिक सगठन को भी ऐसे कार्यो मे लगा दिया था। आपके कार्यकाल में इन मानवीय सेवा कार्यों मे एसोसिएशन ने लाखों रुपया व्यय किया था।

आप स्वयं बंगाल के प्रसिद्ध सन् ४२-४३ के अकाल में पीड़ित अभावग्रस्त गरीबों की सहायता करते थे। वे एसोसियेशन की तरफ से मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के तत्वावधान में बंगाल के नोआखाली काण्ड के समय हिन्दुओं की सहायतार्थ वहाँ गये थे। वहाँ महीनों रहकर असहाय अल्प संख्यकों की हर प्रकार से सहायता करते रहे। वे निर्भीक होकर मुसलमानी मुहल्लों व गाँवो मे पहुँच जाते थे, एव असहाय और लीगी नादिरशाही के शिकार अल्पसंख्यकों की सहायता एव रक्षा करके कृतकृत्य होते थे।

आप जैसे दीन दुखी सेवको के कारण जैन समाज ही नही अपितु प्रत्येक भारतीय का सिर गर्व से ऊँचा हो उठता है और ऐसे निःस्वार्थ सेवक की याद हमेशा बनी रहेगी।

लक्षाधिक दान देकर, धनी होते हुए भी आप अपनी विज्ञापनबाजी से हमेशा दूर रहे है। आप हमेशा कृत्य को प्रधानता देते थे, अपने नाम की कभी चिन्ता नही करते थे। आपने कभी दान प्रचार की भावना से नही दिया था; क्योंकि आप मानते थे कि 'परिग्रह पाप है' उस पाप का प्रायश्चित दान है किन्तु वह दान ख्याति लाभ पूजा के लिए नहीं होना चाहिए प्रायश्चित की दृष्टि अपने पाप का सशोधन अथवा अपराध का परिमार्जन करके आत्मशुद्धि करने की ओर होती है।

आप अनेक सस्थाओ में विभिन्न पदों पर रहे है, आपका सभी प्रकार के वर्गों से नियमित सम्पर्क रहता था किन्तु आपने अपने स्वाभिमान को हमेशा प्रमुखता दी।

आप स्पष्टवादिता में भी अपूर्व थे। आपका चाहे कोई कितना ही निकट का क्यो न हो, आप उसके दोष देखने पर उसे कहने मे नहीं हिचकते थे। अपने मतभेद को प्रकट करने मे संकोच नही करते थे, इसी कारण कई व्यक्ति इनसे सन्तुष्ट नही रह पाते थे। ये अपने विरोधी को भी आवश्यकता पडने पर सहयोग देने मे आनाकानी नही करते थे।

आप प्रेमी जी एव मुख्तार सा० जैसे परीक्षा प्रधानी साहित्यान्वेषियो के सतसगो से परिचित थे इसलिए आप प्रत्येक क्रिया की भूमिका, आधार का पूरा अध्ययन कर ही उसकी विशेषता या अविशेषता स्वीकार करते थे।

आप कभी गलतरूढ़ि को स्वीकार नही करते थे। जो भी गलत रूढ़ि या अन्ध श्रद्धा जनित मूर्खतापूर्ण कार्य करता, उसका आप विरोध करते थे। आप कभी दूसरों के मत की खातिर अपने सिद्धान्त की बलि नही करते थे। आपने जैन समाज के सुधारकों की यथा सभव सहायता कर सुधार का मार्ग प्रशस्त किया था।

आप नवयुवकों का हमेशा पथ प्रदर्शन करते थे। किसी भी नवयुवक को सुमार्ग मे लगाने, उसे व्यवसाय साधन जुटाने मे हमेशा सहायता करते थे। आप विद्यार्थियों एव विद्वानों को अध्ययन की प्रेरणा देते रहते थे। वे स्वय इस रुग्णावस्था मे भी थोडी सी शाति होने पर अध्ययन मे लग जाते थे। आपने कितने ही व्यक्तियो को नव साहित्य सृजन की प्रेरणा दी है उसके प्रकाशन आदि की व्यवस्था करा देते थे।

आपको जैन संस्कृति के सरक्षण एव विकास की हमेशा चिंता बनी रहती थी। विद्वानों से, नेताओ से, समाज के कार्यकर्ताओ से अपनी चिंता व्यक्त करते रहते थे इसके लिए उन्होंने अपने ढग से अनेक कार्य किए। आप पुरातत्व सामग्री का स्लाइडलेम्प से प्रदर्शन भी यथावसर करते थे। आपने कलकत्ता देहली आदि केन्द्रीय स्थानो पर जैन कला एव सस्कृति की प्रदर्शनियाँ भी लगाई थी। जिसकी प्रशसा सभी ने मुक्त कठ से की थी।

ऐसे निर्भीक समाज सेवी का अभिनन्दन करने की योजना चल ही रही थी कि कराल काल ने उन्हें हमेशा के लिए छीन लिया। वे हमेशा अभिनन्दन का विरोध करते रहते थे। उन्होने कहा कि हमने जो कुछ भी किया है सेवा व कर्त्तव्य समझ कर किया है उसके लिए सम्मान या अभिनन्दन कैसा ?

ऐसे मूक सेवक, निराभिमानी दानी, उदारमना सरावगी जी को अपनी श्रद्धांजलि देते हुए कामना करता हूँ कि वे कालातर में श्रेयस सुख की प्राप्ति करें।

आप गत ७-८ वर्षो से निरतर बीमार रहते थे फिर भी सास्कृतिक व सामाजिक कार्यो के लिए अपना बराबर योगदान देते रहते थे।

गत नवम्बर दिसम्बर माह में आप विशेष रूप से पीडित रहे। दिसम्बर के द्वितीय सप्ताह मे स्थानीय मारवाडी रिलीफ सोसाइटी के अस्पताल मे आपको भर्ती कराया गया था। आप इतनी भयकर बीमारी में भी सास्कृतिक व साहित्य की चर्चा मे रुचि लेते थे। आपने इस रुग्णशय्या पर रहते हुए भी 'वीरशासनसंघ' की ओर से प्रकाशित होने वाली जैन निबन्ध रत्नावली का प्रकाशकीय वक्तव्य लिखवाया जो आपका अन्तिम वक्तव्य कहा जा सकता है।

इस रुग्ण शय्या पर ही आपने श्री अगरचन्दजी नाहटा के निबन्धो को प्रकाशित करने की योजना बनाई थी, काश वह पूरी नही हुई।

आप अपने अभिनन्दन विज्ञापन आदि से दूर रहते थे। जब कभी आपसे आपके अभिनन्दन की चर्चा की, आपने हमेशा विरोध ही किया। आपके कार्यों का पूरा लेखा जोखा प्रस्तुत नही किया जा रहा है, क्योंकि तत्सबन्धी सामग्री नही मिल सकी।

जो कुछ सामग्री मिली है उसी मे सन्तोष करते हुए आपके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनके द्वारा सपादित एवं सकेतिक कार्य समाज के लिये हमेशा प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करेंगे। ★

प्रसंग की बात

खण्डगिरि उदयगिरिमें जन हितार्थ एक औषधालय खुलवाने का प्रयास बाबूजी बहुत समय से कर रहे थे। इसके लिए पर्याप्त सहयोग भी उन्होंने दिया और '६६ के गणतंत्र दिवस पर प्रातःकाल इस खारवेल औषधालय का शुभारम्भ हो गया।

जब उधर इस औषधालय का उद्घाटन हो रहा था तभी इधर बाबू जी की अर्थी सजाई जा रही थी। उसी प्रभात में उनका देहावसान हुआ।

—नीरज

कल्याण मित्र

डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

२६ जनवरी १९६६ की प्रात.कालीन पुण्यवेला मे शान्तिपूर्वक धार्मिक क्रियाएँ करते हुए श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी का ७० वर्ष की आयु मे देहावसान हो जाने से एक उदार व्यक्तित्व की समाप्ति हो गई है।

श्रीमान् छोटेलाल जो सत्प्रवृत्तियो के उल्लेखनीय भंडार, अध्ययनशील स्वभाव एव उदारचेता व्यक्ति थे। जैन साहित्य और सस्कृति के विकास के लिए वे अत्यधिक उत्सुक रहते थे, जैन दर्शन, भारतीय प्राचीन इतिहास, कला और पुरातत्व के क्षेत्र मे काम करने वाले अनेको विद्वानों के साथ उनका निकटतम संबंध था।

जो लोग श्रीमान् छोटेलाल जी के तनिक भी सम्पर्क मे आये उन्होने पाया कि एक दुर्बल एवं जर्जर काया के पीछे उनमे चारित्रवान् सबल व्यक्तित्व, उच्चकोटि का चिन्तन, अध्ययन के लिए तीव्रानुराग, और सबमे अधिक भारतीय पुरातत्व के ज्ञान के लिए, अतृप्त तृषा विद्यमान है।

डा० एम. विन्टरनिन्ज ने अपने "भारतीय साहित्य का इतिहास" भाग २ की भूमिका मे छोटेलाल जी का नाम बड़े आदर पूर्वक उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ सन् १९३३ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय मे अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ था। मैं ऐसा मानता हूँ कि यदि बा० छोटेलाल जी का सहयोग न मिलता तो डा० विन्टरनित्ज अपने इतिहास मे जैन साहित्य का इतना विशाल और गम्भीर सर्वेक्षण प्रस्तुत न कर पाते। जिन्होंने डा० विन्टरनित्ज के "भारतीय साहित्य का इतिहास भाग २" का अध्ययन किया है वे सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि श्रीछोटेलाल जी ने जैन साहित्यिक सामग्री के सग्रह मे डा० विन्टरनित्ज को अनन्य सहयोग देकर शोधार्थी विद्वानो की पीढी पर कितना बडा उपकार एव वरदान प्रस्तुत किया है। श्री छोटेलाल जी उदार दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे तथा जैनदर्शन, साहित्य और पुरातत्व की शोधो मे उनकी सतत् और स्थायी रुचि थी। जैन साहित्य और भारतीय इतिहास के क्षेत्र मे काम करने वाले विद्वानो की ओर वे सहज ही आकृष्ट हो जाते थे और उन्हे उनके अध्ययन मे मदद करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। वे भारतीय इतिहास परिषद् और अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् के सदस्य थे, तथा इनके अधिवेशनों मे उपस्थित होने का अपनी शक्ति भर पूर्ण प्रयत्न किया करते थे। उनका विद्वत्समागम बड़ा विस्तृत एव सम्पूर्ण भारतवर्ष मे फैला हुआ था यहाँ तक कि विदेशों मे भी उनके साहित्यिक मित्र थे, जो भारतीयता के अध्ययन मे तल्लीन रहते थे।

श्री छोटेलाल जी का विश्वास था कि जैनधर्म एक बडा महत्वपूर्ण धर्म है व जैन साहित्य विविधतामय, समृद्ध एव विस्तृत और विशाल है तथा जैन इतिहास और पुरातत्व अध्ययन के पवित्र क्षेत्र है, साथ ही वे अनुभव करते थे कि अध्ययन की इन शाखाओ की ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया जाता है, यदि इनका पूर्ण अध्ययन हो जाय तो भारत की सम्पूर्ण विरासत (बपौती) पूर्णतया समृद्ध और शानदार हो सकती है। जैन साहित्य की विभिन्न शाखाओं मे काम करने वाले विद्वान् सहज ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाते थे और वह उनके लिए यथार्थ ही कल्याण मित्र थे।

श्री छोटेलाल जी की सासारिक आकाक्षाए कुछ भी न थी उनकी एक मात्र आकाक्षा यही थी कि जैनत्व का अध्ययन भारतीय अध्ययन की अन्य शाखाओ के साथ-साथ प्रगति करता रहे। उन्हे कीर्ति या प्रतिष्ठा का तनिक भी लोभ न था, जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ वह वृक्ष पर पत्तो की भाँति स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त हुआ पर बहुधा वे उसे टालते ही रहे और मूक भाव से निर्विरोध-पूर्वक अपनी शक्ति भर सभी संस्थाओं तथा व्यक्तियों की मदद ही करते रहे जिससे उनका कार्य निर्बाध रूप से आगे बढता रहे।

श्रीमान छोटेलाल जी का परिवार दयालुता एव उदारता के लिए सर्व-प्रसिद्ध है। वीरसेवामदिर दिल्ली तथा इसका प्रमुख शोधपत्र 'अनेकान्त' बाबूजी के जैनत्व के अध्ययन के प्रति अनुराग के प्रतीक (स्मृति चिह्न) हैं। जैन व जैनेतर समाज की अनेकों संस्थाए बाबू छोटेलाल जी तथा उनके परिवार द्वारा संरक्षित हुई पर प्रतिदान में उन्होने कोई सासारिक लाभ अथवा ख्याति एव प्रतिष्ठा की आशा नहीं की।

श्री छोटेलाल जी का दृष्टिकोण शोध एवं अध्ययन पूर्ण था, और वे यथार्थ में जानते थे कि कौन सा कार्य अध्ययन को प्रगतिशील बना सकता है। उनकी "जैन बिबलोग्राफी" (कलकत्ता १९४५), जिसकी वे आधुनिक पुनरावृत्ति प्रकाशित कराना चाहते थे, उनके जैनत्व के अध्ययन के प्रति विशाल एवं स्थायी रुचि की प्रतीक है। तथा बताती है कि उनका कितना विशाल अध्ययन था।

श्री छोटेलाल जैन पाडु लिपियों के सरक्षण के लिए विशेष रूप से उत्कठित थे तथा उनके प्रकाशन और उनके विभिन्न भाषाओ मे अनूदन व्याख्या विवेचन आदि। आधुनिक ढंग से कराने मे विशेष रूप से रुचिवान् थे, वे प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के सस्थापक सदस्य, वीरशासन-सघ के मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ की कार्य कारिणी के सदस्य तथा वीरसेवामदिर के अध्यक्ष आदि भी वे थे। इनसे उनके महत्वपूर्ण कार्यो का पता चलता है। उन्होने तीर्थक्षेत्र कमेटी के सदस्य की हैसियत से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था उन्होने जैनधर्म और समाज के लिए जो कुछ किया वह चिरस्थाई और बहुमूल्य है, उन की निस्वार्थ सेवाएँ इन क्षेत्रो के उत्साही कार्य कर्त्ताओ द्वारा सदैव स्मरण की जाती रहेगी।

गत कई वर्षों से उनका स्वास्थ ठीक नही रहता था फिर भी अध्ययन के प्रति उनकी स्पर्धा अटूट और अतुल्य थी। वे इतने अधिक उदार, प्रतिभाशाली मृदु स्वभावी एवं अध्ययन के प्रति तीव्रानुरागी थे कि जो कोई भी उनके सम्पर्क मे आता था उसमें भी वे इन सद्गुणो की ज्योति प्रकाशित कर देते थे।

श्री छोटेलाल जी उन थोड़े से व्यक्तियों में एक थे जो शोध के प्रति तीव्रानुरागी थे, तथा उसे ही ज्ञान की प्रगति का मूल साधन मानते थे और इसीलिए शोध खोज करने वाले विद्वानों के साथ वे बन्धुत्व और स्नेह का सबध स्थापित करते थे, पर भारतीय इतिहास और जैन-धर्म के क्षेत्र मे काम करने वालों के प्रति तो विशिष्ट रूप से प्रगाढ स्नेह रखते थे। वे अपने पास संकलित शोध सामग्री मे से दूसरों, विद्वानों को सूचनाएं तथा पूर्वापर संदर्भ आदि बताने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे।

हमारा उनके साथ गत २५ वर्षों से बड़ा घनिष्ठ संबध है। हमने अनेको बार जैनत्व संबंधी कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर विवेचन एवं पत्र व्यवहार किया है। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन की कार्य-कारिणी समिति के सदस्य के नाते उन्होंने सांस्कृतिक कार्यों में बड़ी तीव्र उत्सुकता एव रुचि प्रकट की थी। उन्होने वीरसेवा-मदिर के निर्माण मे बड़ा संघर्ष किया तथा वे इसे उच्च अध्ययन का प्रमुख केन्द्र बनाना चाहते थे। यद्यपि वे कलकत्ता रहते थे पर उनका हृदय वीर सेवा मदिर दिल्ली मे लगा रहता था।

वे सच्चे श्रावक की भाँति उदार एव धार्मिक शब्दो मे सच्चे दाता थे। उनके साथ हमारे बड़े घनिष्ठ सबध थे। अत. वे प्राय: मुझे कुछ लोगों के दो चार कृतघ्नता पूर्ण कटु व्यवहार सुनाया करते थे फिर भी कृतघ्न लोगों के प्रति उनके मन मे कोई मलीनता न थी और वे उनके प्रति सदैव मृदु मुस्कान एव उदार सहानुभूति रखते थे। यद्यपि ऐसे कृतघ्नतापूर्ण कटु व्यवहार कभी-कभी उन्हे क्षण भर को विचलित कर देते थे पर वे इतने अधिक महान् थे कि ऐसी बुराईया स्वयमेव नष्ट हो जाती थी तथा उन लोगो के प्रति सदैव उदारता और सद्भाव प्रकट करते रहते थे।

उनकी तीव्र अभिलाषा थी कि मेरी प्रकाशित रचनाए एक जगह सकलित होकर ग्रथ रूप में हिन्दी अग्रेजी मे प्रकाशित कराई जावें, पर मैंने उनसे अनुरोध किया था कि प्रकाशित रचनाओ पर धन व्यय करने की अपेक्षा उन शोध पूर्ण रचनाओ को प्रकाशित किया जावे जो अब तक सर्वथा अप्रकाशित हैं, क्योंकि शोधार्थी विद्वान् प्रकाशित रचनाओं का उपयोग तो कर ही लेंगे भले ही वे किसी

भी भाषा में हों अतः अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करना चाहिए।

मेरी अपनी कठिनाईया हैं फिर भी उन्होंने मुझे वीर-सेवामदिर के कार्यों मे रुचि लेने के लिए प्रेरित किया। यह उनकी ही प्रार्थना कहिए अथवा आज्ञा जो कुछ भी हो मैं "अनेकान्त" के सपादकत्व का भार सभालने के लिए सहमत हो गया। उनके अनुरोध इतने प्रेरणाप्रद एव निस्वार्थ थे कि उनका निषेध करना मुझे बड़ा ही कठिन प्रतीत हुआ। प० जुगलकिशोर जी सदैव अत्यधिक उत्सुक रहते थे कि मैं उनके प्रकाशनो की भूमिका लिखूं, कुछ की भूमिका मैंने लिखी भी है। उनकी तीव्र अभिलाषा थी कि उनके 'सन्मतिसूत्र" नामक विस्तृत निबध का मैं अंग्रेजी अनुवाद कर दूं और मैंने वह अनुवाद किया भी पर इस संदर्भ मे श्री छोटेलाल जी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी सहायता और प्रेरणा से हिन्दी के कुछ क्लिष्ट वाक्यो का लेखक से व्यक्तिगत विवेचन कर अंग्रेजी में उचित अनुवाद किया जा सका। ऐसी गहन रुचि थी बाबू छोटेलाल जी की जैनत्व सबधी अध्ययन के क्षेत्र मे !

बड़ा खेद है ! कि श्री छोटेलाल जी का अभिनन्दन ग्रन्थ उनके जीवनमे प्रकाशित न किया जा सका, यद्यपि वे ऐसे सम्मान के सर्वथा विरोधी थे अत. ऐसा लगता है कि सभवतः उनकी इच्छा सर्वथा परिपूर्ण हो गई है, मुझे विश्वास है कि व्यवस्थापक गण श्री छोटेलाल जी का अभिनन्दन ग्रंथ अवश्य ही प्रकाशित करेगे। इस अभिनन्दन ग्रंथ का अंग्रेजी भाग तो मैंने उनकी दुखद मृत्यु के लगभग दो मास पूर्व ही संपादन कर कलकत्ता भेज दिया था। इनमें कई श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध लेखकों के बहुत से बहु-मूल्य लेख हैं अतः उनका प्रकाशित हो जाना निश्चय ही श्री छोटेलाल जी का उपयुक्त स्मृति चिह्न होगा। श्री छोटेलाल जी अपने अन्तिम दिनों में अपनी "जैन बिबलोग्राफी" का संशोधन एव परिवर्द्धन कर रहे थे अतः यह देखना और अधिक अत्यावश्यक हो गया है कि वे "जैन बिबलोग्राफी" को किस दशा में छोड गये हैं ! इसके प्रकाशन से जैन साहित्य के अध्ययन में विशेष योग एवं लाभ प्राप्त होगा !

श्रीमान् छोटेलाल जी अब इस संसार मे नही हैं पर मुझे तनिक भी सदेह नही कि उनकी दयालु आत्मा वहां सदैव झूलती रहेगी जहां जैनत्व का अध्ययन सच्चे विद्वत्ता पूर्ण ढग से होता होगा।

श्री छोटेलाल जी ने जैन समाज, जैन साहित्य और जैन पुरातत्व के क्षेत्र में अपनी बहुमूल्य सेवाए समर्पित की है, और यह सब उन्होने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी महत्ता को प्रकट किये बिना ही प्राप्त किया है। उन्होने स्वय को छिपाकर दूसरों को उत्साहित करना, मदद करना, तथा उनमे स्थित थोड़े से भी गुणो की प्रशसा करने का अद्भुत कौशल प्राप्त किया हुआ था, यथार्थ मे श्री छोटेलाल जी वह श्रेष्ठ पुण्यात्मा हैं जिनके विषय मे भर्तृहरि ने कहा है—

पर गुण परमाणून पर्वतीकृत्यलोके।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ?

अनु०—कुन्दनलाल जैन एम. ए.

अनासक्त कर्मयोगी

पं० कैलाशचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री

सन् २९ मे मैं कलकत्ता रथयात्रा के अवसर पर गया था। उस समय मैंने बाबू छोटेलालजी को प्रथम बार देखा था। वही काली गोल टोपी, सफेद धुला हुआ मलमल का कुर्ता और धोती। यही उनका स्थायी पहिनावा था। शरीर से दुर्बल पहले से ही थे किन्तु काम करने की उमग अद्भुत थी। जिस काम को करने का बीड़ा उठा लेते थे उसे करके ही छोड़ते थे। 'शरीरं वा पातयामि कार्य वा साधयामि' यही उनका जीवन

मंत्र था।

सन् ४४ में पहले राजगृही में वीर शासन महोत्सव हुआ। पीछे कलकत्ता मे तो बहुत ही धूमधाम से हुआ। इसका श्रेय बाबू छोटेलाल जी को है। उस समय उनकी कार्यतत्परता देखते बनती थी। गला बैठ गया था, कठ से आवाज नही निकलती थी, शरीर अस्वस्थ था, किन्तु फिरकी की तरह घूमते फिरते थे।

जब यह विचार हुआ कि स्याद्वाद महाविद्यालय की स्वर्णजयन्ती पूज्यवर्णी जी के सान्निध्य में ईसरी मे मनाई जावे तो सबसे प्रथम इसका समर्थन करने वाले बाबू छोटेलाल जी ही थे। उस आयोजन में जो कुछ सफलता मिली उसका पूर्ण श्रेय उन्हे ही है। उन्होने मुझे दशलाक्षिणी में कलकत्ता आमन्त्रित कराया और मेरे साथ जाकर बीस हजार का चिट्ठा लिखाया। उन्हे स्वर्णजयन्ती महोत्सव की स्वागतकारिणी समिति का मन्त्री बनाया गया था। शीतऋतु, सम्मेदशिखर का जलवायु, यात्रियों की भीड। और बाबू छोटेलाल जी सुबह से उठकर दिन भर खडे खडे डेरे खडे कराते थे।

किससे कब किस तरह से काम लेना चाहिए, इस कला मे वह विशेष निपुण थे। स्वभाव के तीखे भी थे और मधुर भी। विद्वानो के प्रति उनकी बडी आस्था थी। उन्हें देखकर बडे प्रसन्न होते थे और उनकी सेवा मे लग जाते थे। उनके श्रद्धास्पद व्यक्ति और सस्थाए चुनी हुई थी। विद्वानों और त्यागियो मे वह पूज्यवर्णी जी के अनन्य भक्त थे। उनके अन्तिम समय मे बाबू छोटेलाल जी ने वर्णी जी का सिरहाना नही छोडा। सदा उनके पास बैठे हुए उनकी पीछे से मक्खिया उडाया करते थे। और इस बात का ध्यान रखते थे कि वर्णी जी को किसी के द्वारा जरा भी असुविधा न हो।

श्रेष्ठियो मे साहू शान्तिप्रसाद जी के प्रति उनका बडा अनुराग था और सदा उनको उदारता की चर्चा करते रहते थे।

सस्थाओं मे वीरसेवामन्दिर देहली, स्याद्वाद महाविद्यालय काशी और जैन बाला विश्राम आरा उनके स्नेह भाजन थे। देहली मे वीरसेवामन्दिर के भवन निर्माण का श्रेय बाबू छोटेलाल जी को है और इसके मूल में है श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार के प्रति प्रारम्भ से ही उनकी आदर भावना। दोनो में भक्त और भगवान जैसा सम्बन्ध था एक बार मैं उनसे मुख्तार साहब की बुराई करने लगा तो तुरन्त बोले पं० जी, उनका दिल रखने वाला भी तो कोई एक होना चाहिए। तो वीरसेवामन्दिर बा० छोटेलाल जी की मुख्तार साहब के प्रति जो भक्ति थी उसका एक प्रतीक है। खेद है कि वह भक्ति अभक्ति में परिणत हो गई। बा० छोटेलाल जी तो चले गये किन्तु मुख्तार सा० अभी वर्तमान हैं। और इसलिये उन पर एक विशेष उत्तरदायित्व आ गया है। उसे निबहना उनका कर्तव्य है।

वीरसेवामन्दिर केवल आयका साधन नहीं होना चाहिए। उस आय के व्यय का भी प्रबन्ध होना चाहिये। यदि आय जमा होती रही तो वीर सेवा मन्दिर साहित्यकों की दृष्टि का केन्द्र न रहकर धनार्थियों की दृष्टि का केन्द्र बन जायेगा। अत उसे ऐसे हाथो मे सौंपना चाहिए जो धन मे अधिक साहित्य के अनुरागी हैं। बा० छोटेलाल जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है उस उद्देश्य की पूर्ति जिस उद्देश्य से वीरसेवामन्दिर का भवन देहली मे बनवाया गया था। अस्तु,

बा० छोटेलाल जा विद्या और साहित्य के अनुरागी थे। उन्होने अपनी माता का धन तो वीरसेवामन्दिर की जमीन में लगा दिया और अपने दो भाइयो के धन से चालीस हजार रुपया स्याद्वाद महाविद्यालय को दिलवाया। और अपने पास जो कुछ था वह सब भी ट्रस्ट द्वारा साहित्यिक कार्यों को प्रदान कर गये।

धनी मारवाडी परिवार मे जन्म लेकर विद्या और साहित्य के प्रति ऐसा अनुराग बहुत विरल देखा जाता है। वह व्यक्ति था जिसने कभी नाम नही चाहा, प्रशसा नही चाही, केवल काम करना चाहा। गीता के शब्दो मे वह अनासक्त कर्मयोगी थे जिन्होने फल की इच्छा नही की और जीवन भर कर्तव्य कर्म करते रहे। ★

वे क्या नहीं थे ?

श्री नीरज जैन

"जा मरने से जग डरै, मोरे मन आनन्द।
मरन से ही पाइये पूरण परमानन्द ॥"

ये हैं वे पंक्तियाँ जिनमे स्वर्गीय बाबू छोटेलाल जी का जीवन दर्शन सक्षेप मे उजागर हुआ है। जीवन के प्रारम्भ से लेकर मरण काल तक एक अनोखी निर्भीकता, जो उनके व्यक्तित्त्व का अभिन्न अग बन गई थी, उनके चरित्र की विशेपता रही है। उसी विशेपता को प्रकट करने वाला यह दोहा उन्हें बहुत प्रिय था और प्राय उनके मुंह से सुनाई दे जाता था। कई जगह इसे उन्होने लिख भी रखा था।

श्रद्धेय बाबू जी से मेरा परिचय आठ नौ वर्ष का ही था, किन्तु इस अल्पकाल के सम्पर्क मे ही उनके बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न, स्नेह-सिक्त और प्रभावशाली व्यक्तित्त्व को गहराई तक जानने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उनके अवसान के उपरान्त तो कलकत्ते मे उनकी सामग्री की सार-सम्हार करते हुए बाबूजी के गत जीवन की अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं विशेष प्रसगों और उनके द्वारा किये गए समाज सेवा के अनेक कार्यो का भी पर्याप्त परिचय मुझे प्राप्त हुआ।

इस श्रद्धाजलि लेख मे मुझे यह लिखना चाहिए था कि "बाबू छोटेलाल जी क्या थे ?" पर आज जब लेखनी लेकर बैठा हूँ और बाबू जी के व्यक्तित्त्व तथा कृतित्त्व पर विचार कर रहा हूँ तब समझ में नहीं आता कि उनके किस रूप मे उन्हे यहाँ स्मरण करूँ ? इसीलिए 'वे क्या थे' यह कहने के बजाय यह कहना आज मुझे अधिक आसान लग रहा है कि "वे क्या नही थे ?"

बाबू छोटे लाल जी ने विगत ५०-५५ वर्ष में सामाजिक धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, और साहित्यिक क्षेत्र मे अनेक मूक सेवाएँ की हैं। जैन समाज का तो बच्चा-बच्चा आपके उपकारों से उपकृत है ही, जैनेतर समाज में भी आपकी अच्छी प्रतिष्ठा रही है। आप अनेक सुप्रसिद्ध जैन अजैन सस्थाओं के अध्यक्ष मत्री और सदस्य रहे है। परिग्रह के प्रायश्चित की भावना मे लाखों रुपयों का दान भी आपने अपने जीवन मे किया था।

काम तो बाबू जी को सदा प्यारा रहा परन्तु नाम और प्रसिद्धि से वे सदैव दूर भागते रहे। यहाँ तक कि अपनी जन्म तिथि भी उन्होने यत्नपूर्वक छिपाकर रखी। चुपचाप काम करने की पद्धति मे ही उनकी आस्था थी। जाने कहाँ कहाँ से, कौन-कौन लोग आवश्यकता पडने पर सहायता के लिए उन्हें लिखते थे। उत्तर मे वे आवश्यक द्रव्य भेज देते और कभी किसी से उसकी चर्चा तक न करते थे। उनकी डायरियो आदि से पता चलता है कि एक-एक व्यक्ति को दस दस बीस बीस हजार रुपयो तक की सहायता इस प्रकार उन्होने दी है। सस्थाओ को तो उनका अमूल्य सहयोग सदा मिलता ही रहता था।

अनवरत अध्येता—

बाबूजी मे ज्ञान की अतृप्त पिपासा जीवन के प्रारम्भ से ही रही है। भारतीय इतिहास, और विशेप कर जैन इतिहास के अज्ञात तथा अप्रसिद्ध प्रकरणों और पुरातत्त्व के स्थानों तथा अवशेषो के शोध की भावना भी उनमें बडी बलवती रही है। सन् १६२१ मे रायलएसियाटिक सोसाइटी लायब्रेरी का आवेदनपत्र प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अपने आपको अनुसधित्सु—(Research Scholer) लिखा था। वास्तव में यही उनका सही परिचय था। उनका शेष सारा जीवन भी इसी परिभाषा का सही उदाहरण बनकर रहा। तब से अन्त तक वे रायल एसियाटिक सोसाइटी के सम्मान्य सदस्य रहे। समय-समय पर सोसाइटी में उनके भाषणो का भी आयोजन होता था। अन्त समय (जनवरी ६६ मे) जब उन्हें मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी अस्पताल ले जाया गया तब भी इस लायब्रेरी के दो ग्रन्थ उनके साथ थे जिन्हे

समय निकालकर पढ़ने का उनका मन था। ये ग्रन्थ उनके मरणोपरान्त ग्रन्थागार को लौटाये गये। उत्कृष्ट और प्रचुर साहित्य का उनका अपना जो पुस्तकालय था वह उनकी अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति का परिचायक है। बेलगछिया में यह संग्रह अब एक नियमित, सार्वजनिक पुस्तकालय के रूप मे खोल दिया गया है।

अध्ययन तक ही उनकी रुचि सीमित रही हो ऐसी बात नही थी, सत्साहित्य के सम्पादन, प्रकाशन और प्रचार मे भी उनकी खासी लगन थी। वीरशासन-सघ तो उनकी संस्थापित सस्था है ही जिसमे कतिपय उपयोगी प्रकाशन हुए है। दिल्ली मे वीरसेवामन्दिर को उनका बहुमूल्य आर्थिक और क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। भारतीय ज्ञानपीठ के सचालन मे उनका आजीवन योगदान भी इसी प्रवृत्ति का प्रमाण है।

सतत शोधक

कला और पुरातत्त्व की शोध का कार्य तो बाबूजी का जीवनव्रत ही बन गया था। अन्तिम सास तक उन्होने अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तन, मन और धन लगाकर जो भी किया जा सकता था वह किया। इतना ही नही, अपने बाद भी लगभग पाँच लाख रुपये के जिस जैन ट्रस्ट की स्थापना वे अपने द्रव्य से कर गये है उसका उपयोग भी इसी लक्ष्य की पूर्ति मे किया जाय ऐसी उनकी इच्छा रही है।

उन्होने लगभग दो तिहाई भारत का भ्रमण करके जैन कला, इतिहास, साहित्य और पुरातत्त्व सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया उसका सही मूल्याकन करने के लिए तो हमे बहुत बडे अध्यवसाय और प्रयास की आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु जिन विलुप्त और विस्मृत प्राय निधियो को उन्होने अपने परिश्रम प्रभाव से प्रकाश मे ला दिया उनकी सूची भी बहुत बडी है और अपना महत्त्व रखती है। इन निधियो की रक्षा और व्यवस्था के प्रति भी वे बहुत चिंतित रहते थे। इस प्रसग मे उनकी तत्परता और कार्य प्रणाली का एक उदाहरण मुझे स्मरण आ रहा है।

कुछ समय पूर्व श्रवणबेलगोला की गोम्मटेश्वर प्रतिमा पर कुछ लोना लगना प्रारम्भ हुआ। सैकड़ों वर्ष के प्रकृति-परिवर्तनों का ही यह फल था। एक दो स्थलों पर ऐसी भी आशङ्का हुई जैसे मूर्ति के पाषाण में दरार आ रही हो। समाचार पाते ही बाबूजी चिन्तित हो उठे। न जाने किस-किसके पास लिखा-पढ़ी करके और प्रबल प्रेरणा देकर, दिल्ली और मद्रास के पुरातत्त्व अधिकारियों को वहाँ एकत्र किया। प्रतिमा के प्रकृति प्रभावित स्थलों के अनेक चित्र लेकर तथा अन्य प्रकार से परीक्षण कराकर उसकी सुरक्षा का उचित प्रबन्ध जब तक नहीं हो गया तब तक वे चैन से नहीं बैठे। और यह सब किया उन्होने अपनी रुग्णावस्था में।

अपने उत्कट पुरातत्त्व प्रेम और शोध प्रवृत्ति के कारण देश के पुरातत्त्व विशारदों मे आपका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता था। अपने जमाने में सर्वश्री. डा० विन्टर निटज, डा० ग्लासिनव, रायबहादुर आर. पी. चन्दा, श्री राखालदास बनर्जी, ननिगोपाल मजुमदार, राधाकमल बनर्जी, राधाकुमुद बनर्जी. के. एन दीक्षित, अमूल्यचन्द्र विद्याभूषण, विभूतिभूषण दत्त, डा० ए. आर. भट्टाचार्य, डा० एस. आर. बनर्जी, मुनि कान्तिसागर, डा० कामताप्रसाद जैन, श्री जुगलकिशोर मुख्तार, श्री नाथूराम प्रेमी, टी. एन. रामचन्द्रन, डा० कालिदास नाग, सी. शिवराम मूर्ति, कृष्णदत्त बाजपेयी, पी. आर. श्री निवासन, बालचन्द्र जैन आदि शतशः स्वनामधन्य विद्वानों से अच्छी मैत्री रही। इनमे से अनेक विद्वानों ने तो जैन इतिहास तथा पुरातत्व की शोध मे बाबूजी को बड़ा सहयोग दिया है। अनेकों ने उनके द्वारा सामग्री, सूचनाएँ, सहयोग और निदेश पाकर इन विषयो पर प्रचुर साहित्य रचना भी की है। इस दिशा मे आपकी सूचनाओ और दिग्दर्शन का महत्व स्वीकार करते हुए भारत सरकार के पुरातत्व-शोध विभाग ने आपको अपना आनरेरी कारस्पाण्डेण्ट भी नियुक्त किया था। भारत के प्रथम गृहमन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल की "सोमनाथ जीर्णोद्धार योजना" मे भी बाबूजी की प्रेरणा और सहयोग से ही कलकत्ते मे लाखों रुपया एकत्र हुआ था।

बाबू छोटेलाल जी की लेखनी से भी इस विषय की सामग्री, प्रचुर मात्रा में समाज को प्राप्त हुई है। सर्वप्रथम १९२३ में "कलकत्ता जैन मूर्ति-यन्त्र संग्रह" नामक

छोटा-सा संकलन उन्होंने प्रकाशित किया। बाद में तो छोटी छोटी पुस्तिकाओं, स्फुट लेखो और शोध-निबन्धों के द्वारा अपने अनुभव का निचोड़ उन्होंने समय समय पर समाज में वितरित किया। खण्डगिरि पर उनकी लेख-माला, बंगीय जैन पुरावृत्त, नोआखाली का यात्रा वृत्तांत दक्षिण के जैन गुफा-मन्दिर आदि अनेक निबन्धों में बहुत उपयोगी सामग्री का संकलन हुआ है।

उनका यह लेखनकार्य भी सदा बिलकुल निस्पृह और निरपेक्ष रहा है। स्फुट लेखों आदि के पारिश्रमिक स्वरूप अनेक पत्रोने उन्हें समय समय पर जो बैंक चैक भेजे उन्हें बाबूजी ने सदा संग्रह किया, कभी भुनाया नही। उनके कागजों मे ऐसे अनेक पुराने चैक मैंने देखे हैं।

देश-विदेश के लेखकों, विचारकों और सन्तों ने जैन-धर्म के विषय में कब, कहाँ, क्या कहा या लिखा है, इसका महत्वपूर्ण संकलन करके 'जैन बिबलिओग्राफी' नाम से १९४५ में उन्होने प्रकाशित किया था। यह नि सन्देह ही उनके जीवन की एक बड़ी उपलब्धि थी। इस ग्रन्थ का दूसरा अप-टु-डेट सस्करण तैयार करने मे उन्होने जीवन के अन्तिम दस वर्षों मे अथक परिश्रम किया। इस अनमोल ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रकाशन के लिये तैयार है। यथा शीघ्र यह ग्रन्थ पाठकों के हाथ मे पहुँच जावेगा ऐसी आशा की जा सकती है।

दिगम्बर जैन वाङ्मय के अनुपम और अनमोल सिद्धान्त ग्रन्थों, धवला और जय-धवला की मूल प्रतियों के छाया चित्र तैयार कराकर सग्रहालयो मे रखाने की उनकी उत्कट अभिलाषा थी जो अनेक कारणों से पूरी नहीं होने पा रही थी। दैवात् जब इस कार्य का सुयोग लगा तब वे अस्वस्थ थे और इतना श्रम करने के योग्य नही थे। परन्तु अपनी लगन के कारण, स्वास्थ्य की चिन्ता न करते हुए उन्होने अवसर का उपयोग करना स्थिर किया। तत्काल दिल्ली जाकर आवश्यक उपकरणों और सहयोगियों की व्यवस्था करके वे सुदूर दक्षिण की "सिद्धान्त—बसति का' पहुँच गए। अपने सामने लगभग साढ़े छः हजार पृष्ठों के ताड़पत्रीय साहित्य के छाया चित्र उन्होंने तैयार कराये। ये दुर्लभ चित्र भी बेलगछिया के उनके संकलन मे प्रदर्शन हेतु रखे गए हैं।

खण्डगिरि उदयगिरि के उद्धारक

पुरातत्व सम्बन्धी जो अनेकों कार्य, अनेकों स्थानों पर उन्होंने किये हैं, वे यदि न भी कर पाते तो केवल खण्डगिरि उदयगिरि के प्रति किया गया उनका अकूत परिश्रम बाबू छोटेलाल जी की स्मृति दीर्घकाल तक हमारे मन में बनाये रखने के लिए पर्याप्त था। यदि यह कहा जाय कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की इन जैन गुफाओ को भारतीय पुरातत्व के नक्शे पर लाने का श्रेय उन्हीं को है तो भी यह कोई अत्युक्ति न होगी।

उन्होने खण्डगिरि उदयगिरि का दर्शन सर्व प्रथम १९१२ मे सेठ पदमराज जी रानी वालो के साथ किया। उस समय तक यह स्थान बिलकुल अप्रकट तथा अज्ञात था। सम्राट् खारवेल द्वारा निर्मित इन अनमोल जैन गुफाओं को अनेक अज्ञातनामा देवी देवताओं का आवास बताकर जबरदस्त पण्डो-पुजारियों ने इन गुफाओ पर अधिकार कर रखा था। इतना ही नही, वीतराग के इन मन्दिरो को नाना प्रकार के अनाचारो और अनैतिक व्यापारो का अड्डा बना रखा था। बाबू जी ने तत्कालीन पुरातत्व-विशारदों, विशेषकर श्री टी० एन० रामचन्द्रन का सहयोग प्राप्त कर खण्डगिरि का महत्वपूर्ण शिलालेख पढवाया और इस स्थान की निर्विवाद तथा प्रामाणिक ऐतिहासिकता प्रकाशित की। श्री रामचन्द्रन की ही सहायता और प० श्रीलाल जी की सतर्कता से इन गुफाओं पर जैन समाज का पूजाधिकार तथा पुरातत्व विभाग का अधिकार स्थापित हो सका। श्री रामचन्द्रन के ही सहयोग से इस स्थान की एक परिचय पुस्तिका (Guide Book) भी बाबू जी ने तैयार की और उसे अपने 'वीर शासन संघ' मे प्रकाशित किया।

बाद मे तो जैसे जैसे इस स्थान का महत्व लोगो की समझ मे आता गया वैसे ही वैसे उसकी प्रसिद्धि बढ़ती गई; पर उसके प्रचार और सुरक्षा में बाबू जी का महत्वपूर्ण सहयोग सदा बना रहा। सन् १९२० मे बगाल, बिहार, उडीसा के तत्कालीन गवर्नर लार्ड सिन्हा को वे खण्डगिरि लाने में सफल हुए। सन् १९४७ मे भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड माउण्ट बैटन की सपरिवार

खण्डगिरि यात्रा में भी उनकी पर्याप्त प्रेरणा रही। देश-रत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी यहां की यात्रा की और पंडित जवाहरलाल नेहरू तो दो बार यहा पधारे। अन्य गण्य मान्य व्यक्ति भी समय-समय पर यहा पधारते रहे जिनके स्वागत और यात्रा व्यवस्था के लिए बाबू जी सदा तत्पर रहते। इस प्रकार प्रचार होते होते इस स्थान का नाम देश के महत्वपूर्ण पुरातत्व स्थलों में बहुत शीघ्र आ गया।

निकट से देखने पर पता लगता है कि प्रचार और प्रसार की उनकी प्रणाली बहुत वैज्ञानिक और इसी कारण प्रभावक भी थी। मैंने उनके कागजो मे देखा है कि खण्ड-गिरि मे डाकघर खुलवाने का जो प्रस्ताव उन्होने विभा-गीय अधिकारियों को भेजा था वह कितना टिप-टाप और प्राभाविक था। आसपास के पचास साठ मील क्षेत्र का नक्शा तैयार कराकर उसमे वर्तमान डाक घरों की स्थिति, जनसख्या से उसका सम्बन्ध, सडको की सुविधा आदि दिखाते हुए हर प्रकार से खण्डगिरि मे नया डाक घर खोलने की उपयोगिता और आवश्यकता को सिद्ध किया गया था।

खण्डगिरि मे सम्राट् खारवेल के नाम पर एक धर्मार्थ औषधालय खोलने की योजना, इस स्थान के लिए, उनकी अतिम योजना थी। यह केवल प्रसग की बात है कि २६ जनवरी १९६६ को प्रात काल जब कलकत्ते मे बाबू जी की अरथी सजाई जा रही थी ठीक उसी समय खण्डगिरि मे इस औषधालय का शुभारम्भ हो रहा था। इस प्रकार खण्डगिरि-उदयगिरि की सुरक्षा, प्रचार और प्रभावना के लिए जीवन के अन्तिम क्षणो तक आपने अथक प्रयास किये और अपनी अनेक योजनाओ को अपने सामने सफल होते भी देखा।

जन-सेवक

जन-सेवा के जिस कठोर व्रत का पालन बाबू जी ने आजीवन किया उसकी साधना में उनके धीरज और धन का पर्याप्त उपयोग हुआ। इसकी शुरुआत (१९१७) मे तब हुई जब वे अपनी २१ वर्ष की अवस्था मे काग्रेस के सक्रिय सदस्य बने तथा उन्होने कलकत्ते में जैन राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स का सफल आयोजन किया।

उसी वर्ष कलकत्ते में इन्फ्लुएन्जा का भीषण प्रकोप हुआ। इस आपत्काल में बाबूजी ने पीडितों के लिए फल दूध, दवा, भोजन आदि उपलब्ध कराने की सराहनीय व्यवस्था की। १९४३ के बंगाल के भयानक दुर्भिक्ष में भी बाबूजी ने अकाल ग्रस्त क्षत्रों में घूम घूमकर विपन्न और बुभुक्षित मानवों की महत्वपूर्ण सेवा की। इसी प्रकार १९४६/४७ मे नोआखाली के ऐतिहासिक नर संहार के समय अपने प्राणों की परवाह न करते हुए बाबूजी ने दंगाग्रस्त क्षेत्रों में घूम घूमकर रिलीफ केम्पों का संचालन किया। इसी समय गनी ट्रेडर्स एसोसिएशन द्वारा लाखों रुपयों की सहायता कराकर उसका नोआखाली में सदु-पयोग किया। कलकत्ते के हिन्दू-मुस्लिम दंगों के समय तो उन्हें हमेशा भेद-भाव से ऊपर, पीडित मानवता की सेवा में तत्पर देखा गया। गनी ट्रेडर्स एसोसिएशन के बडे-बड़े व्यापारिक विवादों को सुलझाने मे आप अद्वितीय प्रतिष्ठा वाले पच थे। आपका व्यक्तित्व इस क्षेत्र मे निर्मल दर्पण की तरह प्रभावकारी सिद्ध होता था और आपके समक्ष वादी प्रतिवादी दोनों अद्भुत विश्वास के साथ अपनी सही स्थिति प्रकट कर देते थे और आप लाखों नहीं, करोडो तक के विवाद बड़ी आसानी से निष्पक्षता पूर्वक निपटा देते थे। इस दिशा में जो सम्मान आपने अर्जित किया था वह आज तक कोई अन्य व्यक्ति न कर सका। इसी कारण गनी ट्रेडर्स एसोसिएशन ने कलकत्ते मे अपनी परम्परा तोड़कर आपको मान पत्र समर्पित किया। बाबूजी को तो यह सम्मान एक बोझ ही था परन्तु गनी ट्रेडर्स एसोसिएशन स्वयं इस सम्मान से सम्मानित हुआ।

आस्थावान-श्रावक

परम अहिंसामय जैनधर्म पर गहन और अचल आस्था तो बाबूजी को विरासत मे ही मिली थी। सरा-वगी शब्द ही श्रावक का अपभ्रंश है। आपके माता पिता धार्मिक प्रवृत्ति के सच्चे श्रावक थे। इस सुयोग के साथ ही साथ जीवन की दो घटनाओं ने आपकी विचारधारा को असाधारण रूप से उदार और परहितकारी बना दिया था। एक ओर जीवन में संतान के अभाव ने जहा आपको "वसुधैव कुटुम्बकम्" का पाठ पढ़ाया वही दूसरी ओर

चवालीस वर्ष की मध्य आयु में ही सती साध्वी जीवन संगिनी का वियोग आपके समक्ष संसार की क्षणभंगुरता और एकत्व भावना का प्रतीक बनकर आ खड़ा हुआ। साधारण मनुष्य को पागल बनाकर विचलित कर देने वाले इस मर्मांतक प्रसग का विवेकवान बाबू जी ने दूसरा ही उपयोग किया। उन्होंने इसे जीवन की सबसे बड़ी चुनौती मानकर अपनी शेष आयु को सत्सग, साधुसेवा, समाज सेवा, शोध और साहित्य-साधना मे लगा देने का दृढ़ निश्चय कर लिया। पत्नी के नाम पर पुष्कल द्रव्य का दान करके उसकी स्मृति को अमर बनाया और उसी क्षण से उस अकथ, अथक और मूक साधना में वे लीन हो गये जिससे उन्हें विमुख करा सकने मे न रोग जन्य पीड़ा कामयाब हुई, न बुढ़ापा ही सक्षम सिद्ध हुआ। केवल मृत्यु ही उनकी उस लगन को तोड़ पाई।

समाज उत्थान के लिए सदैव चिंतित बाबू छोटेलाल जी मन्दिरों, मूर्तियों और तीर्थ क्षेत्रों की व्यवस्था, सुरक्षा संचालन के लिये तो अहर्निशि प्रहरी की तरह तत्पर, सतर्क और सन्नद्ध रहते थे। हर तीर्थ क्षेत्र की प्राय हर समस्या का ज्ञान उन्हें रहता था। समाधान का यथा संभव उपाय भी वे करते थे। समस्या जब तक बनी रहती तब तक उसकी चिंता भी उन्हें बराबर बनी रहती थी।

पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज के वे परम अनुरागी भक्त थे। उनके भाई श्री नन्दलाल जी आज भी वर्णी-स्मारक की योजना मे दत्त चित्त होकर लगे है। वर्णी जी के अन्त समय मे बाबू छोटेलाल जी ने उनकी सेवा-सम्हार जिस भक्ति-भाव-पूर्वक, जैसी एकाग्रता से की है वह देखने वालों के लिए भी गुरुभक्ति का एक आदर्श उपस्थित करती है।

दानवीर श्रावक शिरोमणि साहु शान्ति प्रसाद जी पर बाबू जी का बड़ा स्नेह रहा। बाबू जी के सत्परामर्श मे साहु जी ने लाखो रुपयों का दान समाज हित के कार्यों में किया। साहुजी के अन्तरग और निस्वार्थ हितकारी मार्ग दर्शकों में उनका स्थान प्रमुख था। कुटुम्ब के प्रति भी उनका व्यवहार सदा गहरी आत्मीयता से भरा और स्नेह पूर्ण रहा। मित्रों और गुणज्ञो के लिए तो उनके मन मे बड़ी ममता थी। बड़े और छोटे का व्यवधान मेंटकर हम लोगों से भी वे ऐसा स्नेह पूर्ण व्यवहार करते थे कि जो कोई एक बार भी उनके सम्पर्क में आया वह हमेशा हमेशा के लिये उनका हो गया।

चिरसगी एक्जिमा की मर्मांतक वेदना और दमा के नित्य प्रति के आक्रमण से भी वे कभी विचलित या अधीर नही हुए। एक सच्चे दार्शनिक की तरह रोग के हर उत्पाद को पूर्वोपार्जित असाता कर्म का उदय-उपहार मानकर वे अत्यन्त समता पूर्वक भोगते रहे। उनकी सेवा मे रत भाई अमरचन्द जी ने मुझे उनकी मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व लिखा था कि "भीषण वेदना मे भी उनके मुख से 'उफ' या 'आह' नही निकलती तथा समता भाव उनका बराबर साथ दे रहा है।

मृत्यु की कल्पना ने कभी उन्हें भयभीत या अधीर नही किया। बहुत पहिले से वे मृत्यु का स्वागत करने के लिए तैयार बैठे गुनगुनाया करते थे—

"जा मरने से जग डरै, मोरे मन आनन्द।
मरने से ही पाइए, पूरण परमानन्द॥"

इस प्रकार मेरा अनुभव है कि स्वर्गीय बाबू जी अपने आप मे एक बड़ी सस्था थे। बड़े स्नेही और हितैषी मित्र थे। उनके कार्यों का सही मूल्याकन तो सभवत. अगली शताब्दी मे ही हो सकेगा, पर इतना आज भी कहा जा सकता है कि शोध के क्षेत्र मे उन्होने अपने जीवन से जो प्रेरणा दी है वह आने वाली पीढियो के लिए सीढियो का काम करेगी। आज उनकी पुण्य स्मृति में नत मस्तक मैं केवल यही अनुभव कर रहा हूँ कि—

जानकर जीवन मरण का अर्थ
क्षण नहीं खोये जिन्होंने व्यर्थ।
कीर्ति उनकी नष्ट करने हेतु—
मृत्यु बेचारी रही असमर्थ॥

★

कीर्तिस्तम्भ भरतकुण्ड पटवारी

इस कीर्तिस्तम्भ में पट्टावली दी हुई है, और उसमें आचार्यों तथा भट्टारकों की मूर्तियां अंकित हैं।
सन् १९५० में बाबू छोटेलालजी उस पट्टावली के सम्बन्ध में नोट ले रहे हैं।

श्रवण बेलगोल के मठ के अन्दर भट्टारकजी, बा० छोटेलाल जैन, और बी० डी० कृष्णास्वामी
सुपरिन्टेन्डेन्ट पुरातत्व विभाग, दक्षिण क्षेत्र

श्रीकानजी स्वामी के अभिनन्दन के समय वीरसेवामन्दिर में लिए गये चित्र में बाबू
छोटेलालजी जैन कानजी स्वामी के पीछे और श्री प्रेमचन्दजी के साथ खड़े हुए हैं।

नाम बड़े, दर्शन सुखकारी

अमरचन्द जैन

कलकत्ते मे जब वीरशासन जयन्ती महोत्सव मनाया गया था, तब मैं बनारस मे अध्ययन करता था। एक छात्र की हैसियत से इस महोत्सव मे सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इस महोत्सव मे अत्यन्त साधारण सा दिखाई देने वाले एक पतले-दुबले व्यक्ति को प्रायः हर समय, हर मोर्चे पर सक्रिय देखा। अद्भुत कार्यक्षमता, अत्यन्त स्नेहिल विनम्र व्यवहार और सरलतम व्यक्तित्व के स्वामी इस अपरिचित व्यक्तिके लिए उसी समय मन मे श्रद्धा का अकुर फूट आया जो शीघ्र ही एक बड़े वृक्ष के रूप मे फैल गया। परिचय के प्रयास से ज्ञात हुआ कि यही प्रख्यात समाज-सेवी बाबू छोटेलालजी है।

मेरे पूज्य पिता प० जगन्मोहनलालजी पर बाबूजी का अत्यन्त स्नेह रहा। स्नेह की इस धारा ने छलक-छलककर मुझे भी सराबोर कर लिया और जब मैं कलकत्ते मे ही पहुँच गया तो पिछले दस वर्ष तक बाबूजी का बड़ा निकट सम्पर्क प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला।

'सत्वेषु मैत्री" शायद उनका सबसे प्रिय आदर्श वाक्य था। किसी भी देशी विदेशी विद्वान् के आगमन की बात जानकर उसका स्वागत, सत्कार और सहायता करने मे वे अग्रणी रहते थे। उनकी बैठक की महफिल सदा आबाद रहती थी और वहा इतिहास, पुरातत्व, साहित्य आदि की चर्चा हमेशा चला करती थी। जब भी मैं बेलगछिया जाता था सदैव उनके साथ किसी न किसी विद्वान् को बैठे देखता था। या तो किसी सामाजिक समस्या का निराकरण हो रहा है, या इतिहास की कोई गुत्थी सुलझाई जा रही है। कोई विद्वान् अपनी किसी रचना का परिचय अथवा किसी नई स्थापना का औचित्य बखान कर रहा है या फिर कोई जिज्ञासु स्नातक प्रश्नोत्तरों द्वारा अपने शोध-ग्रन्थ के लिए दिशा निर्देश ले रहा है। कभी कोई अपनी पारिवारिक समस्या से उबरने के लिए सहायता प्राप्त कर रहा है या कोई उसके लिए भूमिका बाध रहा है। कोई अपने भाई या पुत्र के लिए नौकरी की सिफारिश चाहता है और कोई हम लोगों की तरह इस झाँकी का रसास्वादन ही करने चला आया है। परन्तु बाबूजी का स्नेह और कृपा सब के लिए सदा उपलब्ध रहती थी। उनकी परिमित बातचीत और बीच-बीच में एक संयत-सी मुस्कान से सुखी आदमी समझता कि बाबू जी उसके ठहाकों का साथ दे रहे हैं और दुखी को लगता कि उसके घाव पर मरहम लगाया जा रहा है। हर घंटे पर कुछ न कुछ खाने पीने का, नाश्ते या फलाहार का प्रबन्ध रहता और जो इसमें टाल-टूल करता उसे अपने हिस्से के साथ साथ एक मीठी डांट भी खानी पड़ती। दमे के कारण वे कुछ अधिक खाते-पीते नही थे इस कारण शायद खाने से अधिक आनन्द का अनुभव खिलाने में कर लेते थे।

बाबूजी के चले जाने से कलकत्ता समाज का एक बडा स्तम्भ गिर गया। यद्यपि बहुत समय से वे व्यापार से निवृत्त होकर समाज सेवा और साहित्य, इतिहास तथा पुरावृत्त की शोध मे ही संलग्न रहते थे; पर कलकत्ते की व्यापारिक समाज मे भी आपको अद्वितीय सम्मान प्राप्त होता था। आपकी महानता का प्रमाण यही है कि करोड़ों रुपयों के व्यापारिक विवादों में भी दोनों पक्ष आपको एकमेव पच बनाकर अपना निर्णय करा लेते थे।

बाबूजी स्वयं के प्रचार से सदा दूर रहे। कोई भी असुविधा हो, चुपचाप स्वय सह लेंगे पर दूसरे को उसका आभास तक न होने देंगे। यह आत्म गोपन उनका विशिष्ट गुण था। लाखों रुपयों का दान कर दिया पर कभी उसका उल्लेख भी पसन्द नही करते थे। दान को हमेशा "परिग्रह के पाप का परिमार्जन" कहा करते थे।

उन्हे वर्णीजी महाराज पर अगाध श्रद्धा थी। वर्णी-स्मारक उनके अकेले की प्रबल प्रेरणा और अथक श्रम का फल है। गहरी व्यस्तता में अपने आपको डुबाकर रखना उनका लक्ष्य होता था तथा परचिंता, परदुःख कातरता और परोपकार उनका स्वभाव था। उनके चरणों मे विनम्र श्रद्धांजलि अर्पण करके मैं अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

उनके मानवीय गुण

अक्षय कुमार जैन

दुबले-पतले, गेहुआ रंग, शुभ्र मलमल का कुर्त्ता, बारीक धोती, सिर पर काली टोपी और आँखों पर लगी ऐनक—इस रूप का एक संभ्रान्त व्यक्ति आज से कोई १५ वर्ष पहले जब दिल्ली में हुई दिगम्बर जैन परिषद के कार्यकर्ताओं की एक बैठक में आया तब साहू शान्ति-प्रसादजी ने मुझसे परिचय कराते हुए कहा—"ये हैं बाबू छोटेलालजी, जिनके दिल में जैन वाङ्मय और जैन संस्कृति की धारा बहती है। पुरातत्व मे इनकी गहरी पैठ है। आप इनसे अब तक नहीं मिले हैं क्या ?"

नाम बाबू छोटेलालजी का अपने छुटपन से ही सुन रखा था। पिता जी के साथ समाज के सम्बन्ध मे उनका पत्र-व्यवहार होता था। उसे देखा था और पिताजी से उनके सम्बन्ध मे सुना भी। पर मेरे मन मे बाबू छोटे-लाल जी का जो चित्र था निश्चय ही वह इससे भिन्न था। मैं समझता था कि वे लम्बे-चौड़े, स्वस्थ पुरुष होंगे। उनसे मिलकर एकाएक मुझे लगा—"इतने विद्वान् और यह वपु।"

इसके बाद बाबूजी का दिल्ली में काफी आना-जाना और रहना हुआ। "वीरसेवामन्दिर" तथा 'अनेकान्त" के सम्बन्ध मे जब भी मिलना हुआ तो वे समाज के विभिन्न मुद्दों पर बात करते थे। दमे के मरीज होते हुए भी सामाजिक कार्यों में उनकी इतनी रुचि थी कि अपने स्वास्थ्य के मूल्य पर भी वे सेवा कार्य करते थे। समाज के श्रीमानों में उनका स्थान था और श्रीमानों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा भी थी।

दिसम्बर, १९६१ का वह समय मैं कभी नहीं भूल सकता जबकि दिल्ली में ही मेरे पूज्य पिताजी का अकस्मात् देहान्त हो गया था। घर में सबसे बड़ा होने के कारण मुझ पर उस वज्र-प्रहार के बावजूद घर मे सबको धैर्य बँधाने का गुरुतर दायित्व आ पड़ा। उन दिनों घण्टों-घण्टों मेरे पास बैठकर बाबू छोटेलाल जी ढाढ़स दिया करते और नैतिक साहस बँधाते। बाबूजी की विचारपूर्ण बातों से मुझे सम्बल मिला और मैं अपना कर्तव्य निभाने में सफल हुआ। अत्यन्त निकट आत्मीय की तरह दमे के रोगी होते हुए भी तीन मंजिले मकान पर चढकर आते और काफी समय बैठे रहते। घर में सब लोगों को साग्रह भोजन आदि कराना तो उन्होने अपना कर्तव्य ही मान लिया था। संकट का हमारा वह समय उनकी सान्त्वना से निकल गया।

इसके बाद भी जब-जब उनसे मिलना हुआ बुजुर्ग जैसी सलाह, मित्र जैसा परामर्श और भाई जैसा स्नेह ही प्राप्त होता रहा। हम लोग इस यत्न मे थे कि उनके सम्मान मे एक अभिनन्दन ग्रन्थ संग्रह किया जाय किन्तु अब ऐसा लगता है कि अभिनन्दन ग्रंथ "स्मृति ग्रंथ" ही हो सकेगा।

बाबू छोटेलालजी साहित्य और संस्कृति के कितने बड़े मर्मज्ञ थे यह बहुत कम लोग जानते होंगे। यदि उन्होंने स्वयं साहित्य सृजन किया होता तो आज देश के श्रेष्ठ साहित्यकारो मे उनका स्थान होता। दूसरे को आगे बढाना और बड़ों जैसा आशीर्वाद का हाथ सदैव कंधे पर रखना उनका स्वभाव था।

वह अपने समाज मे ही नहीं अपितु भारतीय समाज में समादृत हुए और उनके मानवीय गुण वर्षों तक याद किये जाते रहेंगे। उनकी काया आज भले ही न हो किन्तु मानस पटल पर उनकी छाया अनन्त काल तक स्थापित रहेगी, यही मेरी विनम्र श्रद्धांजलि है।

मूक सेवक

प्रो० भागचन्द्र जैन

पुरातत्ववेत्ता और मूक समाज तथा देश-सेवक बाबू छोटेलाल जी के सन्दर्भ में पूज्य वर्णी जी का १९६१ का ईसरी चातुर्मास मेरे लिए अविस्मरणीय रहेगा। आश्रम का सुहावना वातावरण शान्त और निस्तब्ध तपोवन जैसा था। बीसवीं शती के महान आध्यात्मिक सन्त बाबाजी से प्रेरणा पाने के लिए आश्रम एक प्रबल सम्बल बन गया था। चारो ओर से धर्मप्रेमी बन्धु इस सुन्दर समागम के लिए खिचे हुए से चले आते थे। मैं भी यह सब देखने सुनने का लोभ सवरण न कर सका। उन दिनों में स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी मे था।

बाबूजी के नाम से परिचित होने की तो कोई बात ही नही। परन्तु उनसे साक्षात्कार करने का अवसर ईसरी मे ही मिल पाया था। उनके पतले-छरहरे बदन पर धोती कुर्ता तथा गौरवर्ण चेहरे पर कलकतिया टोपी बडी भली लगती थी। इस वेष में इस महामना का प्रभावक और उदार-चिन्तक व्यक्तित्व स्पष्टत झलकता था और झलकता था उसमे उनका समाज तथा धर्म की सेवा के प्रति कर्तव्यशीलता।

मै देहली के आरकिलाजिकल स्कूल के विषय में जानकारी प्राप्त करने के निमित्त बाबूजी से मिला था। इसी सिलसिले में बातचीत करते करते वे सामाजिक कर्तव्यों की ओर इंगित करने लगे और कहने लगे कि हमारे नवयुवको को प्राचीनतम इस जैनधर्म का पुरातात्विक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन कर-कराकर उसे विश्वधर्म के रूप में जनता के समक्ष उपस्थित करना चाहिए। दोनो नई और पुरानी पीढ़ी को इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए कन्धे से कन्धा मिलाकर तन-मन-धन से काम करना होगा। त्याग किये बिना कुछ भी होने-जाने का नहीं।

बात कुछ देर तक चलती, परन्तु संयोगवशात् उसी समय उनके कुछ चिरपरिचित मित्र आ गये। मेरा भी एपान्टमेन्ट दूसरी जगह था। इसीलिए बाबूजी से फिर मिलने का वचन लेकर लौट पड़ा। लौटा तो लौटा ही। फिर दुबारा भेंट नहीं हो सकी।

यह भेंट थी तो अल्पकालिक, परन्तु उसने मुझे काफी प्रभावित किया। बाबूजी की निश्छल, निःस्वार्थ व कर्मठ कार्यशीलता उनके प्रत्येक शब्द से फूट रही थी। और मैं उसमें उनके द्वारा किए गये सामाजिक व देशिक कार्यों को स्मरण के माध्यम से झांक रहा था। निःसन्देह उन्होंने तन-मन-धन से समाज व देश की मूक-सेवा की, वह किसी भी स्थिति में भुलाई नही जा सकती। उनकी प्रेरक और अनुकरणात्मक भावनाएँ तथा कार्य आज भी हमारे समक्ष वैसी ही स्थिति में मौन खड़े हैं और निमन्त्रण दे रहे हैं उन्हें समुचित ढंग से समझने का तथा आगे बढाने का।

इधर सीलोन (श्री लंका) से वापिस आये हुए मुझे कुछेक माह ही हुए थे। एक दिन नागपुर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे अनेकान्त की एक प्रति हाथ में आ गई। देखा तो उसमे बाबूजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने की योजना का जिक्र था। साथ ही उनके सम्बन्ध में संस्मरणों तथा जैनधर्म व दर्शन विषयक शोध निबन्धों का आह्वान भी था। योजना पढ़कर तो अत्यन्त प्रसन्नता हुई, पर मन मे उसी समय प्रतिक्रिया स्वरूप विचार आया कि समाज ने बाबूजी के स्वागत करने में इतनी देर क्यों की? अस्तु मैंने योजना के सयोजक डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल को लिखा और पूछा कि इस योजना के लिए काफी समय निकल चुका है। क्या अभी भी कोई संस्मरण, लेखादि स्वीकार किया जा सकता है। चन्द दिनों बाद ही उनका उत्तर मिला कि अभिनन्दनीय व्यक्तित्व का भौतिक शरीर काल-कवलित हो गया, कुछ समय पूर्व ही। यह दुखद समाचार जानकर मैं तो स्तब्ध-सा रह गया। लगा मानों समाज पर वज्रपात हो गया हो। है ही। काश! 'यमस्य करुणा नास्ति' से वे बच निकलते।

बाबूजी की सच्ची स्मृति को स्थायी बनाने के लिए इस सन्दर्भ में समाज से मेरा एक निवेदन है। आज समाज के पास उनके प्रति श्रद्धा-व्यक्त करने के लिए दो रूप हैं। उनका वह भली भाँति उपयोग किया जा सकता है। प्राकृत और जैनधर्म के अध्ययन-अध्यापन के प्रति छोटेलाल जी का जो ममत्व था उसे कार्यरूप में परिणत किया जाना चाहिए। यही उनके लिये पुष्पार्पण होगा और होगी यथार्थ श्रद्धांजलि।

ऐसे अवसर पर यह एक विचारणीय तथ्य है कि देश के इतने विश्वविद्यालयों में प्राकृत और जैनधर्म की शिक्षा-व्यवस्था कुछेक विश्वविद्यालयों में ही है। वहाँ भी अपेक्षित साधनों के अभाव में एतद्विषयक अध्ययन की प्रवृत्ति कुण्ठित-सी होती जा रही है। मैं स्वयं नागपुर विश्वविद्यालय के पालि-प्राकृत विभाग में हूँ और इस स्थिति से भली भाँति परिचित हूँ। छात्रों की सदैव कमी बनी रहती है। यदि कुछ छात्रवृत्तियाँ प्राकृत व जैनधर्म के अध्ययन के निमित्त हमारे श्रीमान् देने को तैयार हो जावें तो इसमें कोई सन्देह नही कि विभाग पर्याप्त प्रगति कर सकता है।

दूसरी बात है—जैन साहित्य प्रकाशन व्यवस्था की। हमारा अमूल्य जैन साहित्य प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी तथा आधुनिक अन्य प्रान्तीय भाषाओं में निबद्ध पडा है और आज भी शोधकों तथा उदारमना व्यक्तियों की ओर दयनीय दृष्टि से निहार रहा है। इस दिशा मे हमारे समाज का कर्तव्य है कि वह आगे आने वालों को उत्साहित करें और पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा आदि जैसे अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण कार्यों में व्यय कम कर उक्त प्रवृत्तियो को विकसित करने मे सहयोग दे। इस दृष्टि से मेरे कुछ सुझाव है। कितना अच्छा होगा यदि समाज उन पर गहराई और उदारतापूर्वक विचार करे और जैनधर्म के प्रचार प्रस्तर कार्य मे आगे बढे।

(१) प्राकृत और जैनधर्म का अध्ययन करने वाले स्नातकीय और स्नातकोत्तरीय छात्रों को अधिक-से-अधिक छात्रवृत्तियाँ दी जाय।

(२) दिल्ली, मद्रास, मैसूर, नागपुर, कलकत्ता, बम्बई जैसे प्रमुख नगरो मे जैन शोधपीठ सस्थान प्रस्थापित किये जाय।

इन शोधपीठ सस्थानों के तत्वावधान मे अप्रकाशित जैन ग्रन्थो का आधुनिक ढग से प्रकाशन और प्रकाशित ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

"सच्चा जैन"

डा० दशरथ शर्मा

मैं उन व्यक्तियों में से नहीं हूँ जो बाबू छोटेलाल जी से बहुत अधिक सम्पर्क का दावा कर सकें। मैं तो केवल उस वर्ग मे से हूँ जिन्होने उनके सौजन्य से अनेकश: लाभ उठाया है और जिन पर उनकी सदा कृपा दृष्टि रही है। उनकी आत्मीयता की परिधि विशाल थी। सर्वथा अपरिचित होने पर भी जब मैंने आठवी से बारहवीं शती तक के राजस्थानी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के विषय मे उनसे पूछताछ की तो उन्होंने सविस्तर उत्तर देने की कृपा की थी। इसी तरह जब कभी मैंने कोई प्रश्न किया तो बाबू जी ने मेरी जिज्ञासा की निवृत्ति की। कभी-कभी अपरोक्ष रूप में भी उनके ज्ञान से मैंने लाभ उठाया है। राजस्थान का इतिहास लिखते समय मैं आश्रम-पत्तन की स्थिति से परिचित हो चुका था[१]। किन्तु बाबू जी की 'जैन बिब्लिओग्राफी'[२] को सूत्र रूप मे ग्रहण कर ही मैं उस विषय पर कुछ विशेष लिख सका हूँ।

कर्मण्यता को मैं जैनधर्म की मुख्य विशेषता मानता हूँ। मनुष्य के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है; उसका आचरण भी तदनुकूल होना चाहिए। इस दृष्टि से मैंने बाबू जी को सदा सच्चा जैन पाया है। १९१७ के इन्फ्लुएन्जा के भीषण प्रकोप, १९४३ के बंगाल के भीषण अकाल और नोआखाली के साम्प्रदायिक, अत्याचार के दिनो मे जो व्यक्ति डटकर काम कर सका उसे "सच्चा जैन" कौन न कहेगा? ऐसी आत्मा शतशः धन्य है। उसके लिए अन्तत: वह स्थान निश्चित —

जत्थ ण जरा ण मच्चू ण वाहिणो णेव सव्वदुक्खाइं।

१. देखें 'राजस्थान थ्रू दी एजेज' खण्ड १, पृ० ७२४

२. पाटण केशोराय पर टिप्पणी देखें।

ज्ञान तपस्वी गुणिजनानुरागी

रतनलाल कटारिया

"जैन सन्देश" आदि पत्रों मे प्रकाशित हमारे लेखों से प्रभावित हो बाबू छोटेलालजी ने हमें ता० २२-२-६२ के अपने एक पत्र मे लिखा कि—

"वीरसेवामन्दिर की कार्यकारिणी कमेटी में 'अनेकान्त' का द्वैमासिक प्रकाशन और सम्पादकों मे आप का भी नाम स्वीकृत हुआ है अत. आप 'अनेकान्त' के लिए लेख जुटाने का प्रयत्न करे और स्वय भी लेख लिखें आपके पूज्य पिताजी का भी एक लेख अवश्य ही प्रथम अक मे रहना चाहिए उससे पत्र की प्रभावना होगी— मेरी ओर से सविनय निवेदन करें। उन जैसे प्रामाणिक, गम्भीर और मौलिक लेख बहुत ही कम देखने में आते है, बडा भारी अध्ययन उन्होने किया है। 'अनेकान्त' मे तो वसे ही लेख रहे तभी महत्व है।"

उनकी आज्ञा को स्वीकार कर हमने और पूज्य पिता जी सा० ने ४-५ लेख 'अनेकान्त' मे लिखे उन सबसे बाबू सा० बहुत ही प्रभावित हुए। इसके सिवा जैनसदेश शोधाक २० मे "जैनधर्म और हवन" शीर्षक पिताजी सा० के लेख से तो और भी अधिक आकृष्ट होकर बाबू सा० ने हमे बार बार लिखा कि—

"आपके और आपके पिताजी सा० के अब तक के प्रकाशित लेखो का संग्रह हम पुस्तकाकार रूप से प्रकाशित करना चाहते हैं आप पुन. सम्पादन कर उन्हें बनारस भेज दें, हमने कागज भेज दिया है।"

उनकी आज्ञा का हमने सहर्ष परिपालन किया, परिणाम स्वरूप सन् ६५ के अन्त में 'जैन निबन्ध रत्नावली' के नाम से उन लेखों का ५०० पृष्ठों का प्रथम भाग छप कर तैयार हो गया—उन्हीं दिनों बाबू सा० गहरी रुग्णावस्था मे हो गए फिर भी उन्होने रोगशय्या पर पड़े-पड़े ही 'रत्नावली' के लिए अपना प्रकाशकीय वक्तव्य लिखवाया और २६ जनवरी ६६ के प्रात.काल उन कर्मनिष्ठ महान् आत्मा ने इस नश्वर देह का परित्याग कर दिया—एक ज्ञान-ज्योति इस लोकसे तिरोहित हो गई। श्रीसम्मेद शिखरजी की यात्रा को जाते हुए जब हमने जयपुर में पं० प्रवर चैनसुखदासजी से बाबू सा० के स्वर्ग-प्रयाण के समाचार सुने तो बहुत ही सताप हुआ। यात्रा प्रारम्भ करते वक्त सोचा था कलकत्ता पहुँचने पर बाबू साहब से मिलेगे किन्तु वह सब स्वप्न हो गया।

उन विद्याप्रेमी गुणिजनानुरागी का स्मरण कर हमें बरबस एक कवि का यह श्लोक याद आता है—

अद्य धारा निराधारा निरालबा सरस्वती।
पडिता खडिता: सर्वे भोजराजे दिवगते॥

(राजा भोज के दिवगत होते ही धारानगरी स्वामिहीन हो गई, सरस्वती आश्रयहीन हो गई और पण्डित सब खण्डित हो गये)

बाबू सा० भी महानगरी कलकत्ता के आधुनिक भोज ही थे। वे भी विद्वानो के परम सहायक थे और स्वयं विद्याप्रेमी तथा साहित्य रसिक थे एव साथ ही सुयोग्य लेखक—'अनेकान्त' मे प्रकाशित पुरातत्व सम्बन्धी उनके लेख उनकी सूक्ष्मान्वेषण बुद्धि के परिचायक हैं इसी तरह 'महावीर जयन्ती स्मारिका' सन् ६२ में—प्रकाशित श्री वत्स चिह्न' शीर्षक सचित्र लेख तथा सन् ६३ की स्मारिका मे प्रकाशित 'छत्रत्रय' शीर्षक सचित्र लेखभी बड़ेही रोचक और खोजपूर्ण है। लाखों रुपया उन्होने साहित्य के उद्धार और प्रकाशन मे एव विद्वानो की सहायता में व्यय किये थे एक तरह से उन्होने अपना सारा ही जीवन और धन सरस्वती के पुनीत चरणो मे ही समर्पित कर दिया था जैसे जौहरी रत्नों के परीक्षक होते हैं वैसे ही वे विद्वानों के पारखी थे—ता० २२-२-६२ के पत्र मे उन्होंने लिखा था—

'अनेकान्त' के सम्पादक मण्डल में एक नाम डा०

प्रेमसागर जी जैन M.A. Ph-D. का भी रखने का विचार है इन्होंने 'भक्ति काव्यों में जैनों की देन' विषयक सुन्दर और खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। आजकल हिन्दी और अपभ्रंश की ओर हिन्दी संसार का ध्यान विशेष आकृष्ट हो रहा है अत. आवश्यक है कि अजैन हिन्दी विद्वानों में जैन साहित्य का प्रचार किया जाय इस कार्य के लिए मैं समझता हूँ प्रेमसागर जी उपयुक्त हैं स्वभाव भी अच्छा है, परिश्रमी है। बड़ौत दि० जैन कालेज मे प्रोफेसर है।'

पं० श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार, डा० श्री ए. एन. उपाध्ये जी, प० चैनसुखदासजी, प० कैलाशचन्दजी, प० जगन्मोहनलालजी, प० पन्नालालजी (साहित्याचार्य), प० फूलचन्दजी, प० वशीधरजी M. A. विद्वानों पर उन्हे काफी श्रद्धा थी। इन विद्वानों को अच्छा प्रामाणिक मानते थे—हमारे पास आगत उनके पत्रों से यह जाहिर है। इसके सिवा उन पत्रों से उनकी साहित्य-सेवा की उत्कट लगन का भी पता चलता है, नीचे दो पत्रों से कुछ अश उद्धृत किये जाते है—

(१) ता० २२-२-६२ के पत्र मे उन्होने लिखा था—

अनेकान्त को भली प्रकार चलाने के लिए एक-एक विषय के एक-एक विद्वान् पर भार डालने से ही सुविधा होगी और पत्र भली भाँति चल सकेगा। इसलिए अभी दो एक विद्वान् अपने को और भी सम्पादक मण्डल में रखना होगा। जैसे पुरातत्व-इतिहास-कला के लिए एक सम्पादक। साहित्य के लिये दूसरा सम्पादक। प्रारम्भ मे बहुत परिश्रम करना होगा कठिनाइयाँ भी होंगी पर दो चार अक निकल जाने के बाद सरल हो जायगा अभी तो अनेकान्त को द्वैमासिक ही निकालना है जब पत्र चलने लगेगा तो मासिक कर लिया जायेगा। किन्तु प्रथम अंक शीघ्र निकल जाना चाहिए ताकि वीर जयन्ती के समय ग्राहक बनाने मे सुविधा हो।

(२) ता० २१-३-६२ के पत्र में उन्होंने लिखा था—

"अब एक बात आपसे अपने हृदय की लिख रहा हूँ—आप जानते हैं वीरसेवामन्दिर समाज की सस्था है, एक पैसे की भी आय नहीं है जो कुछ समाज से मिलता है सब खर्च हो जाता है, दिन-दिन काम बढ़ाने की इच्छा होती है पर उसके लिये द्रव्य चाहिए, समाज को कार्य दिखाये बिना समाज से द्रव्य मिल नहीं सकता है मैं भी अपना प्रभाव कहाँ तक डाल सकता हूँ—काम दिखा कर ही द्रव्य प्राप्त कर सकता हूँ—इस समय मंदिर में केवल एक ही काम करवाना है, वह है—"जैन लक्षणावली" का। मैं चाहता था कि केवल इसका प्रथम भाग स्वरभाग ही निकल जाय तो समाजपर इसकी उपयोगिता प्रगट होगी और आगे के व्यंजन भाग के लिए सहायता मिल सकेगी।

वर्तमान में लक्षणावली के प्रथम भाग का कार्य इतना ही है कि—

(क) संकलित लक्षणों को मूल प्रतियों से मिलान करना। नये ग्रन्थ निकले है उनमें के लक्षणों को भी सम्मिलित करना।

(ख) विभिन्न शताब्दियों के लक्षणों को काल-क्रमानुसार लगाना। इसके लिए सब आवश्यक दिगम्बर व श्वेताम्बर ग्रन्थों की समय-सूची बनी हुई है कही कुछ मतभेद हो तो उसके कालक्रम को अपनी दि० मान्यतानुसार ही देना।

(ग) प्रत्येक लक्षण का मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद तैयार करना।

हाँ यह आवश्यक है कि जहाँ जहाँ लक्षणों में परिवर्तन हुए हैं उन पर व्याख्या होनी चाहिये—यह कार्य बहुत सोच-विचार, मनन और अध्ययन का है तथा वह बिना दो तीन विद्वानों के सम्पन्न होना कठिन है। जहाँ जहाँ लक्षणों में परिवर्तन-परिवर्धन हुए है उन पर देश काल भाव के अनुसार विचार करना होगा इसके लिए जैन सिद्धान्त का भी काफी ज्ञान होना आवश्यक है इसलिए अभी वैसे सम्पादन के कार्य को तब तक के लिए स्थगित रखा गया है जब तक कि उपर्युक्त तीन कार्य अर्थात् मूल प्रति से मिलान, नये लक्षणों का सम्मिलन, काल-क्रमानुसार लक्षण-व्यवस्था और हिन्दी अनुवाद न हो जाय। यह पूरा होने पर आपके पिताजी के पास तैयार प्रति भेजकर उनकी राय ली जायगी कि सम्पादन किससे करवाया जाय……।

इस सबसे स्पष्ट है कि बाबूजी सदा रोगी रहते हुए

श्री सरस्वती की सेवा में कितने संलग्न रहते थे।

लक्षणावली के कार्य के लिए बाबूजी ने पं० दीपचन्द जी पाण्डया को नियुक्त किया था किन्तु कुछ लक्षणों का हिन्दी अनुवादादि ही हो पाया और अब वह सब विशाल कार्य यों ही पड़ा है—अनेक विद्वानो ने पहिले भी वर्षों तक इस कार्य पर अलग अलग श्रम किया है। इस तरह सस्था का काफी रुपया इसमे लग चुका है किन्तु न जाने किस मुहूर्त मे इस कार्य का प्रारम्भ हुआ है कि यह कभी पूरा ही नही हो पा रहा है। कोई माई के लाल इस कार्य को पूर्ण सम्पन्न कर दे तो यह जैन साहित्य की बहुत बड़ी सेवा होगी और विद्वद् समाज इसके लिए उनकी सदा ऋणी रहेगी।

इसके सिवा बाबू सा० के ऐसे बहुत से महत्वपूर्ण महान् धर्म-प्रभावक कार्य हैं जो अधूरे पड़े हुए हैं। अगर उनके श्रद्धालु प्रेमीजन और पारिवारिक-जन उन्हें मिलकर पूर्ण कर दें तो बाबू सा० की कर्मनिष्ठ दिवंगत आत्मा बहुत सन्तुष्ट हो और समाज भी उनकी आभारी हो—इसके लिए मैं पण्डितवर्य वंशीधरजी शास्त्री एम. ए., पं० जगन्मोहनलालजी के सुपुत्र श्री अमरचन्दजी कलकत्ता से प्रेरणा करता हूँ कि वे इस ओर अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर यशस्वी बनें, साथ ही बाबू सा० के भाई माननीय नन्दलालजी सा० से भी निवेदन करता हूँ कि वे भी सब तरह से अपना पूर्ण सहयोग दें।

अन्त मे मैं कर्तव्यनिष्ठ, उदार-हृदय, जनसेवक, कर्मठनेता, महान् दानी, विद्वानों के परम सहायक, महान् इतिहासज्ञ, पुरातत्ववेत्ता, सरस्वती-उपासक, समाज-विभूति महामना बाबू सा० श्री छोटेलालजी के अनेक सद्गुणो से प्रभावित हो उन्हे सादर श्रद्धांजलि समर्पण करता हूँ और कामना करता हूँ कि उन महान् आत्मा को सद्गति प्राप्त हो। ★

अन्तिम तीव्र इच्छाएँ

डा० प्रेमसागर जैन

बाबू छोटेलाल जी के साथ मेरा परिचय लम्बा नही है। सन् १९६१ के जून में, मैंने सर्वप्रथम उनके दर्शन वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली में किये। तब से उनका जो स्नेह मिला, सतत बढता गया, जो विश्वास मिला, घनीभूत होता गया। सन् १९६२ की मई मे वे कलकत्ता चले गये। मुझे बुलाकर कहा कि ग्रीष्मावकाश मे तुम यहाँ रहो और वीर-सेवा-मन्दिर के साहित्यिक काम तुम्हें करने होगे, जो मैं करता हूँ। वीर-सेवा-मन्दिर की तत्कालीन परिस्थितियो में मैं उन कामों को कर सका, इसका पूरा श्रेय बाबूजी को ही है। मैं उनका ऐसा कुछ निजी विश्वास प्राप्त कर सका था। इसके अतिरिक्त कलकत्ता से बाबूजी का प्रत्येक आठवे दिन पत्र आता था। ७ जुलाई १९६२ को मैं बड़ौत चला आया। ग्रीष्मावकाश समाप्त हो चुका था। किन्तु उनके पत्रो की अबाधगति मे कोई बाधा नही आई। स्नेह भीने और प्रेम रञ्जित वे पत्र मेरे लिए बहुत बडे सम्बल है। उन पत्रोंमें सहस्रो बाते है। उनमें बाबूजी के स्वस्थ विचार हैं, योजनाएँ है, उनकी अपनी अभिलाषाएँ और इच्छाएँ हैं। दिवावसान के ८ दिन पूर्व लिखा उनका एक ऐसा पत्र जिसमे उन्होने तीन तीव्र इच्छाएँ अभिव्यक्त की थीं। इस सम्बन्ध में वे पहले भी अनेक बार लिख चुके थे। मैं समझता हूँ कि वे अवश्य ही सम्पन्न होनी चाहिए।

सभी जानते है कि बाबूजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'Jain vibliography' सन् १९४५ में, भारती जैन परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। रायल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्यों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विदेशों मे भी उसकी ख्याति फैली। इसी ग्रन्थ का दूसरा खण्ड बाबूजी ने तैयार किया था, किन्तु वह रफ पेपर्स

पर आ। यह सब कार्य उन्होंने नितांत अकेले किया था। किसी क्लर्क की भी सहायता न ली। वे अपनी देख-रेख में उसे एक सुव्यवस्थित रूप देना चाहते थे। कोई अंग्रेजी भाषा का ऐसा जानकार चाहिए था, जो बाबूजी का लिखा पढ़ सकता और उनके आदेशानुसार कार्य कर सकता। उन्होने मुझे लिखा कि ऐसा आदमी तलाश करूं। १५०) रु० पर कोई व्यक्ति कलकत्ता जाकर रहने को तैयार नही हुआ। उधर उनका स्वास्थ्य निरन्तर बिगड़ता गया। वे स्वय ध्यान भी न दे सके। उन्होंने अन्त में मुझे बेचैनी के साथ लिखा कि यह कार्य पूरा हो, ऐसा मैं चाहता हूँ। कतिपय दिनो बाद उनके निधन का समाचार मिला।

यदि बाबूजी उसका कोई प्रबन्ध कर गये हो, तब तो ठीक है, अन्यथा उनके भाई नन्दलाल जी उसके प्रकाशन का प्रबन्ध अवश्य करे। बाबूजी की आत्मा को इससे शान्ति प्राप्त होगी। बाबूजी ने मुझे विदेशी विद्वानो के वे पत्र दिखाये थे, जिनमें उन्होंने इस ग्रथ के शीघ्र प्रकाशित होने की प्रतीक्षा की थी। बाबूजी चाहते थे कि विगत 'International oriental conference' के समय यह ग्रथ प्रकाश मे आ जाये। दिल्ली से कलकत्ता जाने का उनका एक उद्देश्य यह भी था। जाते समय उन्होने मुझसे कहा था कि वहा बैठकर मैं सबसे पहले 'Jain vibliography' का काम पूरा करूँगा। वे न कर सके, स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। हर इंसान की हर इच्छा पूरी नहीं होती। उनका अधूरा यह महत्वपूर्ण कार्य, यदि अब भी पूरा हो सके, तो जैन साहित्य गौरवान्वित ही होगा। वीर-सेवा-मन्दिर इस कार्य को अपने ऊपर ले तो वह बाबूजी के प्रति एक सही श्रद्धांजलि होगी।

उनकी दूसरी प्रबल इच्छा थी—वीर-सेवा-मन्दिर के काम को ठीक करने की। वीर-सेवा-मन्दिर उन्हें अपने जीवन से भी अधिक प्यारा था। कुछ उलझनें थी, कुछ विवशताएँ थी, उन्हे बेचैन किये रहती थीं। किन्तु इधर वर्ष-दो वर्ष मे परिस्थितियाँ तेजी से बदली थी। अब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि यदि वे एक बार दिल्ली आ सकें तो सब कुछ ठीक हो जायगा। सन् १९६१ के जून में उन्होंने मुझ से वीर-सेवा मन्दिर को एक 'Research Institute' बनाने के सम्बन्ध मे बातें की थी। मुझसे एक रूपरेखा तैयार करवाई थी। मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के कतिपय मूर्धन्य विद्वानों के परामर्श के साथ एक रूपरेखा बनाकर बाबूजी को दे दी थी। कुछ दिनो बाद बाबूजीने मुझे बताया कि वीर-सेवा मन्दिर को पार्श्वनाथ विद्याश्रम-जैसा रूप दिया जा सकता है। धनाभाव के कारण पूर्ण 'रूपरेखा' न छप पायेगी। यदि अब छप सके तो वीर-सेवा-मन्दिर एक ख्याति प्राप्त शोध संस्थान के रूप मे शीघ्राति शीघ्र परिणत किया जा सकता है। किसी-न-किसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध भी हो सकता है। विश्वविद्यालय जो शर्ते रखते है, वह वीर-सेवा-मन्दिर में पहले से ही हैं। सम्बद्ध होने के पश्चात् उसे 'यूनीवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन से लाखों रुपया अनुदान के रूप मे मिल सकता है। यदि ऐसा हो सका तो स्वर्गीय बाबूजी की आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी। केवल किसी एक के कदम उठाने की आवश्यकता है। श्रीमन्त साहूजी बाबू छोटेलालजी के अभिन्न थे। यदि वे चाहे तो वीर-सेवा-मन्दिर को सहायता देकर मेरे उपर्युक्त सुझाव को पूरा कर सकते है।

सभी को विदित है कि बाबू छोटेलाल जी भारतीय पुरातत्व के विशेषज्ञ थे। गुफा, चैत्य, मन्दिर, मूर्ति, स्तम्भ, शिलालेखों के सम्बन्ध मे उनका ज्ञान अप्रतिम था। भारत के तीन प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ श्री टी० रामचन्द्रन, डा० शिवराम मूर्ति और डा० मोतीचन्द्र जैन उनके अनन्य भक्त थे। मैंने उन्हें पुरातात्विक समस्याओं के सन्दर्भ में बाबूजी से परामर्श करते देखा है। बाबूजीको भारत के जैन तीर्थ क्षेत्रो की ऐतिहासिक और पुरातात्विक जानकारी की थी। यह केवल प्राचीन जैन ग्रन्थो पर आधृत नही थी, अपितु उन्होने स्वयं यात्राएँ की थी, और तीर्थों के प्रत्येक पुरातात्विक स्थल के चित्र लिये थे, फिर इनका टैक्नीकल ज्ञान के आधार पर अध्ययन किया था। अतः उनकी यह जानकारी जितनी प्रामाणिक थी उतनी ही गौरवपूर्ण भी। यदि वह एक ग्रन्थके रूपमें संजोयी जा

पाती तो न जाने कितने देशी-विदेशी इतिहासज्ञों की अहम्मन्यता धूलधूसरित हो जाती। निःसन्देह उनकी यह देन मौलिक होती और भारतीय इतिहास मे नये अध्यायों का सृजन करती।

उनके संगृहीत चित्रों निगेटिव्स, नोट्स आदि की प्रदर्शिनी की बात भाई नीरज जैन ने की है। बाबूजी के जीवनकाल में ही यह कार्य कलकत्ता के बेलगछिया मन्दिर मे प्रारम्भ हो गया था। समूचे भारत मे हो, यह मैं भी चाहता हूँ। किन्तु प्रदर्शिनी एक प्रचार का माध्यम हो सकती है, उसे हम ठोस जमीन पर मजबूत कदम नहीं कह सकते। एक बार बाबूजी ने इस सम्बन्ध मे मुझे लिखा था कि "इस सामग्री के आधार पर ग्रंथ लिखने का विचार था, किन्तु अब तबियत ही ठीक नहीं रहती। क्या किया जाये।" सामग्री इतनी अधिक है कि उस आधार पर एक दो नहीं चार ग्रंथ तैयार हो सकते है। किन्तु मुझे जैन समाज मे ऐसे मनस्वी, लगनशील युवा विद्वानों का अभाव दिखाई देता है। कोई ठोस काम नहीं करना चाहता। सब हलके-फुलके कार्यों के द्वारा ख्याति के उत्तुंगशिखर पर बैठने के अभिलाषी है। जरा पी-एच० डी० ले ली तो अपने को विद्वानो का शिरमौर समझने लगे। मेरी दृष्टि मे पी० एच० डी० शोध का प्रारम्भ है अन्त नही। ऐसे-ऐसे जैन ग्रंथ और जैन विषय अधूरे पड़े है, जिन पर जैन युवा विद्वानों को खप जाना होगा। यदि वे चाहते है कि जैनधर्म, साहित्य, दर्शन और इतिहास आदि के सम्बन्ध मे व्याप्त भ्रान्त धारणाओं का पुष्ट आधार पर निराकरण हो, तो उन्हें अपना जीवन देना होगा। इससे यह विदित हो सकेगा कि भारत राष्ट्र को जैनों की देन कितनी अमूल्य है। बा० छोटेलाल जी के समूचे कार्य ठोस थे। उनकी विद्वत्ता ठोस थी। उनकी लगनशीलता ठोस आधार पर टिकी थी। उनके द्वारा संगृहीत जैन तीर्थों की सामग्री भी ठोस है। क्या कोई इतिहास और पुरातत्व से सम्बन्धित विद्वान् इस कार्य में सलग्न हो सकेगा। उसे समूचे भारतीय इतिहास और पुरातत्व का अध्ययन करना होगा। उसे परिप्रेक्ष्य में जैन इतिहास के इस पहलू के मौलिकदान का मूल्यांकन जब किया जायेगा, तो इतिहास के अनुसन्धित्सु तक अपने ही देश के एक गरिमामय दृश्य को देख आश्चर्य-चकित तो होंगे ही, प्रसन्नता भी कम न मिलेगी।

इसी सन्दर्भ में शिखरजी का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। बाबू छोटेलाल जी ने इस तीर्थ की अनेक बार यात्रा की, कभी धार्मिक दृष्टि से और कभी अध्ययन की हौस और सूक्ष्मान्वेषण की ललक लेकर। एक बार वीर-सेवा-मन्दिर मे बाबू जी ने मुझे शिखर जी के विषय में बताना आरम्भ किया तो आध घंटे तक लगातार बोलते रहे, और यदि खांसी का दौरा न पड़ता तो शायद आध घण्टा ही और बोल सकते थे। मैं जैसे कोई कहानी सुन रहा हूँ। ऐसी कहानी जो सत्य की नींव पर खड़ी हो और अनुभूतियों में सजी हो। मैंने कभी न सुनी थी। सुनाने वाला गद्गद् था और सुनने वाला भी। बिना सच्चे श्रद्धान के ऐसा नही हो पाता। विगत महीनों मे शिखर जी को लेकर जो दुखद घटनाएँ घटित हुईं, उनसे उन तथाकथित प्रयासों पर जबरदस्त आघात पहुँचा जो दिगम्बर और श्वेताम्बर-एकता के सन्दर्भ में रचे जा रहे थे। इससे बाबू छोटेलाल जी का मानस प्रपीड़ित हो उठा। उनकी यह पीड़ा समूचे दिगम्बर समाज की वेदना थी। न-जाने कब नियति के किस दुर्दमनीय प्रहार से अध्यात्म का पुरातन और सजग प्रहरी दो भागों में फट गया था। आज तक कोई ऐसी दिव्यशक्ति उत्पन्न नही हुई जो इन्हें जोड़ पाती। जब जब प्रयत्न हुए हैं, कुछ-न-कुछ अवरोधों ने उन्हे अवरुद्ध कर दिया है। काश ऐसा हो पाता। अन्तिम दिनो में बा० छोटेलाल जी का मस्तिष्क इस दिशा में तीव्र गति से दौड़ उठा था। उनकी भावनाए निर्मल थी, उनके विचार सुलझे हुए थे।

वीर-सेवा-मन्दिर की भांति ही अनेकान्त भी उन्हें अत्यधिक प्रिय था। एक लम्बे व्यवधान के उपरान्त उन्होने सन् १९६२ में अनेकान्त के पुनः संचालन और प्रकाशन का बीड़ा उठाया। उस समय उनका शरीर भले ही जर्जर हो गया हो, किन्तु मन पहले जैसा ही मजबूत और सुदृढ़ था। कुछ लोगों का पक्का विचार था कि

बाबूजी ने पत्र के प्रारम्भ में जिस अदम्य उत्साह और लगन का परिचय दिया, वह आज के युवाओं की शक्ति को एक चुनौती है। अर्थ का प्रबन्ध, सामग्री का संकलन, सम्पादन, प्रकाशन, प्रूफ-रीडिंग और यथास्थान भेजना आदि। उन्होंने कुछ स्थायी ग्राहक बनाये। एक या दो अंक उपरान्त मुझे बुलाया और अनेकान्त का कार्यभार सौंप दिया। सब कुछ समझा दिया। उनकी पकड़ पैनी थी विद्वत्ता के क्षेत्र में सूक्ष्म पैठ थी। सम्पादन करते समय बड़े-बड़े विद्वानों की कमियाँ देख लेना, समीक्षा करना, टिप्पण लगाना आदि सब कुछ वे गम्भीर विवेचन और विचार के उपरान्त ही करते थे। उन्होंने समय-समय पर मुझे अमूल्य सम्मतियां दीं, जिनसे अनेकांत उनके बिना भी चल सका और चल रहा है। विद्वद्वर्ग और भारतीय विश्वविद्यालयों के शोध विभागों में इसकी मान्यता है।

फिर भी बाबूजी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। वे इसे एक अत्युत्तम शोध पत्रिका के रूप में देखना चाहते थे। मैंने उन्हें कुछ सुझाव दिये थे, जिनसे वे पूर्णतः सहमत थे। उन्होंने वीर-सेवा-मन्दिर के तत्कालीन मन्त्री बा० जय भगवान जी को लिखा भी था कि डा० प्रेमसागर के साथ विचार-विमर्श कर अनेकांत को एक श्रेष्ठ पत्रिका का रूप दें। उसी समयके लगभग बा० जयभगवानजीके दिवावसान से कार्य सम्पन्न न हो सका। फिर बाबूजी स्वयं दिल्ली आने की बात लिखते रहे। दिल्ली आने की उनकी तीव्र अभिलाषा थी। इस बीच, काल का निमंत्रण आ पहुँचा। मैं चाहता हूँ कि अनेकांत त्रैमासिक शोध पत्रिका हो, जिसमें कम-से-कम २० फर्मे का मेटर रहे। उसकी साज-सज्जा, रूप रेखा, कागज, छपाई, प्रूफ रीडिंग आदि ऊँचे दर्जे के हों। उसके संचालन के लिए समुचित स्टाफ हो। यदि कभी विचार का अवसर मिला तो अपने पूर्ण सुझाव और उनके साथ बा० छोटेलाल जी का स्वीकृति पत्र प्रस्तुत कर सकूंगा। वैसे इस समय अनेकांत को विद्वानों का जैसा सहयोग मिलता रहा है, मिलता रहेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। आज प्रत्येक शोध पत्रिका के मार्ग में आर्थिक बाधा सब से बड़ी है। उसके ग्राहक गिने-चुने होते हैं। दुःख तो इस बात का है कि जो उसमें रुचि रखते हैं, वे भी उसे खरीदना नहीं चाहते। यह एक रोग है, जो जैन समाज में ही नही, भारतीय जनमानस में व्याप्त है। क्या यह सच नही कि इंगलैण्ड का कोई व्यक्ति एक-दूसरे से उधार मांगकर अखबार नहीं पढ़ता, जबकि भारत का धनी व्यक्ति भी अखबार मे पैसा खर्च करना अपव्यय मानता है। इससे प्रमाणित है कि भारतराष्ट्र का बुद्धि जीवी अभी उस स्वस्थ स्तर तक नहीं पहुँच सका है, जहाँ तक उसे पहुँचना चाहिए। शोध और शोध पत्रो मे रुचि लेने वालो को यदि हम ऊँचे दर्जे का बुद्धि जीवी मानें तो अनुपयुक्त न होगा। किन्तु वे शोध-पत्रो के ग्राहक नहीं बनना चाहते। यह खेद का विषय है। अत धन एक समस्या है जो इन शोध-पत्रो के साथ जकड़ी हुई है। बा० छोटेलाल जी उसे अपने ढग से सुलझा लेते थे। अब कोई उस ढग को अपनाकर सुलझाले. मुझे विश्वास नही होता। अब भी अनेकात के स्थायी ग्राहकों में श्रद्धालुओ की सख्या ही अधिक है। अतः अब मुझे सोचना पड़ता है कि अनेकांत जिस रूप मे चल रहा है, चलता रहे, वह भी एक बहुत बड़ी बात होगी। ★

प्रसंग की बात

कलकत्ते की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी अस्पताल में, अपनी दिवंगता धर्मपत्नी स्व० मुंगाबाई की स्मृति में, एक कक्ष निर्माण हेतु बाबू छोटेलाल जी ने ७-८-१९४१ को पांच हजार रुपए की राशि प्रदान की थी।

पच्चीस वर्ष उपरान्त उसी अस्पताल के एक कक्ष में बाबूजी ने अन्तिम सांस ली।

—नीरज जैन

एक अविस्मरणीय व्यक्तित्व

भँवरलाल नाहटा

बाबू छोटेलालजी कलकत्ते के जैन समाज में एक विशिष्ट कार्यकर्ता थे। नवीन और पुराने विचारों का सम्मिलन होने के कारण वृद्ध और युवक सभी व्यक्तियों से आपका मेल-जोल था। समन्वय और संगठन प्रेमी होने के साथ साथ विचारज्ञ और दूरदर्शित्व के कारण सब लोगों में आपका आदर था। मैं लगभग पचीस तीस वर्षों से उनके सम्पर्क मे आता रहा हूँ। वे न केवल जैनधर्म और समाज के कार्यों मे ही रुचि रखते थे, सार्वजनिक कार्यों में भी वे बराबर सेवाएँ देते रहते थे। सभा सोसाइटियों में जाते आते, एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य बहुत पहले से थे। कलकत्ता के हैसियन और गनी बेग्ज ऐसोसिएशन के आप वर्षो तक अध्यक्षादि पदों पर रहे एवं नाना प्रकार के झमेले पड़ जाने पर आपको पंच मुकर्रर किया जाता और उन मामलों को बड़ी सूझ-बूझ से निपटा देते थे।

जैनधर्म के प्रचार की आपके हृदय मे बड़ी तमन्ना थी। पुरातत्व का उन्हें जबर्दस्त शौक था। दक्षिण भारत मे बिखरे हुए जैन अवशेषों का आपने बारीकी से अध्ययन किया था। ऊन, खण्डगिरि-उदयगिरि आदि विस्मृत स्थानों को प्रकाश मे लाकर तीर्थरूप देने मे आपका प्रबल हाथ था। जैनधर्म के सम्बन्ध में कोई भी विद्वान् कुछ जानना चाहता तो सर्वप्रथम वह आपके सम्पर्क मे आता। बहुत से बगाली और विदेशी विद्वान् आपके यहाँ सतत आया करते थे। पुरातत्व-विभाग मे आपका बहुत प्रभाव था और सेण्ट्रल और बगाल के अधिकारी वर्ग से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके यहाँ जाने पर अवसर किसी न किसी विद्वान् से साक्षात्कार हो ही जाता था। जिज्ञासु विद्वान् को आवश्यक जानकारी देने के लिए वे उसे उपयुक्त व्यक्ति से मिला देते एवं अपेक्षित साहित्य प्रस्तुत कर दिया करते थे। कभी किसी विषय में आवश्यकता होने पर टेलीफोन द्वारा या स्वयं ही गद्दी में आकर उपस्थित हो जाते। हमें जब कभी एशियाटिक सोसायटी से पाण्डुलिपि या फोटो लेने की आवश्यकता होती तो आपको कहते ही स्वयं आकर या पत्र द्वारा वह कार्य तुरन्त करवा देते थे।

जैन समाज में एकता और संगठन के पक्षपाती होने के नाते वे श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि भेद भावों से ऊपर उठे रहते और सबसे अपनत्व का व्यवहार रखते थे। जैन सभा के आप सभापति भी रहे और सभी जैन सम्प्रदायों को एक प्लेटफार्म पर देखकर आप सुख का अनुभव करते थे। श्री पूरणचन्द्रजी नाहर, बहादुरसिंहजी सिंघी, मोतीचन्दजी नखत, रायकुमारसिंहजी मुकीम, लक्ष्मीचन्दजी सेठ, गणेशकान्तजी नाहटा, रूपचन्दजी बडेर विजयसिंहजी नाहर आदि श्वेताम्बर समाज के सभी नेताओं—व्यक्तियों के साथ आपका आत्मीय सम्बन्ध था। बहुत वर्ष पूर्व जब इन्स्टीट्यूट हाल में महावीर जयन्ती का सम्मिलित समारोह मनाया गया तब बहादुरसिंह जी सिंघी आदि के साथ आपका भी पूर्ण सहयोग था। वीर शासन जयन्ती के अवसर पर आपने जैन साहित्योद्धार के लिए प्रयत्न करके एक बड़ा फंड कायम किया जिसमें सर्व प्रथम एकमुश्त बड़ी रकम देकर आपने 'चैरिटी फ्रोमहोम' की कहावत चरितार्थ की थी।

जैन पुरातत्व का उन्हें इतना शौक था कि कहीं कोई पुरातत्वावशेषों की बात सुनते तो उसकी विशेष शोध करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते। आसाम के पुरातत्व सम्बन्धी बात चलने पर मैंने तत्रस्थ गवालपाड़ा जिले के सूर्य पहाड़ की जैन मूर्तियों की सूचना दी तो उनके दर्शन के लिए अति उत्सुक हो गये। कई बार उन्होंने मुझे वहाँ का फोटो लाने के लिए कहा। मैंने दो तीन बार फोटो करवाये भी, पर वह स्थान जंगल, पहाड़ों के बीच था एवं गुफा में अन्धकार के कारण फ्लेश लाइट के अभाव में

ठीक से फोटो न आ सका। मैंने २५ वर्ष पूर्व वहाँ के सम्बन्ध में एक लेख 'जैन सत्य प्रकाश' में प्रकाशित किया था। उस लेख की जानकारी मिलने पर उन्होंने स्वयं आसाम जाकर फोटो लाने की इच्छा प्रकट की, ताकि पुरातत्व विभाग को उस विषय में विशेष प्रकाश डालने के लिए अनुरोध किया जा सके।

बाबू छोटेलालजी हिस्ट्री कान्फ्रेंस में भाग लिया करते थे। तीन चार वर्ष पूर्व जब गौहाटी में अधिवेशन हुआ तो उन्होंने मुझे कहा कि मैं गौहाटी से आपके वहां गवालपाड़ा जाऊंगा अतः वहां से सूर्यपहाड़ जाकर जैन-प्रतिमाओं व अभिलेखादि के फोटो लाने की व्यवस्था कर देने के लिए आप अपनी दुकान वालों को लिख दें। मैंने तुरन्त उनके साथ पत्र दे दिया एवं गवालपाड़ा दुकान के मुनीम को भी उनके वहाँ पधारने पर सारी व्यवस्था सुचारु रूप से कर देने का निर्देश कर दिया। गौहाटी अधिवेशन शेष होने पर जब उन्होंने सूर्यपहाड़ के पुरातत्व की खोज में गवालपाड़ा जाने का विचार प्रकट किया तो किसी ने कह दिया कि सूर्यपहाड़ के लिये गवालपाड़ा तक न जाकर रास्ते से ही परबारा वहां जा सकते हैं। वे टैक्सी भाड़े करके सीधे सूर्यपहाड़ जा भी पहुँचे किन्तु वहाँ पर जानकारी के अभाव में घूम फिर कर जिन प्रतिमाओं का दर्शन किये बिना ही लौटकर गौहाटी चले गये। व्यर्थ में सौ रुपये टैक्सी भाड़े के लग गए और दो सौ मील की लम्बी यात्रा की परेशानी भी उठानी पड़ी। उधर गवालपाड़े वाले उनकी प्रतीक्षा ही करते रह गये। कलकत्ता आने पर उन्होंने मुझे कहा कि दूसरे की सलाह मानकर चलने से मैं सूर्यपहाड़ की जैन गुफा को भी न खोज सका और गवालपाड़ा के पार्श्वनाथ जिनालय के दर्शनों से भी वंचित रह गया। अब की बार आप आसाम जाने पर वहां के फोटो लाना न भूलें।

गत वर्ष जब मैं करीमगंज मे जिनालय की नीव देने के लिए आसाम गया तो लौटते समय भाई हजारीमल बाँठिया के साथ गवालपाड़ा गया और फोटोग्राफर की व्यवस्था करके वहां के फोटो लाया और उन्हें दे दिया। उन्होंने वहां के सम्बन्ध मे एक लेख लिख देने का अनुरोध किया और बार-बार उसके लिए तकाजा करने लगे। मैंने उन्हें लेख लिखकर दिया जिसे उन्होने सचित्र प्रकाशनार्थ सम्भवतः अनेकान्त मे भेज दिया।

वर्तमान में उच्चकोटि के जैन सन्त योगिराज श्री सहजानन्दघन जी महाराज के खण्डगिरि चातुर्मास कर कलकत्ता पधारने पर उनके सम्पर्क में आकर बाबू छोटेलाल जी बहुत प्रभावित हुए। तीन चार दिन बेलगछिया विराजने पर उन्होंने महाराज श्री की दिनचर्या का बारीकी से अध्ययन किया और पूज्य सहजानन्दघनजी को सम्प्रदायातीत आत्मार्थी महापुरुष ज्ञात कर अक्सर वे उनकी दो तीन विशेषताओं की प्रशंसा करते रहते थे। वे कहते आजकल वनवासी मुनिवृन्द भी शहरों की ओर आकृष्ट हो रहे हैं और ये महात्मन् शहरों से दूर गिरि गह्वर में रहना पसन्द करते हैं। दूसरी विशेषता आहार में रस लोलुपता का सर्वथा अभाव केवल दूध और केले का आहार कर ठाम-चौविहार कर लेना अर्थात् उसी समय पानी लेकर चारों आहार का त्याग कर देना। अवस्थिति में निर्दोष स्थंडिल भूमि के अभाव में दूध का भी लेना बन्द। सर्वाधिक विशेषता अखण्ड आत्म-जागृति की देखी गई जो साधारण व्यक्ति के ख्याल में आने की वस्तु नहीं थी। श्वेताम्बर–दिगम्बर समाज की एकता मे ऐसे महापुरुष की नितान्त आवश्यकता है, ऐसा छोटेलाल जी कहा करते थे।

कलकत्ता जैन श्वे० पचायती मन्दिर की प्रतिष्ठा को १५० वर्ष पूर्ण हो जाने पर सार्द्ध-शताब्दी महोत्सव का आयोजन किया गया जिसे सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि मैं थोड़ा भी स्वस्थ—आने योग्य हो गया तो वहां अवश्य उपस्थित होकर उत्सव मे सक्रिय भाग लूंगा। मैंने उनसे मन्दिर जी के स्मारक-ग्रन्थ मे योगदान करने के लिये कहा तो उन्होने बेलगछिया मन्दिर का ब्लाक तथा बंगाल का गुप्तकालीन ताम्रशासन नामक अपना लेख और ब्लाक तो दिया ही, साथ ही साथ श्री दुलीचन्द जैन, मृगावती (जो उस समय अमेरिका मे थे) का 'जैन सिद्धान्त मे पुद्गल द्रव्य और परमाणु सिद्धान्त' लेख भी तत्काल दे दिया। 'स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित हो जाने पर वे आगन्तुक सज्जनों को दिखाते। उन्होंने उस ग्रंथ को मंगा कर कई लोगों को अपनी ओर से भेंट भी किया।

मैं महीने में एक दो बार उनकी रुग्णावस्था के समय जाकर मिल आता था। दमे आदि की शिकायत और कमजोरी के बावजूद भी वार्तालाप के लिए घंटे दो घंटे बैठा ही लेते। उनका वात्सल्य तो इतना था कि भोजन किया हुआ रहने पर भी कुछ न कुछ तो लेना ही पड़ता। वे शरीर को नाशवान मानते थे अत: वेदनीय कर्म उन्हे पराभूत न कर सका। आर्त्त-रौद्र ध्यान को वे पास में ही न फटकने देते और शान्तिपूर्वक अपनी आत्मा का ही ख्याल रखते थे।

काकाजी अगरचन्द जी को वे बराबर पत्र देते रहते और मेरे द्वारा भी समाचार लिखाते रहते थे। उनके कलकत्ता आने पर दो चार बार मुलाकात करना तो अनिवार्य ही था। वे उनके लेखों व शोधकार्यों से बड़े प्रभावित थे। वे उनके लेखों का उपयोगी संग्रह ग्रन्थ रूप में निकालने की निश्चित योजना बना चुके थे, पर स्वर्गवास हो जाने से वे यह कार्य सम्पन्न नहीं करवा सके।

जैन बिब्लियोग्राफी का नवीन संस्करण तैयार करने के लिए वे बड़े बेचैन थे पर उपयुक्त व्यक्ति के अभाव में वह कार्य नहीं करवा सके। एक दो आदमी को काम में जुटाया भी पर योग्य सहकारी के अभाव से यह कार्य पूरा न कर सके। एशियाटिक सोसायटी से तो आपका सम्पर्क था ही, फिर भी कोई नवीन ग्रन्थ प्रकाशित होता तो वे उसे मंगवा लेते। इस प्रकार उनकी बैठक मे पुस्तकों से अलमारियाँ भरी रहती थी। अपने यहा तरतीबवार पेटियों में बन्द सामग्री का समुचित उपयोग वे अपनी अस्वस्थता और योग्य सहकारी के अभाव में न कर सके जिसका पूरा उपयोग करके जैन समाज को उनकी अक्षुण्ण स्मृति कायम करनी चाहिए।

व्यक्तित्व के धनी

यशपाल जैन

बा० छोटेलाल जी से पहली बार कब मिलना हुआ, इसका आज ठीक-ठीक ध्यान नही है। लेकिन इतना स्मरण है कि सन् १९४० के आस-पास जब पूज्य महात्मा भगवानदीन जी, श्रद्धेय मामाजी (श्री जैनेन्द्र कुमार जी) तथा मैं पर्यूषणपर्व के अवसर पर कलकत्ता गये थे तो वहा उनसे मिलने और बातचीत करने का अवसर मिला था। बाद के वर्षों में तो मुझे उनकी गहरी आत्मीयता प्राप्त हुई। इसे मैं निश्चय ही अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। क्योंकि बा० छोटेलाल जी उन विरल व्यक्तियों मे से थे, जो आज के युग मे दुर्लभ हैं। वह धनिक थे पर धन का उनमें गुमान नही था, वह विद्वान थे, लेकिन विद्वत्ता का दम्भ उनमे नही था। इन्सान तो वह बहुत ऊँचे दर्जे के थे। उनके इन तथा अन्य गुणों का स्मरण करता हूँ तो मन बड़ा गद्‌गद् हो जाता है।

दुबला-पतला शरीर, रोग से सदा आक्रान्त पर फिर भी बा० छोटेलाल जी कर्म मे सदैव रत जाने कितने लोकोपयोगी कार्य उन्होने उठाये और अपनी लगन तथा परिश्रमशीलता मे उन्हे आगे बढाया। उनमे प्रतिभा थी और उनकी पैनी आँख धर्म, इतिहास, पुरातत्व आदि नये-नये क्षेत्र खोजती रहती थी। उत्कल के सुविख्यात पुरातत्व-केन्द्र उदयगिरि-खण्डगिरि को प्रकाश मे लाने का श्रेय मुख्यत उन्ही को है, उदासीन आश्रम मे वर्णीजी का स्मारक भी उन्ही के प्रयत्न का फल है। इसके अतिरिक्त दक्षिण के न जाने कितने पुरातत्व-स्थलों को उन्होंने वाणी प्रदान की। इतिहास-परिषद् के वार्षिक अधिवेशन कही भी हो, निकट या दूर, हो नहीं सकता था कि बा० छोटेलालजी उनमें सम्मिलित न हों। वस्तुत: वह केवल एक दर्शक के नाते ही वहा नहीं जाते थे, बल्कि एक सजग व्यक्ति की सूझ बूझ, अध्ययन शीलता तथा समीक्षक की दृष्टि मे अपनी महत्वपूर्ण देन भी देते थे। बेलगछिया (कलकत्ता) के जैन मन्दिर मे कला और पुरातत्व का जो अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है वह उन्हीं के पुरातत्व-प्रेम तथा परिश्रम का द्योतक है। मुझे याद है कि जब वह मन्दिर वर्तमान रूप में तैयार हो गया था

तो एक बार वह स्वयं मुझे उसे दिखाने के लिए ले गये थे और बड़े सुन्दर ढंग से उसकी बारीकियाँ मुझे समझाई थी।

मेरे यात्रा वृत्तान्त वह बड़े चाव से पढ़ते थे। लिखने के बाद बहुत सी घटनाएँ मैं भूल जाता हूँ, लेकिन बा० छोटेलाल जी की स्मरण शक्ति देखकर चकित रह जाता था। वह मिलने पर बहुत-सी घटनाओं का मुझे स्मरण दिलाते थे और बार-बार आग्रह करते थे कि अपने यात्रा सम्बन्धी सारे लेखों को मैं पुस्तकाकार प्रकाशित करा दूं। वह मुझे हर प्रकार से प्रोत्साहन देने का प्रयास करते थे। यात्रा-सम्बन्धी मेरी शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो, जिसे उन्होंने न पढ़ा हो।

जब दिल्ली में वीर-सेवा-मन्दिर की स्थापना हुई और वे यहाँ पर अपना अधिकाश समय बिताने लगे तब तो उनसे बार-बार मिलना हुआ। उनके सामने बहुत-सी समस्याएँ थीं जिनकी वह मुझसे चर्चा किया करते थे। मैं भी अपनी समस्याएँ उनके सामने रक्खा करता था। इस आदान-प्रदान ने हम दोनों को एक-दूसरे के बहुत ही निकट ला दिया था। मुझे कई ऐसे अवसर याद आते हैं जब उन्होंने मेरी विनम्र सलाह पर अपना बड़े-से-बड़ा इरादा बदल दिया था। एक बड़े ही कटुप्रसग मे वह एक पुस्तिका छपवाने वर्धा गये थे। पुस्तिका छपकर तैयार हो गई। वह उसे इधर-उधर भेजने वाले थे। सयोग से उसी दिन मैं वर्धा पहुँच गया। जब उन्होंने मेरे सामने वह बात छेड़ी तो मैंने उनसे कहा कि आप इस पुस्तक को कदापि किसी को न भेजें। उन्होने तत्काल अपना विचार छोड़ दिया और पुस्तक को उन्होंने किसी को भी नही भेजा। मुझे मालूम है कि ऐसा करने में उन्हे अपनी भावनाओं पर वृहद् जोर डालना पडा, लेकिन यह उनका बडप्पन था कि उन्होने अनुज जैसे मेरे वात्सल्य को मान दिया।

वह स्वय सफल व्यवसायी रहे और जीवन की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में उनका अनुभव बडा गहरा था। लेकिन छोटी-से-छोटी बात जब वह मुझसे पूछते थे तब मेरा मन बड़ी धन्यता अनुभव करता था।

वह वर्षों से दमे के रोगी थे, उनका शरीर जर्जर हो गया था। कभी-कभी वह खिन्न भी हो जाते थे कारण कि वह जिस लगन और उत्साह से काम करना चाहते थे, उसमें बीमारी आगे आ जाती थी, लेकिन फिर भी कुल मिलाकर अपने जर्जर शरीर से उनने जो कार्य किया, उससे मालूम होता है कि उनकी आत्मा अत्यन्त बलिष्ठ थी। उनमें जीने की लालसा थी, इसलिए नही कि उन्हें जीने से मोह था, बल्कि इसलिए कि वह देखते थे कि उनके चारों ओर इतना काम करने को पड़ा हुआ है। वह यह भी जानते थे कि वे आज के युग में राजनीति का बोलबाला है। इतिहास धर्म. पुरातत्व, संस्कृति आदि का स्थान गौण हो गया है! इन क्षेत्रों मे काम करने वाली का उन्हे अभाव दिखाई देता था। इसलिए वह अपने हाथ से अधिक-से-अधिक काम करवाना चाहता थे।

उनकी मृत्यु से कुछ ही समय पहले मैं कलकत्ता गया था। वह घर पर थे और दमे से सघर्ष कर रहे थे। जब मैं उनसे जाकर मिला तो मुझे लगा कि अधिक बात-चीत करके मुझे उनपर जोर नही डालना चाहिये। अत. थोडी देर रुककर जब मैंने उनसे विदा चाही तो वह नही माने और मुझे काफी देर तक रोक कर विभिन्न विषयो पर चर्चा करते रहे। जब मैं चलने को हुआ तो उन्होने बड़े ही स्नेह-स्निग्ध स्वर में कहा कि जाने से पहले एक बार मुझसे फिर मिल जाइये। मेरे पास समय की बडी तगी थी, फिर भी स्टेशन जाते-जाते मै उनके पास पहुँचा। बातचीत मे उन्होने कहा कि तबियत थोड़ी सुधरते ही मै दिल्ली आ जाऊँगा। मैंने आग्रह किया कि वह जरूर आवे, क्योंकि स्थान तथा जलवायु के परिवर्तन से उनके स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ेगा। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से मुझे बिदाई दी।

नहीं जानता था कि वह उनसे मेरी अन्तिम भेट होगी, उनके निधन से धर्म, इतिहास तथा पुरातत्व की जो क्षति हुई है, वह तो हुई ही है, पर मैं व्यक्तिगत रूप में बड़ी रिक्तता अनुभव करता हूँ। ऐसा लगता है, मेरे दुख-दर्द मे साथ देने वाले एक ऐसे बुजुर्ग चले गये. जिनकी मुझे आवश्यकता थी और है।

मैं उनके उच्च व्यक्तित्व को बारबार अपनी श्रद्धा-जलि अर्पित करता हूँ। ★

मूक जनसेवक बाबूजी

प्रभुलाल "प्रेमी"

कलकत्ता में सन् १९४४ में अखिल भारतीय स्तर पर वीर द्विसहस्राब्धि महोत्सव मनाने की योजना परमादरणीय श्रद्धास्पद जुगलकिशोर जी मुख्तार ने श्री बाबू छोटेलाल जी के अनुरोध पूर्वक प्रेरणात्मक सहयोग से बनाई। महोत्सव के अध्यक्ष पद को रावराजा सरसेठ श्रीमंत हुकमचन्द जी ने सुशोभित किया। खाद्यान्न के कठोर नियन्त्रण काल में स्वागताध्यक्ष का परम उत्तरदायित्वपूर्ण, काटों का कठोर ताज श्रेष्ठिकुल भूषण, जिनकुलदिवाकर दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी ने अपने सिर पर बांधा। महोत्सव को सर्वाङ्गीण सफल बनाना यह उत्तरदायित्व स्वर्गीय बाबूजी का था। बाबूजी ने श्री मुख्तार साहब से पत्र द्वारा एक सहयोगी की याचना की जो उनको महोत्सव व्यवस्था में सब प्रकार योग दे सके।

परमादरणीय मुख्तार साहब जिनका मेरे जैसे अकिंचन समाज सेवक पर सदैव पुत्रवत वात्सल्य व विश्वास रहा है, ने मुझे दिल्ली सेवा मे उपस्थित होने का आदेश दिया। आदेश प्राप्त होते ही मैं सेवा में उपस्थित हुआ। मुझे आज्ञा दी गई कि मैं कलकत्ता पहुँच कर बाबूजी को योग दूँ। मेरे हृदय में सेवा को उमगें थीं, आज्ञा शिरोधार्य की, और १८ सितम्बर को १० बजे मैं उनके निवास स्थान १७४ चितरंजन ऐवेन्यु कलकत्ता पहुँच गया। सामान प्रवेश-द्वार पर ही रख कर, बाबूजी की तलाश में भीतर बैठक में प्रवेश किया। बैठक में एक व्यक्ति दुबली-पतली देह वाला केवल धोती और बनियान पहिने हुए एकाग्र चित्त से निस्पृह योगी की भाँति कार्य संलग्न था।

मेरे हृदय में कलकत्ता की चकाचौध, निवास स्थान के सौन्दर्य, सेठ वर्ग के रहन-सहन और उस पर भी रईसों के वैभव ठाटबाट के आधार पर, बाबूजी कैसे होंगे इसका एक काल्पनिक धुंधला-सा भिन्न चित्र था। बाबूजी कहाँ हैं? ऐसा पूछने पर उसी कार्यरत व्यक्ति ने मेरा परिचय पूछा। मेरा नाम और मुख्तार साहब ने मुझे बाबूजी की सेवा में भेजा है, इतना सुनते ही वह कुरसी पर से उठे, मेरा सामान अपने ही हाथों से उठाकर पास वाले कमरे में रक्खा। मुझे दो गिलास ठंडा पानी पिलाया। रसोइया को आवाज लगाई कि पण्डितजी भोजन करेंगे। बहिन सुशीला को बुलाकर मेरा परिचय दिया। बहिनजी को परिचय देते हुए, मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी कल्पना से सर्वथा भिन्न यही कर्मठवीर, सेवाव्रती श्री बाबू छोटेलाल जी है। कुछ क्षणों के लिए मैं निस्तब्ध-सा रह गया। मैं संकोच के भार से दब गया। मेरे मन मन्दिर में धन्य है भारत वसुधा को, और धन्य है उस माता को जिसने ऐसे वीर रत्न को प्रसव कर कुल गौरवान्वित किया है, सहसा ही यह विचारधारा उठने लगी।

मुझे स्वर्गीय बाबूजी के साथ कलकत्ता मे उन्चास दिन रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा सारा समय बाबूजी के साथ ही बीतता था। साथ ही भोजन साथ ही कार्य और एक ही कमरे मे शयन। अतः बा०जी के गुणों और वृत्तियों को अत्यन्त निकट से केवल जानने और देखने का ही नही उनसे बहुत कुछ सीखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। बा० जी को निरन्तर कार्यरत रहने से प्रायः थकावट आ जाती थी और शरीर का तापक्रम बढ़ जाता था। ऐसी स्थिति मे मैं उन्हें जब कभी विश्राम लेने को कहता तो उत्तर देते भैया शरीर धारण करने का अर्थ ही कर्तव्य-रत होना है।

बाबूजी मनसा, वाचा, कर्मणा कर्तव्यनिष्ठ, धर्मपरायण, सदगुण सम्पन्न, निरभिमानी, विनम्र और गुणग्राही थे। वे धनी और निर्धन छोटे और बड़े जैन और अजैन सबके मित्र थे। किसी भी समाज, धर्म या वर्ग का उत्सव हो, बा० जी का परामर्श और उपस्थिति सर्वथा

अपेक्षित थी। सामाजिक व्यापारिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनकी निस्पृह सेवावृत्ति और कठोर साधना से सभी प्रभावित थे। भारत के विभिन्न भागों से जो भी भाई कलकत्ता पहुँचते थे, बा० जी उन्हें सरक्षक, सहायक और परामर्शदाता के रूप मे सदैव सहायता देते थे। उनका जीवन पारिवारिक पोषण की संकीर्ण विचारधाराओं से परे सार्वजनिक जीवन था। अत. उन्हें सर्वहितैषी दीनबन्धु और अजातशत्रु कहना अतिशयोक्ति न होगी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के वे परम पोषक थे। उनका कार्यक्रम 'कार्यम् वा साधयेयम्, शरीरम् वा पातयेयम्' के सिद्धान्तानुकूल ही सचालित होता था।

बा० जी ने धर्मोन्नति, शिक्षा-प्रचार, पुरातत्वानुवेषण तीर्थरक्षा आदि कार्यों मे जो भी योगदान दिया, वह समाज के भावी इतिहास में स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है। बाबूजी, बा०जी नही, समाज के बापूजी थे। मेरी तो ऐसी मान्यता है।

उनका जीवन सादा तथा पवित्र था। समाज-सेवा की अमिट भावनाएँ और अटूट लगन आपकी रग-रग में समाई थी। आप बड़े ही धार्मिक, परोपकारी, उदार और महत्वाकांक्षी थे। आप नाम की चाह और नेतागिरी से कोसों दूर रहते थे। वे आज की तरह उपाधिधारी न होते हुए भी हिन्दी, बगला, अंग्रेजी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओ के ज्ञाता थे। वे बड़े ही जागरूक थे, साथ ही कर्तव्य विमुख और प्रमादी व्यक्तियो के लिए वे कठोर शासक भी थे। यदि आज हम उनके मानव साफल्योपयोगी गुणों से सीखने और अनुकरण करने का प्रयत्न करे, तभी हम उन्हें अपनी सच्ची श्रद्धांजलि समर्पित करने के अधिकारी बन सकेंगे। हम उनकी स्वर्गीय आत्मा को शान्ति तभी पहुँचा सकेंगे। समाज के ऐसे मूक सेवक के प्रति श्रद्धा, भक्ति और विश्वास की त्रिवेणी मे गोता लगाने पर ही हम उनके आशीर्वाद और प्रेरणा के पात्र बन सकेगे।

पुरानी यादें

डा० गोकुलचन्द्र जैन

(बा० छोटेलाल जी से मैं पहली बार १९६० मे मिला था और तब लिखा था यह सस्मरण जो नये शीर्षक मे आज भी उतना ही नया है।

—लेखक)

यू हैव नाट डन फुल जस्टिस् विथ जैनिज्म।

एक नवयुवक ने प्रसिद्ध जर्मन स्कालर विन्टरनित्ज से कहा। स्कालर तिलमिला उठा नवयुवक के इस आक्षेप से। पर···दूसरे दिन नवयुवक ने जब सैकडों जैन ग्रथ विन्टरनित्ज के सामने लाकर रख दिये तो उसका स्कालर शान्त पड गया। शायद वह सोच रहा था—दि यंग मैन वाज राइट।

बात बहुत पुरानी है। आज वह नवयुवक अपने जीवन के महानतम ७० वर्ष व्यतीत कर चुका। सारे जीवन भर उसने तन, मन और धन से धर्म, समाज और देश की सेवा की है। और आज अस्वस्थ अवस्था मे भी उसके मन मे वही लगन है, वही उत्साह है। भगवान उसे चिरायु रखे।

लोग उसे बा० छोटेलाल जी कलकत्ता वालों के नाम से जानते है। पिछले ७ अगस्त (१९६०) को पहली बार उनसे मेरी भेट हुई। दो दिन तक साथ-साथ रहने से अनेक महत्वपूर्ण विषयो पर उनसे बातचीत हुई। उसी प्रसग मे उन्होने विन्टरनित्ज की भारत यात्रा से लेकर आज तक के जीवन की अनेक घटनाएँ सुनायी।

जब विन्टरनित्ज भारत आये

जब विन्टरनित्ज भारत यात्रा के प्रसंग में कलकत्ता आए थे तब मैंने अपने यहाँ उनका निमन्त्रण किया था।

उनकी 'ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' के सम्बन्ध में बातचीत करते वक्त मैंने कहा था—मिस्टर विन्टरनित्ज। यू हैव नाट डन फुल जस्टिस विथ जैनिज्म। तो उनका चेहरा लाल हो गया। उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी। शायद उसे एक नवयुवक का यह आक्षेप अच्छा नहीं लगा। उसे यह आक्षेप असह्य हो उठा फिर भी वह बात को पी गया। दूसरे दिन जब मैंने उनके सामने सैकड़ों जैन ग्रंथ लाकर रखे तो वह हतप्रभ सा रह गया और तब उसे लगा कि मैंने जो आक्षेप किया था वह वास्तव में गलत नहीं था। उन्होंने कहा। वे कहे जा रहे थे—

सही बात को बड़े-से-बड़े व्यक्ति के सामने कहने का साहस प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिए। लोग जानते हुए भी सही बात तक कहने में हिचकिचाते है। और यही कारण है कि अनेक तथ्य सामने नहीं आ पाते।

जैन साहित्य में अमूल्य सामग्री बिखरी पड़ी है किन्तु उसका कोई ढंग से उपयोग नहीं हो रहा है। जो कुछ हो भी रहा है वह इतना कम और अपूर्ण है कि उसे न के बराबर ही कहना चाहिए। जैन विद्वान् स्वयं इस ओर उत्साह नहीं देते दिखलाते। कुछ व्यक्ति काम कर भी रहे हैं तो उनसे क्या होता है। जो जैन विद्वान् स्वयं काम नहीं कर सकते या नहीं करते, वे कम-से-कम इतना तो कर ही सकते हैं कि काम करने वालों को उनके काम में मदद पहुँचाएँ।

नई प्रतिभाओं की जिम्मेदारी

पुरातत्व सम्बन्धी अनुसन्धान की चर्चा के प्रसंग में छोटेलाल जी ने बताया कि किस तरह वे जंगलों में अपनी जीप लिए घूमा करते थे। कैसे उन्होंने खंडगिरि का पता लगाया था। वे कह रहे थे—

आज युग जिस गति से आगे बढ़ रहा है उस अनुपात में हम अभी बहुत पीछे है। हमें अपने काम में तीव्र गति लाने की आवश्यकता है। और यह काम तभी सम्भव है जब आपके उत्साही नवयुवक अपनी पूरी शक्ति लगाकर इस काम में जुट जाए। अन्यथा ऐसे सैकड़ों प्रसंग हैं जिन पर सैकड़ों वर्षों बाद तक भी किसी का ध्यान नहीं जाने वाला। उदाहरण के तौर पर—

श्रुतावतार कथा के प्रसंग में जैन साहित्य में आया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद गिरिनगर (सौराष्ट्र) की चन्द्रगुफा में रहने वाले आचार्य धरसेन के मन में श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का विचार आया और उन्होंने उस काम के लिए दक्षिण भारत से पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो मुनियों को बुलाया।

हम लोग इसका एक साधारण कथा जैसा मूल्यांकन करते हैं किन्तु इसमें एक बहुत बड़ा तथ्य छिपा हुआ है।

ये पुष्पदन्त और भूतबलि दक्षिण से किस रास्ते होकर सौराष्ट्र गये, यह एक स्वतन्त्र रूप से अनुसंधान का विषय है। इसके पता लगने से एक बहुत बड़े ऐतिहासिक तथ्य का पता लगता है और वह यह कि उस समय जहां जहां से होकर ये मुनि गये होंगे वहां वहां जैन परिवार अवश्य रहे होंगे। क्योंकि जैन मुनियों के आहारों की एक विशेष विधि होती है। साधारण व्यक्ति तो उसे जल्दी से समझ भी नहीं सकता। दक्षिण से सौराष्ट्र तक पहुँचने में महीनों का समय लगा होगा। इतनी लम्बी यात्रा बिना आहार किये तो सम्भव नहीं लगती। जिन-जिन गाँवों और नगरों में ठहर कर उन मुनियों ने आहार किये होंगे वहाँ जैन श्रावकों की बस्तियाँ अवश्य रही होंगी। इस तरह सौराष्ट्र के मार्ग का पता लगने पर ७वीं शती में जैनधर्म के विस्तार का पता लगता है।

इसी तरह का एक दूसरा भी प्रसंग है। इतिहास साक्षी है कि जिस समय उत्तर भारत में बारह वर्ष का अकाल पड़ा उस समय हजारों जैन मुनि दक्षिण भारत चले गये और वहां उनका भव्य स्वागत हुआ। इतिहासकारों का कहना है कि दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश उसी समय से हुआ, किन्तु हजारों मुनियों का एक साथ पहुंचना ही इस बात को स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि इतः पूर्व वहां जैन गृहस्थ परिवार अनेकों की संख्या में वर्तमान थे। जैन मुनियों की आहार विधि इतनी कठिन है कि उसे जैन श्रावक ही समझ सकता है। हजारों के लिए अनुद्दिष्ट आहार का प्रबन्ध करना बिना हजारों से अधिक गृहस्थ परिवारों के सम्भव नहीं था।

"दक्षिण भारत में जैन-धर्म" विषय पर खोज करने वाला व्यक्ति जब इस साक्ष्य के प्रकाश में देखेगा तो

उसके सामने और भी अनेक बातें चित्रपट की तरह स्पष्ट होती जाएँगी।

दक्षिण भारत होकर जैन-धर्म किस तरह लंका तक पहुँचा, यह अनुसन्धान का एक स्वतन्त्र विषय है। बौद्ध साहित्य भी इस बात की साक्षी देता है कि लंका में बौद्ध धर्म के पहुँचने के पूर्व ही वहाँ जैन-धर्म विद्यमान था। अशोक के पुत्र और पुत्री—महेन्द्र और संघमित्रा—जब लंका में धर्म प्रचारार्थ गये तो वहाँ उन्होने अपने से पूर्व स्थापित निर्ग्रन्थ-संघ को पाया।

ऐसे ही और भी अनेक प्रसग हैं जिन पर प्रकाश डाला जाना नितान्त आवश्यक है। यह काम तभी सम्भव है जब अनेक नई प्रतिभाएँ अपनी सारी शक्ति लगाकर इस कार्य में जुट जाएं।

सामाजिक कार्य और मानसिक तैयारी

सामाजिक जीवन से व्यक्तिगत जीवन और व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन पर जब बात चली तो बाबू छोटेलाल जी ने अपने जीवन के अनेक मधुर और कटु अनुभव सुनाये। वे कह रहे थे—

समाज के लिए सारा जीवन, तन, मन, धन अर्पण कर देने के बाद भी कभी-कभी केवल अपयश ही हाथ लगता है। सामाजिक कार्यकर्ता में इतनी क्षमता होना चाहिए कि वह यह सब बर्दाश्त कर सके। उन्होंने अपने जीवन की एक लम्बी दास्तान सुनायी जिसका यहां लिखा जाना बहुत आवश्यक नही लगता, इतनी छोटी सी जगह में लिखा जाना सम्भव भी नहीं, किन्तु उनके उस सारे कथन का तात्पर्य यही था कि सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए व्यक्ति में एक महान् मानसिक तैयारी होना जरूरी है। समाज के अनेक प्रकार के आक्षेपों को झेलता हुआ भी व्यक्ति अपने काम में जुटा रहे, इतनी क्षमता उसमें जरूरी है। अन्यथा वह कार्य कर ही नहीं सकता। सामाजिक कार्यकर्ता का पहला संघर्ष समाज के मानस में कूट-कूट कर भरी हुई संकीर्ण भावना से होता है, जिससे ऊपर उठकर उसको काम करना है। यदि कार्यकर्ता यहीं फिसल गया तो समझना चाहिए कि वह सामाजिक कार्य के योग्य नहीं। नवयुवकों को सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करने के पहले ही अपनी मानसिक स्थिति इतनी दृढ़ बना लेना चाहिए कि कितनी ही बड़ी कठिनाई उनके कार्य में क्यों न आए वे उसका सामना करते हुए काम में जुटे रहें।

एक अकेला आदमी

मुनि कांतिसागर

सारे समाज में जब तक पुरातत्त्व अन्वेषण की क्षुधा जाग्रत नहीं होती तब तक अच्छे भविष्य की कल्पना कम से कम मैं तो नहीं कर सकता। अतीत को जानने की प्रबल आकांक्षा को ही मैं अनागत काल का उन्नत रूप मानता हूँ।

कलकत्ता के विहार में मैंने केवल बाबू छोटेलालजी जैन को ही देखा जो जैन पुरातत्त्व विशेषतः खण्डगिरि उदयगिरि तथा राजगृही आदि जैन प्राचीन स्थानों की खुदाई और अन्वेषण के लिए तड़पते रहते हैं। वे स्वयं भी न केवल पुरातत्त्व के प्रेमी हैं अपितु विद्वान भी हैं। वे वर्षों से स्वप्न देखते आये हैं कि कब जैन पुरातत्त्व का संक्षिप्त इतिहास तैयार हो। दौड़ते भी वे खूब हैं; पर एक अकेला आदमी कर ही क्या सकता है।

स्व० बाबू छोटेलालजी का वंश वृक्ष

प्रेषक—नीरज जैन

ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम

कल्याणकुमार 'शशि'

दिया राष्ट्र सेवाओं को, बहुर्चाचत हार्दिक योग,
बने रहे साहित्योन्नति में, हितकारी संयोग,
गौण समझते रहे, स्वयम का शारीरिक सुख योग,
ओझल रखा दृष्टि से, फल की इच्छा का विनियोग।

अपने श्रम से दिया निरन्तर औरों को विश्राम !
ऐसे उपकारी जीवन को, श्रद्धा सहित प्रणाम !

बड़ी बड़ी बाधाओं से भी हुए नहीं भयभीत !
कर्मठता से भरा पुरा, उपकारी रहा अतीत !
जो बहुजन हिताय हो, था वह ऐसा प्राण पुनीत,
हित चिन्तन के दृष्टिकोण से, जीवन किया व्यतीत।

करते रहे, समस्याओं से जीवन भर संग्राम !
ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम !

हर सुधार आन्दोलन में बढ़ता था उनका हाथ।
बढ़ते रहे सदा उनके पग, नई प्रगति के साथ !
ऊपर 'छोटे' अन्तरग में, उज्ज्वल उन्नत माथ।
यहां ! "ज्ञान को भटके जीवन", बनते रहे सनाथ।

जीवन वह है, जो कि अकारण आये सब के काम !
ऐसे उपकारी जीवन को, श्रद्धा सहित प्रणाम !

उनके द्वारा पुरातत्व का बढ़ा निरन्तर मान।
पुरातत्व ही संस्कृतियों का निर्मल गौरव ज्ञान।
शोध कार्य में किया इस तरह, अपना योग प्रदान—
जिसके द्वारा बढ़ा सका पग, नूतन अनुसन्धान।

जीवन वह है, जिस जीवन में गर्भित शुभ परिणाम !
ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम !

बयाना जैन समाज को बाबूजी का योगदान

कपूरचन्द नरपत्येला

सन १९२८ में बयाना जैन समाज दि० ६-१२-२८ से ले० ९-१२-२८ तक जैन रथोत्सव मेला करने की भरतपुर सरकार से स्वीकृति प्राप्त कर चुका था। मेले की समस्त तैयारियाँ बड़े समारोह और धूम-धाम से की जा चुकी थी कि यकायक ही अजैन जनता के विरोध करने से यह जैन रथोत्सव मेला न हो सका।

मेला न होने से हमारे पाँवों तले की जमीन खिसक गई। हम किं कर्त्तव्य विमूढ हो गये, हमारा समस्त उत्साह एक उफान की तरह थोडी ही देर में ठंडा हो गया। हमें चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। हमें यह घोर अपमान सहन करना असह्य हो गया जैनधर्म और जैन-समाज पर लगे हुए इस कलङ्क को धोना असमभव प्रतीत होने लगा। उस समय हमें कुछ न सूझा और हम अजैन समाजसे मुकदमा लड़ बैठे। मुकदमा दायर करने के पश्चात् हमे मालूम पड़ा कि हमारी परिस्थिति बड़ी ही दयनीय और कमजोर है। हमें इन लोगों के सन्मुख सफलता मिलना आकाश-कुसुम तोड़ना है। जैसे मुख के अन्दर बत्तीस दाँतों से घिरी हुई जीभ रहती है उसी प्रकार इन अजैनों के साथ हमारा रहना था। हम अपने कमजोर पैरों को देखकर बुरी तरह घबड़ा उठे। आखिर हमने समस्त जैन समाज के कर्णधारों से अपनी दुखभरी अपील की। समाज से सहयोग देने की मांग की। लेकिन बिगड़ी में कौन किसका साथी होता है, हमे कहीं से भी सहयोग न मिला। इस समय हमे जो मर्मान्तिक पीड़ा हो रही थी उसे हम ही जान रहे थे कि अचानक ही डूबते को तिनके के सहारे समान बङ्गाल-बिहार-उड़ीसा दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के मन्त्री श्रीमान् बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता का तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन प्राप्त हुआ। इस आश्वासन के प्राप्त होते ही हम लोगों में उसी प्रकार शक्ति जागृत हो गई जैसे कि लक्ष्मण जी में विशल्या के स्पर्श से हुई थी।

अब क्या था हम श्रीमान् बा० छोटेलालजी कलकत्ता के इस असाधारण बल और सहयोग को पाकर मुकदमा लडने में पूर्णरूप से जुट पड़े।

कलकत्ता और बयाना के बीच बड़ा फासला है मगर बाबू जी ने इस फासले को मिटा दिया। उनके और हमारे बीच प्रतिदिन तारों-पत्रो, रजिस्टर्डपत्रों, पार्सलों और समाचार-पत्रों द्वारा वार्तालाप होता था। हमें यही मालूम न पड़ा कि बा० जी हमारे पास न होकर कलकत्ता मे रह रहे हैं। आपने अपने सहयोग के बल पर हमें यह पूर्ण विश्वास दिला दिया था कि यह विपत्ति मानो हम पर न आकर स्वयं बाबू जी ही पर आई है।

हम अपने साथ ऐसे उदार-त्यागी-कर्मठ सेवाभावी पर दुखहर्ता, परम विद्वान् धर्मात्मा-कर्मवीर और महान उत्साही व्यक्ति को पाकर निहाल हो गये।

आपने इस मुकदमे के सम्बन्ध मे हमे जो सहायता दी वह निम्न प्रकार है—

१—दुख और निराशा के भयंकर गर्त से हमें निकल कर आपने समय-समय पर हमारा उत्साह-वर्धन किया एव हमे अपनी अमूल्य सम्मति देते रहने की महान कृपा की।

२—आपने जैन एवं अजैन श्रीमानों, धीमानों, नेताओं, पदाधिकारियों, वकील-बैरिस्टरों और सम्पादकों से हमारा सम्बन्ध स्थापित कराके उन्हें हमें सहयोग देने को बाध्य किया।

३—भरतपुर राज्य के दीवान साहब की सेवा में जैन-अजैनों की तरफ से काफी संख्या में स्थान-स्थान से तार एवं महत्वपूर्ण पत्र भिजवाये।

४—हिन्दी, उर्दू और इंगलिश के अनेको पत्रों मे आपने जैन रथोत्सव को विरोधियों द्वारा रोके जाने पर इसके विरोध में अनेकों लेख प्रकाशित कराये तथा अनेकों

जैन अजैन विद्वानों, नेताओं एवं पदाधिकारियों द्वारा भी लेखादि प्रकाशित कराये।

५—हिन्दू महासभा के कार्य कर्ताओं से सम्पर्क स्थापित करके आपने हमारे इस रथोत्सव के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण और उपयोगी प्रस्ताव हिन्दू महासभा के सूरत अधिवेशन में पास कराया।

६—हजारों की संख्या में 'बयाना काण्ड' नामक एक महान महत्वपूर्ण और सफलताप्रद ट्रैक्ट छपवा कर विरोधियों में बंटवाया।

७—भरतपुर राज्य के दीवान साहब से मिलने के लिये जैन समाज के श्रीमन्तों व विद्वान बैरिस्टरों का एक शिष्टमंडल तैयार कराया।

८—हमारे इस मुकदमे सम्बन्धी समस्त कागजात श्रीमान् अजितप्रसाद जी वकील लखनऊ एवं विद्यावारिधि जैनदर्शन दिवाकर बैरिस्टर चम्पतराय जी साहब के पास भिजवाये। जिनको देखकर दोनों महानुभावों ने हमे मुकदमा लड़ने के बारे में उचित परामर्श दिया।

९—हजारों की संख्या में प्रभावशाली पैम्पलेट छपवा कर विरोधियों में समय-समय पर वितरण कराये।

१०—श्रीमान् बैरिस्टर चम्पतराय जी, श्री राम स्वरूप जी भारतीय एवं अन्य नेताओं के साथ स्वयं भरतपुर एव बयाना आये और इस मुकदमे के सम्बन्ध में समस्त जानकारी प्राप्त की।

आपने हमारे यहाँ के जैन रथोत्सव निकलवाने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किये व परिश्रम किया एव हमें तन मन धन से जो सहयोग दिया वह कहने और लिखने में आने वाली बात नहीं है। समय-समय पर आपके हमें अनेकों पत्र प्राप्त हुये, जिनमे से कुछ पत्रों का संक्षिप्त सार मैं इसलिए दे रहा हूँ कि आज हमारी समस्त जैन समाज यह जान जाय कि आपका जैनधर्म व जैन समाज के प्रति कितना अगाध प्रेम व सेवाभाव था, मैंने ऊपर जो कुछभी लिखा है वह कहां तक प्रमाणित है?

दिनांक १६।२।२६ के पत्र में आप हमें लिखते हैं—

'रथोत्सव स्थगित होने के मर्मभेदी समाचारों के बारे में मैंने आपसे आवश्यक बातें पूछी थीं। निहायत खेद की बात है कि अभी तक आपका किसी प्रकार का उत्तर नहीं मिला है। कई पत्रों में लेख निकल चुके हैं और प्रयत्न करने से जैन जीवन पर यह घोर कलंक दूर हो सकता है।

दिनांक २०।२।२६—प्रताप कानपुर, जैनमित्र, कृष्ण सन्देश आदि-आदि पत्रों में प्रथम लेख प्रकाशित कराया गया है। हम आपके सहयोग से और प्रबल आन्दोलन कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में कौन ऐसा जैनी होगा जिसका हृदय दुख से न भरा हो। इस राष्ट्रीयता और संगठनवाद के युग में जैन जनता पर यह अत्याचार यदि दूर करने में ढील की जायगी तो भारी अप्रभावना का कारण होगा। मामला केवल बयाना का नहीं किन्तु सारी भरतपुर स्टेट और अन्य द्वेषभरे स्थानों में जैन जाति के धार्मिक स्वत्वों की रक्षा से सम्बन्ध रखता है। यह कलंक बयाना के सिर पर न रहे—इसके लिए आप चिन्ताशील हैं यह जानकर सन्तोष है। इस सम्बन्ध में हम सब प्रकार की शक्ति भर सेवा करने को तैयार हैं।

दिनांक ६।३।२६—मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हमारी कमेटी और हमारी समाज तन-मन धन से इस कार्य में सहायता करने के लिए तैयार है। आप लोग यहां का पूरा भरोसा रखें। साथ ही साथ आप लोग भी पूरी तरह कटिबद्ध रहें तो ससार की कोई भी शक्ति हमारी पवित्र यात्रा को नहीं रोक सकेगी। आप लोगों की राय पहिले जोर से आन्दोलन करने की नहीं थी और ठीक भी था, नहीं तो मैं इतने जोर से आन्दोलन उठाता कि सारे भारत में हलचल मच जाती। हिन्दी-उर्दू अखबारों में तो खूब लिखा गया है पर अभी अंग्रेजी अखबारों में मैंने कुछ भी नहीं लिखा है। आज बाबू अजितप्रसाद जी की राय मँगा रहा हूँ फिर जोरों से इसकी तैयारी की जायगी। दीवान साहब के पास अंग्रेजी की चिट्ठियां सारे भारतवर्ष से पहुँचाने का प्रबन्ध कर रहा हूँ। साथ ही साथ जहां जहां से ऐसी चिट्ठियां जायँगी उनकी सूचना आपको भेज दी जायगी।

दिनांक १७।३।२६—हिन्दू नेताओं के पास जो पत्र भेजे गये हैं, एक मेरी तरफ से दूसरा बाबू अजितप्रसाद जी तरफ से। उनकी नकल कल आपको भेज दी जायगी। इनका जवाब आने से पत्रों में प्रकाशित किया जायगा और आपको सूचित कर दिया जायगा।

दिनाक २७।३।२६—आज रायबहादुर सेठ चंपालाल

श्री रामस्वरूप जी ब्यावर रा. ब. सेठ टीकमचन्द सोनी अजमेर और सर सेठ हुकुमचन्द जी इन्दौर को पत्र लिख दिये गये हैं। हम इसी प्रयत्न की विशेष चेष्टा में हैं कि किसी तरह रथयात्रा निकल जाय।

दिनांक ६।६।२६—हिन्दू महासभा के प्रधान मन्त्री ने दीवान साहब, जुडीशल सेक्रेटरी साहब और पुलिस सुपरि० साहब को जो खत रवाना किये हैं उनकी नकल आपकी सेवा मे भेजी जाती है।

दिनांक १०।८।२६—कृपा कर २७ तारीख तक रोजाना एक लिफाफा भेजते रहिये जिसमे नित्य का समाचार मालूम होता रहे।

दिनांक १७।८।२६—आज बुकपोस्ट से २५ वा अनरजिस्टर्ड पार्सल से १०० ट्रैक्ट रवाना किये जाते हैं। खास-खास विरोधियो के घरों में दूकानों मे जहां मिलें जल्दी से जल्दी पहुँचा दें।

दिनांक २०।८।२६—२०० कापियां कल दिन रजिस्टर्ड पार्सल से और भेजी हैं। हमने काफी संख्या में छपाई हैं। सो अच्छी तरह बाँटियेगा। एक भी विरोधी ऐसा न रहना चाहिए जिस तक इसकी प्रति न पहुँचे।

दिनांक २२।८।२६—आज बुक-पोस्ट से २०० विज्ञापन भेजे हैं। ट्रैक्ट आपने बटवा दिये होंगे। न बटवाये हों तो तुरन्त बटवा दीजिये और उनके बट जाने १०-१२ घंटे बाद यह नोटिस भी जरूर भिजवा दें। प्रसिद्ध पत्र इगलिशमैन ने भी हाल छापा है कटिंग भेजते हैं।

दिनांक ६।६।२६—श्री चाँदकरण जी शारदा को पत्र डाल दिया गया है और आशा है उसमें भी अपने को सफलता मिलेगी।

जीवन संगिनी की समाधि पर संकल्प के सुमन

(स्वर्गीय बाबूजी की डायरी का एक पृष्ठ)

[बाबू जी बहुत भावुक थे। उनकी धर्मपत्नी के असामयिक अवसान ने उन्हें बड़ा आघात पहुँचाया था। इस घटना से उन्हें गहरा मानसिक क्लेश तो हुआ ही था, शरीर में भी अत्यन्त क्षीणता आ गई थी। एक माह के भीतर उनका भार बाईस पौंड घट कर, ६१ पौण्ड रह गया था ऐसा एक स्थान पर उन्होने लिखा है।

ऐसी अशान्त और अस्थिर मनोदशा मे ही उन्होंने अपने भविष्य की रूपरेखा बनाते हुए शेष जीवन का एक उद्देश्य बनाया था। अर्द्धाङ्गिनी के अभाव को भूलने के लिए उन्होने गहन व्यस्तता को माध्यम बनाया। इस जीवन-व्यापिनी व्यस्तता ने उन्हें पीड़ा के विस्मरण मे सहयोग दिया या नहीं, यह तो हम नहीं जानते पर जीवन की अन्तिम घड़ी तक उन्होंने जो मूक और अनवरत साधना की, उसके फलस्वरूप साहित्य, संस्कृति और कला के पुनरुद्धार की दिशा मे जो बहुमूल्य कार्य वे कर गये वह शोध के मार्ग पर, आने वाली पीढ़ियों को सीढ़ियों का काम देगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

उन दिनों बाबूजी नियमित डायरी लिखा करते थे। चिर वियोग की उस श्याम अमा को उन्होंने जो शब्द लिखे उनमे उनका अन्तःकरण उजागर हो उठा है। उन थोडे से शब्दों में एक ओर जहां उनके मन की पीड़ा का पारावार हिलोरें लेता दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर अपनी कमजोरियों को मद्देनजर रखते हुए, तथा संसार की दशा पर विचार करते हुए, भविष्य के कालयापन के लिए एक विवेकपूर्ण और दृढ़ सङ्कल्प भी उसमें झलकता है। डायरी का यह भाग एक पृथक् पुस्तिका मे लिखा हुआ उनकी सामग्री से प्राप्त हुआ है जिसे यहां अविकल रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। —नीरज जैन]

"—मेरा स्वभाव अत्यन्त Sensitive (सवेदनशील) और Irritable (शीघ्र कुद्ध होने वाला) हो गया है, और जरा जरा-सी बात के लिए चिन्तित हो जाता है। खासकर किंचित् भी दु.खजनित कार्य में तो मैं इतना अधिक विचारयुक्त हो जाता हूँ कि यदि उसे 'तिल का ताड़' बनाना कहा जाय तो अनुचित न होगा। मामूली बात को भी एक बार मैं बहुत बड़ी मान बैठता हूँ। किन्तु यह सब होते हुए भी. यह सब कष्ट या दुख या चिन्ता, मैं केवल अपने ऊपर ही लेता हुआ, मन ही मन दुखित होता रहता हूँ। कारण दूर होने ही उनको इतनी जल्दी भूल जाता हूँ कि जैसे कुछ हुआ ही नही। विस्मरण ऐसा होता है कि कुछ स्मृति ही नही रहती।

अपने वैयक्तिक गृहस्थी के काय या भार से सदा दूर रहने की चेष्टा करता रहता हूँ। जहाँ तक बना दूर ही रहा और टाल करता रहा, जैसे—गृहस्थी के खाने-पीने, वस्त्राभूषण, नौकर-चाकर, लेन-देन आदि के कार्यों को करने मे हिचकिचाहट या बुरापन महसूस करता रहा और उन्हें भाररूप एक झझट ही समझता रहा हूँ। भले ही यह आलसी स्वभाव का द्योतक है और कमण्य-भीरुता है। यह सब वैराग्य से नही था। कोई इस प्रकार की झझट जब सिर पर आती थी तो बड़ी बुरी लगती थी। झझट मत्थे देने वाला भी बड़ा बुरा लगता था। बनी बनाई खाने की आदत हो गई थी। इस पर भी यह नही कहा जा सकता कि मैं कुछ करता ही नही था,—तबियत से नही करता था—पर करना पड़ता था तब कभी कभी करता भी था। अतिथि-सत्कार के अवसर पर इसका ठीक उल्टा होता था, अर्थात् बड़ी लगन से यह सब करता था।

शारीरिक कष्ट सदा ही कुछ-न-कुछ गत दस-बारह वर्षों मे बना रहता है जिससे किसी भी तरह चैन नही रहनी। जब से एग्जिमा हुआ है तब से जीवन बहुत दुखित हो गया है। चिन्ता भी बढ गई है और कभी-कभी तो इस बीमारी से तग आ जाता हूँ।

चारित्र मेरा सदा ही सुन्दर रहा है। फिजूलखर्च मे कदापि नही रहा और जहाँ तक बना है मितव्ययी रहा हूँ। बीमारी के कारण, चिन्तायुक्त स्वभाव के कारण, अति सोच-विचार करते करते अब दिमाग भी पहले जैसा नहीं रहा। धारणा-शक्ति कम होती जाती है। किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट अब बर्दाश्त नहीं होता। स्वभाव भी दीर्घसूत्री और आलसी बन गया है। अर्थ-सचय और धन-वृद्धि करने की लालसा बनी हुई है। मन में यह धारणा हो गई है कि ससार में अर्थ विहीन जीवन निकम्मा है। बिना 'अर्थ' के कुछ नहीं हो सकता। अर्थ भी बहुत अधिक होना चाहिए।

इस वर्ष (१९४०) के प्रारम्भ होने के दो तीन मास पूर्व से ही कई ऐसी बातें हुईं—व्यापारिक, आर्थिक, गृहस्थी की, शारीरिक, पारिवारिक तथा सामाजिक—कि जिससे बहुत दुखित हो गया। तारीख २२-४-४० को जब से मेरी धर्मपत्नी की डाक्टरी परीक्षा में क्षय रोग बताया गया, तब से दिन दिन दुख बढता ही गया। तारीख ७-८-४० को, जब उसकी द्वितीय बार एक्सरे परीक्षा हुई और डाक्टरों ने कह दिया कि "क्षयरोग घातक हो चुका है और अब बचने की किंचित् भी आशा नहीं है।" उस दिन से मेरी चिन्ताओं का, दुख और अशान्ति का ठिकाना नही रहा। मन बहुत ही अधीर हो उठा। मैं किं कर्तव्य-विमूढ़ हो गया और अनुभव करने लगा कि मेरे ऊपर दु.ख का हिमालय टूटने वाला है। मेरा क्या होगा? कैसे मेरा जीवन निर्वाह होगा?

कल तारीख १९-८-४० सोमवार को सन्ध्या के करीब ६.४० पर उसका देहान्त हुआ और मैं यह अनुभव करने लगा कि समुद्र के बीच मे पड़ गया हूँ और मारे चिन्ताओ के जला जाता हूँ कि 'अब क्या होगा?' इस समय मन मे अनेक तरगें उठती हैं। बहुत उथल-पुथल हो रही है। मन स्थिर नही हो रहा। 'अब मैं क्या करूँ?' यह एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई है। मार्ग दिखाई नहीं पड़ रहा। सैकड़ों लोग सामाजिक नियमानुसार समवेदना प्रकट करने को आ रहे हैं। नाना प्रकार की बातें कहकर चले जाते हैं। उनकी समवेदना के साथ ही हृदय मे उथल-पुथल होती रहती है।

इस समय मेरे लिए कई बातें विचारणीय हैं—

१. माता जी अति वृद्ध हो गई हैं, तो भी उनमे अभी Energy (शक्ति) है जिससे उनमें अभी जीवन है।

मेरे हृदय मे यह विचार होता है कि इनकी सेवा कभी नहीं की, अब समय आया है जब इनको मेरी सेवा की आवश्यकता होगी और मेरा कर्त्तव्य भी कहता है कि माता का शेष जीवन ठीक से बीत जाय। यद्यपि अन्य मेरे पाँच भाई हैं, वे किसी भी प्रकार की कमी न रखेंगे, पर अपना कर्तव्य भी तो कुछ होता है।

२. दूसरा प्रश्न है व्यापारिक और आर्थिक दायित्व जो मेरे समक्ष उपस्थित है।

३. तीसरा प्रश्न है शारीरिक अस्वस्थता और शरीर की प्रतिपालना का। अवशिष्ट जीवन निर्वाह किस प्रकार होगा? कौन मेरी चिन्ता करेगा कि मुझे कष्ट न हो? खाना-पीना समय पर मिलता रहे। मैं बीमार हो जाऊँ तो मुझे हर तरह सम्हाले।

४. विवाह करने का तो मैं स्वप्न में भी विचार नही कर रहा हूँ और आज निश्चय करता हूँ कि मैं दूसरा विवाह नही करूँगा।

५. अब सामने दो मार्ग है—

(अ) घर मे रहते हुए जीवन बिताना।

(ब) घर से बाहर सत्संग में जीवन बिताना।

अभिलाषा यह है कि अब किस प्रकार जीवन सुधार कर अपना कल्याण करूँ? बार बार भविष्य का विचार उपस्थित होता है। मुझे कौन सहायता करेगा? साथ ही साथ अपनी पत्नी की स्मृति से मेरे परिणामों मे अधीरता और हृदय मे पीड़ा का अनुभव होता है। मैं उसे भूलने की चेष्टा करता हूँ पर न जाने कैसे वह बार बार याद आती है। उसके जीवनकाल मे मुझे न उससे इतना मोह था और न ही मैं ऐसा समझता था कि उसका कभी वियोग होगा तथा उसके अभाव की मुझे इतनी वेदनापूर्ण अनुभूति होगी।

अब प्रश्न यह है कि मैं क्या उपाय करूँ जिससे सुख, शांति, सन्तोष और निराकुलतापूर्वक मेरा शेष जीवन व्यतीत हो जाय।

रह-रहकर मेरा दम घुटने लगता है और इच्छा होती है कि एकदम खुली जगह और अति प्रकाशयुक्त जगह मे रहूँ। अन्धकारयुक्त या छोटी जगह में, या कमरे में मेरा दम घुटने लगता है। बहुत सम्भव है इससे मुझे दमा की बीमारी हो जाय। माथे के ऊपर बड़ा भार-सा मालूम होता है। (बाबूजी की यह आशंका निर्मूल नहीं थी। ये पंक्तियां लिखे जाने के थोड़े समय बाद ही दमा की बीमारी उन्हें हो गई थी और एग्जिमा तथा दमा की इस जोड़ी ने फिर अन्त समय तक उनका साथ नहीं छोड़ा। —नीरज)

जीवन एक भयंकर बोझा मालूम हो रहा है। जिस किसी के पास जाने या रहने की इच्छा होती है, सामने आर्थिक प्रश्न आता है। बिना आर्थिक व्यवस्था के कोई मेरी क्यों परवाह करेगा? लोक-व्यवहार के लिए कुछ करेंगे भी तो वह अस्थायी होगी। यद्यपि सभी जगह ऐसे लोग नहीं हैं, तो भी विशेषता आजकल ऐसे ही लोगों की है। यह बताने की आवश्यकता इसलिए है कि हर काम मे हर जगह प्रचुर धन की आवश्यकता है। कोई सज्जन स्वार्थ के लिए धन की अभिलाषा नहीं करेंगे उन्हें अपनी जो झंझटे लगी है, आखिर उन झझटों का भी तो निर्वाह करना है।

मैं इतना ज्ञानी नहीं हूँ कि एकाकी जीवन को ज्ञान के आसरे सुखपूर्वक व्यतीत कर सकूँ। प्रारम्भ से जीवन ऐसा बीता है कि कभी भी, एक दो दिन के लिए भी, अकेले रहने का अवसर मुझे नही प्राप्त हुआ। पर इससे क्या? अब तो मैं एक दो दिन के लिए नहीं, सारे जीवन के लिए एकाकी हो गया हूँ। एकदम एकाकी। नितान्त अकेला।

पर इस एकाकीपन से मैं हारूँगा नही। इस रिक्तता को मैं अपने ढग से भरूँगा। अब पुस्तकें मेरा सहारा होंगी और व्यस्तता मेरी चिरसंगिनी। मैं क्या कर सकूँगा और क्या नहीं कर सकूँगा यह मैं नही जानता, पर सत्संग, स्वाध्याय और शोध की दिशा में ही अब मन की समस्त वृत्तियों को बाँधना है। शरीर को भी इसी साधना मे खपाना है। गहन व्यस्तता ही इस वेदना से उबार कर मुझे जीवन-यापन का सहारा दे सकेगी। अभी तुरन्त कुछ कार्यों के करने की आवश्यकता है —

१. जितना परिग्रह वह छोड़ गई है, तथा जो एकत्रित हो रहा है, कपड़ा तथा अन्य वस्तुएँ, उन्हें हटाना और कम करना।

२. व्यापारिक और आर्थिक दायित्वों की व्यवस्था करना।

३. शरीर कमजोर हो गया है तथा अस्वस्थ है, इसे सुधारना।

४. अशान्ति को दूर करना।

५. भविष्य के लिए जो मार्ग निश्चित किया है है उसकी रूप रेखा तैयार करना तथा उसका प्रयोग, परीक्षा, अनुभव आदि प्रारम्भ करते हुए देखना कि मैं उसमें किस प्रकार और कहां तक, सफलता प्राप्त कर सकता हूँ।

मैं लगभग ४४ वर्ष का हो चुका हूँ। मुझे अब अपने उद्धार की ओर लगना है। ★

देश और समाज के गौरव

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

लगातार गत ३०-३५ वर्षों तक बा० छोटेलाल जी ने समाज का प्रत्येक दिशा में जो कुशल नेतृत्व किया वह इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। उनका व्यक्तित्व एवं उनकी सूझ-बूझ दोनों ही अच्छी थी। यद्यपि नाम में वे छोटेलाल थे लेकिन अपने कार्यों में वे महान् थे। सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में उनका अच्छा प्रवेश था और ऐसे अवसरो पर उनसे अच्छा निर्देशन मिलता था। प्रारम्भ में उन्होंने अपना जीवन एक व्यापारी के रूप मे प्रारम्भ किया और उसमे उन्होंने जो पद प्राप्त किया वह भी बड़े-से-बड़े व्यवसायी के लिए ईर्ष्या का विषय था। लेकिन कुछ ही वर्षों बाद वे सभी व्यापार को छोडकर समाज सेवा एवं सरस्वती का व्यापार करने लगे। उनके हृदय मे समाज एव साहित्य सेवा की जो चुभन थी वैसी बहुत कम व्यक्तियों मे देखने को मिलती है। उन्होंने अपने जीवन का आधा भाग मा भारती की सेवा में लगा दिया तथा समाज सेवा करते-करते उन्हे स्वास्थ्य का भी ध्यान नही रहा। समाज के दुर्भाग्य से उन्हें अच्छा स्वास्थ्य नहीं मिला लेकिन अस्वस्थ रहते हुए भी उन्होंने समाज की जो सेवा की है उसकी कहानी युवकों में ही नही किन्तु; वृद्धो मे भी मान संचार करने वाली है।

बा० छोटेलालजी का प्रमुख निवास स्थान कलकता था लेकिन देहली आरा, वाराणसी आदि स्थानों में चलने वाली संस्थाओं के संचालन में उनका प्रमुख योग रहता था। विद्वानों एवं साहित्यिकों का वे बड़ा सम्मान करते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें आर्थिक सहायता भी दिया करते थे। समाज में वे बड़े ही सरल थे लेकिन अनुशासन के नायक थे। वे अपने अधीनस्थ कार्यकर्ताओं से खूब काम लेते थे लेकिन दुख दर्द के अवसर पर उनकी अच्छी सहायता करते थे।

बाबू जी का नाम तो मैंने काफी समय से सुन रखा था और सन् १९४८ से मैंने साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करना प्रारम्भ किया तो उनसे कितनी ही बार पत्र व्यवहार भी हुआ लेकिन उनके दर्शन का अवसर मुझे सन् १९५१ मे ही मिला। उस वर्ष कार्तिक महोत्सव पर वहाँ के युवकों ने एक साहित्य प्रदर्शिनी का आयोजन किया था और उसमें सम्मिलित होने मुझे भी वहाँ जाना पड़ा। कलकत्ता पहुँचने के दूसरे ही दिन मैं अपने साथी के साथ उनके बेलगछिया वाले मकान पर पहुँचा। मकान के अन्दर आने की स्वीकृति मिलते ही जब मैं उनके कमरे मे प्रविष्ट हुआ तो देखा कि वे किसी पुस्तक के पृष्ठो को बटोर रहे है। पहिचानने मे देर नहीं लगी और नाम बतलाने के पश्चात् सर्व प्रथम उन्होंने यही प्रश्न किया कि हम लोग उनके मकान पर क्यो नही ठहरे। काफी देर तक बातें होती रही और मुझे ऐसा लगने लगा कि जैसे हम अपने घनिष्ठ परिचित के सामने बैठे है। हम लोग कलकत्ते मे ४-५ दिन रहे। वे हमें अपनी ही कार मे म्युजियम, कोटनिक्स गार्डन आदि स्थानो पर ले गये तथा वहाँ की महत्वपूर्ण सामग्री का परिचय कराया। यद्यपि उनका स्वास्थ्य उस समय भी अच्छा नही था लेकिन उन्होने बड़े ही प्रेम से अपने पास रखा। यह मेरा और उनका प्रथम साक्षात्कार था। इस प्रथम

साक्षात्कार में उनके महान् एवं महानशाली व्यक्तित्व के दर्शन मिले। मैंने देखा कि कलकत्ता जैन समाज पर उनका एक दम नेतृत्व था और बड़े बड़े बंगालियों पर भी उनकी विद्वत्ता एवं सेवा का गहरा असर था। वे जहाँ भी गये वहीं के अधिकारी ने उनका अच्छे ढंग से स्वागत किया और उनसे मिलने पर समन्वता व्यक्त की। मैंने देखा की कलकत्ता समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उनसे निर्देशन लेने के लिए उनके पास पहुँचते और काफी समय तक समाज की स्थिति पर विचार विनिमय किया करते।

उसके पश्चात् वे स्वयं जयपुर आये। मैं उन्हे लिवाने के लिए स्टेशन पहुँचा और उन्हें स्व० सेठ बधीचन्द जी गंगवाल के निवास स्थान पर ठहराया। वे उस मकान में ८-१० दिन रहे। उन दिनों में इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध हो गया कि मैं उन्हें अपने पिता तुल्य समझने लगा। यहाँ पर उन्होंने कितने ही कलापूर्ण मन्दिरों के चित्र लिये। सस्थाओं का निरीक्षण किया और उनमे काफी आर्थिक सहायता भी दी, इस मकान में उनका स्वास्थ्य ठीक था। इसीलिए पुरातत्व एवं जैन साहित्य के कितने ही गहन तथ्यों की उनसे जानकारी प्राप्त हो सकी। पुरातत्व के सम्बन्ध मे उनका विशाल अध्ययन था और उसे आगे विकसित करने के लिए ही वे कितने ही स्थानों पर भ्रमण किया करते थे। उनकी यही हार्दिक इच्छा रहती थी कि वे अपने जीवन में जैन मूर्तिकला एव स्थापत्यकला पर विस्तृत प्रकाश डाल सकें जिनमें विद्वानो को उनके महत्व के सम्बन्ध में जानकारी मिल सके।

तीसरा साक्षात्कार उनसे देहली में हुआ। यह कोई सन् १९५६ की घटना है। उस समय देहली मे एक जैन सेमिनार का आयोजन हुआ था। इसी अवसर पर यहाँ विज्ञान भवन के बाहर पर एक विशाल साहित्य एव कला प्रदर्शनी भी लगी थी। इतना सुन्दर एव विशाल आयोजन देहली मे ही नहीं किन्तु संभवत भारत में ही प्रथम बार हुआ था। इस प्रदर्शनी में साहित्य एवं कला की विभिन्न कलाकृतियाँ प्रदर्शित की गयी थीं। इस आयोजन मे भाग लेने के लिए समाज के अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ता, विद्वान् एवं साहित्यसेवी सम्मिलित हुए थे। मुझे भी जयपुर से जैन साहित्य की विभिन्न कला कृतियों को प्रदर्शित करने के लिए जाना पड़ा था। बा० छोटेलाल जी का इस आयोजन में प्रमुख हाथ था और उनका वीर-सेवामन्दिर विद्वानों के आवास का प्रमुख केन्द्र था। बाबूजी भी उसी में ठहरे थे। इस प्रदर्शनी में बाबूजी ने कलाकृतियों के खूब चित्र लिये। उनका सदैव प्राचीन कलाकृतियों के चित्रों के संग्रह की ओर ध्यान रहता था। इस अवसर पर भी उनके निकट रहने का अवसर मिला और मैंने देखा कि बाबू जी के दिशा निर्देशन की ओर सभी का ध्यान है और समाज के उच्चस्तरीय नेता भी उनकी बात सब ध्यान से सुनते थे।

बाबूजी से चौथा और अन्तिम साक्षात्कार अभी करीब तीन वर्ष पूर्व आरा में जैन सिद्धान्त भवन की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हुआ था। बाबूजी के आयोजन के स्वागताध्यक्ष थे। वे जैन बाला विश्राम में ठहरे हुए थे। मैं अपने अन्य साथियों के साथ जब उनसे मिलने गया तो देखा कि बाबूजी एक कमरे में एक आराम कुर्सी पर लेटे हुए हैं। स्वांस एवं खांसी से भयंकर रूप से पीड़ित है तथा बोलने मे भी तकलीफ होती है लेकिन जब हम लोग उनके पास जाकर बैठ गये तो फिर उन्होने अपने रोग की भी परवाह नहीं की और प्रत्येक विद्वान से बड़े ही प्रेम से बातचीत की। मेरे से उन्होंने यही प्रश्न किया कि आजकल मेरी कौन सी पुस्तक छप रही है तथा शोध कार्य किस गति से आगे बढ़ रहा है। बाबू जी का स्वास्थ्य खराब होने के कारण प्रत्येक को यह भय था कि इसके आयोजन में वे कैसे अपना स्वागत भाषण पढ़ सकेंगे लेकिन जब उन्होंने बिना किसी रुकावट के अपना भाषण पढ़ा तो सभी परिचित आश्चर्य में पड़ गये और बाबूजी की लगन एव कार्य करने की शक्ति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। यही मेरी उनसे अन्तिम मुलाकात थी। किसे मालूम था कि वे थोड़ेही समयके और मेहमान है और फिर सदा सदाके लिए बिछुड़ने वाले हैं।

मैं इस अवसर पर अपनी असीम भावना से श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि वे फिर इसी समाज में जन्म लेकर उसकी पहिले से भी अधिक सेवा कर सकें। ★

श्रद्धाञ्जलि

अनूपचन्द न्यायतीर्थ 'साहित्यरत्न'

(१)

श्रीमान् तुम्हारा अभिनन्दन
कर लेते होता हमें हर्ष।
पर देख सका ना दैव इसे
औ छीना तुमको इसी वर्ष॥

(२)

युग परिवर्तन के साथ साथ
छोड़ा था तुमने रूढ़िवाद।
नूतन प्राचीन विचारों का
सम्मिश्रण तुममें निर्विवाद॥

(३)

तन मन से उज्ज्वल मुट्ठी भर
सेवा भावी दानी उदार।
थे 'अनेकांत' के पथदर्शक
औ पुरातत्व-प्रेमी अपार॥

(४)

बालकपन से ही संस्कार
सेवा के तुममें गए पैठ।
सीधा औ सच्चा जीवन था
न आयी तुममें कभी ऐंठ॥

(५)

बूढ़े बच्चे नवयुवकों में
ना समझा तुमने कभी भेद।
मतलब की सबसे सुनने में
ना हुआ कभी भी तुम्हें खेद।

(६)

छोड़ी जीवन की सुविधाएँ
जब पड़ा बंग भीषण अकाल
नोआखाली के दंगों में
दिखलाया सेवा कर कमाल॥

(७)

टेढ़ा सेवा का काम किन्तु
तुमने 'रिलीफ' में किया काम।
निस्वार्थ भाव तन मन धन से
'छोटे' से ऊँचा किया नाम॥

(८)

लाये युवकों को आगे तुम
कर धर्म और सेवा समाज।
साहित्य-प्रेम की ज्योति जगा
तुम बने सुधारक पूर्ण आज॥

(९)

लग रहा तुम्हारा जो कुछ है
सब देश जाति-हित सदा काल।
कितनी संस्थाएँ सचालित
हो चुकी तुम्हीं से नौनिहाल॥

(१०)

जीवन को तुमने खपा दिया
संस्कृति-रक्षा हित गुणनिधान।
तुम विज्ञ विवेकी दृढ़प्रतिज्ञ
थे मूक राष्ट्र-सेवक महान॥

(११)

जैसा भी चाहा कर डाला
सब जगह तुम्हारा था प्रभाव।
सम्मान तुम्हारा सब करते
यह देख देख सीधा स्वभाव॥

(१२)

नवजीवन की मिलती तुमसे
नित नयी प्रेरणा औ प्रकाश।
"सेवा का अनुपम पथ पकड़ो
मत होओ जीवन में निराश॥"

तीन दिन का आतिथ्य

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री

स्व० श्री बाबू बाबू छोटेलालजी अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध थे। लब्धप्रतिष्ठ और प्रकाण्ड विद्वान् ही उनके यहाँ आश्रय नही प्राप्त करते थे, बल्कि मुझ जैसे अल्पज्ञ नवयुवक पण्डित भी। कालेज का ग्रीष्मावकाश हो जाने पर मेरे परिवार के सदस्यों की इच्छा कलकत्ता परिभ्रमण की हुई। २ जून १९५९ की सन्ध्या को हम प्रस्थान कर तीन जून के प्रातःकाल एशिया के इस बड़े नगर में पहुँच गये। पूर्व व्यवस्था के अनुसार अलीपुर से श्री साहू शीतलप्रसाद जी के यहाँ से गाड़ी स्टेशन पर आ गई थी और हम लोग उन्हीं के यहाँ ठहर गये थे। दो-तीन दिनो तक इधर-उधर के दर्शनीय स्थानो को देखने के उपरान्त हम लोग बेलगछिया मे श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर के दर्शन करने गये। मन्दिर से बाहर निकलते ही श्री बा० छोटेलालजी से भी साक्षात्कार हुआ। कुशल-क्षेम के अनन्तर जब उन्हे यह मालूम हुआ कि मैं सपरिवार आया हूँ तो उन्होंने आदेश के स्वर मे उलाहना देते हुए कहा—"आप मुझे अपना नहीं समझते, इसीलिए तो अलीपुर मे इतनी दूर ठहरे हुए है। अब आप जा नही सकते है, यहीं ठहरना होगा। आप तो कभी-कभी आ भी जाते है, पर ये लोग कब आयेंगे? मेरा घर विद्वानो के ठहरने के लिए सुनिश्चित अतिथिशाला है। आप लोगों को घूमने के लिए यही से मैं गाडी की व्यवस्था कर दूंगा। विश्वास कीजिए—आपको यहाँ तनिक भी कष्ट नही होगा। दर्शनीय स्थानो को दिखाने के लिए मैं आदमी भी आपको दूंगा। अभी आपको जितने दिन रहना है, मेरे साथ रहिए। आप से साहित्यिक चर्चा कर लेने मे मुझे वडी प्रसन्नता होगी। मेरा और आपका सम्बन्ध आज नया नही है। पुनः हंसकर कहा—आपके प्रिय रसगुल्ले यहाँ भी मिल जायेंगे। इतना कह कर उन्होने मेरे बच्चे नलिनकुमार को गोद मे उठा लिया और उससे बातें करने लगे। नलिन कुछ ही क्षणों मे बेलगच्छिया की वाटिका में उनके साथ घूम आया और इतने ही अल्प समय में इतना घुल-मिल गया, जैसे उसका पुराना परिचय हो। हम लोग बाबूजी के आग्रह से उनके अतिथि बन गये! नलिन की उनसे विशेष पटने लगी, दोनों की गप्पे होने लगीं। उसकी बालसुलभ चेष्टाओं ने बाबूजी के हृदय को जीत लिया।

मध्याह्नोत्तर भोजन के उपरान्त हम लोग बेलूरमठ देखने गये। साथ मे बाबूजी भी थे। बाबूजी ने वहाँ के विद्वान् सन्यासी से मेरा परिचय कराया, पुस्तकालय भी दिखलाया तथा उनके अलभ्य ग्रन्थों की जानकारी भी दी। मठ की स्थापत्य कला के सम्बन्ध में बाबूजी ने विस्तार से ज्ञातव्य बातें बतलाईं। वापस लौट आने पर उन्होंने नलिन की प्रतिभा की परीक्षा ली और मुझसे बोले—'इस बच्चे की शिक्षा की आप पूरी व्यवस्था कीजिए यह बहुत होनहार है। उन्होंने उसे खिलौनों के साथ हिन्दी और अंग्रेजी की कई छोटी-छोटी पुस्तके भी दी।

रात्रि के आठ बजे मेरी बाबूजी से चर्चा होने लगी। मैंने देखा कि कुछ क्षण पहले वह खासी से परेशान थे, किन्तु अब चर्चा आरम्भ होते ही उनकी खासी शान्त हो गई। पुरातत्त्व के सम्बन्ध मे कई आवश्यक बातें बतलाते हुए उन्होंने कहा—आप जानते हैं, चैत्यालय का विकास कैसे हुआ? सुनिये—चैत्य शब्द 'ची' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ चयन करके राशि—ढेर करना, एक के ऊपर एक को लादना है। इसी धातु से चित्य बना है, जिसका अर्थ वेदी है। शनैः शनैः इसका सम्बन्ध आचार्यों, पुण्य व्यक्तियो एवं पूजनीय महान् व्यक्तियो के स्मारक से जुड गया। आरम्भ मे चैत्य का सम्बन्ध शवसमाधि से रहा है। जवो दुब्रुइल द्वारा अन्वेषण की गई मालाबार की चट्टान मे खुदी मृतक समाधि इसी प्रकार का चैत्य है। एशिया माइनर के दक्षिणी समुद्र तट पर लीडिया के किनारा और जैथस मे जो चट्टानी शवसमाधियां निर्मित है, वे भारतीय चैत्यों का प्रतिरूप हैं। अतः आरम्भ मे चैत्य महापुरुषो के अस्थिसंचायक समाधि का सूचक था।

श्रमणों के सम्पर्क से चैत्य शब्द के अर्थ मे परिवर्तन हुआ और शनैः शनैः यह शब्द पूजागृह के अर्थ में प्रयुक्त

होने लगा। इस गृह में कोई प्रतीक अथवा प्रतिमा मध्य में रहती थी। इसके बीच में स्तूप रहता था तथा इस स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा भूमि रहती थी। जब श्रमण संघ में किसी विषय पर चर्चा होती थी, तब विचार-विनिमय के लिए विभिन्न स्थानों के मुनि एकत्र होते थे। अतः इस परिस्थिति का परिणाम यह निकला कि मुनियों के आवास के लिए चैत्यगृह निर्मित होने लगे। इस युग—ई० पू० ३०० के लगभग जो चैत्यगृह निर्मित हुए हैं, उनकी छत गुवजनुमा है, छत के नीचे स्तूप या सामान्य वेदिका है। हैदराबाद के बालदुग जिले मे तेर नामक स्थान मे इस प्रकार का चैत्यगृह मिला है। यह ईंट और पलस्तर का बना है, पूर्व की ओर द्वार है, उसके ऊपर खिड़की है, जिससे सूर्य का प्रकाश आता है। इसका प्रांगण मण्डप के आकार का है। वर्तमान चैत्यालय का विकास इसी चैत्य से हुआ है। प्राचीन कई जैन मन्दिर चैत्यगृहोके समान उपलब्ध होते है। गुम्बज, वेदिका और प्रदक्षिणा स्थान आजभी पुराने चैत्यगृहों के समान ही हैं।

अगले दिन रात्रि को पुनः चित्रकला पर चर्चा हुई। बाबूजी ने जैन चित्रकला की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए बताया—"ई० ६००-६२५ के पल्लववंशी राजा महेन्द्रवर्मन् के द्वारा निर्मित पद्दुकोटा स्थित सित्तन्न-वासल्लीय गुहा चित्र जैन कला के अद्भुत निदर्शन हैं। यहा के चित्रों मे भाव आश्चर्य ढग से स्फुट हुए है और आकृतिया बिल्कुल सजीव मालूम पड़ती है। समस्त गुफा कमलों से अलकृत है। सामने के खम्भों को आपस मे गुथी हुई कमलनाल की लताओं से सजाया गया है। छत पर तालाब का दृश्य अंकित है, उसमें हाथियो, जलविहंगमो, मछलियों, कुमुदिनी और पदमों की शोभा निराली है। तालाब में स्नान करते हुए दो व्यक्ति—एक गौरवर्ण और दूसरा श्याम वर्ण के चित्रित किये गये है। इसी गुफा के एक स्तम्भ पर एक नर्तकी का सुन्दर चित्र है, इस चित्र मे चित्रित नर्तकी की भाव-भंगिमा देखकर लोगों को आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। नर्तकी के कमनीय अगों का सन्निवेश चित्रकार ने बड़ी खूबी के साथ किया है। यह मडोदक चित्र है। सित्तन्नवासल की चित्रकारी अजन्ता के समान सुन्दर और अपूर्व है। जैनों के भित्तिचित्र केवल धार्मिक ही नहीं हैं, अपितु उनमें कला की रमणीयता और मसृणता पायी जाती है। कमल और हस अनेक चित्रों में प्रतीक रूप में अंकित है। कमल आत्मा की स्वच्छता, निर्मलता और उत्क्रान्ति का प्रतीक है। जहां कमलनाल का प्रयोग आता है, वहां आत्मा के विभाव राग-द्वेष भी चित्रित रहते हैं। कषाय और योगवश आत्मा कर्मबन्धन से युक्त होती है और कमल तन्तु के समान जन्म-मरण की परम्परा चलती है। इस कमलनाल द्वारा चित्रकारों ने आत्मा की बद्धावस्था और केवल कमल-पदम के अंकन से उसकी मुक्तावस्था चित्रित की है। कमलनाल और कमल दोनों ही संसारी और मुक्त आत्माओं के प्रतीक है। हस—सिद्धावस्था का प्रतीक है। जलचर जन्तुओं में तीन ही जन्तु विशेष ध्यान देने योग्य है—मत्स्य, बक और दादुर।

मत्स्य—सांसारिक तृष्णाओं, वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं का प्रतीक है। जैन चित्रकार सरोवर को संसार का प्रतीक मानते है और मत्स्य इस संसार की सतत परम्परा को बनाये रखने के लिए तृष्णाओं का प्रतीक है। दार्शनिक दृष्टि से इसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रतीक कहा जा सकता है। कषायों की दृष्टि से इसे लोभ कषाय का प्रतीक माना जायगा। बक को माया कषाय का प्रतीक माना गया है। संसार सरोवर में अनन्त लहरे इस बक—माया के कारण ही उत्पन्न होती है। मायाचार आत्म परिणामों को कलुषित कर व्यक्ति को अधो गति की ओर ले जाता है। दादुर—मेढक को—मान कषाय का प्रतीक माना गया है। जैन चित्रकला में अनेक स्थानों पर सुन्दर प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। अद्यावधि जैनकला के प्रतीको का अध्ययन नही हो सका है। मूडबिद्री के चन्द्रनाथ चैत्यालय में स्तम्भों पर जो जो प्राकृतिक चित्र अंकित किये गये हैं, उनमें भी कई प्रतीक है। इनमे बाह्य आकर्षण, प्रकृति का सादृश्य रमणीयता, कम्पन और नैसर्गिक प्रवाहके साथ प्रतीक-गत भावनाओं का वैशिष्ट्य भी है। कला की जीवटपना रग, रेखाओं और आकृति-अंकनके साथ प्रतीकोमे पाया जाता है। स्वस्तिक का चिह्न स्वयं एक प्रतीक है, चित्रकार जिन रेखाओं की वक्राकृति प्रस्तुत करता है, उनमे भी कई प्रतीक निहित रहते है।

प्रतीक चर्चा के उपरान्त मैंने बाबूजी से पूछा—"कृपया यह बतलाइये कि जैन चित्रकला में कला की दृष्टि से क्या विशेषता है ?' मेरा अभिप्राय उन सचित्र पाण्डुलिपियों से है, जिनमे गुजरात और राजपूत कलम का मिश्रण पाया जाता है। क्या कला के क्षेत्र मे भी जैन, बौद्ध और हिन्दू इस प्रकार की चौकापन्थी सभव है ? मेरा ऐसा विश्वास है कि भारतीय चित्रकला अखण्ड और एक है। चित्रांकन की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नही है। अन्तर है वस्तु के प्रकाशन मे या वर्ण्यवस्तु मे। अभिव्यञ्जना की दृष्टि से कला एक है। अतः कला मे मानव के शाश्वत राग-द्वेष, प्रेम-कलह, हास-विलास एव अनुराग-विराग समान रूप से अभिव्यक्त होते हैं।"

श्री बाबू छोटेलालजी ने गम्भीर भाव से उत्तर देते हुए कहा—'जैनचित्र आलोचन की दृष्टि से भी महत्व पूर्ण है। यद्यपि सुरुचि, परिष्कार, तूलिका स्पर्श की कोमलता एवं हसिए की कसीदाकारी कुछ ही चित्रों में पायी जाती है, तो भी गुजराती, मुगल और राजपूत कला का मिश्रण होने से आकृतियों की विविधता आकर्षित करती है। नगरों, महलों, साधारण घरो, वनो, सरोवरों के दृश्य जीवन के सभी रूपों मे प्रकट हुए हैं। विराग और त्याग के चित्रों मे भी स्वस्थ जीवन का अकन हुआ है। सचित्र जैन ग्रन्थों की दो प्रणालियां हैं। पहली मे धर्मकथा के विषय को चित्रों द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है। एक पृष्ठ पर जितना कथाश रहता है, उसे अभिव्यक्त करने के लिए चित्रांकन किया जाता है। दूसरी प्रणाली मे ग्रन्थ के विषय से बाह्य चित्र दिये गये हैं। इन चित्रों का विषय से कोई सम्बन्ध नही है। सौन्दर्य वृद्धि के लिए या अन्य हृदयगत भावनाओं के स्पष्टीकरण के लिए चित्रो का अकन किया गया है। अधिकांश पाण्डुलिपियों के चित्रों मे माधुर्य, ओज और सजीवता पायी जाती है। वस्तु की दृष्टि से जैन चित्रों को एक पृथक वर्ग मे रखना होगा, क्योंकि इन चित्रों की विषयवस्तु और भावाभिव्यञ्जना अन्यत्र नहीं मिलती। हाँ, टेकनिक के क्षेत्र में ये चित्र कुछ अशों मे क्षमता रखते हैं। कल्पसूत्र के चित्रों मे गुजराती कलम, जिसकी प्रधान विशेषता बादाम के समान नेत्रों की है, पायी जाती है। अतः इतना मानना पड़ेगा कि जैन चित्रकला में कुछ ऐसी बाते हैं, जो दूसरे धर्म की कलाओं में नहीं पायी जाती। धर्माश्रय होने के कारण धर्म की पृष्ठभूमि भी कला में निहित रहती है। अतः अखण्ड कला में भी भेद संभव है। चित्रों की आत्मा भिन्न होने से उनकी टेकनिक में भी अन्तर है।"

मैं सपरिवार बाबूजी के यहाँ तीन दिनों तक रहा। भोजन के समय बाबूजी स्वयं उपस्थित रहते। हम लोगों की प्रत्येक सुविधा का ध्यान रखते थे और आग्रह पूर्वक रसगुल्ले खिलाते थे। आज बाबूजी नहीं हैं पर उनका वह आतिथ्य तथा कलामर्मज्ञता मेरे मानस पटल पर अँकित है! बाबूजी के और भी कई सस्मरण हैं, जिन्हें यथा समय पत्रोंमें प्रकाशित करने का प्रयास करूँगा।

निरभिमानी बाबूजी

लक्ष्मीनारायण छावड़ा

स्वर्गीय बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता समाज के प्रमुख कार्यकर्ताओ मे से थे, उनमे मेरा सम्पर्क सन् १९२६ से रहा है। जब वे बगाल बिहार उड़ीसा तीर्थक्षेत्र कमेटी के सेक्रेटरी थे तब से ही उनके साथ मुझे भी सामाजिक कार्यो मे भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ था, हर कार्य में उनका पूर्ण सहयोग मिला था। सन् १९३९ मे जब मैं बंगाल बिहार उड़ीसा दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी का सेक्रेटरी नियुक्त होकर कार्य करने लगा उस समय बाबूजी उक्त कमेटी के सदस्य थे उनके पुराने अनुभवों के कारण उक्त कमेटी के मेरे सात वर्ष के कार्य-काल मे उनका पूरा सहयोग सत्परामर्श मिलता रहा, जिसको मैं कभी भुला नहीं सकता। आप सरल स्वभावी निरभिमानी एवं उत्साही समाजसेवी थे और समाज के गौरव थे।

उनके स्वर्गवास से समाज को काफी क्षति पहुँची है जिसकी पूर्ति होना असम्भव है।

अन्त में अपने परम सहयोगी के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करता हुआ स्वर्गीय आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त होने के लिए भगवान महावीर से प्रार्थना करता हूँ।

धर्म और संकृति के अनन्य प्रेमी

श्री पं० के० भुजबली शास्त्री

बाबू छोटेलालजी जैनधर्म और जैन संस्कृति के अनन्य प्रेमी थे, प्रमुख समाज सुधारक, पुरातत्त्व, इतिहास तथा साहित्य के विशेषज्ञ, वीरसेवामन्दिर, जैन सिद्धान्त भवन जैन बाला-विश्राम, भारतीय ज्ञानपीठ और स्याद्वाद महा-विद्यालय आदि प्रमुख सस्थाओं के हितचिंतक एवं अनेक बहुमूल्य रचनाओं के रचयिता थे। आपकी कृतियों में खासकर 'विब्लियोग्राफी' सबसे महत्वपूर्ण कृति है। बाबूजी का एक व्यापारी कुल मे जन्म होने पर भी वे सरस्वती के सच्चे आराधक रहे। आप पुरातत्त्व के मर्मज्ञ विद्वान मद्रास के श्री टी. एन. रामचन्द्रन से कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ तैयार करा रहे थे, उसका पता लगाना चाहिये।

बा० छोटेलालजी से मेरा सम्बन्ध १६२४ से था, वह भी घनिष्ठ। आप मुझे बहुत मानते रहे, अपने पत्रों में मुझे सदा आप 'प्रिय बन्धु' शब्द से ही सम्बोधित करते रहे। बा०जी का विशेष सम्पर्क मुझे आरा मे हुआ। जैन सिद्धान्त भवन आरा के आप बड़े प्रेमी थे। साथ ही साथ स्वर्गीय बा० निर्मलकुमार जी का परिवार आपको बहुत मानता था। वहाँ के शुभकार्य में आप नियम से सम्मिलित होते थे। उन दिनों हम लोगों को दो-चार रोज एक साथ रहना हो जाता और वार्तालाप करने का शुभ अवसर मिल जाता था। जब कभी कलकत्ता जाना होता तब बा०जी से मिलना अवश्य होता था और भोजन भी उन्हीं के यहाँ होता था। आरा छोड़कर मेरे मूडबिद्री आने पर वे मूडबिद्री कई बार आए, कारकल वेणूर आदि के बाहुबली मस्तकाभिषेक पर। खासकर धवल आदि ग्रन्थों के ताड़पत्रीय फोटो लेने के लिए आये और उस कार्य को उन्होंने बड़े परिश्रम से पूर्ण कराया। विद्वानों पर उनका बड़ा प्रेम था।

आपका अन्तिम दर्शन मुझे सन् १६६४ में आरा मे हुआ था, जब वे जैनसिद्धान्त भवन के स्वर्ण जयन्ती उत्सव पर पधारे थे। अन्त में मैं स्वर्गीय आत्मा के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ, परलोक मे सुख-शान्ति की कामना करता हूँ।

उनकी अपूर्व सेवाएं

पन्नालाल जैन अग्रवाल

बा० छोटेलाल जी से मैं बहुत समय से परिचित हूँ। आप धर्मात्मा साहित्य प्रेमी, पुरातत्व मर्मज्ञ, गुणीजनों के भक्त और उदार पुरुष थे। आप मुझे 'गुरुभाई' कहकर सम्बोधित करते थे। आप अच्छे लेखक थे। पुरातत्व की ओर उनका विशेष आकर्षण था। उन्होंने मेरे पुत्र चि० मोतीराम असिस्टेन्ट फोटू आफीसर फोटू डिबीजन पब्लि-केशन डिबीजन देहली को प्रेरितकर, जयपुर, आमेर, सांगानेर, देवगढ़, खण्डगिरि उदयगिरि, और मूडबिद्री के सिद्धान्तवसदि मन्दिर से धवलादि ग्रन्थों के फोटो उतरवाए थे। उनका विचार एक सुन्दर एल्बम बनाने का था, परन्तु वे शारीरिक अस्वस्थता वश उसे पूरा न कर सके। उन्होने वीरसेवामन्दिर की ओर से धवलादि ग्रन्थों का जीर्णोद्धार कराने मे सहयोग दिया था। मेरे पास उनके पत्र सुरक्षित है। वीरसेवामन्दिर चाहे तो उन्हे प्रकाशित कर सकता है। राजगृही और कलकत्ता मे वीर-शासन जयन्ती मनाना उनके ही पुरुषार्थ का कार्य था। उनकी जैन ग्रन्थ सन्दर्भ सूची (जैन बिब्लोग्राफी) महत्व-पूर्ण कृति है। आपकी सेवाएं अपूर्व हैं। मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ परलोक में उनकी आत्मा को शान्ति की कामना करता हूँ।

भारत कला-भवन बनारस में संग्रहीत

राजघाट की जैन प्रतिमाएँ

श्री नीरज जैन

राजघाट से प्राप्त जैन पुरातत्व की जो सामग्री काशी के भारत कला भवन में सकलित की गई है उसमें लगभग पन्द्रह शिल्पावशेष उल्लेखनीय हैं। राजघाट में किसी समय जो विपुल सामग्री रही होगी, प्राज यद्यपि उसका शतांश भी उपलब्ध नहीं है तथापि इस सामग्री पर से स्थान की प्राचीनता तथा सांस्कृतिक समृद्धि का भलीभांति अन्दाज लगाया जा सकता है।

इस संचित सामग्री से हमें यह भी ज्ञात होता है कि जिनेन्द्रमूर्तियों के परिकर में प्रभामण्डल, छत्र, इन्द्र, विद्याधर, सिंहासन, धर्मचक्र, शासन देवियां, उनके विभिन्न प्रायुध तथा वाहन प्रादिकों का अंकन राजघाट में भी पर्याप्त हुआ है। कल्पवृक्ष के ऊपर विराजमान तीर्थंकर तथा उसी वृक्ष के नीचे खड़े हुए शासन देव और देवी संभवत. यहीं की विशेषता है। इसी प्रकार एक चतुर्मुख स्तम्भ मे एक ओर ऋषभदेव; दूसरी ओर अम्बिका; तीसरी ओर पारसनाथ तथा चौथी ओर इन्द्र-सभा का अंकन है जो इस समूचे संग्रह मे अलग ही अपनी विशेषता उत्पन्न करता है। इन शिल्पावशेषों का विवरण इस प्रकार है—

कल्पवृक्ष पर कमलासीन तीर्थंकर

क्रमांक २१२ की यह प्रतिमा अत्यन्त सानुपातिक और मनोहर तो है ही, इसका संयोजन भी तात्कालिक शिल्प में एक नवीनता का समावेष करता है।

नीचे पीठिका पर संभवतः प्रतिष्ठापक गृहस्थ युगल को अर्चना रत बैठे हुए अंकित किया गया है। वृक्ष के तने से लगे हुए शासन देवताओं के सेवक खड़े हैं, तथा वृक्ष के नीचे गौरवपूर्ण त्रिभंग मुद्रा में यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती को प्रसन्नमुख खड़े हुए दिखाया गया है। देवी के हाथ में कमल पुष्प है और अंक में एक बालक है, यक्ष के हाथों में पुष्प और कमण्डलु हैं।

वृक्ष के ऊपर धर्मचक्र सहित सिंहासन है और उस पर कमल की पीठिका पर विराजमान सौम्य मुख, सस्मित वदन, २३वें तीर्थंकर भगवान पारसनाथ की पद्मासन छवि अंकित है। इस मूर्ति की मुद्रा अपनी मनोहरता में गुप्त कालीन कला का स्मरण दिलाती है। भामण्डल भी वैसा ही सादा और सरल है। छत्र तथा इन्द्र और विद्याधरों का अंकन भी यथाविधि पाया जाता है।

यद्यपि इस मूर्ति पर कोई चिह्न नहीं है पर नीचे के परिकर और शासन देवता से ज्ञात होता है कि यह पारसनाथ ही हैं।

चतुर्मुख स्तम्भ का अवशेष क्र० २६४

इस स्तम्भ के एक ओर खड्गासन पारसनाथ की साधारण मूर्ति है। उनका चिह्न फणधर पीठिका से उठ कर उनके पीछे कुण्डली मारता ऊपर की ओर दिखाया गया है। इस ओर मस्तक का भाग खण्डित है अतः फणावलि भी टूटी हुई हैं।

दूसरी ओर नेमिनाथ की शासन सेविका देवी अम्बिका को सिंह पर ललित आसन विराजमान दिखाया गया है। देवी की गोद में एक बालक है और दूसरा बालक पार्श्व में खड़ा है। ऊपर का भाग यद्यपि खण्डित है परन्तु आम्र वृक्ष का अंकन एक दम स्पष्ट है।

तीसरी ओर आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा भी जो लगभग पूरी तरह नष्ट हो गई है।

स्तम्भ की चौथी ओर इन्द्र सभा का दृश्य अंकित है। इन्द्र और इन्द्राणी को सुन्दर वेषभूषा में खड़े हुए अंकित किया गया है। इन्द्र के पादमूल में उसका वाहन ऐरावत अंकित है। आसपास और भी अनेक देव, किन्नर,

गन्धर्व आदि अंकित है, किन्तु ऊपर का भाग इस ओर भी अधूरा है। संभव है ऊपर किसी आराध्य तीर्थंकर की प्रतिमा रही हो; या फिर यह पाण्डुक शिला की ओर भगवान की यात्रा का दृश्य हो सकता है।

कला की दृष्टि से साधारण होकर भी इस खण्ड का अभिप्राय की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

क्रमांक ६१, १७६ तथा २५५

तीनों पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। १६१ में चिह्न नहीं है और सिंहासन के सिंहों के पार्श्व में भी बैठे हुए तीर्थंकर इस मूर्ति की विशेषता हैं। १७६ आदिनाथ की मूर्ति है और इसके सिंहासन में एक मनोहर धर्मचक्र तथा एक पंक्ति का शिलालेख है। गोमुख, चक्रेश्वरी और वृषभ यथा स्थान हैं। २५५ पारसनाथ का केवल सिंहासन है पर सिंहासन का नाग और कमल बहुत सुन्दर बने हैं। क्रमांक ८५, १७१ और २७४ कायोत्सर्ग आसन तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं जो प्रायः खंडित और कला की दृष्टि से साधारण हैं।

क्रमांक १९७ पांच फणों से युक्त एक शीर्ष भाग है। ३१३ भी एक तीर्थंकर मूर्ति का मस्तक है जो अपनी भाव प्रवण मुद्रा और स्मिति के कारण मन में बस जाता है। क्रमांक २६४ एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा का शीर्ष भाग है। उसके दोनों ओर हाथ में पुष्प माल लिए विद्याधर और उसकी विद्याधरी को उड़ते हुए अंकित किया गया है। भामण्डल का इस मूर्ति में अभाव है। छत्र भी परम्परागत नही बनाए गए है। छत्र के स्थान पर एक हरा भरा और फलों से युक्त आम्र वृक्ष बड़ी ही सुरुचि पूर्वक अंकित किया गया है। हो सकता है यह प्रतिमा २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान की हो और यह आम्र वृक्ष देवी अम्बिका के प्रतीक रूप में इनके साथ अंकित हुआ हो।

—: o :—

सन्तुलन

मुनि श्री कन्हैयालाल जी

सुख और दुःख, जीवन रूप सिक्के के दो पहलू हैं: सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख का क्रम चलता ही रहता है। फूल खिलता भी है, मुरझाता भी है। दीपक जलता भी है, बुझता भी है। दिनकर उदित भी होता है, अस्त भी होता है। संसार का ऐसा प्रवाह अनादिकाल से चलता आ रहा है। उदय और अस्त में सूर्य अपने स्वभाव को नही बदलता। दोनों ही अवस्था मे रक्त रहता है। यही उसकी महानता का अभिसूचक है।

महापुरुषों में उसी की गणना होती है जो सुख और दुःख में समवृत्ति होता हैं। सुख में फूलना और दुःख मे घबराना मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता है। कष्टो के अपरिमित भूचालों के आगमन पर भी जिसका हृदय विचलित नहीं होता, समग्र साधन सामग्री प्राप्त होने पर भी जो गुब्बारे की तरह फूलता नहीं, अपने निर्णीत लक्ष्य की ओर सन्तुलन से बढ़ता जाता है, वही प्राणी इस मर्त्यलोक का अद्वितीय रत्न व चमकता हुआ एक उज्ज्वल नक्षत्र है।

अपना व्यवहार

बन्धुवर ! इस संसार में कोई भी किसी का मित्र नहीं है और न कोई किसी का शत्रु भी है। अपना सद्-असद् व्यवहार ही मित्रता और शत्रुता का कारण बनता है।

यदि तुम्हारा व्यवहार मधुर है, हृदय में सरलता है, वाणी मे अमृत है तो ससार मे कोई तुम्हारा शत्रु नहीं रहेगा, सभी तुम्हारे मित्र बन जाएँगे। तुम्हें कोई प्रयास भी नही करना पड़ेगा।

मित्र बनाने से नहीं बनते, अपने व्यवहारों से बनते हैं। यदि तुम्हारा व्यवहार बुरा है, हृदय में कुटिलता है, वाणी में जहर है तो सारा संसार तुम्हारा शत्रु बन जायेगा। लाख प्रयत्न करने पर भी कोई तुम्हें मित्र दृष्टिगत नहीं होगा।

सबसे पहले अपने व्यवहारों को सुधारने का प्रयत्न करो। अपना व्यवहार ही शत्रु और अपना व्यवहार ही मित्र है।

'जसहर चरिउ' की एक कलात्मक सचित्र पाण्डुलिपि

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी-एच. डी.

राजस्थान के 'जैन ग्रन्थ संग्रहालय' साहित्य एवं कला के महत्वपूर्ण भण्डार हैं। जो कुछ 'भारतीय साहित्य' एवं विशेषतः जैन साहित्य सुरक्षित रह सका है। उसमें राजस्थान के इन संग्रहालयों का विशेष योग है। इस प्रदेश की भूमि साहित्य सेवियों को जन्म देने में सदा उर्वरक रही है। आज भी इस प्रदेश में १५० से भी अधिक जैन ग्रन्थ भण्डार है, जिनमे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा की महत्वपूर्ण एवं प्राचीनतम पाण्डुलिपियो का संग्रह उपलब्ध है। ये सभी भण्डार साहित्यकारों के लिए हैं। जिनकी यात्रा किये बिना कोई भी विद्वान जैन साहित्य के अन्तस्तल तक नही पहुँच सकता। वास्तव में इन ग्रन्थ-भण्डारो में साहित्य की अमूल्य निधियां निहित है।

साहित्यिक पाण्डुलिपियो के अतिरिक्त इन भण्डारो में कलात्मक एवं सचित्र प्रतियों का भी अच्छा सग्रह है। श्रावक एवं साधुवर्ग दोनों ने ही सचित्र ग्रन्थों को लिखने लिखवाने एवं संग्रह करने में अपनी विशेष रुचि दिखलायी है। ये लोग चित्रकला के अच्छे पारखी रहे हैं। इसलिए भारतीय चित्रकला की विविध शैलियों के चित्र राजस्थान के इन जैन भण्डारों में देखने को मिलेंगे। इनके अध्ययन के आधार पर भारतीय चित्रकला के विकास पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। प्रस्तुत लेख मे 'महाकवि पुष्पदन्त' विरचित 'जसहर चरिउ' की एक कलात्मक सचित्र पाण्डुलिपि पर प्रकाश डाला जा रहा हैं—

जन-साधारण में 'महाराज यशोधर' का जीवन-चरित्र इतना अधिक लोकप्रिय रहा है कि प्रत्येक भारतीय भाषा में उनके जीवन पर काव्य, चरित, कथा, रास आदि के रूप में रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। राजस्थान के किसी-भण्डार में तो 'यशोधर चरित' की १५ से भी अधिक प्रतियां मिल जाती हैं। यही नही संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी-राजस्थानी में विभिन्न विद्वानों ने इनके जीवन पर खूब लिखा है और अच्छा लिखा है। अपभ्रंश में इनके जीवन पर सर्व प्रथम लिखने वाले 'महाकवि पुष्पदन्त' थे जो दसवीं शताब्दी के विद्वान थे। 'पुष्पदन्त' ने 'जसहर चरिउ' लिखकर यशोधर के जीवन को और भी लोकप्रिय बनाने में योग दिया। कवि की यह कृति भी अत्यधिक जनप्रिय रही और यही कारण है कि राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों में इसकी पचासों प्रतियां उपलब्ध होती हैं।

'जसहर चरिउ' एक खण्डकाव्य है—जो चार सन्धियों में विभक्त है। कवि ने इसे अपभ्रंश के सर्वाधिक प्रिय कड़वक एवं घत्ता छन्दों में निबद्ध किया है। संधि के अनुसार काव्य में इन छन्दों की संख्या निम्न प्रकार है—

प्रथम सन्धि—२६ कड़वक।

द्वितीय संधि—३७ कड़वक—महाराज यशोधर के भवांतरों का वर्णन।

तृतीय संधि—४१ कड़वक महाराज यशोधर के मनुष्य जन्म का वर्णन।

चतुर्थ संधि—३० कड़वक।

प्रस्तुत काव्य का नायक 'यशोधर' है। जो अभय॰ रुचि के रूप मे स्टेज पर आते है। वे जैन सन्त हैं। गांव-गांव में विहार करके स्व-पर कल्याण करना ही जिनका प्रमुख है। जब वे राजा मारिदत्त के सिपाहियों द्वारा पकड़ कर राजा के सामने लाये जाते हैं तो उनकी भव्य आकृति को देख कर स्वय राजा भी मुग्ध हो उठता है और उनसे जगत मे इस रूप मे विचरण करने का कारण जानना चाहता है। और इसी प्रसंग में 'अभयरुचि' अपने पूर्व भवो की पूरी कथा कहता है। यह कथा 'यशोधर राजा' के भव से प्रारम्भ होती है और 'अभय रुचि' तक आकर समाप्त हो जाती है। अन्तिम सन्धि में राजा मारिदत्त एवं भैरवानन्द की भी पूर्व जन्म कथा का भी वर्णन है, जो उनको हिंसामयी मार्ग से छुड़ाने के लिए

कही गयी है। 'यशोधर चरित' अहिंसाके प्रखरतम माहात्म्य को बताने वाली कृति है। 'किसी जीव का वध एक जघन्यतम अपराध है और वह यदि भाव वध हो तो भी उसका उतना ही कुफल मिलता है।'—यही बतलाना इस कृति का मुख्य उद्देश्य है।

यद्यपि महाकवि की यह एक लघु रचना है किन्तु उसमें सरसता प्रवाह एवं लालित्य सभी गुण उपलब्ध होते हैं। भाषा में वेग है। राजा मारिदत्त की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए

चाएण कण्णु विहवेण इंदु, रूवेण कामु केतीए चंदु।
वंडे जमु विण्ण पयंड घाउ, पर बुम दलण बलेग वाउ॥
सुरकरि कर थोर पयंड बाहु,
पच्चंत निवह मणि विण्ण दाहु।
भसल उल णील धम्मिल्ल सोहु,
सुसमत्थ भडह गोहाण गोहु॥
गोउर कवाड भइ विउल वच्छु,
सत्तिनप पालणु दीहरच्छु।
लक्खण लभवंकिउ गुण समुद्दु,
सुपसण्ण मुत्ति घण गहिर सद्दु॥

इसी काव्य की एक सचित्र पाण्डुलिपि मौजमाबाद (राजस्थान के शास्त्र-भण्डार में संग्रहीत है, जिसका परिचय इस लेख में दिया जा रहा है।

'मौजमाबाद' १७वीं शताब्दी में साहित्यिक एव सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रसिद्ध केन्द्र रहा था। संवत् १६६४ में महाराजा मानसिंह के अमात्य नानू गोधा ने यहां एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव कराया था। इस प्रतिष्ठा में राजस्थान से ही नहीं किन्तु देश के दूर-दूर भाग से लोग आये थे। यही कारण है कि राजस्थान के बहुत से मन्दिरों में इस समय में प्रतिष्ठित मूर्तियां मिलती हैं। स्वयं मौजमाबाद के बड़े मन्दिर में अधिकांश मूर्तियां इसी समय की हैं। सभी मूर्तियां विशाल एवं मनोज्ञ हैं। आज भी यहां का मन्दिर एवं उसका भौंहरा खूब प्रसिद्ध हैं और श्रावक गण उनके दर्शनार्थ आते रहते हैं। मन्दिर के तीन उत्तुंग शिखर दूर से भगवान जिनेन्द्र का मानों जय-घोष करते रहते हैं। शिखर पूर्णत. कलात्मक हैं जो बहुत ही कम स्थानों पर देखने को मिलेंगे। 'छीतर ठोलिया' मौजमाबाद के ही कवि थे। उन्होंने अपनी होली की कथा में इस ग्राम का निम्न प्रकार का वर्णन किया है—

यहीं के बाजार वाले मन्दिर में शास्त्र-भण्डार है, जिसमें करीब २५० हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है। इन ग्रन्थो में हिन्दी एवं संस्कृत के ग्रन्थों की अधिक संख्या है। कुछ एक तो काफी महत्वपूर्ण हैं, जिनमे आ० कुन्द-कुन्द का प्रवचनसार, जिनेंद्रव्याकरण, अमरकीर्ति की षट् कर्मोपदेशमाला, आशाधर का त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र एवं अमितिगति का योगसार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी भण्डार में लाख चारण विरचित 'कृष्ण रुक्मिणी वेलि' की हिन्दी गद्य टीका भी है।

महाकवि पुष्पदन्त कृत इस सचित्र पाण्डुलिपि में ६४ पृष्ठ हैं। पृष्ठों का आकार ११॥×४-३/४" है। पाण्डु-लिपि संवत १६४७ (सन् १५६०) मे महाराजा जयसिंह के शासनकाल में आमेर नगर के नेमिनाथ चैत्यालय में लिखी गई थी। उस समय श्री चन्द्रकीर्ति देव मंडलाचार्य थे। इसकी प्रतिलिपि खण्डेलवालान्वयी गोधा गोत्र वाले 'साह ठाकुर' ने करवायी थी।

"संवत् १६४७ वर्षे ज्येष्ठ सुदि तृतियायां भू(भौ)म-वासरे पुनर्वसु नक्षत्रे श्रीनेमिनाथ जिन चैत्यालये अंबावती वास्तव्ये महाराजाधिराज श्री मानसिंघ राज्य प्रवर्त्तमाने श्री मूलसघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुंद-कुंदाचार्यान्वये भ० श्री प्रभाचन्द्र देवा तत्सिष्य भ० श्री धर्म्मचद्रदेवातस्सिष्य भ० श्री ललितकीर्ति देवा तत्सिष्य मं० श्री चन्द्रकीर्त्ति देवाम्नाये खडेलवालान्वये गोधा गोत्रे सा० ठाकुर तद्भार्ये द्वे प्र० डी डी द्वि० लाछि तयो पुत्रा: सप्त प्र० सा० श्री तेजपाल तद्भार्ये द्वे० प्र० त्रिभु-वन दे द्वि०.........."

—इस प्रति के प्रारम्भ के ५ पत्र बाद के लिखे हुए हैं। सब मिलाकर इसमें ७१ चित्र है। ये चित्र समान आकार वाले नही हैं। किन्तु कितनेही पूरे पृष्ठ पर हैं, कितने ही आधे पृष्ठ पर तथा अन्य पृष्ठ के एक भाग पर दिये हुए हैं। चित्रों की भूमि लाल रंग की है, और उस पर विभिन्न चित्र अंकित हैं।

शैली : ये चित्र सामान्यत: राजस्थानी शैली के हैं और विशेष रूप से आमेर शैली के चित्र हैं। स्त्रियां पांवों

महाराज यशोधर की सभा का एक दृश्य, देखो, पृ० ५१
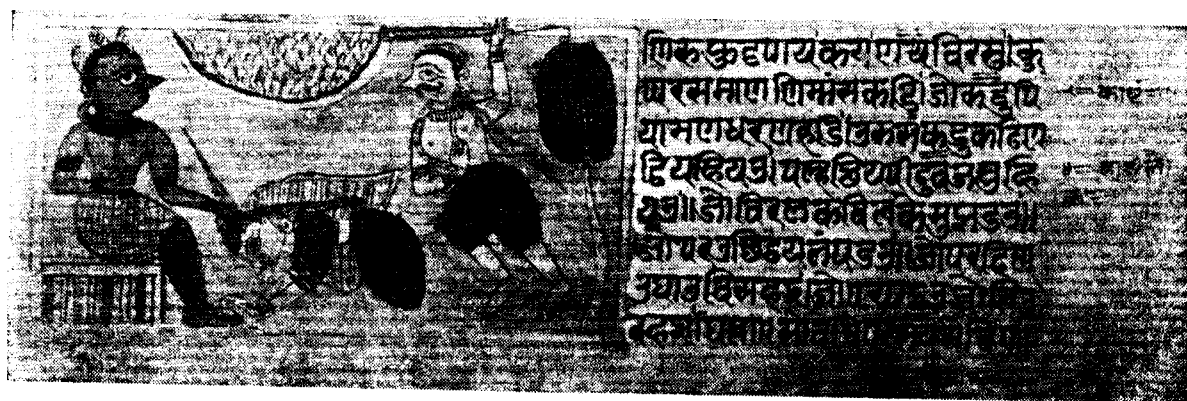
महाराज यशोधर की पत्नी एक कोढ़ी के चरणों में गिरकर क्षमा मांगती हुई। महाराज यशोधर हाथ में तलवार लिए हुए पीछे खड़े हैं। देखो, पृ० ५१
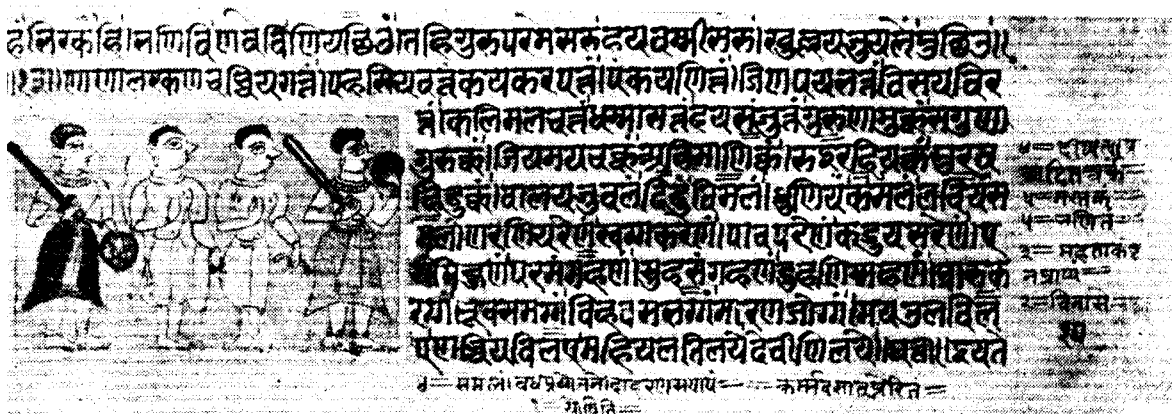
राजा मारिदत्त के दो सैनिक, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका को वधस्थान की ओर ले जाते हुए, देखो, पृ० ५१

ग्वालियर किले की जैन मूर्तियां
(ग० पुरातत्व विभाग दिल्ली के सौजन्य से)
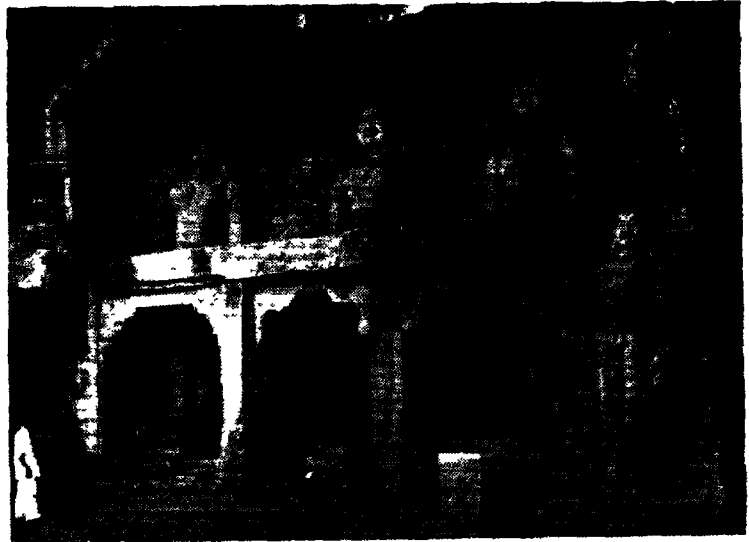
जैनमन्दिर देवगढ़ नं० १२
(ग० पुरातत्व विभाग दिल्ली के सौजन्य से)
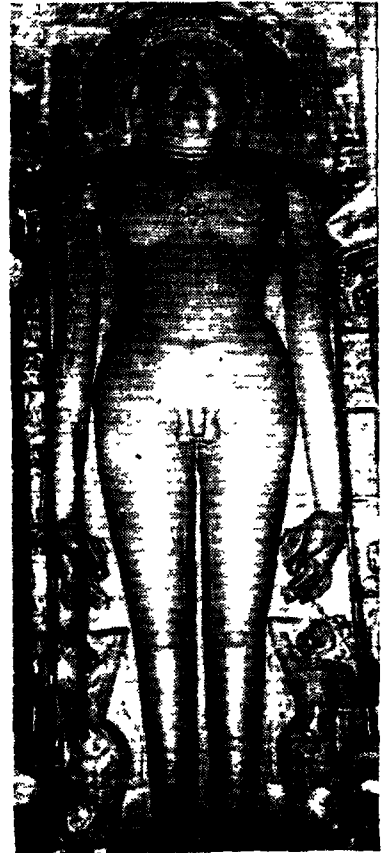
भ० शान्तिनाथ की प्रतिमा (खजुराहो)

में कड़े पहिने हुए हैं। उनके वदन पर चोली तथा कमर में लहंगा है! माथे की चोटी काफी बड़ी है। उनके ललाट पर बोरला हैं जो राजस्थानी वेश-भूषा का प्रधान अंग है! सिर पर रंगीन ओढ़नी है। हाथों में चूड़ियों के अतिरिक्त एक लटकता हुआ आभूषण भी है। उनके पेट का निचला भाग खुला है। और वह दिखाई देता है। प्रत्येक की नाक लम्बी एव नोकदार है तथा आंखें अपभ्रंश शैली की हैं। वस्त्र झीने न होकर कुछ मोटे हैं, जिनसे उनका वदन नही दिखाई देता। गले में बजर बट्टी पहिने हुए हैं और कानों में कुण्डल है।

पुरुषों की वेश-भूषा में ज्यादा विभिन्नता नहीं है। उनका प्रायः नंगा वदन एव उस पर रंगीन दुपट्टा दिखाई पड़ता है! गले में, हाथों में व बाहों में गहना पहिने हुए हैं। कानों मे कुण्डल लटके हुए हैं। वे तीन लांग की धोती पहिने हुए हैं। चित्रों की कलम स्पष्ट एवं बारीक है। किसी अच्छे कलाकार ने इनको बड़ी मेहनत से बनाया है। पाण्डुलिपि मे आये हुए चित्रों मे से आठ चित्रों का परिचय निम्न प्रकार है :—

चित्र नं० १ (पत्र ६ पर)—राजा मारिदत्त का राज दरबार लगा हुआ है व नृत्य हो रहा है। इसमे नर्तिका सहित सभी नर्तक झीने वस्त्र पहिने हुए हैं। सिर पर जयपुरी पगडियां है। बाकी आभूषण एवं वेशभूषा वही है जो ऊपर लिखी हुई है। चित्र ९।×२॥" आकार का है।

चित्र नं० २ (पत्र ७ पर)—चंडमारि देवि का चार हाथों वाला चित्र है। नर-मुण्ड की माला चारों ओर पड़ी हुई है। वह सिहासन पर बैठी है। सिंह का वाहन है। सामने दो भक्त पुरुष हाथ जोड़े खड़े हैं।

चित्र नं० ३ (पत्र१० पर)—सिपाही क्षुल्लक-क्षुल्लिका श्री अभयरुचि एवं अभयमति को लिए हुए जा रहे हैं। सिपाहियों के हाथों में ढाल व तलवार है। अभयरुचि के एक हाथ में कमण्डलु है लेकिन उसका पकड़ने वाला भाग ही चित्रित किया गया है। अभयमति के हाथ में सम्भवतः पिच्छिका है।

चित्र न० ४ (पत्र सं० २४ पर)—महाराज यशोधर शयनकक्ष मे है। दो सन्तरी तलवार लिए पहरा दे रहे हैं। महाराज बारीक अंगरखी पहिने हुए हैं। शेष वही वेश-भूषा है। पलंग के पास पीकदान रखा हुआ है।

चित्र नं० ५ (पत्र सं० २५ पर)—यह चित्र कृति मे रोमाञ्चकारी चित्र है—जिसमें महाराज यशोधर की राणी एक कुष्ठी के पांव पड़ी हुई है। और वह कुष्ठी उसकी चोटी पकड़े हुए है। रानी अपने पूरे शृंगार में है। उसी के पीछे महाराज यशोधर तलवार लिए हुए खड़े हैं। कोढ़ी का रंग नीला एवं डरावना है। एवं उसका नग्न वदन है। वह एक चबूतरे पर बैठा हुआ है।

चित्र नं० ६ (पत्र सं० २९ पर)—नृत्य मण्डली राजकुमार के समक्ष नाचती हुई एक नर्तिका। एक नर्तक के हाथ में ढोलक एवं एक के हाथ में मंजीरे हैं। नर्तिका की वेणी इतनी लम्बी है कि वह आंगन तक पहुँच रही हैं।

चित्र न० ७ (पत्र सं० ३७ पर)—यज्ञ में आटे के बने हुए पुरुष के पुतलों का होम करते हुए।

चित्र नं० ८ (पत्र सं० ७२ पर)—मुनि के धर्मोपदेश के लिए जाते हुए राज सवारी। सबसे आगे एक सैनिक है उसके पश्चात् महावत सहित हाथी। मध्य में पींजस में राजा-रानी बैठे हुए हैं। पींजस को दो पुरुष कंधे पर लिए जा रहे हैं। पीछे एक हाथी और घोड़ा है। चित्र अच्छा है।

इस प्रकार 'जसहर चरिउ' की प्रस्तुत प्रति कला की एक अनूठी कृति है, भारतीय चित्रकला की दृष्टि से उसके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

—:o:—

मध्य भारत का जैन पुरातत्व

परमानन्द जैन शास्त्री

श्रमण संस्कृति का प्रतीक जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है, वह बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन और एक स्वतंत्र धर्म है। वेदों और भागवत आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध जैन धर्म सम्बन्धी विवरणों के सम्यक् परिशीलन से विद्वानों ने उक्त कथन का समर्थन किया है। प्राचीन काल में भारत की दो संस्कृतियों के अस्तित्व का पता चलता है। श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति। मोहनजोदारों में समुपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियो की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमणों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने ही किया था। इस युग में जैन धर्म के आदि प्रवर्तक आदि ब्रह्मा, प्रजापति आदिनाथ थे, जो 'नाभिरायके पुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनकी स्तुति वेदों में की गई है। इन्हीं आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे जिनके नामसे इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है. जैनधर्म के दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति और पुरातत्त्व आदि का भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इतिहास में पुरातत्त्व का कितना महत्व है, यह पुरातत्त्वज्ञ भलीभांति जानते हैं। भारतीय इतिहास में मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्व भी कम महत्व का नहीं है। वहां पर अवस्थित जैन स्थापत्य, कलात्मक अलकरण, मन्दिर, मूर्तियां, शिलालेख, ताम्रपत्र और प्रशस्तियों आदि में जैनियों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का अंकन मिलता है। यद्यपि भारत में हिन्दुओं, बौद्धो और जैनो के पुरातत्व की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है और ये सभी अलंकरण अपनी-अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध हैं। परन्तु उन सब में कुछ ऐसे कलात्मक अलंकरण भी उपलब्ध होते हैं, जो अपने अपने धर्म की खास मौलिकता को लिये हुए हैं। जैनों और बौद्धों में स्तूप और अयागपट भी मिलते हैं। अनेक जैन स्तूप गल्ती से बौद्ध बतला दिये गये हैं। अयाग पट भी अपनी खास विशेषता को लिये हुए मिलते हैं, जैसे कंकाली टीला मथुरा से मिले हैं। ये सभी अलंकरण भारतीय पुरातत्त्व की अमूल्य देन हैं।

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहां अधिक प्राचीन स्थापत्य तो नहीं मिलते; परन्तु कलचूरी और चंदेलकालीन सौन्दर्याभिव्यंजक अलकरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उससे पूर्व की सामग्री बिरल रूप में पाई जाती है, उस काल की सामग्री प्रायः नष्ट हो चकी है, और कुछ भूमिसात् हो गई है। बौद्धों के सांची स्तूप और तद्गत सामग्री पुरानी है। विदिशा की उदयगिरि की २०वीं गुफा में जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा सछत्र अवस्थित थी; परन्तु वहां अब केवल फण ही अवशिष्ट है[१], मूर्ति का कोई पता नहीं चलता कि कहां गई। परन्तु प्राचीन सामग्री के संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे जाना जाता है कि वहां मौर्य और गुप्त काल के अवशेष मिलने चाहिये। कितनी ही पुरातन सामग्री भूगर्भ में दबी पडी है और कुछ खण्डहरों मे परिणित हुई सिसकियां ले रही है, किन्तु हमारा ध्यान अभी तक उसके समुद्धरण की ओर नहीं गया।

जबलपुर के हनुमान ताल के दिगम्बर जैन मन्दिर मे स्थित एक कलात्मक मूर्ति शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मूल्यवान है। वैसी मूर्तियां महाकौशल में बहुत ही कम उपलब्ध होंगी। उसमें कला की सूक्ष्मभावना, उदात्त एवं गम्भीर विचार और बारीक छैनी का आभास उसके प्रत्येक अंग से परिलक्षित होता है। इसी तरह देवगढ़ का विष्णु मन्दिर भी गुप्तकालीन कला का सुन्दर प्रतीक है, और भी अनेक कलात्मक अलंकरणो का यत्र-तत्र संकेत मिलता है। जो तत्कालीन कला की मौलिक देन है। इस तरह उक्त तीनों ही सम्प्रदायों की

१. इंडियन एण्टीक्वेरी जि० ११ पृ० ३१०

पुरातात्त्विक सामग्री का अस्तित्व जरूर रहा है; परन्तु वर्तमान में वह विरल ही है।

मध्यप्रदेश के पुरातात्विक स्थान और उनका संक्षिप्त परिचय

मध्यप्रदेश के खजुराहा, महोवा, देवगढ़, अहार, मदनपुर, बाणपुर, जतारा, रायपुर, सतना, नवागढ़, भिलसा, भोजपुर, मऊ, धारा, बडवानी, ऊन और उज्जैन आदि पुरातत्त्व की सामग्री के केन्द्र स्थान हैं। इन स्थानों की कलात्मक वस्तुएं चन्देल और कलचूरी कला का निदर्शन करा रही हैं। यद्यपि मध्यप्रदेश मे जैन शास्त्र भडारो के सकलन की विरलता रही है, ५-७ स्थान ही ऐसे मिलते हैं जहां अच्छे शास्त्र भंडार पाये जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक मन्दिर मे थोड़े बहुत ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं पर अच्छा संकलन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि वहां भट्टारकीय परम्परा का प्रभाव अधिक नहीं हो पाया है। जहा-जहां भट्टारकीय गद्दियां और उनके विहार की सुविधा रही है वहा वहां अच्छा संग्रह पाया जाता है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संकलन राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पंजाब के कुछ स्थानों मे पाया जाता है। वैसा मध्यप्रदेश में नहीं मिलता। हां उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों मे—आगरा, मैनपुरी मेरठ, सहारनपुर, खतौली, मुजफ्फरनगर और तिस्सा आदि मे—ग्रंथ संग्रह पाया जाता है। और दिल्ली के तो जैन शास्त्र भंडार प्रसिद्ध ही हैं। मध्य प्रदेश के जिन कतिपय स्थानो का उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ स्थानो का यहा सक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का विषय है यद्यपि मालव प्रान्त भी किसी समय जैनधर्म का केन्द्र स्थल रहा है, और वहां अनेक साधु-सन्तों और विद्वानों का जमघट रहा है; खास कर विक्रम की १०वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक वहां दि० जैन साधुओं आदि का अध्ययन, अध्यापन तथा विहार होता रहा है, और वहां अनेक ग्रंथों की रचना की गई है। साथ ही, अनेक प्राचीन उत्तुग मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है; परन्तु राज्य विप्लवादि और साम्प्रदायिक व्यामोह आदि से उनका संरक्षण नही हो सका है। अतः कितनी ही महत्व की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री विलुप्त हो गई है। जो अवशिष्ट बच पाई है उसका संरक्षण भी दूभर हो गया है। और बाद में उन स्थानों में वैसा मजबूत संगठन नहीं बन सका है, जिससे जैन संस्कृति और उसकी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और संरक्षण किया जा सकता।

खजुराहो—यह चन्देल कालीन उत्कृष्ट शिल्पकला का प्रतीक है। यहां खजूर का वृक्ष होने के कारण 'खजूर पुर' नाम पाया जाता है। खजुराहो जाने के दो मार्ग हैं। एक मार्ग झांसी-मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या या महोबा से छतरपुर जाना पड़ता है। और दूसरा मार्ग झांसी से बीना सागर होते हुए मोटर द्वारा छतरपुर जाया जाता है और छतरपुर से सतना जाने वाली सड़क पर से बीस मील दूर बमीठा मे एक पुलिस थाना है, वहां से राजनगर को जो दस मील मार्ग जाता है, उसके ७वें मील पर खजुराहो अवस्थित है। मोटर हरपाल पुर से तीस मील छतरपुर और वहां से खजुराहो होती हुई राजनगर जाती है।

यहां भारत की उत्कृष्ट सांस्कृतिक स्थापत्य और वास्तुकला के क्षेत्र में चन्देल समय की देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अंकित किये हुए है। चन्देल राजाओ की भारत को यह असाधारण देन है। इन राजाओं के समय में हिन्दु-संस्कृति को भी फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है। उस काल मे सास्कृतिक कला और साहित्य के विकास को प्रश्रय मिला जान पड़ता है, यही कारण है कि उस काल के कला-प्रतीकों का यदि सकलन किया जाय, जो यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। उससे न केवल प्राचीन कला की रक्षा होगी वलिक उस काल की कला के महत्व पर भी प्रकाश पड़ेगा और प्राचीन कला के प्रति जनता का अभिनव आकर्षण भी होगा; क्योकि कला कलाकार के जीवन का सजीव चित्रण है। उसकी आत्म-साधना कठोर छैनी और तत् स्वरूप के निखारने का दायित्व ही उसकी कर्तव्यनिष्ठा एवं एकाग्रता का प्रतीक है। भावों की अभिव्यंजना ही कलाकार के जीवन का मौलिक रूप है। उससे ही जीवन में स्फूर्ति और आकर्षण शक्ति की जागृति होती है। उच्चतम कला के विकास से तत्कालीन इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है। बुन्देलखण्ड में चन्देल और कलचुरि आदि राजाओ के शासनकाल में

जैनधर्म का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा था। और उस समय अनेक कलापूर्ण मूर्तियां तथा सैकड़ों मन्दिरों का निर्माण भी हुआ है। खजुराहो की कला तो इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है। यद्यपि खजुराहो में कितनी ही खण्डित मूर्तियां पाई जाती हैं, जो साम्प्रदायिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ती हैं।

यहाँ मन्दिरों के तीन विभाग हैं। पश्चिमी समूह, २—पूर्वी समूह, ३ तथा दक्षिणी समूह। पश्चिमी समूह शिव-विष्णु, चौसठ योगिनियाँ, जगदम्बा, कन्दारिया मन्दिर, विश्वनाथ और नन्दी मन्दिर मंगलेश्वर का है। इनमे महादेव का मन्दिर ही सबसे ही प्रधान है, और उत्तरी समूह मे भी विष्णु के छोटे-बड़े मन्दिर हैं। दक्षिणी पूर्वी भाग जैन मन्दिरों के समूह से अलंकृत है। यहाँ महादेव जी की एक विशाल मूर्ति ८ फुट ऊँची और तीन फुट से अधिक मोटी होगी। वराह अवतार भी अतीव सुन्दर है। उसकी ऊँचाई सम्भवतः तीन हाथ होगी। मंगलेश्वर मन्दिरभी सुन्दर और उन्नत है। कालीका मंदिर भी रमणीय है। पर मूर्ति मे मां की ममता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। उसे भयंकरता से आच्छादित जो कर दिया है, जिससे उसमें जगदम्बा की कल्पना का वह मातृत्व रूप नहीं रहा और न दया, क्षमा को ही कोई स्थान प्राप्त है, जो मानव जीवन के खास अग है। यहाँ के हिन्दू मन्दिर पर जो निरावरण देवियो चित्र उत्कीर्ण देखे जाते है उनसे ज्ञात होता है कि उस समय विलास-प्रियता का अत्यधिक प्रवाह बह रहा था, इसी से शिल्पियो की कला मे भी उसे यथेष्ट प्रश्रय मिला है। खजुराहो की नन्दी मूर्ति दक्षिण भारत के मन्दिरो मे अकित नन्दी मूर्तियो से बहुत कुछ साम्य रखती है। यद्यपि दक्षिण की मूर्तियाँ आकार-प्रकार में कहीं उससे बड़ी हैं।

वर्तमान में यहाँ मन्दिर तो कई हैं किन्तु उनमें सर्व-श्रेष्ठ तीन हिन्दू मन्दिर और तीन ही जैन मन्दिर हैं। पहले इनकी अधिक संख्या रही है। उनमें सबसे प्रथम मन्दिर घंटाई का है। यह मन्दिर खजुराहो ग्राम की और दक्षिण पूर्व में अवस्थित है। इसके स्तम्भों में घंटा और जंजीर के अलंकरण उत्कीर्णित हैं। इसीसे इसे घण्टाई का मन्दिर कहा जाता है। इस मन्दिर की शोभा अपूर्व है। इसमें अर्ध-मण्डप, महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह समाविष्ट थे। एक सांझा प्रदक्षिणा पथ भी था जिसकी बाहिरी दीवार नष्ट हो चुकी है।

दूसरा मन्दिर आदिनाथ का है। यह घण्टाई मन्दिर के हाते में दक्षिण-उत्तर पूर्व की ओर अवस्थित है। यह मन्दिर भी रमणीय और दर्शनीय है। इस मन्दिर में पहले जो मूलनायक की मूर्ति स्थापित थी, वह कहाँ गई, यह कुछ ज्ञात नहीं होता। तीसरा मन्दिर पार्श्वनाथ का है। यह मन्दिर सब मन्दिरों से विशाल है। इसमें पहले आदिनाथ की मूर्ति स्थापित थी, उसके गायब हो जाने पर इसमे पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई है। गर्भ गृह की बाहिरी दीवारों पर बनी हुई अप्सराएँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण एवं संगतराशी के फन मे अलौकिक लालित्य की परिचायक है। इस मन्दिर की दीवालों के अलंकरणों मे वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ भी उत्कीर्णित हैं। यह मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय है और सम्भवतः दसवी शताब्दी का बना हुआ है। इसके पास ही शान्तिनाथ का मन्दिर है। इन सब मन्दिरों के शिखर नागर-शैली के बने हुए है और भी जहाँ तहाँ बुन्देलखण्ड में मन्दिरो के शिखर नागरशैली के बने हुए मिलते हैं। ये मन्दिर अपनी स्थापत्यकला, नूतनता और विचित्रता के कारण आकर्षक है। यहाँ की मूर्तिकला, अलंकरण और अतुल रूपराशि मानव-कल्पना को आश्चर्य में डाल देती है। इन अलंकरणों एवं स्थापत्यकला के नमूनों में मन्दिरों का बाह्य और अन्तर्भाव विभूषित है। जहाँ कल्पना में सजीवता, भावना मे विचित्रता तथा विचारों का चित्रण, इन तीनों का एकत्र संचित समूह ही मूर्तिकला के आदर्शों का नमूना है। जिननाथ मन्दिर के बाह्य द्वार पर संवत् १०११ का शिलालेख अंकित है। जिससे ज्ञात होता है कि यह मन्दिर चन्देल राजा धंग के राज्य-काल से पूर्व बना है। उस समय मुनि वासवचन्द के समय में पाहलवंश के एक व्यक्ति पाहल ने, जो धंग राजा के द्वारा मान्य था, उसने मन्दिर को एक बाग भेंट किया

था, जिसमें अनेक वाटिकाएँ बनी हुई थीं१। इस मन्दिर के द्वार पर दाहिनी ओर के उक्त शिलालेख के ऊपर बाईं ओर एक 'चौंतीसा' यंत्र उत्कीर्णित है, जो गृहस्थोपयोगी है, जब किसी गर्भवती स्त्री को प्रसव वेदना हो, तो इस यंत्र को केसर से कांसे की थाली में लिखकर शुद्ध पानी में घोलकर पिला देने से प्रसव शीघ्र हो जाता है। इसी तरह बालकों के पेट-दर्द में भी उपयोग किया जाता है। इसके ऊपर देवचन्द्र शिष्य कुमुदचन्द्र अंकित है।

शान्तिनाथ का मन्दिर—इस मन्दिर में एक विशाल मूर्ति जैनियों के १६वें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ की है, जो १४ फुट ऊँची है। यह मूर्ति शान्ति का प्रतीक है, इसकी कला देखते ही बनती है। मूर्ति सांगोपांग अपने दिव्य प्रशान्त रूप में स्थित है और ऐसी ज्ञात होती है कि शिल्पी ने अभी ही बनाकर तैयार की हो। मूर्ति कितनी चित्ताकर्षक है यह लेखनी से परे की बात है। शिल्पी की बारीक छैनी से मूर्ति का निखरा हुआ वह कलात्मक रूप दर्शक को आश्चर्य मे डाल देता है और वह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ देखने का बार-बार उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है। मूर्ति के अगल बगल में अनेक सुन्दर मूर्तियाँ बिराजित हैं जिनकी सख्या अनुमानत. २५ से कम नहीं जान पड़ती। यहाँ सहस्त्रों मूर्तियां खण्डित हैं, सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण बहुत बारीकी के साथ किया गया है। भगवान शान्तिनाथ की इस मूर्ति के नीचे निम्न लेख अंकित है, जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति विक्रम की ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण की है;—"सं०—१०८५ श्रीमान् आचार्य पुत्र श्रीठाकुर देवधर सुत श्री शिवि श्रीचन्द्रेयदेवाः श्रीशान्तिनाथस्य प्रतिमा कारितेति।"

खजुराहो की खण्डित मूर्तियों में से कुछ लेख निम्न प्रकार हैं:—'सं० ११४२ श्री आदिनाथाय प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी बीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती।'

चौथे न० की वेदी में कृष्ण पाषाण की हथेली और नासिका से खण्डित जैनियों के बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ की एक मूर्ति है। उसके लेख से मालूम होता है कि यह मूर्ति विक्रम की १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रतिष्ठित हुई है। लेख में मूल संघ देशीयगण के पंडित नागनन्दी के शिष्य पं० भानुकीर्ति और आर्यिका मेरु श्री द्वारा प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है, वह लेख इस प्रकार है.—'सं० १२१५ माघ सुदी ५ रवौ देशोयगणे पंडित नाह (ग) नन्दी तच्छिष्य, पंडित श्री भानुकीर्ति आर्यिका मेरु श्री प्रति नन्दतु:।" इस तरह खजुराहो स्थापत्यकला की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय है।

महोबा—इसका प्राचीन नाम काकपुर, पाटनपुर, और महोत्सव या महोत्सवपुर था। इस राज्य का सस्थापक चदेल वंशी राजा चन्द्रवर्मा था जो सभवतः सन् ८०० मे हुआ है। इस राज्य के दो राजाओं के नाम खूब प्रसिद्ध रहे हैं। उनका नाम कीर्तिवर्मा और मदन वर्मा था, ई० सन् ९०० के लगभग राजधानी खजुराहो से महोबा में स्थापित हो गई थी। कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट में इसका नाम 'जंजाहूति' दिया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में 'जेजाभुक्ति' का उल्लेख किया है जिझौती या जेजाकभुक्ति समस्त प्रदेश का नाम है। यहाँ की झीलें प्रसिद्ध हैं। यहाँ नगर में हिन्दू और मुसलमानों के स्मारक भी मिलते हैं। जैन संस्कृति की प्रतीक जैन मूर्तियाँ भी यत्र-तत्र छितरी हुई मिलती हैं। कुछ समय पहले खुदाई करने पर यहाँ बहुत-सी जैन मूर्तियां मिली थीं, जो संभवत: सं० १२०० के लगभग थीं। उनमें से एक ललितपुर क्षेत्रपाल में और शेष बाँदा में विराजमान हैं।

यहाँ एक २० फुट ऊँचा टीला है। वहाँ से अनेक

---

१. ओ (IIX) सवत् १०११ समये ।। निजकुलधवलोयं दिव्यमूर्तिस्व(शी)लः स(श) मदमगुणयुक्त. सर्वसत्वानुकपी(IX)सुजनः जनिततोषो धंगराजेन मान्यः प्रणमति जिननाथ भव्व (व्य) पाहिल (ल्ल) नामा (II) १ ।। पाहिल वाटिका १ चन्द्रवाटिका २ लघु चन्द्रवाटिका ३ स (श) कर वाटिका ४ पंचाइतलु वाटिका ५ आम्रवाटिका ६ ध(ध)गवाड़ी ७ (IIX) पाहिलवसे(शे) तु क्षये क्षीणे अपरवंशो यः कोपि तिष्ठति (IX) तस्य दासस्य दासोयं मम दत्तिस्तु पालयेत् ।। महाराज गुरु स्त्री (श्री) वासवचन्द्रः (:IIX) व(शा)वैसा(ख) सुदि ७ सोमदिने।

खण्डित जैन मूर्तियाँ मिली हैं। महोबा के आसपास के ग्रामों और नगरों में भी अनेक ध्वस्त जैन मन्दिर और मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। उन खण्डित मूर्तियों के आसनों पर छोटे-छोटे लेख मिले हैं, उनमें से कुछ लेखो का सार निम्न प्रकार है:—

१—संवत् ११६६ राजा जयवर्मा, २—सं० १२०३, ३—श्रीमदनवर्मा देव राज्ये सं० १२११ आषाढ़ सु० ३ शनी देव श्री नेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण, ४—सुमतिनाथ सं० १२१३ माघ सु० दूज गुरौ१ । ५—सं० १२२० जेठ सुदी ८ रवौ साधुदेव गण तस्य पुत्र रत्नपाल प्रणमति नित्यं। ६—······तत्पुत्राः साधु श्री रत्नपाल तस्य भार्या साध्वी पुत्र कीर्तिपाल, अजयपाल, वस्तुपाल तथा त्रिभुवनपाल अजित नाथाय प्रणमति नित्यं'२ एक लेख में जो, सं० १२२४ आसाढ़ सुदी २ रवौ, काल आराधियोति श्रीमत् परमर्दिदेव पाद नाम प्रवर्द्धमान कल्याण विजय-राज्ये' नामका परमर्दिदेव के राज्य काल का है, उसमें चंदेल वंश के राजाओं के नाम दिये हुए हैं, और श्रावको के नाम ऊपर दिये गये हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व पूर्ण हैं। इन सब उल्लेखों से महोबा जैन संस्कृति का कभी केन्द्र रहा था, इसका आभास सहज ही हो जाता है।

देवगढ़ का इतिहास

देवगढ़—दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर जाखलौन स्टेशन से ६ मील की दूरी पर इस नामका एक छोटा-सा ऊजड़ग्राम भी है। इस ग्राम मे आबादी बहुत थोड़ी-सी है। वह वेत्रवती (वेतवा) नदी के मुहाने पर नीची जगहमें बसा हुआ है। वहाँ से तीन सौ फुट की ऊँचाई पर करनाली दुर्ग है। जिसके पश्चिम की ओर वेतवा नदी कलकल निनाद करती हुई बह रही है। पर्वत की ऊँचाई साधारण और सीधी है, पहाड़ पर जाने के लिए पश्चिम को ओर एक मार्ग बना हुआ है, प्राचीन सरोवर को पार करने के बाद पाषाण निर्मित एक चौड़ी सड़क मिलती है जिसके दोनों ओर खदिर (खैर) और साल के सघन छायादार वृक्ष मिलते हैं। इसके बाद एक भग्न तोरण द्वार मिलता है। जिसे कुञ्जद्वार भी कहते हैं, यह पर्वत की परिधि को बेढ़े हुए कोट का द्वार है। यह द्वार प्रवेश द्वार भी कहा जाता है। इसके बाद दो जीर्ण कोट द्वार और भी मिलते हैं। वे दोनों कोट जैन मन्दिरों को घेरे हुए हैं। इनके अन्दर देवालय होने से इसे देवगढ़ कहा जाने लगा है; क्योंकि यह देवों का गढ़ था; परन्तु यह इसका प्राचीन नाम नहीं है। इसका प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि' या 'लच्छागिरि' था, जैसाकि शान्तिनाथ मन्दिर के सामने वाले हाल के एक स्तम्भ पर शक सं० ७८४ (वि० सं० ६१६) में उत्कीर्ण हुए गुर्जर प्रतिहार वत्सराज ग्राम के प्रपौत्र और नागभट्ट द्वितीय या नागावलोक के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर राजा भोजदेव के शिलालेख से स्पष्ट है। उस समय यह स्थान भोजदेव के शासन में था। इस लेख में बतलाया है कि—शान्तिनाथ मन्दिर के समीप श्री कमलदेव नाम के आचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ को बनवाया था। यह वि० सं० ६१६ आश्विन सुदि १४ वृहस्पतिवार के दिन भाद्रपद नक्षत्र के योग में बनाया गया था१।

विक्रम की १२वीं शताब्दी के मध्य में इसका नाम 'कीर्तिगिरि' रक्खा गया था। पर्वत के दक्षिण की ओर दो सीढ़ियाँ हैं। जिन्हें राजघाटी और नाहर घाटी के नाम से पुकारा जाता है। वर्षा का सब पानी इन्हीं मे चला जाता है। ये घाटियाँ चट्टान से खोदी गई हैं,

1. A Cauningham, Reports XXI, P. 73 A.

२. देखो, कनिंघम सर्वेरिपोर्ट २१ पृ० ७३, ७४.

१. १—(ओं) परमभट्टारक, महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भो—
२—ज देव मही प्रवर्द्धमान—कल्याण विजय राज्ये।
३—तत्प्रदत्त—पच महाशब्द—महासामन्त श्री विष्णु।
४ (र) म परिभुज्य या (के) लुअच्छगिरे श्री शान्त्यायत (न)
५ (सं) निधे श्री कमलदेवाचार्य शिष्येण श्रीदेवेन कारा—
६—पितं इदं स्तम्भं ॥ सं० ६१६ अस्व (श्व) युज० शुक्ल।
७—पक्ष चतुर्दश्यां वृहस्पति दिने उत्तर भाद्रप—
८—दा नक्षत्रे इदं स्तम्भं घटितमिति ॥०॥

जिन पर खुदाई की कारीगरी पाई जाती हैं। राजघाटी के किनारे आठ पंक्तियों का छोटा सा सं० ११५४ का एक लेख उत्कीर्ण है१ जिसे चंदेल वंशी राजा कीर्ति वर्मा के प्रधान अमात्य वत्सराज ने खुदवाया था। यह बड़ा विद्वान् और पराक्रमी था, इसने अपने शत्रुओं से इस प्रदेश-मंडल को जीता था और इस दुर्ग का नाम 'कीर्तिगिरि' रक्खा था। कीर्तिवर्मा चंदेल वंश का प्रतापी शासक था और शत्रु कुल को दलित करने वाला योद्धा था, जैसा कि प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के निम्न पद्य से प्रकट है:—

नीता क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा।
रक्षावती क्षितिरभूत्प्रथितैरमात्यै.।
साम्राज्य मस्य विहितं क्षितिपालमौलि—
मालार्चितं भुविपयो निधि मेखलायाम् ॥३

दूसरी नाहर घाटी के किनारे भी एक छोटा ७ पंक्तियों का अभिलेख अंकित है। यहाँ एक गुफा है, जिसे सिद्ध गुफा कहा जाता है। यह भी पहाड़ में खुदी हुई है, जिसका मार्ग पहाड़ पर से नीचे जाता है, इसके तीन द्वार हैं" दो खंभों पर छत भी अवस्थित है इस गुफा के अन्दर भी गुप्त समय का छोटा-सा लेख अंकित है, जो सं० ६०९ सन् ५५२ का बतलाया जाता है। इसमें सूर्य वंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है। यह लेख गुप्त कालीन है। एक दूसरा भी लेख है जिसमें लिखा है कि राजा वीर ने सं० १३४२ में कुरार को जीता था।

इस सब कथन पर से जाना जाता है कि इसका देवगढ़ नाम विक्रम की १२वीं शताब्दी के अन्त में या १३वीं के प्रारम्भ में किसी समय हुआ है। यह स्थान अनेक राजाओं के राज्यकाल में अवस्थित रहा है। इस प्रान्तमें पहले सहरियों का राज्य था। पश्चात् गौड़ राजाओं ने अधिकार कर लिया था। गोडों को पराजित कर देवगढ़ पर गुप्तवंशीय राजाओं का अधिकार हो गया, इस वंश के स्कन्दगुप्त आदि कई राजाओं के शिलालेख अब तक देवगढ़ में पाये जाते हैं। इनके बाद कन्नौज के भोजवंशी राजाओं ने इस प्रान्त को विजित किया था। इसके पश्चात् चंदेलवंशी राजाओं का इस पर स्वामित्व रहा। सन् १२९४ ई० में यह विशाल नगर था। उस समय यह बहुत सुन्दर और सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान था। इसी वंश ने दतिया के किले का निर्माण कराया था। ललितपुर के आस-पास इस वंश के अनेक लेख उपलब्ध होते हैं। इस वंश की राजधानी महोबा थी। इनके समय जैनधर्म को पल्लवित होने का अच्छा अवसर मिला था। इस वंश के शासन-समय की अनेक कलाकृतियाँ, मन्दिर और जैन मूर्तियाँ महोबा, अहार, टीकमगढ़, मदनपुर, नावई और जखौरा आदि स्थानों पर पाई जाती हैं।

महाराजा सिन्धिया की ओर से कर्नल बैपटिस्टी फ़िलोज ने सन् १८११ में देवगढ़ पर चढ़ाई की थी। उसने तीन दिन बराबर लड़कर उस पर अधिकार कर लिया। चंदेरी के बदले में महाराज सिन्धिया ने देवगढ़ हिन्द-सरकार को दे दिया था। हो सकता है कि किले की दीवार चंदेल वंशी राजाओं ने बनवाई हो, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उसकी मोटाई १५ फुट की है जो बिना सीमेन्ट के केवल पाषाण से बनी हुई है। नदी की ओर की हद बंदी की दीवाल बनी होगी, तो वह गिर गई होगी, या फिर बनवाई ही नहीं

---

२. चांदेल्लवश कुमुदेन्दु विशालकीर्तिः,
ख्यातो बभूव नृपसंघनतांघ्रिपद्मः।
विद्याधरो नरपतिः कमला निवासो,
जातस्ततो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः ॥
तस्माद्धर्म परः श्रीमान् कीर्तिवर्मनृपोऽभवत्।
यस्य कीर्तिसुधा शुभ्रत्रैलोक्यं सौधतामगात् ॥
अगदं नूतनं विष्णुमाविर्भूतमवाप्य यम्।
नृपाब्धि तस्समाकृष्टा श्रीरस्थैर्यप्रमार्जयत् ॥
राजोडु मध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य,
नूनं युधिष्ठिर सदा "शिव रामचन्द्र.।
एते प्रसन्न गुणरत्ननिधौ निविष्टा,
यत्तद् गुण प्रकर रत्नमये शरीरे ॥
तदीयामात्यमन्त्रीन्द्रोरमणीपुरविनिर्गतः।
वत्सराजेति विख्यातः श्रीमान्महीधरात्मजः ॥
ख्यातो बभूवकिल मन्त्रपदैकमात्रे,
वाचस्पतिस्तदिह मन्त्रगुणैरभास्याम् ॥
योऽयं समस्तमपिमन्डलमाशुशत्रो-
राच्छिद्यकीर्तिगिरिदुर्गमिद व्यधत्त ॥
श्री वत्सराज घट्टोयं नूनं ते नाम्न कारितः।
ब्रह्माण्डमुज्वलं कीर्ति मारोहयतु मात्मनः ॥
सं० ११५४ चैत्रवदि २ बुधौ, (देवगढ़ शिलालेख)

गई; परन्तु ऊँचाई कहीं भी २० फुट से अधिक नहीं है। उत्तरी पश्चिमी कोने से एक दीवार ११ फुट मोटी है, जो ६०० फुट तक पहाड़ी के किनारे चली गई है। संभवतः यह दीवार दूसरे किले की हो, जो अब विनष्ट हो चुका है।

देवगढ का यह स्थान कितना सुरम्य और चित्ताकर्षक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नही। वेत्रवती नदी के किनारे-किनारे दाहिनी तरफ मैदान अत्यन्त ढालू हो गया है। पहाड़ की विकट घाटी मे उक्त सरिता सहसा पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। वहाँ की प्राकृतिक सुषमा और कलात्मक सौन्दर्य दोनो ही अपनी अनुपम छटा प्रदर्शित करते हैं। वहाँ दर्शकों को वैभव की असारता के स्पष्ट दर्शन होते हैं, जो स्पष्ट सूचित कर रहे हैं कि—हे पामर नर ! तू वैभव के अहकार मे इतना क्यो इठला रहा है ? एक समय था जब हम भी गर्व मे इठला रहे थे। उस समय हमे भावी परिवर्तनो का कोई आभास नही था, किन्तु दुर्दैव के कारण हमारी यह अवनत अवस्था हुई है। अतः तू अब भी समझ और सावधान हो।

विन्ध्य पर्वत माला की सघन वनाच्छादित सुरम्य उपस्थली में यह पुण्य क्षेत्र जीवन दायिनी सलिला वेत्रवती से सटी हुई डेढ़-दो मील लम्बी पहाड़ी के ऊपर एक चौकोर लम्बे मैदान के भाग मे फैला हुआ पग-पग पर अनुपम सास्कृतिक जीवन-कला की विभूतियों के मनमोहक दृश्य उपस्थित करता है। जिसमे तल्लीन होकर एक बार दर्शक हर्ष विषाद, सुख-दुःख, मोह-मत्सर, और काम आदि के सस्कार रूपी बन्धनों से मुक्त होकर प्रकृति की गोद मे विलीन सा हो जाता है, और अपने सारे अहंकारमय ऐहिक अस्तित्व को भूलकर अपने आपको न्यूनतम से न्यूनतम रजकण से भी तुच्छ पाता है। प्रशान्त मूर्तियाँ, वेदिका, स्तम्भ, तोरण, दीवारे और अन्य कलात्मक अलकरण, जो यशस्वी शिल्पियों द्वारा चमत्कारपूर्ण सामग्री निर्मित की गई है वह अपनी मूक प्रेरणा द्वारा भिन्न-भिन्न विचार-मुद्राओं में आध्यात्मिक जीवन की झांकी का सन्देश प्रस्तुत करती है। कहीं चमत्कारिक मूर्ति-निर्माणकला के छिटकते हुए सौन्दर्य से देदीप्यमान प्रतीकों, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशालकाय मूर्तियों और अगणित अर्हन्तों की विचार प्रेरक मुद्राओं वाले प्रतिबिम्ब उस वनस्थली की स्तब्ध शान्ति के मूक स्वर मे आनन्द-विभोर दिखाई देते हैं और कहीं चक्रेश्वरी, पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती आदि जिन शासनरक्षिका देवियो की मुद्राएँ, अद्भुत भावप्रेरक अनेक देवियो के अलकृत अवयव अपनी भाव-भंगियो से मानो सुषमा ही उड़ेल रहे हैं।

गुप्तकालीन मन्दिर

किले के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर वराह का प्राचीन मन्दिर खडितावस्था में मौजूद है। उसके निर्माण के सम्बन्ध मे निश्चित कुछ भी नही कहा जा सकता। नीचे के मैदान में गुप्तकालीन विष्णु मन्दिर बना हुआ है, यह पूर्णरूप से सुरक्षित है। भारतीय कलाविद् इसके कारण ही देवगढ से परिचित है। यह मन्दिर गुप्तकाल के बाद किसी समय बना है। कहा जाता है कि गुप्तकाल में मन्दिरो के शिखर नही बनाये जाते थे, परन्तु इसमे शिखर होने के चिह्न मौजूद हैं। मालूम होता है कि इसका शिखर खण्डित हो गया है। यह मदिर जिन पाषाण खण्डो से बना है, वे अत्यन्त कलापूर्ण और सुन्दर हैं१। इस मन्दिर की कला के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् स्मिथ साहब कहते हैं कि देवगढ़ में गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है वह देवगढ़ के पत्थर का बना हुआ एक छोटा-सा मदिर है, यह ईसा की छठी अथवा पाचवी शताब्दी का बना हुआ है। इस मन्दिर की दीवारों पर जो प्रस्तर फलक लगे हैं उनमे भारतीय मूर्तिकला के कुछ बहुत ही बढ़िया नमूने अंकित हैं२।

१, देखो, भारतीय पुरातत्त्व की रिपोट दयाराम साहनी

2. The most important and interesting store temple of Gupta age is one of moderate dimensions at Deogarh. Which may be assigned to the first half of Sixth or Perhaps to the fifth century. The Panels of the walls contain some of the finest Specimens of Indian Sculpture.

इस मन्दिर की खुदाई के समय जो मूर्तियाँ मिली उनमे से एक में पंचवटी का वह दृश्य अंकित है जहाँ लक्ष्मण ने रावण की बहन सूर्पनखा की नाक काटी थी। अन्य एक पाषाण मे राम और सुग्रीव के परस्पर मिलन का अपूर्व दृश्य अंकित है। एक अन्य पत्थर मे राम लक्ष्मण का शबरी के आश्रम में जाने का दृश्य दिखाया गया है। इसी तरह के अन्य दृश्य भी रहे होगे। रामायण की कथा के यह दृश्य अन्यत्र मेरे अवलोकन मे नही आये, यही पर नारायण की मूर्ति है और एक पत्थर में गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य भी उत्कीर्णित है। दक्षिण की ओर दीवार मे शेषशायी विष्णु की मूर्ति है, जो बड़े आकार के लाल पत्थर मे खोदी गई है। इससे यह मन्दिर भी अपना विशेष महत्व रखता है।

जैन मन्दिर और मूर्तिकला

देवगढ मे इस समय ३१ जैन मन्दिर हैं जिनकी स्थापत्यकला मध्य भारत की अपूर्व देन है। इसमे से नं० ४ के मन्दिर मे तीर्थंकर की माता सोती हुई स्वप्नावस्था में विचारमग्न-मुद्रायुक्त दिखलाई गई है। नं० ५ का मन्दिर सहस्रकूट चैत्यालय है जिसकी कलापूर्ण मूर्तियाँ अपूर्व दृश्य दिखलाती हैं। इस मन्दिर के चारो ओर १००८ प्रतिमाएँ खुदी है। बाहर सं० ११२० का लेख भी उत्कीर्णित है। जो सम्भवत: इस मन्दिर के निर्माण काल का ही द्योतक है। नं० ११ के मन्दिर मे दो शिलाओं पर चौबीस तीर्थंकरों की बारह-बारह प्रतिमाएँ अंकित है। ये सभी मूर्तियाँ प्रशान्त मुद्रा को लिए हुए हैं।

इन सब मन्दिरों में सबसे विशाल मन्दिर नं० १२ है, जो शान्तिनाथ मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके चारों ओर अनेक कलाकृतियाँ और चित्र अंकित हैं। इनमे शान्तिनाथ भगवान की १२ फुट उत्तुग प्रतिमा विराजमान है, जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है और चारों कोनो पर अम्बिकादेवी की चार मूर्तियाँ है, जो मूर्तिकला के गुणों से समन्वित हैं। इस मन्दिर की बाहरी दीवार पर जो २४ यक्ष यक्षिणियों की सुन्दर कला कृतियाँ बनी हुई है। जिनकी आकृतियों से भव्यता टपकती है। साथ ही १८ लिपियों वाला लेख भी वरामदे मे उत्कीर्णित है, जो भाषा साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन सब कारणों से यह मन्दिर अपनी सानी नही रखता।

देवगढ़ के जैन मन्दिरों का निर्माण, उत्तर भारत में विकसित आर्य नागर शैली मे हुआ है। यह दक्षिण की द्रविड़ शैली से अत्यन्त भिन्न है, नागर शैली का विकास गुप्तकाल में हुआ है। देवगढ़ मे तो उक्त शैली का विकास पाया ही जाता है किन्तु खजुराहो आदि के जैन मन्दिरों में भी इसी कला का विकास देखा जाता है। यह कला पूर्णरूप से भारतीय है और प्राग्मुस्लिम कालीन है, इतना ही नहीं किन्तु समस्त मध्यप्रान्त की कला इसी नागर शैली से ओत-प्रोत है। इस कला को गुप्त, गुर्जर, प्रतिहार और चन्देलवशी राजाओं के राज्यकाल में पल्लवित और विकसित होने का अवसर मिला है।

देवगढ़ की मूर्तियों में दो प्रकार की कला देखी जाती है, प्रथम प्रकार की कला में कलाकृतियाँ अपने परिकरों से अंकित देखी जाती हैं। जैसे चमरधारी यक्ष-यक्षणियां, सम्पूर्ण प्रस्तराकार कृति में नीचे तीर्थंकर का विस्तृत आसन और दोनो पार्श्वों में यक्षादि अभिषेक-कलश लिए हुए दिखलाये गये है, किन्तु दूसरे प्रकार की कला मुख्य मूर्ति पर ही अंकित है, उसमे अन्य अलंकरण और कलाकृतियाँ गौण हो गई हैं। मालूम होता है इस युग में साम्प्रदायिक विद्वेष नही था। और न धर्मान्धता ही थी, इसी से इस युग मे भारतीय कला का विकास जैनों, वैष्णवों और शैवों मे निर्विरोध हुआ है। प्रस्तुत देवगढ़ जैन और हिन्दू संस्कृति का सन्धिस्थल रहा है। तीर्थंकर मूर्तियाँ, सरस्वती की मूर्ति, पंचपरमेष्ठी की मूर्तियाँ, कलापूर्ण मानस्तम्भ, अनेक शिलालेख और पौराणिक दृश्य अंकित हैं, साथ ही वराह का मन्दिर, गुफा में शिवलिंग, सूर्य भगवान् की मुद्रा, गणेशमूर्ति, भारत के पौराणिक दृश्य, गजेन्द्रमोक्ष आदि कलात्मक सामग्री देवगढ़ की महत्ता की द्योतक है।

भारतीय पुरातत्व विभाग को देवगढ़ से २०० शिलालेख मिले हैं, जो जैन मन्दिरों, मूर्तियों और गुफाओं आदि में अंकित हैं। इनमें साठ शिलालेख ऐसे है जिनमे समय का उल्लेख दिया हुआ है। ये शिलालेख स० ६०९ से १८७६ तक के उपलब्ध हैं। इनमे सं० ६०९ सन्

५५२ का लेख नाहर घाटी से प्राप्त हुआ था, इसमें सूर्य वंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख हैं। सं० ६१६ का शिलालेख जैन संस्कृति की दृष्टि से प्राचीन है। इस लेख में भोजदेव के समय पंच महाशब्द प्राप्त महा सामन्त विष्णुराम के शासन में इस लुअच्छगिरि के शान्तिनाथ मन्दिर के निकट गोष्ठिक वजुआ द्वारा निर्मित मानस्तम्भ आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव द्वारा वि० सं० ६१६ आश्विन १४ बृहस्पतिवार के दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में प्रतिष्ठित किया गया था, इसी तरह अन्य छोटे-छोटे लेख भी जैन संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस तरह देवगढ़ मध्यप्रदेश की अपूर्व देन है।

अहार क्षेत्र

बुन्देलखण्ड में खजुराहो की तरह अहार क्षेत्र भी एक ऐतिहासिक स्थान है। देवगढ की तरह यहाँ प्राचीन मूर्तिया और लेख पाये जाते हैं। उपलब्ध मूर्तियों के शिलालेखों से जान पडता है कि विक्रम की ११वीं से १३वीं शताब्दी तक के लेखों में अहार की प्राचीन बस्ती का नाम 'मदनेशसागरपुर' था[1] और उसके शासक श्री मदनवर्मा थे, जो चदेलवश के यशस्वी नक्षत्र थे। इस नगर के पास जो विशाल सरोवर बना हुआ है वह वर्तमान में 'मदनसागर' नाम से प्रसिद्ध है। इसके किनारे अनेक प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न हुए हैं। मदनवर्मा का शासन वि० की ११वीं शताब्दी में विद्यमान था, उसके बाद ही किसी समय इसका नाम 'अहार' प्रसिद्ध हुआ होगा।

यहाँ के उपलब्ध मूर्तिलेखों में खण्डेलवाल, जैसवाल, मेडवाल, लमेचू, पौरपाट (परवार) गृहपति, गोलापूर्व, गोलाराड, अवधपुरिया और गर्गराट् आदि अनेक उपजातियों के उल्लेख मिलते हैं, जो उनकी धार्मिक रुचि के द्योतक हैं। उनसे यह भी स्पष्ट जाना जाता है कि उस काल में यह खूब सम्पन्न रहा होगा, क्योंकि वहाँ विविध उपजातियों के जैन जन रहते थे और गृहस्थोचित षट्कर्मों का पालन करते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि यह स्थान ७०० वर्षों तक जैन संस्कृति के आचार-विचारों से परिपूर्ण रहा है; क्योंकि यहाँ वि० सं० ११२३ और ११६६ से लेकर वि० स० १६६८ तक की प्राचीन मूर्तियाँ और लेख उपलब्ध होते हैं। ये सब लेख ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं और अतीत के गौरव की अपूर्व झांकी प्रस्तुत करते हैं। यदि यहाँ खुदाई कराई जाय तो संभवतः और भी पुरातन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हो सकते हैं। इन लेखो में सबसे अधिक लेख जैसवालों और गोलापूर्वों के पाये जाते हैं, उनसे उन जातियों के धर्म-प्रेम की झलक मिलती है।

सं० १२१३ के एक लेख मे भट्टारक मणिक्यदेव तथा गुण्यदेवका नाम उत्कीर्ण हुआ है। और सं० १२१६ के लेख मे श्रीसागरसेन सैद्धान्तिक, आर्यिका जयश्री और चेली रतनश्री का उल्लेख है। स० १२१६ के एक दूसरे लेख मे कुटकान्वयी पडित लक्ष्मणदेव शिष्य आर्यदेव आर्यिका लक्ष्मश्री चेली चारित्र श्री और भ्राता लिम्बदेव का नाम अकित है। सं० १२१६ के एक तीसरे लेखमें कुटकान्वय के पडित मगलदेव और उनके शिष्य भ० पदमदेव का नामाकन है। सं० १५४८ के लेख में भट्टारक 'जिनचन्द्र' और शाह जीवराज पापडीवाल का नामोल्लेख है। सं० १५७२ के एक लेख में भ० गुणकीर्ति के पट्टधर मलयकीर्ति के द्वारा प्रतिष्ठा कराने का भी उल्लेख पाया जाता है[1]। इसी तरह अन्य अनेक लेखों में जो विद्वानो, भट्टारको या श्रावक श्राविकाओं के नामों का अकन मिलता है, वह इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अहार क्षेत्र मे भगवान शातिनाथ की प्रतिष्ठा कराने वाला गृहपति वंश जैन धर्म का अनुयायी था जैन धर्म की परम्परा उसके वंश में पहले से चली आ रही थी, क्योंकि इस वंश के देवपाल ने 'बाणपुर' के सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया था। ऐसा शान्तिनाथ की मूर्ति के संवत् १२३७ के लेख के प्रथम पद्य से प्रकट है[2]। बाणपुर का उक्त जिनालय कब बना यह निश्चित नहीं है किन्तु सं०

१. सं० १२०८ और १२३७ के लेखों में मदनेश सागर पुर का नामांकन हुआ है, देखो, अनेकान्त वर्ष ६, कि० १० पृ० ३८५-६।

१. देखो, अनेकान्त वर्ष, ६ कि० १० तथा वर्ष १० किरण १, २, ३ आदि में प्रकाशित अहार के लेख।

२. ग्रहपतिवंश सरोरुह-सहस्ररश्मि सहस्रकूटं यः।
बाणपुरे व्यधितासीत् श्रीमानिहि देवपाल कृति॥
शान्तिनाथ मूर्तिलेख, अहार

१२३७ के लेख में उल्लेख है उससे पहले बना है। लेख में प्रयुक्त देवपाल, रत्नपाल, रल्हण, गल्हण, जाहण और उदयचन्द का नाम आता है। गल्हण ने शान्तिनाथ का चैत्यालय बनवाया था और दूसरा चैत्यालय मदनसागरपुर मे निर्माण कराया था और इनके पुत्र जाहड और उदयचन्द ने इस मूर्ति का निर्माण कराया है। इससे इस कुटुम्ब की धार्मिक परिणति का कितना ही आभास मिलता है और यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस कुटुम्ब मे मन्दिर-निर्माण आदि का कार्य परम्परागत था।

प्रस्तुत मदनसागरपुर का नाम अहार क्यों और कैसे पड़ा, यह विचारणीय है। अहार के उक्त मूर्ति-लेखों मे पाणासाह का कोई उल्लेख नहीं है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मन्दिरादि का निर्माण उनके द्वारा हुआ है और मुनि को आहार देने से इसका नाम 'अहार' हुआ है।

इस सम्बन्ध मे ऐतिहासिक प्रमाणों का अन्वेषण करना जरूरी है। जिससे तथ्य प्रकाश मे आ सकें। इस तरह मदनेश सागरपुर और अहार जैन संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। बानपुर अहार क्षेत्र से ३-४ मील की दूरी पर अवस्थित है। यह भी एक प्राचीन स्थान है। जतारा ग्राम भी १२-१३वीं सदी के गौरव से उद्दीपित है, वहाँ भी जैनधर्म की विशेष प्रतिष्ठा रही है।

मदनपुर नगर भी उक्त चन्देलवंशी राजा मदन वर्मा ने सन् १०५५ (वि० स० ११११२) में बसाया था। मदन वर्मा महोबा या जेजाकभुक्ति का शासक था। इस नगर मे छह मन्दिर हैं। जिनमे तीन वैष्णव और तीन ही जैन मन्दिर हैं। दो वैष्णव मन्दिर मदनपुर झील के उत्तर-पश्चिम में है और छठा मन्दिर उक्त झील के उत्तर-पूर्वी किनारे से कुछ फासले पर बना हुआ है। सबसे बड़ा जैन मन्दिर, जो ३० फुट ८ इंच लम्बा और १४ फुट २ इंच चौड़ा है। सन् १०५५ (वि० सं० ११११२) का बना हुआ है। यह मन्दिर शान्तिनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर में ८॥ फीट की एक विशाल खड्गासन अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है, जिसकी चमकदार पालिश आज भी प्राचीनता का जयघोष कर रही है। मन्दिर के गर्भालय के प्रवेश द्वार के ऊपर मध्य में एक तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है और उसके दोनों ओर दाएँ बाएँ दो मूर्तियाँ और प्रतिष्ठित हैं। जिनमें बाईं ओर की मूर्ति स० १२१३ की और दाईं ओर की १७वीं सदी की जान पड़ती है। मूलनायक प्रतिमा इससे प्राचीन रही होगी और उस पर लेख भी होगा किन्तु उसके आगे एक पाषाणखण्ड लगा देने से वह लेख उसे उठवाए बिना नहीं पढ़ा जा सकता।

दूसरा मन्दिर भी नागर-शैली का बना हुआ है। नागवंश का राज्य उत्तर भारत में गंगा और यमुना के मध्य में रहा है। नागों द्वारा निर्मापित शैली नागरशैली कहलाती है। इस मन्दिर की चौखट बड़ी सुन्दर तोरण-द्वारों से अलंकृत है। चौखट के ऊपर तोरण पर तीन तीर्थंकर पद्मासन मूर्तियाँ विराजमान हैं। इस तोरण के फलक के ऊपर नवग्रह की मूर्तियों के मध्य में अम्बिका और अन्य शासनदेवियाँ अंकित हैं। यह सब अंकन शिल्पी की चतुराई का अद्भुत नमूना है। इस मन्दिर में आदि-नाथ, चन्द्रप्रभ और सम्भवनाथ की मूर्तियाँ हैं: इसमें ८ पंक्तियों का एक लेख भी है, जिसमें स० १२०६ वैशाख सुदी १० भौमे स्वस्ति श्रीमदन वर्मा आदि लेख उत्कीर्णित है। इसके गर्भगृह में कुन्थनाथ, शान्तिनाथ और अरहनाथ की तीन खड्गासन मूर्तियाँ विराजमान हैं। शान्तिनाथ की मूर्ति ६ फुट और बगल वाली दोनों मूर्तियाँ ७ फुट की ऊँचाई को लिए हुए हैं। इनके पादमूल मे प्रतिष्ठापक गृहस्थो का श्रद्धावनत अंकन है। सभामण्डप में पुष्पमाल सहित विद्याधर और कलशाभिषेक करते हुए गजों का सुन्दर चित्रण है। तीसरा मन्दिर १७वीं शताब्दी का है।

जैन मन्दिरोंकी विशेषता है कि इसके बारहदरी के दो खम्भों पर एक लेख सं० १२३६ का उत्कीर्णित है१, जिसमे चौहानवंशी अर्णोराज के पौत्र और सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज द्वारा जेजाकभुक्ति नरेश परमार्दी को पराजित करने का उल्लेख किया गया हैं।

---

१. श्री चाहूमान वंशे
२. न पृथ्वीराज बभूव
३. भुज परमार्दी नरेन्द्र
४. स्या देशोय मुदवपयते

× × ×

ग्वालियर का इतिहास

जैनसाहित्य में वर्तमान ग्वालियर का उल्लेख गोपायलु, गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल, गोयलगढ़ आदि नामों से किया गया है, ग्वालियर की इस प्रसिद्धि का कारण जहाँ उसका पुरातन दुर्ग (किला) है। वहाँ भारतीय (हिन्दू, बौद्ध, और जैनियों के पुरातत्त्व की प्राचीन एव विपुल सामग्री की उपलब्धि भी है। भारतीय इतिहास मे ग्वालियर का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। वहाँ पर प्राचीन अवशेषों की कमी नही है। उसके प्रसिद्ध सूबों और किलों में इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। ग्वालियर का यह किला पहाड़ की एक चट्टान पर स्थित है, यह पहाड़ डेढ़ मील लम्बा और ३०० गज चौड़ा है। इसके ऊपर बलुआ-पत्थर की चट्टाने हैं। उनकी नुकीली चोटियाँ निकली हुई हैं, जिनसे किले की प्राकृतिक दीवार बन गई है। कहा जाता है कि इसे सूरज सेन नाम के राजा ने बनवाया था। वहाँ 'ग्वालिय' नामका एक साधु रहता था, जिसने राजा सूरसेन के कुष्ट रोग को दूर किया था। अतः उसकी स्मृति मे ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ हैं, पर इसमे कोई सन्देह नही कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व वि० की छठी शताब्दी मे था; क्योंकि ग्वालियर की पहाडी पर स्थित 'मात्रचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख में उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है। दूसरे किले मे स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० स० ६३२-३३ के दो शिलावाक्यों में भी उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है। हाँ, शिलालेखों से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिर भोजने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नौज मे शामिल कर लिया था। और उसे वि० की ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे कच्छपघाट या कछवाहा वश के वज्रदामन् नाम के राजा ने, जिसका राज्यशासन १००७–१०३७ तक रहा है ग्वालियर को जीत कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था। और जो जैन धर्म का श्रद्धालु था, उसने स० १०३४ में एक जैनमूर्ति की प्रतिष्ठा भी करवाई थी। उस मूर्ति की पीठ पर जो लेख १ अंकित है उससे उसकी जैनधर्ममे आस्थाका होना प्रमाणित है। इस वंश के अन्य राजाओं ने जैनधर्म के सरक्षण, प्रचार एवं प्रसार करनेमें क्या कुछ सहयोग दिया, यह बात अवश्य विचारणीय है और अन्वेषणीय है। इस वंश के मगलराज, कीर्तिराज, भुवनपाल, देवपाल पद्मपाल, सूर्यपाल, महीपाल, भुवनपाल, और मधुसूदनादि अन्य राजाओ ने ग्वालियर पर लगभग दो-सौ वर्ष तक अपना शासन किया है; किन्तु बाद मे पुनः प्रतिहारवंश की द्वितीय शाखा के राजाओ का उस पर अधिकार हो गया था। परन्तु वि० सं० १२४६ मे दिल्ली के शासक अल्तमश ने ग्वालियर पर घेरा डाल कर दुर्ग का विनाश किया। उस समय राजपूतों ने अपने शौर्य का परिचय दिया, परन्तु मुट्ठी भर राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते? आखिर राजपूतों ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध में मरजाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियों ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया। वे अग्नि की विशाल ज्वाला मे भस्म हो गई और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए, किले पर अल्तमश का अधिकार हो गया।

सन् १३६८ (वि० स० १४५५) मे तैमूरलग ने भारत पर जब आक्रमण किया। तब अवसर पाकर तोमर वशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वंश के आधीन सन् १५३६ (वि० सं० १५६३) तक रहा।

तोमर नामक क्षत्रिय वंश के अनेक राजाओं ने (सन् १३६८ से १५३६ तक) ग्वालियर पर शासन किया है, उनके नाम वीरसिंह, उद्धरणदेव, विक्रमदेव (वीरमदेव) गणपतिदेव, डूगरसिंह, कीर्तिसिंह, कल्याणमल, मानसिंह,

१. श्रो अरुणो राजास्य पौत्रेण श्री
२. सामेश्वर सूनुना जेजा–
३. भुक्ति वेशोयं पृथ्वीराजेन
४. लुनीय सं० १२३६, देखो कनिंघम रिपोर्ट १०, पृ. ६८

१. स १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइसाख वदि पाचमि। देखो, जनरल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल पृ० ४१०-५११

विक्रमशाह, रामसाह, शालिवाहन और इनके दो पुत्र (श्यामसाह और मित्रसेन१) हैं। लगभग दो सौ वर्ष के इस राज्यकाल में जैनधर्म को फलने, फूलने का अच्छा अवसर मिला है। इन सभी राजाओं की सहानुभूति जैन-धर्म, जैन साधुओं और जैनाचार पर रही है। राजा डूंगर-सिंह और कीर्तिसिंह की आस्था जैनधर्म पर पूर्ण रूप से रही है। तत्कालीन विद्वान् भट्टारको का प्रभाव इन पर अंकित रहा है। यद्यपि तोमरवंशके पूर्व भी, कछवाहा और प्रतिहार वंश के राजाओं के राज्यकाल मे भी ग्वालियर और पार्श्ववर्ती इलाको मे जैनधर्म का सूर्य चमक रहा था; परन्तु तोमर वंश के समय जैनधर्म की विशेष अभि-वृद्धि हुई। राजा विक्रमसिंह या वीरमदेव के समय जैस-वाल वंशी सेठ कुशराज उनके मंत्री थे, जो जैनधर्म के अनुयायी और श्रावक के व्रतो का अनुष्ठान करते थे। इनकी प्रेरणा और भट्टारक गुणकीर्ति के आदेश से पद्म-नाभ कायस्थने, जो जैनधर्म पर श्रद्धा रखता था, 'यशो-धरचरित' की रचना की थी२।

ग्वालियर और उसके आस-पास के जैन पुरातत्व और विद्वान् भट्टारको तथा कवियों की ग्रंथ रचनाओ का अवलोकन करने से स्पष्ट पता चलता है कि वहा जैनधर्म उक्त समय मे खूब पल्लवित रहा। ग्वालियर उस समय उसका केन्द्र स्थल बना हुआ था। वहाँ ३६ जातियो का निवास था, पर परस्पर मे कोई विरोध नही था। जैन जनता अपनी धार्मिक परिणति, उदारता, कर्तव्यपरा-यणता, देवगुरु-शास्त्र की भक्ति और दानधर्मादि कार्यों मे सोत्साह भाग लेती थी। उसी का प्रभाव था कि जैनधर्म और उसकी अनुयायी जनता पर सबका वात्सल्य बना हुआ था। उस समय अनेक जैन राजकीय उच्चपदों पर सेवा कार्य करते थे। जो राज्य के संरक्षण पर सदा दृष्टि रखते थे। वर्तमान में भी जैनियों की वहां अच्छी संख्या है।

खासकर राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह के शासन-काल में (वि० सं० १४८१ से स० १५३६ तक) ५५ वर्ष पर्यन्त किले में जैन मूर्तियों की खुदाई का कार्य चला है। पिता और पुत्र दोनों ने ही बड़ी आस्था से उसमें सहयोग दिया था। अनेक प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न किये थे। दोनों के राज्यकाल में प्रतिष्ठित मूर्तियां ग्वालियर मे अत्यधिक पाई जाती हैं। जिनमें सं० १४९७ से १५२५ तक के लेख भी अंकित मिलते है। ग्रंथ रचना भी उस समय अधिक हुई है। देवभक्ति के साथ श्रुतभक्ति का पर्याप्त प्रचार रहा है। वहाँ के एक सेठ पद्मसिंह ने जहां अनेक जिनालयों, मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न कराया था। उसने ही जिन भक्तिसे प्रेरित होकर एक लक्ष ग्रंथ लिखवाकर तत्कालीन जैन साधुओ और जैन मन्दिरों के शास्त्र भंडारों को प्रदान किये थे। ऐसा आदि पुराण-की सं० १५२१ की एक लिपि प्रशस्ति से जाना जाता है। इन सब कार्यो से उस समय की धार्मिक जनता के आचार-विचारों का और सामाजिक प्रवृत्तियों का सहज ही परिज्ञान हो जाता है। उस समय के कवि रइधू ने अपने पार्श्वपुराण की आद्यन्त प्रशस्ति मे उस समय के जैनियो की सामाजिक और धार्मिक परिणति का सुन्दर चित्रण किया है।

सन १५३६ के बाद दुर्ग पर इब्राहीम लोदी का अधिकार हो गया। मुसलमानो ने अपने शासनकाल में उक्त किले को कैदखाना ही बनाकर रक्खा। पश्चात् दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया। जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया, तब उसने उरवाही द्वार के दोनों ओर चट्टानों पर उत्कीर्ण की हुई उन नग्न दिगम्बर जैन मूर्तियों के विनाश करने की आज्ञा दे दी१। यह उसका कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं।

---

१. यह मित्रसेन शाह जलालुद्दीन के समकालीन थे। इनका वि० स० १६८८ का एक शिलालेख बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जनरल भाग ८ पृ० ६९५ में रोहतास दुर्ग के कोथेटिय फाटक के ऊपर की परिया पर तोमर मित्रसेन का शिलालेख, जिसे कृष्णदेव के पुत्र शिवदेव ने सकलित किया था।

२. देखो, 'यशोधरचरित और पद्मनाभकायस्थ' नामक लेख, अनेकान्त वर्ष १० कि० ४, ५

१. देखो, बाबर का आत्मचरित।

सन् १८११ में दुर्ग पर मराठों का अधिकार हो गया। तब से उन्ही का शासन रहा और अब स्वतन्त्र भारत में मध्यप्रदेश का शासन चल रहा है।

जैन मन्दिर और मूर्तियां

किले में कई जगह जैन मूर्तियां खुदी हुई हैं। किला कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, इस किले मे से शहर के लिये एक सड़क जाती है। इस सड़क के किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानो पर उत्कीर्ण की हुई कुछ जैन मूर्तियाँ अकित हैं। ये सब मूर्तियाँ पाषाणों को कर्कश चट्टानो को खोदकर बनाई गई हैं। किले में हाथी दरवाजा और सास-बहू के मन्दिरों के मध्य मे एक जैन मन्दिर है जिसे मुगल शासनकाल मे एक मस्जिद के रूप मे बदल दिया गया था। खुदाई करने पर नीचे एक कमरा मिला है जिसमे कई नग्न जैन मूर्तियाँ हैं और एक लेख भी सन् ११०८ (वि० सं० ११६५) का है, ये मूर्तियाँ कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनो प्रकार की है। उत्तर की वेदी मे सात फणसहित 'भगवान श्री पार्श्वनाथ की सुन्दर पद्मासन मूर्ति है। दक्षिण की भीत पर भी पाच वेदिया हैं जिनमे से दो के स्थान रिक्त हैं। जान पड़ता है कि उनकी मूर्तियां विनष्ट कर दी गई है। उत्तर की वेदी मे दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तियां अभी भी मौजूद है, और मध्य मे ६ फुट ८ इच लम्बा आसन एक जैन मूर्ति का है। दक्षिणी वेदी पर भी दो पद्मासन नग्न मूर्तियाँ विराजमान है।

दुर्ग के उरवाही द्वार की मूर्तियो में भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है, उसके पैरो की लम्बाई नौ फुट है और इस तरह पैरों से तीन चार गुनी ऊँची है। मूर्ति की कुल ऊँचाई ५७ फीट से कम नही है। श्वेताम्बरीय विद्वान् मुनि शीलविजय और सौभाग्य विजय ने अपनी अपनी तीर्थमाला मे इस मूर्ति का प्रमाण बावनगज बतलाया है[१]। जो किसी तरह भी सम्भव नहीं हैं। और बाबर ने आत्मचरित मे इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊँचा बतलाया है, वह भी ठीक नही है। कुछ खण्डित मूर्तियों की बाद में सरकार की ओर से मरम्मत करा दी गई, है फिर भी उनमें अधिकांश मूर्तियाँ अखण्डित मौजूद हैं।

बाबा बावड़ी और जैन मूर्तियां

ग्वालियर से लश्कर जाते समय बीच में एक मील के फासले पर 'बाबा बावडी' के नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है। सडक से करीब डेढ़ फर्लाङ्ग चलने और कुछ ऊँचाई चढने पर किले के नीचे पहाड़ की विशाल चट्टानो को काटकर बहुत-सी पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई है। ये मूर्तियाँ स्थापत्यकला की दृष्टि से अनमोल हैं। इतनी बड़ी पद्मासन मूर्तियाँ मेरे देखने मे अन्यत्र नहीं आई। बावड़ी के बगल में दाहिनी ओर एक विशाल खड्गासन मूर्ति है। उसके नीचे एक विशाल शिलालेख भी लगा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वि० सं० १५२५ मे तोमरवशीय राजा डूगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल मे हुई है। खेद है कि इन सभी मूर्तियो के मुख प्रायः खण्डित है। यह मुस्लिम युग के धार्मिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ता है। इन मूर्तियो की केवल मुखाकृति को ही नहीं बिगाड़ा गया किन्तु किसी किसी मूर्ति के हाथ-पैर भी खण्डित कर दिए गये है। इतना ही नहीं किन्तु विद्वेषियों ने कितनी ही मूर्तियो को गारा-मिट्टी से भी चिनवा दिया था और सामने की विशाल मूर्ति को गारा-मिट्टी से छाप कर उसे एक कब्र का रूप भी दे दिया था, परन्तु सितम्बर सन् १९४७ के दगे के समय उनसे उक्त स्थान की प्राप्ति हुई।

संग्रहालय

ग्वालियर के किले मे एक अच्छा संग्रहालय है जिसमें हिन्दू, जैन और बौद्धो के प्राचीन अवशेषो, मूर्तियों, शिलालेखों और सिक्कों आदि का संग्रह किया गया है। इससे जैनियों की गुप्तकालीन खड्गासन मूर्ति भी रक्खी हुई है, जो कलात्मक है और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है, इसी में स० १३१९ का भीमपुर का महत्वपूर्ण शिलालेख भी है।

ग्वालियर के आस-पास उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

दूबकुण्ड के शिलालेख—दूबकुण्ड का दूसरा नाम

---

१. बावन गज प्रतिमा दीसती, गढ़ ग्वालेरि सदा सोभती।३।
शीलविजयतीर्थमाला पृ० १११
गढ़ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा बदू ऋषभरंगरोलीजी॥
सौभाग्यविजय तीर्थमाला १४२, पृ० ९८

'चडोभ' है। यह स्थान किसी समय जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ कच्छपघाट (कछवाहा) वंश के शासकों के समय में भी जैन मन्दिर मौजूद थे और नूतन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था। साथ ही शिलालेख में उल्लिखित लाड-बागडगण के देवसेन कुलभूषण, दुर्लभसेन, अम्बरसेन और शान्तिषेण इन पांच दिगम्बर जैनाचार्यों का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एवं शान्तिषेण के शिष्य विजयकीर्ति के पूर्ववर्ती हैं। यदि इन पांचों आचार्यों का समय १२५ वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नही है, तो उसे ११४५ में से घटाने पर देवसेन का समय १०२० के लगभग आ जाता है। ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे और लाड बागडगण के उन्नत रोहणादि थे विशुद्ध रत्नत्रय के धारक थे और समस्त आचार्य इनकी आज्ञा को नतमस्तक हो हृदय मे धारण करते थे१। उक्त दूबकुण्ड में एक जैन स्तूप पर सं० ११५२ का एक और शिलालेख अंकित है जिसमे स० ११५२ की वैशाख सुदी ५ को काष्ठासंघ के महान् आचार्य देवसेन की पादुका-युगल उत्कीर्ण है२। यह शिलालेख तीन पंक्तियो मे विभक्त है। इसी स्तूप के नीचे एक भग्नमूर्ति उत्कीर्ण है जिस पर 'श्रीदेव' लिखा है, जो अधूरा नाम मालूम होता है पूरा नाम श्रीदेवसेन रहा होगा, दूसरी पंक्ति से वह पूरा नाम देवसेन हो जाता है। ग्वालियर मे भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है और उसमे देवसेन, विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि अनेक भट्टारक हुए है। इनमे देवसेन, यशःकीर्ति, गुणभद्र ने अपभ्रंश भाषा मे अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

दूबकुण्डका यह शिलालेख ३ बड़े महत्व का है। कच्छपघात (कछवाहा) वंशके राजा विजयपालके पुत्र विक्रमसिंह के राज्य में यह लेख लिखा गया है। डा० कीलहार्नके मतानुसार यह विजयपाल वही हैं जिनका वर्णन बयाना के वि० सं० ११०० के शिलालेखमें किया गया है। बयाना दूबकुण्ड से ८० मील उत्तर में है। इस लेख में जैन व्यापारी ऋषि और दाहड़ की वंशावली दी है। जायस वंश में सूर्य के समान प्रसिद्ध धनिक सेठ जासूक था, जो सम्यग्दृष्टि था, जिनेन्द्र पूजक था। चार प्रकार के पात्रों को श्रद्धापूर्वक दान देता था। उसका पुत्र जयदेव था, वह भी जिनेन्द्र भक्त और निर्मल चरित्र का धारक था। उसकी यशोमती नामक पत्नी से ऋषि और दाहड़ दो पुत्र हुए थे। ये दोनों ही धनोपार्जन में कुशल थे। इनमें ज्येष्ठ पुत्र ऋषि को राजा विक्रम ने श्रेष्ठी पद प्रदान किया था, और दाहड़ ने उच्च शिखर वाला यह सुन्दर मन्दिर बनवाया था। जिसमें कूकेक, सूर्यट, देवधर और महीचंद्र आदि विवेकी चतुर श्रावकों ने सहयोग दिया था। और राजा विक्रमसिंह ने जिनमन्दिर के सरक्षण पूजन और जीर्णोद्धार के लिए दान दिया था४। यह लेख जैसवाल जाति के लिए महत्वपूर्ण है।

ग्वालियर स्टेट के ऐसे बहुत से स्थान हैं जिसमें जैनियों और बौद्धो तथा हिन्दुओं की पुरातन सामग्री पाई जाती है। भेलसा (विदिशा) बेसनगर, उदयगिरि, बडोह बरो (बडनगर) मन्दसौर, नरवर, ग्यारसपुर सुहानियाँ, गूडर, भीमपुर, पद्मावती, जोरा, चदेरी, मुरार, उज्जैन, और शिवपुरी आदि अनेक स्थान हैं। इनमें से यहाँ उदयगिरि नरवर और सुहानियाँ के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

उदयगिरि

भेलसा जिले मे उदयगिरि नाम का एक प्राचीन स्थान है। भेलसा से ४ मील दूर पहाड़ी में कटे हुए मन्दिर हैं। पहाडी में पौन मील के करीब लम्बी और ३०० फुट की ऊंचाई को लिए हुए है। यहाँ गुफाएँ हैं, जिनमे प्रथम और २०वें नम्बर की गुफा जैनियो की है। २०वीं गुफा मे जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की मूर्ति थी जो अब वहाँ नही है। उसमें सन् ४२५-४२६

१. आसीद्विशुद्धतरबोधचरित्रदृष्टिः
निःशेषसूरिनतमस्तकधारिताज्ञः।
श्रीलाटवागडगणोन्नतरोहणाद्रि
माणिक्यभूत चरितो गुरु देवसेनः।

२. सं० ११५२ वैशाख सुदि पञ्चम्यां श्री काष्ठासंघ महाचार्यवर्य श्री देवसेन पादुका युगलम्।

३. See Archaeological Survey of India Vol. 2, P. 102

४. एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द २ पृष्ठ २३२-४०

का गुप्तकालीन एक अभिलेख है, जो बहुत ही महत्व-पूर्ण है।

"सिद्धो को नमस्कार, श्री संयुक्त गुणसमुद्र गुप्तान्वय के श्रेष्ठ राजाओं के वर्द्धमान राज्य शासन के १०६ वें वर्ष और कार्तिक महीने की कृष्ण पंचमी के दिन गुहाद्वार में विस्तृत सर्पफण से युक्त शत्रुओं को जीतने वाले जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ जिन की मूर्ति शम-दमवान् शंकर ने बनवायी, जो आचार्य भद्र के अन्वय का भूषण और आर्य कुलोत्पन्न आचार्य गोशर्म मुनि का शिष्य तथा दूसरों द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपतिभट सधिल और पद्मावती के पुत्र शकर इस नाम से लोक मे विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्ग में स्थित था और वह उत्तर कुरुवो के सदृश उत्तर दिशा के श्रेष्ठ देश मे उत्पन्न हुआ था, उसके इस पावन कार्य में जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्म रूपी शत्रु-समूह के क्षय के लिए हो", वह मूल लेख इस प्रकार है :—

१. नमः सिद्धेभ्यः [॥] श्री संयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानाम् ।
२. राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षड्भियुतैर्वर्षशतेथमासे (॥) सुकार्तिके बहुल दिनेथ पचमे ।
३. गुहामुखे स्फट विकटोत्कटामिमां, जितद्विषो जिनवर पार्श्वसज्ञिका, जिनाकृति शम-दमवान ।
४. चीकरत् (॥) आचार्यभद्रान्वयभूपणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य कुलो द्गतस्य, आचार्य गोश ।
५. र्म्म मुनेस्सुतस्तु पद्मावताश्वपतेर्भ्भटस्य (॥) परै रजेयस्य रिपुघ्न मानिनस्ससघिल ।
६. स्येतित्यभिविश्रुतो भुवि स्वसज्ञया शकर नाम शब्दितो विधान युक्त यतिमार्गमस्थित. (॥) ।
७. सउत्तराणां सदृशे कुरूणा उद्ग दिशा देशवरे प्रसूत. ।
८. क्षयाय कर्म्मारि गणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तद पास-सर्ज्ज (॥) ।

—फ्लीट, गुप्तअभिलेख पृ० २५८

इस लेख में उल्लिखित आचार्यभद्र और उनके अन्वय में प्रसिद्ध मुनि गोशर्म, कहाँ के निवासी थे और उनकी गुरु परम्परा क्या है ? यह कुछ मालूम नही हो सका।

नरवर

यह एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान हैं। नरवर को 'नलगिरि' और 'नलपुर' भी कहा जाता था[१]। इसका इतिवृत्त ग्वालियर दुर्ग के साथ सम्बन्धित रहा है। वि० की १०वीं शताब्दी के अन्त में दोनों दुर्ग कछवाहा राज-पूतों के अधिकार में चले गये थे। वि० सं० ११८६ में उस पर प्रतिहारों का अधिकार हो गया था। लगभग एक शताब्दी शासन करने के बाद सन् १२३२ मे अल्त-मश ने ग्वालियर को जीत लिया। तब प्रतिहारों ने नरवर के दुर्ग मे शरण ली। वि० की १३वीं शताब्दी के अन्त में दुर्ग को चाहडदेव ने प्रतिहारो से जीत लिया, जो नर-वर के राजपूत कहलाते थे। भीमपुर के वि० सं० १३१९ के अभिलेख में इस वंश के सम्बन्ध मे कुछ सूचनाएँ की हैं। और उसका यज्वपाल नाम सार्थक बतलाया है। तथा कचेरी के सं० १३३९ के शिलालेख में जयपाल से उद्भुत होने से इस वश को 'जज्जयेल' लिखा है। नरवर और उसके आस-पास के उपलब्ध शिलालेखों और सिक्कों से ज्ञात होता है कि चाहड़देव के वश में चार राजा हुए हैं। चाहड़देव, नरवर्मदेव, आसल्लदेव, और गणपति देव। चाहडदेव ने नलगिरि और अन्य बड़े पुर शत्रुओं से जीत लिये थे। नरवर में इसके जो सिक्के मिले हैं उनमे स० १३०३ से १३११ तक की तिथि मिलती है। चाहड़ के नाम का एक लेख स० १३०० का उदयेश्वर मन्दिर की पूर्वी महराब पर मिलता है, उसमे उसके दान का उल्लेख है। नरवर्म देव भी बड़ा प्रतापी और राजनीतिज्ञ राजा था, जैसाकि उसके निम्न

---

१. अस्य प्रताप कनकैरमलैर्यशोभि—
मुक्ताफलैरखिलभूपण विभ्रमाया।
पादोनलक्ष विषयक्षिति पक्ष्मलाक्ष्या,
मास्ते पुरं नलपुरं तिलकायमानम् ॥

—भीमपुर शिलालेख १४

'नलगिरि' का उल्लेख कचेरीवाले अभिलेख मे मिलता है, यथा—

'तत्रा भवन्नृपतिरुग्रतरप्रतापः
श्रीचाहडस्त्रिभुवन प्रथमानकीर्तिः ।
दोर्दण्डचण्डिमभरेण पुरः परेभ्यो
येनाहृता नलगिरि प्रमुखागरिष्ठाः ॥'

—देखो, कचेरी अभिलेख सं० १३३९

वाक्य से प्रकट है :—

'तस्मादनेकविधविक्रमलब्धकीर्तिः पुण्यश्रुति. समभवन्नरवर्मदेवः ।

वि० स० १३३८ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि नरवर्मदेव ने धार (धारा नगरी) के राजा से चौथ वसूल की थी। यद्यपि इस वंश की परमारो से अनेक छेड़-छाड़ होती रहती थी, किन्तु उसमे नरवर्म देव ने सफलता प्राप्त की थी। नरवर्मदेव के बाद इसका पुत्र आसल्लदेव गद्दी पर बैठा। इसके राज्य समय के दो शिलालेख वि० स० १३१८ और १३२७ के मिलते है। आसल्लदेव के समय उसके सामन्त जैत्रसिंह ने भीमपुर में एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया था। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा स० १३१९ मे नागदेव द्वारा सम्पन्न हुई थी। इसके समय मे भी जैनधर्म को पनपने मे अच्छा सहयाग मिला था। जैत्रसिंह जैनधर्म का सपालक और श्रावक के व्रतों का अनुष्ठाता था। आसल्लदेव का पुत्र गोपालदेव था। इसके राज्य का प्रारम्भ स० १३३६ के बाद माना जाता हैं। इसका चदेल वशी वीरवर्मन् क साथ युद्ध हुआ था, जिसमे इसके अनेक वीर योद्धा मारे गये थे।

गणपतिदेव के राज्य का उल्लेख स० १३५० मे मिलता है। यह स० १३४८ के बाद ही किसी समय राज्याधिकारी हुआ होगा। सं० १३५५ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने चन्देरी के दुर्ग पर विजय प्राप्त की थी; क्योंकि स० १३५६-५७ के सती स्तम्भो मे इसके राज्य का उल्लेख है। जान पड़ता है कि मुसलमानो की विजयवाहिनी से चाहड़देव का बंश समाप्त हो गया।

जैनत्व की दृष्टि से नरवर के किले मे अनेक जैन मूर्तियाँ खडित-अखडित अवस्था मे प्राप्त हैं। किले मे इस समय ४ मूर्तियाँ अखंडित है जिन पर स० १२१३ से १३४८ तक के लेख पाये जाते हैं।

१—स० १२१३ असाढ़ सुदि ९, २—स० १३१६ ज्येष्ठ वदी ५ सोमे, ३—सं० १३४० वैशाखवदी ७ सोमे, ४—स० १३४८ वैशाख सुदी १५ शनो।'

ये सब मूर्तियाँ सफेद सगमर्मर पाषाण की हैं। खडित मूर्तियों की संख्या अधिक पाई जाती है। नगर में भी अच्छा मन्दिर है और जैनियों की बस्ती भी हैं। नगर के आस-पास के ग्रामों आदि में भी जैन अवशेष पाये जाते हैं जिससे वहाँ जैनियों के अतीत गौरव का पता चलता है।

नरवर से ३ मील की दूरी पर 'भीमपुर' नाम का एक ग्राम है। जहां जज्जयेल वंशी राजा आसल्लदेव के एक जैन सामन्त जैत्रसिंह रहते थे। उन्होंने जिन भक्ति से प्रेरित होकर वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया था। और उस पर २३ पंक्त्यात्मक करीब ६०-७० श्लोको के परिमाण को लिये हुए विशाल शिलालेख लगवाया था, जो अब ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के संग्रहालय में मौजूद है। इस लेख में उक्त वंश के राजाओं का उल्लेख है। जैत्रसिंह की धार्मिक परिणति का भी वर्णन है, और नागदेव द्वारा उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न होने का उल्लेख है। स० १३१९ का यह शिलालेख अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ। यह लेख जैनियों के लिये महत्त्वपूर्ण है। पर ऐसे कार्यों मे जैन समाज का योगदान नगण्य है।

सुहानियाँ

यह स्थान भी पुरातनकाल में जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है और वह ग्वालियर से उत्तर की ओर २० मील, तथा कटवर से १४ मील उत्तर-पूर्व में अहसन नदी के उत्तरीय तट पर स्थित है। कहा जाता है कि यह नगर पहले खूब समृद्ध था और बारह कोश जितने विस्तृत मैदान मे आबाद था। इसके चार फाटक थे, जिनके चिह्न आज भी उपलब्ध होते हैं। सुना जाता है कि इस नगर को राजा सूरसेन के पूर्वजों ने बसाया था। कनिंघम साहब को यहाँ वि० स० १०१३, १०३४ और १४६७ के मूर्ति लेख प्राप्त हुए थे।

इस लेख में मध्य भारत के कुछ स्थानों के जैन पुरातत्त्व का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। उज्जैनी, धारा नगरी और इनके मध्यवर्ती भूभाग अर्थात् समूचे मालव प्रदेश का जो जैन सस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है, पूरा परिचय देने मे एक बड़ा ग्रथ बन जायगा।

—:०:—

आश्रमपत्तन ही केशोराय पट्टन है

डा० दशरथ शर्मा एम. ए. डी. लिट.

श्री परमानन्द जी जैन शास्त्री ने कुछ महीने पूर्व आश्रम पत्तन या आश्रमक को ठीक तरह पहचानने की समस्या मेरे सामने रखी थी। साथ ही आपने बृहद् द्रव्य संग्रह पर ब्रह्मदेव की टीका भी मुझे दी। उसके उल्लेखानुसार आश्रम नगर मण्डलेश्वर श्रीपाल के अधिकार में था जो मालवदेश में स्थित 'धारानगरी के आधीश कलिकाल चक्रवर्ती भोजदेव का सम्बन्धी था।' इसी नगर में मुनिसुव्रत तीर्थंकर के चैत्यालय की स्थिति भी इस टीका से निश्चित है। मैंने आश्रम नाम के कुछ प्राचीन स्थान ढूंढ निकाले। परमार शिलालेखों से ज्ञात हुआ कि आश्रम स्थान ब्राह्मणों की अच्छी बस्ती थी। नागोद रियासत के 'आश्रम' के विषय में भी पढा। संस्कृत साहित्य मे भी कुछ उल्लेख मिले जिनका निर्देश यथास्थान किया जाएगा। परन्तु मेरा विचार उस समय तक अनिश्चयात्मक स्थिति में था जब मुझे वीरवाणी के इस वर्ष के स्मारिकाङ्क में श्री दीपचन्द पाण्डया का, "क्या पाटण केशोराय ही प्राचीन आश्रम नगर है ?" नाम का लेख पढने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस प्रश्न के उत्तर मे मुझे जो सामग्री प्राप्त है उसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, "हां, प्राचीन आश्रम-पत्तन ही वर्तमान केशोराय पट्टन हैं।"

अब पाटन केशोराय राजस्थान में है ? किन्तु चिरकाल तक चर्मण्वती (चम्बल) नदी के दोनो ओर की भूमि परमार साम्राज्य के अन्तर्गत रही थी। अवन्ति में जाकर बसने वाली और उस प्रदेश को मालव सज्ञा देने वाली वीर मालव जाति इसी भूखण्ड से होती हुई अवन्ति में पहुँची थी। मालव या विक्रम सम्वत् के प्राचीनतम प्रयोग भी दक्षिण-पूर्व राजस्थान मे ही मिले है। महाराजाधिराज भोज परमार के यशस्वी छोटे भाई उदयादित्य के समय का शिलालेख शेरगढ़ (कोटा राज्य) से मिला है। इसका प्राचीन नाम कोशवर्धन दुर्ग था। यह तो सर्वविदित ही है कि चित्तौड़ पर भोज का अधिकार था; और अपने दौर्बल्य के दिनो में भी चम्बल के आसपास के प्रदेश पर अधिकार जमाए रखने के लिए ये रणथभोर के चौहानो से बहुत समय तक झड़प करते रहे। इसलिए स्वयं भोज के समय चम्बल नदी पर स्थित किसी नगर पर एक परमार मण्डलेश्वर का अधिकार कोई आश्चर्य की बात न थी।

इसी विचार से प्रेरित होकर मैं संस्कृत साहित्य की ओर मुड़ा। नयचन्द्र सूरि के हम्मीर महाकाव्य की मैंने अनेक आवृत्तिया की है। पाण्डया जी के लेख के पढने के बाद मुझे सहसा स्मरण हुआ कि उसमे चर्मण्वती नदी पर स्थित आश्रम-पत्तन नाम के एक तीर्थ का वर्णन वर्तमान है। रणथभोर के राजा, हठीले हम्मीर के पिता, जैत्रसिंह ने पुत्र को राज्य देकर आश्रम-पत्तन के पवित्र तीर्थ के लिए प्रयाण किया था —

> **दत्त्वेति शिक्षां शुभबद्धसख्यां,**
> **गेहे च देहे च निरीहचित्तः।**
> **जैत्र प्रभुः स्वात्महितं चिकीर्षन्,**
> **श्री आश्रमं-पत्तनमन्वचालीत् ॥१०६॥**
> **शिवापि जम्बूपथसार्थवाही,**
> **विराजते यत्र शिवः स्वयम्भूः।**
> **यो ध्यातमात्रोऽप्युरुभक्तिभाजां,**
> **दत्ते न किं भुक्तिमिवाशु मुक्तिम् ॥१०७॥**
> **मज्जच्छचीदृगयुगलीकुवेल-**
> **विष्वग्गलत्कज्जलमेचकाम्बु।**
> **चर्मण्वती यत्र सरिद् वहन्ती,**
> **पुण्यश्रियो वेणुरिवावभाति ॥१०८॥**
>
> (अष्टम सर्ग)

किन्तु जैत्रसिंह आश्रम-पत्तन पहुँच न पाया। उसका रास्ते में पल्ली पुरी में देहावसान हो गया।

अब विचार एक निश्चित दिशा में प्रवृत्त हो चुका

था। विशेष खोज के लिए अकबरकालीन गौड़-कवि चन्द्रशेखर का 'सुर्जन चरित' उठाकर देखा तो मुझे इस तीर्थ के महत्त्व का और अधिक भान हुआ। रणथभारेश्वर हम्मीर ने राजधानी मे यज्ञ न कर इसी महान् तीर्थ में 'कोटिमख' किया था। किन्तु प्रतीत होता है कि सोलहवीं शताब्दी की जनता इसे आश्रम-पत्तन न कह कर केवल पत्तन या पट्टन कहने लगी थी। तथापि चम्बल के किनारे उसकी अवस्थिति और आश्रम-पत्तन की तरह पट्टन मे भी 'जम्बू मार्ग मृत्युञ्जय' के मन्दिर का अवस्थान इस विचार को दृढ़ करने के जिए पर्याप्त थे कि हम्मीर महाकाव्य का आश्रम-पत्तन और सुर्जन चरित का पट्टन वास्तव मे एक ही स्थान है।

सुर्जन चरित के पट्टन सम्बन्धी वृत्त निम्नलिखित हैं :

पुरोहितेन न स्वपुरो हितेन, पुरस्कृतंर्भूमिसुरः परीतः।
नृपः प्रतस्थे सह पट्टराज्ञा, स पट्टनाख्य पुटभेदनं यत् ॥२२॥
नदीं तिलद्रोणिमदीन सत्वः, स तां जगाहे गहनप्रवाहाम्।
श्रियं दधान भृगुपाद जातां, हिरण्यगर्भं दधत तथान्तः ।२६
विलोकयामास स पारियात्रं, गिरिं पुरारातिमिवावनीशः।
स भूभृतं भूमिभृतां वरीयान्, निषेवितं नाकसदां निकायैः ।३०
बभ्राम बिभ्राणमनल्पतीर्थ, तपोजुषां पावनपूर्णशालाः ।३४
तस्यान्तरे शान्तरजाः स राजा, सुदुर्लभालोकनमन्यलोकैः।
व्यलोकयद् विल्वपलाशिमूले, विल्वेश्वरं वल्लभमीश्वरायाः।३५
ततः पुरं षट्पुरनामधेयं, मध्यास्तविध्वस्ततमोविकारः ।३८।
स पट्टनाख्यं नगरं पटीयः, फलप्रकर्षे विहित क्रियाणाम्।
अलचकाराशु हृतान्तरायः, सुनीतिवर्त्मेव मनः प्रसादः ।३६
सुराङ्गनावर्जित पारिजात-प्रसूनपर्याप्ततरङ्गशोभा।
चर्मण्वती शर्ममयप्रवीणा प्रवीणयामास यशांसि यस्य। ०।
चर्मण्वतीवारिणि धर्मपत्न्या सम समाप्याभिषव सवीरः।
तं जम्बुमार्गं विमलोपचारै-रानर्च मृत्युञ्जयमञ्जुमूर्तिम् ।४१

(एकादश सर्ग; मेरी हस्तलिखित प्रति से)

इन दो काव्यग्रंथों के अवलोकन से ये बातें निश्चित हो गई :—

(१) आश्रम-पत्तन नगर किसी समय अत्यन्त पवित्र तीर्थ रूप में विख्यात था। राजा यहाँ अपने महान् यज्ञ करते। यहाँ मृत्यु भी परमार्थदायिनी समझी जाती।

(२) ब्राह्मण सम्प्रदाय के तीर्थों में चर्मण्वती नदी पर स्थित मृत्युञ्जय महादेव सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इनका विशिष्ट नाम जम्बुपथसार्थवाही या जम्बुमार्ग था।

(३) व्यापार की दृष्टि से भी यह नगर महत्त्वपूर्ण रहा होगा। हम्मीर महाकाव्य ने इसे पत्तन की सज्ञा दी है और सुर्जन चरित ने पुटभेदन की। जल और स्थल मार्गों से व्यापार करने वाले नदी किनारे स्थित नगर को पुटभेदन कहते हैं। पत्तन शब्द मुख्यतः बन्दरगाह के लिए प्रयुक्त है, चाहे वह समुद्र तट पर हो या नदी तट पर। आश्रम नगर के लिए दोनो शब्द उपयुक्त हैं।

(४) रणथंभोर और आश्रम-पत्तन या पट्टन के बीच में पल्ली, तिलद्रोणी नदी, पारियात्र गिरि पर स्थित विल्वेश्वर महादेव और षट्पुर आदि स्थान थे।

अब ये नाम कुछ बदल गये हैं। मुझे अपने भतीजे दिवाकर शर्मा, एम० ए० से ज्ञात हुआ कि तिलद्रोणी अब तिलर्जुनी के नाम से ज्ञात है। इस नदी के आस-पास इन काव्यो मे वर्णित अन्य स्थान हैं। 'पल्ली' विल्वेश्वर महादेव से अढाई मील दूर है। इसे पालाई भी कहा जाता है। षटपुर को आजकल खटकड़ कहा जाता है। यह मेज नदी पर स्थित है। तिलद्रोणी मेज नदी की सहायक नदी है। और खटकड़ के पास ही मेज नदी मे मिलती है। यहाँ पर तीन नदियो का सगम होने के कारण इसे त्रिवेणी के नाम से भी पुकारते है। विल्वेश्वर महादेव का मन्दिर भी यही पहाड़ की चोटी पर स्थित है। इस मन्दिर पर शिवरात्रि को मेला लगता है।

उपर्युक्त तथ्यों में परमानन्द जी और दरबारीलाल जी कोठिया आदि विद्वानो द्वारा निर्दिष्ट मदनकीर्ति चतुर्स्त्रिशिका, ब्रह्मदेव रचित बृहद् द्रव्य संग्रह की टीका, प्राकृत निर्वाणकाण्ड, और उदयकीर्ति कृत अपभ्रंश निर्वाण भक्ति आदि जैनग्रथों के उल्लेखो को जोड़कर हम यह भी कह सकते है कि आश्रम पत्तन में नदी (चम्बल) के किनारे मुनि सुव्रत तीर्थंकर का प्रख्यात जिनालय भी पर्याप्त प्राचीनकाल से वर्तमान रहा है। चतुर्स्त्रिशिका के उल्लेख के आधार पर यह कहना सम्भवतः असंगत न होगा कि ब्राह्मणो से कुछ संघर्ष के बाद ही श्री सुव्रत तीर्थंकर की यह प्रतिमा स्थापित हो चुकी थी।

इन सब प्रमाणों की उपस्थिति मेरे इस स्वार्थानुमिति को दृढ करने के लिए पर्याप्त थी कि आश्रम-पत्तन और पट्टन (जो आपेक्षिक दृष्टया अर्वाचीन केशोराय के मन्दिर के कारण अब केशोराय पट्टन नाम से प्रसिद्ध है) दोनो वास्तव में एक थे। किन्तु अनेकान्त के विज्ञ पाठक-वर्ग के लिए इसी तथ्य की ओर सुस्पष्ट करने के लिए मैंने राष्ट्रीय सग्रहालय के श्री व्रजेन्द्रनाथ शर्मा, एम. ए. से अनुरोध किया कि वे केशोराय पाटण के विषय में आर्कागलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया की १६०४–५ की प्रोग्रेस रिपोर्ट के आधार पर एक टिप्पणी तैयार करे। किन्तु श्री शर्मा ने मुझे रिपोर्ट का अंग्रेजी अवतरण ही भेज दिया है। इसका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है—

कोटा से उत्तर-पूर्व की ओर लगभग नौ मील की दूरी पर बूदीं राज्य का केशोराय पाटण नगर चम्बल पर अवस्थित है। यही नदी कोटा राज्य की भूमि को बूंदी से अलग करती है। नगर का नामकरण विष्णु के विग्रह केशोराय के नाम से हुआ है। इनके ऊँचे मन्दिर से चबल दिखाई पडती है। दृश्य अत्यन्त भव्य है। मन्दिर के उच्च प्राचीर से जल तक सीढियाँ चली गई है। किन्तु मन्दिर की इमारत अर्वाचीन है; इसे सन् १६०१ मे महाराव राजा शत्रुसाल जी ने बनवाया था। प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्रस्तर पर गणपति की मूर्ति है, जिससे प्रतीत होता है कि आधुनिक काल मे भी वैष्णव मन्दिर के द्वार पर गणपति की मूर्ति बनती रही है।

मन्दिर के सन्निकट—एक स्थान है जिसे स्थानीय जनता जम्बूद्वीप नाम से अभिहित करती है। इसमें तीन प्राचीन देवस्थान हैं। यहाँ प्रतिवर्ष माघ शिवरात्रि के दिन यात्री बडी सख्या में एकत्रित होते हैं। मन्दिर पर सफेदी कर दी जाती है। इसके फलस्वरूप देवस्थान के द्वारो पर की मूर्तियों पर इतनी सफेदी चढ़ गई है कि उन्हें पहचानना कठिन है। इसी लिए यह कहना असम्भव है कि घुसते ही दाहिनी ओर के देवस्थान की चौखट के सरदल पर किन देवताओ की मूर्तियां है और वे किस किस स्थान पर उत्कीर्ण है। दूसरी ओर के देवस्थान के द्वार की सरदल पर बाई ओर ब्रह्मा की मूर्ति पहचानी जा सकती हैं; किन्तु दूसरी मूर्तियाँ अस्पष्ट है। देवस्थान के अन्दर एक प्राचीन प्रस्तर के शिवलिंग का अवशिष्टांश" है। इस पर पूरी तरह फिट बैठने वाला पीतल का आच्छादन है, जिस पर चार मुख बने हैं। बिचले देव स्थान के द्वार की सरदल पर से आगे निकले हुए पत्थर पर बीच में विष्णु की मूर्ति हैं और उसके बाई ओर, दाहिनी ओर शिव और ब्रह्मा हैं। गर्भगृह में एक शिव-लिंग है। इस पर अनेक छोटे-छोटे लिंग उत्कीर्ण होने के कारण इसे 'सहस्रलिंग' कहते हैं। इन देवस्थानों के द्वार आंवा शैली के हैं। स्तम्भो के कोण झिरीदार हैं, और और इनकी तुलना अटरू के गडगच मन्दिर के स्तम्भों मे की जा सकती है। किन्तु प्लस्तर की मोटी तह के कारण मूर्तियों की कुराई की शोभा बहुत कुछ खराब हो चुकी है।

इसी नगर मे अन्य प्राचीनकालीन स्थान एक मन्दिर है जिसे पृथ्वीतल से नीचे होने के कारण जनता "भुई देवरा" कहती है। आठ स्तम्भों पर आधारित खुली चौरी के मध्य भाग मे जमीन मे नीचे की ओर जाने के लिए एक सीढी हैं जिसमे तीन से कम विश्राम स्थान नही है। या कहना ठीक होगा कि ये एक सीढी से दूसरी सीढी पर पहुँचने के ये तीन मार्ग हैं। सीढियो मे प्रवेश के लिए लगे द्वार बारीकी से चित्रित है। वही काले पत्थर से बनी एक या दो जिन मूर्तियाँ भी है। दूसरी ओर अन्तिम सीढी को पार कर हम अटरू शैली के चौदह स्तम्भों पर आधारित एक बन्द मण्डप या बडे कमरे मे प्रवेश करते हैं। मण्डप के मध्य का वर्गाकार भूमिभाग चार स्तम्भों मे घिरा है; और ठीक इसके सन्मुख के देवस्थान में मनुष्य के परिमाण से कुछ बड़ी काले पत्थर की जिनमूर्ति है। इसकी कुराई भव्य है। सिर के चारों ओर प्रभामण्डल है।"

आश्रम-पत्तन और केशोराय पट्टन का एकत्व सिद्ध करने वाली युक्तिशृंखला की यह रिपोर्ट अन्तिम कड़ी कही जा सकती है। स्थान का प्राचीन नाम केशोराय पट्टन न होकर सन् १६४१ से कुछ पूर्व पट्टन मात्र था और उससे पूर्व कम से कम हम्मीर के समय तक आश्रम पत्तन यहाँ ब्राह्मण सम्प्रदाय का मुख्य देवमन्दिर मृत्युञ्जय महादेव का स्थान था जो हम्मीर के समय 'जम्बुपथ

सार्थवाही। और अकबर के समय 'जम्बुमार्ग' के नाम से प्रख्यात थे, प्रोग्रेस रिपोर्ट मे वर्णित है कि केशोराय के मन्दिर के अत्यन्त सन्निकट "जम्बुद्वीप' नाम का स्थान हैं। यहाँ माघ महीने मे शिवरात्रि के दिन अब भी मेला लगता है। इससे सिद्ध हैं कि जम्बुपथ सार्थवाही भगवान् मृत्युञ्जय का स्थान यही था। अब भी वहाँ दो शिवलिंग वर्तमान है। किन्तु कालान्तर में राज्याश्रय के कारण वैष्णव सम्प्रदाय के बलवान् होने पर इस स्थान की महत्ता आपेक्षिक दृष्टया कम हो गई होगी। लोग अब 'जम्बुद्वीप' मात्र को जानते हैं; उन्हें यह ज्ञात नहीं है इसी स्थान पर जम्बुपथसार्थवाही महादेव का भारत-प्रख्यात स्थान था। यहाँ अन्य मूर्तियाँ भी वर्तमान है। जिनकी पहचान प्रयत्नशील अनुसन्धाता के लिए शायद अब भी असम्भव न हो। रिपोर्ट अब से ६२ वर्ष पूर्व लिखी गई थी वर्षा और वायु की चपेट खाती हुई और वर्षानुवर्ष सफेदी मे पुनः पुनः आवृत्त जम्बूद्वीप की मूर्तियाँ सम्भव है कि इस समय बहुत अच्छी अवस्था मे न हों।

'भुईदेवरा' तो स्पष्टत **मुनिसुव्रत तीर्थंकर का जिनालय** है। मुनि उदयकीर्ति, मदनकीर्ति, और प्राकृत-निर्वाणकाण्ड आदि ने आश्रम मे ही इसकी अवस्थिति बतलाई है सम्भवतः प्रतिमा का भूमिग्रह मे स्थापन भी अपना इतिहास रखता है। मुनि मदनकीर्ति की चतुस्त्रिंशिका से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है; किन्तु वह कुछ अधिक नहीं है। केवल साम्प्रदायिक संघर्ष का कुछ अनुमान अवश्य सम्भव है। विषय अनुसन्धेय है।

निसर्गरमणीय यह प्रदेश आश्रमभूमि के उपयुक्त होने के कारण वास्तव में आश्रमस्थान होने का अधिकारी था। चम्बल नदी के किनारे उपयुक्त स्थान पर स्थिति ने इसे पुटभेदन और पत्तन बनाया था। सौम्य प्रकृति ने इसे विविध-तीर्थत्व प्रदान किया था। 'जम्बुद्वीप' के प्राचीन देवस्थानों से यहाँ किसी विष्णु-मूर्ति की अवस्थिति अनुमित की जा सकती है। शायद मुख्य मन्दिर के इधर-उधर ब्रह्मा और विष्णु के स्थान रहे हों। नयचन्द्र सूरि के शब्दों में शैव तो यह मानते ही रहे हैं कि 'जम्बुपथ-सार्थवाही स्वयम्भू शम्भु का स्थान मात्र केवल भुक्ति को ही नहीं, मुक्ति को भी प्रदान करता है। यहीं सपत्नीक हम्मीर ने चर्मण्वती (चम्बल) नदी में स्नान कर जम्बुमार्ग मृत्युञ्जय का अर्चन किया था। पाण्ड्याजी के कथनानुमार जैन अब भी तीर्थंकर मुनि का अर्चनकर मनोरथ-पूर्ति के लिए यहाँ गणभोज भी किया करते हैं। रेल आने के बाद इसका व्यापारिक महत्त्व पूर्ववत् नहीं रहा है। आबादी भी घटी होगी। किन्तु इसकी नैसर्गिक रमणीयता अब भी पूर्ववत् है; और जगत् के आधुनिक अशान्त वातावरण मे भी अन्त शान्ति का इच्छुक भव्य जीव इसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता।

—: ० :—

न्यायी सम्राट्

ईरान का बादशाह नौशेरवां न्यायी और कर्त्तव्य-परायण था।

एक बार वह शिकार खेलने के लिए निकला। भोजन की सामग्री साथ थी। एक गांव के किनारे विश्राम किया गया। रसोइये ने भोजन बनाना शुरू किया।

"जहांपनाह! नमक नहीं है", भोजन पकाते-पकाते रसोइये ने कहा।

बादशाह ने आदेश दिया—"पास के गांव से ले आ। लेकिन पैसा देना मत भूलना, यदि बिना पैसे लायगा तो सारा गांव उजड़ जायेगा।"

"थोड़ा-सा नमक बिना पैसे लाने से गांव कैसे उजड़ जायेगा?"

रसोइए के इस प्रश्न पर बादशाह ने कहा—"यदि मैं बिना पैसे नमक लूंगा तो दूसरे राज कर्मचारी रुपयों की बड़ीबड़ी थैलियां भी लेने में संकोच का अनुभव नहीं करेंगे।

वृषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ

डा० राजकुमार जैन एम० ए० पी-एच० डी०

(वर्ष १८ कि० ६ से आगे)

रामायण में रुद्र के अत्यधिक विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। यहाँ उन्हें मुख्यत. 'शिव' कहा जाता है। महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्यम्बक नामों का अधिक उल्लेख मिलता है। यहाँ उन्हे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ देव-देव कहा गया है।१ और अमर लोक में भी उनकी उपासना विहित दिखलाई गई है।२ एक अन्यस्थल पर उन्हे अमर, अक्षर और अव्यय भी माना गया है।३ एक स्थान पर उन्हें हिमालय मे योगाभ्यास करते हुए दिखलाया है।४ रामायण मे शिव के साथ देवी की उपासना भी भक्त-जन करते हैं। इन दोनों को लेकर जिस उपासना पद्धति का जन्म हुआ, वेदोत्तर काल मे वही शैव धर्म का सर्वाधिक प्रचलित रूप बना। रामायण मे शिव की 'हर'५ तथा 'वृषभ ध्वज'६ इन दो नवीन उपाधियो का भी उल्लेख मिलता है।

महाभारत मे शिव को परमब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतों का एक मात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है। एक स्थल पर उन्हे सांख्य के नाम से अभिहित कियागया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से७ वह स्वय महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता है। एक स्थान पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है।८ अनेक स्थानों पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर९ की उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्धमान महत्व की उपेक्षा नही कर सकता था।

महाभारत मे शिव के एक अन्य नवीन रूप के दर्शन होते हैं और वह है उनका 'कापालिक' स्वरूप। यह स्वरूप मृत्यु देवता वैदिक रुद्र का विकसित रूप मालूम देता है। यहाँ उनकी आकृति भक्तिकाल के आराध्य देव शिव की सौम्य आकृति के सर्वथा विपरीत एव भयावह है। वह हाथ मे कपाल लिये है१० और लोक वर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहाँ वह राक्षसो, वेतालों, पिशाचो और इसी प्रकार के अन्य जीवो के साथ विहार करते है।११ उनके गण को 'नक्तचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है१२। एक स्थल पर स्वयं शिव को मास भक्षण करते हुए तथा रक्त एवं मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है१३।

अश्वघोष के बुद्ध चरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप मे उल्लेख हुआ है१४, भारतीय नाट्य शास्त्र मे शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है१५। उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियो की चर्चा है१६। वह नृत्य-कला के महान् आचार्य है और उन्होने ही नाट्य-

---

१. रामायण, बालकाण्ड : ४५, २२-२६, ६६, ११-१२, ६, १, १६, २७
२. वही १३, २१
३. वही ४, २९
४. वही ३६, २६
५. रामायण, बालकाण्ड ४३, ६ उत्तरकाण्ड : ४, ३२, १६, २७, ८७, ११
६. वही युद्धकाण्ड : ११७,३ उत्तरकाण्ड १६,३५,८७,१२
७. महाभारत द्रोण : ७४, ५६, ६१, १६६, २९
८. वही अनुशासन ९८, ८, २२
९. अनुशासन वही : ९८, ७४ आदि
१०. वनपर्व वही : १८८, ५० आदि
११. वनपर्व वही : ८३, ३०
१२. द्रोणपर्व : ५०, ४९
१३. वही अनुशासन पर्व : १५१, ७
१४. बुद्धचरित : १०, ३, १, ९३
१५. नाट्यशास्त्र : १, १
१६. वही १, ४५, २४, ५, १०

कन्या को 'ताण्डव' दिया। वह इस समय तक एक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही 'भरत-पुत्रों' को सिद्धि सिखाई१। अन्त में शिव के त्रिपुर ध्वस का भी उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था२।

पुराणों मे शिव का पद बडा ही महत्वपूर्ण हो गया है। यहाँ वह दार्शनिको के ब्रह्म है, आत्मा है, असीम है और शाश्वत हैं३। वह एक आदि पुरुष हैं। परम सत्य है तथा उपनिषदो एव वेदान्त मे उनकी ही महिमा का गान किया गया है४। बुद्धिमान् और मोक्षाभिलाषी इन्ही का ध्यान करते हैं५। वह सर्वज्ञ है, विश्व-व्यापी है, चराचर के स्वामी है तथा समस्त प्राणियो मे आत्मरूप से बसते हैं६। वह एक स्वयभू हैं तथा विश्व की सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते है७। उन्हे 'महायोगी'८, तथा योगविद्या का प्रमुख आचार्य माना जाता है९। सौर१० तथा वायुपुराण११ मे शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है। इन्हे इस रूप मे 'यती'१२ 'आत्म-संयमी' 'ब्रह्मचारी'१३ तथा 'ऊर्ध्वरेता'१४ भी कहा गया है। शिव पुराण में शिव का आदितीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है१५। प्रभास पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है१६।

विमल सूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक 'जिनेन्द्र रुद्राष्टक' का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है, परन्तु पद्य सात ही है। इसमें जिनेन्द्र भगवान का रुद्र के रूप मे स्तवन किया गया है, बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप-रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एव मोह रूपी त्रिपुर के दाहक है, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयम रूपी वृषभ पर वह आरूढ़ है, संसार रूपी करि (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धि रूपी चन्द्र रेखा से अलंकृत हैं, शुद्ध भाव रूपी कपाल से सम्पन्न है, व्रत रूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले है, गुग-गण रूपी मानव-मुण्डो के मालाधारी है, दश धर्म रूपी खट्वाग से युक्त है। तप. कीर्तिरूपी गौरी से मण्डित है सातभयरूपी उद्दाम डमरू को बजाने वाले है, अर्थात् वह सर्वथा भीति रहित है, मनोगुप्तिरूपी सर्व परिकर से वेष्टित है, निरन्तर सत्य वाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मंडित है तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले है१७।

---

१. वही १, ६०, ६५
२. वही ४, ५, १०
३. लिगपुराण भाग २, २१, ४९ वायुपुराण ५५, ३ गरुडपुराण १६, ६, ७
४. सौरपुराण . २६, ३१ महापुराण १२३, १६६
५. वही २, ८३ ब्रह्मपुराण ११०, १००
६. वायुपुराण : ३०, २८३, ८४
७. वही : ६६, १०८ लिगपुराण भाग १, ११
८. वही : २४, १५६ इत्यादि
९. ब्रह्मवैवर्त पुराण : भाग १, ३, २०, ६, ४
१०. सौरपुराण : अध्याय १२
११ वायुपुराण : अध्याय १०
१२. मत्स्य पुराण ४७, १३८ वायुपुराण १७, १६६
१३. वही ४७, १३८, २६ वायुपुराण २४, १६२
१४. मत्स्यपुराण १३६, ५ सौरपु० ७,१७,३८,१,३८, १४
१५. इत्थ प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे ।
सता गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितवस्तव ।
ऋषभस्य चरित्र हि परमं पावन महत् ।
स्वर्ग्य यशस्य मायुष्य श्रोतव्यं च प्रयत्नत ॥
—शिवपुराण ४, ४७-४८
१६. कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽय जिनेश्वरः ।
चकार स्ववतार च सर्वज्ञः सर्वगः शिव. ॥
—प्रभासपुराण ४९
१७. पापान्धक निर्णाश मकरध्वज-लोभ-मोहपुर दहनम् ।
तपोभरम भूषितागं जिनेन्द्ररुद्रं सदा बन्दे ॥१॥
सयमवृषभारूढ तप-उग्रमहत तीक्ष्णशूलधरम् ।
संसार करिविदार जिनेन्द्ररुद्र सदा बन्दे ॥२॥

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह-रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञान रूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं, जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है। जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग, द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अंधकासुर के कबन्ध वृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है[१]।

पउमचरिउ में उल्लिखित 'रुद्राष्टक' इस तथ्य का द्योतक है कि इस रचना के समय तक वैदिक कालीन रुद्र ने कापालिक एवं पौराणिक युग के लोक प्रचलित स्वरूप को अंगीकार कर लिया था, जिसका जैन परम्परा रूपी समन्वय उक्त 'अष्टक' के रचयिता ने अपनी रचना में करके अपनी परम्परागत रुद्र-भक्ति का परिचय दिया। वीरसेन स्वामी द्वारा अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में किया गया चित्रण भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण मे एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिए रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणो का प्रयोग किया है। भगवान् का यह एक स्तवन है जिसे उनके केवल ज्ञान होने के पश्चात् सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने प्रस्तुत किया है। स्तवन में भगवान् की जय मनाते हुए कहा गया है[२] कि वह दुर्मथ कामदेव का मन्थन करने वाले हैं, दोष-रोष रूपी मांस के लिये अग्नि के समान हैं। सम्पूर्ण विशुद्ध केवलज्ञान के आवास हैं, और मिथ्या-मार्ग से सन्मार्ग प्राप्ति के विचारक हैं। वह[३] ककाल, त्रिशूल,

---

विमलमति चन्द्ररेखविरचित सिल शुद्धभाव कपालम्।
व्रताचल शैलनिलयं जिनेन्द्ररुद्रं सदा बन्दे ॥३॥
गुणगणनरशिरमालं दशध्वजोद्भूत खट्वाङ्गम्।
तपःकीर्ति गौरिरचितं जिनेन्द्ररुद्रं सदा बन्दे ॥४॥
सप्तभयडाम डमरूकवाद्यं अनवरत प्रकटसंदोहम्।
मनोबद्ध सर्पपरिकरं जिनेन्द्ररुद्रं सदा बन्दे ॥५॥
अनवरतसत्यवाचा विकटजटामुकुट कृतशोभम्।
हुकार भयविनाशं जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे ॥६॥
ईशानशयनरचितं जिनेन्द्र रुद्राष्टकं ललितं मे।
भावं च यः पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति ससिद्धिः ।७

१. णिद्दद्ध मोहतरुणो वित्थिण्णणाण-सायरुत्तिण्णा।
णिहय-णिय-विग्ध-वग्गा बहुवाहविणिग्गया अयला।
दलिय-मयण प्पयावा तिकाल विसएहिं तीहिणयणेहिं।
दिट्ठ सयलठ्ठ सारा सुरद्धतिउण मुणिव्वइणो॥
तिरयण तिसूलधारिय मोहंधासुर-कबन्ध-विन्दहरा।
सिद्धसयलप्परूवा अरहन्ता दुण्णयकयंता॥
—धवला टीका–१, पृष्ठ ४५–४६

२. दुम्मह वम्मह णिम्महण दोस-रोस-पसु-पास-सिहि,
जय सयल विमल केवल णिलय
हरण-करण-उद्धरण विहि।

३. जय सुकइ कहियणीसेसणाम,
भोमयण णिय रिउवग्ग भीम।
वामा विमुक्क ससारवाम,
जय तिउरहारि हरहीर धाम।
जय पयडिय धुस सयंभु भाव,
जय जय सयभू परिगणिय भाव।
जय संकर संकर विहियसति,
जय ससहर कुवलय दिण्णकति।
जय रुद्दरउद्दतवग्गगामि,
जय जय भवसामि भवोवसामि।
मह एव महागुणगणजसाल,
महकाल पलय कालुग्ग काल।
जय जय गणेस गणवइ जणेर,
जय बभपसाहिय बभचेर।
वेयंगवाइ जय कमलजोणि,
आई वराह उद्धरिय खोणि।
सहिरण्ण विट्ठि पडिवण्ण गब्भ,
जय दुण्णय णिहण हिरण्णगब्भ।

मनुष्य कपाल, विषधर तथा स्त्री से रहित हैं, शान्त हैं, शिव हैं, अहिंसक हैं, राजन्यवर्ग उनके चरणों की पूजा करता है, परोपकारी है, भीति दूर करने वाले हैं, परन्तु अपने अन्तरग रिपु वर्ग के लिए भयकर है, वामा वियुक्त (स्त्री रहित) है, परन्तु स्वयं संसार के लिए वाम (प्रतिकूल) हैं, त्रिपुरहारी (जन्म जरा मृत्यु) अथवा मिथ्या-दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूपी त्रिपुर के विनाशक हैं, हर हैं, धैर्यशाली हैं, निर्मल स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू है, सर्वज्ञ है, सुख तथा शान्तिकारी शकर है, चन्द्रधर है, सूर्य है, रुद्र है, उग्र तपस्वियों में अग्रगामी हैं, ससार के स्वामी है तथा उसे उपशान्त करने वाले है, महान् गुणगणों से यशस्वी है, महाकाल है, प्रलयकाल के लिए उग्रकाल है, गणेश (गणधरो के स्वामी) हैं, गणपतियो (वृषभसेन आदि गणधरो) के जनक है, ब्रह्मा हैं, ब्रह्मचारी हैं, वेदांगवादी (सिद्धान्तवादी) हैं, कमल योनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदि वराह है, सुवर्ण वृष्टि के साथ गर्भ मे अवतीर्ण हुए हैं, दुर्भय के निवारक हैं, हिरण्यगर्भ है, [युग सृष्टा है] परमानन्द चतुष्टय (अनन्त-दर्शन. अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख तथा अनन्त-वीर्य) से सुशोभित है, अज्ञानान्धकार-हारी है, दिवसनाथ हैं, यज्ञ पुरुष है। पशु-यज्ञ के विनाशक है, ऋषि सम्मत अहिंसा धर्म के प्रकाशक है[१]। माधव (अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी) है, त्रिभुवन के माधवेश है, मद्य-रूपी मधु को दूपित करने वाले मधुसूदन है, लोक दृष्टा परमात्मा है, गोवर्द्धन (ज्ञानवर्धक) है, केशव है और परमहंस हैं, इन्द्र कहते हैं—भगवान् को संसार में केशव कहा जाता है जो रागी हो [यः के शेषु रागवान् स 'केशवः'[२], जो केशों मे अनुरागी हो उसे केशव कहते हैं] परन्तु तुम तो वीतरागी हो, अतः तुम्हारे अन्दर वह केशवत्व कैसे आ सकता है? 'केशव'[३] के अन्य प्रश्न मूलक शाब्दिक तात्पर्य को लेकर इन्द्र कहते हैं—भगवन् वास्तव में वे ही जड़ हैं जो तुम्हारा उपहास करते है और ऐसे जन का नरक-वास ही निश्चित है, भगवान्! तुम काश्यप हो, जड़ आचार से विहीन हो, एकाग्र चिन्ता निरोध पूर्वक ध्यानी हो, आकाश अग्नि, चन्द्र, सूर्य, यजमान, पृथ्वी, पवन सलिल—इन आठ शरीरो से युक्त महेश्वर हो, परमौदारिक शरीर से युक्त हो, कलिकाल के समस्त पाप-पक से मुक्त[४] हो, सिद्ध हो, बुद्ध हो, शुद्धोदनि हो, सुगत हो, कुमार्ग नाशक

जय परमाणंत चउक्क सोह,
भावंधसारहर दिवसणाह।
जय जण्ण पुरिस पसु जण्णणासि,
रिसि संस अहिंसाधम्मभासि॥

१. जय माहव तिहुवण माहवेस,
महुसूयण दूसिय महु विसेस।
जय लोयणि अोइय परमहंस,
गोवद्धण केसव परमहंस।
जगि सो केसउ जो रायवंत,
तुह णीरायहु, कहिं केसवत्तु।
—महापुराण १०, ५

२. देखिये, महापुराण १०, ५ की टिप्पणी

३. केसव ते सव जे पइ हसंति,
जड पावपिंड रउरवि वसंति।
जय वासव का सव विहि तुमम्मि,
णेरंतरू चित्ति णिरोहु जम्मि।
जय गयण हुयासण चद रवि,
जीवय महि मारुय सलिल।
अट्ठङ्ग महेसर जय सयल,
पक्खालिय कलिमल कलिल॥
—महापुराण १०, ५

तुलना कीजिये—
या सृष्टि सृष्य राद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री। ये द्वे सन्ध्ये विधत्त श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्व। यामाहु 'सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणिन. प्राणवन्त.। प्रत्यक्षाभि 'प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।'
—अभिज्ञान शाकुन्तल १, १ तथा मालविकाग्निमित्र १, १

४. जय जय सिद्ध बुद्ध सुद्धोयणि,
सुगय कुमग्गणासणा।
जय वइकुण्ठ विट्ठु दामोयर,
हय परवाइ वासणा॥
—महापुराण १०, ६

हो, वैकुण्ठ-वासी विष्णु हो, दामोदर हो तथा परवादियों की वासना को नष्ट करने वाले हो।

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित संस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में ही शिव के त्रिमूर्ति रूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है। यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैन दृष्टि को सम्मुख रख कर की गई है। परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोक-प्रचलित शिव के एकेश्वरत्वने भी अंशतः उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है, पुष्पदन्त का युग जैन-धर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था। खजुराहो[१] के १००० ईस्वी के शिलालेख नम्बर पाँच मे शिव का 'एकेश्वर' रूप में तथा 'विष्णु' 'बुद्ध' और 'जिन' का उन्ही के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इमी तथ्य को पुष्ट करता है। यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल में धार्मिक सघर्ष ने उग्र रूप धारण किया और चार्वाक, कौल तथा कापालिकों के साथ बौद्ध और जैनों को भी विधर्मी माना गया[२]।

वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य :

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव—दोनो के ऐक्य के समर्थक हैं जो निम्न प्रकार है

शिव रात्रि तथा कैलाश :

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी है और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का वहाँ बड़ा महत्व है। जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त के समस्त देशों मे विहार किया, भव्य जीवोंको धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे। वहाँ पहुँच कर योग-निरोध किया और शेष कर्मों का क्षय करके माघकृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की[३]।

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) से जिस दिन शिव-गति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिव-गति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि-रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उत्तर प्रान्तीय जैनेतर वर्ग मे प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है। उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचांगों में मौलिक भेद ही इसका मूल कारण है। उत्तर प्रान्त में मास का आरम्भ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिणमें शुक्ल-पक्ष से। प्राचीन मान्यता भी यही है। जैनेतर साहित्य मे चतुर्दशी के दिन ही शिव-रात्रिका उल्लेख मिलता है। ईशान[४] सहिता मे लिखा है।

माघे कृष्णा चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिव-लिंगतयोद्भूतः कोटि सूर्यसमप्रभः।
तत्काल व्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रि वते तिथिः।

प्रस्तुत उद्धरण मे जहाँ इस तथ्य का सकेत है कि माघ-कृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिये, वहाँ उसकी मान्यता मूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा मे कोटि-सूर्य प्रभोपम भगवान् आदिदेव (वृषभनाथ), शिवगति प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग (चिह्न) से प्रकट हुए—अर्थात् जो शिवपद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे। वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे।

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण पक्ष मे ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध मे दोनों ही एक मत हैं। जब उत्तर भारत मे फाल्गुन कृष्ण पक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघ कृष्ण पक्ष कहा जायगा। जैन पुराणो के प्रणेता प्राय. दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे है, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघ कृष्ण चतुर्दशी उत्तर भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है! कालमाधवीयनागर खण्ड में प्रस्तुत मास वैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है[५]।

---

१. एपिग्राफिका इण्डिका भाग १, पृ० स० १४८

२. सौर पुराण : ३८, ५४

३. माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्णहे णियय जम्मणक्खत्ते।
(क) 'अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि।'—तिलोयपण्णत्ती
(ख)·········घणतुहिण कणाउलि माह मासि।
सूरग्गमि कसण चउदसीहि णिव्वुइ तित्थंकरि पुरिससीहि। —महापुराण : ३, ३

४. ईशान संहिता।

५. कालमाघवीयनागर खण्ड।

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुनस्य च ।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की ओर उत्तर प्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है ।

गंगावतरण

उत्तर वैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घ काल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई, यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभदेव को असर्वज्ञ दशा मे जिस स्वसंवित्तिरूपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घ काल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग मे प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिए बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया। गंगावतरण जैन परम्परानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है। वह यह है कि जैन भौगोलिक मान्यता मे गंगा नदी हिमवान पर्वत के पद्म नामक सरोवर से निकलती है। वहाँ से निकलकर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्व दिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुडकर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गंगा कूट मे एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटा-जूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएं अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान पर्वत के ऊपर से गंगा की धारा गिरती है। विक्रमकी चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यति वृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति में[१] प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

'आदि जिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।'

अर्थात् गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएँ हैं। प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके ऊपर गिरती है।

१. त्रिलोक प्रज्ञप्ति : ४, २३० ।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है।[२]

सिरिगिहसीसट्ठि यंबुज कण्णिय सिंहासणं जडामउणं ।
जिणमभिसित्तु मणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ।।

अर्थात् श्रीदेवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटा रूप मुकुट वाली जिन मूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिए ही मानो गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है।

त्रिशूल

वैदिक परम्परा मे शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिव मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती है। जैन परम्परा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल मे सम्पन्न दिखलाया गया है। आचार्य वीरसेन ने एक गाथा में त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है[३], सिन्धु उपत्यका से प्राप्त मुद्राओं पर भी ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं जो दिगम्बर है। जिनके सिर पर त्रिशूल है और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित है। कुछ मूर्तियाँ वृषभ चिह्न से अंकित हैं। मूर्तियों के ये दोनो रूप महान योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त खण्डगिरि की जैन गुफाओं (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) मे तथा मथुरा के कुशानकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूल चिह्न का उल्लेख मिलता है[४]।

२. त्रिलोकसार . ५९०, गाथा संख्या ।

३. तिरयण तिसूलधारिय……'धवला टीका, १,४५,४६

४. (a) Kurtshe, list of ancient monuments protected under Act VII of 1904 (Arch, Survey of India New imperial series vol, 4) Trisula in Anant Gumpha P. 273 and in Trisula Gumpha P. 280 :

(b) Smith Jain stupa and other Antiquities of Mathura Ayegapeta tablets Pls. IX, X and XI ।

डा० रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदडो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है।

ब्राह्मी लिपि तथा माहेश्वर सूत्र

जैसी कि जैन मान्यता है तथा पहले हमने महापुराण की पाँचवीं सन्धि में देखा कि भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओं मे पारंगत किया और अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या (अक्षर विद्या) तथा सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई। भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी लिपि है। जैन परम्परा में तथा उपनिषद् में भी भगवान ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा कहा गया है[१]। अतः ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी कहलाई जा सकती है[२] तथा ब्रह्मी से सम्बन्धित लिपि का नाम भी ब्राह्मी हो सकता है।

दूसरी ओर पाणिनि ने अ इ उ ण् आदि सूत्रों (सूत्र बद्ध वर्णमाला) को 'माहेश्वर' बतलाया है[३], जिसका अर्थ है महेश्वर से आये हुए। वैदिक परम्परा मे जहाँ शिव को महेश्वर कहा गया है[४], वहाँ जैन परम्परा मे भगवान ऋषभदेव ही महेश्वर अथवा ब्रह्मा (प्रजापति) है। इस प्रकार वृषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई गई ब्राह्मी लिपि की अक्षर विद्या तथा माहेश्वर सूत्रबद्ध वर्णमाला दोनों में जहाँ स्वरूपतः ऐक्य है, वहाँ यह ऐक्य ही दोनों के प्रवर्तक सम्बन्धी ऐक्य को इङ्गित करता है।

वृषभ (बैल) का योग

वैदिक परम्परा मे शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है। जैन मान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है। गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरूदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था। अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया। सिन्धु घाटी मे प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक युक्तियाँ भी वृषभाकित वृषभ देव के अस्तित्व की समर्थक है। इस प्रकार वृषभ का योग भी शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को संपुष्ट करता है।

भगवान वृषभदेव तथा शिव दोनों का जटाजूटयुक्त[५] तथा कपर्दी रूप चित्रण भी इनके ऐक्य का समर्थक है। भगवान वृषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक-जीवन मे उनके केश बहुत बढ़ गये[६]। फलतः उनके इस तपस्वी जीवन की स्मृति मे ही जटाजूटयुक्त मूर्तियो का निर्माण प्रचलित हुआ।

---

१. ब्रह्मा देवाना प्रथम संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।······मुण्डकोपनिषद. १, १

२. ब्रह्मणः आगता। (ब्रह्मा से आई हुई) इस अर्थ में व्याकरण शास्त्र द्वारा ब्रह्मी शब्द की निष्पत्ति होती है।

३. इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादि सज्ञार्थानि।
सिद्धान्त कौमुदी, प्र० सं० २

४. अथर्ववेदः १६, ४२, ४; १६, ४३ सूक्त
यजुर्वेद ४०, ४६ ऋग्वेद ४, ५८

५. वत्तीसुवएस मुणीसरहं कुडिला उंचियकेसं।
महापुराण ३७, १७ तथा यजुर्वेद १६, ५६

६. संस्कार विरहात् केशा 'जटी भूतास्तदा विभो'
नून तेऽपि तम. क्लेश मनुसोढु तथा स्थिताः।
मुनेर्मूर्ध्निजटा दूरं प्रससुः पवनोद्धता,
ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिका।
आदि पुराण : १८, ७५–७६

उत्तर भारत के गोम्मटेश्वर शान्तिनाथ का नव निर्मित मन्दिर, अहार (छाया—नीरज जैन)

कल्पवृक्ष पर कमलासीन तीर्थंकर राजघाट, बनारस
(छाया—नीरज जैन)
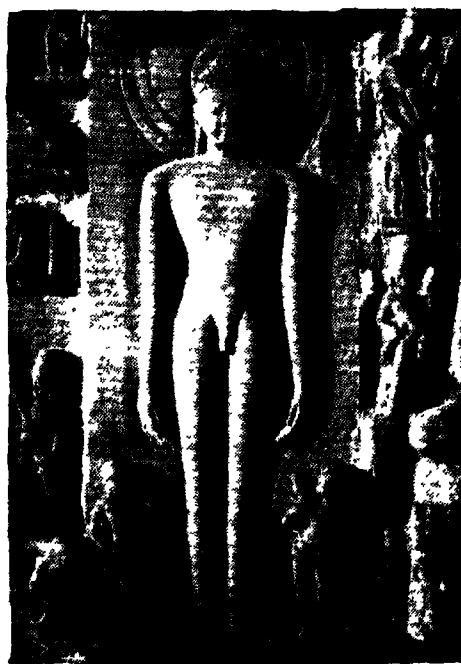
तीर्थंकर मूर्ति देवगढ़

भ० महावीर की एक मनोहर छवि मन्दिर नं २१ देवगढ़
(१०-११वीं शती) छाया—नीरज जैन

पल्लू ग्राम की जैन सरस्वती
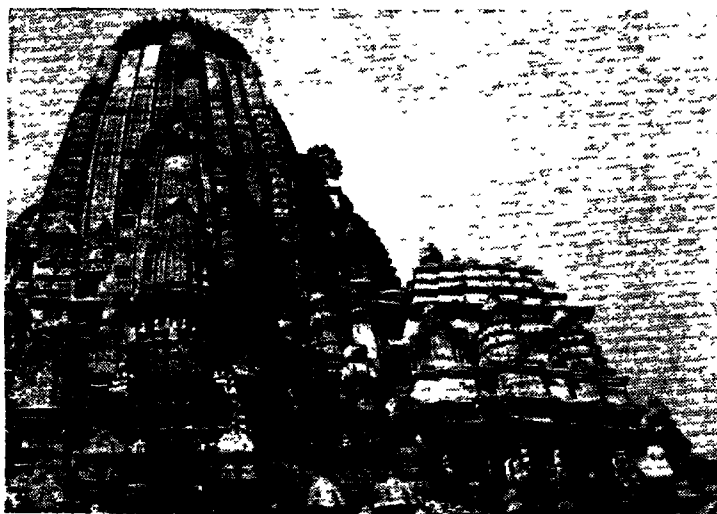
खजुराहो के जग प्रसिद्ध पारसनाथ मन्दिर की कलशयोजना का एक दृश्य (१०-११वीं शताब्दी)
(छाया—नीरज जैन)

तलधर में प्राप्त १६० जिन प्रतिमाएँ

श्री अगरचन्द नाहटा

जिन प्रतिमाओं का निर्माण कब से हुआ—यह निश्चयपूर्वक बतलाना कठिन है। क्योंकि प्राचीन जैन-आगमों में नदीश्वर द्वीप एवं स्वर्ग विमान आदि मे जिन-प्रतिमाएँ होने का उल्लेख मिलता है और उन्हें शाश्वत माना गया है। इस अपेक्षा से तो जिन-प्रतिमा के निर्माण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होती है। पर भारत में अब तक जितनी भी प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है वे मौर्यकाल से पहले की नही हैं यद्यपि खारवेल के शिलालेख से नद-काल मे भी जिन-प्रतिमाएँ पूजी जाती थीं; ज्ञात होता है अनेक स्थानो की चमत्कारी मूर्तियों के सम्बन्ध मे जो प्रवाद प्रचलित है और पूर्ववर्ती ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलते हैं उनसे तो ऐसा लगता है कि भगवान ऋषभदेव के समय से ही जिनमूर्ति स्थापित होने लगीं। भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत ने अष्टापद पर्वत—जहाँ भगवान ऋषभदेव का निर्वाण हुआ था, एक जिनालय का निर्माण किया था। भगवान ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबलि ने भी छद्मस्थकाल में, भगवान ऋषभदेव उनकी राजधानी के पास या बाहर पधारे थे और बाहुबलि बड़े ठाट-बाट के साथ दूसरे दिन जब ऋषभदेव को वन्दन करने के लिए उस स्थान पर पहुँचे तब तक भगवान अन्यत्र विहार कर चुके थे इसलिए बाहुबलि को देरी से आने के कारण भगवान के दर्शन न हो सके, इसका बड़ा खेद रहा। जहाँ भगवान ऋषभदेव के पद-चिह्न उन्हे दिखाई दिये वहाँ उनकी पादुकाएँ स्थापित की गई—ऐसा भी प्रवाद है। वर्तमान मे प्राप्त कई मूर्तियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे भगवान पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि प्राचीन तीर्थंकरों के समय की हैं। पर उन मूर्तियों पर कोई लेख नही मिलता और न पुरातत्व की दृष्टि से वे इतनी प्राचीन सिद्ध की जा सकती है।

उपलब्ध जिन-प्रतिमाओ मे मौर्यकाल की जिनप्रतिमा पटना म्यूजियम में है जो लोहानुपुर से प्राप्त हुई है। उसके बाद की तो मथुरा आदि अन्य स्थानो मे भी मिला हैं। मथुरा में सुपार्श्वनाथ व पार्श्वनाथ स्तूप पाश्चात्य विद्वानों की राय में भी देव-निर्मित माने जाने के कारण काफी पुराना होना चाहिये। गुप्तकाल की कुछ सुन्दर प्रतिमाएँ मिलती हैं पर अधिकांश प्रतिमाएँ मध्यकाल की ही मिलती हैं।

मध्यप्रदेश में जैन पुरातत्व बहुत अधिक बिखरा पड़ा है। गुप्तकाल से लेकर १६वीं शताब्दी के बीच की हजारों जैन-प्रतिमाएँ व अनेक मन्दिर आज भी प्राप्त हैं। उनमें से अधिकांश मन्दिर मूर्तियें खडित व भग्न-रूप में ही हमें मिलती है। देवगढ़ का जैन शिल्प तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ११वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के बीच जैनधर्म का मध्यप्रदेश में बड़ा भारी प्रभाव रहा है। महाराजा भोज और नरवर्म आदि बहुत से नृपतिगण जैनाचार्यों से प्रभावित थे। अनेक स्थानों की जैन मूर्तियाँ इधर कुछ वर्षों में ही जैनों और पुरातत्व विभाग की उपेक्षा से खडित हो गई हैं। अभी-अभी नरवर के एक तलघर से प्राप्त १६० जिन-प्रतिमाओं की जानकारी "मध्यप्रदेश संदेश" के ता० १९ मार्च ६६ के अक में प्रकाशित हुई है। श्री कुरेशिया के "जिला पुरातत्व संग्रहालय, शिवपुरी" नामक लेख से विदित होता है कि वे प्रतिमाएँ अभी शिवपुरी में स्थापित नवीन संग्रहालय में रखी हुई हैं। १३वी से १६वी शताब्दी के लेख उन प्रतिमाओ पर खुदे हुए हैं। प्रतिमा लेखों की पूरी नकल मिलने से सम्भव है जैन इतिहास की कुछ अज्ञात बातें प्रकाश मे आयेंगी।

"मध्यप्रदेश सन्देश" में नरवर से प्राप्त १६० जिन-प्रतिमाओं सम्बन्धी जानकारी इस प्रकार है—

"नरवर में एक तलघर था जिसमें १६० जिन-प्रतिमाएँ सुरक्षा हेतु रखी हुई थीं। ऐसा ज्ञात होता है कि शत्रुओ के आक्रमणों के कारण किसी जैन साधु ने मन्दिर के तलघर मे सारी जैन प्रतिमाएँ सुरक्षा हेतु छिपा कर बन्द कर दी हों। सम्भव है कि वे व्यक्ति जिनको इन प्रतिमाओकी जानकारी थी, आक्रमण मे वीरगति को प्राप्त हो गए हों और इस तलधरकी जानकारी भी उनके साथही चली गई हो। यहाँ तक हुआ एक मकानका निर्माण इस तलधर के ऊपर हो गया जो कि वर्तमान मे भी स्थित है।

सन् १९३६ में एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण प्रतिमाएँ छिपाकर रखी गई थीं। उसी लड़ाई के कारण उनका पता साधारण व्यक्ति को चला है।

दो बैल लड़ रहे थे, जिसमें से एक बैल एक गड्ढे में गिर पड़ा। बैल निकालने के लिए गड्ढे को बड़ा किया गया और तलघर का पता साधारण जनता को हो गया। इस प्रकार इन अद्वितीय मनोरम कलाकृतियो की जानकारी जन-साधारण को प्राप्त हुई। ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग ने छानबीन कर इन प्रतिमाओं की सूची तैयार की। इन प्रतिमाओं को उस तलघर से बाहर निकालने की अनेक योजनाएँ बनी। किन्तु दुर्भाग्यवश कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। "कला क प्रेमियो ने इन प्रतिमाओ की जो दुर्दशा की है वह अवर्णनीय है, जिसके कारण आज १६० प्रतिमाओ मे प्राय. सभी प्रतिमाएँ खण्डित हैं। अधिकतर प्रतिमाओ के सिर काटकर ले जाए गए हैं जो कला-प्रेमियों को बेच दिए जाते थे।" वे उनको अपने निवास स्थान मे रखकर घर की शोभा बढ़ाते हैं। इस प्रकार के कला-प्रेमियों के कारण देश मे अनेकों अनुपम कलाकृतिया खण्डित हुई और इस प्रकार कार्य करने वाल व्यक्ति उनको यह नीच कार्य करने के लिये उत्साहित करते रहे। जिसके फलस्वरूप अनुपम कलाकृतियाँ खण्डित अवस्था में मिलती हैं। सन् १९५९ में एक चोर रगे हाथों पकड़ा गया। जिसका मामला न्यायालय मे चलता रहा तथा उस व्यक्तिको कुछ मास का कारावास भोगना पड़ा। इस पर शासन ने उन प्रतिमाओं को तलघर से बाहर निकालने के आदेश देकर पुरातत्व तथा कला की बड़ी सुरक्षा की। इस प्रकार वे समस्त प्रतिमाएँ वहाँ से निकाल कर शिवपुरी में जिलाधीश महोदय के कार्यालय के समीप एक पुराने सायकिल स्टैंड में संग्रहीत की गई। इन प्रतिमाओं को वहाँ से लाने तथा तलघर से बाहर निकालने के कारण बहुत-सी प्रतिमाएँ खण्डित भी हो गई हैं। फिर भी उन प्रतिमाओं को तलघर से बाहर निकालने के बाद शिवपुरी मे रखने का एक सराहनीय कार्य है। इस प्रकार शिवपुरी संग्रहालय प्रारम्भ हुआ।

इस 'संग्रहालय में जैन प्रतिमाओं का ऐसा अद्वितीय संग्रह होना किसी भी 'देश के संग्रहालय में सम्भव नहीं है।' यह भी लिखा जा सकता है कि 'ससार के किसी सग्रहालय में इतनी उत्तम जैन प्रतिमाओं का संग्रह नहीं मिल सकता।' जिससे शिवपुरी संग्रहालय देश का एक प्रमुख जैन सग्रहालय बन जावेगा। २४ तीर्थकरों मे लगभग १४ तीर्थकरों की प्रतिमाएँ दीर्घा मे सुचारु रूप से प्रदर्शित की गई हैं। शेष तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ मध्यकाल की कला के अनुपम नमूने हैं। जिनकी पालिश आज भी ऐसी चमकती है जैसे अभी की गई हो।

भवन क मुख्य द्वार मे प्रवेश करने पर एक जैन तीर्थंकर का प्रतिमा ध्यानमुद्रा मे अर्द्ध-चन्द्राकार लकड़ी की चौकी पर प्रदर्शित की गई है। इस प्रतिमा पर एक चमकदार पालिश की हुई है जिसको देखकर ऐसा प्रतीत होता है। कि यह पालिश अभी की गई है। उसके उपरान्त दीर्घा क्रमाक १ आती है। इस दीर्घा मे १४ तीर्थंकर प्रतिमाए प्रदर्शित की गई हैं और ये प्रतिमाएँ प्राय: कायोत्सग मुद्रा मे है तथा दो-तीन प्रतिमाएँ ध्यान मुद्रा हैं। किन्तु सारी प्रतिमाए देखने योग्य हैं, साथ ही कला मे अपना विशेष स्थान रखती हैं। इस दीर्घा के उपरान्त बरामदा आता है। इस बरामदे मे लाल पत्थर की एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्यान मुद्रा मे अर्द्धचन्द्राकार लकड़ी की चौकी पर प्रदर्शित की हुई है। यहाँ पर लाल रग के पत्थर की प्रतिमाएँ अधिकतर नही मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विशेष प्रकार का पत्थर अन्यत्र कही से लाया गया होगा। इसके बाद दीर्घा क्रमाक २ आती है। इस दीर्घा मे कुछ खडित प्रतिमाएं बिना चौकी के प्रदर्शित की हुई है तथा पांच बड़े बड़े शो-केसों को भी बनवाया गया है। इस दीर्घा के बाहर एक भव्य पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्यान-मुद्रा मे अर्द्ध-चन्द्राकार लकडी की चौकी पर प्रदर्शित की हुई है। इस प्रतिमा पर अच्छी चमकदार पालिश की हुई है।

इसके उपरान्त भवन के पिछले भाग में खंडित प्रतिमाएँ तथा चौकियाँ प्रदर्शित की हुई हैं। कुछ चौकियाँ अत्यन्त सुन्दर है। इन चौकियों में सिंह तथा हाथी अंकित किये गये हैं। एक चौकी में ६ पंक्तियों का एक संस्कृत श्लोक उत्कीर्ण है। जिसमें संवत् १२४२ दिया गया है।

संग्रहालय भवन के पीछे एक स्तम्भ भूमि में गाड़कर प्रदर्शित किया गया है। यह स्तम्भ भी इन्हीं प्रतिमाओं के साथ नरवर में स्थित तलघर से ही प्राप्त हुआ है। इसके चारों तरफ जैन साधु अंकित हैं। क्योंकि जैनधर्म में साधुओं को विशेष स्थान एवं महत्व दिया जाता रहा है। इस जैन चौमुख स्तम्भ पर यह लेख संस्कृत भाषा में अंकित हैं, "सवत् १५१७ श्री नभ भीतराठा श्री कष्ट सप्तया······।" इस प्रकार और अन्य जैन प्रतिमाएँ जो कि नरवर से प्राप्त हुई हैं उनमें १२४२, १२४३ तथा १५१७ सवत् मिलता है। इन तिथियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सारी जैन प्रतिमाएँ जो नरवर से प्राप्त हुई हैं वे मध्यकालीन है। उस समय यहाँ पर जैन धर्म का अधिक प्रचार था।"

समय-समय पर जैन मूर्तियों की रक्षा के लिये भूमि-गृहो आदि मे रखा जाता था और कही-कही तो खड्डा खोदकर या बालू के धोरों आदि के नीचे भी मूर्तियाँ छिपाकर रखी जाती थी—ऐसी बहुत-सी मूर्तिया उदय-काल पाकर प्रकट होती रही हैं। उन मूर्तियों के प्रति लोगों की विशेष श्रद्धा होना स्वाभाविक है। १७वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक मूर्तियो के प्रकट होने की अनेकों घटनाएँ सुनी जाती है। कइयो के सम्बन्ध में तो समकालीन उल्लेख भी मिलते हैं। महोपाध्याय समय सुन्दरजी के घघाणी व सेत्रावा मे मूर्तियों के प्रकट होने सम्बन्धी दो स्तवन प्राप्त होते हैं। उन स्तवनों के कतिपय पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

(१) सवत् १६५५ के फाल्गुण सुदि रविवार को सेत्रावा मे ५ मूर्तियाँ प्रकट हुई जिनका उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है—

संवत सोल पंचावइन, फागण सुदि रविवार।
प्रगट थई प्रतिमा घणी, सेत्रावा सिणगार ॥२॥
ऋषभ शीतल शांति वीरजी, श्रीवासुपूज्य अनूप।
सकल सुकोमल शोभती, प्रतिमा पांचे सरूप ॥३॥
श्री संघ रंग वधामणा, आनंद अंग न माय।
भाव भगति करि भेटियो, प्रथम जिणेसर राय ॥४॥

(२) घंघाणी के डुघेला तालाब के खोखर नामक देहरे के भूमिगृह मे सवत् १६६२ के जेठ सुदि ११ को बहुत-सी प्रतिमाएँ प्रकट हुई थीं जिनके विषय में बिस्तार से कवि ने वर्णन किया है—

अम देश मण्डोवर महा, बल सूर राजा सोहए।
तिहां गाम एक अनेक बानक, घंघाणी मन मोहए ॥१॥
डूघेला रे नाम तलाब छं जिहरउ,
तसु पूठइ रे खोखइ नामक देहरउ।
तसु पाछं रे खिणंता प्रगटयउ भूंहरौ,
परियागत रे जाण निधान प्रगट्यो खरउ ॥
प्रगट्यउ खरउ भूंहरउ, तिण मांहि प्रतिमा अति भली।
जेठ सुदी इग्यारस सोल बासठ, बिंब प्रगट्यउ मन रली ॥
केतली प्रतिमा केहनी वलि, किण भराव्यउ भावसुं।
ए कउण नगरी किण प्रतिष्ठी, ते कहुं प्रस्ताव सुं ॥२॥
ते सगली रे पैंसठ प्रतिमा जाणियइ,
जिन शिवमी रे सगली विगत बखाणियइ।
मूलनायक रे श्री पद्म प्रभू पास जी,
इक चौमुख रे चौवीसटउ सुविलास जी।
सुविलास प्रतिमा पास केरी, बीजी पणी ते वीसए।
ते मांहि काउसगिया बिहुं दिशि, बेउ सुन्दर दीसए ॥
वीतरागनी चउवीस प्रतिमा, वली बीजी सुन्दरू।
सगली मिली नै जैन प्रतिमा, सेंतालीस मनोहरू ॥३॥
इन्द्र ब्रह्मा रे ईसर रूप चक्केश्वरी,
इक अंबिका रे कालिका अर्द्ध नारेश्वरी।
विन्यायक रे जोगणी शासन देवता,
पासे रहइ रे श्री जिनवर पाय सेवता ॥
सेविता प्रतिमा जिण भरावी, पांच पृथ्वीपाल ए।
चन्द्रगुप्त सम्प्रति बिन्दुसार, अशोकचन्द्र कुणाल ए।
कंसाल जोड़ी धूप धाणी, दीप सख भृगार ए।
त्रिसठिया मोटा तवा काल ना, एह परिकर सार ए ॥४॥
मूलनायक प्रतिमा भली परिकर अभिराम।
सुन्दर रूप सुहामणउ, श्री पद्म प्रभु स्वाम ॥१॥

इसी तरह खींवसर गांव में १७वीं शताब्दी में जैन मूर्तियाँ प्रकट हुई थीं उनके सम्बन्ध में एक अन्य कवि का रचा हुआ स्तवन प्राप्त है। सं० २०१३ में बीकानेर से ७० मील अमरसर गांव में बालू के टीबे में १६ प्रतिमाएँ निकली थीं जिनमे से २ पाषाण और १४ धातुमय है। जिनमें से १२ जिन-प्रतिमाएँ और २ देवियों की प्रतिमाएँ हैं। १० प्रतिमाओं पर लेख खुदे हुए हैं जो सवत् १०६३ से १२३२ के हैं। ये प्रतिमा लेख हमारे "बीकानेर जन लेख संग्रह" के पृ० ४०६ मे छप चुके हैं।

अपभ्रंश-चरित-काव्य

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

अपभ्रंश नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की पुरोगामिनी भाषा है। बोली तथा भाषा रूप में ही नही साहित्य में प्रतिष्ठित हो जाने पर भी लोक जीवन से इसका बराबर सम्बन्ध बना रहा है। इसलिए इस भाषा का लिखा हुआ साहित्य जन-साहित्य तथा संस्कृति का पुरस्कर्ता है। यदि अपभ्रंश अहीरों, मछुओं, धीवरों आदि निम्न जाति के लोगों की ही बोली होती तो उनकी जातीय प्रवृत्तियों का तथा आचार-विचार प्रधान विशिष्ट संस्कारो का लेखा-जोखा अवश्य ही इस साहित्य मे मिलता, परन्तु उनकी रीति-नीति भाषा तथा जातीय संस्कारों की किसी प्रकार की भी छाप इस साहित्य पर लक्षित नही होती। यद्यपि उत्तर वैदिक काल से लोक-नाट्य का प्रचलन हो गया था, लेकिन उसमे प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता था, क्योंकि वह जातिभाषा थी। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र[1] में चार प्रकार की भाषाओंका उल्लेख किया है—अति भाषा, आर्य भाषा, जाति भाषा और योन्यन्तरी भाषा। वस्तुतः भाषा संस्कृत ही थी। भाषाओं के नाम पर प्रचलित अन्य बोलियाँ थीं। जिस भाषा मे वैदिक शब्दो की बहुलता थी, जो देव जाति की भाषा थी उसे अतिभाषा कहते थे। राजा तथा शिष्ट लोगों की भाषा आर्यभाषा कही जाती थी। यह भाषा सवारी जा चुकी थी और साहित्य मे भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुकी थी इसलिए इसे "संस्कृत" कहा जाने लगा था। जाति भाषा दो प्रकार की थी—एक तो उन लोगों को भाषा थी जो "म्लेच्छ" शब्द से व्यवहृत होते थे और दूसरे जो भारतवर्ष मे रहते थे। योन्यन्तरी भाषा जंगली बोली कही जाती थी, जो गाँव, जगल तथा वन में उत्पन्न होने वाले पशुओं की बोली थी। सामान्यतः लोकनाट्य मे स्त्री तथा नीच जातिके लोग प्राकृत का ही प्रयोग करते थे। इससे स्पष्ट है कि लोक-परम्परा से विकसित प्राकृतों की उत्तरकालीन अवस्था अपभ्रंश है; न कि अहीर मछुआ आदि की बोली। इसका मूल रूप आज भी वैदिक और अवेस्ता की भाषा मे लक्षित होता है।

अपभ्रंश का अधिकांश उपलब्ध साहित्य जैन और बौद्ध साहित्य है। रासो तथा मुक्तक रचनायें ही जैनेतर साहित्य की साक्ष्य के लिए प्रमाण हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि अन्य साहित्य इसमे लिखा नहीं गया। मेरा अनुमान है कि सभी जाति के लोगो ने सभी प्रकार का साहित्य लिखा होगा, परन्तु मध्यकालीन उथल-पुथल मे अधिकतर साहित्यकाल के गर्भ मे समा गया अथवा किन्ही काल-कोठरियो के अन्धकार की रक्षा करते करते उनके साथ विलीन हो गया है। कारण जो भी रहा हो। यह निश्चित है कि अपभ्रंश के जैन साहित्य की रक्षा तथा देखभाल करने का श्रेय जैन भण्डारों को है। और यह साहित्य भारतवर्ष के सभी भागो में विविध काव्य-रूपों में लिखा हुआ मिलता है।

कथा और चरितकाव्य—

कथा में जीवन की किन्हीं घटनाओ विशेष का आकलन होता है और चरितकाव्य मे किसी महापुरुष या नायक का सम्पूर्ण जीवन वर्णित रहता है। नायकके समग्र जीवन का तथा जीवन की विभिन्न घटनाओं और संघर्षों का मुख्य रूप से वर्णन होने के कारण आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे "सकलकथा" कहा है। और आचार्य हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते है[2]। उदाहरण के लिए—आ०

---

१ सस्कृत प्राकृत चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च॥
नाट्यशास्त्र, १७, २७,
तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता।
अतिभाषा तु देवनामार्यभाषा तु भूभुजाम्॥
वही, १७, २८

२ "सकलकथेति चरितमित्यर्थः।"—काव्यानुशासन, ८, ८ की वृत्ति।

हरिभद्रसूरि विरचित "णेमिणाहचरिउ" चरितकाव्य है। परन्तु उसके अन्तर्गत वर्णित सनत्कुमार की कथा कथाकाव्य है जिसे खण्डकथा भी कहा जा सकता है[१]। कथाकाव्य वह प्रबन्ध-रचना है जिसमें निजन्धरी की कथा महाकाव्य की भांति उदात्त शैली में तथा सन्धिबद्ध एव पद्यबद्ध रूप में वर्णित रहती है। परन्तु चरितकाव्य मे किसी एक महापुरुष का चरित प्रायः पौराणिक शैली में वर्णित होता है। अतएव किसी भी रचना के पीछे "चरिउ", "कहा", पुराण या "कव्व" शब्द जुड़ा होने से वह चरित, कथा, पुराण या काव्य वाचक नही हो सकती। क्योकि अपभ्रंश के कवि जिस रचना को कथा कहते हैं उसी को चरित भी। वे रामकथा या रामचरित अथवा भविष्यदत्तकथा और भविष्यदत्तचरित में अन्तर मान कर नही चलते। परन्तु अर्थप्रकृतियाँ, कार्यावस्थाए, नाटकीय सन्धिया, कार्यान्विति तथा कथा-तत्त्वो की सयोजना में इन दोनों मे अन्तर दिखाई पड़ता है। यथार्थ मे चरित लोक मे देखा जाता है, काव्य मे तो वस्तु ही प्रधान होती है। लेकिन चरितकाव्य मे मूल चेतना कथा न होकर कार्य-व्यापार होती, जिसमे नायक का प्रभावशाली चरित्र चित्रित किया जाता है।

डा० शम्भूनाथसिंह ने अपभ्रंश काव्यो की दो शैलियां मानी है—पौराणिक और रोमाचक। इन दोनो शैलियो मे लिखे गये काव्यो को चरितकाव्य कहा गया है। सस्कृत के चरितकाव्य चारों शैलियो (शास्त्रीय, पौराणिक, रोमाचक, ऐतिहासिक) मे तथा प्राकृत के तीन शैलियो मे लिखे गये है[२]। परन्तु तथ्य यह है कि अपभ्रंश के चरितकाव्य अधिकतर पौराणिक शैली मे लिखे गये हैं और कथाकाव्य रोमाचक शैली मे। "विलासवईकहा" रोमांचक शैली मे लिखा हुआ उत्कृष्ट कथाकाव्य है। यद्यपि ही भेदकरेखा नहीं मानी जा सकती परन्तु कहीं-कही शैलीगत यह अन्तर अवश्य मिलता है। अपभ्रंश के अधिकतर काव्य पौराणिक शैली में लिखे गये है। इसलिए कथाकाव्यो से चरितकाव्यों की संख्या अधिक है। सामान्यतया कथाकाव्य उपन्यास की भांति रोचक तथा कुतूहल वर्द्धक शैली में लिखे गये हैं। सभी कथाकाव्य पद्यबद्ध हैं। इनमें वर्णित कथावस्तु लोककथा एवं कल्पित है जो विस्मय, औत्सुक्य, कुतूहल तथा भावनातिरेक से अनुरंजित लक्षित होती है। कथाकाव्य के नायक लोकजीवन के जाने-माने और पहिचाने हुए साधारण पुरुष होते हैं जो सुख-दुःख से अनुप्राणित आशा-निराशा, धीरज-अधीरता, हर्ष-विषाद और भय एव साहस के हिंडोलों मे झूलते हुए दिखाई पडते हैं। जहाँ उनके जीवन में अन्धकार है वही प्रकाश की उज्ज्वल किरनें मुस्कराती हुई लक्षित होती हैं और अनुराग से रंजित प्रकृति सहानुभूति प्रकट करती हुई जान पड़ती है। अधिकांश चरितकाव्यों मे आदर्श की प्रधानता है और कथाकाव्यों मे यथार्थ की। यद्यपि दोनों में ही नायक या नायिका के असाधारण कार्यों का वर्णन रहता है परन्तु एक में वह दैवी सयोग, और धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध होता है और दूसरे में (चरितकाव्य मे) अतिलौकिक एव असंभव घटनाओं से अनुविद्ध। यही कारण है कि चरितकाव्यों में आदर्श चरित्रों की प्रधानता रहती है और उनके जीवन की सिद्धि तथा पूर्णता का वर्णन किया जाता है। निश्चय ही चरितकाव्य का नायक लौकिक जीवन की सीमाओं मे ऊपर असाधारण गुण, शक्ति, ज्ञान आदि से समन्वित पूर्ण पुरुष के रूप में चित्रित किया जाता है। परन्तु कथाकाव्य में वे यथार्थ के अधिक निकट हैं। यथार्थ मे चरितकाव्य पुराणों से विकसित हुए हैं इसलिए आख्यान तथा इतिवृत्त के साथ ही पौराणिक पुरुष के रूप मे उनका असभव तथा अकल्पित रूप भी वर्णित रहता है। कथाकाव्य में भले ही आदर्श पुरुष का जीवन विन्यस्त हुआ हो, परन्तु पूर्ण पुरुष के रूप में उसका चित्रण नही किया जाता। और फिर, चरितकाव्य की वस्तु अधिकतर पुराणो से अधिग्रहीत होती है किन्तु कथाकाव्य की कथावस्तु लोक-जीवन तथा लोकतत्त्वों से समन्वित होती है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यों में जहाँ सामाजिक यथार्थता लक्षित होती है वहीं धार्मिक वातावरण तथा इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे जातीयता और परम्परा का भी बोधन होता है। उपन्यास की भाँति इनमें भी तथ्य, कल्पना, यथार्थता

---

१ ग्रन्थान्तरप्रसिद्ध यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती॥ वही

२ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा०शम्भूनाथ सिंह, पृ० १६४

और घटनाओं का सजीव वर्णन मिलता है। परन्तु परिस्थिति जन्य धार्मिक रूढ़िबद्धता और विवेकशीलता के अभिव्यक्तिकरण में कहीं-कहीं कथानक दब सा गया है। और अधिकतर यह वृत्ति कथा के उत्तरार्द्ध में लक्षित होती है। वस्तुतः घटनाएं जीवन के सम्पूर्ण चित्र प्रतिबिम्बित करने के लिए चित्रित की गई हैं और भावनाओं तथा विचारों के अनुसार नायक के जीवन-क्रम में उनका सकोच और विस्तार हुआ है। अधिकतर पात्र-वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं इसलिए वे स्थान-स्थान पर धार्मिक मान्यताओ एव लोक-विश्वासो को प्रकट करते हैं।

जिस प्रकार से हीरोइक पोइट्री के नायक युद्ध तथा संकट काल मे अदम्य साहसिक प्रवृत्तियो तथा कार्यों का परिचय देते दिखलाई पड़ते हैं उसी प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यो के नायक भी अदम्य साहस का परिचय देते हुए चित्रित किये गये हैं। और इसलिए जहा उनमे शूरवीरता है वहीं दया, क्षमा, वात्सल्य, स्नेह आदि मानवीय गुणों की भी प्रतिष्ठा हुई है। उनका जीवन मानव से देवता बनने का एक अद्भुत उपक्रम है जिसमे वे अन्ततः सफल होते हैं। इस प्रकार नायक का जीवन सघर्ष-विघणों का जीवन है जिसमे सचाई और ईमानदारी तथा उपकार की भावना उन्हे सामान्य जीवन से ऊँचे उठाने में सहायक सिद्ध होती हैं।

चरितकाव्य का स्वरूप—

शैली की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य मुख्य रूप से तीन प्रकार की काव्यात्मक विधाओं मे लिखा हुआ मिलता है— पुराणकाव्य, कथाकाव्य और चरितकाव्य। यद्यपि अपभ्रंश कवियों ने अपनी रचनाओ के सबध मे कोई स्थिर मत नहीं दिया है और इसीलिए वे जिस काव्य को "कहाकव्व" या कथाकाव्य कहते हैं उसी को "चरिउ" या चरितकाव्य भी कहते हैं। और इसी प्रकार से वस्तु की दृष्टि से जो पुराण सज्ञक काव्य हैं वे ही चरितमूलक भी। ऐसी स्थिति मे किसी काव्य का स्वरूप निर्धारण करना कठिन अवश्य ही हो जाता है परन्तु काव्य की शैली के अनुसार उसका रूप बहुत कुछ अंशो में निश्चित हो जाता है।

डा० भायाणी के अनुसार स्वरूप की दृष्टि से पौराणिक तथा चरितकाव्य में अधिक अन्तर नही है। पौराणिक काव्य मे विषय का विस्तार होता है तथा सन्धियों की बहुलता। और चरितकाव्य में विषय संक्षिप्त तथा मर्यादित रहता है[१]। सस्कृत-साहित्य में पुराणों की एक लम्बी परम्परा दिखाई पड़ती है। पुराणों में केवल दन्तकथाएं या प्रचलित लोक कथाओं का ही वर्णन नहीं रहता है परन्तु वे भारतीय सस्कृति, समाज तथा इतिहास के पुरस्कर्ता हैं जो अनुश्रुतियों के रूप मे युग-युगों से ख्यात हैं। पुराणों का मुख्य स्वरूप हैं—पंच लक्षणों का समाहार। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर विकास तथा विनाश तक की कथा का इसमे वर्णन रहता है। और वशावली तथा राज्यस्थिति एवं कालक्रम का विस्तृत वर्णन किया जाता है। आचार्य जिनसेन रचित "आदिपुराण" इसी कोटि का काव्य है जिसमे कुलकरों का वर्णन, सृष्टि रचना, समाज-व्यवस्था, कृषि, शिल्प, वाणिज्य-व्यवसाय शस्त्र-शास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति तथा विकास और वशवशान्तरो का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। कथा या वस्तु की दृष्टि से पुराण मे कई कथाओ की संयोजना की जाती है। आख्यानों की विविधता तथा भरमार होने के कारण ही महाभारत को महाकाव्य के भीतर महाकाव्य कहा जाता है।

यद्यपि चरितकाव्य का विकास पुराणों से हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि पुराणों की भांति अतिलौकिक घटनाओं की अतिरंजना कही-कहीं इनमें भी दिखाई पड़ती है परन्तु कई बातो मे ये पुराणो से भिन्न हैं। सामान्यतः निम्नलिखित बातों में भेद है—

(१) पुराण मे कई आदर्श चरित्रों तथा कथाओं का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है। शास्त्रीय महाकाव्य की अपेक्षा अतिरंजित कल्पनाओं तथा घटनाओ की भरमार रहती है। यथार्थ जीवन का भी अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन रहता है।

(२) अधिकतर पुराणों का उद्देश्य व्रत या कथा के माध्यम से उपदेश देना है। धार्मिक उद्देश्य को ही लेकर प्रायः पुराण लिखे गये है जिनमे धार्मिक विश्वास, परम्परागत मान्यता तथा श्रद्धा से अनुरजित भावों की ही प्रधानता रहती है।

१—"पउमसिरि चरिउ" की प्रासगिक भूमिका, पृ० १५।

(३) आकार में यह महाकाव्य से वृहत् होता है। दर्शन, धर्मशास्त्र, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों के समाहार से जहां अध्याय या सर्ग विस्तृत एवं वृहत् मिलते हैं वहीं परिमाण में बहुत बड़ा होता है। कहीं-कहीं तो वर्णनों की ही प्रमुखता दिखाई पड़ती है।

(४) पुराण में साहित्य के प्राय: सभी तत्वों की समन्विति रहती है। नाटक की पंच-सन्धियों, गीति, अतिप्राकृतिक तथा अलौकिक घटनाओं, सर्ग-विभाजन विभिन्न-रस, छन्द तथा अलंकारों का समावेश रहता है।

(५) कथा चमत्कार पूर्ण तथा अतिलौकिक तत्वो (सुपरनेचरल एलीमेन्ट्स) से अनुरंजित रहती है। ऐसी असम्भव से असम्भव बातो का पुराणों मे वर्णन मिलता है जिसका कि साधारण पाठक अनुमान भी नहीं कर सकता। और कहीं-कही ऐसी कल्पनाओ का आश्रय लिया जाता है कि पढ़ने वाले को वस्तु कपोल-कल्पित प्रतीत होन लगती है।

(६) कार्यान्विति की शिथिलता तथा घटनाओ के संगुफन की प्रवृत्ति विशेष होती है। इसलिए कथा मे से कथा निकलती जाती है और कथा-सूत्र इस ढग से आगे बढता जाता है जिस प्रकार से मकड़ी के जाले का प्रसार होता जाता है। और इसीलिए उसमे जटिलता अधिक होती है।

(७) सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के साथ विभिन्न विषयों का समावेश रहता है। इतिहास तथा जीवन क्रम का पूर्ण विवरण इसमे रहता है। अतएव कालान्तर में लिखे जाने वाले महाकाव्यो की कथा पुराणों से ली गई है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अनुसार अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू द्वारा रचित "पउमचरिउ" एक पौराणिक महाकाव्य है जिसमे विविध राजवंशों का कीर्तन करते हुए कवि ने ऐतिहासिक वंशावली का पूर्ण विवरण दिया है। इस महाकाव्य में नब्बे सन्धियां तथा पांच काण्ड (विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर काण्ड) हैं। इससे भी बृहत्रचना महाकवि स्वयम्भू कृत "हरिवंश पुराण" है। इसमें एक सौ बारह सन्धियां हैं जो चार काण्डों में विभक्त हैं। इस विशालकाय ग्रन्थ में कवि ने श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर हरिवंश के अन्त तक का सम्पूर्ण विवरण दिया है। इससे भी बड़ा काव्य पुष्पदन्त का "महापुराण" है जिसमें १०२ सन्धियां हैं। ग्रन्थ लगभग बीस हजार श्लोक प्रमाण है। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलदेव—त्रेसठ शलाका पुरुषों का कथानक वर्णित है। रामायण और महाभारत दोनों की इसमे संक्षिप्त कथाएं संकलित हैं। इसके अतिरिक्त कई अवान्तर कथायें और पूर्वभवों के इतिवृत्त इस पौराणिक महाकाव्य में वर्णित हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई पौराणिक महाकाव्य मिलते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित है—

(१) हरिवंशपुराण—धवल—११२ सन्धियाँ—कौरव पाण्डव एवं श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों का जीवन-चरित्र।

(२) पाण्डवपुराण—यश:कीर्ति—३४ सन्धिया—पाँच पाण्डवों की जीवन-गाथा।

(३) हरिवंशपुराण—पं० रइघू—१४ सन्धियाँ—ऋषभचरित, हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव, बलभद्र, नेमिनाथ और पाण्डव आदि का वर्णन।

(४) हरिवंशपुराण—यश:कीर्ति—१३ सन्धियां—हरिवंश उत्पत्ति आदि वर्णन।

(५) हरिवंशपुराण—श्रुतकीर्ति—४४ सन्धियां—कौरवपाण्डव आदि का वर्णन।

(६) आदिपुराण—पं० रइघू—अनुपलब्ध—आदि तीर्थंकर तथा वंशानुक्रम युक्त।

वस्तुत: संधियो की दृष्टि से पुराण और चरितकाव्य का अन्तर बिलकुल स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ग्यारह या तेरह संधियों से लेकर लगभग सवा सौ—सन्धियो तक के पुराणकाव्य उपलब्ध होते हैं। फिर भी, साधारणतया चरितकाव्य में—चार सन्धियों से लेकर बीस-बाईस सन्धियो तक की रचनाएं ही मिलती हैं। पुराणकाव्य आकार में निश्चय ही चरितकाव्य बृहत् से होते हैं।

चरितकाव्य में मुख्य रूप से किसी महापुरुष या त्रेसठ शलाका के किसी पुरुष का जीवन-चरित वर्णित होता हैं। महापुराणों में स्पष्ट ही त्रेसठ शलाका के पुरुषों के संपूर्ण

जीवन के साथ ही उनके पूर्व भवों, प्रासंगिक विभिन्न घटनाओं, अवान्तर कथाओं तथा जीवन से सम्बद्ध विभिन्न कार्य-व्यापारों का अतिशयोक्ति पूर्वक वर्णन रहता है। परन्तु चरितकाव्य में किसी एक महापुरुष का चरित पौराणिक शैली में या अन्य किसी शैली मे वर्णित रहता है। चरितकाव्य मे नायक के सम्पूर्ण जीवन की विभिन्न घटनाओ तथा संघर्षों का वर्णन होता है। इसलिए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इसे सकलकथा कहा है और आचार्य हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते हैं।१ प्रा० हरिभद्रसूरि रचित "णेमिणाहचरिउ" चरितकाव्य है। किन्तु उसके अन्तर्गत वर्णित सनत्कुमार की कथा-कथा है जिसे खण्डकथा कहा जा सकता है२। अतएव किसी भी रचना के पीछे 'चरिउ", "कहा", "पुराणु" या "कव्व" जुड़ा होने से वह उस कोटि की रचना नही मानी जा सकती है। और इसलिए पुराण नाम से प्रचलित कुछ काव्य ग्रन्थों को चरितकाव्य ही माना जाना चाहिए; पौराणिक नही। उदाहरण के लिए—कवि पद्मकीर्ति विरचित "पार्श्व पुराण" अठारह सन्धियों मे निबद्ध होने पर भी केवल एक महापुरुष तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वर्णित होने के कारण चरितकाव्य ही कहा जायगा। इसी प्रकार जयमित्र हल्ल के "वड्ढमाण कव्व" और "मल्लिणाहकव्व" काव्य सज्ञक होने पर भी चरितकाव्य है। और 'पउमसिरिचरिउ" के पीछे चरित शब्द जुड़ा हुआ होने से वह चरितकाव्य न होकर कथाकाव्य है। वस्तुत: पराणकाव्य की भाँति कथा और चरित तथा कथाकाव्य और चरितकाव्य में कई बातों मे अन्तर है३। अर्थ प्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएं, नाटकीय सन्धियां, कार्यान्विति तथा कथा-तत्त्वों के संयोजन मे इन दोनों मे बहुत भेद मिलता है। यथार्थ में तो चरित लोक में देखा जाता है, काव्य में तो वस्तु ही प्रधान होती है परन्तु चरितकाव्य मे उसकी मूल चेतना कथा न होकर कार्य-व्यापार होता है, जिसमें नायक का प्रभावशाली चरित गुम्फित रहता है।

डा० शम्भूनाथ सिंहने अपभ्रश काव्यों की दो शैलियां मानी हैं—पौराणिक और रोमाचक। इन दोनों शैलियों मे लिखे गये काव्यों को चरितकाव्य कहा गया है। संस्कृत के चरितकाव्य चारो शैलियों (शास्त्रीय, पौराणिक, रोमांचक ऐतिहासिक) मे तथा प्राकृत के तीन शैलियो में है४। परन्तु तथ्य यह है कि अपभ्रश के चरितकाव्य अधिकतर पौराणिक शैली मे लिखे गये है और कथाकाव्य रोमांचक शैली मे। "विलासवई कहा" रोमाचक शैली में लिखा हुआ उत्कृष्ट काव्य है। यद्यपि शैली ही भेदक-रेखा नहीं मानी जा सकती है पर कहीं-कही शैलीगत यह अन्तर अवश्य मिलता है। अपभ्रंश के अधिकतर काव्य पौराणिक शैली में ही लिखे गये हैं। इसलिए कथाकाव्यो के चरितकाव्यो की सख्या अधिक है। संक्षेप में, चरितकाव्य मे किसी महापुरुष के सम्पूर्ण जीवन का विस्तृत वर्णन रहता है; जब कि कथाकाव्य का नायक या नायिका कोई भी साधारण पुरुष या नारी हो सकती है। चरितकाव्य मे आदर्श की प्रधानता रहती है और कथाकाव्य में यथार्थ की। यद्यपि दोनों में ही नायक या नायिका के असाधारण कार्यों का वर्णन मिलता है परन्तु एक मे वह दैवी संयोग और धार्मिक विश्वास से सम्बद्ध होता है और दूसरे मे अतिलौकिक एव असंभव घटनाओं से सबंधित। इसलिए चरितकाव्यों की वस्तु और नायक मे आदर्श चरित्रो की प्रधानता रहती है। और उनके जीवन की सिद्धि तथा पूर्णता का वर्णन किया जाता है। अतएव चरितकाव्य का नायक लौकिक जीवन की सीमाओं से ऊपर असाधारण गुण, शक्ति, ज्ञान आदि से समन्वित पूर्ण पुरुष के रूप में चित्रित किया जाता है। वास्तव में चरितकाव्य पुराणकाव्य से विकसित हुआ है इसलिए पौराणिक पुरुष के रूप में उसका असम्भावित तथा अकल्पित रूप भी वर्णित रहता है। कथाकाव्य मे भले ही आदर्श पुरुष का जीवन-वर्णन हो; परन्तु पूर्ण पुरुष के रूप में उसका चित्रण नहीं होता। और फिर चरितकाव्य की कथा भी अधिकतर

१. "सकलकथेति चरितमित्यर्थः।" काव्यानुशासन ८, ८ की वृत्ति।

२. ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः। मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती॥ वही

३. विशेष दृष्टव्य है—"भविष्यत्तकहा और अपभ्रंश-कथाकाव्य" शीर्षक लेखक का शोध-प्रबन्ध।

४. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० १७४।

पुराणों से अधिग्रहीत होती है। कथाकाव्य की वस्तु लोक-जीवन तथा लोक-कथाओं से अनुप्राणित देखी जाती हैं। इसलिए उनमे कथानक रूढ़िया, लोक जीवन का सजीव चित्रण और कथाभिप्रायों का अद्भुत सामजस्य देखा जाता है।

अपभ्रंश के चरितकाव्य

अपभ्रंश के चरितकाव्यो मे पौराणिक महापुरुष या त्रेसठ श्लाका पुरुषो का जीवन-चरित्र वर्णित है। जीवन के विभिन्न चरितो का विस्तृत अकन है। पूर्व भवो तथा अन्य अवान्तर कथाओं से जहाँ काव्य रोचक तथा सौन्दर्य गरिमा से मण्डित हैं वही कथानक कही-कही जटिल तथा दुहरे हो गये हैं। कथाकाव्यों मे यह बात नही है। अपभ्रंश के प्रमुख चरितकाव्य निम्नलिखित हैं—

णेमिणाहचरिउ (अमरकीर्ति गणि), पज्जुण्णचरिउ (सिंह),पासणाहचरिउ (देवदत्त), णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मण), णेमिणाहचरिउ, (दामोदर) बाहुबलिचरिउ (धनपाल), चदपहचरिउ (भ. यश.कीर्ति), पासणाहचरिउ (श्रीधर), संभवणाहचरिउ, (तेजपाल), सुकमालचरिउ (मुनि पूर्णभद्र), सन्मतिजिनचरित्र (प० रइधू), सनत्कुमारचरित्र (हरिभद्रसूरि), जम्बूस्वामीचरित्र (सागरदत्तसूरि), शान्तिनाथचरित्र (शुभकीर्ति), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), पासणाहचरिउ (असवाल), पासणाहचरिउ (देवचंद), सातिणाहचरिउ (महिन्दु), श्रीपालचरिउ चंदप्पहचरिउ (दामोदर), चदप्पहचरिउ (श्रीचन्द) और पासणाहचरिउ तथा वड्ढमाणचरिउ (कवि श्रीधर) इत्यादि। इनके अतिरिक्त हरिसेणचरिउ (कवि वीर), सांतिणाहचरिउ (कवि शाहठाकुर) रचनाए भी उपलब्ध हुई है। कुछ अनुपलब्ध रचनाएं इस प्रकार है[१] :—

अणंगचरिउ (दिनकरसेन), महावीरचरिउ (अमरकीर्ति), सातिणाहचरिउ (कवि देवदत्त), चदप्पहचरिउ (कवि श्रीधर), चदप्पहचरिउ [मुनि विष्णुसेन) और सातिणाहचरिउ (कवि श्रीधर) आदि।

लगभग इन सभी चरितकाव्यों का प्रारम्भ पौराणिक शैली से हुआ है। कथानायक का जीवन बचपन से ही असाधारण वर्णित है। तीर्थंकरों का जीवन-चरित्र अतिलौकिक तथा धार्मिक बातों से अनुरंजित एवं अनुप्राणित है। पूर्व भवान्तरों की अवान्तर कथाओं से सभी चरितकाव्यों का कलेवर वृद्धिगत हुआ है। महत् तथा आदर्श चरित्रों से जहाँ काव्य में अतिलौकिक रंजना हुई है वही कल्पना की प्रचुरता मे काव्य-कला की छटा भी विकीर्ण हो गई है। कुल मिलाकर जन-जीवन से ऊँचे उठकर एक असाधारण भूमिका पर इन चरित-काव्यो का निर्माण हुआ है जिन पर कवि तथा लेखकों की श्रद्धा एवं अवस्था की छाप लगी मिलती है। तथा धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों और नियमो का भी विशेष रूप से स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश का यह काव्य-साहित्य मध्यकालीन उस धारा को प्रतिष्ठित एव प्रवाहित करने वाला है जो हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल के नाम से विश्रुत है। क्योंकि इनमे रास या लीला अथवा चरित का कीर्तन न हो कर जीवन को समस्त भाव-भूमियो का आकलन किया गया है और अध्यात्म के उस सोपान पर नायकों का जीवन चित्रित किया गया है जो, परमहंस या मुक्त दशा के निकट पहुँच चुके थे या पहुँचने वाले थे। अतएव लौकिक अभ्युदय के साथ उनका अलौकिक अभ्युदय विशेष रूप से इनमे वर्णित है। ❀

१. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह : द्वितीय भाग (पं० परमानन्द शास्त्री), पृ० १४४।

गुण-परीक्षा

गुणी ही गुण की परीक्षा कर सकता है पर गुणहीन मानव कभी भी ऐसा नहीं कर सकता। कांच और रत्न की परख जौहरी ही कर सकता है। भील नहीं, क्षीर और नीर का विवेक हंस ही कर सकता है, बगुला नहीं। वसन्त ऋतु का लाभ कोकिल ही पा सकती हैं, कौआ नहीं। सिंह के पराक्रम को हाथी ही पहिचान सकता है, अन्य नहीं। ज्ञान की कीमत विद्वान ही आंक सकते हैं, अज्ञानी नहीं।

बौद्ध-साहित्य में जैनधर्म

प्रो० भागचन्द्र जैन एम. ए. आचार्य

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनधर्म अनादि और अनन्त है। मानवतावाद का पक्ष जितना अधिक जैनधर्म और दर्शन ने ग्रहण किया है, उतना शायद न किसी प्राचीन और न किसी अर्वाचीन धर्म ने। इस दृष्टि से जैन सिद्धान्त की उपर्युक्त अनुश्रुति का हम सहसा अपलाप नही कर सकते।

वैदिक साहित्य मे उपलब्ध उल्लेखों और मोहन-जोदडो तथा हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त अवशेषों, मूर्तियो व सीलो आदि के आधार पर प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् जैनधर्म को पूर्व वैदिककालीन माने बिना नही रह सकता। इन सभी प्रमाणो के आधार पर यह भी स्वीकार करना होगा कि ब्राह्मण सस्कृति की अपेक्षा श्रमण सस्कृति प्राचीनतर है, भले ही किसी समय-विशेष मे ब्राह्मण सस्कृति का प्रभाव अधिकतम हो गया हो। बुद्ध के समकालीन तीर्थंकरों के जीवन-इतिहास को देखने से इतना पता तो निश्चित ही चलता है कि जैनधर्म भगवान पार्श्व-नाथ और महावीर के समय अत्यधिक प्रभावकारी बना था१।

बौद्ध-साहित्य भी जैन साहित्य की तरह विशाल है। मोटे रूप मे वह पालि साहित्य और बौद्ध-सस्कृत साहित्य के रूप से दो भागो मे विभाजित किया जाता है। नागरी लिपि मे पालि त्रिपिटक का प्रकाशन तो हो चुका, पर उसकी अट्ठकथाओ और टीकाओ आदि का प्रकाशन अभी भी बाकी है। बौद्ध-सस्कृत साहित्य मे से भी अभी थोड़ा ही साहित्य प्रकाश में आ पाया है। चीनी, तिब्बती, वर्मी, सिहली, आदि भाषाओं मे अभी भी इसका विपुल भाग अनुवाद के रूप मे सुरक्षित है जिसका भी प्रकाशन आधुनिक भारतीय भाषाओ मे होना अत्यावश्यक है। इन दोनो प्रकार के साहित्य में से मैंने जैनधर्म व दर्शन विषयक कुछ उद्धरणो को एकत्रित किया है जिनको प्रस्तुत निबन्ध मे बिना मीमांसा किये सक्षेप मे प्रस्तुत करने का यह प्रयास है।

१. **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि**—(क) श्रमण सस्कृति की प्राचीनता, छठी शती ई० पू० मे दोनों, वैदिक और श्रमण सस्कृतिया जनता को प्रभावित करने मे व्यस्त थीं। एक ओर जहाँ यज्ञादि द्वारा वैदिक मन्त्रो के प्रति आस्था और भक्ति प्रदर्शित की जाती थी और बाद मे जहाँ बहुदेवतावाद और एकदेवतावाद मे सक्रमण करते हुए भाव-विषयक दार्शनिक मन्तव्यो के प्रति झुकाव दिखाई देता था२। वहाँ दूसरी ओर एक ऐसी भी सस्कृति का अस्तित्व था, जो उक्त सिद्धान्तो का विरोध करने मे लगी हुई थी। यही है श्रमण सस्कृति जिसका आधारभूत सिद्धान्त है—जीव कर्मों के अनुसार सुख दुःख पाता है। सभी जीव बराबर हैं। जाति भेद से कोई छोटा-बड़ा नही।

श्रमण सस्कृति की उत्पत्ति के विषय मे अनेक मत है। डा० देव का मत है कि क्षत्रिय जाति का आन्दोलन, ब्राह्मण सन्यासी के नियमों का अनुकरण आदि ऐसी बाते है जिन्होने श्रमण सस्कृति को उत्पन्न करने मे सहायता दी।३ परन्तु वस्तुतः बात यह नही है। वैदिक सस्कृति से भी पूर्व व्रात्य लोगो के अस्तित्व का पता चलता है जिन्हे जैनधर्म का पोषक कहा जाता है४।

सुत्त-निपात मे श्रमण चार प्रकार के बताये गये है—मग्गजिन, मग्गदेसक, अथवा मग्गदेसिन, मग्गजीविन और

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये, मेरा निबन्ध—Antiquity of Jainism.

२. दासगुप्ता—A History of Indian Philosophy, Vol. 1. p. 22,

३. History of Jain Monachism, p, 56.

४. देखिये, अथर्ववेद, १५-१-४

मग्गदूसिन१। इसी पुस्तक में श्रमणों को वान्दसील रहकर तीन भागों में विभाजित किया है—तित्थिय, आजीवक और निगण्ठ२। ठाणाङ्ग में ५. भेद दिये है—निगण्ठ, साक्य (बौद्ध), तावस, गेरिय, और आजीव३।

वेदों की मान्यता को अस्वीकार करना, जाति-भेद जन्मना नही कर्मणा मानना आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ थी जिन्हें प्रत्येक श्रमण-शाखा स्वीकार करनी थी।

बौद्ध-साहित्य मे तपस्वियो को समण कहा गया है। कही४ उनको तित्थिय, परिव्राजक, अचेलक, मुण्डसावक, तेदण्डिक, मागन्डिक, अविरुद्धक, जटिलक गोतमक, मग्गदेसिन, मग्गदूसिन आदि भी कहा गया है। समण शब्द तो वहाँ बहुत अधिक प्रचलित है। बुद्ध को महासमण कहा गया है और उनके अनुयायियो को शाक्यपुत्रीय समण५। निगण्ठ नातपुत्त को 'समण निगण्ठा' अथवा *"निगण्ठा नाम समण जाति का"* कहा है६। 'समण-ब्राह्मण' और ब्राह्मण-समण जसे शब्द भी मिलते है जहाँ श्रमण और श्रमणेतर विचारों का प्रतिनिधित्व रहा करता है।

बौद्ध साहित्य मे श्रमण संस्कृति के पोषक ६ तीथको का उल्लेख मिलता है। वे छ है—पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केसकम्बलि, पकुध कच्चायन, सञ्जय बेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नातपुत्त। इनके विवरण के लिए दीघनिकाय का सामाञ्ञफलसुत्त दृष्टव्य है, पर वहाँ पर इन तीथिको के सिद्धान्तो की सही जानकारी नही मिलती। निगण्ठ नातपुत्त का सिद्धान्त तो जिसमे बिल्कुल अस्पष्ट है।

उक्त तीथिको की सैद्धान्तिक और जीवनी विषयक पृष्ठभूमि देखने पर उन्हे हम दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं—

(i) आजीविक सम्प्रदाय जो पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल और पकुध कच्चायन द्वारा चलाया गया।

(ii) जैनधर्म जो पार्श्वनाथ और महावीर ने प्रचलित किया। इनमे आजीवक सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक मक्खलि गोसाल मूलत जैनधर्मानुयायी था। अन्य तीथिकों के भी जैनधर्मानुयायी होने के उल्लेख मिलते हैं। १४वीं शताब्दी तक आजीवक सम्प्रदाय का अस्तित्व मिलता है, बाद मे कहा जाता है कि वह दिगम्बर सम्प्रदाय में अन्तर्हित हो गया७। इस प्रकार वर्तमान मे श्रमण संस्कृति की कुल दो शाखाएँ जीवित है—जैन और बौद्ध।

(ख) जैनधर्म और उसका साहित्य

बौद्ध साहित्य मे जैनधर्म की प्राचीनता विषयक उद्धरण मिलते है। एक समय था जबकि वबर जैसे विद्वानो ने जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा बताया था८। परन्तु पालि साहित्य के अध्ययन से जेकोबीने इसका खंडन किया और प्रतिपादित किया कि पार्श्वनाथ ही ऐतिहासिक व्यक्ति होना चाहिए९। सच पूछा जाय तो बौद्धधर्म के सिद्धान्तो का मूल आधार जैन सिद्धान्त ही रहे है और इसीलिए बौद्धधर्म जैनधर्म से सर्वाधिक प्रभावित जान पडता है।

ऋषभदेव का उल्लेख बौद्ध साहित्य मे मिलता है१०। और फिर यदि हम बौद्धधर्म मे स्वीकृत बुद्धों और प्रत्येक बुद्धो के नामो की ओर देखे तो अनेक नाम हमे जैन तीर्थंकरो के नामो का अनुकरण करते हुए दिखाई देते है। उदाहरणार्थ—अजित, सुप्पिय पदम या पदुम, चन्द, विमल, धम्म। अरनेमि को छ. तीर्थंकरो मे एक माना है११। दृढनेमि नामके एक चक्रवती का उल्लेख है और इसी तरह अरिट्ठनेमि नाम के एक राजा और यक्ष का भी उल्लेख है१२।

१. सुत्त निपात, ५४, १५१, ७८६
२. वही, ३८१
३. ठाणाङ्ग, पृ० ६६६,
४. प० एन० आपस्वामी शास्त्री, Sramana and Nou-Brahmanical sect, The cultural Heritage of India. Vol. 1. p. 386ff.
५. सुत्तनिपात, सेलसुत्त,
६. अगुत्तरनिकाय, पृ० २०६
७. Encyclopaedia of Buddhism, P. 332
८. Weber, Indische Studian, XVI. 210
९. Indian Antiquery, Vol. IX, p. 163
१०. The Dictionary of chinese Buddhist Terms. p. 184.
११. अगुत्तर, ३,३७३
१२. दीघनिकाय, ३,२०१

इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ को अंगुत्तर निकाय में पुरिसाजानीय कहा है१। उनके चातुर्यामसंवर सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख मिलता है२। वप्प (अ० २,१९६), उपालि, (म० १,३७१), अभय, (म० १,३९२), अग्निवेस्सायन सच्चक, (म० १,२३७) दीघतपस्सी (म० १,३७१) आदि पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के अनुयायी रहे हैं। महावीर को वहां निगण्ठ नातपुत्त कहा गया है। पावा मे महावीर की मृत्यु का भी उल्लेख है३। सम्प्रदाय भेद की भी इसी प्रसग मे चर्चा की गई है। पालि साहित्य में निगण्ठ नातपुत्त के विचारो का ही उल्लेख अधिक मिलता है।

जैन साहित्य और उसके आचार्यों तथा बौद्ध साहित्य और उसके आचार्य एक दूसरे से पर्याप्त प्रभावित रहे है। जैन आगम साहित्य को बौद्ध आगम साहित्य-त्रिपिटक से और जैन न्याय साहित्य को बौद्ध न्याय साहित्य से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध काल मे जैनधर्म का केन्द्र मगध४ रहा है या दूसरे शब्दा म कहे तो उत्तर भारत। कोसल५, सावत्थी६, कपिलवत्थु,७ देवदह,८ वेसाली,९ पावा,१० आदि स्थानो पर जैनधर्म अधिक प्रचलित था। बाद मे उत्तर म शिशुनाग. नन्द, मौय, खारवेल, गुप्त, प्रतिहार, परमार, चन्देल, कच्छपघट, आदि राजाओ ने जैनधर्म को प्रश्रय दिया। गुजरात, काठियावाड़, तथा दक्षिण मे विदर्भ, महाराष्ट्र, कोकड़ आन्ध्र, कर्णाटक, तमिल, तेलगू और मलयालम सभी प्रदेशो मे भी जैनधर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। यही से जैनधर्म श्रीलका मे पहुँचा जहाँ लगभग ८वीं शती तक उसका अस्तित्व बना रहा११। वर्तमान में वहाँ जैनधर्म के नाम पर कुछ भी नही है। यह मैंने दो वर्ष रहकर वहाँ स्वय देखा और अध्ययन किया है।

(ग) बौद्धधर्म और उसका साहित्य

बौद्धधर्म के सस्थापक भगवान बुद्ध निःसन्देह इतिहास पुरुष रहे है। जन्मत. उनमे महापुरुष-लक्षण अभिव्यक्त हुए थे। राजकुल मे जन्म-जात इस लोकोत्तर व्यक्ति के हृदय मे सासारिक विषय-वासनाओ के प्रति तीव्र घृणा घर कर गई थी। फलतः अभिनिष्क्रमण कर छः वर्ष तक कठोर तपस्या की और तत्कालीन प्रचलित सभी सम्प्रदायो मे दीक्षित होकर ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा की। विफल होकर मध्यममार्गी बन चतुरार्य सत्य-ज्ञान पाया और नये धर्म की स्थापना की।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दर्शनसार [६-९] के अनुसार बुद्ध ने कुछ समय तक जैन दीक्षा ली थी। उस समय उनका नाम पिहितास्रव था। कालान्तर मे मास भक्षण करने से वे पदच्युत हो गये और बौद्धधर्म की स्थापना की। इसके अनुसार उनके माता-पिता का पार्श्वनाथ अनुयायी होना अनुमानित है। कुछ भी हो, बौद्धधर्म के सिद्धान्तो की जैन-सिद्धान्तो से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध निगण्ठ नात पुत्त से अधिक प्रभावित रहे। जहा कही उन्होने निगण्ठ नात पुत्त को अन्य तीर्थिको की अपेक्षा अधिक आदर भी व्यक्त किया है।

बौद्ध साहित्य मुख्यतया दो भागो मे विभाजित है१२। १—पालि साहित्य, (क) पिटक साहित्य, (ख) अनुपिटक साहित्य, (ग) पिटकेतर साहित्य, २—बौद्ध सस्कृत-साहित्य हीनयान और महायान। पिटक साहित्य श्रीलका मे मौखिक परम्परा के अध्ययन से ८४ ई० पू० तक सुरक्षित

---

१. अंगुत्तर. १,२९०
२. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त
३. दीघनिकाय, १,५७ : ३,११९ : मज्झिम, २,२४४
४. मज्झिम, १,३१, ३८० : अगुत्तर, १,२२० उपालि, अभयराज कुमार गामिनी, की घटनाएँ यही हुई।
५ सयुक्त, १,६८; मज्झिम, १,२०५ आदि।
६. धम्मपद अट्ठकथा, १,३८७ अ० २,२५
७. मज्झिम, १,९१
८. मज्झिम, २,२३४
९. मज्झिम, १,२३४ · मज्झिम अट्ठ० १,४५०, अंगुत्तर, १,२२०, विनय, २३३, अगुत्तर, ४,१७९
१० मज्झिम, २,२४३
११. महावंस, १०,५३, ८८-९९; ३३,४३-४४; ३३,७९: महावश टीका, पृ० ४४४
१२. मज्झिम० १,९३; २,२१४

रहा। वहीं बलगम्ब राजा के राज्य में उसका लेखन कार्य हुआ। यह निश्चित है कि इतने अन्तराल मे पिटक साहित्य में अनेक बातें जोड़ दी गई होगी और उसमे से कुछ पृथक् भी कर दी गई होगी।

पालि साहित्य में सुत्त पिटक और विनय पिटक जैन सिद्धान्तों को खोजने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कुछ अट्ठकथाए भी प्रस्तुत अध्ययन के लिए देखना आवश्यक हो जाता है। अभिधम्म पिटक मे जैन उल्लेख मेरे देखने मे नही आये।

बौद्ध संस्कृत साहित्य मे नागार्जुन की माध्यमिक कारिका, आर्यदेव का चतुःशतक, धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक, अर्चट की हेतुबिन्दुटीका, प्रज्ञाकरगुप्त का प्रमाणवार्तिकालंकार, शान्तरक्षित का तत्त्वसग्रह आदि विशेष महत्व के हैं, जहा जैन सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। इन आचार्यों ने स्याद्वादको अपना टारगेट बनाया और उल्टा-सीधा पूर्वपक्ष स्थापित कर उसे अस्वीकारात्मक स्थिति मे लाये।

बहुत-सा बौद्ध साहित्य चीनी, तिब्बती आदि लिपियो मे प्रकाशित है। उसे मैं नही देख सका। नागरी, सिंहल व रोमन लिपि मे प्रकाशित साहित्य मे से जो भी उपलब्ध हो सका, उसे देखने का प्रयत्न किया है। वहा प्राप्य जैन उद्धरणो को विषयानुसार सक्षेप मे इस तरह विभाजित किया जा सकता है—

१. जैन दर्शन—Jaina Philosophy.

२. जैन प्रमाण-विचार—Jaina Epistemology.

३. जैन आचार—Jaina Ethics.

४. अनेकान्तवाद—The Theory of Non Absotulism.

(१) जैन दर्शन—

मज्झिम निकाय[१] के एक उल्लेख मे जैन सिद्धान्त के सप्त तत्त्वो के उल्लेख की झलक मिलती है। ब्रह्मजाल सुत्त[२] में उल्लिखित बासठ मिथ्यादृष्टियो तथा उदान[३] तथा पोट्ठपाद सुत्त[४] में वर्णित आत्मा विषयक सिद्धान्त में जैन सिद्धान्त आसानी से खोजा जा सकता है। निश्चय-नय और व्यवहार नय का यदि आश्रय लें तो एतद्विषयक अनेक उद्धरण मिल जाते है। बुद्धघोष ने जैन सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को अरूपी बताया है[५]। विज्ञप्ति मात्र से सिद्धि (पृ०७), तत्त्वसग्रह[६] तथा हेतुबिन्दु टीका में[७] इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

मज्झिम निकाय (१.३७३) और अंगुत्तर निकाय (२.१९६) से त्रियोग अथवा त्रिदण्ड का उल्लेख है, पर आलोचनात्मक बनाने के लिए उसकी जैन दृष्टिकोण से प्रतिकूल व्याख्या की गई है। अगुतर निकाय (४.१८२) मे निगण्ठनात पुत्त को क्रियावादी कहा गया है। मज्झिम निकाय मे[८] बताया है कि जैनो के अनुसार कठोर तपस्या से कर्मों की निर्जरा की जा सकती है और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार हमे सुख दुःख मिलता है। यह दृष्टिकोण महाबोधि जातक और अगुत्तर निकाय (१.१७४) मे भी देखा जा सकता है। अगुतर निकाय मे[९] पूरण काश्यप के नाम से वर्णित छणिक जातियों का उल्लेख है, जिनमे षड्लेश्याओ के दर्शन होते है।

पालि-साहित्य मे अनेक स्थानों पर जगत् की प्रकृति-विषयक विचारों का आलेखन है। स्याद्वाद सिद्धान्तो के आधार पर उनमे जैन सिद्धान्त स्पष्ट नजर आता है[१०]। शान्तरक्षित ने इस विषय मे सूरि (शायद पात्रकेसरि) के नाम कुछ उल्लेख किये है जहाँ जगत को अणुओं का समूह बताया गया है[११]। तत्त्वसग्रहमे 'पुद्गलो दिगम्बरैः'

१. मज्झिम० १,९३:२,३१, २१४ : अंगुत्तर २,३१,२१४
२. दीघनिकाय, १,३२
३. उदान, पृ० ६७
४. दीघनिकाय, १,१८६-७
५. सुमगलविलासिनी, पृ० ११०
६. तत्त्वसग्रह, ३११-३७
७. हेतुबिन्दुटीका, पृ० १०४-७
८. मज्झिम १,९३; २.३१. २१४ : अंगुत्तर १ २२०
९. अगुत्तर ३.३८३, तुलना करिये—दीघनिकाय अट्ठकथा १.१६२ : सयुक्त: ३.२१०, दीघ. ३.२५०.
१०. दीघ. १.७३, सुमगलविलासिनी १.११५
११. तत्वसंग्रह १११-२, १९८०-८३

कहकर जैनोंका शब्द-विषयक सिद्धान्त भी उल्लिखित है१। वहीं आकाश को निरवय भी बताया है२।

२. जैन प्रमाण-विचार—(Jain Epistemology)

तार्किक विवादो के फलस्वरूप प्रमाण विद्या के सिद्धांत निर्मित किए गये। पालि साहित्य मे ऐसे विवादो को वादक था।३ और वितडा४ तथा तार्किको को तक्की५ व तविककाद६ कहा गया है। जैनो ने इन विवादो म भी सत्य और अहिंसा का आधार लिया है। सच्चक (म. १.२२७) अभय (म. १.२३४) और असिवन्धकपुत्त गामिनि (म. ४.३२३) विषयक उद्धरण इस कथन के प्रमाण हैं।

बुद्ध ने अपने पूर्वकालीन आचार्यो-सम्प्रदायो को तीन भागो मे विभाजित किया है—अनुस्साविका, तक्की और अननुस्सविका। जिन्होंने स्वय के अनुभव से विशेष ज्ञान प्राप्त किया है उनको उन्होन अननुस्साविका के अन्तर्गत रखा है। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्म इस श्रेणी मे आ जाते है७। निगण्ठ नातपुत्त ने ज्ञान पर ही अधिक जोर दिया है८।

अगुत्तर निकाय (४.४२६) मे उनको ज्ञानवादी कहा है। ज्ञान दो भागो मे विभाजित किए जा सकते है—आत्मज्ञान, जिसम पाँच प्रकार के ज्ञान आते है। दार्शनिक ज्ञान जिसमे प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रमाण आते है। शान्तरक्षित न आचार्य सुमति के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनके अनुसार दोनो, सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण माने जाने चाहिए९। पालि साहित्य मे निगण्ठ नातपुत्त की सर्वज्ञता के विषय मे एकाधिक बार आलोचनात्मक उल्लेख आये हैं१०। धर्मकीर्ति और उनके व्याख्याकार प्रज्ञाकर गुप्त११ ने भी जैनों के सर्वज्ञवाद की कटु आलोचना की है। आलोचना करते समय वे सिद्धान्त को ठीक तरह से समझे हुए नहीं दिखाई देते। बुद्ध ने यद्यपि अपने मे सर्वज्ञता होने का जोरदार विरोध किया था, परन्तु षड्भिञ्जा के विकसित रूप ने आखिर उनको सर्वज्ञ बना ही दिया१२।

परोक्ष प्रमाणों में अनुमान विषयक उल्लेख अधिक स्पष्ट मिलते है। शान्तरक्षित ने पात्रकेसरि के हेतु प्रकार का खण्डन किया है (तत्त्वसग्रह, १३७२–१३७६)। इसी प्रसग मे उन्होंने उनकी "अन्यथानुपपन्नत्वे" आदि प्रसिद्ध कारिका कुछ दूसरे रूप मे प्रस्तुत की है। हेतुविन्दु टीका मे जैनो को प्रमाणसमलववादी कहा है१३।

३. जैनाचार (Jaina Ethics)

जैनाचार को श्रावकाचार और अनगाराचार मे विभाजित किया जाता है। सामञ्जफलसुत्तमे निगण्ठनातपुत्त के नाम से चातुर्याम सवर का उल्लेख है जो अस्पष्ट है और पार्श्वनाथ आम्नाय का है१४। सयुत्तनिकाय में निगण्ठनातपुत्त के नाम से चार व्रतो का उल्लेख है, जब कि पाँच होना चाहिए१५। अगुत्तर निकाय मे अवश्य पञ्चाचारो का उल्लेख है पर उनका क्रम और वर्णन ठीक नही१६। अप्रासुक जल मे कीटाणु होते है। इसका जैन सिद्धान्त का उल्लेख मज्झिम निकाय (१.३७७) मे है। वही निगण्ठनातपुत्त के अनुसार कायदण्ड को सर्वाधिक पापकारी और हीन बताया है पर उसकी व्याख्या सयमित ढंग से नही की गई१७।

---

१. तत्त्वसग्रह २३१०
२. वही, २५५७
३. सुत्तनिपात ७९६, ८६२, ९१२
४. वही, ८२५
५. दीघ १.१६
६ उदान ७३
७. मज्झिम २.२११
८. वही, १ ९२-३
९. तत्त्वसग्रह पञ्जिका पृ० ३९४
१०. मज्झिम १.५२६, २.३१ : धम्मपदट्ठकथा भाग २९, पृ० ७४ मज्झिम २.२१४, १.९२, सयुत्त ४ ३९८, अगुत्तर ३ ७४
११. प्रमाणवार्तिकालकार ४.९१, ८.६-७
१२ तत्त्वसग्रह ३९२८
१३ हेतुविन्दु टीका पृ० ३७
१४. दीघनिकाय ४,१
१५ सयुत्त ४,३१७
१६. अगुत्तर ३,२७६,७
१७. मज्झिम १,३७२

अंगुत्तर निकाय१ गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों से परिचित है। वहां विशाखाके प्रजान मे दिग्व्रत और देशव्रत का विवेचन है। दीर्घनिकाय मे कण्डक-मसुक के नाम से उद्धरित प्रतिज्ञाओमे भी इन व्रतो को खोजा जा सकता है२। मज्झिम निकायमे३ सामाजिक और अगुत्तर मे४ प्रोषधोपवास का वर्णन देखा जा सकता है। इन्ही उद्धरणों मे एकादश प्रतिमाओं के विषय मे भी कुछ विवेचन मिल जाता है।

मुनि-आचार विषयक उद्धरण भी पर्याप्त मिलते है। उनके संघी, गणी और गणचरिय होने के उल्लेख प्राप्त हैं५। वे गण, कुल, और गच्छो मे विभक्त थे। जैन मुनियो के वर्षावास के अनुकरण पर ही बौद्ध साधुओ मे वर्षावास का नियम निर्धारित किया गया६। पालि साहित्य में जैन मुनियो को 'निगण्ठा' कहकर पुकारा गया है जो दिगम्बरत्व का सूचक है। (अम्हाक गन्थानक्लेसो पलिवुज्झनक्लेसो नत्थि क्लेस गन्थियरहितामय ति एव वादिताय लद्धिनामवसेन निगण्ठा७।) यही बुद्धघोष ने श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठो को दिगम्बर निगण्ठो से अच्छा बताया है। जो जैन सम्प्रदाय मे लगभग पञ्चम शताब्दी मे सस्थापित श्वेताम्बरो के विषय मे उल्लेख जान पडता है८। जैन साधुओ की नग्नता पर भी धम्मपद अट्ठकथा मे परिहास किया गया है९। यहा एक अन्य कथा का उल्लेख है जिसमे लिखा है कि जैन साधुओ की सर्वज्ञता का परीक्षण किया गया और उनके असफल होने पर उन्हे खूब ताडना दी गई१०।

अचेल कस्सप के नाम पर लगभग बीस प्रकार की तपस्याओं का वर्णन दीघनिकाय (१,१६६) में मिलता है। बुद्ध ने भी प्रथम छह वर्षों के तपोकाल मे इनका अभ्यास किया था११। आजीवकों के द्वारा भी इनका अभ्यास किया जाना बताया है१२। कुछ इनमें जैन मुनियों के आहार-दोष है। कही उनकी आहार-पद्धति की आलोचना है और कहीं आहार-ग्रहण के पूर्व ग्रहीत प्रतिज्ञाओं का वर्णन है। निगण्ठ नातपुत के द्वारा ऋद्धि के प्रभाव से आहार लेने के उपक्रम का भी उल्लेख है१३।

जैन साधुओ की दैनन्दनी की भी यहां चर्चा है। पञ्चमहाव्रतो के विषय में ऊपर हम लिख ही चुके हैं। पञ्चसमितियो मे भाषासमिति१४ का और षडावश्यको मे कायोत्सर्ग का भी उल्लेख है१५। इसके अतिरिक्त केशलुञ्चन,१६ अचेलकत्व,१७ और त्रिगुप्ति१८ के भी उल्लेख प्राप्त है।

(४) अनेकान्त दर्शन

अनेकान्त दर्शन के बीज वेदों१९, उपनिषदो२० आदि मे अन्वेषणीय है। पालि साहित्य में भी इसके कुछ विकसित रूप के दर्शन होते हैं२१। बुद्धघोष ने निगण्ठ नातपुत्त के सिद्धान्तो को उच्छेदवाद और शाश्वतवाद का समन्वय रूप समझा है२२। त्र्यात्मकवाद और अर्थक्रियावाद के विषय मे दुर्वेकामिश्र स्याद्वादकेशरी (अकलकदेव) के सिद्धान्त का उपस्थापन किया और खण्डन किया है२३।

---

१. अगुत्तर १,२०९
२. दीघ ३,९
३. मज्झिम १,३७२
४. अगुत्तर १,२०६
५. दीघ १,४९
६. विनय १,१३७
७. मज्झिम निकाय अट्ठकथा १,४२३
८. धम्मपद अट्ठकथा ३,४८९
९. वही १,२,४००
१०. Budolthist Legend 29,74
११. मज्झिम १,७७
१२. वही १,२३८
१३. Book of Discipline, vol. 5. P. 151
१४. मज्झिमनिकाय अभयराजकुमारसुत्त
१५. मज्झिम १,९३, २,३१, २१४
१६. वही १,७७
१७. वही
१८. वही १,३७२
१९. ऋग्वेद १०,१२९
२०. मैत्रेय ११,७ छान्दोग्य ३,१९ १
२१. अगुत्तर २,४६
२२. दीघनिकाय अट्ठकथा २,९०६,७
मज्झिम अट्ठकथा २,८३१
२३. हेतुबिन्दुटीका लोक पृ० ३७४

शान्तरक्षित ने क्षणभगवाद की आलोचना के कुछ तत्त्वों का उल्लेख किया है जो जैनाचार्यों के द्वारा की गई आलोचना का स्मरण दिलाते हैं१। वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप की उपस्थापना और उसकी आलचोना भी की है। इस प्रसगमे बौद्धाचार्य परम्परागत स्वर्णपात्रका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं२।

पालि साहित्य मे नयहेतु को बुद्ध ने कथनशैलियों मे एक माना है।३ ये ही नयवाद के बीज हैं। सम्मुनिसच्च और परमत्थसच्च जैनोंके पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नयके अनुकरण पर उपस्थित किये गये हैं।४ सुत्तनिपात (६८, २१६) मिलिन्दपन्ह (पृ० १६८) आदि में भी इनके उदाहरण मिलते हैं।

ब्रह्मजाल सुत्त में अमराविक्खेपवादियों के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है। उनमें चौथे सम्प्रदाय का पोषक सञ्जयबेलट्ठिपुत्र कहा जाता है। वह निषेधात्मक ढग से वस्तु के विषय में चार प्रकार से उत्तर देता है। जिन्हें स्याद्वाद के प्रथम चार भगो के समकक्ष रख सकते हैं५। मक्खलि गोसाल का त्रैराशिक सिद्धान्त स्याद्वाद के प्रथम तीन भंगों पर आधारित है६। बुद्ध तार्किक प्रश्नों का उत्तर चार प्रकार से देते थे, जिन्हें स्याद्वाद के प्रथम चार रूप कहे जा सकते हैं।

पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के अनुयायी सच्चक के कथन में७ और निगण्ठ नातपुत्त तथा चित्र गृहपतिके सवाद मे स्याद्वाद के दर्शन होते हैं। मज्झिमनिकाय के दीघतर व सुत्त मे दीघनख परिव्राजक के मत की आलोचना की गई है८ जहाँ वह तीन प्रकार से प्रश्नो का उत्तर देता था। वे तीनो प्रकार भी सप्तभंगी के प्रथम तीन भगों के अनुरूप है। मज्झिम निकाय के चूल राहुलोवाद सुत्तन्त मे सिय (स्यात्) शब्द का प्रयोग मिलता भी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन भग विषयक मतों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सभी जैन सिद्धान्त के अनुयायी रह चुके थे। इसलिए उनके सिद्धान्त जैनधर्म से प्रभावित स्वभावतः होगे ही।

उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों ने स्याद्वाद की तीव्र आलोचना की है। नागार्जुन,९ धर्मकीर्ति,१० प्रज्ञाकरगुप्त,११ अर्चट१२ शान्तरक्षित और कमलशील,१३ कर्णकगोमिन,१४ जितारी१५ आचार्य इस विषय में उल्लेखनीय है। सभी ने प्रायः एक जैसी आलोचना की है। इस आलोचना का उत्तर जैनाचार्यों ने दिया है।१६ वास्तविक बात तो यह है कि बौद्धाचार्यों ने स्याद्वाद को पूर्णतः समझने का प्रयत्न नही किया जिससे वे स्वय "दूषकोऽपि विदूषक" हो गये।

इस प्रकार हमने बौद्ध साहित्य में आगत कुछ जैन विषयक उल्लेखो को देखा जिनके आधार अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते है। प्रस्तुत विषय (Jainism in Buddhist Literature) पर मैंने अपना प्रबन्ध विद्योदय विश्वविद्यालय कोलम्बो सीलोन (श्रीलका) मे प्रस्तुत किया है। अक्टूबर १९६३ में मैं वहाँ कामन्वेल्थ स्कालशिप पर Ph. D. करने गया था और अभी जुलाई १९६५ में वापिस आया हूँ। वहाँ रहकर जो कुछ बौद्ध साहित्य के अध्ययन करने का अवसर मिला है, उससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि विद्वान जैन और बौद्ध साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने की ओर कदम बढायें तो निश्चित ही अनेक नये तथ्य हमारे समक्ष आ सकेंगे।

---

१. तत्त्वसंग्रह ३५२
२. प्रमाणवार्तिक ४,६, प्रमाणवार्तिकालंकार, पृ० ३३३, हेतुबिन्दुटीका, पृ० ‚९८, तत्वसग्रह ३१३–३१५
३. अगुत्तर, २,१९१–९३, नयेन नेति–सयुक्त २,५८
४. माध्यमिक कारिका, असत्य परीक्षा ८
५. दीघ १,२४-२५
६. नन्दि टीका १·३
७. मज्झिम ,२·२
८. संयुक्त ,४९८
९. माध्यमिक कारिका ४५-४६
१०. प्रमाणवार्तिक १,१८३-५
११. प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० १४२
१२. हेतुबिन्दुटीका पृ० २३३
१३. तत्त्वसंग्रह १७२३-३५, पृ० ४८१
१४. प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका पृ० १०९
१५. अनेकान्तवादनिरास
१६. न्यायविनिश्चय ११७,८, न्यायविनिश्चय विवरण १०८७, न्यायकुमुदचंद्र पृ० ३६९, सिद्धिविनिश्चय ६,३७ आदि

विदर्भ के दो हिन्दी काव्य

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

१. प्रास्ताविक—वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के पूर्व भाग के आठ जिले विदर्भ के नाम से पुरातन समय से प्रसिद्ध हैं। मध्ययुग में यह प्रदेश वराट, वैराट, वहाड़ (या अंग्रेजी प्रभाव के कारण बरार) भी कहलाता था। इस प्रदेश से जैन समाज के सम्बन्ध भी पुरातन हैं। पौराणिक परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के राज्य में यह प्रदेश समाविष्ट था। (हरिवंशपुराण सं० ११ श्लो० ६६; महापुराण २९ श्लो० ४०); इस प्रदेश की राजधानी कुण्डिनपुर वरदा नदी के किनारे थी जिसकी स्थापना हरिवंश के राजा ऐलेय के पुत्र कुणम ने की थी (हरिवंशपुराण सं० १७ श्लो० २३); इसी कुण्डिनपुर में भगवान धर्मनाथ का विवाह सम्पन्न हुआ था (धर्मशर्माभ्युदय सर्ग १६) तथा श्रीकृष्ण और प्रद्युम्न का ससुराल भी यही था। (उत्तर-पुराण पर्व ७१, हरिवंश पुराण स० ४२ तथा ४८)। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस प्रदेश के जैन परम्परा सम्बंधी उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। यहा के प्रसिद्ध नगर अचलपुर के ब्रह्मद्वीप नामक स्थान से सम्बद्ध ब्रह्मद्वीपिक शाखा जैन साधुओं में प्रसिद्ध थी, इसकी स्थापना सन् पूर्व दूसरी शताब्दी में आर्य वज्रस्वामी के मामा आर्य शमित ने की थी (परिशिष्टपर्व सं० १२)। ई०सन् की तीसरी शताब्दी के आर्यसिंह भी इसी शाखा के विद्वान आचार्य थे (नन्दी-सूत्र स्थविरावली गा० ३६)। पंडित हरिषेण ने अपभ्रंश धर्मपरीक्षा ग्रंथ की रचना सन् ९८८ मे अचलपुर मे ही की थी। दसवीं शताब्दी में इस नगर में राजा एल (अपर नाम श्रीपाल) का शासन रहा, जो श्रीपुर के अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर के निर्माण के कारण विशेष प्रसिद्ध हुए थे। विदर्भ के मध्यभाग मे स्थित वाटग्राम आठवीं-नौवीं शताब्दी मे जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा था। द्विसन्धान महाकाव्य, नाममाला तथा विषापहारस्तोत्र के रचयिता महाकवि धनंजय, पउमचरिउ और रिट्ठनेमि-चरिउ के प्रणेता महाकवि स्वयभूदेव और धवला-जय-धवला टीकाओ के निर्माता स्वामी वीरसेन जिनसेन इसी वाटग्राम से सम्बद्ध रहे थे (जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० २७)।

२. विदर्भ में हिन्दी साहित्य रचना—विदर्भ के इन पुरातन सम्बन्धों में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में एक नया मोड़ आया। इस समय राजस्थान के कई जैन जातियों के बहुत से परिवार अपना मूल प्रदेश छोड़कर दक्षिण में आए और विदर्भ, महाराष्ट्र और कर्णाटक में बस गए। यद्यपि लौकिक व्यवहार के लिए इन लोगों ने स्थानीय भाषाएँ मराठी और कन्नड—अपना ली तथापि धार्मिक और साहित्यिक कार्यों के लिए वे अपनी पुरातन भाषा हिन्दी का भी प्रयोग करते रहे। विदर्भ में इस प्रकार जो हिन्दी साहित्य लिखा गया वह यद्यपि विस्तार की दृष्टि से महत्त्व का नहीं है तथापि वह इस बातका प्रमाण है कि पुरातन समय में भी हिन्दी भाषा का प्रयोग अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी हुआ करता था। अब तक हमें इस वैदर्भीय हिन्दी की जिन रचनाओं का परिचय मिला है उनमें कुछ इस प्रकार है—अभयपंडित की रविव्रत कथा (सोलहवीं शताब्दी) छत्रसेन का द्रौपदीहरण (सत्रहवीं शताब्दी), हीरापंडित का अनिरुद्धहरण (सत्रहवीं शताब्दी), गंगादास की आदित्यव्रतकथा (सत्रहवीं शताब्दी), वृषभ की रविव्रतकथा (अठारहवी शताब्दी), ज्ञानसागर की अक्षरबावनी (सत्रहवीं शताब्दी) तथा पूनासाह की पुरन्दरव्रतकथा। इसी परम्परा के दो विशिष्ट कवि पामो और धनसागर की दो रचनाओं का परिचय हम इस लेख मे दे रहे हैं।

३. कवि पामो—इनकी दो ही रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—भरतभुजबलिचरित्र और अष्टद्रव्यपूजा छप्पय। दूसरी रचना से कवि का केवल नाम ही मालूम होता है। किन्तु भरतभुजबलिचरित्र में कुछ अधिक जानकारी

मिलती है। इसकी रचना फाल्गुन शु० ४ शक १६१४ के दिन कारंजा के चन्द्रनाथ मन्दिर में पूर्ण हुई थी। कवि के गुरु काष्ठासंघ—नन्दीतटगच्छ के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति थे[1] तथा इस काव्य की रचना उन्होंने सघपति भोज के आग्रह से की थी। इस सम्बन्ध के मूल पद्य इस प्रकार हैं—

पुन्नाट संज्ञक गच्छ स्वच्छ पुष्करगण राणो।
विनयंधर सूरीश ईश तद्वंशे मानो॥
प्रतापकीर्ति भट्टारक तर्कशिरोमणि धामह।
तत्पट्ट प्रतिसुहन भुवनकीर्ति अभिरामह॥
गच्छ नन्दीतट विद्यागण सुरेन्द्रकीर्ति नितवंदिये।
तस्य शिष्य पामो कहे वृत्तचारित्र निकंदिये॥२१८॥
शक षोडश शत चौद बुद्ध फाल्गुन सुद पक्षह।
चतुर्थि दिन चरित्त धरित पूरण करि दक्षह॥
कारंजो जिन चंद्र इंद्रवंदित नमि स्वार्थे।
संघवी भोजनी प्रीत तेहना पठनार्थे॥
थलि सकल श्रीसंघने येथि सहू वांछित मले।
चक्रि काम नामे करी पामो कहे सुरतरु फले॥२१९॥

नागपुर के श्रीपार्श्वप्रभु बड़े मन्दिर मे स्थित पद्मावती-मूर्ति का लेख प्रकाशित हुआ है (भट्टारक सप्रदाय पृ० २८२)। यह मूर्ति बघेर वाल ज्ञाति के बोरखंड्या गोत्र के साहु भावा के पुत्र पामा ने शक १५६१ में काष्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भ० लक्ष्मीसेन द्वारा प्रतिष्ठित कराई थी। हमारा अनुमान है कि ये साहु पामा ही प्रस्तुत कवि पामो हैं। यद्यपि इस मूर्तिप्रतिष्ठा और प्रस्तुत काव्य-रचना में ५३ वर्षों का अन्तर है तथापि वह एक व्यक्ति के जीवन के लिए असभव नही है।

४. **कवि धनसागर**—इन्होने कारंजा में ही शक १६२१ की आश्विन व० १३ को पार्श्वनाथ पुराण की रचना पूर्ण की थी। धनसागर भी काष्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भ० सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। उनकी काव्यरचना के लिए संघपति पूंजा ने आग्रह किया था। इस विषय के मूल पद्य इस प्रकार हैं—

काष्ठासंघ प्रसिद्ध गच्छ नन्दीतट नायक।
विद्यागण गंभीरसकल विद्या गुण ग्यायक॥
रामसेन आम्नाय इंद्रभूषण भट्टारक।
तत्पट्टोद्धर धीर सुरेंद्रकीर्ति सुखकारक॥
तद्वदन विनिर्गत अमृतसम सदुपदेश वाणी सुनी।
षट्चरण पासजिनवरतणा जोड्या धनसागर गुणी॥१४॥
देश वराड़ मझार नगर कारंजा सोहे।
चंद्रनाथ जिनचैत्य मूलनायक मन मोहे॥
काष्ठासंघ सुगच्छ लाडबागड बड़भागी।
बघेरवाल विख्यात ख्यात श्रावक गुणरागी॥
जिनधरमी जमुनासंघपति सुत पूंजा संघपति वचन।
चितमे धरि अत्याग्रह थकी करी सुधनसागर रचन॥१५॥
षोडश शत एकवीस शालिवाहन शक जाणो।
रस भुज भुज भुज प्रमित वीरजिनशाक बखाणो॥
विक्रम शाक विविक्त वरस सत्रासे बीते।
कृत मंगल मगलवार दिन मंगल मंगलतेरसी।
धनसागर पासजिनेस का षटपद् वचन कहे रसी॥ १६॥

धनसागर की अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—नवकार पचीसी (सं० १७५१), विहरमान तीर्थंकर स्तुति (सं० १७५३), दानशीलतपभावना छप्पय (केवलपूर्वार्ध) रचना समय अज्ञात)।

५. **कवियों के प्रेरणास्रोत संघपति भोज**—कवि पामो ने अपनी काव्यरचना के प्रेरणादाता के रूप मे जिन सघपति भोज का उल्लेख किया है वे अपने समय के प्रथितयश श्रीमान थे। कवि धनसागर ने भी सरस्वती-लक्ष्मीसवाद में उनकी बहुत प्रशसा की है जिसके मूल पद्य इस प्रकार हैं—

दक्षण देश मझार खंड बैराड बिपंतो।
बघेरवाल वर ग्यात धर्म तहाँ जैन जयंतो॥
मुनि करे चौमास आस ते सहुकी पूरे।
गुनियन गहरे लोक कर्म ते कठन नहि चूरे॥
इनमें विसेस मुनिराजको प्रेमप्यार इक धारणो।
संघवीय भोज धनराजको कद कवित्त तस कारणो॥४॥

---

१. परिवार की परम्परा से कवि काष्ठासघ के लाडबागड (पुन्नाट) गच्छ के श्रावक थे किन्तु उस समय इस गच्छ के कोई भट्टारक मौजूद नही थे अत. वे नन्दीतटगच्छ के भट्टारकों को गुरु मानकर धर्मकार्य सम्पन्न कराते थे।

सुन्दर ताकी ओपमा कीरत देसविदेस ।
भोजराजसौं भाषिये संघई भोज विशेष ॥५॥

तत्कालीन श्वेताम्बर साधु शीलविजय ने अपनी तीर्थ-माला मे भोज संघपति की प्रशंसा में ६ पद्य लिखे हैं जिनका सारांश इस प्रकार है[1]—बघेरवाल वश के भूषण-भूत संघवी भोज उदार हैं, सम्यक्त्व धारण करते हैं, जिनदेव को नमस्कार करते हैं, अन्य धर्म में रुचि नहीं रखते, उनके कुल में उत्तम आचार है, रात्रिभोजन का त्याग है, सदा पूजामहोत्सव होते हैं, जिनेन्द्रदेव के आगे मोतियों से चौक पूरते हैं, उनका व्यापार कर्णाटक, कोंकण गुजरात, मालवा, मेवाड़ तक चलता है, वे लोगों को नित्य अन्नदान देते हैं, सं० १७०७ में गिरनार की यात्रा में उन्होंने एक लक्ष मुद्राएँ व्यय कर पुण्य उपार्जन किया। अर्जुन, पदारथ और शीतल ये उनके तीन पुत्र हैं।

संघवी भोज द्वारा स्थापित कई जिनमूर्तियाँ कारजा के काष्ठासंघ-मंदिर में और नागपुर के सेनगण मन्दिर में विद्यमान हैं। इनके लेखों से[2] उनके वंश का परिचय इस प्रकार मिलता है—
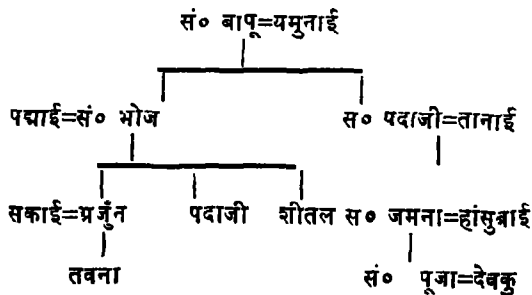
इस समय कारजा मे तो इस घराने के कोई परिवार नही है किन्तु अंजनगाव (जिला अमरावती) में हैं।

६. **काव्यों की शैली**—पामो और धनसागर दोनों के काव्यों की कथा पुरातन और सुप्रसिद्ध है तथा प्रायः आचार्य जिनसेन-गुणभद्र के महापुराण पर आधारित प्रतीत होती है। कन्नड़ कवि रत्नाकर ने अपने भरतेश-वैभव में जिस प्रकार चक्रवर्ती भरत के चरित्र का उदात्ती-करण किया है वैसा पामो ने नहीं किया। इस प्रकार अपभ्रंश कवि पद्मकीर्ति के पार्श्वपुराण में भगवान पार्श्व-नाथ के यवनराज के साथ युद्ध का जो वर्णन है उससे धनसागर अपरिचित प्रतीत होते हैं। फिर भी दोनों कवियों की रचनाओं में अपने विशिष्ट गुण हैं। पामो की शैली अपेक्षाकृत सरल किन्तु प्रभावशाली है। चक्र-वर्ती भरत के अभिमान का उनका वर्णन दर्शनीय है। (पद्य ७०)—

पुनरपि बोले चक्रि वक्र मुझसू जे चाले ।
तेहने देऊ दंड चंड कोहने नहि हाले ॥
सूर्यतनो विमान आण बोलतो तोडू ।
व्यंतरना विश्राम धाम तारानो मोडू ॥
इत्यादिक हूं नवि गणू तो बाहुबली किम पुरे ।
मुझसू सुन सेनापति वृषभसेनादिक कि करे ।

इसी प्रकार भरत के वैभव के प्रति बाहुबली का उपेक्षाभाव भी सुन्दर ढंग से अंकित हुआ है (पद्य ११७)—

तुझ प्रभुना प्रचंड खड षट क्षेत्र समानह ।
मुझ पुरना छे जाण स्थान वलि देश बखाणह ॥
लहु खेडा सम चाहु दाउ शुभ नव जु निधानह ।
लेखू शकटह तुल्य मूल्य वर रत्ननो तानह ॥
काचोपम मनमा गणू सुन्दर जे तेह कामिनी ।
छन्नवति सहस्र मुझ नाटकशाला भामिनी ॥

धनसागर की रचना अधिक आलंकारिक है। प्रारम्भ मे ही कवि और जार का उनका श्लिष्ट वर्णन उल्लेख-नीय है (पद्य ४)—

वृत्तभंग अपरीति रीतिमारग नवि देखे ।
अनलंकार उद्योत होत अपशब्द न लेखे ॥
अवगुण में उल्लसत नसत निज अर्थ न पेखे ।
तरल तरंग अभंग अंग नहि खेद विशेषे ॥
आरूढ़ गूढ़ रस मूढ़ मति गति कोय न उत्तम गहे ।
कवि जार समान सुनो सजन धनसागर कविजन कहे ॥

भगवान के गर्भस्थ होते हुए माता की सेवा करने वाली दिव्य कुमारी की बधाई को उन्होंने निरोष्ठ्य पद्य में अंकित किया है (पद्य ५५)—

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४५५
२. ये लेख जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १३ कि० ४ तथा जैनशिलालेख संग्रह भा० ४ पृ० ४०६–४१० पर प्रकाशित हुए हैं।

निरसत संग तरंग निखिल जनता हित दायक ।
यथाख्यात आचरण दलित झषलांछनसायक ॥
दयाधार जगदीश सकल कल्याण विधायक ।
निहत कठिन कषाय चरण नत निर्जरनायक ॥
सखि वनिता ते ईदृश तनय जे देखत चित चल्लए ।
धनसागर कृत षटचरण यह कहत अघर नहि हल्लए ॥

इसके साथ-साथ सरल शैली का भी उन्होंने यथा-स्थान प्रयोग किया है। पामो और धनसागर दोनों ने भगवान के समवशरण की विस्तृत प्रशंसा की है। पामो चक्रवर्ती भरत के राज्यविस्तार मे और धनसागर ने भगवान पार्श्वनाथ के विहारक्षेत्र में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की लम्बी नामावलियां दी हैं। भरत द्वारा बाहुबली के यहाँ भेजे गये दूत के वर्णन में पामो ने दूत के गुणों का सुन्दर वर्णन किया है। भगवान के धर्मोपदेश मे धनसागर ने विविध धर्मशास्त्रीय विषयों की सूची प्रस्तुत की है। इस प्रकार के विभिन्न वर्णनों से दोनों काव्य पठनीय हुए हैं।

७. उपसंहार—मध्ययुग की भारतीय भाषाओं के जैन साहित्य का अध्ययन अब तक कुछ उपेक्षित-सा रहा है। बम्बई के जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय से पं० पन्नालालजी बाकलीवाल और पं० नाथूरामजी प्रेमी ने कई वर्ष पहले हिन्दी साहित्य के कुछ ग्रथ प्रकाशित किये थे। दुर्भाग्य से वह परम्परा जारी नहीं रह सकी। वस्तुत: हिन्दी-मराठी-गुजराती आदि भाषाओं के साहित्य का महत्त्व भी संस्कृत-प्राकृत साहित्य के समान समझा जाना चाहिए; क्योंकि मध्ययुगीन इतिहास के लिए उनकी उपयोगिता नि:सन्दिग्ध है। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्यों का प्रकाशन उपयोगी सिद्ध होगा। अब तक का प्रकाशित हिन्दी जैन साहित्य मुख्यत: आगरा—जयपुर क्षेत्र के लेखकों का है। हिन्दीतर क्षेत्रों में लिखित हिन्दी काव्यों के रूप में भी प्रस्तुत काव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। हमें आशा है कि शीघ्र ही हम इन दोनो काव्यों को सम्पूर्ण रूप से विद्वत् समाज के समक्ष प्रस्तुत कर सकेंगे।

क्रोध पर क्रोध

अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि

हे भाई! जब तेरी दृष्टि किसी दुश्मन पर पड़ती है तब सहसा तेरे अन्तर मानस में रोष उभरता हुआ नजर आता है, नेत्रों से रक्त की धाराएं बहने लग जाती है। भृकुटि चढ़ जाती हैं, ओट डसने लग जाते है अधराव में कम्पन बढ़ जाता है। तन मे एक प्रकार की गति होने लगती है। दुबले पतले इस शरीर मे भी बल बढ जाता है, जैसे कोई पिशाच तेरे शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो गया हो। क्रोध की आग में संतप्त हुआ तू अपने अपराधकर्ता दुश्मन को संतापित करने के लिए कचहरी के दरवाजों को भी खटखटाने लगता है, उसे दबाने या मारने का भी यत्न करने लगता है, और मुह से अपशब्दों की बौछारें छोड़ने लगता है, यह सब क्रियाएँ तेरी दुर्बलता और अज्ञनता की सूचक हैं।

पर भाई! तूने गहराई से कभी इस पर विचार भी किया है, कि वास्तव में मेरा शत्रु कौन है? जिसने मेरा अपराध किया, वही तो मेरा शत्रु है। लोक मे अपकारकर्ता ही शत्रु कहा जाता है, उस पर ही मुझे क्रोध आया है। पर अन्तर शत्रु तो आत्मा का अपकार करने वाला क्रोध ही है जिसने मुझे स्वरूप से विमुख किया, मेरे धर्म अर्थ काम मे विघ्न उपस्थित किया। इस अन्तर शत्रु ने ही तेरी ज्ञान निधि का अपहरण किया है। वैर-विरोध को बढ़ावा दिया है, फिर भी तू उस अपकारी क्रोध पर क्रोध नही कर रहा है उस पर विजय पाने का कोई यत्न भी नही कर रहा, यही तेरी भूल है।

वस्तुत: क्रोध ही तेरा दुश्मन है। क्षमारूप असि से यदि तू उसका निपात कर दे, तो फिर ससार में तेरा कोई शत्रु नहीं रहेगा। सभी मित्र बन जाएँगे। उस समय तुझे स्वात्मानन्द की जो सरस अनुभूति होगी, वह विवेक और समता से परिपूर्ण सुख का आस्वादन करायेगी।

महाकवि रइधूकृत सावयचरिउ

डा० राजाराम जैन

सरस्वती के जिन तप:पूत वरदपुत्रो ने अपनी अथक और अनवरत साधनाओं से भारतीय वाङ्मय के उन्नयन में महान योगदान किया है। उनमें महाकवि रइधू का नाम बड़े ही गौरव के साथ लिया जाता है। अन्वेषणों के आधार पर उनकी पच्चीस से अधिक रचनाओं का पता चला है, जो आख्यान, चरित, धर्म, दर्शन मनोविज्ञान आदि विविध विषयों के साथ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति एवं इतिहास का सुन्दर विवेचन करती है। इन्ही रचनाओं में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित रचना "सावयचरिउ" भी है जो सन्धिकालीन अपभ्रंश भाषा मे लिखित आचार एवं धर्माख्यान सम्बन्धी कृति है, जिसमे आठ कथाएं वर्णित है। कथाओं का प्रमुख विषय सम्यक्त्व है। किसे किस प्रकार सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई उसी के अनुभव एवं संस्मरण के रूप में पात्रों के माध्यम से लेखक ने कथाएं प्रस्तुत की है। उक्त कृति में छह सन्धियां एवं (१३+२२+२६+१६+१८+२७ इस प्रकार कुल मिलाकर) १२५ कडवक है। रचना का प्रतिलिपिकाल वि० सं० १६६४ की आषाढ़ कृष्णा तृतीया है। इसकी लिपि प्राचीन किन्तु पठनीय है। जीर्ण-शीर्ण होने के कारण प्रति के कुछ पृष्ठ गल गये हैं। एकाध जगह पृष्ठो के परस्पर चिपक जाने से उसके कुछ अक्षर धुधले भी हो गये हैं। कुछ पृष्ठ जैसे ८ ख, ९ क, ३० ख, ३१ क, ३२ क, ख एवं ३३ क अनुपलब्ध है। प्रति पृष्ठ ९ पक्तियां तथा प्रति पक्ति लगभग ९ छोटे बड़े शब्द है। वर्णमाला मे 'ख' के स्थान पर 'ष' जैसे सुवण्णखुरु रूवखुरु के स्थान पर सुवर्णषरु, रूवषरु के प्रयोग मिलते है। इसी प्रकार 'क्ख' के स्थान में क्ष, तथा 'क्ष' एव 'त्थ' के स्थान में 'च्छ' एवं 'छ' के प्रयोग उपलब्ध हैं।

महाकवि रइधू ने 'सावयचरिउ' में अपना परिचय देते हुए अपने को भट्टारक कमलकीर्ति (वि० सं० १५०६-१५१०) का शिष्य संघवी हरिसिंह का पुत्र तथा उदयराज का पिता कहा है३। इससे यह स्पष्ट ही विदित होता है कि रइधू भट्टारकीय परम्परा के एक सद्गृहस्थ पण्डित कवि थे। प्रसंगवश उन्होंने अपने नामके साथ "कइविर"४ अप्पमिद्गुण५, सकइत्तमहागुणमंडिएण६ आदि विशेषणों का प्रयोग किया है जिनसे कवि की साहित्यिक प्रतिभा का स्पष्ट भान हो जाता है। गार्हस्थिक समस्याओं से जूझते हुए भी कवि का विशाल साहित्य उसके अपरिमित धैर्य, साहस एवं अगाध पाण्डित्य का प्रतीक है। कवि "सावयचरिउ" के पूर्व त्रेसठ शलाका, महापुरुष चरित गाथाबन्ध सिद्धान्तार्थसार, पुण्यास्रवकथा, मेघेश्वर चरित एवं यशोधर चरित जैसे ग्रन्थो की रचना कर चुका था७ अत: "सावयचरिउ" के प्रणयन के समय तक उसकी लेखनी काफी मँज चुकी थी।

महाकवि रइधू की लगभग १९ रचनाओं का मैंने अध्ययन किया है, उन सभी मे उन्होंने माथुरगच्छ, पुष्करगण के भट्टारकों तथा अग्रवालों के गौरवपूर्ण कार्यों के बृहद् उल्लेख किये हैं किन्तु प्रस्तुत कृति की प्रशस्ति में कवि ने मूलसंघ के आचार्य पद्मनन्दि तथा उनके शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र और नन्दिसंघ—सरस्वतीगच्छ के आचार्य जिनचन्द्र की वन्दना की है८। इन उल्लेखों से

१. विस्तृत परिचय के लिए "भिक्षु स्मृति ग्रन्थ" (कलकत्ता १९६१) मे प्रकाशित मेरा विस्तृत निबन्ध "सन्धिकालीन अपभ्रंश-भाषा के महाकवि रइधू" शीर्षक निबन्ध देखिये पृ० द्वि० स० १००-११५।

२. नाहर संग्रहालय कलकत्ता में सुरक्षित प्रति।

३. सावयचरिउ १।७।९।

४. सावय० १।२।१९।

५. सावय० ६/२४/१०

६. सावय० ६/२७/७

७. सावय० १/३

८. वही० १/२

विदित होता है कि रइधू किसी विशेष जाति अथवा आम्नाय के ही होकर नहीं रहे बल्कि गुणग्रहण की प्रवृत्ति तथा हृदय की विशालता वा उदारता के कारण वे आम्नायेतर अन्य मनीषियों के भी श्रद्धालु रहे थे। इसी प्रकार "सावयचरिउ" का आश्रयदाता भी अग्रवाल न होकर गोलाराड कुलोत्पन्न कुशराज१ है। गोलाराड जाति के उल्लेख ११-१२वी सदी के मूर्तिलेखों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध है जिनसे प्रतीत होता है कि उस समय यह जाति काफी सुशिक्षित विशाल एवं समृद्ध थी। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान में इसकी सर्वत्र धूम थी। बुन्देलखण्ड का एक गोलाराड कुलोत्पन्न व्यक्ति मध्यकाल के अन्तिम चरण मे कलिंगदेश मे बस ही नही गया था। अपितु वहां का एक प्रमुख सत्ताधारी व्यक्ति भी बन गया था। उसका वंशज आज भी वहा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्तमान में उक्त जाति 'गोलालारे' के नाम से प्रसिद्ध है तथा मध्यप्रदेश एव उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों में छिन्न-भिन्न रूप में ही रह गई है।

मूर्तिलेखों एव रइधू के उल्लेखो से यह विदित होता है कि यह जाति साहित्य एव कला की बड़ी प्रेमी थी। अतिशय क्षेत्र अहार२ एवं ग्वालियर दुर्ग की जैनमूर्तिया तथा "सावयचरिउ" आदि कृतिया इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। कवि ने अपने आश्रयदाता श्री कुशराज की पूर्व-पीढ़ियों का परिचय देते हुए उसके बड़े भाई असपति साहु के सम्बन्ध में कहा है कि वह सघाधिप था, जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराने वाला था तथा ग्वालियर दुर्ग में उसने चन्द्रप्रभ जिनकी मूर्ति का निर्माण कराया था३। कवि ने पुन. असपति का परिचय देते हुए उसे तत्कालीन राजा कीर्तिसिह का मत्री भी बताया है४ एवं कुशराज का राज्यकुशल५ और उसके पिता श्री सेऊ शाहु को राजा डूगरसिह का भडारी (Food and Civil Supply Minister) कहा है६। उक्त उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि गोलालारे जाति में उत्पन्न यह परिवार धर्म, साहित्य एवं कला के कार्यों में जितना अनुराग रखता था राजनीति में उसी प्रकार की कुशल सूझ-बूझ भी।

'सावयचरिउ' का प्रणयन तोमरवंशी राजा कीर्तिसिंह के समय मे हुआ। कीर्तिसिंह का परिचय देते हुए कवि ने उसे कलिचक्रवर्त्ति,७ महीपति प्रधान,८ शत्रुरूपी हाथियों के लिए सिंह के समान९ जैसे कई विशेषणों से विभूषित किया है। कीर्तिसिंह का कार्यकाल वि० सं० १५१०-३६ माना गया है१०। ग्वालियर-दुर्ग की अगणित जैन-मूर्तियों के निर्माण में अपने पिता राजा डूंगरसिंह के समान ही इनका भी बड़ा भारी हाथ रहा है११। ग्वालियर दुर्ग में १३-१४वीं सदी से श्रमण-सस्कृति, साहित्य एव कला के संरक्षण की तोमरवशी राजाओं की परम्परा को भी राजा कीर्तिसिंह ने अक्षुण्ण रखा था।

प्रस्तुत रचना के मूल प्रेरक श्री टेक्कणिसाहु थे। कवि ने स्वय लिखा है:—

आयमचरिउ पुराण वियाणें। टेक्कणिसाहु गुणेण पहाणें॥
पंडितचक्कतेणं विणत्तउ। करमउलेप्पिणु वियसिय वत्तउं॥

घत्ता

भो भो कइयणवर दुक्किय रयहर पइकहत्त भववहिउ सिरि।
जिसुणहि णिम्मल मणरजिय बुहयण सव्वसुहायर सच्चगिरि

(सावय० १।२।१७–२०)

.......................। **तह सावइचरिउ भणेहु इच्छ॥**

(सावय० १।३।१–४)

कवि ने टेक्कणिसाहु का कोई भी परिचय नही दिया कि वे कौन एव कहां के थे? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक स्वाध्यायप्रेमी एवं साहित्य रसिक सज्जनथे आर्थिक दृष्टि से कुछ कमजोर होनेके कारण वे सम्भवत. रइधू को आश्रय न दे सके थे, अत. उन्होंने गोपगिरि के श्री कुशराज

---

१. वही० १/३–४
२. दे० अनेकान्त १०/३–५
३. सावय० /६२६/६–८
४. सावय० १/४/५–६
५. वही० १/४/९
६. वही० ६/२५/८
७–८. वही० १/३/१२
९. वही० ६/२५/३
१०–११. मानसिंह एवं मान कुतूहल (ग्वालियर, वि० सं० २०१०) पृ० १०

का परिचय कवि को दिया[1]। इतना ही नहीं, वे स्वयं कुशराज को अपने साथ लेकर गये और उनके पूर्वजों तक का परिचय कवि को देकर उनसे कुशराज के निमित्त उन्ही के आश्रय में "सावयचरिउ" के लिखने का आग्रह किया[2]। कवि भी उनके आग्रह तथा कुशराज की विनम्र-प्रार्थना पर ग्रन्थ प्रणयन की तैयारी प्रारम्भ करता है।

"सावयचरिउ" का मूल स्रोत संस्कृत भाषा निबद्ध सम्यक्त्व-कौमुदी है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि उक्त सम्यक्त्व-कौमुदी के प्रारम्भ में राजा उदितोदय एवं राजा सुयोधन की विस्तृत कथाओं के बाद मूल कथानक के रूप में सेठ अर्हद्दास एवं उनकी आठ रानियों मे से सात रानियों की कथाएँ प्रारम्भ होती हैं। रइधू ने राजा उदितोदय एवं सुयोधन की विस्तृत कथाएँ न देकर मात्र ४–६ पंक्तियों में ही उनका सामान्य नामोल्लेख करके मूल कथानक सम्यकक्त्व-कौमुदी के समान ही प्रारम्भ किया है, जो निम्न प्रकार है :—

उत्तर मथुरा के राजा उदितोदय ने कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन "कौमुदी महोत्सव" का आयोजन कर नगरभेरी पिटवाई तथा सभी महिलाओं को नगर के बाहर उद्यान में जाकर क्रीड़ा विनोद एवं पुरुषो को अपने-अपने घरों में ही रहकर धर्मध्यान करने का कड़ा आदेश दिया। अष्टान्हिका-पर्व होने के कारण सेठ अर्हद्दास एव उनकी प्रथम सात रानियों को इससे धर्मसाधन मे बडी बाधा उत्पन्न हुई। सबसे छोटी रानी जो कि धर्म की अनुरागिणी न थी, के विरोध करने पर भी सेठ अर्हद्दास ने राजा से अनुनय-विनय कर अपने लिए तथा अपनी रानियो के लिए विशेष अवकाश ले लिया तथा अपने घर के चैत्यालय में ही भजन पूजनादि प्रारम्भ कर दिया। रात्रि-जागरण का व्रत सफल बनाने एवं समय व्यतीत करने के लिये इसी अवसर पर सेठ अर्हद्दास सर्वप्रथम अपने सम्यक्त्व-प्राप्ति के संस्मरणस्वरूप रूपखुर चोर की कहानी अपनी रानियों को सुनाता है, जिसे समीप ही छिपे हुए राजा, मंत्री एवं सुवर्णखुर चोर भी सुनते हैं। उसके बाद सबसे बड़ी रानी मित्र श्री ने सेठ वृषभदास, उसकी पत्नी जिनदत्ता, अपनी बहन कनकश्री तथा कापालिक की; द्वितीय पत्नी चन्द्रश्री ने सोमा एवं धूर्त रुद्रदत्त को; तृतीय पत्नी विष्णुश्री ने सन्मतिमंत्री; चौथी पत्नी नागश्री ने राजकुमारी मुण्डी; पाँचवीं पत्नी पद्मलता ने धूर्त्त बुद्धदास; छटवीं पत्नी कनकलता ने समुद्रदत्त नामक व्यापारी तथा धूर्त राजा महु, एवं सातवी पत्नी विद्युल्लता ने अशोक नामक एक घोडों के व्यापारी, सेठ वृषभसेन और एक धूर्त ब्रह्मचारी की सुन्दर कथाएँ सम्यक्त्व प्राप्ति के संस्मरण के रूप मे प्रस्तुत की हैं। कथानकों के माध्यम से एक ओर जहाँ धर्म की ओट मे लेखक ने माया-फरेबी एवं छल-कपटी धूर्तों के चरित्रों का पर्दाफाश किया है तो दूसरी ओर सुपात्रो के चरितो के माध्यम से जीवन की समृद्धि हेतु सुन्दर-सुन्दर आदर्शों को ग्रथित किया है। लेखक ने कापालिक का प्रसंग उपस्थित कर वैनालिको एवं कौलिक-सम्प्रदाय तथा बुद्धदास के माध्यम से बौद्ध सम्प्रदाय के पाखण्डों का अच्छा भण्डाफोड़ किया है। ये कथानक सांसारिक झंझटो के दुःखो को उभाड़कर मानव को शाश्वत सुखप्राप्ति की ओर उन्मुख करते हैं, साथ ही भौतिक जगत में रमने वाले मानव-समाज को मानव-मनोविज्ञान का पाठ पढाकर सहकर्मियो के ऊपर सहसा विश्वास न कर उनके अन्तरात्मा को ध्यान से परखने की ओर आगाह भी करते है।

प्रस्तुत कृति की छह सन्धियो मे से प्रथम चार सन्धियो मे उक्त कथानक ही विस्तृत है। अन्तिम ५–६ सन्धियो मे लेखक ने श्रावक धर्म एव ग्यारह प्रतिमाओ का विशद् वर्णन किया है जिसका मूलाधार उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ-सूत्र है।

'सावयचरिउ" मे एक प्रधान उल्लेख "कौमुदी महोत्सव[3] सम्बन्धी उपलब्ध है। अपभ्रंश साहित्यमे इस महोत्सव का नामोल्लेख मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। सस्कृत साहित्य को देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष मे वर्ष के दो प्रधान उत्सव थे, एक तो वसन्त-कालीन उत्सव जो कि वसन्त ऋतु मे होने के कारण "वसन्तोत्सव" के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा था शर-

१. सावय० १/४/१३–१९
२. सावय० १/५/१–८
३. सावय० १/१०

त्कालीन उत्सव जो कि शरत्कालीन पूर्णमासी की रात्रि को मनाया जाता था। यही शरत्कालीन उत्सव "कौमुदी महोत्सव" के नाम से विख्यात है। प्राचीन साहित्य से अवगत होता है कि यह कौमुदी महोत्सव मगधदेश प्रमुखतया पाटलिपुत्र में राष्ट्रीय पर्व के रूप में प्रचलित था। नन्द एवं गुप्त कालीन साहित्य मे इसके प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। सम्राट अकबर का "मीनाबाजार" भी "कौमुदी महोत्सव" का ही सम्भवतः एक परिष्कृत एवं संशोधित मध्यकालीन संस्करण प्रतीत होता है। पटना सिटी के अक्षेत्र मे आज भी कौमुदी महोत्सव की परम्परा किसी न किसी रूप में दृष्टिगोचर होती है।

महाकवि रइधू ने "कौमुदी महोत्सव" का वर्णन करते हुए राजा के आदेश के माध्यम से कहा है कि कौमुदी-यात्रा के समय नगर के बाहर नन्दनवन उद्यान में रात्रि के समय समस्त महिलाएँ क्रीड़ा करने जावेंगी। सभी मनुष्यों को चाहिए कि वे जिन भवन मे एकान्त रूप से जिनपूजादि में रत रहें। जो कोई भी उस वन मे अपनी महिला के साथ क्रीड़ाएँ करेगा अथवा क्रीड़ा करने की इच्छा करेगा, उसकी बोटी-बोटी काट कर फेंक दी जावेगी। मेरा राजपुत्र भी अपराधी होने पर ऐसा ही दण्ड प्राप्त करेगा:—

सुहरमंतु बाहिर णंदणवणे।
रत्तिहि महिलउ वरतरु वरिघणे॥
विविह विणोयहि णयरिब्भंतरि।
सयलवि णर धवलहरे णिरंतरि॥
जिणु झाइज्जहु जिणु पुज्जिज्जहु।
जिण थोत्तिजहु जिणु पणविज्जहु॥
जो को वणि पइसेप्पिणु महिलहं।
सहु कोलेसइ कोलण सीलहं॥
सो णरु धुउ तिलु तिलु खंडेव्वउ॥
जइ पुत्तु वि तो णाहि खमेव्वउ॥
सावय० २(११/३–७

"सावयचरिउ" की एक अन्य विशेषता छन्द-वैविध्य की है। कवि ने वर्णन-प्रसंगों की पूर्ण भावाभिव्यक्ति के हेतु प्रसंगानुकूल मधुभारछन्द, समानिकाछन्द, त्रिभंगीछन्द भुजंगप्रयातछन्द एवं मोत्तियदाम प्रभृति छन्दों का प्रयोग किया है! कवि ने कुछ छन्दों की संक्षिप्त परिभाषाएं भी यथास्थान प्रस्तुत की हैं।

महाकवि रइधू के साहित्य में लोकाख्यानों के साथ-साथ लोक प्रचलित शब्दों तथा कहावतों की कमी नहीं है। प्रस्तुत "सावयचरिउ" में उसने फुट्ठ, टक्कर, टिंट्ठह (जुए का अड्डा) रसोइ, परिसिउ (परोसना) कंकड़ आदि शब्दों का प्रयोग बड़े ही ठाट के साथ किया है। इसी प्रकार "णिय मुहु पक्खालहि इमि भासियउ (अपना मुँह धो लो तब बात करो) जैसी कई लोकोक्तियों का भी प्रसंगानुकूल प्रयोग किया है।

वर्णन प्रसगों की दृष्टि से भी "सावयचरिउ" एक उत्तम कोटि की रचना है। उसमे सावयचरिउ की महिमा अन्याय का फल, पुत्र महिमा, सौतियाडाह, कौलिक-सम्प्रदाय, बौद्धाचार, मिट्टी भक्षण के दोष, कामान्धावस्था आदि के वर्णन बड़े ही मार्मिक बन पड़े हैं। "सावयचरिउ" (श्रावक चरित) की महिमा स्वयं कवि के ही शब्दों मे देखिये:—

भणेमि समासये सावयवित्तु।
विसोहिवि किज्जहु भव्व पवित्तु॥
जहा विणु चंद विहावरि किण्ण।
जहा विणु रायहु वाहिणी णिण्ह॥
जहा बलहद्द विहूणु मुरारि।
जहा पिय संगम वज्जिय णारि॥
जहा विणु खंतिइ उग्गतवंतु।
जहा विणु जुत्तइ जाउ जवंतु॥
जहा विणु मूलहि ठाणु सुगेह।
जहा विणु णेत्त पसार सदेह॥
जहा विणु कंचण जोव्वण ररउ।
तहा विणु दंसण संजम हुउं॥
सावय० १/७

महाकवि रइधूने प्रस्तुत रचना के तीन नामों का उल्लेख किया है—(१) सावयचरिउ (२) समत्त कउमुइ एवं (३) कोमुई कहा। ये सभी नाम सार्थक हैं। इनमें किसी भी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। ५–६ सन्धि में श्रावक चरित्र का विशद् वर्णन होने तथा आरम्भ में श्रावकों की कथाओं के वर्णन होने से "सावयचरिउ" समग्र कथाओं एवं आचार वर्णन का सीधा सम्बन्ध सम्यक्त्व तथा कथाओं

जैन तीर्थंकर मूर्तियां देवगढ़ मन्दिर नं० १२
(गवर्नमेन्ट पुरातत्व विभाग दिल्ली के
सौजन्य से)

गधावल की अम्बिका देवी और तीर्थंकर मूर्ति पृ० १३०
(पुरातत्व विभाग भोपाल म० प्र० के सौजन्य से)

ऋषभदेव मन्दिर, धुलेव (केशरिया जी)

कुषाणकालीन श्रीवत्स चिन्हांकित प्राचीन मूर्ति
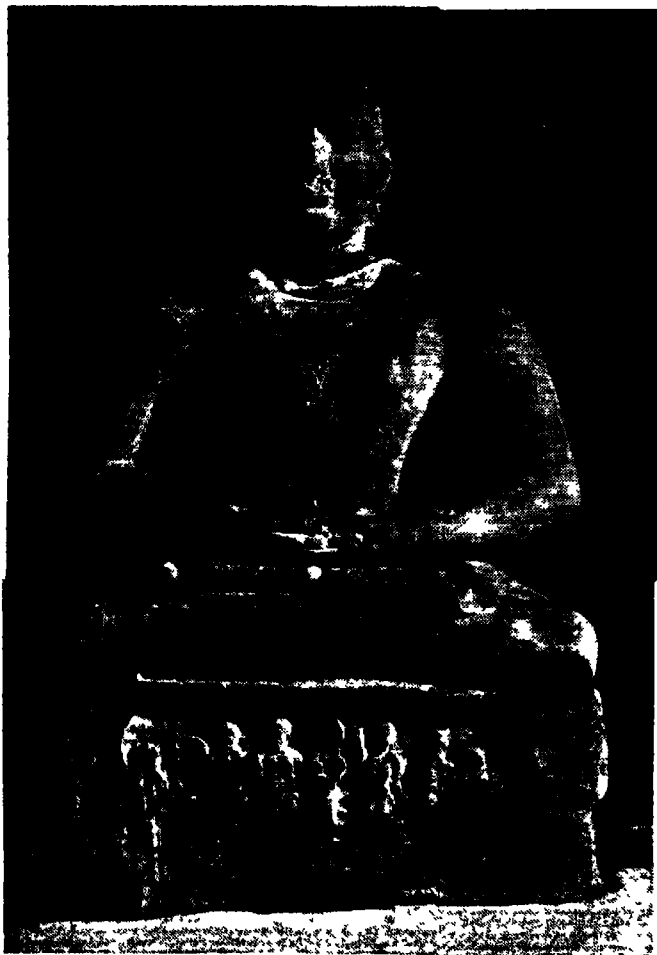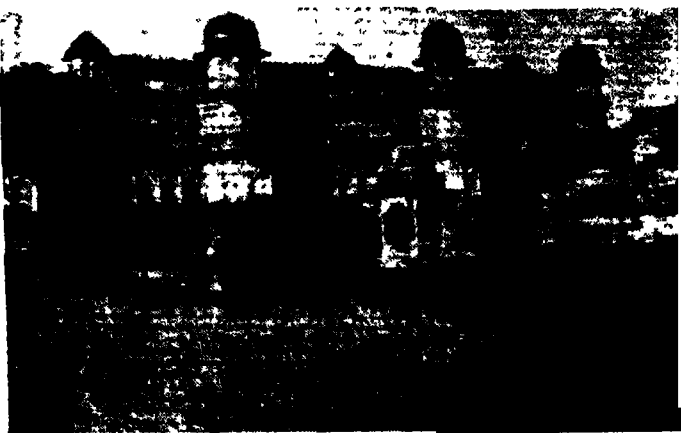
ग्वालियर का किला मध्य भारत का जैन पुरातत्व लेख देखो, पृ० ५४

अचलपुर के राजा श्रीपाल ईल

नेमचन्द धन्नूसा जैन न्यायतीर्थ

अनेकान्त की गत ८-९ किरणो में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर तथा एलिचपुर (अचलपुर) के राजा श्रीपाल ईल (एल) के बारे मे विवरण प्रसिद्ध हुए है। श्रीपुर पार्श्वनाथ की प्रसिद्धि अनेक साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होती है। वैसे ईल राजा के बारे मे कम ही साहित्यिक उल्लेख उपलब्ध हैं जिनसे उसके जीवन पर पूरा प्रकाश नही पडता। अगस्त १९६४ के अनेकान्त मे ईल राजा के जीवन पर थोड़ा प्रकाश डालने की मैंने चेष्टा की थी। और वहाँ उल्लेख भी किया था कि श्रीभक्तामर यत्र-मत्र-कथाकोष के पृ० ९५ तथा ११७ पर श्लोक न० ३१ तथा ३९ की जो कथा दी है उस पर से भी ईल राजा के जीवन पर थोडा प्रकाश पड़ सकता है। देखिए—

गोपाल ग्वाल की संक्षिप्त कथा—वच्छ देश मे श्रीपुर नाम का नगर था, वहाँ राजा रिपुपाल रहते थे, उनके चार रानियाँ थी। उनके यहा एक ग्वाल रहता था, एक दिन वह ग्वाल जगल मे गया और उसको परम वीतरागी मुनि महाराज के दर्शन हुए। ग्वाल ने महात्मा जी की बडी भक्ति-भाव से वैय्यावृत्ति की और दारिद्र तथा दुःख का प्रकाशन करते हुए कहने लगा—

ग्वाल—

ताको है कछु आज उपाय, कं यो जीवन यों हि जाय।
सो सब प्रगट बताओ हाल, तुम हो मुनिवर दीन दयाल॥

मुनि—

मिथ्यामति पावै नहीं कोय, ताको देहुँ जो श्रावक होय।

ग्वाल—

पहले मुहि अपनो कर लेव, ता पीछे मुनिवर कछु देव॥

तब मुनि ने उसको अष्ट मुल गुणों का उपदेश दिया और श्रावक की सब क्रिया उसे समझा दी। और श्री भक्तामरजी के ३०×३१वें काव्य तथा विधि समझा दियी और कहा—

जाहु वच्छ यह जपो तुरन्त, शुद्धासन प्रासुक एकंत।
रक्त वस्त्र माल रुद्राक्ष, दीजे अधिक अठोत्तर लाख॥
मौन सहित नाशा दृगध्यान, मनवचकाय त्रिविध परवान।
चिरंचितराशि बिसरि मतिजाय,
बीसबीसे पढ़ियो चितलाय॥

ग्वाल मुनिराज को नमस्कार करके चल दिया और उनकी बताई हुई विधि के अनुसार आराधना आरम्भ कर दी, जिसके प्रभाव से देवी ने प्रगट होकर कहा—

का सम्बन्ध कोमुदी महोत्सव के साथ होने के कारण "समत्त कउमुई" एव ग्रन्थ मे कौमुदी महोत्सव का वर्णन होने के कारण कोमुईकहा, (कौमुदी कथा) इस प्रकार ये नाम उपयुक्त ही हैं। फिर भी इस ग्रन्थ की अधिकांश पुष्पिकाओं मे "सावयचरिउ" का नामोल्लेख ही मिलता है, अतः इसका प्रमुख नाम "सावयचरिउ" कहा जाता है। जबकि कवि ने अपने अन्य ग्रन्थों से उसे "समत्त कउमुइ" एव "कउमुइ कह् पबन्धु" के नाम से ही स्मृति किया है। 'सावयचरिउ" का अन्यत्र कही भी उल्लेख नही।

इस प्रकार उक्त रचना कई दृष्टियों से बड़ी ही महत्वपूर्ण है। मैंने इसका यथाशक्य विस्तृत अध्ययन किया है। जो मेरे शोध-प्रबन्ध का एक अश है। यहाँ उसका एक सक्षिप्त रूप ही प्रस्तुत किया है। "अनेकान्त" के पृष्ठों की सीमा का ध्यान रखते हुए यहाँ मूल उद्धरण एवं संदर्भ आदि भी नही दिये जा सके किन्तु वे मेरे पास सुरक्षित हैं। समय आने पर उनका सदुपयोग हो सकेगा। इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि यदि कोई प्रकाशन संस्था इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर सके तो महाकवि रइधू के प्रति उसकी एक रचनात्मक श्रद्धांजलि उपलब्ध श्रावक चरितों की कड़ियों में एक नवीन कड़ी का संगठन एवं साहित्य-जगत को समृद्ध बनाने मे उसका योगदान अभूतपूर्व सिद्ध होगा। ★

देवी—

कही गुपाल सो कारन कौन, जा कारण बैठे धरि मौन।
जो चाहो सो मोतें लेहु, अब तुम सुखसौं राज करेहु॥

गोपाल—

हे माता कहु जानत नांह, जो तुम पूछत हो हम पांह।
जो जानौं इतनौं जस लेहु, बारिद मेरो नाश करेहु॥

देवी—

इल्ली देश हरीपुर गांव, तह हरिवर्म नृपति को ठांव।
वाको मीच१ निकट भई आय, वाका राज लेहु तुम जाय॥

फिर क्या था गोपाल ग्वाल वहाँ पहुँचा तो सचमुच में हरीपुर नरेश की मृत्यु हो गई थी। मंत्रियों ने मतवाला हाथी छोड़ रक्खा था। जो उसे वश मे करेगा, उसी को राजा बनाएगे। गोपाल ने पहुँचते ही उसका कान बकरे के समान पकड लिया और हरीपुर की राजगद्दी पर बैठकर राज्य करने लगा।

एक २ नीच कूल वाला आदमी एकाएक राजा बन गया यह बात अडोस-पड़ोसके छोटे-छोटे राजाओ को सहन नहीं हुई। उन्होने बड किया। तब इसने फिर से चक्रेश्वरी देवी की आराधना की और उसकी सहायता से बड शान्तकर उन सब पर प्रभुत्व जमाया। आदि।

कथा दूसरी—सेठ देवराज की—

श्रीपुर मे एक सेठजी रहते थे, वे जवाहरात का व्यापार करते थे, उनका नाम देवराज था। उन्होने स्वामी वीरचन्द मुनिराज के पास से श्री भक्तामर का अच्छा अभ्यास किया था।······

सेठ देवराज और उनके साथियों ने रत्नद्वीप मे पहुँच कर वहाँ क्रय-विक्रय करके घर का रास्ता लिया और सकुशल श्रीपुर पहुँचे। सिंह के "समागम से" मृत्यु टल गयी, यह जानकर सबने बड़ी खुशी मनाई। जिनराज की महापूजा भावपूर्वक की और धर्म की खूब प्रभावना फैलायी। वीरचन्द स्वामी की वंदना को गये और उन्हें सब समाचार सुनाया, तब मुनि महाराज ने कहा—यह तो सामान्य बात है, श्री भक्तामर जी के प्रभाव से कोटि-कोटि विघ्न क्षणभर में टल जाते हैं। पश्चात् सेठ देवराज ने सिंह के दिये हुए अच्छे-अच्छे गजमुक्ता वहाँ के राजा श्रीपाल की सेवा में भेंट किये और सिंह के उपद्रव का सब हाल सुनाया। जिससे राजा और दरबार के लोगों पर जैन-धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा और सबने जैनधर्म अंगीकार किया। इति।

इन दो कथाओं से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि श्रीपुर का गोपाल ग्वाल ही एलिचपुर (Ellichpur) का राजा ईल (एल) है। कथा न० २ मे उल्लेखित वीरचन्द मुनिराज के समकालीन राजा श्रीपाल अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ क्षेत्र का उद्धारक या सस्थापक श्रीपाल ईल ही हो सकता है। इन्ही वीरचन्द मुनिराज के बारे मे डा० हीरालाल जी जैन लिखते हैं कि—काष्ठासघ की उत्पत्ति से १८ वर्ष पश्चात् वि० स० ६७१ में३ दक्षिण देश के विध्य पर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द मुनि द्वारा भिल्लक संघ की स्थापना हुई। उन्होने अपना एक अलग गच्छ बनाया, प्रतिक्रमण तथा मुनिचर्या की भिन्न व्यवस्था की, तथा वर्णाचार को कोई स्थान नही दिया। इस एक उल्लेख से प्रमाणित होता है कि, नौवी दसवी शताब्दी मे एक जैन मुनि ने विंध्य पर्वत के भीलों में भी धर्म प्रचार किया और उनकी क्षमता के अनुसार धर्मपालन की कुछ विशेष व्यवस्था बनायी।

(भा० संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान पृ० ३२)

इसका यही अर्थ है कि, उस समय अजैनो को भी जैनव्रत देकर उनका उत्थान किया जाता था। इन्ही वीरचन्द स्वामी के शिष्य रामसेनाचार्य के बारे मे भी यही कहा जाता है कि, इन्होंने बीसों अजैन गोत्रियों को जैन बनाया। इसी तरह हमारे चरित्र नायक भी उत्थित हुए हो तो बाधा नही आती।

इसी दूसरी कथा मे—'सेठ देवराज वीरचन्द स्वामी की वंदना को गये······गजमुक्ता 'वहाँ के' राजा श्रीपाल को भेंट किये। आदि कथन है, तो निश्चित ही वह स्थान श्रीपुर से अलग होगा, जो ऊपर बताए मुजब इल्लि देश का एलिचपुर ही होगा। या, नही तो श्रीपाल श्रीपुर

---

१. मृत्यु;

२. यह आगे की बात दूसरे प्रति मे है।

३. यह शक संवत् है ऐसा श्री मुख्तार साहब ने सिद्ध किया है।

के ही राजा थे, ऐसा मानना पड़ेगा। और इतिहास भी यही कहता है कि श्रीपुर ईल राजा के अधीन था ही।

तथा गोपाल को एक लाख आठ बार जो मंत्र अपने को कहा था वह मंत्र यह हैं—'ओं उवसग्गहरं पास वंदामि, कम्मिघणमुक्कं विसहरं विसणिण्णासणं मंगल-कल्याण-आवासं, ओ ह्री नमः स्वाहा।'

पार्श्वनाथ+श्रीपुर+और श्रीपाल राजा का जहाँ त्रिवेणी संगम है ऐसा श्रीपुर अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का स्थान ही हो सकता है, ऐसी हमारी मान्यता है।

अब देखना यह है कि पहली कथा—में उद्धृत—(१) बच्छ (वत्स) देश और श्रीपुर नगर कौनसा है, (२) इल्लि देश कौनसा होगा। (३) हरिपुर गांव कहां था, और (४) गोपाल राज्य पर बैठने के बाद बड सचमुच हुआ था क्या? आदि।

(१) यहां उत्तर भारत का प्रसिद्ध वत्स देश अभिप्रेत नही है, क्योकि वत्सगुल्म=वच्छोम (आजका वाशीम जिला अकोला) एक समय राजधानी थी। अतः उसके राज्य को वच्छ या वत्स कहा हो तो बहुत संभव है। वाशीम को वत्सनगर भी कहते है और अन्तरिक्ष श्रीपुर वत्सनगर से सिर्फ १०,१२ मील के अन्तर पर ही है।

तथा एक यह भी रीति है कि राजधानी के नाम से राज्य को पुकारना, जैसे—अवंति नगरी से अवंति देश, मणिवत नगर से मणिवत देश, और आज भी बाम्बे स्टेट, म्हैसूर स्टेट, आदि।

अथवा, जिले को भी उसके प्रमुख गाँव के नाम से पुकारा जाता है। जिले को संस्कृत मे 'मण्डल' कहते है। बृहद्द्रव्य संग्रह टीका के प्रारम्भ मे हि श्रीपाल राजा को महामण्डलेश्वर जिलो का अधिकारी बतलाया है।

यह बात और है कि, पूरे विदर्भ मे उस समय राष्ट्रकूटो का अमल था। और अचलपुर उनकी उपराजधानी भी थी। लेकिन इसी से ही सिद्ध होता है कि एलिचपुर का राजा सम्राट् नही सामंत ही था। उसका अधिकार कुछ विशेष मण्डलो पर चलता था। इसीलिए ईल राजा को अन्तिम राष्ट्रकूट राजा इन्द्रराज (चतुर्थ) का सामंत राजा ही कहा गया है। अतः यह बहुत कुछ संभव है कि, ये वच्छ, इलि आदि मण्डल जैसे राज्य विभाग ही हो और अचलपुर इनका केन्द्र हो। आज की परिभाषा में अनेक जिले और प्रान्त का जो सम्बन्ध है, उन दिनों इन छोटे-छोटे राज्यों का यही संबंध होगा।

(२) उसी प्रकार 'इल्लि देश' इस शब्द का मतलब इलीचपुर (Ellichpur) जिले से होना चाहिए। यह तो निर्विवाद है कि इसका पौराणिक और ऐतिहासिक नाम 'अचलपुर' ही है। लेकिन हेमचन्द्र सूरि यह बताते हैं कि, अचलपुर इस शब्द में च और ल की अदला बदली होकर ही अलचपुर यह नाम पड़ा है। अलचपुर के एलचपुर-एलीचपुर, इलीचपुर आदि समान शब्द है। और इसी कारण से राजा को तब एल, एलगराय या ईल कहा जाता होगा।

एक बात तो निश्चित है कि अचलपुर का—अलचपुर (अलेचपुर) ऐसा रूपांतर बारहवीं शताब्दी के पहले ही हो गया था। अचलपुर यह अतिप्राचीन नगर होते हुए भी अमरावती डि० गंजेटियर में लिखा है—'Raja It founded Ellichpur, according to local pandits'. राजा ईल ने स्थानीय विद्वानों की सलाह से एलिचपुर की रचना की। एक बात ध्यान देने योग्य है कि एलिचपुर मे ५२ पुरे याने मोहल्ले थे। उसमें आज भी अचलपुर शहर नामक एक स्वतन्त्र भाग है।

(३) उन ५२ पुरे में आज भी एक 'हिरपुरा' है जो 'हरीपुर' का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। और एक बात ध्यान देने योग्य यह है की प्रत्येक पुरे में यहाँ थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। अतः इन सब देहात जैसे स्थलों का एकीकरण ईल राजा ने किया होगा जो युक्ति युक्त ही है।

अतः श्रीपुर का गोपाल ग्वाल देवी के कहे मुताबिक इस इल्लि देश के हरिपुर गाँव मे आये हो तो उसमें बाधा नही आती; क्योकि श्रीपुर से एलिचपुर (या हरिपुर कहिए) का अन्तर लगभग १०० मील का ही है। अमरावती डि० गजेटियर मे बताया है की, The legend of Raja It, is that he was a Jain by religion and come from the village now known as Khanzama nagar near Wadgaon. (राजा ईल की हकीकत यह है की वे धर्म से जैन थे और वडगाँव के पास जो

खानजमा नगर नाम का गाँव है वहाँ से आये थे)। यहाँ दोनों का आशय एक है कि राजा ईल ये एलिचपुर के खास खानदानी राजा नहीं थे। बाहर से ही वहाँ आये थे, और आये जब जैन ही थे। उसमें भी विशेष यह है की, एलिचपुर से श्रीपुर जिस दिशा में है उसी दिशा मे यह खानजमा नगर है, इसका और एलीचपुर का फैसला सिर्फ ३-४ मील का ही है।

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीपुर से निकलने के बाद गोपाल यहाँ ठहरे थे और उन्हें यहाँ पता चला था कि, वहाँ के हरिवर्ष राजा की मृत्यु हुई है, और नये राजा की शोध मे एक मतवाला हाथी छोडा है।

हो सकता है की, खानजमा नगर मे ही उन्होने हाथी को वश किया हो और वहा से ही वे समारोह के साथ एलिचपुर पधारे हो। इसीलिए खानजमा नगर से वे आये ऐसा कहा जाता है। राज्यारोहण समय उन्होंने अपना नाम श्रीपुर की याद मे 'श्रीपाल' रख लिया होगा। इसीलिए इनको 'श्रीपाल ईल' या एल या एलगराय है ऐसा कहते है।

(४) यह बात तो स्वाभाविक है कि एक साधारण आदमी एकाएक राज्य करने लग जाय और पहले राजाओं पर प्रभुत्व बतावे तो पहले अन्य राजा लोग इसको सहन नही करेंगे। अत अन्य राजाओ ने या किन्ही एक दोने बड पुकारा होगा यह बात सभवनीय ही है। अमरावती डि० गजेटियर में लिखा है की—उस समय उत्तर हिन्दुस्तान मे वाकेड नाम का राजा राज्य करता था. जिसने ईल राजा से युद्ध किया था. वह खुशी से अब्दुल रहमान को मिल गया। (The Muhamadam legend says that the northern India was tnen ruled by a raja named Vaked, who had quarrelled with Il, gladly assisted the invadar—Abdur Rahaman.) इससे यह भी स्पष्ट होता है की ईल राजा के जीवन के अन्त मे जो अब्दुल रहमान से लडाई हुई, उसके पहले इस वाकेड राजा का सामना उसे एकदफे करना ही पडा था, जिसमे ईल राजा की ही विजय हुई थी।

इस सब पूरे विवेचन से यह सिद्ध होता है की ऊपर दी हुई भक्तामर की कथा ऐतिहासिक और सत्य ही है। गजेटियर लिखने वालो को इस बाबत जो ज्ञान कराया गया, उस सामग्री पर अगर प्रकाश पडे तो एलिचपुर के श्रीपाल ईल राजा के जीवन के बारे मे और भी लिखा जा सकता है। अतः इस बाबत अधिक परिश्रम पूर्वक खोज की आवश्यकता है। हरिवर्ष राजा के बारे मे कोई पता नही चल सकता। बहुत कुछ संभव है कि, यह इन्द्रराज (स्व०) का कोई नियुक्त पुरुष या आप्त ही हो। क्योंकि राष्ट्रकूट घराने मे वर्षान्त नाम वाले राजे हुए हा है। ★

सुभाषित

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पग अप्पएण, जो राग दोसे हि समो स पुज्जो॥

अर्थात्—मनुष्य गुणो से साधु (आत्म-साधना करने वाला) होता है, और दोषो से असाधु। अतएव सद्गुणो को ग्रहण करो, और दुर्गुणो को छोडो। जो अपनी ही आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है, राग और द्वेष मे जिसकी समता है—उपेक्षा भाव है, वही पूज्य है।

संस्कृत जैन प्रबन्ध काव्यों में प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री

शिक्षा समुदाय या व्यक्ति द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज को उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं की ओर अग्रसर करती हैं। सांस्कृतिक विरासत की उपलब्धि एवं जीवन में ज्ञान का अर्जन शिक्षा द्वारा ही होता है। जीवन समस्याओं, आध्यात्मिक तत्त्वों की छान-बीन एवं मानसिक क्षुधा की तृप्ति के साधन कला-कौशल का परिज्ञान शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। भारतवर्ष मे शिक्षा का विषय ऐहिक समस्याओं के साथ क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान भी रहा है। विचार और आचार का परिष्कार, उत्क्रान्ति एवं शाश्वतिक सुख को प्राप्त करना भी शिक्षा का कार्य माना गया है। इसी कारण शिक्षा का वास्तविकलक्ष्य वैयक्तिक विकास माना जाता है। श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की समालोचना करते हुए बताया है —

"But education is a delicate biological process of mental and moral growth which cannot be achieved by mechanical proceses, the external apparutus and machinery of an organiration As in education, so in a more marked degree in the sphere of religion and spiritual life"।

अच्छी शिक्षा व्यक्ति को केवल अनुभव करना और सोचना ही नही सिखलाती बल्कि उसे विशेष कार्य करने की प्रेरणा भी देती है। कवि वादीभसिंह ने विद्या को शिक्षा का पर्यायवाची स्वीकार करते हुए बताया है—"अनविद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयफलावहा"२ अर्थात् निर्दोष—अच्छी तरह परिश्रम पूर्वक अभ्यस्त विद्या ही ऐहिक और पारलौकिक कार्यों को सफल करती है। इस कथन का विस्तार करने पर फलितार्थ निकलता है कि जिस शिक्षा से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास होता है, वही यथार्थ में अनवद्य शिक्षा है।

शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु और विधि

साधारणतः उपनयन संस्कार के पश्चात् विद्यारम्भ करने का उल्लेख मिलता है। महाकवि असग ने अपने वर्द्धमान चरित मे अश्वग्रीव३ का विद्यारम्भ उपनयन के बाद ही करने का निर्देश किया है। धनञ्जय के द्विसन्धान काव्य४ मे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। वादीभसिंह ने कुमार जीवन्धर का विद्यारम्भ संस्कार पाँच वर्ष की अवस्था मे सम्पन्न होना लिखा है। विद्यारम्भ के पूर्व सिद्धपूजन (सिद्धि-पूजादि पूर्वकम्), हवन और दानादि विधि का सम्पन्न होना आवश्यक माना है।५ विद्यारम्भ सिद्धमातृका—अ इ उ ऋ ए ओ स्वरों मे होता था। उक्त स्वरों के पश्चात् क ख ग व्यञ्जनों (वर्ण सामान्य) की शिक्षा आरम्भ होती थी।

पार्श्वनाथचरित मे भी कुमार रश्मिवेग का शिक्षारम्भ पाँच वर्ष की अवस्था मे ही हुआ है। शिक्षारम्भ वर्णमाला (सिद्धमातृका) से होता है। कुमार रश्मिवेग अकेला अध्ययन नही करता है, वह समवयस्क बालकों के साथ ही शिक्षक से पढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। कवि इसी तथ्य की व्यञ्जना करता हुआ कहता है—

सम वयस्यैर्विनयेन तत्परो गुरूपदेशोपनतासु बुद्धिमान्।
विभज्य विद्यासु लब्धशिक्षत स्वयंहि भव्यस्य गुणाःपुरस्सराः

—पार्श्व० च० ४/२८

1. Ancient Indian education, Dr. Radha-Kumud Mukerji Pub. Motilal Banarsidass Delhi 1960 A D Page 366.
२. क्षत्रचूडामणि ३/४५
३. असगदाय-वर्द्धमानचरित ५/२७
४. द्विसन्धान ३/२४
५. क्षत्र चूडामणि १/११२

वर्णसमाम्नाय के सीख लेने के पश्चात् रश्मिवेग समान आयु वाले बालकों के साथ-साथ विनयपूर्वक अध्ययन करने लगा। वह अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण समस्त विद्याओं में शीघ्र ही पारंगत हो गया। भव्य-प्रतिभाशाली भविष्णु व्यक्ति में गुण स्वयं ही आकर प्रविष्ट हो जाते हैं।

कवि वादीभसिंह के उल्लेखों से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय शिक्षा का प्रारम्भ अपने घर पर या गुरु के स्थान पर होता था। वर्णज्ञान, गणितज्ञान और लिपिज्ञान तक छात्र किसी सुयोग्य गुरु से एकाकी ही शिक्षा प्राप्त करता था। जब प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही समाप्त हो जाती थी, तब वह किसी विद्यालय या गुरुकुल में निवास कर ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की जानकारी प्राप्त करता था[1]। पार्श्वनाथचरित के पूर्वोक्त सन्दर्भ से भी उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। रश्मिवेग वर्णमाला और प्रारम्भिक गणित आदि की शिक्षा एकाकी ही प्राप्त करता। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर वह समवयस्कों के साथ अध्ययन करता है, इससे यह ध्वनित होता है कि विद्यालय शिक्षा घर में ही आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् प्रारम्भ होती थी।

शिष्य की योग्यता और गुण

शिक्षार्थी के गुण और योग्यता का निर्देश क्षत्रचूडामणि मे पाया जाता है। कवि वादीभसिंह ने लिखा है :—

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्तास्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥

क्षत्र० -/३१

गुरुभक्त, संसार से अनासक्त—इन्द्रिय जयी, विनयी धर्मात्मा, प्रतिभाशाली, कुशाग्रबुद्धि, शान्तपरिणामी, आलस्यरहित और सभ्यव्यक्ति ही उत्तम शिक्षार्थी होता है।

गुरुभक्ति को विद्यार्जन में आवश्यक कारण माना है। जो शिष्य अपने गुरु की सेवा शुश्रूषा, विनय, भक्ति और उनकी आज्ञा का पालन करता है। वह सभी प्रकार की विद्याओं को प्राप्त कर लेता है।

गुरुभक्तिः सतीमुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकी मूल्यरत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥

क्षत्र० २/३२

जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न से भूसे का ढेर खरीदना साधारण सी बात है, उसी प्रकार निष्कपट भाव से सम्पन्न की गयी गुरुभक्ति से भी जब परस्पर या मुक्ति तक प्राप्त हो सकती हैं, तो अन्य लौकिक कार्यों की पूर्ति होना तो तुच्छ बात है।[1] अभिप्राय यह है कि गुरुभक्ति से शिक्षा की प्राप्ति बड़ी सरलता से होती है।

जो शिष्य गुरुओं का उपकार न मान उनसे द्रोह करता है, उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते है। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष आदि की सत्ता नही रह सकती है, उसी प्रकार उपचार स्मृति, विनय और गुरु सेवा के बिना विद्या रूपी वृक्ष भी नही ठहर सकता है। गुरुद्रोह करना या गुरु का अपमान करना शिक्षार्थी के लिए अत्यन्त अनुचित है।

गुरु विनय के समान ही शिक्षार्थी को शिक्षाकाल में जितेन्द्रिय और संसार के विषयो की आसक्ति को छोड़कर शिक्षा सम्पादन करना चाहिए। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित मे वज्रनाभ के विद्याध्ययन का निर्देश करते हुए बताया है कि उसने अपने इन्द्रिय रूपी उन्मत्त हस्तियों को निरकुश नहीं होने दिया। पञ्चेन्द्रियों के विषयो की ओर जाती हुई शक्ति को उसने अपनी शिक्षा साधना मे लगाया।[2] सभी प्रकार की वृत्तियों को रोक कर एक ही लक्ष्य की ओर केन्द्रित कर दिया। शिक्षाकाल में विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ अधिक बाधक होती है, अतः जो

---

१. अथ विद्यागृह किञ्चिदासाद्य सखिमण्डित।
पाण्डित्यादिरश्वविद्याया–मध्यगीष्टातिपण्डित ॥

क्षत्र० २/१

जीवन्धर ने प्रारम्भिक शिक्षा के अनन्तर मित्रो के साथ किसी पाठशाला मे प्रविष्ट होकर सर्वविद्या-विशारद आर्यनन्दी गुरु से अध्ययन आरम्भ किया।

१. गुरुद्रुहा गुणः को वा कृतघ्नाना न नश्यति।
विद्यापि विद्युदाभा स्या-दमूलस्य कुतः स्थितिः ॥

क्षत्र० २।३३

२. प्रतिबोधकचित्तदर्पभगे, बलिना तेन कृते मदोदयेऽपि।
विषया विजगाहिरे हृषीक-द्विपनार्दैर्न यथामत तदीयैः ॥

पार्श्व० बम्बई ५।५

साधक बन कर साधना करता है, उसी को सरस्वती की उपलब्धि होती है। बहुमुखी प्रवृत्ति शिक्षा ग्रहण करने में अत्यन्त बाधक है। अतएव शिक्षार्थी मे गुरुसेवा, विनय, ब्रह्मचर्य, एकाग्रता, निरलसता एव परिश्रम इन गुणो का होना परम आवश्यक है।

गुरु या शिक्षक की योग्यता

शिक्षार्थी मे गुणो का होना जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार शिक्षक मे वैदुष्य, सहानुभूति आदि गुणो का रहना आवश्यक है। कवि वादीभसिह ने शिक्षक की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्र स्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मा हि, भवाब्धेस्तारको गुरुः॥

क्षत्र० २।३०

रत्नत्रयधारक—श्रद्धावान्, ज्ञानी और चरित्रवान, सज्जन, शिष्य से स्नेह करने वाला, परोपकारी, धर्मरक्षक और जगतारक गुरु—शिक्षक होता है। कवि वादीभसिह ने शिक्षक को विषय का पण्डित होने के साथ चरित्र गुण से विभूषित माना है। जिसका चरित्र निर्मल नही, वह क्या शिक्षा देगा? ज्ञानी होने के समान ही चरित्रनिष्ठ होना भी शिक्षक के लिए आवश्यक है। शिष्य से प्रेम करना, उसकी उन्नति की इच्छा करना, अच्छे सस्कार उसके ऊपर डालना, उसको बौद्धिक-आत्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना तथा सभी प्रकार से सावधानी पूर्वक विकास करना शिक्षक के कर्त्तव्यों मे परिगणित है।

सस्कृत जैन काव्यो में प्रयुक्त पात्रो के शिक्षक निर्लोभी नि.स्वार्थी और कर्त्तव्य परायण परिलक्षित होते है। आर्यनन्दी जीवन्धर कुमार को अपना इतिवृत्त सुनाते हैं और उसे ज्ञानी तथा विद्वान् बनाने के अतिरिक्त खोये हुए पिता के राज्य को पुन हस्तगत करने की विधि भी समझाते हैं। इतना ही नही कर्त्तव्य और अधिकारो का उद्बोधन करते हुए उसे समय की प्रतीक्षा करने का आदेश देते है।

गुरु—शिक्षक के गुणों के सम्बन्ध मे शान्तिनाथचरित में आता है—"अशेषशास्त्रागमतत्त्वदर्शिता" (शांति० १।१२६) समस्त शास्त्र, आगम पुराण और इतिहास आदि की जानकारी गुरु के लिए आवश्यक है।

शिक्षक दो प्रकार के होते थे—सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ। सग्रन्थ से तात्पर्य उन शिक्षकों से है, जो वस्त्र धारण करते थे और वेद-वेदांग के निष्णात विद्वान् थे। गृहस्थी में निवास करते थे, जिनकी आजीविका छात्रों द्वारा दी गयी दक्षिणा अथवा राजाओ द्वारा दिये गये वेतन से सम्पादित होती थी। इस प्रकार के शिक्षक सपरिवार रहते थे, इनके पुत्र-पुत्री एव पौत्रादिक भी साथ में निवास करते थे। ज्ञानी, चरित्रनिष्ठ होने के साथ छात्रों की उन्नति की कामना करना तथा उन्हें योग्य विद्वान बनाना उनका लक्ष्य था। शान्तिनाथचरित मे निबद्ध सत्यकि अध्यापक का आख्यान इस बात पर प्रकाश डालता है कि गुरु का दायित्व शिष्य का सर्वाङ्गीण विकास करना था। शिष्य भी प्रत्येक सभव उपाय द्वारा गुरु की सेवा कर अपने भीतर ज्ञान और चरित्र का विकास करता है।१ निर्ग्रन्थ गुरु आरम्भ-परिग्रह मे रहित होकर किसी चैत्य या वन मे निवास करते थे। कुछ शिष्य इनके पास रहकर तत्त्वज्ञान और आगमो का अध्ययन करते थे। अध्यापन के बदले में ये किसी से कुछ भी नही लेते थे।

शिक्षा संस्थाओं के भेद

हमें काव्यों मे तीन प्रकार की शिक्षा-संस्थाओ का निर्देश मिलता है। प्रथम प्रकार की वे सस्थाएँ थी, जो तापसियों के आश्रम मे गुरुकुल के रूप मे वर्तमान थीं। इस प्रकार की शिक्षा सस्थाओ मे प्रायः ऋषिकुमार ही अध्ययन करते थे। अन्य नागरिक छात्र कम ही अध्ययन के लिए पहुँचते थे। युवक तपस्वी भी अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करते थे। साधना कर आत्म-शोधन करना ही इस प्रकार की शिक्षा सस्थाओ का उद्देश्य था। कमठ जिस आश्रम मे पहुँचा था, वह भी इस प्रकार का आश्रम था। प्रधान ज्ञानी तपस्वी उस आश्रम का कुलपति होता था। अध्ययन करने पर भी यह पता नही चलता है कि इस प्रकार के गुरुकुलों में कितने अध्यापक होते थे और कितने विषयो का अध्यापन किया जाता था।२

---

१. शान्तिनाथचरित, मुनिभद्र सूरि, प्र० हर्षचन्द्र धर्माभ्युदय प्रेस, बनारस, वी० नि० २४३७, सर्ग १ श्लो० १११–१६०

२. पार्श्वनाथचरित द्वितीय सर्ग;

दूसरे प्रकार की वे शिक्षा संस्थाएँ हैं जो पाठशाला के रूप में चलती थी, जिनमें एक से अधिक अध्यापक नहीं होते थे। प्रत्येक पाठशाला मे एक ही अध्यापक रहता था। वह सामान्य रूप से लिपिज्ञान, गणितज्ञान एवं भाषा आदि का बोध कराता था१। कोई-कोई शिक्षक अन्य विषयो का ज्ञान भी कराता था।

तीसरे प्रकार की वे शिक्षा संस्थाएं थी, जिनका रूप आजकल के कालेजों के समान था; जिनमे प्रत्येक विषय के लिए पृथक अध्यापक रहते थे। इस प्रकार की शिक्षा-संस्थाएं किसी महान् विद्वान द्वारा संचालित होती थी। शान्तिनाथचरित मे वर्णित कपिल जिस सत्यकि के विद्यालय मे पहुँचा था, उसमे कई अध्यापक थे और अनेक विषयो का अध्यापन होता था। कवि कहता है—

अथापदध्यापकधुर्यसत्यकेर्मठं पठच्छात्रकुलैः समाकुलम्।
अलक्ष्यमध्यं जनराशिवज्रकैः सरस्वतीसन्ततिशालिभिर्वृतम्।।

शा० १।१११

कदाचिदध्यापकजीवतेश्वराप्रतीतमाप्ताकिल जम्बुकाऽऽख्यया रहःपतिं प्राह विचारचातुरी विरञ्चिकन्या कमनीय कान्तिभृत्

वही १।१२०

सत्यकि के मठ—विद्यालय मे अनेक छात्र और कई अध्यापक रहते थे। सत्यकि कुलपति था और जम्बुक नाम का शिक्षक उस संस्था का आचार्य था। 'अध्यापकजीवतेश्वरा' पद जम्बुक को आचार्य होने के कारण ही सत्यकि के अधिक निकट था। इसी कारण उसका साहस कपिल के साथ कुलपति की पुत्री सत्यभामा का विवाह करा देने का हुआ। यथा—

विचार्य चाध्यापक एव जम्बुकाववचो
मनोहारि तवाऽऽयतो हितम्।
व्यवाहयत्तां कपिलेन कन्यकां
महोत्सवात् कोविदवर्णनातिगात्।।

शा० १।१२३

कपिल की अध्यापन शैली, विषय का पाण्डित्य, ज्योतिष, निमित्त आदि का परिज्ञान समस्त व्यक्तियो को आश्चर्यचकित कर रहा था। इस सन्दर्भ मे आया हुआ "न कैर्जनैः"२ पद विचारणीय है, क्योंकि कपिल की परीक्षा, पाठनशैली, ग्रहातिचारविज्ञान छात्रो और शिक्षकों में से किसे मुग्ध नहीं कर रहा था। इससे यह संकेत सहज मे उपलब्ध होता है कि सत्यकि के विद्यालय मे अध्यापको की संख्या अधिक थी।

क्षत्रचूडामणि से यह भी ज्ञात होता है कि राजा-महाराजाओं के बालक अपने यहा ही गुणी शिक्षक को रखकर अध्ययन करते थे। हेमाभ नगरी के निकट दृढमित्र राजा के पुत्र सुमित्र आदि ने जीवन्धर कुमार को धनुर्विद्या सैनिक शिक्षा के लिए शिक्षक नियत किया था। राजा ने जीवन्धरकुमार मे शिक्षक पद ग्रहण करने की प्रार्थना की थी।

सुतविद्यार्थमभ्यर्थ्य पार्थिवस्तमयाचत।
आराधनैकसम्पाद्या विद्या न ह्यन्यसाधना।।

क्षत्र० ७।७४

गुरु की सेवा शुश्रूषा से ही विद्या की प्राप्ति होती है। अन्य प्रकार से नहीं। अतएव दृढमित्र राजा ने अपने राजकुमारो को शिक्षित बनाने के लिए विद्वान जीवन्धर से विनय पूर्वक प्रार्थना की।

जीवन्धर कुमार ने भी निष्कपट भाव से राजकुमारों को शिक्षा दी और राजकुमार भी विनय पूर्वक अध्ययन करते रहे। फलत. वे कुछ ही दिनों मे गुरु के समान ही विद्वान् हो गये।

प्रश्रयेण बभूवुस्ते, प्रत्यक्षाचार्यरूपकाः।
विनयः खलु विद्यानां दोग्ध्री सुरभिरञ्जसा।।

क्षत्र० ७।७७

जिस प्रकार कामधेनु इच्छित मनोरथो को पूर्ण करती है, उसी प्रकार गुरु की सच्ची सेवा-सुश्रूषा और विनय करने से इच्छित विद्या की प्राप्ति होती है अतएव वे राजकुमार गुरु जीवन्धर की सच्ची सेवा करने से साक्षात् गुरु के समान हो गये।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि शिक्षा के लिए घर पर शिक्षक को रखकर शिक्षा दिलाना, भी एक चौथी शिक्षा संस्था जैसी ही वस्तु है। पर यह राजा-महाराजा या सेठ-

१. क्षत्रचूडामणि २।१

२. तनूभुवा पाठनिमित्तकारणाद् ग्रहातिचारादिविभोधनादपि नवीनजामातृतया च सत्यकेरिपूजि भर्त्या कपिलो न कैर्जनैः मुनिभद्रका शान्तिनाथचरित १।१२७

साहूकारो के यहाँ कुछ ही दिनो तक रहती थी। शिक्षक से मनमुटाव होने पर या शिक्षा के समाप्त हो जाने पर किसी से शिक्षक के ही रुष्ट होकर चले जाने पर अध्ययन-क्रम टूट जाता था।

सुयोग्य माता-पिता भी अपने बच्चो को स्वयं शिक्षा देते थे। आदिदेव ऋषभ ने अपने पुत्र भरत, बाहुबली एवं कन्याओ को स्वयं ही उनकी बुद्धि और प्रतिभा के अनुसार शिक्षा दी थी।

पाठ्यक्रम और शिक्षा के विषय

काव्य-ग्रन्थो मे पाठ्यग्रन्थो के विषय मे एकरूपता नही मिलती है और न पात्रो के अध्ययन का क्रम ही एक रूप मे उपलब्ध है। अतः शिक्षा के विषयो पर क्रमबद्ध रूप मे प्रकाश डालना कुछ कठिन सा है। पार्श्वनाथचरित मे *वज्रनाभ की शिक्षा का निर्देश करते हुए दो प्रकार की* शिक्षा बतलायी गयी है—शस्त्र और शास्त्र। शास्त्रविद्या मे सर्वप्रथम व्याकरण के अध्ययन का जिक्र किया है—गुण और वृद्धि संज्ञा से सहित, श्रेष्ठ सन्धिज्ञायक सूत्रो से ग्रथित और भाषा को सीखने मे कारण व्याकरण का अध्ययन किया[१]।" शत्रुञ्जय काव्य मे शास्त्रविद्या के अन्तर्गत वेद, वेदांग कौटिल्य का अर्थशास्त्र एवं काव्यकला आदि की गणना की है[२]। इसी काव्य मे ऋषभदेव अपने पुत्र और पुत्रियों को निम्नलिखित विषयो की शिक्षा देते हुए दृष्टिगोचर होते है।

अध्यजीगपदीशोऽपि, भरतं ज्येष्ठनन्दनम्।
द्वासप्ततिकलाकाण्डं, सोऽपिबन्धून्निजान्परान्॥

शत्रु ३।१२६

लक्षणानि गजाश्वस्त्रीपुंसामीशस्त्वपाठयत्।
सुतं च बाहुबलिनं सुन्दरीं गणितं तथा॥

वही ३।१३०

अष्टादश लिपिर्ब्राह्मी, दर्शयामास पाणिना।
अपसव्येन स ब्राह्मया ज्योतिरूपा जगद्धिता॥

वही ३।१३१

७२ कलाओं की शिक्षा भरत को प्राप्त हुई। गज-लक्षण, अश्वलक्षण, स्त्रीलक्षण, पुरुषलक्षण आदि की शिक्षा बाहुबलि को और गणित तथा अठारह प्रकार की लिपियों की शिक्षा ब्राह्मी को प्राप्त हुई।

पद्मानन्दकाव्य मे भी भरत को बहत्तर कलाओं की शिक्षा प्राप्त होने का निर्देश है[१]। ये कलाएँ निम्न प्रकार है —

१ लेख—सुन्दर और स्पष्ट लिपि लिखना तथा स्पष्ट रूप से अपने भाव और विचारो का अभिव्यञ्जन लेखन द्वारा करना।

२. गणित—अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित का ज्ञान।

३. रूप—चित्रकला का ज्ञान—इस कला मे धूलि-चित्र सादृश्यचित्र और रस चित्र से तीन प्रकार के चित्र आते है।

४. नाट्य—नाटक लिखने और खेलने की कला। इस कला मे सुरताल आदि की गति के अनुसार अनेक विध नृत्य के प्रकार सिखलाये जाते है।

५ गीत—किस समय कौन सा स्वर अलापना चाहिए, अमुक स्वर को अमुक समय पर अलापने मे क्या प्रभाव पडता है? इन समस्त विषयों की जानकारी परिगणित हो है।

६. वादित—संगीत के स्वरभेद और ताल आदि के अनुसार वाद्यकला का परिज्ञान।

७ पुष्करगत—बाँसुरी और भेरी आदि के वादन की कला।

८. स्वरगत—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद का परिज्ञान।

९. समताल—वाद्यों के अनुसार हाथ या पैरो की गति को साधना।

१०. द्यूत—जुवा खेलने की कला। प्राचीनकाल मे

---

१ गुणवत्प्रतिपन्न साधुसन्धिं प्रथमोदीरित वृद्धिभावशुद्धम्।
प्रथत. पितुराज्ञयाऽध्यगीष्ट स्वसम व्याकरण सवत्तचोलः॥

पार्श्व ५।४

२. वेदवेदाङ्गविज्ञानम् कौटिल्यकुशला कलाम्।
सोऽर्च्यते कार्यतो लोकैः कन्दमूलफलाम्बुभुक्॥

शत्रु० १३।४५२

१. आदिमं द्व्यधिकसप्तति कलाः············पद्मानन्द, बड़ोदा, सन् १९३२ ई०, १०।७६

जुआ को मनोविनोद का साधन माना गया है, अतः इसकी गणना कलाओं में होती है।

११. जनवाद—मनुष्य के शरीर, रहन-सहन बात-चीत, खान-पान आदि के द्वारा उसका परीक्षण करना कि यह किस प्रकृति का है और किस पद या किस कार्य के लिए उपयुक्त है।

१२. प्रोक्षत्व—वाद्य विशेष की कला।

१३. अर्थपद—अर्थशास्त्र की जानकारी। इसके अन्तर्गत रत्नपरीक्षा और धातुवाद ये दोनों ही सम्मिलित हैं।

१४. दकमृत्तिका—जलवाली मिट्टी का परीक्षण किस स्थान में जल है और किस स्थान मे नहीं, यह मिट्टी के परीक्षण से अवगत कर लेना।

१५. अन्नविधि—भोजन निर्माण करने की कला, विविध प्रकार के खाद्यों को तैयार करना, इस कला का उद्देश्य है।

१६. पानविधि—शरबत, चाय, पानक आदि विभिन्न प्रकार के पेय पदार्थ तैयार करने की कला।

१७. वस्त्रविधि—वस्त्र निर्माण की कला।

१८. शयनविधि—शय्या निर्माण तथा शयन सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों की जानकारी।

१९. आर्या—आर्या छन्द के विविध रूपो की जानकारी।

२०. प्रहेलिका—पहेली बूझने की योग्यता।

२१. मागधिका—मागधी भाषा और साहित्य की जानकारी।

२२. गाथा—गाथा लिखना और समझना।

२३. श्लोक—श्लोक रचना करना और समझना।

२४. गन्धयुक्ति—इत्र, केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की पहचान और उनके गुणदोषों का परिज्ञान।

२५ मधुसिक्थ—मोम या आलता बनाने की विधि की जानकारी।

२६. आभरणविधि—आभूषण निर्माण और धारण करने की कला।

२७. तरुणपरिकर्म—अन्य व्यक्तियों को प्रसन्न करने की कला।

२८. स्त्रीलक्षण—नारियों की जाति और उनके गुण अवगुणों की पहचान।

२९. पुरुषलक्षण—पुरुषों की जाति और उनके गुण-अवगुणों की पहचान।

३०. हयलक्षण—घोड़ों की परीक्षा तथा उनके शुभाशुभ लक्षणों का परिज्ञान।

३१ गजलक्षण—हाथियों की जातियां तथा उनके शुभाशुभ की जानकारी।

३२ गोलक्षण—गायों की जानकारी।

३३. कुर्कुटलक्षण—मुर्गों की पहचान और उनके शुभाशुभ लक्षणों का परिज्ञान।

३४. मेढ़लक्षण—मेढ़े की पहचान और शुभाशुभ लक्षणों का परिज्ञान।

३५. चक्रलक्षण—चक्र परीक्षा और चक्र सम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३६. छत्रलक्षण—छत्र परीक्षा और छत्र सम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३७. दण्डलक्षण—दण्ड परीक्षा और दण्ड सम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३८. असिलक्षण—असि परीक्षा और असि सम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३९. मणिलक्षण—मणि, हीरा, रत्न, मुक्ता आदि की परीक्षा।

४०. काकिणी लक्षण—सिक्को की जानकारी।

४१. चर्मलक्षण—चर्म की परीक्षा करने की जानकारी।

४२. चन्द्रचरित—चन्द्रमा की गति, विमान एव अन्य तद्विषयक जानकारी।

४३. सूर्यचरित—सूर्य की गति, विमान एव अन्य तद्विषयक जानकारी।

४४. राहुचरित—राहु ग्रह सम्बन्धी जानकारी।

४५. ग्रहचरित—अन्य समस्त ग्रहो की गति, आदि का ज्ञान।

४६. सौभाग्यकर—सौभाग्य सूचक लक्षणों की जानकारी।

४७. दौर्भाग्यकर—दुर्भाग्य सूचक चिह्नों की जानकारी।

४८. विद्यागत—शास्त्रज्ञान प्राप्त करना।

४९. मन्त्रगत—दैहिक, दैविक और भौतिक पदार्थों को दूर करने के लिए मन्त्रविधि का परिज्ञान।

५०. रहस्यगत—जादू, टोने और टोटका का परिज्ञान।

५१. सभव—प्रसूति विज्ञान।

५२. चार—तेज गमन करने की कला।

५३. प्रतिचार—रोगी की सेवा सुश्रूषा करने की कला।

५४. व्यूह—व्यूह रचना की कला। युद्ध करते समय सेना को कई भागो मे विभक्त कर दुर्लङ्घ्य भाग मे स्थापित करने की कला।

५५. प्रतिव्यूह—शत्रु के द्वारा व्यूह रचना करने पर उसके प्रत्युत्तर मे प्रतिव्यूह रचने की कला।

५६. स्कन्धावार निवेशन—छावनियाँ बसने की कला, सेना को रसद आदि भेजने का प्रबन्ध कहाँ और कैसे करना चाहिए, आदि का परिज्ञान।

५७. नगरनिवेशन—नगर बसाने की कला।

५८. स्कन्धवारमान—छावनी के प्रमाण—लम्बाई, चौड़ाई एव अन्य विषयक मान की जानकारी।

५९. नगरमान—नगर का प्रमाण जानने की कला।

६०. वास्तुमान—भवन प्रासाद और गृह के प्रमाण को जानने की कला।

६१. वास्तुनिवेशन—भवन, प्रासाद और गृह बनाने की कला।

६२. इष्वस्त्र—बाण प्रयोग करने की कला।

६३. त्सरुप्रवाद—असिशास्त्र का परिज्ञान।

६४. अश्वशिक्षा—अश्व को शिक्षा देने की कला—नानाप्रकार की चालें सिखलाना।

६५ हस्तिशिक्षा—हाथी को शिक्षित करने की कला।

६६. धनुर्वेद—धनुर्विद्या की जानकारी।

६७. हिरण्वाद (हिरण्यपाक)—चाँदी के विविध प्रयोग और उसके रूपों को जानने की कला।

सुवर्णवाद (सुवर्णपाक)—सोने के विविध प्रयोग और उसको जानने की कला।

मणिवाद (मणिपाक)—मणि सम्बन्धी विविध प्रयोगों की जानकारी एवं धातुबाद का ज्ञान।

६८. बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, अस्थियुद्ध एवं युद्धातियुद्ध की कला।

६९. सूत्रखेल, नासिकाखेल, वृत्तखेल, धर्मखेल एवं चर्मखेल आदि का कलात्मक परिज्ञान।

७०. पत्रच्छेद, कटकच्छेद एवं प्रतरच्छेद की कला।

७१. सजीव और निर्जीव—मृत या मृततुल्य व्यक्ति को जीवित करने की कला तथा यन्त्र आदि के द्वारा मरणकला का ज्ञान।

७२. शकुनरुत—पक्षियो की आवाज द्वारा शुभाशुभ का परिज्ञान।

अठारह प्रकार की लिपियों की शिक्षा भी पाठ्यक्रम मे सम्मिलित है। इन लिपियों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

[१] ब्राह्मी, [२] यवनालिका, [३] दोषोरिका, [४] खरोष्ट्रिका, [५] खरशाविका, [६] प्रहरातिका, [७] उच्चतरिका, [८] अक्षरपृष्टिका, [९] भोगवतिका, [१०] वेनतिका, [११] निह्नविका, [१२] अङ्कलिपि, [१३] गणितलिपि, [१४] गान्धर्वलिपि, [१५] आदर्शलिपि, [१६] माहेश्वरीलिपि, [१७] दामिलिपि और [१८] बोलिन्दिलिपि।

शास्त्र अध्ययन में वेदवेदाङ्ग, न्याय, सांख्य के साथ जैनवाङ्मय का अध्ययन भी लिया जाता था। पार्श्वनाथचरित मे बताया गया है कि भूताचल पर जो तापस आश्रम था, उसमे वेदवेदाङ्ग का अध्ययन कराया जाता था। "द्विज छात्र जिस समय अपने वेदों का अध्ययन समाप्त कर चुकते हैं, तो उन्हें वहाँ के पिंजरो में बैठे हुए तोता और मैना उनकी बोली का कर्णप्रिय मिष्ठ भाषा मे अनुवाद करते सुनायी पड़ते हैं।"[१] प्रद्युम्नचरित के "वेदविद षडङ्गमन्त्रार्थं", (प्र० ९।२०३) से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है।

"सुधीरधीयन् परमागम" (पार्श्व० ४।४०) द्वारा परमागम—द्वादशाङ्ग जैन वाङ्मय के अध्ययन पर प्रकाश पड़ता है। सामान्यतः शिक्षा का पाठ्यक्रम कला और

१. द्विजैरहस्याध्ययनस्य पश्चादनन्तर पंजरवासितानाम्।
यत्रानुवादः शुकशारिकाणामाकर्ण्यते कर्णरसायनश्रीः॥
पार्श्व० २।७७

विज्ञान में परिसमाप्त था। "कलाकलाप सकल समग्रहीत् कुशाग्रबुद्धिः कुशली स लीलया" (शान्तिनाथचरित ६।२५६ से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा के सम्बन्ध मे बताया गया है२ कि राजकुमारों को [१] चक्र, [२] धनुष, [३] वज्र, [४] खड्ग, [५] क्षुरिका, [६] तोमर, [७] कुन्त, त्रिशूल, [८] शक्ति, [९] परशु, [१०] मक्षिका, [११] भल्लि, [१२] भिन्दिपाल, [१३] मुष्टि, [१४] लुण्ठि, [१५] शंख, [१६] पाश [१७] पट्टिश, [१८] ऋष्टि, [१९] कणय, [२०] कम्पन, [२१] हल, [२२] मुसल, [२३] गुलिका, [२४] कर्तरि, [२५] करपत्र, [२६] तलवार, [२७] कुद्दाल, [२८] दुस्फोट, [२९] गोकरिण, [३०] डाह, [३१] डब्बूस, [३२] मुग्दर, [३३] गदा, [३४] घन, [३५] करपत्र और [३६] करवालिका—भुआली की शिक्षा अपेक्षित थी२। राजकुमारों को अश्व-संचालन, आगम, युद्धनीति एवं राजनीति की शिक्षा आवश्यक थी। उनको साम, दाम, दण्ड, भेद, नीति की भी शिक्षा दी जाती थी। काव्यों के प्राय. समस्त राजपुत्र, राजनीति और रणनीति में प्रवीण परिलक्षित होते हैं।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य "हेयोपादेयविज्ञान नोचेद् व्यर्थः श्रम श्रुतौ" (क्षत्रचूडामणि २।४४) हेयोपादेयज्ञान—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की जानकारी प्राप्त करना है, यदि हेयोपादेय हिताहितकारी वस्तुओं को ग्रहण करना और छोडना यह ज्ञान प्राप्त न हुआ तो शिक्षा प्राप्त करने में किया गया परिश्रम व्यर्थ है। पाठ्यक्रम में अनेक विषयों के रहने पर भी व्याकरण ज्ञान आवश्यक माना गया है। कवि धनञ्जय ने अपने द्विसन्धान काव्य मे लिखा है—

पदप्रयोगे निपुणं विनामे सन्धौ विसर्गे च कृतावधानम्।
सर्वेषु शास्त्रेषु जितश्रम तच्चापेऽपि न व्याकरण मुमोच॥
द्वि० ३।३६

शब्द और धातुओं के प्रयोग म निपुणता, प्रत्व-णत्व-करण, सन्धि तथा विसर्ग करने मे न चूकने वाले तथा समस्त शास्त्रों के परिश्रमपूर्वक अध्येता व्यक्ति भी व्याकरण के अध्ययन के अभाव मे विषय और भाषा दोनों के ज्ञान मे शून्य होते हैं।

विद्या और विद्वान की महिमा

जो विद्वान हैं और जिसने शस्त्र एव शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की है वह लोकद्वय पूज्य है। विद्याधन सर्वोत्तम है—

विद्याहि विद्यमाने यं वितीर्णापि प्रकृष्यते।
न कृष्यते च चौराद्यैः पुण्यत्येवमनीषितम्॥
क्षत्र० २।२५

विद्याधन का प्रभाव अचिन्त्य है। व्यय करने पर भी इसकी वृद्धि ही होती है। चोर तथा बन्धु आदि के द्वारा यह धन छीना नही जा सकता और इच्छा पूर्ति करने मे भी यह रामायण है।

वैदुष्येण हि वश्यत्वं वैभवं सदुपास्यता।
सदस्यतालभुक्तेन विद्वान्सर्वत्र पूज्यते॥
क्षत्र० २।२६

विद्वत्ता मे मनुष्य को कुलीनता, धनसम्पत्ति, मान्यता और सम्यक्त्व आदि ही प्राप्त नही होते, किन्तु सर्वत्र समादर भी प्राप्त होता है।

वैपश्चित्यं हि जीवानामाजीवितमनिन्दितम्।
अपवर्गेऽपि मार्गोऽय-मदः क्षीरमिवौषधम्॥
क्षत्र० २।२७

विद्वत्ता मनुष्य के लिए जीवन पर्यन्त प्रतिष्ठाजनक होती है और जिस प्रकार दूध पौष्टिक होने के साथ-साथ औषधिरूप भी है, उसी प्रकार विद्वत्ता भी लौकिक प्रयोजन साधक होती हुई मोक्ष का कारण बनती है।

नारी शिक्षा

पद्मानन्द काव्य मे वर्णित ऋषभदेव आख्यान मे बताया गया है कि पुत्रों के समान ही ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की अपनी कन्याओं को शिक्षा दी थी। क्षत्रचूडामणि मे आया है कि गुणमाला ने जीवन्धर के पास प्रेम-पत्र भेजा था तथा प्रत्युत्तर मे जीवन्धर ने भी प्रेमपत्र लिखा था, जिसे पढकर वह बहुत प्रसन्न हुई थी३। शान्तिनाथचरित मे वर्णित सत्यकि की पुत्री सत्यभामा भी

१. पद्मानन्द ४।२२
२. अश्वशिक्षागमाभ्यास कुशल तं महीपतिम्—। वर्द्धमान कवि विरचित, वरागचरित, ५।८

३. मुमुदे गुणमालापि, दृष्टवा पत्रेण पत्रिणम्।
स्वस्यैव सफलो यत्न: प्रीतये हि विशेषतः॥
क्षत्र० ४।४३

विदुषी है१। उसने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है। प्रत्येक तीर्थंकर की माता देवियों के प्रश्नों का उत्तर देती है। समस्यापूर्ति करती है और पहेलियां भी बूझती हैं। अत: इस प्रकार का ज्ञान वैदुष्य के बिना सम्भव नही है२। स्पष्ट है कि नारी शिक्षा का प्रचार संस्कृत काव्यों के समय मे था।

दमितार अपनी पुत्री कनकश्री को नृत्य संगीत की शिक्षा के लिए किराती एव बावरी के वेषधारी अनन्तवीर्य को सौंपता हैं। इससे स्पष्ट है कि नारी शिक्षा में नृत्य और संगीत की शिक्षा मुख्य थी३।

१. शान्तिनाथ चरित वाराणमी, वि० नि० सं० २४३७ ११२१-२२

२. वीरनन्दीकृत चन्द्रप्रभ चरित, बम्बई १६।७०
धर्मशर्माभ्युदय, बम्बई सन १६३३ ई०, पञ्चम सर्ग
असग कविकृत वर्द्धमान चरित, सोलापुर १७।३२-६८

३. अथ स्वपुत्री कनकश्रियं द्विधा
रुचाऽपि नाम्नापि समार्पयद् नृप:।
तदैव ताभ्यामबलागुणोज्जवला
प्रमोदमप्राटक मार्ग शिक्षणं.॥
शान्तिनाथ चरित, वाराणसी, वी० नि० स० २४३७ ६।७१

चातुर्मास योग

पं० मिलापचन्द कटारिया

इस विषय मे प० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अध्याय ६ मे इस प्रकार लिखा है—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम् ॥६६॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥६७॥

अर्थ—उसके बाद अषाढ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर मे सिद्ध भक्ति और योग भक्ति करके चारों दिशाओ मे प्रदक्षिणा पूर्वक एक-एक दिशा मे लघुचैत्यभक्ति पढते हुए तथा पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति पढते हुए वर्षायोग ग्रहण करे। और इस विधि मे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के चौथे पहर मे वर्षा योग को समाप्त करे।

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत् ॥६८॥
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपंचमीम्।
यावन्नगच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥६९॥ युग्मम्

अर्थ—चतुर्मास के अलावा हेमंतादि ऋतुओ मे मुनि लोग एक स्थान मे एक मास तक ठहर सकते है। आषाढ मास मे श्रमण सघ वर्षायोग स्थान का चला जाये और मगसिर का महीना बीतने ही वर्षायोग स्थान को छोड़ दे। यदि आषाढ के महीने मे वर्षायोग स्थान मे न पहुँच सके तो कारणवश भी श्रावणकृष्णा चतुर्थी का उल्लंघन न करे। अर्थात् जहाँ चातुर्मास करना हो उस स्थान मे सावण कृष्णा चौथ तक अवश्य २ पहुँच जावे। तथा कार्तिक शुक्ला पचमी के पहिले प्रयोजनवश भी वर्षायोग स्थान को न छोडे। वर्षायोग के ग्रहण विसर्जन का जो समय यहाँ बताया गया है उसका दुर्निवार उपसर्गादि के कारण यदि उल्लंघन करना पड़े तो उसका प्रायश्चित्त लेवे।

योगांतेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तय:।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवंदना ॥७०॥

अर्थ—कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के चौथे पहर मे वर्षायोग का निष्ठापन किया जाता है। जैसा कि

ऊपर लिखा है। यही समय भगवान् महावीर के निर्वाण का मा जाता है। इसलिए वर्षायोग के निष्ठापन के अनन्तर सूर्योदय हो जाने पर वीर निर्वाण क्रिया करे। उसमें सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति गुरुभक्ति और शांतिभक्ति करे। इसके बाद नित्यवंदना करे।

आशाधर के इस कथन से प्रगट होता है कि—वर्षायोग समाप्ति का क्रिया विधान तो कार्तिक कृष्णा १४ की रात्रि के पिछले भाग में ही कर लिया जाता है। परन्तु उसके अनन्तर ही उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र विहार नही किया जाता है। कम से कम कार्तिक शुक्ला ५ तक तो उसी स्थान मे रहना आवश्यक बताया है। इससे पहिले तो मुनिजन कदाचित् भी वहां से विहार नही कर सकते हैं। और अधिक से अधिक मगसिर मास की समाप्ति तक भी उस स्थान को नही छोडने को कहा है।

मूलाचार समयसाराधिकार गाथा १८ की टीका मे दश प्रकार के श्रमण कल्प का वर्णन करते हुए मास नाम के ६वे कल्प का कथन इस प्रकार किया है—

"मास योगग्रहणात् प्राङ्मासमात्रमवस्थान कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योग समाप्य मासमात्रमवस्थान कर्तव्य। लोकस्थिति ज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ्मासमात्रमवस्थान, पश्चाच्च मासमात्रमवस्थान श्रावकलोकादिसंक्लेशपरिहरणाय। अथवा ऋतौ २ मासमासमात्र स्थातव्य मासमात्रं च विहरण कर्तव्यमिति मास. श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहण चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नदीश्वरकरण च मासश्रमणकल्प.।"

अर्थ—जिस स्थान मे वर्षायोग ग्रहण करना है उस स्थान में वर्षाकाल से एक मास पहले ही उपस्थित होकर वर्षायोग ग्रहण करना और वर्षायोग की समाप्ति हो जाने पर भी एक मास भर वही ठहरे रहना इसे मास कल्प कहते है। वहाँ के लोगो की परिस्थिति को जानने के लिए और अहिंसादि व्रतों की पालनाके लिए उस स्थान में वर्षायोग से एक मास पूर्व ही चले जाते है। और श्रावक लोक आदिकों को संक्लेश न होने देने के लिए वर्षायोग की समाप्ति के बाद भी एक मास तक वहां ठहरे रहते है। अथवा प्रत्येक ऋतु मे एक-एक मास तक एक जगह ठहरे रहना और एक-एक मास तक विहार करते रहना इसे भी मास नाम का श्रमणकल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल मे वर्षा योग ग्रहण करना और चार-चार महीने मे नंदीश्वर करना यानी आष्टाह्निक पर्व के ८ दिन तक एक जगह ठहरे रहना यह भी मास श्रमणकल्प कहलाता है।

भगवती आराधना गाथा ४२१ की मूलाराधना टीका में पं० आशाधर जी ने इस प्रकरण को विजोदया टीका से उद्धृत करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

"प्रावृट्काले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थान। स्थावर जगमजीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे महानसयमः·········इति विंशत्यधिक दिवसशत एकत्रावस्थानमित्यय उत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनमधिक वावस्थानं। सयतानामाषाढ शुक्लदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिक पौर्णिमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थान। ······एकत्रेत्युत्कृष्ट. काल.। मार्यां दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशातर याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यति इति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रातायां प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्चत्वारो दिवसा[१] एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशम स्थितिकल्पो व्याख्यात: टीकायां। टिप्पन के तु द्वाभ्या द्वाभ्या मासाभ्या निषद्धका द्रष्टव्येति।"

अर्थ—वर्षा काल मे मुनियों को चार मास तक एक जगह रहना चाहिए। क्योकि उस समय पृथ्वी स्थावरत्रस जीवो से व्याप्त हो जाती है इससे उस समय विहार करने से महान् असंयम होता है। अत: वर्षा काल मे एक सौ बीस दिन तक मुनियों का एक स्थान मे रहना यह उत्सर्ग मार्ग है। कारण अपेक्षा से यह अवस्थान १२० दिन से हीनाधिक भी होता है। आषाढ़ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णमासी के बाद तीस दिन तक यानी मगसिर शुक्ला १५ तक (५ मास ५ दिन) मुनियों का एक स्थान मे रहना उत्कृष्ट काल कहलाता है। महामारी दुर्भिक्ष के होने पर जब लोग गांव देश को छोड़ भागने लगे अथवा

---

१. विजयोदया टीका मे इस स्थान पर ४ दिन की जगह २० दिन लिखे है। इसका कारण वहा पाठ की अशुद्धि मालूम पड़ती है।

मुनि संघ के नाश होने का कोई कारण आ उपस्थित हो तो ऐसी हालत मे मुनिजन जहाँ वर्षायोग ग्रहण किया है उस स्थान को भी छोड़ वर्षाकाल में अन्य स्थान मे जा सकते हैं। यदि न जावें तो उनके रत्नत्रय की विराधना होगी। यह स्थानांतर आषाढ की पूर्णमासी से चार दिन बाद तक—श्रावण कृष्णा ४ तक किया जा सकता है। इस अपेक्षा मे काल की हीनता समझनी। इस प्रकार टीका मे १०वाँ स्थिति कल्प का व्याख्यान किया है। टिप्पण मे तो दो-दो महीने मे निषद्यका का दर्शन करना दशवा स्थितिकल्प बताया है।

यहाँ यह ध्यान मे रखने की बात है कि—दशवे पज्जो नाम के स्थिति कल्प का जो स्वरूप टिप्पण मे बताया है। उसी से मिलता जुलता स्वरूप मूलाचार की टीका मे बताया है। वहाँ "निषद्यका की उपासना करना" ऐसा स्वरूप पज्जो स्थिति कल्प का बताया है। जबकि भगवती आराधना की विजयोदया टीका मे वर्षायोग के धारण करने को पज्जो-स्थितिकल्प बताया है। इस तरह भगवती आराधना की टीका और मूलाचार की टीका मे इस विषय में एक बड़ा कथन भेद पाया जाता है।

नीचे हम इन सब कथनों का फलितार्थ बताते है—

(१) आषाढ शुक्ला १५ से कार्तिक शुक्ला १५ तक वर्षा काल माना जाता है। इन ४ मासो तक मुनियो का एक स्थान में रहना यह एक सामान्य नियम है।

(२) मूलाचार में लिखे मास कल्प के अनुसार वर्षा काल के प्रारम्भ से एक मास पूर्व और वर्षा काल की समाप्ति से १ मास बाद तक भी अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला १५ से मगसिर शुक्ला १५ तक मास ६ तक भी मुनिजन लगातार एक स्थान पर रह सकते हैं। इतना समय शास्त्र रचना के लिए उपयुक्त हो सकता है।

(३) वर्षा योग की स्थापना का समय आषाढ शुक्ला १४ का है। भगवती आराधना की टीका के अनुसार उसके भी पहिले आषाढ़ शु० १० तक मुनियों को वर्षा योग ग्रहण करने के अर्थ अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाना चाहिए। यदि किसी कारण वश उक्त समय तक न पहुँच सके तो भी श्रावण कृष्णा ४ का उल्लंघन तो कदाचित् भी नही किया जा सकता है। उल्लघन करने पर प्रायश्चित्त लेना होगा।

(४) अनगारधर्मामृत मे प० आशाधर जी ने वर्षा योग की समाप्ति की सिर्फ क्रिया विधि (भक्ति पाठों का पढा जाना) कार्तिक कृ० १४ की रात्रि के पिछले भाग में करना बताई है। उसके दूसरे ही दिन विहार करना नहीं बताया है। बल्के उसके बाद भी वर्षा काल की समाप्ति तक यानी कार्तिक शु० १५ तक या मास कल्प के अनुसार मगसिर शु० १५ तक भी वहीं पर ठहरा जा सकता है, कारणवश इससे पहिले भी विहार किया जा सकता है किन्तु कार्तिक शु० ५ से पहिले तो कारणवश भी विहार नही हो सकता है। विहार करने पर प्रायश्चित्त लेना होगा।

(५) महामारी आदि कारणो मे यदि वर्षाकाल में स्थान छोडने की जरूरत आ पड़े तो श्रावण कृ० ४ तक ही वे अन्यत्र जा सकते हैं। बाद मे नही। बाद में जाने पर प्रायश्चित्त लेना होगा।

(६) चातुर्मास के अलावा हेमतादि दो-दो मास की ऋतुओं मे प्रत्येक ऋतु मे १ मास तक मुनियों का एक स्थान पर ठहरे रहना और १ मास तक विचरते रहना ऐसा भी विधान मूलाचार में मास कल्प के स्वरूप कथन मे किया है।

(७) मूलाचार में आष्टाह्निक पर्व के ८ दिन तक मुनियो को एक स्थान मे रहने के विधान का भी आभास मिलता है।

(८) जो मुनि श्रावण कृ० ४ के बाद वर्षायोग ग्रहण करते हैं और कार्तिक शु० ५ से पहिले ही वर्षायोग को समाप्त कर विहार कर जाते हैं। वे मुनि प्रायश्चित्त के योग्य माने गये हैं अर्थात् ऐसे मुनियों को इसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए। ✱

सुजानमल की काव्य साधना

गंगाराम गर्ग

मारवाड, मेवाड और गुजरात मे अधिक पाये जाने के कारण श्वेताम्बर जैनों की साहित्यिक भाषा यद्यपि राजस्थानी और गुजराती ही अधिक रही, तथापि हिन्दी प्रदेशों के सन्निकट होने के कारण ढूंढाड के श्वेताम्बर जैनों ने तो अपने भाव व विचारो की अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी को ही बनाया। हिन्दी के विशाल जैन-साहित्य मे दिगम्बर की तुलना मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जिन इने-गिने कवियो का योगदान कहा जा सकता है, उनमे से एक सुजानमल भी है।

जीवन-वृत्त—सुजानमल जयपुर नगर के प्रसिद्ध जौहरी ताराचद के यहां सवत् १८६६ वि० मे उत्पन्न हुए थे। ये सेठिया गोत्रिय ओसवाल वैश्य थे। सुजानमल के तीन छोटे भाई और थे—लाभचन्द, मोहनलाल और जवाहरमल। सुजानमल के तीन विवाह हुए किन्तु उनको किसी भी पत्नी से पुत्र-लाभ नही हुआ। जवाहरमल इनके दत्तक पुत्र थे। ५० वर्ष की आयु मे सेठ सुजानमल एक असाध्य बीमारीसे पीडित हुए। तब उन्होंने स्वस्थ हो जानेपर प्रवृज्या धारण करने की प्रतिज्ञा की। सौभाग्यवश सुजानमल की बीमारी शीघ्र ही समाप्त हो गई और इन्होंने आश्विन शुक्ला १३ सवत् १६५१ को मुनिविनयचन्द्र महाराज से दीक्षा ग्रहण कर ली। सुजानमल की मृत्यु १७ वर्ष तक कठोर मुनि-धर्म पालन करने के उपरान्त सवत् १६६८ को हुई।

काव्य-साधना—सुजानमल के लगभग ४०० पद सुने जाते हैं किन्तु अभी तो उनके १६५ पद ही प्राप्त है जो "सुजान पद सुमन वाटिका" मे प्रकाशित है। सुजानमल का काव्य तीन भागो मे विभाजित है—स्तुतियां, उपदेश और चरित्र कथाएं। प्रथम दो भागो मे कवि की भक्ति-भावना और नैतिक धारणाएं अभिव्यजित हैं तथा तृतीय भाग मे उल्लिखित सेठ सुदर्शन, शालिभद्र, स्थूलभद्र, विजयकुमार, धन्ना, अर्जुनमाली, गज सुखमाल, जम्बुकुंवर सागरकुंवर आदि की कथाओ के रूप मे धार्मिक आस्था। ये कथाएँ भूले-भटके साधारण जनो को धर्म की ओर उन्मुख करने के लिए बडी उपयोगी है।

सुजानमल जिन भगवान् के परमभक्त है। यद्यपि उन्होंने सभी तीर्थंकरों की स्तुतियां की हैं किन्तु उनका श्रद्धा-भाव पार्श्वनाथ के प्रति अधिक रहा है। इसका कारण है कि सुजानमल ने विष्णु, शिव, महेश, गणेश आदि सभी देवताओ की परीक्षा ले ली किन्तु पार्श्वनाथ जी के समान वीतरागी, निर्विकारी, निरंजन व उद्धारक उन्हे अन्य दृष्टिगोचर नही हुआ।

> **मेरे प्रभु पार्श्वनाथ दूसरो न कोई।**
> **अश्वसेन तात, वामा सुत सोई।**
> **केवल वरनाण जाके प्रगट भान होई।**
> **निरंजन, निर्विकार ध्यान, लग्यो एक ओई।**
> **हरिहर ब्रह्मा गणेश देख्या जग टोई।**
> **राग द्वेष वशीभूत ममता नहीं खोई।**
> **तारन अरु तिरन बिरद नामे टक जोई।**
> **सुजाण सोचो प्रेम जाण प्रीत माल पिरोई ॥२३॥**

सुजानमल जिनेन्द्र की महिमा के वर्णन का प्रयास करते हुए भी उसको समझने मे अपने को अधिक समर्थ नही पाते—

> तू ही परमातमा परम परमेश्वर,
> तू ही केवल नाणवर गुण भण्डारी।
> तू ही जग ज्योत जोत सरु जिन वरु,
> जग गुरु अचिन्त्य महिमा तिहारी ॥३४॥

अपने आराध्य के महिमा गान की अपेक्षा सुजानमल की मन-प्रवृत्ति अपने दोषो के निरूपण मे अधिक लगी है। वह कहते हैं कि मैंने अनेक पाप व अनाचार किये, दुःख-दायी व अनर्थकारी वाणी बोली तथा कपट, छल, क्रोध, मान, माया, लोभ, रोग आदि दोषों मे निरन्तर लवलीन रहा किन्तु कभी थोड़ा भी पश्चाताप नही हुआ।

मैं पातक कीना भारी जी,
सेव्या अनाचार अविचारी जी।
अनरथ भाख्या महा दुःखकारी,
सो थे देख रह्या अवतारी जी।
मैं कूड़ कपट छल छायो जी,
हूंस ले ले दोष लगायो जी।
फिर पिछतावो नहीं आयो जी,
ऐसो अकृत कर्म कमायो जी।
पंच आश्रम मे रंग रातो जी,
क्रोध, मान, माया, लोभ मातो जी।
गंगादिक सू झोलो खातो जी,
तोड़ो अष्टादिक सूं नातो जी ॥२४॥

वैष्णव भक्तो की तरह जैन भक्तो ने भी अपने अवगुण-निवेदन के अतिरिक्त भगवान् के द्वारा तारे गये पतितो के नाम गिनाते हुए अपने उद्धार की प्रार्थना भी उनमे अवश्य की है किन्तु उस प्रार्थना मे बड़ा अन्तर भी है। जहाँ वैष्णव-भक्त राम अथवा कृष्ण से उनके बिरद-पालन पर व्यंग्य करते हुए उन्हें चुनौती देने मे नहीं चूकते—अब देखिहौ मुरारि—वहाँ जैन भक्त इस प्रकार का व्यवहार गर्हित समझकर आराध्य की श्रेष्ठता व अपनी विनय को कम नही करते। अपने मे ढेर सारे अवगुणों का समायोजन मानते हुए भी भगवान् द्वारा उद्धारे गए भक्तों से वैष्णव कवियों का अपने को श्रेष्ठ मानना अथवा आराध्य को चुनौती देना उनकी विनय और निरभिमान के प्रति थोड़ा शंकालु बना देता है। जमाली, गोशाला, श्रेणिक, गौतम आदि भक्तो का उद्धार देखते हुए अपने उद्धार में विलम्ब अन्य जैन भक्तों की अपेक्षा सुजानमल को थोड़ा अखरा है, फिर भी उनसे अपने को श्रेष्ठ नही ठहराया और न 'जिन' देव को कोई चुनौती दी।

तारक तार तार कर मेरी तुम देखत भव जल में डुबायो।
करुणानिधि बहुधा नर तारे मुझ बिरियां हठ कहा पकड़ायो।
जमाली, गोसाल, श्रेणिक गौतम ने गणी पद बगसायो।
केता ही जन तारक तार्‌या मो में कहा कहा भेद रखायो।

यहाँ "मुझ बिरियां हठ कहाँ पकड़ायो" में सुजानमल की उग्रता विचारणीय है, किन्तु वह वैष्णव भक्तों की अपेक्षा पर्याप्त मर्यादित है।

भक्त सुजानमल ने अपनी एकनिष्ठता की तुलना चातक और मीन से की है। जिस प्रकार चातक का चित्त प्रतिपल स्वाति-बूँद के लिए ही चाहता रहता है उसी प्रकार सुजानमल का मन जिनेन्द्र के गुण-गान को, जैसे मछली का जीवन-आधार जल है उसी प्रकार सुजानमल का जिनेन्द्र। ऐसी एकनिष्ठता बिरले भक्तों में ही मिलती है—

जिनन्द तोय बिसरूं न एक ही सांस,
बिसरूं न एक ही सांस।
रूम रूम में तुम गुण रमिया ज्यूं फूलन में बास।
स्वाति बूंद चातक चित चाहे जल बिन मीन निरास।
तिम तुम दरशन की उत्कंठा लग रही अधिक पियास।३६।

हिन्दी भक्ति-साहित्य मे अपने आराध्य के प्रति भक्ति-प्रदर्शित करने के लिए वात्सल्य, सख्य, मधुर और दास्य भाव अधिक ग्राह्य हुए है। वल्लभ सम्प्रदाय मे वात्सल्य और सख्य, निम्बार्क, ललित आदि सखी सम्प्रदायो मे मधुर और सतों, रामानन्दी वैष्णवो तथा जैनों मे दास्यव व मधुर भाव की प्रधानता है। किन्तु इन सभी भावों के अतिरिक्त एकभाव है—पुत्र-भाव; जो परम आत्म-समर्थकों मे ही कहीं मिलेगा। विश्व मे कोई भी सम्बन्धी-मित्र, पति, पत्नी अथवा स्वामी आदि किसी भी अपराध पर अप्रसन्न हो सकता है व आपत्ति में हमको बुरा जानकर छोड़ सकता है किन्तु माता-पिता ऐसा नहीं कर सकते। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि माता कुमाता न भवति' इसी विश्वास से अपने को परम अपराधी तथा विपदाग्रस्त समझने वाले भक्तों ने पुत्र-भाव की उपासना का सहारा लिया है। कबीर कहते है—

हरि जननी मै बालक तोरा।
काहे न औगुण बकसहु मोरा ॥
सुत अपराध करे दिन केते।
जननी के चित रहे न तेते ॥

क० ग्र० पृ० १८३

तुलसी ने भी अपने उद्धार में ढिलाई देखकर अपने स्वामी राम को कई स्थानों पर अपना पिता कहकर पुकारा

है—'बाप ! आपने करत मेरी घनी घटि गई।' २५२॥ 'भोरे से बाल' सुजानमल को भी पोषण पाने तथा माया-पाश से मुक्त होने के लिए जिन भगवान् माता-पिता के रूप में याद आते हैं—

इण कलिकाल कराल जाल में मैं भोरो सो बाल।
तुम बिन कौन करे प्रभु मेरी मायत ज्यूं प्रतिपाल।
मोह माया तणी फांस पर घणी बहुं गई दुख बेकारी।
फांस हर बाप जी काट संताप जी कुण सुने अरज तुम बिन हमारी।३४

सुजान पद सुमन वाटिका के प्रथम भाग में राजमति विरह के भी कुछ सरस छंद मिलते हैं। पति नेमिनाथ के गिरिनार पर्वत पर तप के लिए चले जाने के कारण राजमती की बड़ी हृदय-द्रावक अवस्था हो गई है, जो उन्हीं के शब्दों में दृष्टव्य है—

रूप रंग चातुरता चित की दूल्हा ने मेरा छीन लिया।
रूप रंग चातुरता चित की दूल्हा ने मेरा छीन लिया।
चन्द्र चन्द्रिका चनणविले पण लागत ज्यूं ततिया बतिया॥
खान पान सुख शयन न निद्रा तलफत ज्यूं जल बिन मछलिया।
पीछा फिर आवो जब जाणूं दुःखहरण बिरुद साचा रखिया॥२२॥

लोक-कल्याण तथा आदर्श समाज की स्थापना भारतीय साहित्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है। यही कारण है कि कालिदास, भवभूति तुलसी आदि जो भी महा-कवि इस भारत-भू पर अवतीर्ण हुए उन्होंने अपने कल्याणकारी विचारों से भारतीय समाज का नेतृत्व किया। जैन कवियों ने भी जहाँ अपने भावुक हृदय से अनेक भाव-भीनी पंक्तियाँ उद्घाटित की हैं वहाँ विचारशील हृदय से नैतिक धारणाएँ अभिव्यक्त कर भारतीय काव्य की लोक-कल्याण पूर्ण गौरवमयी परम्परा को जीवित रखने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। सुजानमल की प्रतिभा का भी एक भाग अहंकार धैर्य, सप्तव्यसन, समता, दया, सुमति आदि नैतिक विषयों पर अपने विचार अभिव्यक्ति करने मे व्यय हुआ है। उनमे उपदेश और उद्बोधन करने की प्रवृत्ति अधिक है—

सुध श्रद्धा दया धरम की धारो,
बोल तोल सत्य वाखो रे।
अदत्त ग्रहण मत कर मति मता,
शील सुधा रस चाखो रे।
परिग्रह ममता मेटो कषायां,
ज्यूं सुधरे सहुं पवाखो रे।
राग द्वेष की परिणति छोड़ो,
कलह आल किम आखो रे।१२॥

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर, सूर और तुलसी के समान बनारसीदास, सुजानमल आदि अनेक जैन कवि अपने विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। इनके काव्य के अध्ययन के बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास सर्वदा अधूरा ही रहेगा। ★

धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध

पं० गोपीलाल 'अमर'

इधर कुछ दिनों से धर्म (रिलीजन) और विज्ञान (साइंस) में सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। मौखिक चर्चा से लेकर लेखों और ग्रन्थों तक का विषय बन चुका है धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध। तो, आइए, हम एक नये दृष्टिकोण से इस विषय पर संक्षिप्त विचार करें।

धर्म क्या है ? जो धारण किया जावे१। किसके द्वारा ? वस्तु के द्वारा। क्या ? उसका अपना स्वभाव। क्या मतलब ? वस्तु का स्वभाव ही धर्म है२।

---

१. ध्रियते इति धर्मः।
२. 'वत्थुसहावो धम्मो।'

विज्ञान क्या है ? विशेष ज्ञान। किसका ? वस्तु के स्वभाव का। क्या मतलब ? वस्तु के स्वभाव का विशेष ज्ञान ही विज्ञान है।

धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध ? धर्म ज्ञेय है, विज्ञान ज्ञान; धर्म साध्य है, विज्ञान साधन; धर्म सूत्र है, विज्ञान व्याख्या। क्यों ? इसलिए कि एक वस्तु का स्वभाव है, दूसरा उसी का विशेष ज्ञान। क्या मतलब ? धर्म या वस्तु के स्वभाव को विज्ञान या विशेष ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है, सिद्ध किया जाता है और व्याख्यात किया जाता है।

धर्म के सिद्धान्त-पक्ष और विज्ञान का सम्बन्ध ? अनिवार्य है, यदि यह सम्बन्ध नही बनता तो निश्चय मानिये कि या तो धर्म सदोष है या विज्ञान। धर्म की सदोषता का उदाहरण ? शब्द को (नैयायिको द्वारा) आकाश का गुण माना जाना३ सदोष है क्योंकि विज्ञान (फोनेटिक्स) से वह पुद्गल (मैटर) का पर्याय (रूपान्तर) सिद्ध होता है, आकाश का गुण नहीं४। विज्ञान की सदोषता का उदाहरण ? वैज्ञानिको (भूगोलशास्त्रियो) द्वारा पृथ्वी का गोलाकार माना जाना सदोष है५ क्योंकि यदि ऐसा हो तो (जैन धर्म के अनुसार) पृथ्वी के दक्षिणी गोलार्ध पर कोई भी चीज स्थित न रह सके, नीचे की ओर टपक पडे६। चन्द्रलोक की यात्रा ? यह प्राय: किसी भी धर्म के अनुसार संभव नही है जबकि विज्ञान के अनुसार सभव है७। इस विषय मे और ऐसे ही अन्य विषयों में जारी वैज्ञानिक अनुसन्धान जब तक पूर्ण नही हो लेते तब तक न धर्म की निर्दोषता को चुनौती दी जा सकती है और न विज्ञान की निर्दोषता को।

धर्म के आचार-पक्ष और विज्ञान में सम्बन्ध ? यह भी अनिवार्य है वरना या तो धर्म सदोष होगा या विज्ञान। धर्म की सदोषता का उदाहरण ? हरी शाक-सब्जियों के खाने की इजाजत न देना आदि धर्म की सदोषता है क्योंकि विज्ञान (हाइजिन) से सिद्ध होता है कि उनमे रहने वाले तत्व (विटामिन) स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हैं। विज्ञान की सदोषता का उदाहरण ? मांसाहार का समर्थन विज्ञान की सदोषता है क्योंकि इससे होने वाले लाभो की अपेक्षा हानियाँ अधिक हैं८। मन्त्र-तन्त्र आदि ? शब्द-शक्ति द्वारा किसी को प्रभावित करना मन्त्र है और विचार-शक्ति द्वारा किसी को प्रभावित करना तन्त्र है, इस दृष्टि से मन्त्र-तन्त्र का समर्थन धर्म द्वारा भी होता है और विज्ञान (साइकोलॉजी) द्वारा भी; किन्तु आज वे इतने विकृत हो गये हैं९ कि उनसे धर्म की दुर्गति हो रही है और हम विज्ञान के अपूर्व लाभ से वंचित हो रहे हैं।

नतीजा क्या ? धर्म और विज्ञान में सम्बन्ध होना अत्यन्त अनिवार्य है वरना वह दिन दूर नही जब विज्ञानके विरुद्ध धर्म को ढकोसला और पाखण्ड कहा जावेगा और धर्म विरुद्ध विज्ञान को अमानवीय कुचेष्टा१०। अत: अपने-अपने क्षेत्र के सक्षम और प्रतिष्ठित सज्जनों को चाहिए कि वे वक्त रहते इन दोनों मे समतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करें ऐसा करने के लिए जहाँ विज्ञान की धारा को मानवता की ओर मोडना होगा वहाँ धर्म (चाहे जैन हो या कोई और) का ओवर हालिंग भी जरूर-जरूर करना होगा।

---

३. 'शब्दगुणकमाकाशम्।' तर्कसग्रह, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

४. सप्रमाण एव विस्तृत विवरण के लिए दे० मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ० ३७२।

५ दे० मोक्षशास्त्रकौमुदी (लेखक और प्रका० ब्र० मुक्त्यानन्द जैन सिंह', ६८, अबूपुरा, मुजफ्फरनगर), पृ० १२२ और आगे।

६. दे० तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय ३, सूत्र १, कारिका ७-६।

७. दे० 'जैन सन्देश' (दि० १५ जून, ६१) का सम्पादकीय जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने इस समस्या पर विचारणीय प्रकाश डाला है।

८. दे० अखिलविश्व जैन मिशन द्वारा मासाहार के विरोध मे प्रकाशित ट्रैक्ट।

९. दे० 'सरिता' (१ दिम०, ६४) में श्री अनन्तराम दुबे 'प्रभात' का लेख 'जंत्र-तंत्र मन्त्र'।

१०. दे० 'सरिता' (१५ दिसं०, ६५, १५ मार्च, १ अप्रैल और १५ अप्रैल, ६६) में श्री सखा बोरड़ की 'कितना महगा धर्म ?' लेखमाला।

आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा

पं० कुन्दनलाल जैन एम. ए.

श्रीकुंदकुंदान्वयभूषणाप्तः भट्टारकाणां शिरसः किरीटः
षट्तर्क सिद्धान्तरहस्यवेत्ता पद्मनन्दिभवद्धरित्र्याम् ।३२
तत्पट्टभागी जिनधर्म रागी गुरुपवासी कुसुमेषुनाशी ।
तपोनुरक्तः समभूद्विरक्तः पुण्यस्यमूर्तिः सकलादिकीर्तिः
।।३३।। (पट्टावली)

उपर्युक्त पद्यों से प्रतीत होता है। कि आ० कुंदकुंद की परम्परा में भट्टारक शिरोमणि षट् तर्क सिद्धान्तो के रहस्य वेत्ता श्री पद्मनन्दी मुनि हुए, उनके शिष्य जिन धर्मानुरागी, गुरुसेवी कामारि, तपस्वी, विरागी एवं पुण्यमूर्ति सकलकीर्ति हुए थे। यथार्थ में आ० सकलकीर्ति अपने समय के धुरन्धर विद्वान्, प्रकाण्ड पडित, सर्व श्रेष्ठ प्रतिष्ठाचार्य, एव चारित्र निष्ठ ऋषि और भट्टारक थे। और मंत्रशास्त्रके वेत्ता थे, ये उन पद्मनन्दी मुनि (स०१३७५–१४७०) के शिष्य थे जो भ० प्रभचन्द्र के शिष्य थे जिन्होने 'श्रावकाचार सारोद्धार' नामक ग्रंथ के साथ-साथ अन्य स्तोत्रोंकी भी रचना की थी। मुनि पद्मनन्दी के पट्टधर शिष्य तो शुभचन्द्र थे पर दूसरे शिष्य आ० सकलकीर्ति थे जिन्होने ईडर की भट्टारकीय शाखा को प्रचलित किया था। इसी से स्पष्ट विदित होता है कि वे कितने बड़े प्रतिभाशाली एव प्रकाण्ड विद्वत्ता से परिपूर्ण थे, जो एक नई भट्टारकीय गद्दी को प्रचलित कर सके। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार भी थे, उन्होंने अपनी साहित्य निधियों से भगवती भारती के भंडार को जिस तरह सम्पन्न और समृद्ध बनाया है उससे भारतीय वाङ्मय में उनका नाम स्वर्णाक्षरो मे सदा के लिए अकित रहेगा। यद्यपि आ० सकलकीर्ति सस्कृत ग्रथों की रचना के लिए प्रसिद्ध हैं उनके लगभग २५ सस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं जो निम्न प्रकार हैं।

१. अष्टांग सम्यग्दर्शन २. कर्म,विपाक टीका ३. तत्वार्थसार दीपक ४. द्वादशानुप्रेक्षा ५. परमात्मराज स्तोत्र ६. पुराणसार सग्रह ७. धर्म प्रश्नोत्तरश्रावकाचार ८. मूलाचार प्रदीप ९. व्रत कथाकोष १०. ऋषभनाथ चरित्र ११. धन्यकुमार चरित्र १२. पार्श्वनाथ चरित्र १३. मल्लिनाथ चरित्र १४. यशोधर चरित्र १५. वर्द्धमान चरित्र १६. शान्तिनाथ चरित्र १७. श्रीपाल चरित्र १८. सुदर्शन चरित्र १९. सुकुमाल चरित्र २०. जम्बूस्वामी चरित्र २१. सद्भाषिता वली २२. नन्दीश्वर पूजा २३ मारचतुर्विंशति का २४. सिद्धान्तसारदीपक इत्यादि।

इनके अतिरिक्त सकलकीर्तिने हिन्दी साहित्यकी भी श्री वृद्धि की थी जो प्रायः बहुत ही कम लोगों को विदित हैं, उनकी छोटी मोटी लगभग २० हिन्दी रचनाएँ प्राप्त हुई है। जो प्राय एक गुटके मे संकलित है, यह गुटका स० १४९५ या इससे पूर्व का लिखा हुआ है इसमे आ० सकलकीर्ति ब्र० जिनदास और भानुकीर्ति की रचनाएं सकलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब यह गुटका लिखा गया था उस समय आ० सकलकीर्ति जीवित थे और उन्होने इसे देखा होगा। क्योंकि स० १४९९ मे उन्होंने सागवाड़े के आदिनाथ चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया था। जैसा कि आगे दिए हुए ऐतिहासिक पत्र से विदित होता है। उपर्युक्त गुटके की प्रशस्ति निम्न प्रकार है।

"सवत् १४९५ वर्षे लोहासाजण लिखतं हुवड ज्ञाति श्रे० सिघा मूड़हास सं०···गसीयसभार्या सव उद्यो सुन सद प्रभा० सजल दो सुत ही का टीका ६ प्रणमिता।"

बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की श्री वृद्धि में जैनाचार्यों मुनियों एव विद्वानो ने जो बहुमूल्य योगदान किया है उसका कही भी उल्लेख नही हैं और ना ही अन्वेषकों द्वारा जैन साहित्यकारों को उचित श्रेय मिल सका है. संस्कृत साहित्य के इतिहास मे अवश्य ही जैन साहित्यकारों का कुछ उल्लेख मिलता है। डा० विन्टरनिट्ज ने तो बड़े घोर परिश्रम के पश्चात् भारतीय साहित्य के इतिहास में जैन साहित्य का समावेश

किया है। जैन साहित्य की सम्पन्नता एवं समृद्धि का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास भाग २ पृ० ४८३ पर लिखा है कि—

"There is scarcely any province of Indian litrature in which the Jains have not been able to hold their own . Above all they have developed a Voluminous narative literature. They have written epics and novels, they have composed dramas and bymins, some times they have written in simple language of the people at other times they have competed in highly eleborate poems with the best marters of or nate court poetry and they have also produced important work of scholorship (A history of Indian Literature II p. 483)

यह ठीक है कि जैन साहित्यकार लौकिक साहित्य का निर्माण न कर सके पर उन्होंने जो कुछ लिखा वह सब पारलौकिक और वैराग्य प्रधान रहा तथा उसमें शान्त रस की बहुलता ही रही, उसका भाषा विज्ञान की दृष्टि से यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास मे जैन हिन्दी साहित्य का अपना एक बडा ही महत्वपूर्ण स्थान निश्चित रूप से होगा। भाषा विकास की दृष्टि से इन जैन साहित्यकारों का अपना एक अद्भुत मूल्य हो। इसी लक्ष्य से हम यहाँ आ० सकलकीर्ति रचित "सीखामरणरास" को अविकल रूप में दे रहे है। जो अब तक सर्वथा अप्रकाशित है। यहा उनकी अतिरिक्त अन्य हिन्दी रचनाओ का केवल नामोल्लेख मात्र ही कर रहा हूँ। उनकी हिन्दी रचनाएँ निम्न प्रकार है। १. आराधना प्रतिबोधसार, २. कर्मचूर व्रत बेलि, ३. फुटकर पद संग्रह, ४, पार्श्वनाथाष्टक, ५ मुक्तावली गीत, ६. सोलह कारणरासा. ७. शान्तिनाथ फागु. ८ द्वादशानुप्रेक्षा चउपई ९. अकृत्रिम चैत्यालय प्रवाडि, १० धर्मबाणी, ११ पूजागीत. १२. दानगीतडी, १३ णमोकार गीतडी, १४ इन्द्री सवर गीत १५. दर्शनवीनती १६. जन्माभिषेक धूल. १७. मूलसघ धूल, १८. भव-भ्रमण गीत, १९. चउवीस तीर्थंकर फागु. २०. चारित्र गीत और २१. सीखामणरास।

जीवन परिचय—आ० सकलकीर्ति ने अपने जीवन परिचय के बारे में कही कुछ भी उल्लेख नहीं किया है पर बाह्य साक्ष्यों के आधार पर निश्चित होता है कि वे स० १४३७ या १४४३ के लगभग गुजरात प्रान्त में 'अणहिल पाटन' ग्राम के आसपास कहीं अवतरित हुए होगे। निम्नांकित एक ऐतिहासिक पत्र मे उनके सम्बन्ध मे बहुत कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। जो जैन सिद्धांत भास्करवर्ष १३ पृ० ११३ पर प्रकाशित हुआ था—"आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २५ छविसनी सस्थाहू तथा तीवारे संयमलेई, वर्ष ८ गुरा पासे रहीने व्याकरण २ तथा ४ भण्या···श्री वागवर गुजरात माहे गाम खोडेण पधारया वर्ष ३४ नी संस्था थई तीवारे सं० १४७१ ने वर्ष स्वहा···श्री चौवा ने गृहे आहार लीधो···वर्ष २२ पर्यन्त स्वामी नग्नहुता जुमले वर्ष ५६···स० १४९९ श्री सागवाड़ जुने देहरे आदिनाथनो प्रसाद करावीने पीछे श्री नोगा मे सघे पद स्थापन करीने सागवाड़ जईने पोताना पुत्रक ने प्रतिष्ठा करावी पोते सूर मत्र दीधो ने धर्मकीर्तिए वर्ष २४ पाटभोगव्यो" आचार्य सकलकीर्ति जब २५ या २६ वर्ष के थे तब उन्होंने दीक्षा धारण की थी, उन्होंने गुरु जी के पास ८ वर्ष रहकर २ या ४ व्याकरण पढ़े। इस तरह जब वे ३४ वर्ष के हुए तो स० १४७१ मे गुजरात के खोड़ेण ग्राम मे पधारे और वहां श्री चौवा साहु के घर आहार लिया वे २२ वर्ष तक नग्न दिगंबर मुनि रहे इस तरह उनके कुल ५६ वर्ष हुए (सं० १४९९ मे उन्होंने सागवाडे के पुराने आदिनाथ चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया पुनः नोगामें संघ मे पदार्पण किया। वहाँ से फिर सागवाडे चले गये जहां प्रतिष्ठा कराई और धर्मकीर्ति को दीक्षित किया जो २४ वर्ष तक अपने पट्ट पर रहे। इस तरह आ० सकलकीर्ति का समय सं० १४३७ या १४४३ से १४९९ तक तो सप्रमाण सिद्ध होता हैं।

स० १४८१ के श्रावण मास में उन्होंने बड़ाली मे चतुर्मास किया था तथा अमीझराके पार्श्वनाथ चैत्यालय मे अपने अनुज ब्र० जिनदास के आग्रह पर 'मूलाचार प्रदीप' नामक संस्कृत ग्रंथ समाप्त किया था। जैसा कि आ० सकलकीर्ति की एक कविता के निम्न अंश से विदित

होता है१ :—

तिहि अवसरे गुरु आविया बड़ाली नगर मझाररे।
चतुर्मासि तिहां करो शोभनो श्रावक कीधा हर्ष अपार रे।
अमीझरे पधराविया बधाई गावे नर नार रे,
सकल संघमिल वंदिया पाम्या जय जयकार रे।
संवत चौदह से इक्यासीभला श्रावण मास लसंतरे,
पूर्णिमा दिवसे पूरण किया मूलाचार महंत रे।।
भ्राताना अनुग्रह थकी कीधा ग्रंथ महान् रे।

सं० १४८२ से १४६६ तक की उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। वे सर्वकीर्ति या समस्तकीर्ति नाम से भी प्रसिद्ध थे जैसा कि निम्न उद्धरणों से प्रतीत होता है—

उपासकाख्यो विबुधं, प्रपूज्योग्रंथो महा धर्मकरो गुणाढ्यः।
समस्तकीर्त्यादिमुनीश्वरोक्तः सुपुण्यहेतुर्जयताद्धरित्र्याम्।।
(प्रश्नोत्तर श्रावकाचार २४ अध्याय)

सच्चारित्रमिदमाप्त यतीन्द्राः ज्ञानिनो निहतबोध समग्राः।
शोधयन्तु तनुशास्त्रभरेण सर्वकीर्तिगणिन्नाकृत्रमत्र।८८।
सुकुमार चरित्रस्यास्य श्लोकाः पिंडिताः बुधैः।
विज्ञेयाः लेखकैः सर्वे द्वोकादशशत प्रमाः।८६।
(सुकुमार चरित्र अध्याय ६)

वे हूँबड जैन जाति के थे। उनका कार्य क्षेत्र गुजरात प्रान्त ही था जहाँ उनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेकों मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। "सीखामणरास की तीसरी ढाल के १०वें छद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें जिनबिंब एवं जिनभवन प्रतिष्ठा में विशेष रुचि थी जो धर्म के मूल अग माने जाते हैं।

"दया दान तम्हि बीजो सार जिणवर बिंब करं उद्धार।
जिणवर भवनसार करेज्यो लक्ष्मी नूं फल तह्यो लेज्यो।१०

आ० सकलकीर्ति की हिन्दी कविता गुजराती मिश्रित है, उनके साहित्य मे भक्ति की भावना भरी पडी है जो वैराग्य और शान्त रस से परिपूर्ण हैं। महात्मा कबीर इनके समकालीन थे जो हिन्दी साहित्य के इतिहास मे भक्तिकाल की निर्गुण धारा की ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि थे, वे सं० १४५६ से १५७५ तक हिन्दी साहित्य की सेवा करते रहे उनकी भाषा विभिन्न भाषाओ से मिश्रित सधक्कड़ी भाषा थी। आ० सकलकीर्ति ने अपने समकालीन एक ऐतिहासिक पुरुष शेखत का भी उल्लेख अपनी प्रस्तुत रचना 'सीखामणरास' के प्रथम चौथे छंद में किया है। "जाख शेख जे बीजादेव तिण तणी नवि कीजइ सेव" प्रस्तुत शेख शब्द निश्चय ही तत्कालीन प्रसिद्ध सूफी संत शेख तकी की ओर संकेत करता है। शेख तकी उस समय के प्रसिद्ध सूफी संत थे जो हठयोग-तंत्रशास्त्र और रसायन विद्या में बड़े सिद्धहस्त थे। विवेकी जन उनके अनन्य भक्त थे तथा उनकी देवता जैसी पूजा प्रतिष्ठा किया करते थे इसीलिए आ० सकलकीर्ति ने उन्हें बीजादेव (कुगुरु) कहकर उनकी सेवा करने का निषेध किया है। (कई लोग शेख तकी को कबीर का गुरु मानते हैं पर कबीर ने कहीं-कहीं उन्हें ऐसे ढग से संबोधित किया है जिससे उनका गुरुत्व प्रतीत नहीं होता है। (देखो हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७६ संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण)

आ० सकलकीर्ति गणी और आचार्य जैसे सम्मानित विशेषणो से अलंकृत थे जैसाकि सकलकीर्ति रास की निम्न पक्ति से स्पष्ट है। "चहुँदिसि करि विहार सकलकीर्ति गणहररयण" अथवा ग्रथो के अन्त मे "सुगणि सकलकीर्त्या" इत्यादि। उनकी भाषा भी कबीर की भांति साधारण एवं जनोपयोगी थी उसमे साहित्यकता, रस अलकार अथवा छदों का समुचित समावेश हो सकना किसी तरह भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है, क्योकि वह युग ही हिन्दी के लिए विशेष स्थिरता अथवा विकास का समय नही कहा जा सकता है। आ० सकलकीर्ति का बचपन का नाम पूर्णसिंह था, वे बाल्यकाल से ही बड़े मेधावी एवं प्रतिभाशाली थे। इनकी माता का नाम शोभा और पिता का नाम करमसिंह था। इनके पिता ने इनका विवाह १४ वर्ष की अवस्था में ही कर दिया था पर इनका मन सांसारिक विषय भोगों में न लगा, वे सदा घर से उदासीन ही रहा करते थे उनकी रुचि सदा धर्म समाज और साहित्य सेवा की ओर उन्मुख रहने लगी और अन्ततोगत्वा २० वर्ष की आयु मे वे अपने गुरु मुनि पद्मनन्दी से स० १४७३ में 'नेणवा' ग्राम मे दीक्षित हो गये थे। बड़ा खेद है कि ऐसे महान् साहित्यकार एवं धर्म गुरु का निधन ५६ वर्ष की अल्पायु मे ही स० १४६६

---

१. देखो जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० प्रथम भाग प्रस्तावना।

में महसाणा में हो गया था जिसकी स्मृति स्वरूप एक प्रस्तर पीठिका महसाणा में आज भी विद्यमान है।

सीखामण-रास

(भ० सकलकीर्तिकृत)

पणमवि जिण वरवीर सीखामण कहिस्यू ।
समरवि गौतम धीर जिणवाणीम भणिस्यू ॥१॥
लाख चउरासीय जीव फिरतो मानवभव लाधउ कुलवंतु ।
इन्द्रीय आयु निरामयदेह बुद्धि विना विफला सब एह ॥२॥
एकमनां गुरु वाणी सुणीजइ बुद्धि विवेक सही पामीजइ ।
पढऊ कुशास्त्र मका।निय सुणु णमोकार दिन रमणीय गिणु ।
एकमना जिणवर आराधु स्वर्ग भुगतिजिय हेला साधु ॥ ।
जासुं शेख जेबीजादेव तिण तणी नवि कीजइ सेव ।
गुरु निग्रंथ एक प्रणमीजइ कुगुरुतणी न वि सेवा कीजइ ।४।
धरमवतनी सगतिकरु पापी सगति तह्यि परिहरु ।
जीवदया एकधर्म जरीजइ तु निश्चय संसार तरीजइ ॥५॥
श्रावक धर्म करु जगि सार नहिल्यु तह्यि सयम भार ।
धरम प्रपचि रहित तह्यि करू कुधर्म सविदूरिइं परिहरु।६।
जीवेत माय बार स्यू नेह धरम करावु रहित सदेह ।
यू आहा पूठिइं जे काई कीजइ ते सहूइ फोक हारीजइ ।७।
दृढ़ समकित पालु जगिसार मूढ़पणू मूकु सवि वार ।
रोग क्लेश ऊपन्नां जाण धरम करू सकनि परिणामाणी ।८।
मडल पूछ करुहइ नवि कीजइ
करम तणु फलनवि छूटीजइ ।
आविइ मरणि तह्योदृढ़ होज्यो दीक्षा अणसण विधिलेज्यो ।९
धरम करीनइ फल मन मागु मारगि भुगति तणइ तह्यलागु ॥
कुल आव्यू मिथ्यात न कोजइ शका सविटाली घालीजइ।१०
ये समकित पालइ नर नारिते निश्चित रसिइं संसारि ।
जे मिथ्यात घणेरु करिस्यूं सिइते ते ससारिघणूं बूडेमि ।११।
॥ वस्तु ॥
जीव राखहु जीव राखहु काय छह भेदि अशीय लक्षच्युह
आग लीय ।
एक चित्त परिणाम आणी अचालत वइसतसू वताहा ॥
जीव जातिसंठाण जाणीय ये नरमन कोमल करीय ।
पालइ दया अपार सार सौख्य सवि भोगवियते,
ते तरसिह ससार ।

ढाल बीजी

जीव दया दृढ़ पालीयिए मन कोमल कीजइ ।
आप सरीखा जीव सवे मत मांहि धरीजइ ॥
नाहण धोवण काज सवे पाणी गली
कर अनगलि नीरि न झीलीयिए । दांतणमनमोडउ ।१।
गाइइं घाइं न मारीयिए सविचुपद जाणु
कण सलकण मन विणज करु मन जिम वा आणु ।
पशु गाढा नवि वाधीयिए नवि छेद करीजइ ।
मान उपहिसू लोभ करी नवि भार करीजइ ॥२॥
लहिणइ देवइ काजिकरी लांघण मकराव्, ब्याऽरिहाथ जोवइ
भूमि पग आउ आवु ।
फासू आहार जाग लहु मन आंफणीं रांधु ।
अणी ठूं मन तह्यि करु मन आयुध साधु ।३।
लाकउ नवि कपा वीयिए नीह्या न चडावु ।
सगाह तण वीवाह सही मकरु मकरावु ।
लोह मध विष लाख ढोरव्यवसा छडावु ।
मीणमहूडां कदमूल माखण मत वावु ॥४॥
कटोल सावू पानधाह घाणी नवि कीजइ ।
खटक शाल हथीआर आगि मागी नवि दीजइ ।
खटक शाल नारीय बालक री सकरी कातर मन मारु ।
तिलक वट, जलि, नवि घालीयिए मू आं मन सारु ॥५।
जूठा बचन न बोलीयिए करकम परिहरु ।
मरम म बोलु कहि तणु चाडी मन करु ।
धरम करति नवि वारीयिए नवि पर निंदीजइ ।
पर तणा गुण ढाकी आपतणा गुण नवि बोलीजइ ॥६॥
नीलज धे नवि बोलीयिए हासां मन करु ।
आल न दीजइ कीण परिइं नवि दूषण धरु ।
आर छयूं नवि बोलीयिए नवि नात करीजइ ।
गालि न दीजइ बचन सार मीठू बोलीजइ ॥७॥
परिधन सवि तह्यि परिहरुए चोरी नवि कीजइ ।
चोरी आणी वस्तु सही मूलिइं नवि लीजइ ॥
अधिक लेई नइ कीण परइं उछूं मन आलु ।
सरवर विसाहाणा माहि सही निरवर मन घालु ॥८॥
रा पणिमोसु परिहरुए पडांयूं मन लेज्यो ।
कूडूं अलेप्पूं अमत करुए मन परइहि केज्यो ।
घर नारि विन नारि सवि माता सम जाण ।

परनारी सूं बात गोठि संगति मन करु ।
रूप निरीक्षण नारि तणूं वेश्या परिहरु ॥
नीम विना नवि पुण्य हुइ हुई पाप अपार ॥१०॥ वस्तु
तप तपीयि तप तपीयि भेद छइ बार ।
कर्म रासिइं धन अगनिइ स्वर्ग मुगति पगथीय जाणू ।
तए चिंतामणि कल्पतरु वश्य पंच इन्द्रीय प्राणु ॥
जे मुनिवर शकतिइं करीय तप करेसिइ घोर ।
मुगति नारि वरिसिइं सहीय करम हणीअ कठोर ॥११॥

ढाल बीजी

दशदिशानी सख्या करु दूरि विदेशि गमन परिहरु ।
जीर्णनगर धरम नवि कीजइ, तीणं नगरि वासु न वसीजइ ।
देश विरति नितु उठी लेज्यो गमन तणी मर्याद करेज्यो ।
दूषण सहित भोग तह्नि टालु कंदमूल अथाणा टालु ॥२॥
से लरफूल सवे बीलीफल पत्रशाक बहुगणका लीगउ ।
बोर महूंडा अनजाणूं फल नीम, करेज्यो तह्नि जाबूफल ।३।
धान सालना घोल कहीजइ दिन ब्युह पूठिइंनीय करीजइ ।
स्वाद चलित जे फूल्यां धान नीम नहीं ते माणस स्वान ।४।
दीस सहित तह्नि ब्यालू करू रातिइ सवि आहर परिहरु ।
उपवास अधिलूं फल पामीजइ आलू फल दा ते न धरीजइ ।५।
एक वार बिइ वार जिमीजइ अरता फिरता नवि खाईजइ ।
वस्तु पान रस सख्या कीजइ फूल सचित्त टाली घालीजइ ।६
तिम्रिकाल सामायिक लेज्यो मन रुंधी नइ ध्यान करेज्यो ।
आठमि चोदसि पोसह धरु धंइलुणां पातिग परिहरु ।७।
उत्तम पात्र मुणीश्वर जाणु श्रावक मध्यम पात्र वखाणु ।
आहर उषध पोथीय दीजइ अभयदान जिन पूजा कीजइ ।८।
थोडूं दान सुपात्रह दीजइ परभवि फल अनंत लहीजइ ।
दान कुपात्रहं नवि फलपावइ ऊसरभूमि बीज नविप्रावई ।६।
दया दान तह्नि देज्यो सार जिणवर बिंब करु उधार ।
जिणवर भवन सार करेज्यो लक्ष्मी नूं फल हह्यो लेज्यो ।१०।
दमु इंद्रिय दमु इंद्रिय पाच जे चोर ।
धर्मरत्न चोरी करीय नरगमांहि लेईय मूकइ ।
सर्व दुक्खनी खाण्डीय रोग शोक भंडार ढूकइ ।
जे नप खडग धरी पुरुष इन्द्रीय करइ संघार
देवलोकि सुख भोगवीय ते तरिसिइं ससार ।छ।
यौवन रे कुटुब रिद्धि लक्ष्मीय चचल जाणीयिए ॥
संसार रे कालि अनादि जीव आगइ घणूं फिर्युए ।
एकलु रे आवइ जाइ करम आठे गलइं धरयुए ॥१॥
काय धी रे जू उहु होइ कुटुम्ब परिवारहं विगुलए ।
शरीरे रे नरगभंडार मूंकी जासिइ एकलुए ॥
क्षमाहारे खडगधार वि क्रोधवइ रीसंघारीइए ।
मार्दव रे पालीयिइ सारमान पापी पहु टालीयिए ॥२॥
सरलू अरे चित्र करे वि माया सवि दूरिइं करुए ।
सतोष रे आयुध लेवि लोभ वइरी सही संघरुए ।
वैराग रे चितवु सार राग टालु निर्ग्रंथ कहइंए ।३॥
इति भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते सीखामण रास ।

आत्म-सम्बोधन

कविवर दौलतराम

जानत क्यों नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी ॥ टेक ॥
राग द्वेष पुद्गल की सम्पति निहचै शुद्ध निसानी ।
जाय नरक पशु नर सुरगति में यह पर जाय विरानी ।
सिद्ध स्वरूप सदा अविनाशी, मानत विरले प्रानी ॥२॥
कियो न काहू हरै न कोऊ, गुरु-सिख कौन कहानी ।
जनम-मरन मलरहित विमल हैं, कीच बिना जिमि पानी ॥३॥
सार पदारथ है तिहुं जग में नहिं क्रोधी नहिं मानी ।
दौलत सो घट मांहि विराजै, लखि हूजै शिव थानी ॥४॥

गंधावल और जैन मूर्तियां

एस० पी० गुप्ता और बी० एन० शर्मा

गन्धावल मध्यप्रदेश के देवास जिले मे सोनकच्छ नामक तहसील के मुख्यालय (हेडक्वार्टर) मे लगभग पाच मील उत्तर की ओर एक छोटी नदी के तट पर स्थित है जो काली सिन्ध मे गिरती है। यहाँ पर जैन तथा हिन्दुओं—दोनो ही धर्मों या मतावलम्बियो के देवालयो के अवशेष प्राप्त है। गन्धावल ग्राम के निवासियों के घरों, कुओं, उद्यानों एव खेतो मे बिखरी हुई इन प्रस्तर प्रतिमाओं की सख्या लगभग दो सौ है। गन्धावल एक ऐसे प्राचीन व्यापारिक मार्ग पर अवस्थित है जहाँ से कि एक ओर उज्जैन, नागदा, आदि को सड़के जाती है। दूसरी ओर देवास और इन्दौर को तथा तीसरी ओर भोपाल एव सांची की ओर (विदिशा भेलसा की ओर से) मिलाती है।

यह स्थान शक्तिशाली राजाओं के अन्तर्गत रहा है। जिसका एक मात्र प्रमाण यहाँ के प्राचीन मन्दिर एव मूर्तिया है। मध्यकाल मे गन्धावल वाणिज्य का भी प्रमुख केन्द्र था और यहाँ के अधिकतर मन्दिर व्यापारी वर्ग द्वारा इकट्ठी की हुई धनराशि से बनवाये गये प्रतीत होते है! परन्तु अभाग्यवश ये सुन्दर स्थल आज भग्न है, और यहाँ के भग्नावशेषों की सुरक्षा के लिए भी कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

किवदन्तियो के अनुसार किसी समय महाराज गर्दभिल्ल यहा शासन करते थे। उन्हीं के नाम पर यह स्थान 'गन्धावल' कहा जाने लगा। यहाँ पर बने एक देवालय मे कुछ समय पूर्व एक पाषाण प्रतिमा बनी थी जिसको इस ग्राम के निवासी महाराज गर्दभिल्ल की प्रतिमा बताते है। कुछ समय पूर्व मध्य प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य-मंत्री डा० कैलाशनाथ काटजू इस स्थान को देखने गये थे। उपर्युक्त देवालय के सामने उन्होने एक ऐसा पाषाण पट्ट देखा जिसके दोनों ओर ही मूर्तिया उत्कीर्ण है। इस पर एक ओर गरुड़ासन लक्ष्मीनारायण चित्रित है और दूसरी ओर अन्य लघु मूर्तियों के साथ-साथ मूर्तियों के ऊपरी भाग मे गन्धर्वों का भी चित्रण किया गया हैं। डा० काटजू महोदय ने केवल इसी के एक मात्र आधार पर गन्धावल के स्थान पर इसे गन्धर्वपुरी की संज्ञा प्रदान की और तब से इस क्षेत्र के भी कुछ लोग इसे गन्धर्वपुरी कहने लगे हैं। किन्तु उपर्युक्त दोनों ही प्रमाण इतने अकाट्य नही है कि यह कहा जा सके कि शताब्दियो पूर्व इस स्थान का नाम गन्धावल अथवा गन्धर्वपुरी रहा होगा। और जब तक हमे शिलालेखादि का कोई अन्य प्रमाण इस स्थल से इस सम्बन्ध में प्राप्त नहीं हो जाता, यह सदिग्धता बनी ही रहेगी!

जैसा कि हम ऊपर बता चुके है कि इस स्थान पर दर्जनों की सख्या मे जैन प्रस्तर प्रतिमाएं बिखरी हुई है जो इस समय भी वहाँ देखी जा सकती है, परन्तु यहा हम वहाँ से उपलब्ध कुछ महत्वपूर्ण प्रतिमाओ का संक्षेप मे वर्णन एव उनका चित्रण 'अनेकान्त' के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे है। यहाँ यह बताना भी आवश्यक है कि मध्य युग मे यहाँ जैनियो का दिगम्बर सम्प्रदाय सम्भवत: अधिक प्रभावशाली था; क्योंकि प्राप्त प्रतिमाएँ यद्यपि पर्याप्त रूप से खण्डित हो गई है तो भी खड्गासन नग्न मूर्तिया ही यहाँ अधिक है।

१. तीर्थंकर प्रतिमा

गन्धावल की प्रतिमाओं मे तीर्थंकर की यह विशाल प्रतिमा जो लगभग साढ़े ग्यारह फुट ऊँची है अपना विशेष स्थान रखती है१। प्रस्तुत प्रतिमा मे जो यद्यपि अत्यधिक खण्डित है, जैन प्रतिमा की प्राय: सभी विशेषताओं का

१. यह विशाल प्रतिमा अपने प्रकार की केवल एक अकेली ही नही हैं। इससे भी कहीं विशाल प्रतिमाओं मे श्रवणबेल गोला की बाहुबलि (५७ फीट) तथा अलवर क्षेत्र में कई अत्यन्त विशाल प्रतिमाएँ हैं!

अत्यन्त कलात्मक ढंग से समावेश कर कुशल कलाकार ने अपनी कार्य चतुरता का परिचय भी दिया है।[२] प्रशान्त मूर्ति के वक्षस्थल पर श्रीवत्स प्रतीक है। (चित्र I)

२. तीर्थंकर प्रतिमा

तीर्थंकर की यह द्वितीय प्रतिमा जो ६ फुट के लगभग है, इस समय वहाँ के पंचायती-कार्यालय के समीप स्थित है। उपर्युक्त प्रतिमा की भाँति इसमें भी तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। मूर्ति के शीश के पीछे बनी प्रभावली आदि भी खण्डित हो गई है। इनके दोनों ही ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े तीर्थंकूरों के मध्य ध्यान मुद्रा में बैठे अन्य तीर्थंकूरों के लघु चित्रण उत्कीर्णित है। मुख्य प्रतिमा के पैरों के पास चवरधारी सेवक उपस्थित हैं। (चित्र II)

३. पार्श्वनाथ

जैनियों के तेईसवे तीर्थंकूर पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा शिखर के नीचे सर्प के सात फणों की छाया में कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडी है। सर्प के फण, भगवान् का मुख तथा उनके हाथो की उगलियाँ आदि टूट गये है। शीश के दोनो ओर उड़ते हुए मालाधारी गन्धर्व है जिनके ऊपरी एवं निचले भागो मे ध्यानस्थ तीर्थंकूरो की लघु प्रतिमाएँ हैं। पैरों के समीप चवरधारी सेवको के साथ उनके यक्ष तथा यक्षी धरणेन्द्र एव पद्मावती का भी सुन्दर अकन किया गया है। (चित्र III)

४. चक्रेश्वरी

प्रथम तीर्थंकूर ऋषभनाथ की शासन देवी चक्रेश्वरी की यह अद्वितीय प्रतिमा गन्धावल से प्राप्त जैन प्रतिमाओं में विशेष स्थान रखती है! प्रस्तुत प्रतिमा के बीस हाथों मे से अधिकतर हाथ खण्डित हो गये हैं, किन्तु शेष हाथों में अन्य आयुधों के साथ दो हाथों में चक्र पूर्ण रूप से स्पष्ट है, जिनके पकड़ने का ढंग विशेष ध्यान देने योग्य है[३]। प्रतिमा अनेक भूषणों से सुसज्जित है। शीश के पीछे प्रभा है जिसके दोनो ओर विद्याधर-युगल निर्मित है। प्रतिमा के ऊपरी भाग मे बनी पाच ताको मे तीर्थंकूरों की ध्यानस्थ प्रतिमाएं है! इनके दाहिने पैर के समीप वाहन गरुड़ अपने बाये हाथ मे सर्प पकड़े है तथा बाईं ओर एक सेविका की खण्डित प्रतिमा है! (चित्र VI)

५. अम्बिका

अम्बिका तीर्थंकूर नेमिनाथ की यक्षिणी है! अभाग्यवश इस सुन्दर एवं कलात्मक प्रतिमा का अब केवल ऊपर का भाग ही शेष बचा है। वह कानो मे पत्र कुण्डल तथा गले मे हार पहिने हैं। अम्बिका अपने दाहिने हाथ मे जो पूर्ण रूप से खण्डित हो चुका है। सम्भवत: आम्रलुम्बि पकडे थी और बाया हाथ जिसमे एक बालक था, का कुछ भाग बचा है। आम्र वृक्ष जिसके नीचे अम्बिका का चित्रण है, पर आम के फलो के साथ उनके खाने वाले बानरो को भी स्पष्ट दिखाया गया है। प्रतिमा के एक दम ऊपरी भाग मे शीश रहित ध्यान मुद्रा मे तीर्थंकूर की प्रतिमा है जिनके दोनो ओर मालाधारी विद्याधरो को अकित किया गया है। यह मूर्ति पूर्ण होने पर कितनी सुन्दर रही होगी, इसकी अब केवल कल्पना ही की जा सकती है। (चित्र V.)

सक्षेप मे हमने गन्धावल मे प्राप्त कुछ मुख्य प्रतिमाओं का वर्णन किया है। गन्धावल की पंचायत के लोगो मे बडा उत्साह है कि उनके ग्राम मे सरकार की सहायता से एक स्थानीय सग्रहालय खोला जाये जिसमे कि इस स्थल की प्रतिमाओं का भली भांति संरक्षण एव प्रदर्शन हो सके।

---

२. द्रष्टव्य. आजानुलम्बबाहु. श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च। दिग्वासास्तरुणीरूपवांश्च कार्य्योऽर्हतां देवः॥ बृहत्संहिता, ५८, ४५।

३. द्रष्टव्य—बी० सी० भट्टाचार्य, जैन आईकनोग्रेफी, पृष्ट १२१-१२२, चित्र XII।

गंधावल की जैन मूर्तियां
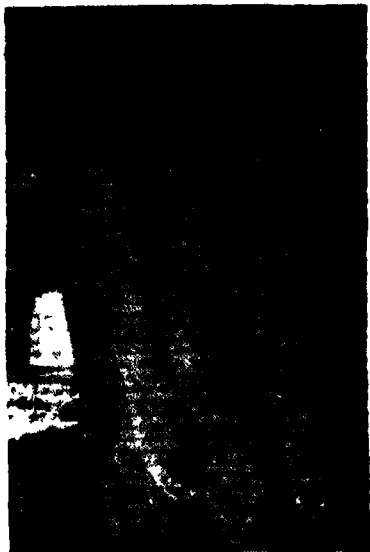
१. तीर्थंकर प्रतिमा पृ० १२६

२. तीर्थंकर प्रतिमा पृ० १३०

३ पार्श्वनाथ तीर्थंकर पृ० १३०

४. चक्रेश्वरी (देवी) पृ० १३०

आश्रमनगर (केशोराय पत्तन) के चैत्यालय में स्थित २०वें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ की सातिशय विशाल प्रतिमा देखो, पृ० ७०
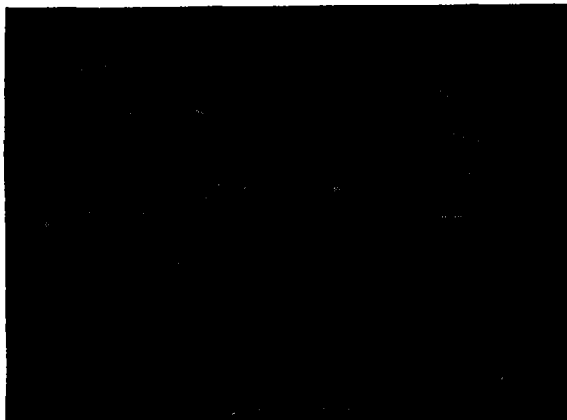
रावर्टसन् कालेज जबलपुर में स्थित सुन्दर मूर्तियां
(गवर्नमेन्ट पुरातत्त्व विभाग दिल्ली के सौजन्य से)

ध्यानस्थ योगी
मोहनजोदड़ो
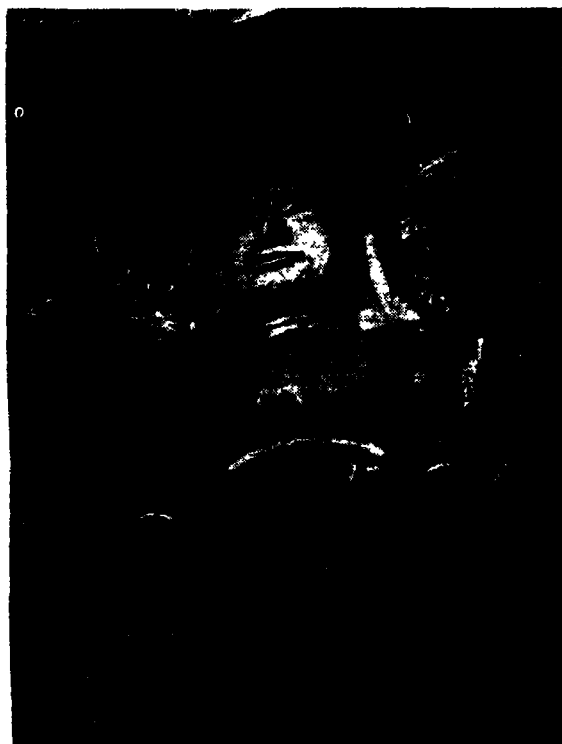
ग्वालियर किले की आदिनाथ की विशाल प्रतिमा
देखो, मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व लेख पृ० ५४

जैन कथा साहित्य की विशेषताएँ

डॉ० नरेन्द्र भानावत

जैन साहित्य विविध और विशाल :

जैन साहित्य विविध और विशाल है। उसमें प्राणिमात्र की कल्याण-भावना निहित है। वह तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब तो है ही, सबसे बढ़कर वह है आत्मा का प्रतिबिंब। आत्मा अपने आप में शुद्ध, बुद्ध प्रबुद्ध है पर कर्मरज के पुद्गल, राग-द्वेष के विकार उससे चिपक कर उसे मलीन बना देते हैं। अतः सम सामयिक परिस्थितियों के चित्रण के साथ-साथ जैन साहित्य का अधिकांश भाग उस साहित्य से संबंधित है जिसमें आत्मा की बंधन और मुक्ति का, मलीनता और पवित्रता का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का, जन्म और मृत्यु का, राग और विराग का, पाप और पुण्य का विविध रूपों, प्रकारों और शैलियों में वर्णन है। इस साहित्य का मूल संदेश है अपने जीवन को पवित्र बनाओ, अपने समान ही दूसरे प्राणियों को समझो, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करो, सुख-दुख में समभाव रखते हुए संयमित बने रहो।

जैन साहित्य का स्थूल वर्गीकरण

जैन साहित्य की आधारभूमि है जैन आगम। जैन आगमों में जो चार अनुयोग बतलाये गये हैं, संपूर्ण साहित्य का समावेश उनमें किया जा सकता है। प्रथमानुयोग में धार्मिक विधान विशेष का किस व्यक्ति ने कैसा पालन किया, अनेक बाधाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे कैसे निबाहा उसका क्या फल मिला आदि आदि विषयों को लेकर वर्णन रहता है। करणानुयोग में खगोल आदि गणित प्रधान विषयों का वर्णन रहता है। चरणानुयोग में सदाचार के मूल नियम और उनके आचरण संबंधी क्रियाएँ पाई जाती हैं। द्रव्यानुयोग में तात्त्विक सिद्धांतों की विवेचना रहती है। कहना न होगा कि रसात्मक साहित्य का मूल संबंध प्रथमानुयोग से ही है। कथा साहित्य भी उसका एक विशेष प्रबल अंग है।

जैन कथा साहित्य के प्रकार :

यों तो सामान्यतः जैन कथाएँ धर्म, नीति और सदाचार से संबंधित हैं। पर शास्त्रीय दृष्टि से इन कथाओं को दो रूपों में विभक्त किया गया है कथा और विकथा। कथा के तीन भेद हैं—अर्थ कथा, धर्म कथा और काम-कथा। अर्थ का स्वरूप एवं उपार्जन के उपायों को बतलाने वाली वाक्य-पद्धति अर्थ कथा है जैसे कामन्दकादिशास्त्र धर्म का स्वरूप एवं उपायों को बतलाने वाली वाक्य पद्धति धर्म कथा है जैसे उत्तराध्ययन सूत्रादि। काम एवं उसके उपायों का वर्णन करने वाली वाक्य पद्धति काम कथा है। जैसे वात्स्यायन कामसूत्र आदि। इनमें धर्म-कथा को ही विशेष महत्व दिया गया है।

संयम में बाधक चारित्र विरुद्ध कथा को विकथा कहा गया है। इसके चार भेद हैं। स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश कथा और राजकथा। स्त्री कथा के चार भेद हैं—जाति कथा (किसी जाति विशेष की स्त्रियों की प्रशंसा या निन्दा करना) कुल कथा (किसी कुल विशेष की स्त्रियों की प्रशंसा या निन्दा करना) रूप कथा (किसी देश विशेष की स्त्रियों के भिन्न-भिन्न अंगों की प्रशंसा या निन्दा करना) वेश कथा (स्त्रियों के वेणी बंध और पहनाव आदि की प्रशंसा या निंदा करना।)

स्त्री कथा का निषेध इसलिए किया गया है कि इसके करने व सुनने से मोह की उत्पत्ति होती है, सूत्र और अर्थज्ञान की हानि होती है तथा ब्रह्मचर्य में दोष लगता है।

भक्त (भात) कथा के भी चार भेद हैं—आवाप कथा (भोजन बनाने की कथा), निर्वाप कथा (भोजन के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करना) आरंभ कथा (भोजन में इतने जीवों आदि की हिंसा होगी आदि का वर्णन करना) निष्ठान कथा (भोजन विशेष के बनाने में इतना,

द्रव्य लगेगा आदि का वर्णन)।

भक्त कथा कहने से आहार के प्रति आसक्ति बढ़ती हैं फलत: साधु स्वादु बन जाता है और उसकी इन्द्रिया शिथिल हो जाती हैं। वह आहार के ग्रहण आदि के नियमो का प्रतिपालन नही कर सकता अत: संयम बिगड़ जाता है।

देश कथा के भी चार भेद है। विधि कथा (देश विशेष के भोजन, मणि भूमि आदि की रचना का वर्णन करना) विकल्पकथा (देश विशेष मे धान्यकी उत्पत्ति, वहाँ के कूप, सरोवर, देवकुल, भवन आदि का वर्णन करना) छंद कथा (देश विशेष की गम्य-अगम्य विषयक चर्चा) नेपथ्य कथा (देश विशेष के स्त्री पुरुषों के स्वाभाविक वेश तथा शृंगार आदि का वर्णन)

देश कथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या रुचि तथा दूसरे देश के प्रति अरुचि होती है। राग द्वेष से कर्म-बध होता है और पक्ष-विपक्ष को लेकर झगडा खडा हो सकता है।

राज कथा के भी चार भेद है—अतियान कथा (राजा के नगर प्रवेश तथा उस समय की विभूति का वर्णन करना) निर्याण कथा (राजा के नगर से निकलने की बात करना तथा उस समय के ऐश्वर्य का वर्णन करना) बलवाहन कथा (राजा के अश्व, हाथी आदि सेना तथा रथ आदि वाहनो के गुण और परिमाण आदि का वर्णन करना) कोप–कोठार–कथा (राजा के खजाने और धान्य आदि के कोठार का वर्णन करना)

राजकथा करने से श्रोता राजपुरुष के मन में साधु के बारे में सदेह उत्पन्न हो सकता है और इसके सुनने मे दीक्षित साधु को भुक्त भोगों का स्मरण हो सकता है। जिससे सयम मे बाधा उपस्थित हो सकती है।

हमने ऊपर जिन विकथा के भेदोपभेदो का वर्णन किया है उनका धार्मिक एव चारित्र-दृष्टि से भले ही निषेध किया गया हो पर सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इन कथाओ का बड़ा महत्व है। धर्म के रग का आवरण उतारकर यदि इन कथाओ का समाज-शास्त्रीय अध्ययन किया जाय तो एक वैभवपूर्ण सांस्कृतिक युग का पता लग सकता है।

विकथा की विपरीत कथा धर्म कथा कहलाती है। यह कथा दया, दान, क्षमा आदि धर्म के अंगो का वर्णन करती हुई धर्म की उपादेयता बतलाती है। इसके भी चार भेद है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी।

श्रोता को मोह से हटाकर तत्त्व की ओर आकर्षित करने वाली कथा को आक्षेपणी कथा कहते है। श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग मे लाने वाली कथा विक्षेपणी कथा है। जिस कथा द्वारा विपाक की विरसता बताकर श्रोता मे वैराग्य उत्पन्न किया जाय, वह सवेगनी कथा है। इहलोक और परलोक मे पाप, पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर ससार से उदासीनता उत्पन्न कराने वाली कथा निर्वेदिनी कथा है। इनमे धर्म कथा का विवेचन और उपदेशन ही प्रधानतया किया जाता है, क्योकि इन कथाओ मे अध्यात्म भावो को बल प्रदान किया गया है और सामाजिक प्रवृत्तियों को रोका गया है। विकथा का महत्व भी कम नही है। सामाजिक आर्थिक एव सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करने पर विकथा वैभवपूर्ण ऐहिक जीवन की वैविध्य पूर्ण झाकी प्रस्तुत करती है।

जैन कथा के इन विभिन्न रूपो को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

जैन-कथा-साहित्य के प्रकार
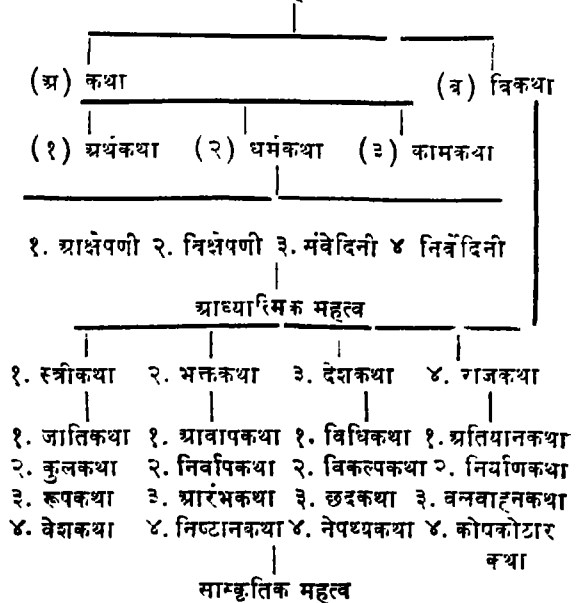
जैन कथा साहित्य का महत्व

दार्शनिक और तात्त्विक सिद्धान्तों की विवेचना के लिए स्फुटगीतों और मुक्तक छंदों की अपेक्षा कथाओं का आधार अधिक मनोवैज्ञानिक है। उसमें चिंतक-काव्य-नियमों की नियन्त्रणा से मुक्त रहता है अतः अपनी विचार-धारा को अधिक स्वतन्त्रता पूर्वक सहज रूप में कह सकता है। यह कथा पद्य और गद्य दोनों रूपों में मिलती है। पद्य रूप में कथा-काव्यों और चरित-काव्यों का विपुल परिमाण में निर्माण हुआ है। इन कथाओं का आधार ऐतिहासिक, पौराणिक एवं काल्पनिक रहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में यह साहित्य यथेष्ट मात्रा में लिखा गया है। गद्य के रूप में यह कथा साहित्य प्राकृत के आगम ग्रन्थों की टीका, निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, अवचूर्णि, बालाव-बोध आदि विविध रूपों में प्राप्त होता है। राजस्थानी गद्य साहित्य को समृद्ध बनाने में इन कथाओं ने बड़ा योग दिया है।

(अ) ऐतिहासिक महत्व

ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा साहित्य का बड़ा महत्व है। भारतीय प्राचीन इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति इन कथाओं में सुरक्षित है। तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, सम्राटों और नरेशों को लेकर जो विविध पुराण लिखे गये हैं उनसे उस समय की ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। महाभारत के समान 'हरिवंश पुराण' और 'पाण्डव पुराण' तथा रामायण के कथानक के समान 'पद्मपुराण' जैसे विशाल ग्रन्थ भारतीय इतिहास-पुराण साहित्य को जैनधर्म की विशिष्ट देन हैं। अन्य जैनेतर पुराण साहित्य की अपेक्षा इन पुराणों में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश कहीं अधिक है। यहाँ जो पात्र हैं वे सर्वथा अमानवीय और पौराणिक न होकर मानवीय और ऐतिहासिक हैं। इसी कारण वे हमारे अधिक निकट हैं। उनके क्रिया-कलाप हमारे अपने जान पड़ते हैं। त्रिशष्टिशलाका पुरुषों के जीवन वृत्त हमारे सामने जो सामग्री प्रस्तुत करते हैं उसमें अनेक ऐतिहासिक भ्रान्तियों का समाहार तो होता ही है, इतिहास के कई नये पृष्ठ भी खुलते से प्रतीत होते हैं।

(ब) सांस्कृतिक महत्व

इतिहास से भी अधिक महत्व है संस्कृति के व्यापक परिवेश को जानने के स्रोत के रूप में इन कथाओं का। पारिभाषिक शब्दों में जिसे 'विकथा' कहा गया है, मेरी दृष्टि में उनमें तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का जो चित्र मिलता है वह अन्यतम है। उस समय के राज-वर्ग का, वणिक वर्ग का व सामान्य स्तर की जनता का सर्वांगीण चित्र झांकता सा दिखाई देता है इन कथाओं की पृष्ठभूमि में इन कथाओं की घटनावलियों में, इन कथाओं की पात्र-धारणा में। मुनि जिनविजयजी ने ठीक ही लिखा है कि भारतवर्ष के पिछले ढाई हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट अंकित करने में जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री इन कथाओं में मिल सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में नहीं मिल सकती। इन कथाओं में भारत के भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र, समाज वर्ग आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचार-व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श शिक्षण, संस्कार, रीति-नीति, जीवन-पद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य, व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाज-संगठन, धर्मानुष्ठान एवं आत्म-साधन आदि के निदर्शक बहुविध वर्णन निबद्ध किये हुए हैं जिनके आधार से हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वांगी और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं।"

(स) लोक तात्त्विक महत्व :

यों तो इन कथाओं की मूल चेतना धार्मिक रही है। पर दर्शन और नीति की शुष्कता को सरल और रोचक भाव-भूमि पर ला उतारना भी कम गौरव की बात नहीं है। धार्मिक दृष्टि की प्रधानता होते हुए भी इन कथाओंमें संकीर्णता नहीं आ पाई है। जिस जन-जीवन के व्यापक धरातल पर ये टिकी हुई हैं वह सम्प्रदाय विशेष के व्यामोह में ग्रस्त न होकर सार्वभौम लोक-जीवन का आधार है। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व निर्मित ये कहा-नियां आज भी लोक-कथाओं के रूप में विविध प्रदेशों में प्रचलित हैं। जैन आगमों में राजा श्रेणिक के पुत्र और मंत्री अभयकुमार के बुद्धि-चातुर्य की जो कथा है वह अपने उसी रूप में हरियाणा के लोक-साहित्य में अढाई

हंत की कथा के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार शेर-खरगोश, बदर-बया, नील सियार आदि की कहानियाँ हैं जो जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध-जातकों, पचतत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर आदि जैनेतर ग्रथो में ही नही मिलती वरन आज भी सर्वसाधारण मे प्रचलित हैं। इस सार्वभौम और सार्वजनीन रूप को देखकर सहसा यह कहा जा सकता है, कि जैन कथा साहित्य भारतीय कथा साहित्य का स्रोत ही नही रहा वरन् विश्वकथासाहित्य का प्रेरक भी रहा है। भारत की सीमाओ को लाँघ कर ये कथाएँ अरब, चीन, लका, योरोप आदि देश-देशातरो मे भी गई है। उदाहरण के लिए 'नायधम्मकहा' की चावल के पाँच दानो की कथा कुछ बदले हुए रूप मे ईसाइयों के धर्म ग्रथ 'बाइबिल' में भी मिलती है। प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् ट्वानी ने कथाकोश की भूमिका मे यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्व कथाओ का स्रोत जैनो का कथा-साहित्य ही है।

जैन कथा साहित्य का साहित्यिक परिशीलन

जैन कथाओ का निर्माण सामान्यत एक विशेष विचार-धारा का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। इस विचारधारा का केन्द्र बिंदु है कर्म विपाक का सिद्धात। अर्थात् जो जैसे करता है, उसे वैसे ही भोग भोगने पड़ते है। कोई किसी का सगा या साथी नहीं है। आत्मा के साथ उसके कर्म ही आते है या जाते है। इस दार्शनिक धारणा के स्पष्ट प्रतिपादनार्थ सामान्यतः ऐसे कथानकों की सृष्टि की गई है जो बुराई के बदले मे बुरा और भलाई के बदले मे भला फल प्राप्त कर लेते है। विषय की दृष्टि से तो यह कथा साहित्य अत्यन्त व्यापक है। इसमे जीवन के सभी पक्षो और समाज के सभी वर्गो से कथानक लिये गये है। व्रतो का माहात्म्य बतलाया गया है तो धार्मिक अनुष्ठानो की शक्ति का वर्णन भी किया गया है। दान, पूजा, दया, शील की प्रभावना का वर्णन है तो तपस्या की धारणा का महत्त्व भी प्रतिपादित है। एक ही विचार-धारा का प्रतिपादन होने से प्रकारान्तर से यह साहित्य जितना विस्तृत है उतना ही सीमित भी।

कथाकारो ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लौकिक पात्रों को भी कहीं-कहीं जैनधर्म का बाना पहना दिया है। उनका रूप अपनी भावना के साँचे में ढाल दिया है। यही कारण है कि अनेक शृङ्गारिक आख्यानों को अन्त मे उपदेश प्रधान बनाकर शान्त रस में पर्यवसित कर दिया है। सूफी कवियों ने आगे चलकर इसी प्रकार अपने प्रबन्ध-काव्यो मे प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया।

लोक-कथाओं की भाँति इन कथाओं मे भी एक कथा के साथ कई कथाएँ अन्तर्लीन रहती है। इनका प्रारम्भ प्रायः वर्णनात्मक ढग से होता है। आरोह अवरोह के लिए विशेष स्थितियाँ नही बनती। सामान्यतः पात्र आरम्भ मे भोगी या मिथ्यादृष्टि होता है। मध्य मे किसी निमित्त कारण से उसकी दृष्टि बदल जाती है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है, ससार से विरक्त हो जाता है। कभी-कभी ऐसे पात्र भी आते है जो प्रारम्भ मे दृढ धर्मी और अडिग साधक होते है पर अचानक साधना से उनका मन उचट जाता है और वे मिथ्यादृष्टि बन जाते है। पर अन्ततः विविध कठिनाइयों और संघर्षों को पारकर सभी पात्र अपना-अपना फल पा लेते है। इन कथाओं का मूल उद्देश्य भी बुराई से मन की प्रवृत्ति को हटाकर भलाई की ओर मन को अग्रसर करना है।

कथा इतिवृत्तात्मक होती है। उसमे जटिलता या वक्रता के लिए कोई स्थान नही। आदर्शोन्मुखी होने के कारण इन कथाओ मे जगह-जगह अलौकिक सकेत मिलते है। कही देव वैक्रिय रूप धारण कर साधक की परीक्षा लेते हुए दिखाई देते है तो कही उसकी भलाई से प्रभावित होकर उसके संकट मे सहायता करते हुए। यह रूप परिवर्तन का तत्व कथा के प्रधान पात्र मे भी पाया जाता है और सहायक पात्र मे भी। कही इलापुत्र नटनी को पाने के लिए नट बनता है तो कही मोदक की प्राप्ति के लिए आषाढ मुनि चार रूप बनाते हैं। लोक साहित्य मे प्राप्त प्राय सभी कथानक रूढियो का आश्रय भी इन कथाओ मे लिया गया है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि इन कथाओं का कथानक लोक तत्त्व की नीव पर ही खड़ा हुआ होता है। उसमे आदर्श की अवतारणा होती है, धर्म की विजय और अधर्म की पराजय दिखलाई जाती है। उसका वृत्त महाकाव्य की तरह विस्तृत होता है। उसमे औपन्यासिक

कौतूहल और विस्तार होता है।

इन कथाओं की पात्र-सृष्टिव्यापक भाव-भूमि पर आधारित होती है। यों तो इनमें प्रधान पात्र प्रकारान्तर से त्रिशष्टिश्लाका पुरुष ही होते है पर सामान्यतः प्रत्येक वर्ग का पात्र इनमें दृष्टिगत होता है। राज-वर्ग से निम्न वर्ग का सबंध सूत्र भी यहाँ दिखाई देता है। दलित, हरिकेशी, (हरिजन) दृढ़प्रहारी (चोर) अर्जुनमाली (माली) सद्दालपुत्त (कुम्भकार) आदि पात्र यहाँ अपनी साधना के कारण सम्मान के अधिकारी बने है। ये पात्र किसी न किसी वर्ग, जाति या समूह का प्रतिनिधित्व करते हुए पाये जाते है। इनमे उनके स्वतन्त्र मनोभावो के अभिव्यंजन और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के लिए कम स्थान है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे पर्याप्त विकास मिलता है। यदि वे मिथ्यादृष्टि हैं तो उचित अवसर और उपदेश पाकर विरागी बन जाते है। यह परिवर्तन कई कारणो से हो सकता है। कभी शास्त्रार्थ के कारण (जैसे) केशी श्रमण और राजा परदेशी) दृष्टि बदल जाती है, कभी दूसरो को दुखी देखकर और कभी अत्यन्त नियमण के प्रतिकार (सुकौशल मुनि) की भावना से मन निवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हो जाता है।

स्त्री पात्रो मे सामान्य और विशिष्ट दोनो प्रकार की स्त्रियाँ देखी जाती है। सामान्य स्त्रियाँ कामुक, ईर्षालु और साधना के मार्ग मे बाधक होती है, विशिष्ट स्त्रियाँ सती साध्वी, सयमनिष्ठ और चरित्र की बलवान होती है। उनमे अपने चरित्र को दृढता के साथ पालने की शक्ति ही नही होती वरन् दूसरों को सदमार्ग पर बनाये रखने की भी ताकत होती है। राजमती, कोश्या आदि ऐसी ही स्त्रियाँ हैं।

देव-पात्रों और पशु-पक्षियो की भी यहाँ कमी नही है। मानव मन की चारित्रिक दृढ़ता और आचरण की गरिमा तथा महानता को प्रतिपादित करने के लिए ही यहां मानवेतर पात्रों की सृष्टि की गई है। इन कहानियों को पढने से मानवीय चरित्रो को प्रभाव-गरिमा और व्यक्तित्व की महिमा से ही पाठक प्रभावित, आलंकित और स्तम्भित होता है न कि दैविक शक्ति के प्रयोग और चमत्कार मे। देव-पात्रों की सृष्टि अपने आप में महत्वपूर्ण नही है वह महत्वपूर्ण बनती है मानवीय चरित्र की महानता का उद्घाटन कर।

जैन कथा साहित्य की एक अन्यतम विशेषता है देश-काल का व्यापक चित्रण। इन कहानियो को पढ़ने से भारत-भूमि की भौगोलिक और ऐतिहासिक जानकारी का प्रामाणिक परिचय मिलता है। उस समय के प्रसिद्ध नगरों के नाम, पात्रों के नाम, प्रधान व्यवसायो के नाम, महत्वपूर्ण उद्यानों के नाम आदि के उल्लेख से वातावरण मे सजीवता व निश्चितता आ गई है। प्रमुख नगरो के कुछ नाम है—राजगृह नगरी, इलावर्धन नगर, चम्पानगरी, श्वेताम्बिका, श्रावस्ती, मिथिला, अवंतिका आदि। उद्यानों के नाम है—मडीकुक्ष, मृगवन आदि। इस व्यापक चित्रण के कारण कहानी वर्णनात्मक अधिक बन गई है। नगर, बाग, सपदा, व्यवसाय, सौन्दर्य, साधना आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

यह वर्णन कथा-शैली के कारण नीरस न होकर सरस बन गया है। भाषा मे जो एक विशेष प्रकार का प्रवाह और लौकिक उपमानो के चयन से विशिष्ट अलंकरण है वह कथा के सौन्दर्य को बिखरने मे रोकता है। यह ठीक है कि शैलीगत वैविध्य और शिल्पगत सौन्दर्य इन कहानियों मे नहीं है पर जिस सार्वजनीन सत्य को ये ध्वनित करती हैं वह अपने आप मे बहुत बडी उपलब्धि है।

★

स्थायी सुख और शान्ति का उपाय

पं० ठाकुरदास जैन बी. ए.

श्रावक-तिलक, दिव्यज्योतिर्मय सतसाहित्य को प्रकाश में लाने वाले तथा ज्ञानियो एव धर्मात्माओ के अनुपम बन्धु स्वनाम धन्य साहू शान्ति प्रसाद जी जैन के जैन पुण्य पुरातत्व के समुद्धार मे तल्लीनता पूर्वक योग देने वाले और अपनी अनेक नि स्वार्थ समाज सेवाओ से समुज्जवल, अतीत सम्पन्न श्री विशनचन्द्र जी जैन ओवरसियर म.हू सीमेण्ट सरविस नई देहली की कई मासो से यह प्रेरणा रही है कि मै एक ऐसा लेख लिखूँ जिससे ससार यह जान ले कि जैनधर्म के सिद्धान्तो के वास्तविक अनुसरण से ही विश्व उच्चकोटि की स्थायिनी सुख-समृद्धि के साम्राज्य के अन्तर्गत आ सकता है अत शासकों को यदि अपने राष्ट्र और पर राष्ट्रों मे विश्व शान्ति स्थापित करनी हो तो वे उक्त सिद्धान्तों के ऊपर भिन्न-भिन्न भाषाओ मे उक्त सिद्धान्तो के रहस्यो के विशेषज्ञों के द्वारा ग्रथो की रचनाकर उनके पठन-पाठन को शिक्षा का एक आवश्यक अग बना दे, भिन्न-भिन्न देशो मे उनके उपासक विद्वानो को भेजकर संसार के समक्ष उनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व रक्खे और इस अङ्ग के प्रसार को शासन का एक नितान्त आवश्यक अङ्ग बनावे।

वर्तमान शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक तो भारत के अधिकांश मेधावी नेता शारीरिक वीरता का यशोगान करते और कराते हुए इस विचार धारा के समर्थक रहे थे कि अहिसा ने भारत को स्त्रैण—स्त्रीस्वभाव बना दिया है, अहिसा के कारण भारत नपुसक बन चुका है। उन नेताओ की धारणा को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर देने वाले हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी हुए जिन्होंने अहिसा (जिसकी कोटि मे सभी सद्भावो उच्च श्रेणी का मैत्रीभाव. और समुज्ज्वल नैतिक जीवन की प्रेरणा से किए गए कार्यो को परिगणित किया जाता है।) की शक्तिभर पालना करके विश्वव्यापनी अग्रेजो की भौतिक शक्ति को कम्पित कर दिया था और अपनी उत्तसाधना से विश्व भर की पूज्यता और शिरोधार्यता प्राप्त कर ली थी। जिस स्वराज्य को भारतवर्ष अपने शस्त्र और अस्त्रों के बल से शताब्दियों तक मैं नही पा सकता था, उसको उन्होने एक भी मानव का रक्तपात किये बिना अपने और अपने अनेक अनुयायियो की अहिसामयी साधनाओ से थोड़े ही समय मे प्राप्त कर लिया था। विज्ञ वाचक जानते ही होगे कि अहिंसामयी साधनाए तो मानवो को ईश्वरीय कोटि मे ले जाती है अत उनके समक्ष हिसकवृत्तियों की पोषक दानवीय शक्तियो को म्लान और अकिञ्चित्कर ही रह जाना पड़ता है।

जब तक उनका जीवन रहा, उपद्रवो की शान्ति ही रही। उनके दक्षिण हस्त स्वरूपी पण्डित जवाहरलाल जी नेहरू मे भी उनका अनुकरण रहा। उन्होने भी विश्व-शान्ति के अहर्निशभाव रक्खे और उनके अनुसार ही उनकी प्रवृत्तियाँ रही। पर अब भारत पर भाविनी अशान्ति की घोर घटाएँ फिर मॅडलाती जान पडती है। सस्कृत के इस प्राचीन श्लोक मे महर्षियो की विचार-धारा कैसी मधुरता की वर्षा कर रही है.—

अकरुणत्व मकारण विग्रहः
परधने परयोषिति च स्पृहा।
स्वजन बन्धुजनेष्व सहिष्णुता
प्रकृति सिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्॥

(भर्तृहरि।)

जो दुरात्मा है उनमे ये बाते प्रकृति सिद्ध ही हुआ करती है। वे निर्दय होते है, कारण के बिना ही युद्ध कर बैठते है, दूसरे की सम्पत्ति और दूसरे की स्त्री को आत्मसात् कर लेने के उपाय किया करते है और वे अपने परिवार तथा भाई बन्धुओं तक से साहिष्णुता का व्यवहार नही रखते। ऐसी प्रकृति के मानव वैय्यक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी जीवनों को आम कालिमाओ से मलिन करते रहते है।

अंग्रेजी के एक कवि ने एक छोटी-सी कविता में इस प्रकार के भाव बड़ी रोचक पद्धति से बता दिए हैं। दुरात्मा परसम्पत्ति के हरण को बलात्कार किसी-न-किसी मिष से कर डालने की चेष्टायें करते ही रहते हैं जैसी कि कुछ दिन पूर्व चीन ने की थी अथवा अभी पाकिस्तान जैसी चेष्टाओं में निरत है। कवि लिखते हैं कि निःसन्देह हमारे पर्वतों की भेड़े हृष्ट-पुष्ट होती हैं पर हमारे पड़ोसी प्रान्त की भेड़े विशेष मीठी होती हैं। अतः हमने अपने पड़ोसी पर आक्रमण कर दिया और उसका शिर और दशसहस्र उसकी भेड़ों को 'बलात्कार' छीनकर अपने अधीन कर लिया।

जिन्होंने अगणित नरेशों के जीवनों की प्रशस्त अथवा अप्रशस्त परिणतियों को ध्यानपूर्वक जानकर उनके सुमरणों अथवा कुमरणों को सूक्ष्मता से जान लिया है वे इस सिद्धान्त के निश्चय पर अवश्य पहुँच चुके होंगे कि अन्याचारी शासकों के मरण बड़े शोचनीय संक्लेशों से होते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अहिंसक, सरल-परिणामी लोकोपकारी और पवित्र जीवन सम्पन्न रहता है यमराज उसका उतना ही अधिक सम्मान किया करता है। तथा कथित विश्व विजेता सिकन्दर ने सहस्रों ग्रामों को खण्डहरों के रूप का बना दिया था, लाखों मानवों के रक्त से वसुन्धरा को प्लावित कर दिया था, पर तीस वर्ष आयुष् के पूर्व ही जब वह काल की ताडना से मृत्यु-शय्या पर व्यथित हो रहा था, उसे अपार और असह्य वेदनाओं ने ही घोर रोदन करनेके लिए विवश किया था। हम लोगों के जीवनकाल 'कर्त्ता' हिटलर की ही दशा को विशवाचक जान ले। अपने क्षणिक बल और दानवीय शक्तियों के मद में विश्वभर को आतङ्क में डाल देने वाले, सैकड़ो नगरों की श्री समृद्धि और अगणित मानवों को यमलोक पहुँचा देने वाले हिटलर का फिर पता नही चल सका कि अपने दुष्कृत्यों के उसे कहाँ कहाँ कैसे कैसे फल भोगने पड़े। कोई भी शासक अपने पद के अधिकार के मद में परराष्ट्रों के ऊपर आक्रमण कर सकता है, पर उसे यह अवश्य सोच लेना चाहिए कि जितना ही अधिक वह अत्याचार और पर पीडन करेगा; उतना ही अधिक संक्लेशमय उसका मरण होगा। अगणितों को दी हुई अपार पीड़ा में मरते समय या आगामीभवों में उसे कई गुने रूप में भोगनी ही पड़ेगी।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि जे, शरले ने एक हृदय-स्पर्शिनी कविता में बड़ी गहरी बात कही है। उस कविता का शीर्षक हैं सब को समानतल पर ला देनी वाली मृत्यु। कवि ने मर्म भेदी वाक्यों से लिखा है कि मृत्यु एक ऐसी निष्पक्ष निर्णायक है जो राजा और रङ्क में भेदभाव न करके केवल उनके सत्कर्मों और दुष्कर्मों का लेखा लेती है। वे लिखते है कि राज्य वैभवों का मद सर्वथा निराधार है। ये वैभव मृत्यु की यातनाओं से बचा लेने में सर्वथा अकिञ्चित्कार हैं। राजाओं के छत्र-चामर आदि उसी प्रकार पड़े रह जाते है। जिस प्रकार कि एक किसान की खुरपी और हँसिया। तुम युद्ध में अपनी भुजाओं की वीरता से अगणितों का संहार कर सकते हो या करा सकते हो अपनी विजय पताका आरोपित कर सकते हो पर एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा जब तुम दीन, दयनीय एवं दुःखित दशा मे मृत्यु के समक्ष रेंगते हुए चलने के लिए विवश होगे। अपनी अधिकार-शक्ति के मद में निन्द्य काम न कर बैठो। उनका फल केवल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। देखो, एक न एक दिन अनाथ की भाँति तुम मृत्यु की बलिवेदिका के समक्ष खींचे जाओगे और वहाँ तुम्हारी बलि बड़ी निष्ठुरता से चढ़ाई जावेगी। केवल पवित्र जीवन व्यतीत करने वालों का ही वहाँ सम्मान होगा—उनकी ही सुगन्धि दूसरों को आच्छादित करेगी।

अब नरेशों के स्थानापन्न प्रधान मंत्री गण हो रहे है। उनका कर्त्तव्य है कि वे उक्त पंक्तियों का रहस्य सोचते रहें।

जैनागम मे भरत चक्रवर्ती और उनके ही सगे छोटे भाई पोदन पुर नरेश बाहुबलि-स्वामी के बीच के युद्ध का बड़ा कौशलपूर्ण विवरण पाया जाता है। दोनों भाइयों की सेनायें सुसज्जित खड़ी है। भाई-भाई युद्ध करने पर कटिबद्ध हैं। इन्द्र ने उन्हें सम्मति दी कि इन विचारे वेतनभोगी सैनिकों के हृदयों में तो पारस्परिक कषाय है नहीं। केवल तुम दोनों भाई ही अहिंसक युद्ध कर लो। प्रथम दृष्टि युद्ध करके देखो। वीरता भरी दृष्टि से परस्पर को देखो। जिसकी दृष्टि शीघ्र निमीलित हो जाय वह

अपने को पराजित माने। फिर जल युद्ध करके देख लो। पश्चात् भुजयुद्ध कर लो जो इनमें हार जाय वह पराजित माना जायेगा। ऐसे युद्धों से तुम्हारी युद्ध करने की लालसा पूरी हो जायेगी और तुम्हारे बीच की वैर रूप कषाय जो तुम्हारे सैनिकों मे नही है, स्वतः शान्त हो जायेगी। और तुम लोगों के हृदयों मे भरे हुए वैर के कारण निष्फल अगणित निरपराध सैनिकों का संहार नहीं होगा। अहिंसक नेता इसी प्रकार के प्रयत्नों से शान्ति स्थापित करने के ध्येय रखते हैं।

भौतिक विज्ञान इस युग में विस्मयकारी चमत्कार दिखा रहा है, पर इससे भी करोड़ो गुने विस्मयकारी चमत्कार आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न मानव दिखा चुके हैं। प्राचीनकाल के महात्माओं की बात तो आदर्श कोटि की विस्मयकारिणी थी ही; अभी सन् १५६५ के लगभग की बात है। फ्रांस के नौष्टर्डम नामक एक अवधूत की भांति जीवन व्यतीत करने वाले ने १००० भविष्य वाणियों को करके एक पुस्तक प्रकाशित कराई थी। उसके जीवन काल में ही उसकी लगभग ६६ प्रतिशत भविष्य वाणियाँ यथावत् सिद्ध थी। गत छ योरूपीय महायुद्धों का भी उसमें जो संकेत था, वे सत्य निकले थे। उसकी अन्तिम भविष्य वाणी यह थी कि ईसा मसीह के ७००० वर्ष पश्चात् समस्त योरुप जलमग्न हो जायगा, केवल आल्पस पर्वत समुद्र के ऊपर निकला दीख पड़ेगा। अंग्रेजी आदि कई भाषाओं में उसकी भविष्य वाणियाँ प्रकाशित हुई थीं। मेरा पुष्कल स्मरण है कि सन् १६४४, १६४५ या १६४६ के जून, जुलाई या अगस्त मास की सरस्वती में नौष्टर उस की भविष्य वाणियाँ शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था।

भौतिक विज्ञान जो नर संहारक आविष्कारों मे अपनी शक्तियाँ लगा चुका है और लगाता जा रहा है, वह यदि ऐसा आगे भी करता जायेगा तो इस भूमण्डल पर मानवों आदि का प्रलय ही हो जायेगा। विज्ञ विवेकियों का कर्तव्य है कि अब आगे आध्यात्मिक आविष्कारों की ओर अभि मुख हों। चन्द्रलोक की यात्रा के लिए अहर्निश उत्सुक न होकर अपने घट में विराजमान आत्मलोक की ओर अभिमुख होकर उसके रहस्यों को जानें। जीवों के सुखों और दुःखों के कारण में और जन्म-मरण के रहस्यों को जानने में प्रयत्नशील हो जायें।

यदि संसार दूसरों को मार डालने में वीरता न मानकर अपने दुर्भावों को मार डालने में ही वीरता मानने लगे तो ससार के दुःखों का अन्त ही हो जायेगा। जिन-जिन महापुरुषों ने अपनी दुर्भावनाओं, दुर्व्यसनो और दुराचारो का दमन किया वे ही त्रैलोक्य पूजित हुए; इसके विपरीत दूसरों पर विजय पाने के लोलुपी क्षणिक विजयी निःसन्देह हुए, यह अन्त में उनका कल्याण नही हुआ है।

जो एक व्यक्ति के विषय मे सत्य है, वही एक परिवार, एक समाज, एक जाति और एक राष्ट्र के विषय मे भी सत्य हो सकता है, यहाँ तक कि वह पूर्ण विश्वभर के लिए भी सत्य हो सकता है। सभी धर्मानुयायियो ने यथा शक्ति अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह स्वल्पता को महात्माओं की कोटि में विराजमान करने का गणेश माना है। हमारा अनुरोध है कि शासन उक्त विषयों पर अधिकारी लेखकों द्वारा मनोवैज्ञानिक प्रणाली के ग्रंथों की रचनाएँ करा के उनका स्वय, अपने देश मे प्रचार करे। छात्रों के हृदयों मे शैशव से ही उनका आध्यात्मिक महत्व अङ्कित करा दे। भिन्न भिन्न भाषाओं में उन ग्रंथों को अनूदित करावें और सम्राट् अशोक की भाँति विश्वशान्ति के दूतों को प्रत्येक देशों मे भेजकर विश्वशान्ति के उपाय करावे।

इस लेख के लिखने मे जो भी बलवती प्रेरणा रही है वह श्री विशनचन्द्र जी जैन ओवरसियर की है। अतः इसमे जो कुछ भी अल्पसी अच्छाई हो, उसका श्रेय श्री ओवर सियर जी को प्राप्त होना चाहिए।

अब लेख के अन्त मे मैं स्वरचित तीन छन्दों को जो मैंने अब से लगभग २५ वर्ष पूर्व बनाये थे, 'मधुरेण समापयेत' की लोकोक्ति के अनुसार लिखकर अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ.—

प्रभो, आवेगा कब वह काल ?
जब इन सब विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के कार्य्य,
सर्व हितंकर विश्वबन्धुता से होंगे निर्णय।

धर्मचक्र सम्बन्धी जैन परम्परा

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

चक्र के आविष्कार को मानव के इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना कही जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। आकाश में चमकते सूर्य और चन्द्रमा को देखकर, अथवा सर सरिताओं में पड़ती भँवरों को देखकर, अथवा तीव्र झंझा में उठते गोल भभूलों को देखकर, कब, कहाँ, किस प्राकृतिक दृश्य से प्रेरणा लेकर मनुष्य ने यह महत्तम आविष्कार किया था यह तो कहना कठिन है किन्तु इस आविष्कार के फलस्वरूप ही मनुष्य चक्की से अन्नादि का चूर्ण, चरखे से सूत अत. वस्त्र, चाक से बर्तन-भांडे और चक्के (पहिये) से गमनागमन के साधन प्राप्त करने में समर्थ हुआ। वस्तुतः मनुष्य की भौतिक सभ्यता का श्रीगणेश इस आविष्कार के साथ ही हुआ समझना चाहिए। इतना ही नहीं, जैसे जैसे मनुष्य अपनी इस महान उपलब्धि (चक्र) की क्षमताओं का अधिकाधिक अनुसन्धान करता गया उसकी सभ्यता गतिवान होती गई, प्रगतिपथ पर उत्तरोत्तर धावमान होती गई। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, कौनसा ऐसा यन्त्र है जो किसी न किसी रूप में चक्र के प्रयोग बिना निर्मित हो सके अथवा कार्य कर सके।

चिन्तकों, विचारकों, दार्शनिकों एवं संस्कृतियों के पुरस्कर्त्ताओं ने भी गति एवं प्रगति के इस मूर्तरूप अथवा साकार प्रतीक को प्रतिष्ठान्वित किया और उसकी अनेक रहस्यवादी व्याख्याएँ प्रस्तुत की। उन्होंने जड़ एवं चेतन रूप द्विविध जगत में एक नियमित चक्राकार क्रम लक्ष्य किया, विविध द्रव्यों में निरन्तर प्रवाहमान परिणमनशीलता को-एक अबाध गति को लक्ष्य किया, जड़ अथवा पुद्गल से भिन्न आत्मतत्त्व को चीन्हा और उसके जन्ममरणाधारित आवागमन या भवभ्रमण रूप संसारचक्र को सत्यरूप से स्वीकार किया। उक्त संसारचक्र से संबन्धित कालचक्र कल्पित हुआ। पौराणिक हिन्दुधर्म के विश्वासानुसार सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के चतुर्भुजी विष्णु रूप के एक हाथ में चक्र रहता है जो उनके द्वारा सृष्टिचक्र के सृजन, सञ्चालन, नियमन, संरक्षण एवं संहार का द्योतक माना जाता है। विष्णु के कृष्णावतार का तो प्रिय आयुध ही सुदर्शनचक्र है। ऐसा लगता है कि प्राचीन चक्राकार आयुध का आविष्कार भी विलक्षण था। यह एक प्रकार का सर्वश्रेष्ठ प्रक्षेपास्त्र माना जाता था। अन्य अनेक हिन्दू देवी-देवताओं तथा जैन यक्ष-यक्षणियों के आयुधों में भी 'चक्र' का बहुधा उल्लेख हुआ है। भारतीय जैन, बौद्ध एवं हिन्दू परम्परा में सम्पूर्ण पृथ्वी के दिग्विजयी एकराट् सम्राट को चक्रवर्ती संज्ञा दी गई है। यदि हिन्दू परम्परा में समुद्रमन्थन से प्राप्त चौदह रत्नों में एक सुदर्शनचक्र था तो जैन परम्परा के अनुसार इस अल्पकाल में भरतादि बारह चक्रवर्ती नरेश हुए हैं उनमें से प्रत्येक की आयुधशाला में चौदह रत्न प्रगट हुए थे और उन रत्नों में प्रधान चक्ररत्न था जिसका साधन करके वह नरेश दिग्विजय चक्र पूरा करता और चक्रवर्ती कहलाता था। जैन परम्परा में जिनेन्द्र का भामंडल (प्रभामण्डल)

मित्रता होगी एक विशाल,
प्रभो, आवेगा कब वह काल ॥१॥
जब आभ्यन्तर शत्रु विजय से द्योतित होगी शक्ति,
सदाचारमय सत्यप्रवृत्ति जब व्यक्त करेगी भक्ति।
सरल होगी जब सब की चाल,
प्रभो, आवेगा कब वह काल ॥२॥

(मिश्रबन्धु विनोद—चतुर्थ भाग से उद्धृत)

प्रभो, क्या एक वह स्वर्णिम समय भूपर न आयेगा,
भुवन में जब प्रचुर सुखशान्ति का साम्राज्य छायेगा।
मनुज होंगे सरल सात्विक विमल अध्यात्म वसुर्मय,
स्वजीवन मोह भी जिनको न सत्पथ से गिरायेगा ॥

★

भी वृत्ताकार होता है, तीर्थङ्कर के शरीर पर लक्षित १००८ शुभ सामुद्रिक चिह्नों में चक्र भी एक चिह्न है जो बहुधा हाथो की हथेलियों और पैरों के तलवों पर रहता है—मथुरा आदि मे प्राप्त कुछ प्राचीन तीर्थङ्कर प्रतिमाओ मे इस प्रकार का चक्र चिह्न हथेलियो एव तलवो पर उत्कीर्ण पाया भी गया है१। तीर्थङ्कर की समवसरण सभा भी वृत्ताकार होती है, उसके केन्द्र स्थान में विद्यमान श्रीमडप अपनी तीनों पीठो सहित वृत्ताकार ही होता है। द्वितीय पीठ पर स्थापित तथा विहार समय मे साथ चलने वाली दस या आठ प्रकार की जो मङ्गलध्वजाएं होती हैं उनमें से सर्वप्रथम चक्राङ्कित ही होती है२।

इन विभिन्न प्रकार के चक्रों के अतिरिक्त एक अन्य चक्र होता है जिसका सास्कृतिक महत्त्व संभवतया सर्वाधिक है, विशेषकर जैन एवं बौद्ध परम्पराओं, मे और वह है धर्मचक्र। बौद्धधर्म प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध ने गया में बोधि प्राप्त करने के उपरान्त वाराणसी के निकटस्थ मृगदाव (सारनाथ) में अपना सर्वप्रथम उपदेश दिया था। इसी घटना को बौद्ध परम्परा मे धर्मचक्रप्रवर्तन कहते है। मौर्यकालीन कतिपय विशाल एव कलापूर्ण स्तम्भों के शीर्ष पर एक चक्र अकित पाया जाता है। प्राय. इन स्तम्भों को सम्राट् अशोक द्वारा निर्मापित माना जाता है और उक्त नरेश को बहुधा बौद्धमतावलम्बी रहा विश्वास किया जाता है, यद्यपि इस विषय मे मतभेद है। अस्तु इन स्तम्भो पर उत्कीर्ण चक्र को बौद्ध परम्परा के धर्मचक्र का मूर्ताङ्कन मान लिया गया। मूर्तकला में उपलब्ध चक्र नामक सास्कृतिक प्रतीकका यह सर्वप्राचीन दृष्टान्त है। बौद्धकलामे भी अन्यत्र उसके धर्मचक्र का प्राय., अभाव है, और हिन्दूकला मे भी चक्रधारी विष्णु की मूर्तियां गुप्तकाल के पूर्वकी शायद ही कोई है। किन्तु क्योंकि पिछले काल में बौद्धधर्म का एशिया महाद्वीप के बहुभाग मे प्रसार हुआ और उसके कारण इसके साहित्य पर कला आदि का आधुनिक युग में कही अधिक व्यापक एवं गहन अध्ययन तथा प्रचार हुआ; धर्मचक्र, नामक प्रतीक को बौद्ध सस्कृति की ही एक विशिष्ट देन मानने की प्रथा चल पड़ा।

फलस्वरूप साहित्य या कला मे जहाँ कही जैन 'धर्मचक्र' उपलब्ध होता है उसे बौद्धों का अनुकरण कहने की कुटेव सी पड़ चली है। उदाहरणार्थ श्री बी० सी० भट्टाचार्य ने जैन प्रतिमाशास्त्र विषयक, अपने ग्रन्थ मे लिख दिया कि—'Dharmacakkra (wheel or law)—It seems to have been borrowed from Buddhism to Indicate the preaching of the Dharma in connection with the Tirthamkaras'. अर्थात् तीर्थकरो के प्रसंग म धर्म के प्रवर्त्तन को सूचित करने के लिए धर्मचक्र (रूपी प्रतीक) को (जैनो ने) बौद्धधर्म से उधार ले लिया लगता है३।

अन्य अनेकों की ऐसी धारणा है, किन्तु वह भ्रान्त है। चक्र प्रतीक की जैन परम्परा मे प्रतिष्ठा के विषय म ऊपर जो कतिपय सकेत किये जा चुके है उनके अतिरिक्त स्वय धर्मचक्र भी जैन सस्कृति की एक मौलिक देन प्रतीत होती है। केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त प्रत्येक तीर्थकर का जब धर्म प्रवर्त्तनार्थ विहार होता है तो उनके धर्मचक्र प्रवर्त्तन का मूर्त प्रतीक निरन्तर घूमता हुआ (गतिमान) सहस्र आरों वाला तेज.पुञ्ज धर्मचक्र तीर्थकर के आगे आगे चलता है४। प्राचीन जैन पुराणो मे सर्वत्र वृषभादि तीर्थकरों मे से प्रत्येक के प्रसग मे ऐसा उल्लेख हुआ है। तीर्थकरो के विहार मे धर्मचक्र सदैव तीर्थकर के आगे आगे चलता है। विहार के अन्त मे जब जहाँ कही तीर्थंकर तिष्ठते हैं वहीं उनकी समवसरण सभा जुडती है। उक्त समवसरण के मध्य मे जो श्रीमण्डप होता है—जिसके कि केन्द्र मे गन्धकुटी पर तीर्थकर स्वय विराजमान होने

---

१. देखिए मथुरा संग्रहालय, बी. २, ३, ४, ५ इत्यादि

२. आदिपुराण,

३. दी जैना आइकानोग्रेफी, पृ० १६०

४. (i) सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्ररत्नपुर.सर —आदि पुराण, पर्व २५, श्लो० २५६

(ii) स्फुरितारसहस्रेण प्रभामण्डलचारुणा।
यत्पुरो धर्मचक्रेण स्थीयते जितभानुना॥
—पद्म० पु०, पर्व २, श्लो० १०१

(iii) सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति।
धर्मचक्रंजिनस्याग्रे प्रस्थमास्थानयोरभात्॥
—हरि० पु०, सर्ग ३, श्लो० २०

हैं—उस श्रीमण्डप की तीन में से प्रथम (सबसे नीचे की) कटनी या पीठ पर शासन भक्त यक्ष धर्मचक्र लिये खडे रहते हैं।५ प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर के प्रधान यक्ष (या शासन देवता) गोमुख एवं मातङ्ग के मूर्तिविधान में ही उसका मस्तक धर्मचक्राङ्कित होता है।६ अभिधान चिन्तामणि में तो नेमिनाथ के नाम की व्युत्पत्ति ही धर्मचक्राय नेमिवन्नेमि., की है।

मथुरा में प्राप्त मौर्य-शुङ्ग काल के एक पूरे आयागपट्ट पर धर्मचक्र ही उत्कीर्ण है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ पूर्व मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी आदि में विविध धार्मिक प्रतीकों से अंकित आयागपटों की पूजा का प्रचलन जैनजगत में था। उसके पूर्व स्तूप पूजा का भी प्रचलन था, किन्तु सम्भवतया बौद्धोंद्वारा स्तूप को अत्यधिक अपना लिया जाने के कारण जैनों ने शनैःशनैः स्तूप पूजा का त्याग सा कर दिया। स्तूप पूजा के समय में ही आयाग पटों की ओर उनके उपलक्ष्य से अन्य-स्वस्तिक, वर्धमानस्थ, नन्द्यावर्त, त्रिरत्न, अष्टमंगलद्रव्य आदि—प्रतीकों की पूजा का प्रचलन हुआ। अर्हत प्रतिमाएँ भी नन्दमौर्य काल से प्रतिष्ठित होने लगी थी, किन्तु उनका अधिक प्रचार शुङ्ग-शक-कुषाणकाल में ही हुआ। किन्तु गुप्तकाल से पूर्व की तीर्थंकर प्रतिमाओं में लाँछन नहीं रहा था, अतएव कन्धों तक लटकती केशराशि के द्वारा तीर्थंकर ऋषभदेव की, सर्पफणाकार छत्र द्वारा ती० पार्श्वनाथ की और पादपीठ पर सिंह तथा धर्मचक्र द्वारा तीर्थङ्कर महावीर की तो पहिचान होती थी, अन्य तीर्थङ्करों की पहिचान प्रतिमा पर अंकित लेख में प्राप्त उनके नाम द्वारा ही होती थी, अन्य कोई साधन नहीं था।

गुप्तकाल के पूर्व की अनेक जिन प्रतिमाओं के पादपीठ पर सामने की ओर मध्य में धर्मचक्र अंकित पाया जाता है जिसके दोनों ओर उपासक उपासिकाएँ उक्त चक्ररत्न की पूजा करते दिखाये गये हैं७। कभी-कभी यह धर्मचक्र एक छोटे से स्तम्भ के शीर्ष पर अंकित किया गया है८ और कभी-कभी त्रिरत्न प्रतीक के ऊपर९। पादपीठ के दोनों छोरों पर एक एक बैठे सिंह का अंकन भी बहुधा मिलता है जो सम्भवतया सिंहासन के सूचक है और प्रतिमा भ० महावीर की है शायद इस बात के भी ती० शान्तिनाथ की एक प्रतिमा में मध्यवर्ती धर्मचक्र के दोनों ओर एक एक मृग अंकित है१०।

इस सबसे प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में भी किसी समय धर्मचक्र की पूजा का पर्याप्त प्रचलन था। तीर्थङ्कर प्रतिमाओं का वह आवश्यक अंग समझा जाता था। स्वतन्त्र आयागपटों में उत्कीर्ण करवाकर और स्तूप के बहिर्भाग या चैत्य के प्रमुख स्थान में स्थापित करके उसकी पूजा की जाती थी। सम्भवतया कलापूर्ण स्तम्भ बनाकर उन स्तम्भों के शीर्ष पर धर्मचक्र की आकृति बनाई जाती थी और धर्मसंस्थानों के प्रांगण में अथवा नगरों के शृङ्गाटक आदि प्रमुख स्थानों में ऐसे स्तम्भ स्थापित किये जाते थे। उपरोक्त में से कतिपय मूर्त्याङ्कनों को देखने से यह भी लगता है कि स्त्री पुरुष आबालवृद्ध मिलकर फल पुष्प माला आदि द्रव्यों से धर्मचक्र की पूजा करते थे।

इस प्रकार धार्मिक अनुश्रुतियों, प्राचीन साहित्य एवं दो सहस्र वर्ष प्राचीन कलाकृतियों, पुरातत्वावशेषों आदि के अध्ययन से तो यही लगता है धार्मिक या सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में धर्मचक्र मूलतः जैनपरम्परा की देन है। आज तो यह हमारे राष्ट्र का भी प्रतीक है यद्यपि उसे राजनीतिक रंग देने के लिए 'अशोकचक्र' के नाम से पुकारा जाता है।

---

५. कृताञ्जलिभिरानम्रमस्तकैर्भक्तित. स्थितै ।
स्फुरद्भिर्धर्मचक्रैस्तदुद्धृयते यक्षनायकैः ॥
—मेधावी रचित समवशरणदर्पण, श्लो० ३२

६. धर्मचक्रञ्चमस्तके (प्रतिष्टासारसंग्रह), मूर्द्धनिधर्मचक्र (मन्दिरप्रतिष्ठाविधान), —देखिए दी जैना आइकानोग्रेफी, पृ० ६५, ११८-११९

७. मथुरा संग्रहालय, नम्बर बी० २९, बी० १३, बी० १४, इत्यादि।

८. वही, नं० ४९०, बी० ४, बी० १२, इत्यादि।

९. वही, बी० ५, इत्यादि।

१०. भट्टाचार्य, पृ० ७३-७४

जैन मूर्ति कला का प्रारम्भिक स्वरूप

रमेशचन्द्र शर्मा (सहायक संग्रहाध्यक्ष राज्य संग्रहालय, लखनऊ)

परम्परा के अनुसार जैनधर्म में मूर्तिपूजा आदिकाल से मानी जाती है। इस आदिकाल का तात्पर्य प्रथम तीर्थकर आदिनाथ या ऋषभदेव के समय से है। वर्षों मे इस समय का अनुमान लगाना असम्भव है। १८वे तीर्थकर (अरहनाथ) और १९वे तीर्थकर (मल्लिनाथ) के बीच का समय ही एक हजार करोड वर्ष का है। पूर्ववर्ती तीर्थंकरों का समय तो वर्षो मे मिलता भी नहीं। इस प्रकार यदि श्रुति परम्परा को आधार भी मान लिया जाय तो जैनधर्म में मूर्तिकला के विकास का काल निर्धारण नहीं हो सकता।

वर्तमान सामग्री के आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी मूर्ति परम्परा को जैनधर्म मे आदिकाल से मानने मे कठिनता है। २३वे तीर्थंकर स्वामी पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक विभूति माना जा सकता है और उनका समय ८वीं-९वी शती ई० पू० मे आंका गया है। इतिहासकार इन्ही को जैनधर्म का प्रवर्तक मानते है। इनके पश्चात् ६टी शती ई० पू० मे २४वे और अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर हुए। पार्श्वनाथ के समय की मूर्तियाँ तो है ही नहीं, वर्धमान महावीर के समकालीन पुरातत्व अवशेषो का भी सर्वथा अभाव है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म के प्रवर्तन के साथ-साथ मूर्तिपूजा का सम्बन्ध हमारी वर्तमान पहुँच के आधार पर स्थापित नही हो पाता।

पटना के समीप लोहानीपुर मे मिली एक नग्न मूर्ति को कुछ विद्वान् इसकी विशेष प्रकार की चमक (पालिश) के कारण मौर्य और शुगकाल के बीच की कलाकृति मानते हैं। डा० घटगे के अनुसार मूर्ति की नग्नता, दृढता व कायोत्सर्ग मुद्रा को इगित करती हुई लटकती बाहे इस बात का प्रमाण है कि यह मूर्ति किसी तीर्थंकर की ही रही होगी (दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ४२५)। ऐसा मान लेने पर यह मूर्ति जैनधर्म की सबसे प्राचीन मूर्ति मानी जाएगी। किन्तु एकमात्र इस मूर्ति के अतिरिक्त लगभग दो सौ वर्ष तक इतिहास इस दिशा मे मौन है और प्रथम शताब्दी की ई० से ही मूर्तियों का अविच्छन्न रूप से निर्माण आरम्भ होता है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० के कलिग नरेश खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से हमे वहाँ एक तीर्थकर की मूर्ति की पुन स्थापना की ओर सकेत मिलता है। अभिलेख के अनुसार तीन सौ वर्ष पहले मगधाधिपति नन्द इस मूर्ति को यहाँ से ले गए थे। इस घटना क्रम के आधार पर मूर्ति का आरम्भ काल कम से कम चौथी शती ई० पू० में निर्धारित होता है कुछ विद्वान् खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओ मे अंकित मूर्ति पटों की कुछ आकृतियो को जैन आकृतियां मानते है। उदयगिरि की रानी नूर गुफा मे उत्कीर्ण एक पट को २३वे तीर्थकर पार्श्वनाथ की जीवन घटनाओ से सम्बन्धित माना जाता है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे नगर निर्माण सम्बन्धी प्रकरण मे जिन मूर्तियो को नगर के मध्य भाग मे स्थापित करने को लिखा है उनमे जयन्त, वैजयन्त और अपराजित, जैन मूर्तियों का भी उल्लेख है:—'अपराजिता प्रतिहत जयन्त वैजयन्त कोष्ठकान्······पुरमध्येकारयेत्।' अर्थशास्त्र का समय प्रो० जौली ने ३२० ई० पू० माना है। किन्तु जैसा कि ऊपर सकेत किया गया इस समय की जैन मूर्तियाँ अभी उपलब्ध नही हुई है।

आयागपट—कालक्रम के अनुसार जैन मूर्तियो मे आयागपटों का स्थान सर्व प्रथम है। पत्थर के इन चौकोर पाटियो पर अर्हत या उनसे सम्बन्धित चिह्न उत्कीर्ण होते है। अभिलेखो मे इन्हे आयागपट की संज्ञा दी गई है। डा० ब्हूलर ने आयागपट को पूजा शिला माना है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार आयाग शब्द का प्रचलन आर्पक से हुआ जिसका तात्पर्य 'पूजा के योग्य' से

है। आयागपटों में स्थापना की कोई तिथि नहीं है अतः केवल शैलगत विशेषताओं के आधार पर ही इनका तिथिक्रम निश्चित किया गया है। श्री० बी० सी० भट्टाचार्य के अनुसार आयागपट विदेशीकला के प्रभाव से रहित और कुषाणों से पूर्ववर्ती है। डा० अग्रवाल इन्हें पहली शताब्दी के पूर्व भाग में मानते है। अवश्य ही आयागपट उस काल की ओर संकेत करते है जब देवताओं की प्रतीकों के माध्यम से उपासना की जाती थी और उनकी आकृतियो का प्रचलन केवल आरम्भ ही हुआ था। यह समय प्रथम शती ई० का प्रथम चरण ही हो सकता है।

कुछ आयागपटों के मध्य भाग में मुख्य देवता का धर्म चक्र, स्तूप आदि के प्रतीक से संकेत है और कुछ में तीर्थंकर की आकृति है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन पटों पर देवाकृति अंकित है उनमें चिह्नों का ही बाहुल्य है। आयागपटों में अनेक शुभ चिह्न अंकित मिलते हैं। जैसे स्वस्तिक, दर्पण, पूर्णपात्र, आसन, मीन युगल, पुष्प पात्र, पुस्तक आदि। इन्हें अष्टमागलिक चिह्न कहा गया है।

मूर्तियों का आरम्भ—कलाकार ने जिस कुशलता से आयागपटों में प्रतीकों का स्थान देव आकृतियों को देना आरम्भ किया उसे समाज में मान्यता मिली। मथुरा का तत्कालीन धार्मिक वातावरण इसके लिए एक विशेष पृष्ठ भूमि तैयार कर रहा था। अब ऐसा समय था जब विभिन्न सम्प्रदायों की लोक प्रियता दार्शनिक विवेचन पर नहीं अपितु मठ, विहार, व स्तूप बनवाने तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने पर आधारित थी। कलाकार के सामने यक्ष की मूर्ति आदर्श स्वरूप थी जिसका अन्य मूर्तियों में अनुकरण हो सकता था। इसी समय मथुरा और गान्धार कला केन्द्रो में बुद्ध मूर्ति का भी विकास हुआ। इतिहास व कला के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। इससे विभिन्न सम्प्रदायों में देवताओं को मूर्त रूप में व्यक्त करने का जो सकोच था वह दूर हो गया। इस प्रकार तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति तथा कलात्मक गति विधियों की पृष्ठभूमि में कुषाण काल के आरम्भ से जैनमूर्तियों का निर्माण आरम्भ हो गया।

मुख्य विशेषताएँ—प्राचीन जैन मूर्तियां हमें दो भांति की मिलती हैं। पहली खड़ी और दूसरी बैठी। खड़ी मूर्तियों की मुद्रा को दण्ड अथवा कायोत्सर्ग कहते हैं जिनमें तीर्थंकर का सर्वस्व त्याग का भाव प्रदर्शित है। बैठी मूर्तियों में तीर्थंकर ध्यानस्थ भाव में दिखाए गए हैं। कला की दृष्टि से कुषाण कालीन मूर्तियां अपनी इन विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हैं। मस्तक मुण्डित है अथवा कुछ हलके घुंघराले बाल हैं, आँखें बादाम की आकृति की तरह गोल है, मुख पर हलका स्मित भाव है, कान का नीचे का भाग छोटा है, छाती चौडी उभरी और कन्धे विशाल है। प्रभामण्डल यदि हैं तो सादा या केवल हस्तिनख आकृति से उत्कीर्ण है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स आकृति का लाछन मुख्य विशेषता है इसीसे बुद्ध व जैन मूर्ति में भेद किया जाता है। हाथ तथा पैर के तलवों पर त्रिरत्न, चक्र तथा कमल आदि चिह्न भी बने रहते हैं। इन्हें महापुरुष लक्षण माना जाता है। जैन मूर्तियां अधिकतर सिंहासन पर आरूढ बनाई जाती थी और नीचे कुषाण कालीन ब्राह्मी लिपि में दाता का नाम तथा तत्कालीन राजा के राजत्व काल का सवत्, महीना, दिन आदि दिए रहते हैं। इस काल की जैन मूर्तियों में तीर्थंकरों की जीवन घटनाओं से सम्बन्धित दृश्यो का अभाव है। लखनऊ संग्रहालय में एक ऐसा पट है (जे० ६२६) जिस पर महावीर के भ्रूण को ब्राह्मण स्त्री देवनन्दा के गर्भ से क्षत्रिय स्त्री त्रिशाला के गर्भ में स्थानान्तरण करते हुए नैगमेश को दिखाया गया है।

जैन मूर्तिकला में आरम्भ से ही ब्राह्मण देवताओं का प्रदर्शन मिलता है। लखनऊ सग्रहालय मे जैनधर्म से सम्बन्धित सरस्वती की एक मूर्ति है (जे० २४) जो सबसे प्राचीन सरस्वती की प्रतिमा है। इसकी पीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख से जैनधर्म की प्राचीन सम्प्रदाय व्यवस्था पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन जैन मूर्तियों में सर्वतो-भद्रिका प्रतिमा भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें चारो ओर तीर्थंकरों की मूर्तियां बनी रहती हैं। इन मूर्तियों को चैत्य, स्तूप अथवा अन्य धार्मिक स्थानों में ऐसी जगह स्थापित किया जाता था जहाँ भक्त जन उनकी प्रदक्षिणा कर सकते थे। इन्हें आजकल जन भाषा में चौमुखी प्रतिमा कहा जाता है।

चौबीस तीर्थंकरों को पृथक् पृथक् पहचानने के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि आदिनाथ व पार्श्वनाथ को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों के परिचित चिह्न गुप्त काल तक की मूर्तियों में प्रायः नहीं मिलते। आदिनाथ की मूर्तियों में कन्धे तक लटकती जटा व पार्श्वनाथ को सर्पफण से आच्छादित करने की परम्परा प्रारम्भ से चली आती है। शेष २२ जिनों के बारे मे पीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख मे दिए नाम से ही पता चलाना संभव है। लगभग ७वी शती के उपरान्त सभी तीर्थंकरों के लिए निश्चित लाछन स्वीकृत कर लिए गए। उनके साथ बनी यक्ष, यक्षिणी व वाहनों की आकृति से भी तीर्थंकरो को पहचानने की समस्या का समाधान हो गया।

कुषाणकालीन जैन मूर्तियों की मुख्य विशेषता यह है कि वे अभिलखित है और उनके लेखों मे तत्कालीन समाज धर्म व शासन व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सरस्वती की मूर्ति के बारे मे अभी लिखा जा चुका है। लखनऊ संग्रहालय में ही एक अन्य मूर्ति है (जे० २०) जिस पर त्रिरत्न के साथ शक उपासिकाएँ उत्कीर्ण है। उनके हाथ में कमल पुष्प है। स्त्रियों का वस्त्र परिधान आज के उल्टे पल्लू की साड़ी से मिलता है। पीठ पर उत्कीर्ण लेख से पता चलता है कि इस मूर्ति को मुनिसुव्रत की आराधना मे मथुरा के बौद्ध नामक एक देव-निर्मित स्तूप मे स्थापित किया गया। डा० वि० स्मिथ ने इसका अच्छा विवेचन दिया है (जैन स्तूप···पृ० १३) उनके अनुसार द्वितीय शती में जबकि इस मूर्ति को बौद्ध स्तूप मे प्रतिष्ठित किया गया उस समय तक यह स्तूप इतना प्राचीन हो चुका था कि लोग इसकी ऐतिहासिकता भूल चुके थे और इसे देव-निर्मित स्तूप कहा जाने लगा था। प्रायः जिन पुरानी इमारतो के बारे मे कोई जानकारी नही होती उन्हें भूतो का या देवताओ का बनाया हुआ कहने लगते है। साथ ही ब्यूलर को मिली चौदहवी शताब्दी की जिनप्रभ की तीर्थ कल्प मे या 'राज प्रसाद' नामक पुस्तक में वर्णित 'देव निर्मित स्तूप' के विषय में भी विचार करना होगा। तदनुसार यह स्तूप आरम्भ में सोने का बना था और बहुमूल्य प्रस्तरों से जड़ित था। इसका निर्माण सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की पूजा के निमित्त कुबेरा नामक देवी ने धर्मरुचि तथा धर्मघोष नामक दो मुनियों के आदेश पर कराया। २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय सुवर्ण स्तूप को ईंटो से ढक दिया गया और बाहर पत्थर का एक मन्दिर बनवा दिया। कालान्तर में भगवान् महावीर के कैवल्य प्राप्ति के १३०० वर्ष बाद बप्प भट्टसूरि ने पार्श्वनाथ की आराधना मे इस स्तूप का जीर्णोद्धार कराया।

अब यदि इन सभी घटनाओ की संगति बैठाई जाय तो हमे मथुरा के देव निर्मित स्तूप की प्राचीनता का सहज अनुमान लग जायगा। महावीर जी का निर्वाण सन् ५२७ ई० पू० मे माना जाता है। कैवल्य प्राप्ति लगभग ५५० ई० पू० मे हुई। स्तूप के जीर्णोद्धार का समय १३०० वर्ष बाद ७५० ई० मे पड़ता है। ईंटो का स्तूप यदि पार्श्वनाथ के समय बना माना जाय तो ८०० ई० पू० के लगभग निश्चित होता है। डा० स्मिथ इसे ६०० ई० पू० में मानते है। किन्तु पार्श्वनाथ के जीवन काल मे मानने पर तो ८०० ई० पू० ही मानना अधिक उपयुक्त होगा (दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ४११)। ईंटो से पहले सुवर्ण स्तूप का समय तो कुछ और भी प्राचीन मानना होगा। यदि सुवर्ण स्तूप को छोड भी दे तो ९वी ८वी शती ई० पू० का मथुरा का देव निर्मित स्तूप जैन धर्म की ही नही अपितु हड़प्पा संस्कृति के बाद की भारतवर्ष की प्राचीनतम इमारत मानी जायगी।

इसी प्रकार अन्य बहुत-सी जैन मूर्तियाँ जो इतिहास तथा कला की दृष्टि से बडी महत्वपूर्ण है अधिकतर राज्य सग्रहालय, लखनऊ व पुरातत्व सग्रहालय मथुरा मे सग्रहीत है।

★

द्रव्यसंग्रह के कर्ता और टीकाकार के समय पर विचार

परमानन्द जैन शास्त्री

मैं कई वर्षों से बृहद् द्रव्यसंग्रह की वृत्ति मे दिये हुए 'प्राश्रम नगर' की खोज मे था, मेरा यह विचार था कि आश्रम नगर का पता लग जाने पर वृत्तिकार का ठीक समय निश्चित हो सकेगा। और तभी मालवपति राजा भोज के मांडलिक शासक राजा श्रीपाल के राज्य में द्रव्य संग्रह के लघु और बृहद् रूप में, तथा संस्कृतवृत्ति के रचे जाने का निश्चय हो सकेगा। और तब वृत्तिकार के उत्थानिका मे दिए गए विवरण की महत्ता का भी मूल्यांकन हो सकेगा, और मूल ग्रंथकार के सम्बन्ध मे भी जानकारी मिल सकेगी, क्योकि उत्थानिका वाक्यों से ग्रंथकार, वृत्तिकार और सोमराज श्रेष्ठी तीनोंही सम सामयिक जान पड़ते हैं। वे उत्थानिका वाक्य इस प्रकार हैं—

'अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजाभोजदेवाभिधान कलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपाल महामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वाद विपरीत नारकादि दुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवर पुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेक नियोगाधिकारि सोमाभिधान राजश्रेष्ठिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवैः पूर्वं षड्विंशति गाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रह कृत्वा पश्चाद्विशेपतत्त्व परिज्ञानार्थं विरचितस्य द्रव्यसंग्रहस्याधिकार शुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्या वृत्तिः प्रारभ्यते।'

टीकाकार ब्रह्मदेव ने इस उत्थानिका वाक्य मे मूल ग्रन्थ के निर्माण आदि का सम्बन्ध बतलाते हुए, पहले नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव द्वारा 'सोम' नाम के राजश्रेष्ठि के निमित्त मालवदेश के आश्रम नामक नगर के मुनि सुव्रत चैत्यालय में २६ गाथात्मक[1] द्रव्यसंग्रह के लघु रूप मे रचे जाने और बाद में विशेष तत्त्व परिज्ञानार्थ उन्हीं नेमिचन्द्र के द्वारा बृहद् द्रव्यसंग्रह की रचना हुई है। उस बृहद् द्रव्यसंग्रह के अधिकारों के विभाजन पूर्वक यह वृत्ति (टीका) प्रारम्भ की जाती है। साथ मे यह भी सूचित किया है कि उस समय आश्रम नाम का यह नगर महामण्डलेश्वर (प्रान्तीय शासक) के अधिकार में था। और सोम नामका राजश्रेष्ठि भाण्डागार (कोष) आदि अनेक नियोगों का अधिकारी होने के साथ साथ तत्त्वज्ञान रूप सुधारस का पिपासु था। वृत्तिकार ने उसे 'भव्यवर पुण्डरीक' विशेषण से उल्लेखित किया है, जिससे वह उस समय के भव्य पुरुषों मे श्रेष्ठ था। आगे वृत्ति में दो स्थानों पर शकाओं का समाधान दिया गया है। उससे वह अच्छा विद्वान् जान पड़ता है।

मैंने पहले यह लिखा था कि ब्रह्मदेव का उक्त घटनानिर्देश और लेखनशैली से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि ये सब घटनाएँ उनके सामने घटी है और नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव तथा सोमश्रेष्ठि उस समय मौजूद थे। और उनके समय मे ही लघु तथा बृहद् दोनो द्रव्यसंग्रहों की रचना हुई है। ब्रह्मदेव ने वृत्ति मे दो स्थानों पर 'अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठि' वाक्यो के द्वारा तथा टीकागत प्रश्नोत्तर सम्बन्ध से उनकी और भी पुष्टि होती है। क्योंकि नामोल्लेख पूर्वक प्रश्नोत्तर बिना समक्षता के नही हो सकते।

वृत्ति मे 'आश्रम' नाम के जिस नगर के नाम का उल्लेख है वह स्थान मालव देश मे चम्बल नदी के किनारे कोटा मे ६ मील दूर और बूंदी से ३ मील दूर अवस्थित है, जो आश्रम पत्तन, पत्तन, पुटभेदन और केशोराय पत्तन के नाम से प्रसिद्ध है[1]। और परमारवशी राजाओं के

---

१. सोमच्छलेन रइया पयत्थ-लक्खण कराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरि णेमिचन्देण। २५॥
लघु द्रव्यसग्रह

१. विशेष परिचय के लिए देखें—डा० दशरथ शर्मा का आश्रम पत्तन ही केशोराम पट्टन है नामक लेख जो

राज्य-शासन में रहा है। चर्मणवती नदी कोटा और बूंदी की सीमा का विभाजन करती है। इस चम्बल नदी के किनारे बने हुए मुनि सुव्रतनाथ के चैत्यालय में, जो उस समय एक तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध था। और अनेक दूर देशों के यात्रीगण, धर्मलाभार्थ वहां पहुँचते थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, और ब्रह्मदेव वहां रहते थे। सोमराज श्रेष्ठी भी वहां आकर तत्वचर्चा का रस लेता था। वह उस समय पठन-पाठन और तत्त्वचर्चा का केन्द्र बना हुआ था, विक्रम की १३वीं शताब्दी मे उसकी खूब प्रसिद्धि रही है। उस चैत्यालय में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की श्यामवर्ण की मानव के आदमकद से कुछ ऊँची सातिशय प्रशान्त मूर्ति विराजमान है। यह मन्दिर आज भी उसी अवस्था मे मौजूद है, इसमें श्यामवर्ण की दो मूर्तियाँ और विराजमान हैं। सरकारी रिपोर्ट में इसे 'भुई देवरा' के नाम से उल्लेखित किया है। क्योंकि वह पृथ्वीतल से नीचा है, उसमें आठ स्तम्भों की खुली एक चौरी के मध्य भाग से नीचे जाने के लिए सीढ़ी है। इस मन्दिर मे मुनिसुव्रत नाथ की मूर्ति के नीचे एक लेख अंकित है, पर दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जनता ने उसे सुन्दरता की दृष्टि से टाइलो से ढक दिया है, यह कार्य समुचित नही कहा जा सकता। हमें उसे निकाल कर उस मूर्ति के महत्व से बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। उससे यह निश्चित हो सकेगा कि यह सातिशय मूर्ति कब और किसके द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। उसके इतिहास का उद्घाटन एक महत्वपूर्ण कड़ी होगी। यह मन्दिर लगभग एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। यह स्थान हिंदुओं और जैनियों का तीर्थस्थान है। १७वी शताब्दी मे केशोराय मन्दिर के बन जाने से उनकी प्रसिद्धि केशोराय पत्तन के नाम से हो गई है। यह स्थान मालवाधिपति राजा भोज के अधिकार में था और श्रीपाल नाम का राजा उनका प्रान्तीय शासक था, जो उस पर शासन करता था। और सोम नाम का राजश्रेष्ठि उसके भाण्डागार आदि अनेक नियोगों का अधिकारी था, जो जैनधर्म का परमश्रद्धालु था और तत्त्वचर्चा का प्रेमी था। वृत्तिकार का यह सब कथन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और बिल्कुल सही है।

विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान् मुनि मदनकीर्ति की शासनचतुस्त्रिंशिका के निम्न पद्य में इस तीर्थस्थानकी एक घटना का उल्लेख किया है उसमे बतलाया गया है कि जो दिव्यशिला सरिता से पहले आश्रम को प्राप्त हुई, उस पर देवगणो को धारण करने वाले विप्रो के द्वारा क्रोधवश अवरोध होने पर भी मुनिसुव्रत जिन स्वयं उस पर स्थित हुए—वहां से फिर नही हटे, और देवों द्वारा आकाश मे पूजित हुए वे मुनिसुव्रत जिन ! दिगम्बरों के शासन की जय करें।

पूर्वं याऽऽश्रममाजगाम सरिता नाथाम्बुदिव्या शिला,
तस्या देवगणान् द्विजस्य दधतस्तस्थौ जिनेशः स्वयं।
कापात् विप्रजनावरोधनकरैर्देवैः प्रपूज्याम्बरे।
दध्रे यो मुनिसुव्रतः स जयतात् दिग्वाससा शासनम् ॥२८

इससे इतना तो स्पष्ट है कि आश्रम पत्तन में कोई खास घटना घटित हुई है, इसी से वह अतिशय क्षेत्र रूप में प्रसिद्ध रहा है और कोटा-बूंदी आदि स्थानों की जैन जनता उसे तीर्थरूप में बराबर मानती और पूजती रही है। निर्वाणकाण्ड की निम्न गाथा मे उसका उल्लेख है—'अस्सारम्भे पट्टण मुणिसुव्वय जिण च वन्दामि' वाक्य में आश्रम पट्टण के मुनिसुव्रत जिन की वन्दना की गई है। मुनि उदयकीर्ति ने अपनी निर्वाण भक्ति मे—'मुणिसुव्वउ जिणुतह आसरम्भि' रूप से उल्लेख किया है और ब्रह्मदेव ने अपने स्तवन में आश्रम के मुनि सुव्रत जिन की स्तुति की है और भी जैन साहित्य के आलोडन करने से अन्य अनेक उल्लेखों का पता चल सकता है। इस सब कथन से उक्त स्थान की महत्ता का सहज ही आभास हो जाता है।

द्रव्य संग्रह के प्रस्तुतकर्ता नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक मालव देश के निवासी थे। आपने अपने अवस्थान से उक्त आश्रम पत्तन को पवित्र किया था और अनेक भव्य चातको को ज्ञानामृत का पान कराया था। मुनि नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने पहले सोमश्रेष्ठि के लिए २६ गाथात्मक पदार्थ लक्षण' रूप लघु द्रव्य सग्रह रचा, और बाद मे विशेष तत्त्व परिज्ञानार्थ ५८ गाथात्मक द्रव्यसग्रह की रचना की, जिसका

इसी किरण मे पृ० ७० पर मुद्रित है। वीरवाणी स्मारिका मे प्रकाशित दीपचन्द पाण्डया का लेख पृ० १०९।

उल्लेख वृत्तिकार ने उत्थानिका वाक्य में दिया है। मुनिसुव्रत तीर्थंकर की वह प्रभावशालिनी मूर्ति उनके तथा भव्यों के विवेक जागृत करने में निमित्त रही है। जिसके दर्शन से भव्यजन अपनी भूली आत्म-निधि को पहचानने में समर्थ हो सके हैं।

वृत्तिकार ब्रह्मदेव ने उसी आश्रम पत्तन के मुनिसुव्रत चैत्यालय में अध्यात्म रस गर्भित द्रव्यसंग्रह की उक्त महत्वपूर्ण व्याख्या की है। ब्रह्मदेव अध्यात्मरस के ज्ञाता थे, और प्राकृत संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा के विद्वान् थे। सोमनाम के राजश्रेष्ठी, जिसके लिये मूल ग्रन्थ और वृत्ति लिखी गई, अध्यात्म रस का रसिक था; क्योंकि शुद्धात्मद्रव्य की संवित्ति से उत्पन्न होने वाले सुखामृत के स्वाद से विपरीत नारकादिदु:खों से भयभीत, तथा परमात्मा की भावना से उत्पन्न होने वाले सुधारस का पियासु था और भेद अभेदरूप रत्नत्रय (व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रय) की भावना का प्रेमी था। ये तीनों ही विवेकी जन समकालीन और उस आश्रम स्थान में बैठकर तत्त्व चर्चा में रस लेने वाले थे। क्योंकि उपरोक्त घटना-क्रम धाराधिपति राजा भोज के राज्यकाल में घटित हुआ है। भोजदेव का राज्यकाल सं० १०७० से ११११० तक रहा है। अत: ब्रह्मदेव की टीका और द्रव्य संग्रह दोनों ही भोज के राज्यकाल में रचे गये हैं। अत: उनका समय भी वही होना चाहिए। अर्थात् वे विक्रम की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और विक्रम की १२वीं शताब्दी के प्रथमचरण के विद्वान् जान पड़ते हैं।

डा० विद्याधर जोहरापुर करने तो यहाँ तक कल्पना की थी कि पहले इनका नाम जयसेन होगा और बाद मे ब्रह्मदेव हो गया हो। पर यह कोरी कल्पना ही थी, जिसका निरसन 'शोध-कण' नामक लेख में किया गया है१।

डा० ए० एन उपाध्याय भी ब्रह्मदेव को जयसेन के बाद का विद्वान् बतलाते हैं१। पर ऐसा नहीं है जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा। डा० साहब ने परमात्म प्रकाश की प्रस्तावना में, लिखा है जिसका हिन्दी अनुवाद प० कैलाशचन्द जी के शब्दो मे इस प्रकार है—

"किन्तु एक बात सत्य है कि ब्रह्मदेव धारा के राजाभोज से, जिसे वे कलिकाल चक्रवर्ती बतलाते हैं बहुत बाद में हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रह्मदेव के भोज मालवा के परमार और संस्कृत विद्या के आश्रयदाता प्रसिद्ध भोज ही हैं। भोजदेव का समय ई० १०१८-१०६० है। ब्रह्मदेव का उल्लेख बतलाता है कि वे ११वीं शताब्दी से भी बहुत बाद में हुए हैं।" (हिन्दी अनुवाद पृ० १२६-७)

डा० साहब का यह निष्कर्ष ठीक मालूम नहीं होता कि वे भोजदेव से बहुत बाद हुए हैं। ऐसी हालत मे जबकि वे उसके राज्य का उल्लेख कर रहे हों तब उन्हें बहुत बाद का विद्वान् बतलाना किस तरह समुचित कहा जा सकता है। जबकि ऊपर स्पष्ट रूप से यह बतलाया जा चुका है कि मूल द्रव्यसंग्रह और उसकी वृत्ति दोनों ही राजाभोज के राजकाल मे रचे गये हैं। और जिस स्थान पर रचना हुई उसका भी स्पष्ट निर्देश ऊपर किया जा चुका है और इतिहास से भी जिसकी पुष्टि हो गई है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मदेव को भोज के बहुत बाद का विद्वान् नहीं बतलाया जा सकता, किन्तु ब्रह्मदेव को भोज के समकालीन विद्वान् कहा जा सकता है।

अब रह गई जयसेन की बात, सो जयसेन ब्रह्मदेव से पूर्ववर्ती विद्वान् नही हो सकते। वे ब्रह्मदेव के बाद के विद्वान् हैं। क्योंकि जयसेन ने पचास्तिकाय की पहली गाथा की टाका मे ग्रथ के निमित्त की व्याख्या करते हुए स्वयं उदाहरण के रूप में—'द्रव्य सग्रह वृत्ति के निमित्त-कथन की बात को अपनाया है, और लिखा है कि— **"अथ प्राभृत ग्रंथे शिवकुमार महाराजो निमित्तं अन्यत्र द्रव्य संग्रहादौसोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यं।"** इससे स्पष्ट है कि *जयसेन ब्रह्मदेव के निमित्त कथन की बात से परिचित थे। अतएव वह ब्रह्मदेव के उत्तरवर्ती विद्वान् ज्ञात होते हैं। न कि पूर्ववर्ती, हां, जयसेन की टीकाओं पर ब्रह्मदेव का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। ब्रह्मदेव ने जयसेनका कहीं उल्लेख नही किया और न उनकी टीका का। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्मदेव जयसेन के उत्तरवर्ती हैं। जब कि ब्रह्मदेव का समय भोजकालीन है, तब उसे*

१. देखो परमात्म प्रकाश प्रस्तावना अंग्रेजी पृ० ७२

बाद का कैसे बतलाया जा सकता है? वृत्तिकार के कथन के अनुसार नेमिचन्द्र की दोनों कृतियाँ (लघु और बृहत) मुद्रित हो चुकी हैं। सोमदेव पूर्ववर्ती हैं इसलिए उनकी कृति का असर ब्रह्म देव की वृत्ति पर हो सकता है। वे उनके बाद के विद्वान् हैं।

यहाँ यह बात और विचारणीय है कि प्रस्तुत द्रव्य संग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र मालवा के विद्वान् हैं, दक्षिण भारत के नहीं, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती दक्षिण के निवासी थे, गग नरेश राचमल्ल के सेनापति राजा चामुंडराय के अनुरोध से उन्होने गोम्मटसार की रचना की थी। चामुण्डराय ने अपना त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित (चामुण्ड पुराण) शक सं० ९०० में बनाकर समाप्त किया है। अतः नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का समय शक स० ९०० (वि० सं० १०३५) है। अतः उनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। और द्रव्य संग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और १२वीं का पूर्वार्ध है।

उक्त प्रमाणों के आधार पर द्रव्य सग्रह और वृत्तिकार दोनों विद्वान् भोजदेव के समकालीन हैं, उन्हीं के राज्य समय उनकी रचना हुई है। ★

वीरनन्दी और उनका चन्द्रप्रभ चरित

अमृतलाल शास्त्री

नामसाम्य

सस्कृत महाकवियों की परम्परा को जिन्होने गौरवान्वित किया है, महाकवि वीरनन्दी उन्ही मे से एक है। उनकी कृति के रूप में अभी तक केवल चद्रप्रभ चरित महाकाव्य ही उपलब्ध हुआ है। आचारसार के कर्ता भी वीरनन्दी हैं, पर वे प्रस्तुत वीरनन्दी से भिन्न है, क्योंकि वे आचार्य मेघचन्द्र के शिष्य थे। इनके अतिरिक्त एक और वीरनन्दी हुए जो आचार्य महेन्द्रकीर्ति के शिष्य रहे। अतः इन तीनो मे केवल नाम का ही साम्य है।

गुरु परम्परा

चन्द्रप्रभ चरित के अन्त मे कवि प्रशस्ति पाई जाती है,[१] उससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत वीरनन्दीके गुरु आचार्य अभयनन्दी थे। वे अपने समय के समस्त मुनियों के द्वारा मान्य थे। उन्होने जैनधर्म के विषय मे परम्परागत अवर्णवादो या मिथ्या प्रवादो को दूर किया था। उनके द्वारा जैन धर्म की बड़ी प्रभावना हुई थी। वे समुद्र की भाति गम्भीर एवं सूर्य की भाति तेजस्वी थे। वे अत्यन्त गुणी तथा मेधावी थे। वे भव्य जीवों के एकमात्र बन्धु एव उद्बोधक थे।

आचार्य अभयनन्दी के गुरु विबुध गुणनन्दी थे। वे

१. बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धु. पतिर्मुनीनां गणभृत्समान.।
सदग्रणीर्देशिगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥
गुणग्रामाम्भोधेः सुकृतवसतेर्मन्त्रमहसा-
मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि मही शासितुरिव।
म तच्छिष्यो ज्येष्ठः शिशिरकरसौम्यः समभवत्
प्रविख्यातो नाम्ना विबुधगुणनन्दीति भुवने ॥२॥
मुनिजननुतपादः प्रास्त मिथ्याप्रवादः
सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः।
अभवद् अभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ॥
स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः सतां
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्कांकुशाः ॥
शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं चारुचेतसा।
श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं चरितं कुमुदोज्ज्वलम् ॥५॥

बड़े यशस्वी थे। वे अपने गुरु के प्रधान शिष्य थे—सतीर्थ्यों में सबसे बड़े थे। उनकी प्रकृति चन्द्रमा की भांति सौम्य थी।

विबुध गुणनन्दी के गुरु का नाम गुणनन्दी था। वे भव्यजीवों के अनन्य विकासक एव मुनिसघ के नायक थे। मुनिसंघ उन्हें गणधर की तरह मानता था। वे अत्यन्त सज्जन थे। देशीयगण में वे प्रथमतः गणनीय थे। वे अत्यन्त गुणी तथा पुण्यात्मा थे। फलतः राजा की भाँति उनके लिए भी कुछ असाध्य नहीं था।

निष्कर्ष यह कि महाकवि वीरनन्दी गुरु, दादा गुरु तथा परदादा गुरु तीनों ही नन्दिसघ के अत्यधिक प्रभावशाली असाधारण विद्वान् थे। वीरनन्दी की असाधारण विद्वत्ता भी उनकी विशिष्ट गुरु परम्परा के अनुरूप थी।

विद्वत्ता

वीरनन्दी की असाधारण विद्वत्ता का एक अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वे आचार्य अभयनन्दी के शिष्य थे। वीरनन्दी ने अपने विशिष्ट बुद्धिबल से समस्त वाङ्मय को आत्मसात् कर लिया था—वे सर्वतन्त्र स्वतत्र थे। वे कुशल वक्ता एव सफल शास्त्रार्थी थे। सभ्य पुरुषो की सभाओ मे उन्ही की बात मानी जाती थी। प्रवादियो के कुतक उनके प्रबल युक्तिबल एव अतुल शास्त्रबल के सामने शिथिल पड़ जाते थे। इसी कारण उनका यश भी खूब था।

प्रभाव

अभयनन्दी के शिष्य होने के नाते वीरनन्दी और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती सतीर्थ्य रहे, फिर भी सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र उनसे प्रभावित थे। अन्यथा वे अपनी कृति—गोम्मटसार कर्मकाण्ड में उनका तीन बार१ उल्लेख न करते और न उन्हें गुरुकल्प मानते। नेमिचन्द्र सिद्धान्त शास्त्र के अधिकारी विद्वान् थे। वे मङ्गलाचरण के प्रसङ्गों में उनका बार-बार स्मरण करें, यह साधारण बात नहीं है। विशिष्ट दार्शनिक और प्रतिभाभिराम कवि वादिराज सूरि ने अपने पार्श्वनाथ चरित में नामोल्लेख पूर्वक इनकी कृति की सराहना की है२।

कवि दामोदर ने अपनी कृति चन्द्रप्रभ चरित में इन्हें 'कवीश' बतलाया है और वन्दन भी किया है३। पण्डित गोविन्द ने अपनी कृति पुरुषार्थानुशासन के प्रारम्भ में इनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिचन्द्र से भी पहले किया है और इनके काव्य को सूक्तियों तथा सद् युक्तियों से युक्त बतलाया है४। पण्डितप्रवर आशाधर ने इनके चन्द्रप्रभ चरित से एक श्लोक५ उद्धृत करके सागर धर्मामृत के न्यायोपात्त—इत्यादि श्लोक (१।११) मे दिए गये कृतज्ञता गुण पर प्रकाश डाला है।

जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता सरस्वती सुत प्रतिभामूर्ति कायस्थवंशावतंस महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के निर्माण की रूपरेखा चन्द्रप्रभ को सामने रखकर बनाई। चन्द्रप्रभ चरित और धर्मशर्माभ्युदय की मङ्गलाचरण पद्धति, पुराणो के आश्रय की सूचना, दार्शनिक चर्चा एव धर्मदेशना आदि को देख कर कोई भी सहृदय यह जान सकता है कि हरिचन्द्र ने वीरनन्दी के महाकाव्य को अथ से इति तक ध्यान से देखा था। धर्मदेशना के कतिपय श्लोकों के चरण-के-चरण मिलते हैं—

जीवा जीवास्रवा बन्धसंवरावथ निर्जरा।

---

१. जस्स य पायपसायेण णंत संसारजलहि मुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणदि गुरुं ॥४३६॥
णमिऊण अभयणंदि सुदसायरपारगिंदणदिगुरुं।
वरवीरणदिणाहं पयडीण पच्चयं वोच्छ ॥७८५॥
णमह गुणरयणभूसण सिद्धन्तामियमहद्धिभवभावं।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥८९६॥

२. चन्द्रप्रभाभिसबद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥१,३०॥

३. चन्द्रप्रभजिनेशस्य चरित येन वर्णितम्।
त वीरनन्दिन वन्दे कवीश ज्ञानलब्धये ॥ १।१६

४. श्रीवीरनन्दिदेवो धनञ्जयासगो हरिश्चन्द्रः।
व्यधुरित्याद्याः कवयः काव्यानि सदुक्ति युक्तीनि ॥२२
(ये दोनों पद्य 'जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह' के क्रमशः पृष्ठ ७० व १२७ से उद्धृत)

५. विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्।
४।३८

मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्ततत्त्वानि शासने ।।
च० च० १८।२

जीवा जीवास्रवा बन्धसंवरावपि निर्जरा ।
मोक्षश्चेति तत्त्वानि सप्तस्युर्जिनशासने ।।
ध० श० २१।८

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान पुद्गलः स्मृतः ।
अणुस्कन्धप्रभेदेन द्विस्वभावतया स्थितः ।।
च० च० १८।७८

रूपगन्धरसस्पर्शं शब्दवन्तश्च पुद्गलाः ।
द्विधास्कन्धाणुभेदेन त्रैलोक्यारम्भहेतवः ।।
ध० श० २१।६०

यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ।।
च० च० १८।८८

कषायोदयतस्तीव्रपरिणामो मनस्विनाम् ।
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः कारणं परम् ।।
ध० श० २१।६६

इतना साम्य अकस्मात् नहीं हो सकता। यदि अनुक्रम तथा भाव की समानता पर ध्यान दिया जाय तो दोनों की लगभग आधी दिव्यदेशना एक ही जैसी सिद्ध होगी। धर्मशर्माभ्युदय की दिव्यदेशना का जितना अंश चन्द्रप्रभचरित की दिव्यदेशना से अधिक है वह अन्य ग्रन्थों से—जिनमें तत्त्वार्थसूत्र व हेमचन्द्र का योगशास्त्र भी सम्मिलित हैं—प्रभावित है। इसका एक कारण यह भी संभव है कि हरिचन्द्र कायस्थ थे। वे उच्चकोटि के कवि थे। कवित्व की चमत्कृति की दृष्टि से उनका आसन न केवल जैन, वरन् जैनेतर महाकवियों से भी ऊँचा है, पर वे वीरनन्दी जैसे सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ नही थे।

आचार्य गुणभद्र का उत्तर पुराण प्रस्तुत दोनों महाकवियों के सामने रहा, यह सुनिश्चित है। इस पुराण में चन्द्रप्रभ का चरित २७६ श्लोकों में[1] समाप्त हुआ है। इनमें से कुछ (२६२-२६६) श्लोकों में[1] दार्शनिक चर्चा भी है। ऐसी स्थिति में वीरनन्दी की अपनी कृति में दार्शनिक प्रसंग लाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था। इसी पुराण में धर्मनाथ का चरित केवल ५४ श्लोकों में पूरा किया गया है। उनमें कहीं तनिक भी दार्शनिक पुट नहीं है। फिर भी हरिचन्द्र ने अपने महाकाव्य को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए चतुर्थ सर्ग में—जो अन्य सर्गों से अत्यधिक सुन्दर है—चार्वाकदर्शन की मीमांसा की है। निश्चय ही इस दार्शनिक प्रसंग का प्रेरक चन्द्रप्रभचरित के द्वितीय सर्ग का दार्शनिक प्रसंग रहा है जो ५६ (४४-१०६) श्लोकों में फैला हुआ है। इस प्रसंग में तत्त्वोपप्लव आदि अन्य दर्शनों की विस्तृत समालोचना की गई है।

अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि हरिचन्द्र भी वीरनन्दी से प्रभावित हुए हैं।

बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रारम्भ मे भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है—'भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते'। कुछ विद्वान् इन्हें और धर्मशर्माभ्युदय के प्रणेता हरिचन्द्र को एक समझते हैं जो भ्रममूलक है। धर्मशर्माभ्युदय के लेखक का अभी तक कोई गद्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ और न उनकी 'भट्टार' उपाधि ही थी। धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में दी गई प्रशस्ति में उन्होंने अपने को रसध्वनि के मार्ग का सार्थवाह लिखा है—'रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः'। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं। वे नवमी शताब्दी में हुए हैं। अतः हरिचन्द्र न बाण के पूर्ववर्ती हैं और न आनन्दवर्धन के। हरिचन्द्र ने जीवन्धर चम्पू की रचना की है। चम्पू काव्य का आविष्कार दसवी शती में हुआ है, अतः हरिचन्द्र इसके बाद में हुए।

---

१. नास्तिकाः पापिनः केचिद् दैष्टिकाश्च हतोद्यमाः ।
त्वदीयास्त्वास्तिका धर्म्याः परत्र विहितोद्यमाः ।।२६२।।
सर्वत्र सर्वदा सर्वं सर्वैस्त्वं सार्वसर्ववित् ।
प्रकाशयति नैवेन्दु र्भानुर्वान्येषु का कथा ।।२६३।।
न स्थिरं क्षणिकं ज्ञानमत्र शून्यमनीक्षणात् ।
वस्तु प्रतिक्षणं तत्त्वान्यत्वरूपं तवेक्षणात् ।।२६४।।
अस्त्यात्मा बोधसद्भावात् परजन्मास्ति तत्स्मृतेः ।
सर्वविच्चास्ति धीवृद्धेस्त्वदुपज्ञमिदं त्रयम् ।।२६५।।
द्रव्याद् द्रव्यस्य वा भेदं गुणस्याप्यवदद्विधीः ।
गुणैः परिणतिं द्रव्यस्यावादीस्त्वं यथार्थदृक् ।।२६६।।
उ० पु० पर्व ५४

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के अन्तिम सर्ग में प्रसंग पाकर मिथ्यात्व का लक्षण किया है—

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरावपि ।
अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिश्च तन्मिथ्यात्वं विलक्षणम् ॥१३१॥

इसी का लक्षण हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में यों लिखा है—

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥२।३॥

इसी तरह योगशास्त्र और धर्मशर्माभ्युदय के खर-कर्म सम्बन्धी श्लोक भी मिलते-जुलते है। अतएव हरिचन्द्र को हेमचन्द्र का अव्यवहित उत्तरवर्ती मानना होगा जो १२वीं शती मे हुए हैं। फलतः ये वीरनन्दी से प्रभावित हुए हैं – यह मानने में कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नही होती।

समय

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने जिस गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे वीरनन्दी का उल्लेख किया है उसकी रचना चामुण्डराय की—जो गगवशीय राजा रायमल्ल के प्रधान मन्त्री व सेनापति थे—प्ररणा से की गई थी। उन्होंने चैत्र शुक्ला-पञ्चमी रविवार २२ मार्च सन् १०२८ मे श्रवण-बेल्गोला मे गोम्मट स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। अतः वीरनन्दी का भी वही समय सिद्ध होता है।

कृति

महाकवि वीरनन्दी की एकमात्र कृति चन्द्रप्रभचरित है। इसकी भाषा सस्कृत है। इसके अठारहो सर्गों के कुल श्लोको की सख्या १६९१ है। प्रशस्ति के ६ श्लोक अलग हैं। सभी सर्गों के अन्तिम श्लोकों मे 'उदय' शब्द आया है, अतः यह उदयाङ्क काव्य कहलाता है। चन्द्रप्रभ के साथ 'उदय' का मेल भी ठीक बैठता है।

कथा वस्तु

प्रस्तुत महाकाव्य में अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का चरित वर्णित है। इसीलिए इसका नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' रखा गया। इसके प्रारम्भ के १५ सर्गों में चन्द्रप्रभ के पिछले ६ भवों (जन्मान्तरो) का और अन्त के ३ मे वर्तमान भव का शिक्षाप्रद जीवनवृत्त दिया गया है। वर्तमान भव के केवल गर्भकल्याणक का १६वें, जन्म, तप तथा ज्ञान—इन तीन कल्याणकों का १७वें तथा मोक्ष कल्याणक का वर्णन अन्तिम १८वें सर्ग में प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रप्रभ की दिव्यदेशना इसी सर्ग में दी गई है। महाकाव्योचित अन्यान्य विषयों का आलङ्कारिक वर्णन प्रसङ्गानुसार यथा स्थान किया गया है।

आधार

चन्द्रप्रभचरित की कथावस्तु का मुख्य आधार आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण है, जिसके ५४वें पर्व में चन्द्रप्रभ के कुल मिलाकर सात भवों का वर्णन है। पर्व के अन्त में केवल एक ही अनुष्टुप् में क्रमशः सातों भवों के नाम भी बड़ी कुशलता से दिये गये हैं—

श्रीवर्मा१ श्रीधरो देवो२ ऽजितसेनो३ ऽच्युताधिपः४ ।
पद्मनाभो५ ऽहमिन्द्रो६ ऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभ.७ प्रभुः ॥

वीरनन्दी ने उत्तरपुराण के क्रम के अनुसार चन्द्रप्रभचरित में चन्द्रप्रभ का जीवनचरित लिखा है और अन्त मे एक शार्दूल विक्रीड़ित मे क्रम से सातों भवों का उल्लेख किया है—

य. श्रीवर्मनृपो बभूव विबुध. सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेन चक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः ।
पश्चाजायत पद्मनाभनृपति र्यो वैजयन्तेश्वरो ।
यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥६॥

उत्तरपुराण के उक्त श्लोक ने न केवल वीरनन्दी को, बल्कि प्रण्डितप्रवर आशाधर१ और दामनन्दी को२ भी प्रभावित किया है।

वीरनन्दी के समक्ष उत्तरपुराण के साथ जिनसेन का हरिवंश पुराण भी रहा है, क्योंकि चन्द्रप्रभचरित की

---

१. श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः ।
पद्मनाभोऽहमिन्द्रो ऽभूद्योऽव्याच्चन्द्रप्रभः स नः ॥१०॥
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र

२. श्रीवर्मा श्रीधरः स्वर्गेऽजितसेनऽच्युतः सुरः ।
पद्मनाभोऽहमिन्द्रो यस्तं वन्देऽहं शशिप्रभम् ॥८३॥
पुराणसार सग्रह

कुछ बातों का साम्य उत्तरपुराण से है तो कुछ का हरिवंश से।

प्रस्तुत महाकाव्य में चन्द्रप्रभ के पांच कल्याणकों में से केवल जन्म और मोक्ष—इन दो की तिथियां दी गई हैं। जन्म कल्याणक की मिति-पौष कृष्णा एकादशी दी गई है जो दोनों पुराणों के अनुरूप है, पर मोक्ष कल्याणक की मिति भाद्रपद शुक्ला सप्तमी दी गई है जो केवल हरिवंश के ही अनुकूल है। उत्तरपुराण मे फाल्गुन शुक्ला सप्तमी दी गई है। चन्द्रप्रभ के समवसरण में विक्रिया ऋद्धि धारियों की संख्या चौदह हजार बतलाई गई है। यह उत्तरपुराण के अनुरूप है। हरिवंश मे दस हजार चार सौ लिखी है। इत्यादि अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो यह कहते हैं कि वीरनन्दी ने उत्तरपुराण के साथ हरिवंश आदि अनेक पुराण ग्रंथों का आश्रय लेकर अपने महाकाव्य की रचना की। लगता है इसीलिए वीरनन्दी ने किसी पुराण विशेष का नाम न लेकर 'पुराण सागरे'[१] यह पुराण सामान्य का उल्लेख करना उचित समझा।

विशेषता

जिसमें मानवोचित हित निहित हो वह शास्त्र कहलाता है। काव्य के साथ भी शास्त्र शब्द (काव्य शास्त्र) का प्रयोग होता है। इसका प्रधान लक्ष्य है कठिनतम विषयों का सार लेकर सरलतम सरस शब्दों में मानवमात्र को उसके हित की शिक्षा देना। इसी दृष्टि से वीरनन्दी ने प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमें चन्द्रप्रभ के पिछले ६ भवों का व १ वर्तमान भव का वर्णन किया है। इससे पाठक की दृष्टि के सामने चन्द्रप्रभ के उत्तरोत्तर बढ़ते उत्कर्ष का चित्र आ जाता है, जो वह प्रेरणा देता है कि जो भी अपना उत्कर्ष चाहें चन्द्रप्रभ जैसे मार्ग को अपनाये। काव्यकार को चारों पुरुषार्थों की शिक्षा देनी चाहिए जैसाकि अलङ्कार शास्त्र का निर्देश है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मोक्ष पुरुषार्थ की भी शिक्षा दी गई है और अन्तिम सर्ग मे मानव के लिए आचार संहिता भी दे दी गई है। काव्य की आत्मा रस है। प्रस्तुत काव्य में शान्तरस की धारा प्रवाहित है। जैनेतर काव्यों में जिसे नायक बनाया जाता है उसके जन्म-जन्मान्तरों का वर्णन नही रहता, बहुत हुआ तो उसकी कुछ पीढियों का वर्णन कर दिया जाता है। कुछ ऐसे भी काव्य है जिनमें शृङ्गाररस की बाढ मे उनकी अन्यान्य अच्छी शिक्षाएँ घास-फूस की झोंपडियाँ बनकर बह गईं। यों चन्द्रप्रभचरित में भी शृङ्गाररस है, पर वह अङ्गी नहीं. अङ्ग (गौण) है। इत्यादि विशेषताओं की दृष्टि से वीरनन्दी अपने काव्य के निर्माण मे अधिक सफल हुए है। इनका चन्द्रप्रभ-चरित उच्चकोटि का काव्य है। यह रघुवंशजैसा सरल है। इति ★

१. तथापि तस्मिन् गुरुसेतुवाहिते
सुदुष्प्रवेशेऽपि पुराणसागरे।
यथात्मशक्ति प्रयतोऽस्मि पोतक.
पथीव यूथाधिपतिप्रवर्तिते ॥ च० च०१।१०॥

पर पदार्थ हमें इसके लिए बाध्य नहीं करते कि हममें निजत्व की कल्पना करो, किन्तु हम स्वयं अपने राग-द्वेष के आवेश में आकर उनमें निजत्व और परत्व की कल्पना करते हैं। वह भी नियमित रूप से नहीं। देखा यह गया है कि जिसे निज मान रहे हैं, वही जहां हमारे अभिप्राय के विरुद्ध हुआ, हम उसे पर जान त्याग करने की इच्छा करते हैं और जो पर है यदि वह हमारे अनुकूल हो गया तो शीघ्र ही उसे ग्रहण करने की इच्छा करते हैं।

अभ्यन्तर मोह की परिणति इतनी प्रबल है कि इसके प्रभाव में आकर जरा भी रागांश को त्यागना कठिन है। अधिक से अधिक त्याग के बल बाह्य रूपादि विषयों का प्रत्येक मनुष्य कर सकता है किन्तु आन्तरिक करना अति कठिन है।

वर्णी-वाणी

राजस्थान का जैन पुरातत्व

डा० कैलाशचन्द्र जैन

राजस्थान में जैनधर्म का अस्तित्व प्राचीनकाल से है। वहाँ प्राय: दो संस्कृतियों का अस्तित्व पुरातन समय से रहा है। पुरातन अवशेष भी आठवीं शताब्दी तक के उपलब्ध होते हैं। राजपूत राजाओं के राज्यकाल मे जैन धर्म खूब ही पल्लवित और विकसित हुआ है। राजपूत राजाओं ने जैनधर्म के विकास में कोई रुकावट नही डाली प्रत्युत उदारतावश सहयोगही दिया है। चौहानवशी राजाओ ने तो जैन मन्दिरो को दान भी दिया है। जैनियों ने भी राजपूत राजाओं के अनुकूल रहकर राज्य की सेवाएँ की है, और अनेक तरह से उसे सम्पन्न बनाने मे सहयोग दिया है। वे सेवा-कार्य से कभी पीछे नही हटे है। जयपुर आदि राज्यों का संरक्षण और सवर्द्धन भी किया है। इतना ही नहीं किन्तु उन राज्यों के दीवान, कोषाध्यक्ष आदि उच्च पदों पर रह कर राज्य की अभिवृद्धि,स भाल, प्रतिष्ठा को बढाने तथा सरक्षण में सदा सावधान रहे हैं। राजस्थान में जैन संस्कृति के प्राण जैन मन्दिर, मूर्तियाँ और शास्त्र-भण्डार विपुल मात्रा में देखने को मिलते हैं। जैसे गुजरात में चौलुक्यवंशी कुमारपाल आदि के समय जैनधर्म की पताका फहराती रही, उसी तरह राजपूताने में भी जैनधर्म का अभ्युदय रहा है। अनेक मन्दिर निर्माण मूर्ति-प्रतिष्ठा, ग्रन्थनिर्माण और महोत्सवादि विविध कार्य सोत्साह सम्पन्न होते रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब दक्षिण देश मे धार्मिक विद्वेष के कारण जैनधर्म और संस्कृति पर अत्याचार होने लगे और जैनियों को बलात् शैवधर्म में दीक्षित किया जाने लगा, तथा बिना किसी अपराध के साधुओं को मारने तथा धर्म परिवर्तन की अनेक घटनाएँ घटने लगीं। तब वहाँ से भी कुछ जैन लोग गुजरात, राजस्थान और मालवा में आकर बसे और वहाँ उन्होंने अपने धर्म की रक्षा की।

राजस्थान में मेवाड़ और मालवा में अनेक मुनियों, भट्टारकों ने विहार किया और अपने धर्मोपदेश द्वारा राजाओं को प्रभावित किया और जैनधर्म और संस्कृति का संरक्षण किया। अनेक विद्वान ऋषियों, भट्टारकों, विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी और गुजराती भाषा में विपुल साहित्य रचा। उसमें से वर्तमान में जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसका भी अभी पूर्णरूप से मूल्यांकन नहीं हो सका है फिर भी उसकी महत्ता स्पष्ट है। राजस्थान में उपलब्ध मूर्तियाँ, मन्दिर और शिलालेख, ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ, जिनमें संघ, गणगच्छादि के उल्लेख निहित हैं। उनसे इतिहास के लिए बड़ी जानकारी मिलती है। आज इस लेख द्वारा राजस्थान के जैन पुरातत्व पर विचार किया जाता है—

कुछ बाद के शिलालेखों से तो ऐसा पता चलता है कि जैनधर्म राजस्थानमें बहुत प्राचीन समय में भी विद्यमान था किन्तु उन पर सहसा विश्वास नही किया जा सकता भीनवाल के वि० सं० १३३३ के शिलालेख[१] से पता चलता है कि महावीर स्वामी स्वय श्रीमाल नगर पधारे थे। मुगस्थल के वि० सं० १४२६ के शिलालेख[२] में यह उल्लेख है कि महावीर स्वामी स्वय अर्बुदभूमि पधारे तथा महावीर स्वामी के जीवन के ३७वें वर्ष में केशी श्रमण ने यहाँ पर एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की। सत्तरहवीं शताब्दी के कवि सुन्दर गणि[३] के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने घंघाणी के जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा की किन्तु यह मन्दिर वास्तव में बारहवीं सदी का है। कर्नल टाड[४] के अनुसार कुंभलमेर का एक मन्दिर राना सप्रति के द्वारा

१. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियोलोजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल, १६०७, पृ० ३५।
२. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह, ४८।
३. भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, पृ० २७३।
४. अनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ राजस्थान, जिल्द २, पृ० ७७६-८०।

बनवाया गया था किन्तु वास्तव में यह मन्दिर कला की दृष्टि से बारहवीं सदी का है तथा अपूर्ण दशा में छोड़ दिया गया है। नन्दलाई के एक शिलालेख५ के अनुसार वि० सं० १६८६ में उस स्थान के सघ ने राजा सम्प्रति द्वारा बनाये हुए मन्दिर का पुनः निर्माण किया।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा बडली के शिलालेख को जैन शिलालेख मानते हैं और उनके अनुसार यह वीर निर्वाण संवत ८४ का है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईसा से पाँचवी सदी पूर्व में भी यहाँ पर जैनधर्म प्रचलित था। इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार७ के अनुसार यह जैन शिलालेख नहीं है तथा यह ईसा से दूसरी शताब्दी का है। डा० सरकार का मत अधिक प्रमाणित लगता है। इसमें संदेह नहीं कि चित्तौड़ के आसपास मध्यमिका (नगरी) नामक स्थान पर ईसा की दूसरी सदी पूर्व जैनधर्म विद्यमान था। मथुरा में कुषाणकाल के जैन श्रमण संघ की मध्यमिका शाखा के शिलालेख८ मिले हैं। माध्यमिका शाखा की स्थापना सुहस्थि के शिष्य प्रियग्रथ ने दूसरी शताब्दी पूर्व में की थी९। नगरी मे दूसरी व तीसरी शताब्दी पूर्व का शिलालेख भी मिला है जिसका अर्थ है 'सर्वभूतों के निमित्त'१०। सम्भव है यह जैनधर्म से सम्बन्धित शिलालेख हो तथा जैनधम के प्रचलित होने को सिद्ध करता है।

गुप्तकाल के कुछ बाद के जैन अवशेष बूंदी के समीप केशोराय पाटण मे मिले हैं। इनमे जैन कल्पवृक्ष पट्ट तथा जैन मूर्तियाँ उल्लेखनीय है। जैनसाहित्य मे इसका उल्लेख मध्यकालीन साहित्य मे 'आश्रम नगर' के रूप मे हुआ है११। बसन्तगढ़ के जैन मन्दिर में एक प्रतिमा वि० स० ७४४ की भी है१२।

राजपूतों के काल में जैनधर्म की बहुत उन्नति हुई। ब्राह्मणधम के अनुयायी होते हुए भी उन्होंने जैनधर्म के प्रति भी बड़ा उदार दृष्ठिकोण रखा। प्रतिहार राजा वत्सराज के समय (७८३) का बना हुआ ओसिया में महावीर स्वामी का मन्दिर है१३। कक्कुड़ मंडोर का प्रतिहार राजा था। वह संस्कृत का विद्वान् तथा जैनधर्म का संरक्षक था। घटियाला के शिलालेख से पता चलता है कि उसने ८७१ ई० में एक जैनमन्दिर बनवाया। अलवरके समीप अजबगढ़१५, नौगामा१६ तथा नीलकंठ१७ (राडमार) में ग्यारहवी व बारहवी सदी की जैन प्रतिमाएँ सिद्ध करती है कि जब यहाँ गूर्जर प्रतिहारो का प्रभुत्व था तो शैवधर्म के साथ साथ जैनधर्म का भी प्रभाव था।

चौहान राजाओं ने भी जैनधर्म को प्रोत्साहन दिया। बिजोलिया का १२२६ का शिलालेख१८ इस सबन्ध मे महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। पृथ्वीराज प्रथम ने वहाँ के पार्श्वनाथ के मन्दिर के खर्चे के लिए मोरकुरी नाम का ग्राम दान में दिया। इसके पश्चात् सोमेश्वर ने स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से उपयुक्त मन्दिर को रेवा गाँव दान दिया। नाडोल तथा जालोर के चौहान राजाओं के समय भी जैनधर्म का प्रचार हुआ। अश्वराज, आल्हणदेव आदि राजाओं के शिलालेखों१९ से पता चलता है कि उन्होंने जैन मन्दिरों को भूमि, अनाज, धन आदि दान में दिये। उनके समय में अनेक जैन मन्दिरों तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। जालोर के समरसिंह के राज्य में यशो-

५. नाहर जैन लेख संग्रह, संख्या ८५६।
६. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० २–३
७. जनरल आफ़ बिहार रिसर्च सोसाइटी, जिल्द १६ पृ० ६७–६८
८. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २, पृ० २०५
९. सेक्रिड बुक्स आफ दी ईस्ट, २२, पृ० २९३
१०. उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ५४
११. वीरवाणी स्मारिका, पृ० १०९
१२. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैनलेख संदोह, सं० ३६५
१३. आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया एनुवल रिपोर्ट, १९०८–९, पृ० १०८
१४. जर्नल आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी, १८९५, पृ० ५१६
१५. एनुवल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९१८–१९, सं० ४, ९ और १०
१६. वही, सं० ३ और ४।
१७. आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द २० पृ० १२४
१८. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २६, पृ० १०१
१९. वही, जिल्द ९ व ११

वीर नाम के एक धनी ने एक मंडप तैयार करवाया। इसी राजा के आदेश से यशोवीर ने कुमारपाल द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ के मन्दिर का पुनरोद्धार करवाया२०। चाचिगदेव के राज्य में तेलिया ओसवाल ने महावीर के मन्दिर को ५०) द्रम दान में दिए२१।

आबू के परमार राजाओं के समय भी जैनधर्म ने कम उन्नति नहीं की। विमलवसही तथा लूणवसही जैसे कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा अनेक भव्य मूर्तियों की उनमें स्थापना हुई। दियाण ग्राम के वि० सं० १०२४ के शिलालेख से पता चलता है कि वर्द्धमान ने कृष्णराज के समय वीरनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा२२ की। झाडोली के अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमार राजा धारावर्ष की पत्नी शृङ्गारदेवी ने ११९७ ई० में यहाँ के मन्दिर को भूमि दान में दी२३। १२८८ में महाराजा वीसलदेव और सारगदेव के समय दत्ताणी के ठाकुर श्री प्रताप और श्री हेमदेव नाम के परमार ठाकुरों ने पार्श्वनाथ के मदिर को दो खेत दान में दिये२४। सूवड़सिंह ने इसी मन्दिर को धार्मिक उत्सव मनाने के लिए ४०० द्रम दान में दिये। दियाणा ग्राम के अन्य शिलालेख से ज्ञात होता है कि तेजपाल और उसके मत्री कूपा ने एक होज बनवाकर महावीर के मन्दिर को दान दिया२५।

हठुण्डी के राष्ट्रकूट वंश के राजा जो दसवी सदी में शासन करते थे, जैनधर्म के अनुयायी थे२६। वासुदेवाचार्य के उपदेश से विदग्धराज ने ऋषभदेव का मन्दिर बनवाया और भूमिदान में दी। उसके लड़के मम्मट ने भी इस मन्दिर को कुछ दान दिया। इसके पश्चात् इसके पुत्र धवल ने इसको सुधरवाया और जैनधर्म के यश को फैलाने का हर प्रकार से प्रयत्न किया।

दसवीं व ग्यारहवीं सदी में सूरसेनों के समय में भरतपुर के आसपास प्रदेश पर जैनधर्म का बड़ा प्रभाव रहा। बयाना, नरोली२७ आदि स्थानों पर इस समय की अनेक जैन मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ सूरसेन राजाओं ने तो जैनधर्म को स्वीकार भी कर लिया था। १०४३ ई० के बयाना के शिलालेख२८ में काम्यक गच्छ के जैन साधुओं के नामों का उल्लेख है।

मध्य कालीन युग में राजस्थान अनेक छोटे-छोटे रजवाड़ों में विभाजित हो गया था। राजाओं ने उसी उदार नीति का अनुसरण किया जिसके परिणाम स्वरूप अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। राजा लोग जैन साधुओं का बड़ा सम्मान रखते थे।

मेवाड़ के महाराणाओं की प्रेरणा से भी जैनधर्म को बहुत बल मिला कुछ राजाओं ने तो जैन मन्दिरों का निर्माण किया तथा उनमें मूर्तियों की स्थापना की। जैनाचार्यों को आमन्त्रित करके उन्होंने उनका उच्च सम्मान किया तथा उनके उपदेश से प्रभावित होकर पशु हिंसा बन्द करवादी। राजा अल्लट के मन्त्री ने आघाट में जैन मंदिर बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की२९। कोजरा के शिलालेख से पता चलता है कि राणा रायसी की स्त्री शृङ्गार देवी ने ११६७ ई० में पार्श्वनाथ के मन्दिर का स्तम्भ बनाया। महाराणा समरसिंह और उनकी माता जयतल देवी देवेन्द्रसूरि के उपदेश से बहुत प्रभावित हुए। जयतल देवी ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया और समरसिंह ने इसको भूमिदान में दी३०। उसने अपने राज्य में हिंसा कम करने का भी प्रयत्न किया। महाराणा मोकल के खजाची ने १४२८ ई० में महावीर का मन्दिर बनवाया। मोकल के पुत्र महाराणा कुम्भकरण के समय तो जैनधर्म का अधिक प्रचार हुआ।

---

२०. वही जिल्द ११, पृ० ४६-४७
२१. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियोलाजिकल सर्वेवेस्टर्न सर्किल १९०८-०९, पृ० ५५
२२. अर्बुदाचल प्राचीन जैन लेख संदोह, सं० ५५
२३. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख सदोह, सं० ४८६
२४ वही, ५५
२५. वही, ४९०
२६. नाहर जैन लेख संग्रह ८९८।
२७. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियोलाजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल, १९२०-२१, पृ० ११६
२८. इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द २१, पृ० ५७
२९. जैनिज्म इन राजस्थान, पृ० २९।
३०. एनुवल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, १९२२-२३, सं० ८।

उसके समय में अनेक मन्दिर बने तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। महाराणा जगतसिंह और महाराणा राजसिंह ने भी जैनधर्म को बहुत प्रेरणा दी। उन्होंने साल के कुछ दिनों राज्य में जीवहिंसा पर रोक लगा दी।

डूंगरपुर, बांसवाडा और प्रतापगढ़ राज्यों का क्षेत्र प्राचीन समय में बागडदेश के नाम से प्रसिद्ध था। दसवीं शताब्दी में भी इस क्षेत्र में जैनधम प्रचलित था क्योंकि दसवीं शताब्दी के शिलालेख में 'जयति श्री वागड़ सघ' का उल्लेख आया है। राजाओं के मन्त्रियों ने मन्दिर बनवाये तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। डूगरपुर का प्राचीन नाम गिरिवर था। जयानन्द की प्रवास गीतिकात्रय३१ से पता चलता है कि १३७० ई० मे यहा पर पाँच जैन मन्दिर तथा ५०० जैनघर थे। १४०४ ई० मे रावल प्रतापसिंह के मन्त्री प्रह्लाद ने जैन मन्दिर बनवाया। गजपाल के राज्य में भी जैनधर्म फलता फूलता रहा। उसके मन्त्री आभा ने अंतरी में एक शान्तिनाथ का जैनमन्दिर बनाया३२। सोमदास के मन्त्री साला ने पीतल की भारी वजन की मूर्तियां डूगरपुर मे तैयार करवा करके उनकी प्रतिष्ठा आबू के जैनमन्दिरों में करवाई३३। उसने गिरिवर के पार्श्वनाथ के मन्दिर का भी पुनरोद्धार करवाया। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी की अनेक जैन मूर्तियां प्रतापगढ़ राज्य में मिलती हैं। देवली के १७१५ ई० के शिलालेख३४ से ज्ञात होता है कि इस गांव के तेलियों ने भी महाराज पृथ्वीसिंह के राज्य मे सौरया और जीवराज नाम के महाजनों की प्रार्थना से साल में ४४ दिन के लिए अपने कार्य को बन्द करने का निश्चय किया। इसी राजा के समय में मल्लिनाथ के मन्दिर का निर्माण हुआ।

कोटा डिवीजन में भी जैनधर्म के प्राचीन अवशेषों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। पद्मनन्दि की जम्बूद्वीपपण्णत्ति३५ के अनुसार बारा में अनेक श्रावक तथा जैनमन्दिर थे। यहां का राजा शक्ति था जो मेवाड़ का शक्ति कुमार (९७७ ई०) हो सकता है। रामगढ़ में जिसका प्राचीन नाम श्रीनगर था, जैन साधुओं के ठहरने के लिए नवीं व दसवीं सदी की जैन गुफाएँ हैं। अटरु मे बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के दो कलापूर्ण जैनमन्दिर हैं। अटरु के पास कृष्णविलास नामक स्थान है जहा पर आठवीं से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक के बने हुए जैन मन्दिर हैं। शेरगढ़ का प्राचीन नाम कोशवर्धन था। यहाँ पर नवनिर्मित चैत्य में वीरसेन के समय मे जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ का महोत्सव मनाया गया। ११३४ ई० मे देवपालने रत्नत्रय की स्थापना की और उसकी प्रतिष्ठा धूमधाम से की३६। १६८९ ई० में चांदखेड़ी में किशोरसिंह के राज्य काल मे कृष्णदास नाम के एक धनी बनिये ने महावीर का जैन मन्दिर बनवाया और सैकड़ो मूर्तियो की प्रतिष्ठा की।

सिरोही राज्य में भी जैनधर्म का अच्छा प्रचार हुआ। कालन्द्री के वि० सं० १३३२ के शिलालेख से पता चलता है कि यहाँ के श्रमण संघ के कुछ सदस्यों ने समाधिमरण के द्वारा मृत्यु प्राप्त की३८। यहाँ के राजाओ के राज्य मे जैनधर्म बहुत फैला। सहज, दुर्जनशाल, उदयसिंह आदि राजाओं के समय मे मन्दिरों तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई।

जैसलमेर के भाटी राजपूत राजाओ के राज्य में भी जैनधर्म का अधिक प्रचार हुआ। दसवीं शताब्दी मे यहाँ के राजा सागर के जिनेश्वर सूरि की कृपा से श्रीधर और राजधर नामक दो पुत्र हुए जिन्होने पार्श्वनाथ के मन्दिर को बनवाया३९। इस मन्दिर का पुनः निर्माण १६१८ ई० में सेठ थाहरुशाह ने किया४०।

३१. श्री महारावल जयन्ती अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ३९७
३२. एनुवल रिपोर्ट राजपूताना म्युजियम, अजमेर, १९१५–१६
३३. वही, १९२९–३०, न० ३
३४. वही, १९३४–३५, नं० १७
३५. पुरातन जैनवाक्य सूची, पृ० ६७
३६. एपि ग्राफिया इंडिका, पृ० ८४
३७. जैनिज्म इन राजस्थान, पृ० ३६
३८. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियोलोजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल, १९१६–१७, पृ० ६७
३९. नाहर जैन लेख संग्रह, नं० २५४३
४०. वही, नं० २५४४

लोद्रवा के नष्ट हो जाने पर जैसलमेर को राजधानी बनाई गई। लक्ष्मणसिंह के राज्य में १४१६ ई० मे चिंतामणि पार्श्वनाथ का मन्दिर बना और मन्दिर बनने के पश्चात् इसका नाम राजा के नाम पर लक्ष्मणविलास रखा गया। लक्ष्मणसिंह के पश्चात् उसका पुत्र वैरीसिंह राजा बना जिसके समय में संभवनाथ का मन्दिर बना। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा तथा अन्य उत्सवो मे राजा ने स्वय भाग लिया। उसके बाद चाचिगदेव, देवकरण तथा अन्य राजाओं के समय में भी मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा उनमे अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। पादुकायें भी पूजने के लिए बनाई गई४१। बड़े बड़े ग्रन्थ-भण्डार सस्कृति की रक्षा करने के लिए स्थापित किये गये।

जोधपुर और बीकानेर राज्यों में राठोड़ों के समय में जैनधर्म का उत्थान हुआ। नगर मे जिसका प्राचीन नाम वीरमपुर था, जैनधर्म का पन्द्रहवी व सोलहवी शताब्दी में अच्छा प्रभाव रहा। राउल राऊड़, कुषकरण और मेघविजय के समय जैन मन्दिरों के कुछ हिस्सों को सुधरवाया गया। १६१२ ई० मे सूर्यसिंह के राज्य मे वस्तुपाल ने पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। १६२६ ई० मे जयमल ने गजसिंह के समय जालोर के आदिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के मन्दिरो मे मूर्तियों की स्थापना की। इसी राजा के राज्य मे १६२९ ई० मे पाली तथा मेड़ता मे भी प्रतिष्ठा हुई। १७३७ ई० मे मारोठ में महाराजा अभयसिंह के राज्य में प्रतिष्टा महोत्सव मनाया गया। यहाँ के दीवान रामसिंह ने साहो का मन्दिर बनाया तथा उसमे अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की।

बीकानेर के शासक बीका जी और उसके उत्तराधिकारी जैनधर्म और जैन साधुओं के प्रति श्रद्धा रखते थे। उनके समय में भाडासर, चिन्तामणि और नेमिनाथ के मन्दिर बीकानेर में बने। कर्मचन्द्र की प्रार्थना पर महाराजा रामसिंह ने तुरासान से लूटी हुई सिरोही की १०५० जैन मूर्तियाँ अकबर से प्राप्त करके नष्ट होने से बचाई।

जयपुर राज्य के कच्छावा राजों की सरक्षता में भी जैनधर्म ने अधिक उन्नति की। यहाँ करीब ५० जैन दीवान हुए जिनकी प्रेरणा से अनेक ग्रथो की प्रतियाँ लिखी गई, मूर्तियो की प्रतिष्ठा हुई तथा नवीन मन्दिर बनाये गये। इस राज्य के छोटे छोटे ठिकानों मे भी जागीरदारो की प्रेरणा से जैनधर्म का प्रभाव बढ़ा। १५९१ ई० मे थानसिंह ने सघ निकाला और पावापुरी मे सोडसयन्त्र की प्रतिष्ठा की। १६०५ ई० म चपावती (चाकसू) के मन्दिर के स्तम्भ का निर्माण किया गया। मोजमाबाद मे जेता ने इसी राजा के राज्य मे १६०७ ई० में सैकड़ों मूर्तियों की प्रतिष्ठा का। मिर्जा राजा जयसिंह के मन्त्री मोहनदास ने आमेर मे विमलनाथ का मन्दिर बनवाया और उसे स्वर्णकलश से सुशोभित किया। सवाई जयसिंह के समय रामचन्द्र छाबड़ा, राव कृपाराम तथा विजयराम छाबड़ा नाम के तीन दीवान हुए जिन्होंने जैनधर्म का प्रचार किया। रामचन्द्र ने शाहबाद में जैनमन्दिर बनाया। तथा राव कृपारामने चाकसू तथा जयपुर मे जैन मन्दिर बनाये। सवाई माधोसिंह के समय बालचन्द्र छाबड़ा ने पुराने जैनमन्दिरों को ठीक करवाया तथा नये मन्दिरो को बनवाया। केशरीसिंह कासजीवाल ने जयपुर में सिरमोरियो का मन्दिर बनवाया और कन्हैयाराम ने वैदों का चैत्यालय का निर्माण करवाया। नन्दलाल ने जयपुर और सवाई माधोपुर मे जैन मन्दिर बनवाये। पृथ्वीसिंह के राज्य में सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। बालचन्द छाबड़ा का पुत्र रामचन्द जगतसिंह का मुख्य मन्त्री था और उसने भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेशों से जूनागढ़ तथा जयपुर में मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। बखतराम भी जो जगतसिंह का दीवान रहा जयपुर के चौड़े रास्ते में यशोदानन्द जी का जैन मन्दिर बनवाया। ★

---

४१. नाहर जैन लेख संग्रह, नं० २११२

जैन-बौद्ध-दर्शन

प्रो० उदयचन्द्र जैन

दर्शन का अर्थ—

मनुष्य विचारशील प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है। इसी विचारशक्ति को विवेक कहते हैं। मनुष्य और पशुओं में भेद भी यही है कि मनुष्य की प्रवृत्ति विवेकपूर्वक होती है और पशुओं की प्रवृत्ति अविवेकपूर्वक होती है। यदि कोई मनुष्य अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो उसे नाम से ही मनुष्य कहा जा सकता है, वास्तव मे नहीं। मनुष्य में जो विचारशक्ति या विवेक है उसी का नाम दर्शन है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक दर्शन होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। दर्शन हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है, हम उसे अपने जीवन से पृथक् नही कर सकते।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति—

दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्—अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाय वह दर्शन है। यह ससार नित्य है या अनित्य ? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नही ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका पुनर्जन्म होता है या यह इसी शरीर के साथ समाप्त हो जाती है ? ईश्वर की सत्ता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से दर्शनशास्त्र वस्तु-परतन्त्र है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि और महर्षियो ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन जिन तथ्यो का साक्षात्कार किया, उनको दर्शन शब्द के द्वारा कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है तो फिर विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक भेद का कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विभिन्न ऋषियों ने अपने—अपने दृष्टि कोण से देखने का प्रयत्न किया और तदनुसार ही उसका प्रतिपादन किया। अतः यदि हम 'दर्शन' शब्द का अर्थ भावनात्मक साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करे तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है। क्योंकि विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से वस्तु के स्वरूप को जानकर उसी का बार-बार मनन और चिन्तन किया और इसके फलस्वरूप उन्हें अपनी-अपनी भावना के अनुसार वस्तु के स्वरूप का दर्शन हुआ। भावना के द्वारा वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट प्रतिभास होता है यह बात अनुभव से सिद्ध है। काम, शोक, भय, उन्माद आदि के वशीभूत होकर मनुष्य अविद्यमान पदार्थों को विद्यमान सरीखे देखते हैं। कहा भी है—

काम-शोक-भयोन्माद-चौर-स्वप्नाद्युपप्लुताः।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥

—प्रमाणवार्तिक २।२८२

कारागार में बन्द कामी पुरुष रात्रि के गहन अन्धकार मे आँखों के बन्द होने पर कान्ता की सतत भावना के द्वारा कान्ता के मुख को स्पष्ट देखता है। यथा—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ॥

भारतीय दर्शन में जैन-बौद्धदर्शन का स्थान—

भारतीय दर्शन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वेद की परम्परा में विश्वास रखने वाले न्याय. वैशेपिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये छह दर्शन वैदिक दर्शन हैं। तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन ये तीन दर्शन अवैदिक हैं। कुछ लोग जैन और बौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन की शाखा के रूप में ही स्वीकार करते हैं, उनकी ऐसी मान्यता ठीक नही है। क्योंकि ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण परम्परा के अनुयायी उक्त दोनों धर्मों और दर्शनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। भारतीय दर्शन के विकास मे जैनदर्शन और बौद्धदर्शन ने महत्त्वपूर्ण योग

दिया है। यदि भारतीय दर्शनों में से उक्त दोनों दर्शनों को पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय दर्शन में एक बहुत बड़ी कमी दृष्टिगोचर होगी।

जैनदर्शन का प्रारम्भ और विकास—

जैनदर्शन की मान्यतानुसार जैनदर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस युग में आदि तीर्थङ्कर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थङ्करों ने कालक्रम से जैनदर्शन और धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जो लोग जैनदर्शन को अनादि नहीं मानना चाहते हैं उन्हें कम से कम जनदर्शन को उतना प्राचीन तो मानना ही पड़ेगा, जितना प्राचीन और कोई दूसरा दर्शन है। आचार्य कुन्द-कुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने जैन-दर्शन के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया है। इन आचार्यों ने इतर दर्शनों के सिद्धान्तों का निराकरण करके अपने सिद्धान्तों का प्रमाण के बल पर व्यापकरूप से समर्थन किया है। भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने अपनी अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से जिस वस्तु तत्त्व को देखा, उसी को दर्शन के नाम से कहा किन्तु किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती है। सर्वथा भेदभाव या अभेद-वाद, सर्वथा नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्त दृष्टि है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व अनेक धर्मात्मक है। कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त दर्शन के नाम से कहा है। जैनदर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों या विवादों का समन्वय करना है। अत. भारतीय दर्शन के विकास को समझने के लिए जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है।

बौद्धदर्शन का प्रारम्भ और विकास—

वैदिक दर्शन की परम्परा में परिस्थितिवश उत्पन्न होने वाली बुराइयों और त्रुटियों को दूर करने के लिए सुधारक के रूप में महात्मा बुद्ध के द्वारा बौद्धधर्म का उदय हुआ। और महात्मा बुद्ध के बाद बौद्धदर्शन का प्रारम्भ हुआ। बुद्ध ने विशेषरूप से धर्म का ही उपदेश दिया था, न कि दर्शन का। अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को शुष्क तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का उद्देश्य न था, किन्तु दुःखमय संसार से प्राणियों का उद्धार करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। बुद्ध ने देखा कि लोग पारलौकिक जीवन की समस्याओं में उलझकर ऐहिक जीवन की समस्याओं को भूलते जा रहे हैं। इसी लिए उन्होंने सरल आचार मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टांग मार्ग (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया तथा आत्मा और शरीर भिन्न है या अभिन्न? लोक शाश्वत है या अशाश्वत? इत्यादि प्रश्नों को अव्याकृत (अकथ-नीय) बतलाया। बुद्ध ने जिन बातों को अव्याकृत कहकर टाल दिया था, बाद में उनके अनुयायी दार्शनिकों ने उन्हीं बातों पर ऊहापोह करके बौद्धदर्शन को प्रतिष्ठित किया। वसुबन्धु, नागार्जुन, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त आदि आचार्यों ने इतर दर्शनों के सिद्धान्तों का निराकरण पूर्वक स्वसिद्धान्तों का व्यापक रूप से समर्थन किया है। बौद्धदर्शन ससार के दार्शनिक इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है।

जैन-बौद्ध दर्शन में समानता—

जैन और बौद्ध दर्शन में कुछ बातों की अपेक्षा से समानता है। तथा अन्य बातों की अपेक्षा से असमानता भी है। समानता सूचक बातें निम्न हैं—

१—दोनों ही दर्शन श्रमण संस्कृति के अनुयायी हैं।

२—दोनों ही दर्शन वैदिक क्रिया-काण्ड के विरोधी हैं। बुद्ध और महावीर दोनों ही समकालीन थे और दोनों ने ही यज्ञों में विहित क्रिया-काण्डों का विरोध करके समाज को नैतिक पतन से बचाया था।

३—दोनों ही दर्शन अहिंसा के अनुयायी हैं। यद्यपि अन्य दर्शनों ने भी अहिंसा को माना है किन्तु बुद्ध और महावीर ने यज्ञ-विहित हिंसा का निषेध करके अहिंसा को विशेषरूप से प्रतिष्ठित किया है। महावीर ने तो प्राणीमात्र के प्रति हिंसा को त्याज्य बतला कर तथा काम, क्रोध, लोभ आदि को भी हिंसा बतलाकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म अहिंसा का प्रतिपादन किया है।

४—दोनों ही दर्शन कर्म (कार्य) के अनुसार वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं, न कि जन्म के अनुसार। वैदिक दर्शन ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की व्यवस्था को जन्म के द्वारा माना है किन्तु जैन-बौद्ध दर्शन के अनुसार कोई जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं कहला सकता है, किन्तु ब्राह्मण या क्षत्रिय के कार्य करके ही वैसा बन सकता है।

५—दोनों ही दर्शन सब मनुष्यों मे समानता के प्रतिपादक हैं। सब मनुष्य समान हैं, सब को अपना-अपना विकास करने का अधिकार है, कोई उच्च या नीच नही है तथा स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।

६—दोनों ही दर्शन वेद को पौरुषेय मानते है। मीमांसकों ने वेद को अपौरुषेय माना है। दोनो ही दर्शनों के मीमांसकों की इस मान्यता का सप्रमाण खण्डन करके वेद को पौरुषेय सिद्ध किया है।

७—दोनों ही दर्शन ईश्वर को सृष्टि कर्ता नही मानते हैं। नैयायिक विशेषिक दर्शन की मान्यता है कि इस विश्व की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर के द्वारा हुई है जो नित्य व्यापक और सर्वज्ञ है। दोनों ही दर्शनो ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर सृष्टि कर्तृत्व का खण्डन करके सिद्ध किया है कि यह ससार अनादि परम्परा से इसी प्रकार चला आया है और इसका रचयिता ईश्वर नही है।

८—दोनों ही दर्शन शुभ और अशुभ कर्मों का फल मानते हैं तथा परलोक में विश्वास रखते है।

दोनों दर्शनों में तत्त्व व्यवस्था—

जैन दर्शन मे द्रव्य या वस्तु का लक्षण सत् बतलाया गया है उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से सहित वस्तु को सत् कहा गया है। जैसा कि उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र मं कहा है—

'सद् द्रव्यलक्षणम्'–५।२९। 'उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्त सत्'—५।३० प्रत्येक पदार्थ त्रयात्मक है। एक पर्याय का नाश होते ही दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है तथा उन दोनों पर्यायों मे एक तत्त्व अविच्छिन्न रूप से बना रहता है। यह बात अनुभव में भी आती है। हम देखते हैं कि स्वर्ण के चूड़ा को तुड़वाकर जब हम उसका कुण्डल बनवा लेते हैं तो चूड़ा रूप पर्याय का नाश, कुण्डल रूप पर्याय की उत्पत्ति और उन दोनों में स्वर्ण रूप द्रव्य की अविच्छिन्नता दृष्टिगोचर होती है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से द्रव्य छह है और प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। मूल में जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य है। जीव और अजीव के सयोग और वियोग जन्य कुछ ऐसी पर्यायें उत्पन्न होती हैं जिन्हें तत्त्व के नाम से कहा गया है। अतः जैन दर्शन मे तत्त्व ७ माने गये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्हीं मे पुण्य और पाप को मिलाकर ९ पदार्थ कहे गये हैं।

बौद्ध दर्शन में स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के भेद से दो तत्त्व मानकर भी यथार्थ में स्वलक्षण को ही परमार्थ सत् माना गया है और सामान्य लक्षण को मिथ्या माना गया है। वस्तु में दो प्रकार का तत्त्व देखा जाता है—असाधारण और साधारण। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी विशेषता को लिए हुए है यही असाधारण (स्वलक्षण) तत्त्व है। सब मनुष्यों मे मनुष्यत्व नामक एक साधारण धर्म की कल्पना की जाती है, अतः मनुष्यत्व मनुष्यों का साधारण धर्म है। बौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। वस्तु वह है जो अर्थ क्रिया करे। धर्मकीति ने न्यायबिन्दु में कहा है—

अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः।

घट की अर्थक्रिया जलधारण है और पट की अर्थक्रिया आच्छादन है। इस प्रकार प्रत्येक अर्थ की अपनी अपनी अर्थ क्रिया होती है। यह अर्थ क्रिया स्वलक्षण मे ही बनती है, सामान्य लक्षण मे नही। घटत्व मे कभी भी जलधारण रूप अर्थ क्रिया संभव नही है, अतः सामान्य मिथ्या है।

जैन दर्शन में पदार्थ को सत् माना गया है तथा उस सत् के विषय में कोई विवाद नहीं है। किन्तु बौद्ध दर्शन में सत् की व्याख्या को लेकर बौद्ध दार्शनिकों के मुख्य रूप से चार भेद पाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता मानते है तथा उसका प्रत्यक्ष भी मानते

हैं। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता मानकर भी उसे प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं। योगाचार के अनुसार ज्ञान मात्र ही तत्त्व है और माध्यमिकों के अनुसार शून्य की ही प्रतिष्ठा है। इन चारों सिद्धान्तों का वर्णन निम्न श्लोक में सुन्दर रूप से किया गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अन्य दार्शनिकों ने 'शून्य' शब्द का अर्थ अभाव किया है, किन्तु माध्यमिक दर्शन के आचार्यों के मौलिक ग्रन्थों के अनुशीलन से शून्य शब्द का अभाव रूप अर्थ सिद्ध नहीं होता है। किसी पदार्थ के स्वरूप निर्णय के लिए अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय इन चार कोटियों का प्रयोग संभव है। परन्तु परमार्थ तत्त्व का विवेचन इन चार कोटियों से नहीं किया जा सकता। अतः अनिर्वचनीय होने के कारण परमार्थ तत्त्व को शून्य शब्द से कहा गया है। इसी बात को नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका मे निम्न प्रकार से बतलाया है—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

आत्म व्यवस्था—

जैन दर्शन आत्मा को चैतन्य मानकर अनादि और अनन्त मानता है। आत्मा का स्वभाव अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य है। संसार अवस्था में कर्मों के द्वारा आवृत्त होने के कारण इन गुणों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। किन्तु कर्मों के नाश होने पर ये गुण अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाते है। संसारी आत्मा कर्म के वश होकर मनुष्य गति, तिर्यञ्चगति, नरक गति और देव गति इन चार गतियों मे भ्रमण करता रहता है और काललब्धि आने पर क्रमशः कर्मों का नाश करके वह भगवान् भी बन सकता है।

आत्मा के विषय में बौद्ध दर्शन की मान्यता जैन दर्शन से बिलकुल विपरीत है। बौद्ध दर्शन ने चित्त (ज्ञान) को तो माना है किन्तु एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य को नहीं माना है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों के समुदाय का नाम ही आत्मा है। इनके अतिरिक्त आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रत्येक आत्मा नाम रूपात्मक है। यहाँ रूप से अभिप्राय शरीर के भौतिक भाग से है और नाम से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियों से है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये नाम के ही भेद हैं। इन पांच स्कन्धों की सन्तान (परम्परा) बराबर चलती रहती है। अतः आत्मा के न होने पर भी जन्म, मरण और परलोक की व्यवस्था बन जाती है। आत्मा को न मानने का कारण यह है कि आत्मा का सद्भाव ही सब अनर्थों की जड़ है। आत्मा के सद्भाव में ही अहंकार का उदय होता है। आत्मा के होने पर 'स्व' और 'पर' का विभाग होता है। इससे 'स्व' के लिए राग और 'पर' के लिए द्वेष उत्पन्न होता है। और राग द्वेष के कारण अन्य समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रह द्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबन्धात् सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥

—बोधिचर्यावतारपंजिका पृ० ४६२

अतः आत्मा समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण है। इस प्रकार सब अनर्थों की जड़ होने के कारण बौद्ध दर्शन में आत्मा का निषेध किया गया है।

निर्वाण व्यवस्था—

जैन दर्शन में संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों को माना गया है। कर्मों का आस्रव और बन्ध संसार के कारण हैं, संवर और निर्जरा मोक्ष के कारण हैं। बौद्ध दर्शन में इन्हीं चार बातों को चार आर्यसत्य के नाम से कहा गया है। दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य हैं। संसार दुःखरूप है। दुःख के कारण तृष्णा को समुदय कहते हैं। दुःखों के नाश का नाम निरोध या निर्वाण हैं। और निरोध के उपाय का नाम मार्ग है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में निर्वाण को माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार कर्मों का नाश होने पर आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण या मोक्ष है। मोक्ष में आत्मा अनन्त काल तक अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य सम्पन्न रहता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार

निर्वाण के स्वरूप में बड़ा विवाद है। हीनयान के अनुसार निर्वाण में क्लेशावरण का ही अभाव होता है, किन्तु महायान के अनुसार निर्वाण में ज्ञेयावरण का भी अभाव हो जाता है। एक दुःखाभावरूप है तो दूसरा आनन्दरूप। भदन्त नागसेन की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। जब तक दीपक जलता रहता है तभी तक उसकी सत्ता है और दीपक के बुझ जाने पर उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाती है। पञ्च स्कन्ध की सन्तान रूप आत्मा का भी निर्वाण दीपक की तरह ही है। महाकवि अश्वघोष का कहना है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

—सौन्दरनन्द १६।२८, २९

निर्वाण का मार्ग—

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।१।१

सम्यग्दर्शनादि तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं, न कि पृथक्-पृथक्। बौद्ध दर्शन में अष्टांग मार्ग या मध्यम मार्ग को निर्वाण का मार्ग कहा गया है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कुर्मान्त, सम्यक् आजीविका' सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ये मार्ग के आठ अंग हैं। इसके आठ अंग होने से इसका नाम अष्टांग मार्ग है। इसे मध्यम मार्ग भी कहते हैं। क्योंकि बुद्ध ने प्रत्येक बात में दो अन्तों को छोड़ने का उपदेश दिया था। जैसे अत्यधिक भोजन करना और बिलकुल भोजन न करना ये भोजन के विषय में दो अन्त (छोर) हैं। इन्हें छोड़ना चाहिए, क्योंकि दोनों से ही अहित की संभावना है। अतः प्रत्येक विषय में दो अन्तों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलना चाहिए।

सर्वज्ञ व्यवस्था—

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर एक ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जो समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एक साथ हस्तामलकवत् जानता है। इसे केवलज्ञान कहते हैं। अतः चार घातिया कर्मोंके अभावमें आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ की सिद्धि युक्ति के द्वारा भी की जाती है। सूक्ष्म (परमाणु आदि) अन्तरित (राम, रावणादि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये अनुमेय है, जो अनुमेय होता है। वह किसी के प्रत्यक्ष भी होता है। जैसे पर्वत में अग्नि। इस प्रकार अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है। सर्वज्ञ साधक अनुमान निम्न प्रकार है—

सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः॥

—आप्तमीमांसा कारिका ५

बौद्ध दर्शन के अनुसार ऐसा कोई सर्वज्ञ नहीं है जो सब पदार्थों को एक साथ जानता हो। बुद्ध को समस्त पदार्थों का ज्ञाता न मानकर हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञाता होने से ही प्रमाण माना गया है। स्व-पर कल्याण के लिए जो आवश्यक बातें हैं उनका ज्ञान होना चाहिए, सारे कीड़े मकोड़ों को जानने से क्या लाभ है। कोई दूर की बात जाने या न जाने किन्तु इष्ट तत्त्व को जानना आवश्यक है। यदि दूरदर्शी को प्रमाण माना जाय तो फिर गृद्धों की भी उपासना करनी चाहिए। इसी विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥ १।३१
तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥ १।३२
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे॥ १।३३

तीर्थंकरपद की प्राप्ति के कारण—

जैन दर्शन में दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं को तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण बतलाया गया है। बौद्ध दर्शन में दान, शील, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति और समाधि इन छह पारमिताओं को बुद्धत्व प्राप्ति का कारण माना गया है। बुद्ध ने अपने पूर्व जन्मों में इन पारमिताओं का अभ्यास करके बुद्धत्व को प्राप्त किया था। पारमिता का अर्थ है—पूर्णता। दान की पूर्णता दान पारमिता कहलाती है। इस प्रकार छह परिमिताओं की पूर्णता होने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

प्रमाणवाद—

जैन दर्शन में अपने और अपूर्व (नवीन) पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। माणिक्य-नन्दि ने परीक्षामुख में कहा है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्॥ १.१

बौद्धदर्शन में अविसंवादी तथा अज्ञात अर्थ को जानने वाले ज्ञान का नाम प्रमाण है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक मे कहा है—

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमज्ञातार्थ प्रकाशो वा।

जैन दर्शन में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेद करके पुन: सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तथा मुख्य प्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष के पाँच भेद किए गए हैं। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है। जैन दर्शन में वास्तविक प्रत्यक्ष उसे ही माना गया है जो इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अत: अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान को ही मुख्य प्रत्यक्ष माना है। पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न और मनोजन्य ज्ञान को लोकव्यवहार की अपेक्षा से ही प्रत्यक्ष कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेषरूप है और ऐसा ही पदार्थ प्रमाण का विषय होता है।

बौद्धदर्शन के अनुसार कल्पना से रहित और अभ्रान्त ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में कहा है—

कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।

वस्तु में नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की योजना करना 'कल्पना' है प्रत्यक्ष इस कल्पना से रहित अर्थात् निर्विकल्पक होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष के चार भेद हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं।

अन्यापोहवाद

जैन दर्शन आप्त के वचन आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम प्रमाण मानता है और अर्थ को शब्द का वाच्य स्वीकार करता है। किन्तु बौद्ध शब्द और अर्थ मे सर्प और नकुल जैसा वैर मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने के कारण शब्द अर्थ का प्रतिपादन न करके अन्यापोह अर्थात् अन्य के निषेध को कहता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन के अनुसार शब्द का वाच्य अर्थ न होकर अन्यापोह होता है।

नित्यानित्यवाद

जैनदर्शन पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य मानता है और न सर्वथा अनित्य। किन्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानता है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य है। इस मान्यता के विपरीत बौद्धदर्शन की मान्यता है कि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण मे स्वत: विनष्ट होता रहता है। पदार्थ स्वभाव से ही विनाशशील है। 'सर्वक्षणिकं सत्वात्' इस अनुमान से सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि की जाती है। बौद्धों की मान्यता है नित्य पदार्थ में न तो युगपत् अर्थक्रिया बन सकती है और न क्रम से। अत: क्षणिक पदार्थ में ही अर्थक्रियाकारित्वरूप सत् की व्यवस्था होती है। सत् होने से ही सब पदार्थ क्षणिक हैं। इस प्रकार बौद्धदर्शन में सर्वथा क्षणिकवाद को माना गया है।

ध्यानयोग

जैनदर्शन में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार ध्यान बतलाए गए हैं और इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद किए गए हैं। बौद्धदर्शन में भी चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन उपलब्ध होता है। दीर्घनिकाय के अनेक सूत्रों में चारों ध्यानों के स्वरूप का विवेचन किया

गया है, जो निम्न प्रकार है—

प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार. प्रीति, सुख तथा एकाग्रता इन पांच चित्तवृत्तियों की प्रधानता रहती है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार का अभाव हो जाता है। तृतीय ध्यान में प्रीति का भी अभाव हो जाता है और चतुर्थ ध्यान में सुख का भी अभाव हो जाने पर केवल एकाग्रता शेष रह जाती है। इस प्रकार साधक स्थूलता तथा बहिरंगता से आरम्भ कर सूक्ष्मता तथा अन्तरंगता में प्रवेश करता है। ध्यान के विषय में चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है तथा इस विषय में चित्त का अनुमज्जन करना विचार है। इससे चित्त में जो आनन्द उत्पन्न होता है वह प्रीति है। इसके अनन्तर शरीर में जो शान्ति या स्थिरता का भाव उत्पन्न होता है वह सुख है। प्रीति मानसिक आनन्द है और सुख शारीरिक स्थिरता। विषय में चित्त का पूर्णरूप से समाहित हो जाना एकाग्रता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धदर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इसका अर्थ है—सापेक्षकारणतावाद। अर्थात् किसी वस्तु के सद्भाव में अन्य वस्तु की उत्पत्ति।

"अस्मिन् सति इदं भवति। अस्योत्पादादयमुत्पद्यते। इति इदं प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।" घट की उत्पत्ति मिट्टी, कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि से होती है। मिट्टी घट का हेतु है और कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि प्रत्यय है। अतः हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से होने वाली पदार्थ की उत्पत्ति को प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण से प्रतीत्यसमुत्पाद के १२ अंग हैं। इन अंगों की संज्ञा निदान भी है। इसे भवचक्र भी कहते हैं।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त सिद्धान्त जैनदर्शन का एक विशिष्ट सिद्धांत है, जिसे अन्य किसी दर्शन ने नहीं माना है, किन्तु जिसका मानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। दूसरे दर्शनों ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक एक धर्म को लेकर उसका प्रतिपादन किया है और जैनदर्शन ने स्याद्वाद के द्वारा उन अनेक दृष्टियों का समन्वय किया है। यदि अन्य दर्शन भी स्याद्वाद सिद्धान्त को अपनालें तो फिर उनमें कोई विरोध शेष नहीं रहेगा और आपेक्षिक दृष्टि से उन सबका कथन सत्य सिद्ध हो जायेगा। जैनदर्शन ने वस्तु मे अनेक धर्मों को मानकर स्याद्वाद के द्वारा उनका प्रतिपादन किया है। वस्तु के उन अनेक धर्मों का आपेक्षिक दृष्टि से कथन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद न तो संशयवाद है और न अनिश्चयवाद। किन्तु अपेक्षावाद है। यहाँ 'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षा को बतलाता है। जब हम कहते हैं कि वस्तु स्यात् सत् है, और स्यात् असत्, तो यहाँ प्रथम 'स्यात्' का अर्थ है—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से, तथा दूसरे 'स्यात् का अर्थ है—परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से। कोई भी वस्तु स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और वही वस्तु परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वाद के द्वारा विवक्षित किसी एक धर्म का प्रतिपादन मुख्यरूप से होता है तथा अन्य समस्त धर्मों का प्रतिपादन गौणरूप से। इस प्रकार स्याद्वाद के द्वारा हम विचार के क्षेत्र में होने वाले समस्त विरोधों और संघर्षों को दूर कर सकते है तथा समस्त दर्शनोंमे सामञ्जस्य स्थापितकर सकते हैं अनेकान्त और स्याद्वाद जैनदर्शनकी महत्त्वपूर्ण देन तथा प्राण है।

इस प्रकार यहाँ जैन-बौद्धदर्शन के कुछ प्रमुख विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासुओं को दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों को विस्तार से जानने के लिए उनके मौलिक ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही दर्शन का अध्ययन नही करना चाहिए, किन्तु यथासंभव और यथाशक्ति इतर दर्शन के ग्रंथो का भी अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने से ही हम वास्तविक ज्ञानको प्राप्त कर सकते है। हमे युक्तिवादी होना चाहिए।

बुद्ध और महावीर पूर्णतः युक्तिवादी थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार जौहरी आग मे तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसने के बाद स्वर्ण को ग्रहण करता है, उसी प्रकार हे भिक्षुओ! अच्छी तरह से परीक्षा करने के बाद ही हमारे वचनों को ग्रहण करना, न कि इसलिए कि ये बुद्ध या महावीर के वचन हैं—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
परीक्ष्य भिक्षवोग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥

स्याद्वाद का व्यावहारिक जीवन में उपयोग

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

स्यात् का अर्थ है कथंचित् अर्थात् अपेक्षा और वाद का अर्थ है सिद्धान्त। तब स्याद्वाद का अर्थ हुआ अपेक्षा का सिद्धान्त। इसी के दूसरे नाम अनेकान्तवाद, सापेक्ष-दृष्टि एवं सापेक्षवाद हैं। इस वाद का जैनों के दार्शनिक ग्रंथों में विशद रूप से विवेचन किया गया है तथा नित्य अनित्य, एक अनेक सत्, असत् और भिन्न अभिन्न आदि परस्पर विरोधी दिखने वाले—जो वस्तुतः विरोधी नही है—स्वरूपो को समझाया है और सभी दर्शनों के समन्वय की उचित दिशा दिखलाई गई है। किन्तु दु:ख की बात यही है कि इस विश्वोपयोगी सिद्धान्त को केवल शास्त्रों की चीज बना दिया गया जबकि यह जीवन व्यवहार का सिद्धान्त है। यदि हमे अपने जीवन में स्याद्वाद से प्रेरणा मिले तो न केवल हम सच्चे तत्त्वज्ञानी बन सकते है अपितु अपने को स्व एव पर के लिए उपयोगी भी बना सकते हैं।

अपेक्षावाद क्या है।

मैं अपने एक छात्र को अपेक्षावाद का स्वरूप समझा रहा था। मैंने उसके सामने पड़ी स्लेट पर एक रेखा खैंची और उसको पूछाकि यह रेखा छोटी है या बडी? उसने उत्तर दिया कि अकेली एक रेखा को न छोटी कहा जा सकता है और न बड़ी। उसका कहना ठीक था, क्योकि छोटापन या बडापन आपेक्षिक धर्म है और एक पदार्थ में अपेक्षा नहीं हो सकती। मैंने उस रेखा के पास एक छोटी रेखा और खैंच दी और पूछा कि प्रश्न का उत्तर अब दो, उसने तत्काल कहा कि पहले वाली रेखा बड़ी है, किन्तु मैंने उसके पास उससे भी एक बड़ी रेखा और खैंच दी और पूछाकि अब बोलो तो छात्र ने कहा कि इसकी अपेक्षा पहले खैंची गई रेखा छोटी है।

इतने में ही बाहर से एक युवक आया और बैठ गया, उसने अपने आने का प्रयोजन बतलाया। उसके साथ उसका एक छोटा बच्चा भी था बातचीत के सिलसिले में मैंने उससे पूछाकि क्या तुम्हारे पिता के सबसे बड़े पुत्र तुम ही हो तो उसने उत्तर दिया कि मैं अपने पिता की एकमात्र संतान हूँ इसलिए छोटे बडे का प्रश्न पैदा नहीं होता। छोटेपन या बड़ेपन की अभिव्यक्ति का आधार तो अपेक्षा है। युवक का कहना वस्तुतः युक्ति सगत था। और सही बात तो यह है कि उस युवक का पुत्रत्व भी सापेक्ष था। क्योकि वह अपने पिता की अपेक्षा तो पुत्र था। पर उसी के पास जो उसका छोटा बच्चा बैठा था उसकी अपेक्षा वह पिता भी था। वह युवक बोला इस तरह तो मैं अकेला ही मामा-भानजा, काका-भतीजा और न मालूम मैं क्या क्या हूँ। मेरा छात्र बोला तब तो मेरा शिष्यत्व और आपका गुरुत्व भी सापेक्ष हैं मैंने कहा इसमे शक ही क्या है।

सारा जगत सापेक्ष है।

बात यह है कि यह सारा विश्व सापेक्ष है। जगत का कोई व्यवहार कोई स्थिति और कोई स्वरूप ऐसा नही है। जिसे सर्वथा निरपेक्ष कहा जा सके। नीचा-ऊँचा, लम्बा-ठिगना, भला-बुरा, विद्वान्-मूर्ख-दुखी-सुखी शासक-शासित, धनी-निर्धन, सबल-निर्बल, काला-गोरा-हल्का-भारी आदि सभी सापेक्ष है। सज्जन-दुर्जन, अन्धकार-प्रकाश, काच, हीरा एव मुक्त और बद्ध आदि सभी सापेक्षवाद की सीमा में आये बिना नहीं रहते। यदि मनुष्य इस सापेक्षता से परिचित न हो उसका ज्ञान ही गलत न होगा अपितु छोटी-छोटी बातों को लेकर वह झगडता भी रहेगा।

बात पुरानी है। योरुप के किसी नगर के बीच में एक मूर्ति स्थापित की। उसका एक ओर सोने का दूसरा ओर चांदी का था। दोनों ओर से एक साथ ही दो योद्धा आये। जो घोड़े पर सवार थे। एक ने कहा अहा! यह

सोने की मूर्ति कितनी सुन्दर है। किन्तु दूसरी ओर के घुड़सवार ने उसे चांदी की बताकर उसका विरोध किया किन्तु इस विरोध को वह न सह सका। और मूर्ति को सोने की बताता रहा, दोनों में बात बढी और वे अपने-अपने घोड़े से उतर कर हाथापाई करने लगे। इतने में ही एक समझदार आदमी उधर से निकला और उनकी लड़ाई का कारण जानकर मूर्ति को सोने की बतलाने वाले को मूर्ति के चाँदी वाले हिस्से की ओर ले गया और चाँदी की बतलाने वाले को सोने के हिस्से की ओर खड़ा कर दिया। दोनो ही घुड़सवारों ने अपने एक पक्षीय ज्ञान का अनुभव किया। अपनी मूर्खता पर तुम्हें अत्यन्त ग्लानि हुई। और वे लज्जित होकर वहाँ से चले गये।

मनुष्य की अब तक की सारी विपत्तियों का कारण उसके मन का आग्रह है। जगत के आज तक के सभी महायुद्ध और घर गृहस्थी की छोटी-बड़ी लड़ाइये एवं सभी प्रकार के राजनीतिक-आर्थिक-आदि संघर्षों का हेतु एक दूसरे की पारस्परिक अपेक्षा को नहीं समझना ही है। अपेक्षा को न समझे तो सड़क पर चलता हुआ, ट्रेन मे बैठा हुआ और धर्मशाला, सराय आदि मे ठहरा हुआ मनुष्य भी लड़ पड़ेगा। और खून खच्चर का कारण बन जायेगा। ऐसा मनुष्य स्वयं अपनी भी हानि करता है। और दूसरों की भी।

आधुनिक विश्व की सभी राजनीतिक-आर्थिक एवं सामाजिक कही जाने वाली समस्याएँ हल हो सकती हैं यदि उनके समाधान के लिए सापेक्ष दृष्टि का उपयोग किया जाय। किन्तु मनुष्य के मन मे जो चिरकालिक पशुता (हिंसा) खेल रही है। उसके कारण वह स्याद्वाद का महत्व नहीं समझता और छोटी से छोटी बात के लिए विग्रह पैदा कर देता है।

दुःखों का कारण स्याद्वाद की अनभिज्ञता

मनुष्य के सारे दुःखों का कारण स्याद्वाद को नहीं समझना है। यह एकनिर्विवाद तथ्य है कि उसके अधिकांश दुःख कल्पना पर आधारित है और उन असत् कल्पनाओं का कारण स्याद्वाद की अनभिज्ञता है। उस दिन एक आदमी ने अपने मित्र को कहा कि दो चार दिन की देरी हो जाने से उसे ८६ रुपये क्विन्टल के भाव से गेहूँ मिले जबकि १० दिन पहले उसका मित्र ८० रुपये क्विन्टल के भाव से अच्छा गेहूँ लाया। इसका उसे बहुत दुःख था। किन्तु इतने में ही एक सज्जन आये और बोले कि मैं ६६ रुपये क्विन्टल गेहूँ लाया हूँ। इस बात को सुन कर ८६ रुपये क्विन्टल वाले भाई को कुछ संतोष हुआ। उसके संतोष का कारण उसका सापेक्ष ज्ञान था। सच कहा जाय तो यह सारा जगत पारस्परिक अपेक्षाओं से व्याप्त है। और उन्हीं से प्रेरित भी है।

अलबर्ट आईन्स्टीन का सापेक्षवाद

जब हम अलबर्ट आईन्स्टीन के सापेक्षवाद का अध्ययन करते है तो हम उसे जैनों के स्याद्वाद से भिन्न नही पाते एक बार आईन्स्टीन से उनकी पत्नी ने "मैं सापेक्षवाद क्या है" कैसे बतलाऊँ, तो उन्होंने अपनी पत्नी को कहा कि "जब एक मनुष्य एक सुन्दर लड़की से बात कर रहा हो तो उसे एक घटा एक मिनट जैसा लगता है और उसे ही एक गर्म चूल्हे पर बैठा दिया जाय तो एक मिनट एक घंटे बराबर लगने लगेगा। अपेक्षावाद को समझने की यह एक मिसाल है। चाहे गणित की दृष्टि से आईन्स्टीन का सापेक्षवाद कितना ही दुरूह क्यों न हो व्यावहारिक दृष्टि से वह सरलता से समझ में आ सकता है। पदार्थों में अनन्त अपेक्षाएँ विद्यमान रहती हैं और उनकी अभिव्यक्ति तब होती है जब दूसरा पदार्थ उपस्थित होता है। यह अभिव्यक्ति सामायिक होती है।

पदार्थ अनंत धर्मात्मक है।

पदार्थ अनंत धर्मात्मक है। यही कारण है कि हम कभी उसे है" कहते है और कभी उससे "नहीं है" कहते हैं। कभी "और नही है" कहते है और कभी अवक्तव्य कहते हैं, इसलिए एक हिन्दी कवि कहता है कि "कोई कहे कुछ है नहीं, कोई कहे कुछ है। है और ना के बीच में, जो कुछ है सो है।"

पदार्थ के अनन्त धर्म ही उसकी अनन्त अपेक्षाओं के कारण हैं। समझ में नहीं आता कि जब पदार्थ की यह स्थिति है तब मनुष्य लड़ता क्यों है। वह अपने दृष्टिकोण को विशाल और उदार क्यों नहीं बताता! क्यों वह

छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ता झगड़ता है। स्याद्वाद की व्यावहारिक उपयोगिता तो यही है कि मनुष्य अपनी असहिष्णुता को दूर करे और सारे धर्मों के समन्वय की दृष्टि से देखें पर यहाँ तो उल्टी गंगा बह रही है कि स्वयं जैन ही इसका व्यावहारिक उपयोग नहीं करते हैं और आपस में लड़ते हैं। उन्हें कोर्ट में लड़ते हुए देखकर कभी-कभी न्यायाधीश भी कह देते हैं कि स्याद्वाद का उपयोग करो लड़ो मत।

संसार का गुरु

जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न णिव्वडई।
तस्स भुवणेक गुरुणो णमो अणंतवायस्स ॥११॥

इस गाथा में स्याद्वाद को संसार का गुरु बतलाकर उसे प्रणाम किया गया है और बतलाया है कि इसके बिना जगत का कोई भी व्यवहार नही चल सकता। किन्तु सच बात तो यह है कि स्याद्वाद केवल प्रणाम करने की चीज नही है अपितु जीवन मे उतारने का सिद्धान्त है, पर प्रश्न यह है कि क्या स्वयं जैन भी—जिन्हें यह धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ है—इस सिद्धान्त का ठीक उपयोग करते हैं? दिगम्बर व श्वेताम्बर लड़ते हैं, दिगम्बर दिगम्बर लड़ते हैं और श्वेताम्बर श्वेताम्बर लड़ते हैं। यदि हम वास्तव में इसका संघर्षों की चिकित्सा के रूप में उपयोग नहीं कर सकते तो इसकी सारी शास्त्रीय व्याख्याएँ बेकार हैं। इसकी सप्तभङ्गी न्याय, सकला देश और विकला देश आदि विशेषताओं को जानने का प्रयोजन भी यही है कि सचाई को जहाँ से भी पकड़ सकें पकड़लें। उसके लिए झगड़े नहीं करें। स्याद्वाद को अपने जीवन में उतारे बिना हम अहिंसा के द्वारा कभी अपने को सुसंस्कृत नही बना सकते। यह सिद्धान्त जैनागम का जीव अथवा बीज है। यह एक विचार पद्धति है और इस पद्धति को सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में अवश्य अपनाया है भले ही उन्होंने इसका अपने ग्रंथों में नाम नही दिया हो। इसलिए यह वाद संसार का गुरु है इसमें कभी दो मत नही हो सकते। ★

जैन-दर्शन और वेदान्त

मुनि श्री नथमल

दर्शन मनुष्य का दिव्य चक्षु है। मनुष्य अपने चर्म-चक्षु से नही देख सकता, वह दर्शन-चक्षु से देख सकता है। सत्य जितना विराट् है उतना ही आवृत है। अनेक दर्शनों ने समय-समय पर उसे निरावृत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जो देखा वह दर्शन बन गया। अनेक द्रष्टा हुए हैं इसलिए अनेक दर्शन हैं। उनमें से दो दर्शन ये हैं, जैन और बेदान्त। जैन द्वैतवादी हैं और वेदान्त अद्वैतवादी हैं।

जैन-दर्शन और विश्व

जैन-दर्शन के अनुसार यह विश्व छः द्रव्यों का समुदाय है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं।

धर्म—गति सहायक द्रव्य।
अधर्म—स्थिति सहायक द्रव्य।
आकाश—अवगाहदायक द्रव्य।
काल—परिवर्तन हेतु द्रव्य।
पुद्गल—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णात्मक द्रव्य।
जीव—चेतनात्मक द्रव्य।

१. इनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन है।

२. पुद्गल मूर्त है, शेष पाँच अमूर्त हैं।

३. धर्म, अधर्म और आकाश व्यक्तिशः एक हैं, शेष तीन व्यक्तिशः अनन्त हैं।

४. धर्म, अधर्म और आकाश व्यापक हैं, जीव और पुद्गल अव्यापक।

जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) बद्ध (२) मुक्त।

बद्ध-जीव अपने देह के परिमाण में व्याप्त रहता है। मुक्त-जीव जिस देह को छोड़कर मुक्त होता है, उसके एक तिहाई १।३ आकाश में व्याप्त रहता है।

पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—१. परमाणु व २. स्कन्ध—परमाणु समुदाय। परमाणु आकाश के एक प्रदेश (अविभाज्य-अवयव) में व्याप्त रहता है।

स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—

द्वि-प्रदेशी—दो परमाणुओं का स्कन्ध।

त्रि-प्रदेशी—तीन परमाणुओं का स्कन्ध।

इस प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। ये स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशो तक व्याप्त होते हैं। अनन्त प्रदेशी स्कन्ध असंख्य प्रदेशों में व्याप्त हो जाता है।

जितने प्रदेशों का स्कन्ध होता है वह उतने ही आकाश प्रदेशो में व्याप्त हो जाता है और सूक्ष्म परिणति होने पर वह एक आकाश-प्रदेश मे भी व्याप्त हो जाता है।

काल अव्यापक और व्यापक दोनो है। उसके दो प्रकार हैं—१ व्यावहारिक—सूर्य चन्द्र, आदि की क्रिया से नापा जाने वाला। २. नैश्चयिक–परिवर्तन का हेतु।

व्यावहारिक काल सिर्फ मनुष्य-लोक में होता है। नैश्चयिककाल लोक और अलोक दोनों में होता है।

५. धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव में प्रदेशों (अवयवों) का विस्तार है, इसलिए वे अस्तिकाय हैं, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल के अवयव नहीं है, वह औपचारिक या द्रव्य का पर्याय मात्र है। इसलिए वह अस्तिकाय नहीं हैं—विस्तार वाला नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल अणुरूप है, इस लिए वह विस्तार शून्य है।

६. धर्म, अधर्म और आकाश गतिशून्य हैं, जीव और पुद्गल गतिमान्।

७. धर्म, अधर्म और आकाश मे केवल सजातीय परिवर्तन होता है। जीव और पुद्गल में सजातीय और विजातीय दोनों परिवर्तन होते हैं।

विश्व अनादि अनन्त है। फलतः सब द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। जीव और पुद्गल में विजातीय परिवर्तन होते हैं—वे एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चले जाते हैं, इसलिए वे सादि-सान्त भी हैं। यह जीव और पुद्गल का विजातीय परिवर्तन ही सृष्टि है वह सादि-सान्त हैं।

साधना-पथ

काल, पुरुषार्थ आदि समवायों का परिपाक होने पर जीव में आत्मस्वरूप को उपलब्ध करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करता है और क्रमशः विजातीय परिवर्तन के हेतुओं (पुण्य, पाप और आश्रव) का निरोध (संवर) व क्षय (निर्जरा) कर मुक्त हो जाता है—आत्मस्थ हो जाता है। मोक्ष के साधन तीन हैं—

१. सम्यक्-दर्शन।

२. सम्यग्-ज्ञान।

३. सम्यग्-चारित्र।

कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनो नही, वह श्रेयस् की विराधना है, आराधना है ही नही। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वाङ्गीण आराधना है।

प्रमाण-नयवाद

विश्व और सृष्टि की प्रक्रिया जानने के लिए जैन आचार्यों ने अनेकात दृष्टि की स्थापना की। उनका अभिमत था कि द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है। उसे एकान्त दृष्टि से नही जाना जा सकता। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ चाहिए। उन सब दृष्टियो के सकल रूप को प्रमाण और विकल रूप को नय कहा जाता है। प्रमाण दो हैं—

१. प्रत्यक्ष—आत्मा को द्रव्य का किसी माध्यम के बिना सीधा ज्ञान होना।

२. परोक्ष—आत्मा को द्रव्य का इन्द्रिय आदि के माध्यम से ज्ञान होना।

नय सात हैं—

१. नैगम—सकल्प या कल्पना की अपेक्षा होनेवाला विचार।

२. संग्रह—सत्ता की अपेक्षा से होने वाला विचार।

३. व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होने वाला विचार।

४. ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

५. शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्द-प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

६. समभिरूढ़—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्द-प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

७. एवम्भूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्द-प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

वस्तु विज्ञान की दृष्टि से वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। इसके आधार पर दो दृष्टियां बनती हैं—

१. निश्चय—द्रव्य स्पर्शीनय।

२. व्यवहार—पर्याय या विस्तार स्पर्शीनय।

पहली अभेद प्रधान दृष्टि है और दूसरी भेदप्रधान। यह विश्व न अभेदात्मक है और न भेदात्मक, किन्तु उभयात्मक है।

वेदान्त और विश्व

शंकराचार्य के शब्दों में जो सदा समरूप होता है वही सत्य है। विश्व के पदार्थ परिवर्तनशील हैं सदा समरूप नहीं है, इसलिए वे सत्य नहीं हैं। ब्रह्म सदा समरूप है, तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) तथा तीनों दशाओं (जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति) में एक रूप है इसलिए वह सत्य है। फलित की भाषा में ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है।

सत्य त्रिकालाबाधित होता है, इसलिए वह पारमार्थिक सत्ता है। असत्य के दो रूप हैं—

१. व्यावहारिक—नाम रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता।

२. प्रातिभासिक—रज्जु में सर्प की सत्ता।

जगत् के विकारात्मक पदार्थ व्यवहार काल में सत्य होते हैं, किन्तु वे ब्रह्मानुभव के द्वारा बाधित हो जाते हैं, इसलिए व्यावहारिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित होते हैं, किन्तु उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा वे बाधित हो जाते हैं, इसलिए प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थ त्रिकालबाधित नहीं होने के कारण पारमार्थिक सत्य नहीं है, किन्तु वे आकाश-कुसुम की भांति निराश्रय नहीं हैं, इसलिए सर्वथा असत्य भी नहीं है।

वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियां हैं—

१ आवरण-शक्ति।

२. विक्षेप-शक्ति।

आवरण-शक्ति भेद-बुद्धि उत्पन्न करती है, इसलिए संसार का कारण है। इसी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य में 'मैं कर्ता हूँ', 'भोक्ता हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ'—आदि-आदि भावनाएँ उत्पन्न होती है। तमः प्रधान विक्षेप शक्ति युक्त तथा अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हुई।

सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव होते हैं—

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्रि, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण।

६ बुद्धि—अन्तःकरण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति।

७ मन—अन्तःकरण की संकल्प विकल्पात्मिका प्रवृत्ति।

१२ पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक् पाणि, पाद, वायु, उपस्थ।

१७ पाँच वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।

ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा जाता है। यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोश कहा जाता है। कर्मेन्द्रिय सहित पाँच वायुओं को प्राणमय कोश कहा जाता है। विज्ञानमय कोश ज्ञान-शक्तिमान् है। वह कर्त्ता है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह करण (साधन) है। प्राणमय कोश क्रिया-शक्तिमान् है। वह कार्य है। इन तीन कोशों का मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

साधना-पथ

वेदान्त के आचार्यों के अनुसार जीव में तीन अज्ञानगत शक्तियाँ होती हैं। प्रथम शक्ति से अभिभूत जीव प्रपंच को पारमार्थिक मानता है। वेदान्त के ज्ञान से जब

प्रथम अज्ञान-शक्ति क्षीण होती है तब वह दूसरी अज्ञान-शक्ति के उदित होने पर प्रपंच को व्यावहारिक मानता है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जब दूसरी अज्ञान-शक्ति भी क्षीण हो जाती है तब वह तीसरी अज्ञान-शक्ति के कारण प्रपंच को प्रतिभासित मानता है। तीसरी अज्ञान-शक्ति बन्ध-मोक्ष के साथ-साथ क्षीण होती है। उसके साथ प्रपच को प्रतिभासित मानना भी समाप्त हो जाता है। फलित की भाषा में प्रपंच को व्यावहारिक प्रगति व प्रातिभासित मानना बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया है। जीव जब तक बन्ध-दशा में रहता है तब तक वह 'ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है'—इसे जानते हुए भी व्यावहारिक या प्रातिभासिक प्रतीति से मुक्त नहीं हो सकता।

वेदान्त के अनुसार साधना के तीनसाधन हैं—

१. श्रवण—वेदान्त के वचनों को आचार्य के मुख से सुनना।

२. मनन—श्रुत विषय पर तर्क-बुद्धि से मनन करना

३. निदिध्यासन—मनन किए हुए विषय पर सतत चिन्तन करना।

ऐसा करते-करते आत्मा और ब्रह्म की एकता-बोध सुदृढ़ हो जाता है और अन्त में साधक को मोक्ष उपलब्ध हो जाता है।

प्रमाणवाद

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं के सम्यग् ज्ञान के लिए वेदान्त पाँच प्रमाण मान्य करता है—

१. प्रत्यक्ष
२. अनुमान
३. उपमान
४. आगम
५. अर्थापत्ति

तुलनात्मक मीमांसा

जैन दर्शन के द्वारा दो सत्ताएँ स्वीकृत हैं—

१. पारमार्थिक
२. व्यावहारिक

वेदान्त के द्वारा तीन सत्ताएँ स्वीकृत हैं—

१. पारमार्थिक
२. व्यावहारिक
३. प्रातिभासिक

जैन दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन दोनों पारमार्थिक सत्य हैं—दोनों की वास्तविक सत्ता है। जैन दर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है, इसलिए वह यथार्थवादी है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। वह एक है। शेष जो नानात्व है वह वास्तविक नही है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म से भिन्न जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नही करता· इसलिए वह आदर्शवादी है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन में अचेतन की और अचेतन में चेतन की संज्ञा करना मिथ्या-दर्शन है और चेतन मे चेतन की और अचेतन मे अचेतन की संज्ञा करना सम्यग्-दर्शन है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन या ब्रह्म से भिन्न अचेतन की सत्ता स्वीकार करना मिथ्या-दर्शन है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य मानना सम्यग्-दर्शन है।

जैन-दर्शन का द्वैतवाद

वेदान्त के अनुसार जैसे एकत्व पारमार्थिक और प्रपच (या नानात्व) व्यावहारिक हैं वैसे ही अनेकान्त की भाषा मे कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व पारमार्थिक और पर्यायत्व (या विस्तार) व्यावहारिक है। शाश्वत सत्ता चेतन है। मनुष्य तिर्यंच आदि उसके विस्तार हैं। वे शाश्वत नही हैं, मनुष्य शाश्वत नही है इसीलिए वह पारमार्थिक नहीं है। एक ही चेतन के अनन्त रूपों में मनुष्य एक रूप है, जो उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। उसके उत्पन्न या विलीन होने पर भी चेतन 'चेतन ही रहता है, इसलिए वह पारमार्थिक है।

पारमार्थिक सत्ता को जानने वाली दृष्टि को निश्चय नय और व्यावहारिक सत्ता को जानने वाली दृष्टि को व्यवहार नय कहा जा सकता है। निश्चय नय के अनुसार विश्व के मूल में दो तत्त्व हैं, चेतन और अचेतन। यह नय पर्याय या विस्तार को मौलिक तत्त्व नही मानता। वेदान्त प्रपंच को व्यावहारिक या प्रातिभासिक ही मानता है, उसका हेतु यही है कि वह जाति के मूल तत्त्व की व्याख्या

केवल निश्चय नय से करता है। जैन दर्शन के अनुसार विस्तार मिथ्या या असत् नही है। सत् के तीन अंश हैं—

१. ध्रौव्य
२. उत्पाद
३. विनाश

ध्रौव्य शाश्वत अश है। उत्पाद और विनाश अशाश्वत अश है। ध्रौव्य संक्षेप है और उत्पाद-विनाश विस्तार है। ध्रौव्य की व्याख्या निश्चय नय से की जाती है और उत्पाद-विनाश की व्याख्या व्यवहार-नय से। ध्रौव्य से भिन्न उत्पाद-विनाश और उत्पाद-विनाश से भिन्न ध्रौव्य कभी और कही भी नहीं मिलता। जहाँ ध्रौव्य है वही उत्पाद और विनाश है और जहाँ उत्पाद-विनाश है वही ध्रौव्य है। इसलिए ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश ये तीनों सत् के अपरिहार्य अश हैं। वेदान्त यह कब मानता है कि मूल से भिन्न विस्तार और विस्तार से भिन्न मूल है। मूल और विस्तार दोनों सर्वत्र सम व्याप्त है।

वेदान्त विस्तार को मिथ्या या असत् मानता है और जैन-दर्शन उसे अनित्य मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य नही है, इस दृष्टि से वेदान्त अनित्य को मिथ्या मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य की परिधि से बाहर नही है। इस दृष्टि से जैन दर्शन अनित्य को सत् का अंश मानता है, दोनों मे जितना भाषा-भेद है उतना तात्पर्य-भेद नहीं है।

स्याद्वाद और क्या है? भाषा के आवरण में जो सत्य छिपा रहता है, उसे अनावृत करने का जो प्रबल माध्यम है वही तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद की भाषा मे कोई भी दर्शन सर्वथा द्वैतवादी या सर्वथा अद्वैतवादी नही हो सकता। सत्ता की दृष्टि से विश्व एक है। सत्ता से भिन्न कुछ भी नही है, इसलिए वह एक है। इस व्याख्या पद्धति को जैन दर्शन संग्रह नय कहता है।

जगत की व्याख्या एक ही नय से नही की जा सकती। दृश्य जगत की वास्तविकता को भ्रान्ति मानकर झुठलाया नही जा सकता। इस दृष्टि से विश्व अनेक भी है। विस्तार की व्याख्या-पद्धति को जैन-दर्शन व्यवहार नय कहता है।

सत्य की व्याख्या इन दोनो नयों से ही की जा सकती है। निश्चय नय से इस सत्य का रहस्योद्‌घाटन होता है कि विश्व के मूल में अभेद की प्रधानता है और व्यवहार नय से इस सत्य की व्याख्या होती है कि विश्व के विस्तार मे भेद की प्रधानता है।

जैन दर्शन द्रव्य और पर्याय (मूल और विस्तार) को सर्वथा एक नही मानता इस दृष्टि से ही द्वैतवादी नहीं है किन्तु वह इस दृष्टि से ही द्वैतवादी है कि वह विश्व के मूल मे चेतन और अचेतन का भिन्न-भिन्न अस्तित्व स्वीकार करता है। वह इस अर्थ में बहुत्ववादी भी है कि उसके अनुसार जीव और परमाणु व्यक्तिश: अनन्त हैं। जब हम नित्यता से अनित्यता की ओर तथा अशुद्धता (विस्तार) से शुद्धता (मूल) की ओर बढ़ते है तब हमें अभेद-प्रधान विश्व की उपलब्धि होती है और जब हम नित्यता से अनित्यता की ओर तथा शुद्धता से अशुद्धता की ओर बढ़ते है तब हमे भेद प्रधान विश्व उपलब्ध होता है। जो दर्शन एकान्त दृष्टि से देखता है, उसे एक सत्य लगता है और दूसरा मिथ्या। वेदान्त की दृष्टि मे भेदात्मक विश्व मिथ्या है और बौद्ध दर्शन की दृष्टि में अभेदात्मक विश्व मिथ्या है। जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है इसलिए उसकी दृष्टि मे विश्व के दोनो रूप सत्य हैं।

इस उभयात्मक सत्य की स्वीकृति वेदान्त के प्राचीन आचार्यों ने भी की है। भर्तृप्रपंच भेदाभेद वादी थे। उनका अभिमत है कि ब्रह्म अनेकात्मक है। जैसे वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होता है। वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति व प्रवृत्तियुक्त है। इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य है—पारमार्थिक है। 'वृक्ष' यह एकत्व है। 'शाखाएँ' यह अनेकत्व है। 'समुद्र' यह एकत्व है। 'उर्मियां' यह अनेकत्व है। 'मृत्तिका' यह एकत्व है। 'घड़ा' आदि अनेकत्व है। एकत्व अंश के ज्ञान से कर्मकाण्डाश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहारों की सिद्धि होगी।

शंकराचार्य ने भर्तृप्रपच को मान्यता नहीं दी, पर उन्होंने नानात्व को भी मृगमरीचिका की भाति सर्वथा असत्य नहीं माना।

भाषा के आवरण में जैन और वेदान्त के साधना-पथ भिन्न-भिन्न लगते हैं किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से उनमें

विशेष भिन्नता नहीं है। आत्मा का श्रवण, मनन और साक्षात्कार-यह वेदान्त की साधना-विधि है और जैन-दर्शन की साधना विधि है—आत्म-दर्शन, आत्म-ज्ञान और आत्म-रमण।

वेदान्त ज्ञानमार्गी है। जैन-दर्शन ज्ञानमार्गी भी है और कर्ममार्गी भी। कोरा ज्ञान-मार्ग और कोरा कर्म-मार्ग दोनों अपूर्ण हैं। परिपूर्ण पद्धति है दोनों का समुच्चय। मोक्ष की उपलब्धि के लिए कर्म अप्रयोजनीय हैं, जो आत्म-चिन्तन से शून्य हैं। इस अपेक्षादृष्टि से प्रयोजनीय कर्म आत्म-ज्ञान में समाहित हो जाते हैं। वेदान्त का दृष्टिकोण यही होना चाहिए। जैन-दर्शन इस तथ्य को इस भाषा में प्रस्तुत करता है कि कर्म से कर्म क्षीण नहीं होते अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं। मोक्ष पूर्ण संवर होने पर ही उपलब्ध होता है। पूर्ण संवर अर्थात् कर्म-निवृत्त-यवस्था।

जैन-दर्शन का प्रसिद्ध श्लोक है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टि रन्यदस्याः प्रपंचनम्॥

आस्रव—बाह्य-निष्ठा—भव का हेतु और सवर—आत्म-निष्ठा-मोक्ष का हेतु है। अर्हत् की दृष्टि का सार अंश इतना है ही है, शेष सारा प्रपंच है।

वेदान्त के आचार्यों ने भी इन्हीं स्वरों में गाया है—

अविद्या बन्धहेतुः, स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते॥

अविद्या—कर्म-निष्ठा—बन्ध का हेतु है और विद्या-ज्ञान-निष्ठा-मोक्ष का हेतु है।

जिसमें ममकार होता है, वह बंधता है और ममकार का त्याग करने वाला मुक्त हो जाता है।

एक दृष्टि में प्रमाण का वर्गीकरण दोनों दर्शनों का भिन्न है। दूसरी दृष्टि में उतना भिन्न नहीं हैं, जितना कि प्रथम दर्शन मे दीखता है। प्रत्यक्ष दोनों द्वारा सम्मत है। जैन प्रमाणविदों ने परोक्ष प्रमाण के पांच विभाग किए—स्मृति, २—प्रत्यभिज्ञा, ३—तर्क, ४—अनुमान, ५—आगम।

वेदान्त की प्रमाण मीमांसा में अप्रत्यक्ष के प्रमाण के विभागों का सग्राहक कोई शब्द व्यवहृत नहीं हुआ, इसलिए वहाँ अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति को स्वतन्त्र स्थान मिला।

जैन दर्शन की प्रमाण मीमांसा में अनुमान आदि के लिए एक परोक्ष शब्द व्यवहृत हुआ, इसलिए वहां उनकी स्वतन्त्र गणना नहीं हुई। अनुमान और आगम वेदान्त पद्धति में स्वतन्त्र-प्रमाण के रूप में और जैन-पद्धति मे परोक्ष प्रमाण के विभाग के रूप में स्वीकृत हैं। वेदान्त के उपमान और जैन के सादृश्य प्रत्यभिज्ञान मे कोई अर्थ भेद नहीं है। अर्थापत्ति का अर्थ है, दृश्य अर्थ को सिद्धि के लिए जिस अर्थ के बिना उसकी सिद्धि न हो, उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना।

यदि दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति निश्चित न हो तो यह प्रमाण नहीं हो सकती और यदि उसकी व्याप्ति निश्चित हो तो जैन प्रमाणविदों के अनुसार इनमें और अनुमान में कोई अर्थ-भेद नही होता।

उपसंहार

जैन और वेदान्त दोनों आध्यात्मिक दर्शन है। इसीलिए इनके गर्भ मे समता के बीज छिपे हुए है। अकुरित और पल्लवित दशा मे भाषा और अभिव्यक्ति के आवरण मौलिक समता को ढाककर उसमे भेद किए हुए है। भाषा के आवरण को चीरकर झांक सके तो हम पायेंगे कि दुनिया के सभी दर्शनों के अन्तस्तल उतने दूर नहीं हैं, जितने दूर उनके मुख हैं। अनेकान्त का हृदय यही है कि हम केवल मुख को प्रमुखता न दें, अन्तस्तल का भी स्पर्श करें। ★

समालोचना—परोक्ष में किसी के दोषों की समालोचना मत करो, जब तक तुम्हारी आत्मा मलिन है, तब तक उसे ही पर समझ उसी की आलोचना करो। जो त्रुटियां अपने में देखो उन्हें दूर करो। ऐसा करने से दूसरों की बुराई में तुम्हारा जो समय लगता था वह तुम्हारे ही आत्म-सुधार में काम आवेगा।

वर्णी-वाणी

आधुनिक विज्ञान और जैन दर्शन

पदमचन्द्र जैन

आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान के चमत्कारों को देखकर मानव दातो तले उँगुली दबाता है। विज्ञान के द्वारा ही अनेक बाते जो धर्म के नाम पर प्रचलित रूढियाँ थी, उनको समूल नष्ट किया गया। यही कारण हैं कि बहुत से धर्म और विज्ञान मे अधिकाधिक विरोध है।

जैनधर्म तो प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का बताया हुआ सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी है। इसी कारण यह वैज्ञानिक आविष्कारों का सहृदय स्वागत करता है।

भारत के प्राचीन दार्शनिक शब्दो को गगन का गुण बताते थे और उसे अमूर्तिक बताकर अनेक बातों का जाल फैलाया करते थे, परन्तु जैनाचार्य ने शब्दों को जड़ तथा मूर्तिमान बताया था। आधुनिक विज्ञान ने भी अपने ग्रामोफोन रेडियो इत्यादि आविष्कारो से उपरोक्त कथन की पुष्टी की।

प्राचीन काल में मनुष्यों का विचार था कि विश्व में पृथ्वी जल, अग्नि और प्रकाश आदि पाँच ही तत्व हैं, किन्तु सोलहवी सती के वैज्ञानिकों ने इन्हे मिथ्या सिद्ध कर दिया। तुलसीदास जी ने भी लिखा है—

"क्षिति जल पावक गगन समीरा,
पंच तत्व यह अधम शरीरा।"

जल हाइड्रोजन (H2) और आक्सीजन (O2) का एक यौगिक है। वैज्ञानिको ने इन्ही तत्वों को मिलाकर जल का निर्माण किया। इसी जल को पुनः गर्म करने पर अभीष्ट उपरोक्त तत्व प्राप्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जल अलग तत्व नहीं है।

पृथ्वी अवस्थाधारी अनेक पदार्थों को पानी और हवा रूप अवस्था मे पहुँचा कर यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी वास्तव में स्वतन्त्र तत्व नहीं है।

जो सभी तत्वों को स्थान देता है, वह गगन तत्व कहलाता है। प्राचीन दार्शनिक इसे अमूर्तिक और सर्वव्यापी मानते है। परन्तु जैन दर्शन में आकाश को दो रूपों में बतलाया गया है—१. लोकाकाश, २. अलोकाकाश लोकाकाश में छः तत्व होते हैं और अलोकाकाश में आकाश ही तत्व है। कहा भी गया है कि—

"जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयास अतवदिरित्तं ॥८६॥

पंचास्ति०।

आक्सीजन और नाइट्रोजन (N2) का मिलना और मिलकर हवा बनाना किसी भी रासायनिक सयोग के नियम से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

इससे सिद्ध होता है कि वायु तत्व नहीं हैं। कैविंडिश नामक वैज्ञानिक ने लिखा है कि—

If there is any part of the phlogisticated air (Nitrogen. of our atmosphere which differs from the rest.........it is not more than 1/120 part of the whole.

इस प्रकार वैज्ञानिक विचारों के अनुसार प्राचीन पाँच तत्व मिथ्या सिद्ध कर दिए गए।

जैन दर्शन में पानी की अनेक अशुद्धियों पर प्रकाश डाला गया। इसी कारण अहिंसामयी श्रावक जल को छानकर ही पीता है। इससे जल की बहुत सी अशुद्धियाँ दूर हो जाती है। वैज्ञानिको ने भी सूक्ष्म दर्शी यन्त्र के द्वारा सूक्ष्म जीवो को दिखलाया। जैनाचार्य अपने अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जानते थे।

वैज्ञानिक मतानुसार बिना छने पानी का सेवन करने से मनुष्य संक्रामक रोगो से ग्रसित हो जाता है। जैन साधु इसी कारण पके हुए पानी का सेवन करते है।

एक बार समाचार पत्र में कानपुर जिले की घटना प्रकाशित हुई थी। एक लडका खाट से उठकर नीचे रक्खे हुये लोटे का पानी पी गया। कुछ ही क्षण बाद उसका हृदय बहुत जोर से धड़कने लगा। डाक्टरों ने

उसके हृदय का आपरेशन कर एक बिच्छू को निकाला। इस प्रकार लड़के ने तड़फ-तड़फकर जान दे दिया।

उपरोक्त बातों से सिद्ध होता है कि पानी को छान कर ही पीना चाहिए। गर्म पानी सेवन करने से स्वास्थ ठीक रहता है।

अहिंसा की रक्षा के लिये जैन दर्शन में रात्रि भोजन त्याग की बात सप्रमाण कही गई है। समाचारपत्रो मे अनेकानेक रात मे खाने वाले मनुष्यों की घटनाएँ प्रकाशित होती हैं। कही चाय की पटली में छिपकली के चुर जाने के कारण चाय पीने वाले व्यक्तियों का मरण सुनने मे आता है और कही किसी दावत में पकते हुए वर्तनमे साँप के मर जाने से मनुष्य भी परलोक चला जाता है। प्रति वर्ष ऐसी घटनाएँ होती हैं।

आधुनिक विज्ञान भी इसी बात की पुष्टी करता है कि सूर्यास्त होने के बाद अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न होकर विचरण करने लगते हैं। वैद्य भी दिन के भोजन का समर्थन करते हैं।

जैन दर्शन पेड़-पौधों को एक जीव के रूप मे मानता है। जैनधर्माचार्यों ने इस तथ्य पर अपनी सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचना की है। हमारे स्व० वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु ने अपने यन्त्रो के द्वारा इस बात को सिद्ध किया है। आपने बतलाया कि अन्य जीवों के समान वनस्पति भी क्रिया कर्म करते है।

जैन दर्शन इस बात की पुष्टी करता है कि वस्तु का विनाश नही होता है। उसकी अवस्थाओं मे परिवर्तन हुआ करता है। भारत के कणाद मुनि ने भी कहा है कि पदार्थ सूक्ष्म कणों से मिलकर बनता है और इसे किसी भी क्रिया द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है। इटली और फ्रास के वैज्ञानिक एव दार्शनिक भी उपरोक्त कथन को दोहराते है।

सोलहवीं शताब्दी मे रावर्ट बॉयल नामक वैज्ञानिक ने अपने रासायनिक संयोग के नियम (Laws of chemical combination) में लिखा है कि पदार्थ को किसी भी क्रिया (भौतिक और रासायनिक) द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, केवल उसका रूपान्तर किया जा सकता है। इसी मत की ओर भी दूसरे वैज्ञानिक पुष्टी करते हैं।

आज करोड़ों मील दूरी से शब्दों का हमारे पास तक पहुँचाने में "ईथर" की आवश्यकता माध्यम के रूप से पड़ती है। इसी तत्व को वैज्ञानिकों ने कल्पना के रूप में माना। परन्तु हजारों वर्ष पहले ही लोकव्यापी "महा-स्कन्ध" नामक जैनाचार्यों ने पदार्थ के अस्तित्व को बतलाया है। इसी की सहायतासे भगवान आदिनाथके जन्मादि की सूचना क्षण मात्र में विश्व भर मे तड़ित के समान पहुँच जाती है। यह विस्तृत होते हुए भी सूक्ष्म बतलाया गया है।

जैन दर्शन इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्ति विद्यमान है। आधुनिक वेज्ञानिक भी एक तत्त्व से अनेकानेक चमत्कारपूर्ण वस्तुओं का निर्माण करते हैं। जैनधर्माचार्य आज भी कहते है कि ऐसी वस्तुओ का रहस्य छिपा हुआ है। आइस्टीन वैज्ञानिक भी इसी मत को दोहराते है।

जैनधर्म ने सदैव से इस बात का प्रचार किया है कि सत्य एक रूप में न होकर विविध धर्मो का संचय है। इसी बात को हम अनेकान्त वाद के नाम से स्मरण करते है। विश्व के महान दार्शनिक अनेकान्त रूपी सागर मे अपनी बुद्धी से तैरकर पार आने में सफलता को नही पा सके है।

भारत के शंकराचार्य जैसे ऋषी अनेकान्त बाद के रहस्य को नहीं समझ सके। आधुनिक वैज्ञानिक आंस्टाइन के अपेक्षावाद के सिद्धान्त जैन दर्शन के सिद्धान्त के पर्याय है। वह उनसे बहुत कुछ मेल खाते है।

जैन दर्शन में भोजन की शुद्धता पर अधिकाधिक बल दिया गया। वैज्ञानिक भी इस मत के प्रतिकूल नही है। शुद्ध भोजन खाने से स्वास्थ ठीक रहता है।

आधुनिक विज्ञान अभी उन्नतिशील है। यूरोपियन विद्वानों ने बहुत यथार्थ कहा है कि हम प्रकृति के उन रहस्यों का आविष्कार करेंगे, जिसको आज तक किसी भी व्यक्ति को देखने का सौभाग्य नही प्राप्त हुआ है।

उपरोक्त कथन इस बात का प्रमाण है कि जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान का सम्बन्ध निकट ही है। जैन दर्शन में विज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिकूल आज तक कोई भी बात नहीं मिली।

प्राकृत वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा का विहंगावलोकन

डा० सत्यरंजन बनर्जी

डा० ग्रियर्सन महोदय का विश्वास है कि प्राकृतभाषा के वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा प्राय: बाल्मीकि के तथाकथित सूत्रों पर आधारित है, जिन पर आगे चलकर त्रिविक्रम, सिहराज, लक्ष्मीधर, अप्पय दीक्षित, बाल सरस्वती एवं अन्य वैयाकरणो ने अपनी अपनी विधि से प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी शब्द एव सूत्र रचना कर टीका टिप्पणी की थी। यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने भी उन्हीं सूत्रों का अनुसरण किया, परन्तु उन्होने विभिन्न शब्दावली मे पृथक् सूत्रो से अपनी व्याकरण की रचना की थी। बाल्मीकि सूत्रो की प्रामाणिकता का प्रश्न अब तक निर्णीत नही हो सका है। डा० आ० ने० उपाध्ये का अभिमत है कि उपर्युक्त सूत्र निश्चय ही त्रिविक्रम के है जिनकी वृत्ति उन्होने स्वय रची थी१।

बाल्मीकि सूत्रों के कृतित्व के सम्बन्ध मे श्री निित्ति डोलची का भी यही अभिमत है पर वे मानते है कि सभी सूत्र सम्भवत: त्रिविक्रम के रचे हुए नही है२। अस्तु जो कुछ भी हो इन सूत्रो की रचना चाहे बाल्मीकि ने की हो चाहे त्रिविक्रम ने परन्तु यह सुनिश्चित है कि ये सूत्र प्राकृत व्याकरण की पाश्चात्य शाखा मे निर्धारित किये जावेंगे। अत: इन सूत्रों के कृतित्व की प्रामाणिकता का निर्णय भले ही न हो परन्तु इससे डा० ग्रियर्सन के अभिमत में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है कि ये सूत्र प्राकृत व्याकरण के पाश्चात्य शाखा से सम्बन्धित हैं।

इस विवादास्पद बात को न भी माने तो भी प्राकृत व्याकरण की पश्चिमी शाखा के सर्वप्रथम वैयाकरण नमि साधु हैं जो आ० हेमचन्द्र की भाँति जैन थे तथा तिथि क्रम मे वे आ० हेमचन्द्र से पूर्व हुए थे, क्योंकि रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका उन्होने १०६९ ई० मे रची थी३, जैसा कि उन्होंने काव्यालङ्कार की टीका के अन्तिम पद्य मे स्पष्ट लिखा है४। यद्यपि नमि साधु कृत किसी प्राकृत व्याकरण का ज्ञान हमे नहीं है पर रुद्रट कृत काव्यालङ्कार की टीका करते हुए उन्होने प्राकृत व्याकरण और विशेषतया शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाओं के व्याकरण सम्बन्धी कुछ मूल तत्वों का संक्षिप्त उल्लेख किया है५। नमि साधु ने काव्यालंकार की टीका में जिन सूत्रो का उल्लेख किया है वे प्राय. आ० हेमचन्द्र के सूत्रों से मिलते जुलते है६। अत: इन सूत्रो से प्रतीत होता है कि नमि साधु ने पश्चिमी भारत मे प्रचलित परम्पराओं का अनुसरण किया हो।

---

१. Valmiki Sutra : A Myth B. V. (Vol. II Part 2) 1941 P.P. 160-172 and Vol. XV Part 3) 1956 P-P. 28-31.
डा० उपाध्ये ने उपर्युक्त समस्या पर बडी गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया है और इस सिद्धान्त को निरर्थक सिद्ध किया है। श्री Hultzsch. श्री के. पी. त्रिवेदी, श्री टी. के. लड्डु, श्री निित्ति डोलची और प्राकृत मणिदीप के सम्पादक आदि ने भी इसी विषय पर विस्तृत विवेचन किया है।

2. Less. Gram. Pkts P.P, 179 F.F.

३. रुद्रटकृत काव्यालंकार नमि साधुकी टीका सहित सम्पादक दुर्गाप्रसाद और पन्सीकर काव्यमाला २-३ आवृत्ति बम्बई १९२८

४. पंचविंशति संयुक्तैः एकादश समाशतैः (११२५) विक्रमात् समातिक्रान्तैः प्रावृषिदाम् समर्थितम्।
(स० ११२५—१०६९ ई०)

५. श्री निित्ति डोलचीने मूल काव्यालंकार रोमन लिपि मे लिखा और फ्रेंच अनुवाद भाषा मे है, देखो Les. Gram. Pkts. p.p. 158-165.

६. देखो Dolci Ibid p.p. 165-169.

बुमि साधु के पश्चात् पश्चिमी शाखा में प्राकृत वैयाकरणों में सर्वाधिक प्रमुख स्थान प्रा० हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) को प्राप्त होता है१। जिन्होंने अपनी प्राकृत व्याकरण विस्तारपूर्वक ११११ सूत्रों में रचा, जो कि उनका संस्कृत व्याकरण के साथ-साथ सलग्न है। उनके व्याकरण का नाम "सिद्ध हैम शब्दानुशासन" है२ जो कि राजा सिद्धराज की प्रार्थना पर रचा गया था और उन्हीं को समर्पित किया गया था। 'सिद्ध हैम शब्दानुशासन' आठ अध्यायों मे विभाजित है जिनमें से अन्तिम अध्याय प्राकृत का है। प्रत्येक अध्याय चार पादो मे विभाजित है। यही व्यवस्था उन्होंने आठवे अध्याय की भी की है जैसा कि संस्कृत व्याकरण के प्रथम से सातवें अध्यायो की है। प्रा० हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के प्रथम पाद में २७१ सूत्र हैं जिनमे स्वर और व्यजन का विवेचन है। द्वितीय पाद में २१८ सूत्र हैं जिसमें अनेक विषय वर्णित हैं। १-१२४ सूत्र तक संयुक्त व्यंजनों का वर्णन हैं। १२५ से १४४ सूत्र तक संस्कृत शब्दों के लिए प्राकृत शब्दों का उल्लेख है। १४५ से १७३ सूत्र तक प्रत्ययों का वर्णन १७४वे सूत्र में देशी शब्द और १७५ से २१८ सूत्र तक अव्ययों का वर्णन है। इस तरह इन दो अध्यायों में तो स्पष्ट रूप से स्वर शास्त्र का विवेचन है। तृतीय पाद मे शब्दशास्त्र के और कुछ सीमा तक कारक प्रकरण के नियम उल्लिखित हैं। १ से १२९ सूत्रों तक विभक्तियों के नियम १३० से १३७ तक कारक के नियम और १३८ से १८२ सूत्रों तक धातु और कृदन्त का वर्णन है। चौथे पाद में १ से २५९ सूत्रों तक धात्वादेश, २६० से २८६ सूत्रों तक प्रादेशिक भाषाएँ जैसे शौरसेनी २८७ से ३०२ तक मागधी ३०३ से ३२४ तक पैशाची ३२५ से ३२८ तक चूलिका, पैशाची और ३२९ से ४४८ तक अपभ्रंश भाषा का वर्णन है३। प्रा० हेमचन्द्र ने अर्धमागधी के लिए 'आर्ष' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने सम्पूर्ण विषय को बड़े सुन्दर ढंग और विधिपूर्वक तौर तरीके से जमाया है तथा अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का कोई उल्लेख नहीं किया है कि किसका कौन सा विषय प्रयुक्त किया है। प्रा० हेमचन्द्र की व्याकरण की टीकाओं में दो टीकाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। एक तो श्री उदय सौभाग्य गणि की 'व्युत्पत्ति दीपिका'४ है जिस का नाम 'हैम प्राकृत वृत्ति ढुंढिका' है। जिसमें आचार्य हेमचन्द्र के नियमों को आधार मानकर एक एक व्युत्पत्ति परक व्याख्या प्रस्तुत की गई है तथा दूसरी टीका है प्राकृत प्रबोध नर (नरेन्द्र) चन्द्रसूरि कृत५। इन्होंने

१. देखो जी बुल्हर कृत Uber Das Leben Das Jaina Menches Hemacandra वियना १८८९ श्री मणिलाल पटेल द्वारा जर्मन से अनूदित 'हेमचन्द्र का जीवन" S. J. S, (No 11) शान्ति निकेतन १९३६

२. प्रा० हेमचन्द्र ने अपनी व्याकरण की दो टीकाएँ स्वयं लिखी हैं। १. बृहती, २. लघुवृत्ति (जिसे प्रकाशिका भी कहते हैं)।

३. प्रा० हेमचन्द्र की प्राकृत व्याकरण का सपादन डा० आर० पिशेल ने किया था—Hemchandra's Grammatik Der Prakrit Spranchen (सिद्ध हैम चन्द्रम् अध्याय ८) I. Theil (Te und wortverzeichaniss) Halle 1877 and II. Theil (uleersetzung und eralanterungen) Halle A. S. 1880 (रोमन लिपि मे) संपादक एस० पी० पंडित, कुमारपाल चरित्र के परिशिष्ट सम्पादन मे B. S. P. S. LX. बम्बई १९०० संपादक श्री पी० एल० वैद्य देव नागरी लिपि में हेमचन्द्र की स्वयं टीका प्रकाशिका सहित प्रथम आवृत्ति पूना १९२८, द्वि० आवृत्ति १९३६ (कुमारपाल चरित का परिशिष्ट संपादक श्री एस० पी० पंडित B. S P. S. LX).

४. पिशेल Gram, PKT. S,p. 29

५. पीटर्सन की प्रथम रिपोर्ट—१८८३) पृ० ५४, १२७ नं० ३०० नर (नरेन्द्र) चन्द्रसूरि मलधारी के शिष्य थे और सं० १६४५=१५८९ में टीका रची थी। Aufrechst मे प्राकृत प्रबोध के कर्त्ता का नाम नरचन्द्र लिखा है जबकि भंडारकर के सूचीपत्र मे उन्हें नरेन्द्र चन्द्रसूरि लिखा है। देखो A catalogue of collections of M.S.S." डेकन कालेज पूना बम्बई १८८० पृ० ३२८ नं० ३००

प्रथम तीन अध्यायों तथा चौथे के २५६ सूत्र तक जो भाषा प्रयुक्त की है वह स्पष्ट रूप से महाराष्ट्री है। पर यहाँ जो भाषा प्रयुक्त की है वह प्राकृत से भिन्न है जैसे अथ प्राकृतम् (८.१.१) शेषम् प्राकृतवत् (८.४.२८६) इत्यादि। डा० पिशेल[1] का अभिमत है कि आ० हेमचन्द्र ने जैन महाराष्ट्री का भी उल्लेख किया है और कहीं-कहीं जैन शौरसेनी का भी, पर कहीं भी इन दोनों देशी भाषाओं मे स्पष्ट से अन्तर नही दिखाया है। देशी शब्दों के लिए आ० हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' अकारादिक्रम मे आठ वर्गो मे विभाजित है जो उल्लेखनीय है[2]। भाषाशास्त्र की दृष्टि से आ० हेमचन्द्र पश्चिमी शाखा के सर्वाधिक प्रामाणिक, अधिकारपूर्ण एवं प्रतिनिधि प्राचीन विद्वान् है[3]। आ० हेमचन्द्र का प्रत्यक्ष रूप से सीधे किसी ने अनुसरण किया हो ऐसा कुछ भी पता नही चलता है परन्तु इतना अवश्य है कि उनके उत्तराधिकारी इस शाखा के प्राकृत वैयाकरण थोड़े बहुत रूप से आ० हेमचन्द्र के ऋणी अवश्य ही है। वाग्भट्ट प्रथम[4] (सम्भवतः १२वी सदी का प्रथम अर्धभाग) कृत 'वाग्भट्टालंकार' के टीकाकार सिंहदेव गणिनामक जैन साधु ने द्वितीय अध्याय के २-३ छदों की टीका करते हुए प्राकृत के कुछ नियमों का उल्लेख किया है और खासतौर से शौरसेनी मागधी, पैशाची और अपभ्रंश के नियमों का सोदाहरण उल्लेख किया है। अत. ऐसा प्रतीत होता है कि इन देशी भाषाओं का वर्णन करते हुए सिंहदेव गणि ने निस्सदेह हेमचन्द्र के सूत्रों का उसी तरह प्रयोग किया है जैसा कि आचार्य ने लिखा है। अतः सिंहदेवगणि की टीका में कोई उल्लेखनीय बात नही दिखाई देती है।

त्रिविक्रम[5] (१२३६-१३०० ई०) मल्लिनाथ के पुत्र और आदित्य वर्मन के पौत्र थे। उन्होने अपनी प्राकृत व्याकरण बाल्मीकि सूत्रों से भिन्न सूत्रों में रची हैं (डा० उपाध्ये इस मत को निरर्थक मानते है) त्रिविक्रम ने निश्चय ही हेमचन्द्र का अनुकरण किया है तथा प्राकृत (महाराष्ट्री यद्यपि नामोल्लेख नहीं किया है) और उसकी देशी भाषाओं शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश आदि का विवेचन किया है पर आ० हेमचन्द्र की भाति 'अर्धमागधी' या 'आर्ष' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अपभ्रंश मे त्रिविक्रम ने शायद संस्कृत छाया के कोई नवीनता नही प्रकट की है। निश्चय ही कुछ थोड़े से उदाहरण छोड़कर शेष सभी उदाहरणों की नकल उन्होंने हेमचन्द्र से ही की हैं। त्रिविक्रम ने अपनी

---

१. Ibid 36

२. आ० हेमचन्द्र की देशीनाममाला प्र० भाग सपादक आर० पिशेल (मूल व आलोचनात्मक नोट्स सहित) बम्बई १८८०। द्वि० आवृत्ति स० रामानुज स्वामी भूमिका आलोचनात्मक नोट्स और शब्द सूची सहित पूना १९३८। स० एम० डी० बनर्जी कलकत्ता १९३१, सं० बेचरदास जैन गुजराती अनुवाद सहित तथा पी० एल वैद्य कृत हेमचन्द्र की देशीनाममाला के अनुभव' ABORI VIII 1926-27 पृ० ६३-७१ डा० आ० ने० उपाध्ये का देशीनाम माला मे कनडी शब्द ABORI XII 1931-32 p. 274-84.

३. देखो—C. Lessen, Institution etc. pp 9 F.F. R. Pischel. De, Gram, PKTS. P. 17 Gram PKT. Spr. 36 Nitri Dolhi Les, Gram PKTS. pp. 147-177.

४. वाग्भट्ट कृत वाग्भट्टालंकार की सिंहदेवगणि कृत टीका—सं० केदारनाथ शास्त्री और व्ही० एल० एस० पान्सीकर काव्यमाला ४८ तृ० आवृत्ति १९१६

५. आर. पिशेल Dr. Gram, PKTS. P. 27 Gram, PKT. Spr. 38 T. K. लड्डू Prolegomena Zu Trivikrama Prakrit Grammatik, Halle 1912 अंग्रेजी में अनूदित By श्री पी० व्ही रामानुज स्वामी ABORI X 1930, P. 177-218, भट्टनाथ स्वामी कृत त्रिविक्रम और उनके अनुकार्य ZAXL. P. 219-223, डा० आ० ने उपाध्ये द्वारा लिखित 'त्रिविक्रम की तिथि पर नोट्' ABORI XIII 1932-33 P. 171-172 डा० उपाध्ये का मत है कि त्रिविक्रम ने अपनी व्याकरण १२३६ ई० के बाद लिखी और पी० एल० वैद्य १३वी सदी के अन्तिम अर्ध भाग मानते हैं, श्री निश्रि डोलची Les Gram, PKTS. P. 179-198.

स्वयं की शब्दावली का प्रयोग किया है जैसे ह्रस्व के लिए 'ह्' दीघ के लिए 'दी' समास के 'स' गण पर के लिए 'ग' विकल्प के लिए 'तु' इत्यादि। त्रिविक्रम के "प्राकृत शब्दानुशासन मे१, १०३६ सूत्र हैं और वे तीन अध्यायों में विभाजित है२ और प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभाजित है। त्रिविक्रम ने "शेषम् सस्कृतवत्" (३,४,७१) के अन्तंगत विषय को द्वादशपदी कहा है। प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में त्रिविक्रम की सबसे बड़ी देन उनके देशी शब्द हैं जिन्हें उन्होंने छः वर्गो में विभाजित किया है। (६)—वापु आय्याद्यः (१,२,१०६)२ गोणद्याः (१,३,१०५)३ गहिआद्याः (१,४,१२१) ४— बरड् शास्तृन्मद्यैः (२,१,३०) ५—अप्फुण्णगाक्तेन (३-१-१३२) ६—झाङ्गास्तुदेश्याः सिद्धाः (३,४,७२) आदि, जबकि आ० हेमचन्द्र ने केवल एक ही सूत्र "गोणाद्याः" (८,२,१७४) और देशी नाममाला ही लिखी है। त्रिविक्रम के कुछ ही शब्द ऐसे हैं जो हेमचन्द्र से मिलते जुलते हैं पर उन्होंने हेमचन्द्र के बाद कुछ समकालीन साधनों से बहुत से नवीन शब्दों का सग्रह किया है३।

त्रिविक्रम की व्याकरण में जो सूत्र है उन पर सिंहराज, लक्ष्मीधर, अप्पय दीक्षित, बाल सरस्वती तथा अन्य विद्वानो ने टीका रची है। उनमें से सिंहराज (१३००–१४०० ई०)४ ने केवल ५७५ सूत्रों की और लक्ष्मीधर ने (१४७५–१५२५ ई०) ६६४ सूत्रों की टीका की। पर अप्पय दीक्षित ने (१५५३–१६२६ ई० के) लगभग सभी सूत्रों की टीका की है। बाल सरस्वती (१७वी–१८वी सदी ई०) की टीका अब तक छपी नही है। यद्यपि यह सुनिश्चित सत्य है कि समुद्रबधायेज्वन के सुपुत्र सिंहराज ने त्रिविक्रम से बहुत-सी सामग्री संकलित की है, पर नियमों के अतिरिक्त उनमे कोई समानता नहीं पाई जाती है। सभी व्यावहारिक उद्देश्यो के हेतु सिंहराज ने अपनी प्राकृत व्याकरण निम्न भागों में विभाजित की है५। १–संज्ञा विभाग, २–परिभाषा विभाग, ३–सहिता विभाग, ४–सुबन्त विभाग, ५–तिङन्त विभाग, ६–शौर-सेन्यादि विभाग। उपर्युक्त वर्गीकरण से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहराज के दिमाग में पाणिनी की अष्टाध्यायी पर निर्मित कौमुदी के वर्गीकरण की व्यवस्था रही होगी। सिंहराज की टीका प्राकृत के विद्यार्थियो को बहुत ही लाभदायक और उपयोगी है। डा० पिशेल का मत है कि सिंहराज कृत 'प्राकृत रूपावतार' कोई महत्वहीन कृति नही है, क्योंकि विभक्ति रूप और धातुरूप का ज्ञान उन्हे हेमचन्द्र और त्रिविक्रम की अपेक्षा अधिक था इसीलिए सिंहराज ने कुछ और अधिक विधियों का सहजता से प्रयोग किया है। निस्सन्देह उनकी ये बहुत-सी विधियाँ सिद्धान्ततः तर्कणीय हैं परन्तु उनका निर्माण निश्चय ही नियमानुसार हुआ है अतः उन्हें महत्वहीन या तुच्छ नहीं कहा जा सकता है६।

इसी तरह लक्ष्मीधर७ की 'सद्भाषा चन्द्रिका' नामक प्राकृत व्याकरण त्रिविक्रम के सूत्रों की टीका है। उन्होंने

१. त्रिविक्रम का सूत्र पाठ (छन्दबद्ध) भट्टनाथ स्वामी ने प्रकाशित किया। पृ० १–२८ तिथि कोई नहीं है। सम्पादक जगन्नाथ शास्त्री चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस संवत् २००७
सम्पादक पी. एल. वैद्य जैन संस्कृति संरक्षक सघ शोलापुर १९५४ (अन्तिम आलोचनात्सक आवृत्ति)

२. पी. एल. वैद्य के सम्पादन के अनुसार इन सूत्रों की संख्या १०३६ है लेकिन डा० उपाध्ये ने अपने लेख शुभचन्द्र और उनकी प्राकृत व्याकरण (Abori XIII) मे केवल १०८५ सूत्रो का उल्लेख किया है।

३. Pischel gram Pkt. Spr. 41

४. ये तिथियाँ लगभग अनुमानित हैं। देखो श्री पी. एल. वैद्य कृत 'त्रिविक्रमकी व्याकरण की भूमिका' पृष्ठ २४

५. प्राकृत रूपातार सिंहराज कृत संपादक E. Hultzsch रायल एशियाटिक सोसाइटी प्राइज पब्लिकेशन फड Vol I लदन १९०९

6. Translated by Hultzsch Ibid I P I From Pischel's Gram. Pkt. Spr. 39. This is nothing but a short summery of what he says in his De. Gram Pkt. PP. 39-43.

७. सम्पादक श्री के. पी. त्रिवेदी B.S.PS. No LXXL बम्बई १९१६

वही क्रम निर्धारित किया है जो त्रिविक्रम का है। उनके व्याकरण में यह विशेषता है कि उन्होंने त्रिविक्रम और सिंहराज के पश्चात् उपलब्ध कुछ नवीन विधियों का प्रयोग किया है।

अप्पय दीक्षित की प्राकृत मणिदीप (दीपिका) भी त्रिविक्रम की टीका ही है। उन्होने अपनी टीका तथा तत्कालीन उपलब्ध कुछ प्राकृत की विधियों के अतिरिक्त और कुछ नवीन प्रयोग नहीं किया है। अप्पय दीक्षित ने त्रिविक्रम, हेमचन्द्र, लक्ष्मीधर, भोज, पुष्पवननाथ, वररुचि और वार्तिकार्णव भाष्य अप्पयज्वन आदि का अधिकारी विद्वानों की भाँति स्मरण किया है। पर यहाँ यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि त्रिविक्रम को व्याकरण पर सबसे तुच्छ प्राकृत व्याकरण नरसिंह की प्राकृत शब्द-दीपिका१ है। इसका प्रारम्भिक भाग ग्रन्थ प्रदर्शनी सीरीज न० ३ और ४ में प्रकाशित हो गया है।

श्री कृष्णमाचार्य ने२ अभी हाल हमे सूचित किया है कि बाल सरस्वती एडापल्ली (Edappalli) के निवासी थे। जिन्होने 'सद्भाषा विवरण' नामक प्राकृत व्याकरण रची थी जो वाल्मीकि के प्राकृत सूत्रों तथा त्रिविक्रम की टीका पर आधारित है जिसका उल्लेख उन्होंने स्वय अपनी भूमिका सम्बन्धी पद्यों में किया है३। बाल सरस्वती की रचना अब तक प्रकाश में नही आई है परन्तु देवनागरी लिपि मे लिखी एक कागज की पाडुलिपि अध्यार पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसके १४६ पृ० हैं। श्री Aufrecht ने अपनी सूची में इसका उल्लेख नहीं किया है। बाल सरस्वती का यथार्थ नाम वेंकटकृष्ण कवि है जो कृष्णदेव के पुत्र तथा भैरव के पौत्र थे। वे 'बाल सरस्वती' तथा 'वागानुशासन' नामक उपाधियों मे विभूषित थे। वे तेलगु के कवि थे तथा उन्होंने बहुत-सी मूल रचनाएँ एवं टीकाएँ लिखी थी। उनका 'सद्भाषा विवरण' कई अध्यायों में विभाजित है, जैसे सज्ञाप्रकरण, सन्धि प्रकरण, सुबन्ताधिकार, तद्धित प्रक्रिया और तिङन्त प्रकरण। उन्होंने शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि के अतिरिक्त एक "भाषा विनियोग" नामक नवीन अध्याय भी जोड़ा है। इन सब बातों के अतिरिक्त बाल सरस्वती के विषय मे और कुछ तब तक नही लिखा जा सकता है जब तक कि उनकी कृति प्रकाशित नहीं होती है।

त्रिविक्रम की भाँति शुभचन्द्र ने भी 'शब्द चिन्तामणि'४ नामक प्राकृत व्याकरण की रचना की है, वे नन्दिसंघ, मूलसंघ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय पद्मनन्दी, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञानभूषण और विजयकीर्ति आदि आचार्यो की शिष्य परम्परा मे थे। शुभचन्द्र ने शब्द चिन्तामणि' की टीका भी की है जो तीन अध्यायों मे विभाजित है और प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभाजित है। इसमें त्रिविक्रम के १०३६ की जगह १२२४ सूत्र है, (डा० उपाध्ये १०८५ सूत्र बताते है) उनके अनुसार प्राकृत भाषाए महाराष्ट्री (९९८ सूत्र) शौरसेनी (२६

१. सम्पादक श्री टी टी. श्रीनिवास गोपालाचार्य, संपादक की 'प्राकृत मणिदीप दीपिका' नामक टीका सहित। ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन, संस्कृत सीरीज नं० ९२, मैसूर १९५४ (१९५३?)

२. यह सब सूचना उनकी पाडुलिपि नोट्स पर आधारित है जो 'ब्रह्मविद्या' में प्रकाशित हुए हैं। (अध्यार लायब्रेरी बुलेटिन) Vol. XXVI. भाग १–२ मई १९२६ पृ० ९८–१००

३. वाल्मीकिम् सूत्रकारं च वृत्तिकारम् त्रिविक्रमम्।
वन्दामहे महाचार्यान् हेमचन्द्रादिकानपि ॥
पृष्ठ ९९

४. A. D. F. Hoernle IA. (ii) 1873 P. 29 इसमे उन्होंने एक प्रश्न प्रकाशित किया है कि शब्दचिन्तामणि' की कही कोई अन्य प्रति भी उपलब्ध है अथवा नही? उनके पास शुभचद्र की व्याकरण के दो ही अध्याय प्राप्त है। पर अन्त मे डा० आ० ने उपाध्ये ने अपने लेख 'शुभचन्द्र और उनकी प्राकृत व्याकरण' ABORI XIII 1931-32, PP, 37-38 में सभी सभव सूचनाएँ प्रस्तुत की हैं। डा० उपाध्ये ने केवल प्रशस्ति और शौरसेनी का ही संपादन किया है (देखो परिशिष्ट अ, ब, पृ० ५४-५७) मेरी सभी जानकारी उन्हीं पर आधारित है।

सूत्र) मागधी (१८ सूत्र) पैशाची (२१ सूत्र) चूलिका पैशाची (४ सूत्र) और अपभ्रंश (१५७ सूत्र हैं)। उनका अपभ्रंश वाला भाग बहुत ही हीन है। शुभचन्द्र ने सूत्र तथा उनकी टीका की रचना बिल्कुल ही भिन्न शब्दावली में की है। यद्यपि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का उल्लेख नहीं किया है फिर भी लिखा है कि अपनी व्याकरण की रचना मे उन्होंने बहुत-सी प्राकृत व्याकरणों का उपयोग किया है। (शुभचन्द्र मुनीन्द्रेण लक्षणाब्धि विगाह्य वै प्राकृत लक्षणं चक्रे······प्रशस्ति) शुभचन्द्र के व्याकरण की आलोचनात्मक व्याख्या से इस तथ्य का स्पष्ट पता चलेगा कि उनकी व्याकरण तथा हेमचन्द्र और त्रिविक्रम की व्याकरण में कितनी समानता है[१]। निश्चय ही शुभचन्द्र ने सूत्रों व वृत्ति के निर्माण मे हेमचन्द्र का अनुकरण किया है (कुछ सूत्र तो दोनों के एक जैसे ही है) और त्रिविक्रम के सूत्र पाठ का क्रम तो वैसे का वैसा ही उद्धृत किया है। सत्य तो यह है कि शुभचन्द्र ने हेमचन्द्र और त्रिविक्रम का मशीन की भाँति अनुकरण किया है। अतः यह स्वाभाविक है कि वे प्राकृत साहित्य की प्रगति मे बहुत ही थोड़ा सा योगदान कर सके। डा० आ० ने० उपाध्ये[२] ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शुभचन्द्र की साहित्यिक गतिविधियां १५५१ ई० से पूर्व ४० वर्ष तक विकसित होती रही जब कि उन्होंने १५५१ ई० में अपना पाडव पुराण समाप्त किया था।

इस शाखा की एक और प्राकृत व्याकरण श्रुतसागर कृत 'औदार्य चिन्तामणि'[३] के छ. अध्याय हैं और इसके विषय में श्री एस. पी. रंगनाथ स्वामिन् का विश्वास है कि श्रुतसागर की रचना हेमचन्द्र और त्रिविक्रम की अपेक्षा अधिक विस्तृत, गम्भीर एवं विश्लेषणात्मक है। उन्होंने अपनी व्याकरण मे अन्य वैयाकरणों की भाँति कोई विशिष्ट तकनीकी प्रयोग नही किये हैं। उनकी रचना दूसरों की अपेक्षा सर्वथा स्वतन्त्र है पर उनके सूत्रो का सूक्ष्म विश्लेषण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे हेमचन्द्र के अत्यधिक समीप एव त्रिविक्रम से विशेषतया प्रभावित है। श्री आर. जी भडारकर[४] श्रुतसागर की साहित्यिक गतिविधियों का काल १४९४ ई० के लगभग मानते है। और पीटर्सन[५] तथा विद्याभूषण[६] भी इस काल निर्णय से सर्वथा सहमत हैं।

इस तरह पश्चिमी शाखा की सभी व्याकरणों का विश्लेषण एवं विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी में छः प्रमुख प्राकृत भाषाओं का उल्लेख है। जैसे महाराष्ट्री (यद्यपि नामोल्लेख नहीं किया है) शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। उत्तरवर्ती आचार्यों की देन प्रमुखतया उनके देशी शब्दों के सग्रह मे निहित है जो उन्होंने कुछ तो स्वय अनुभव से प्राप्त की है या फिर तत्कालीन साहित्य मे संग्रह किया। फिर भी व्यवहारिकरूप से सभी समान हैं केवल हेमचन्द्र और त्रिविक्रम ही ऐसे है जिन्हे कुछ विशिष्ट और मौलिक कहा जा सकता है।　　　　**अनु० कुन्दनलाल जैन**

---

१. उनकी व्याकरणों तुलना के लिए देखो "लड्डू का त्रिविक्रम आदि का परिचय" अंग्रेजी में अनूदित ABORI IXI. P. 206, उपाध्ये Ibid P. 55. FF.

२. Ibid PP. 43 FF.

३. आर० एल० मित्रा, Proe. AS. B. 1875 P. 77 "संस्कृत पांडुलिपियों की सूचना (iii) पृ० १९ सपादक भट्टनाथस्वामिन् पृ० २९-४४ Nodate· S P.V. रगनाथ स्वामी भारत की साहित्यिकनिधि प्राकृत पाडुलिपियों की शोध, श्रुतसागर-औदार्य चिन्तामणि, Reprint from the Dawa magazine विजगापट्टम १९१०.

४. संस्कृत पाडुलिपियों की शोध पर रिपोर्ट १८८३-८४

५. रिपोर्ट IV. P C. XXIII.

६. श्री एस० सी० विद्याभूषणकृत 'भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास" कलकत्ता १९२१ पृ० २१५

अनेकान्त और वीरसेवामन्दिर के प्रेमी

श्री बाबू छोटेलालजी

श्रीजुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर'

समन्तभद्राश्रम की दिल्ली-करौल बाग मे २१ जुलाई १९२९ को स्थापना हो जाने के बाद कोई चार महीने बाद 'अनेकान्त' पत्र का नवीन प्रकाशन मेरे सम्पादकत्व मे प्रारम्भ हुआ था। उस समय अनेकान्त को पूर्ण मनोयोग के साथ आद्योपान्त पढने वाले पाठकों मे श्री बा० छोटेलाल जी जैन का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। आप कलकत्ता के सुप्रसिद्ध धर्मनिष्ठ सेठ रामजीवन सरावगी के आठ पुत्रों मे पाँचवे पुत्र थे, धनाढ्य होने के साथ-साथ आप विद्वान् भी थे; साहित्य, इतिहास तथा पुरातत्व के विषय मे अच्छी रुचि रखते थे; जैन धर्म और समाज की आपके हृदय में चोट थी, दोनो को आप उन्नतावस्था मे देखना चाहते थे और अपनी शक्ति के अनुसार प्रायः चुपचाप काम किया करते थे। पत्र की तीन किरणों के निकल जाने पर जब आपसे उन पर सम्मति मांगी गई तब आपने जो सम्मति भेजी वह अनेकान्त की संयुक्त किरण ६-७ मे 'अनेकान्त पर लोकमत' शीर्षक के नीचे नं० ६७ पर प्रकाशित हुई है। उसके आदि-मध्य और अन्त के तीन अंश इस प्रकार हैं:—

"जो पत्र प्राक्तन विमर्श विचक्षण विद्या-वयोवृद्ध श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी के तत्वावधान मे प्रकाशित हो उस पर सम्मति की क्या आवश्यकता है। श्री मुख्तार जी के लेखों के पढ़ने का जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे भले प्रकार जानते हैं कि आपका हृदय जैनत्व से ओत-प्रोत भरा हुआ है, जैन इतिहास के अन्वेषण मे तो आप एक अद्वितीय रत्न है। अन्य कृतियों के सिवाय केवल आपका 'स्वामी समन्तभद्र' ही इस बात का सजीव उदाहरण है। आप जैसे कृत विद्य अध्यवसायी महानुभाव सम्पादक हैं यही मुझे सन्तोष है।"

"तीनों ही अंक भीतरी और बाहरी दोनों दृष्टियों से बहुत सुन्दर हैं। लेखों का चयन और सम्पादकीय टिप्पणियाँ बड़े मारके की है। सम्पादनकला-कुशलता का पूर्ण परिचय सामने है और अपने यशोविस्तार और उद्देशसाफल्य की पूर्व सूचना देते हैं। तीनों ही अंक जैसी उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण प्रकाशित हुए हैं उसे देखते हुए इसके उज्ज्वल भविष्य में किसी प्रकार का संदेह नही किया जा सकता।"

"यह अनेकान्त" पत्र निःसदेह जैन जाति के हृदय में उस आवश्यक शक्ति का संचार करेगा और पुनः इस पवित्र सार्वधर्म की ध्वजा संसार में फहरायेगा। श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि इस नव जात शिशु को चिरंजीव करें।"

आश्रम तथा 'अनेकान्त' पत्र की सहायतार्थ जब कुछ प्रेरणात्मक पत्र समाज के प्रतिष्ठित पुरुषों तथा विद्वानों को भेजे गये तब इनमे एक पत्र बा० छोटेलाल जी के भी नाम था, जिसके उत्तर में अक्टूबर १९३० को जो महत्व का पत्र उन्होने अपने हृदय के भावों को व्यक्त करता हुआ भेजा वह अनेकान्त की १२वीं किरण में पृ० ६५ पर प्रकाशित हुआ है। उसके निम्न शब्द खास तौर से ध्यान में लेने योग्य हैं:—

"जो अनेकान्त" पत्र इतना उपयोगी है और जिसे पढ़ते ही पूर्व गौरव जागृत हो उठता है उसे भी सहायता के लिए मुँह खोलना पड़े—समाज के लिए इससे बढ़कर लज्जा की बात नहीं है। यदि योरुप में ऐसा पत्र प्रकाशित होता तो न जाने वह सस्था कितनी शताब्दियों के लिए अमर हो जाती है।"

इस पत्र में उन्होने सहायता का भी कुछ आश्वासन दिया था और पत्र का जीवन २-३ वर्ष के लिए निष्कण्टक हो जाने के लिए खर्च का Estimate (तखमीना) भी पूछा था, जो उन्हे बतला दिया गया था। अनेकान्त की १२वी किरण निकलने के बाद समन्तभद्राश्रम का

सरसावा के लिए स्थान परिवर्तन हो गया, जिसका कारण उक्त किरण मे 'आश्रम का स्थान परिवर्तन' शीर्षक के नीचे दिया गया है। पत्र की घाटा-पूर्ति के लिए समाज का यथेष्ट सहयोग प्राप्त नहीं हो सका और इसीलिए आश्रम के दिसम्बर १९३० मे सरसावा जाने पर 'अनेकान्त पत्र अगले वर्ष की सूचना' के अनुसार प्रकाशित नही हो सका—उसका प्रकाशन बन्द हो गया।

सन् १९३३ में वीरसेवा मन्दिर की स्थापना का संकल्प करके मैंने उसके लिए अपने निजी खर्चे से नाग पंचमी (श्रावण शुक्ला ५) के दिन बिल्डिंग के निर्माण का कार्य सरसावा मे शुरू कर दिया और मुझे दिन रात उसी के कार्य मे जुट जाना पड़ा। जनवरी १९३४ मे 'जयधवला का प्रकाशन' नाम का मेरा एक लेख प्रकट हुआ, जिसे पढ़कर उक्त बा० छोटेलाल जी बहुत ही प्रभावित हुए. उन्होंने 'अनेकान्त' को पुनः प्रकाशित कराकर मेरे पास का सब ज्ञान धन ले लेने की इच्छा व्यक्त की और पत्र द्वारा अपने हृद्यगत-भाव की सूचना देते हुए यह भी लिखा कि—"व्यापार की अनुकूल परिस्थिति न होते हुए भी मैं अनेकान्त के तीन साल के घाटे के लिए इस समय ३६००) रु० एक मुश्त आपको भेट करने के लिए प्रोत्साहित हूँ, आप उसे अब शीघ्र ही निकाले।" उत्तर मे धन्यवाद के साथ मैंने लिख दिया, मैं इस समय वीरसेवा-मन्दिर के निर्माण-कार्य मे लगा हुआ हूं—ज़रा भी अवकाश नही हैं—बिल्डिग को समाप्ति और उसका उद्घाटन मुहूर्त हो जाने के बाद 'अनेकान्त' को निकालने का यत्न बन सकेगा, आप अपना बचन धरोहर रखें।"

बिल्डिग का उद्घाटन और वीरसेवा मन्दिर का स्थापन कार्य वैशाख सुदि अक्षय तीज ता० २४ अप्रैल १९३६ को सम्पन्न हो गया। इसके बाद सितम्बर १९३६ में 'जैनलक्षणावली' के कार्य को हाथ मे लेते हुए जो सूचना निकाली गई थी उसमे यह भी सूचित कर दिया गया था कि "अनेकान्त को भी निकालने का विचार चल रहा है। यदि वह धरोहर सुरक्षित हुई और वीरसेवा मन्दिर को समाज के अच्छे विद्वानों का यथेष्ट सहयोग प्राप्त हो सका तो आश्चर्य नही कि 'अनेकान्त' के पुनः प्रकाशन की योजना शीघ्र ही प्रकाशित कर दी जाय।" वह धरोहर सुरक्षित नहीं रही बा० छोटेलाल जी को लिखने पर मालूम हुआ कि उन्होंने वह रकम दूसरे धर्म कार्यों में दे डाली है, क्योंकि वे धर्म कार्य के लिए निकाली हुई रकम को अधिक समय तक अपने पास नही रखते। इस तरह अनेकान्त का प्रकाशन और टला और उसके पुन. प्रकाशन का योग उस वक्त तक नही भिड़ा जब तक कि ला० तनसुखराय जी (मैनेजिंग डाइरेक्टर तिलक बीमा कम्पनी) देहली का श्रीभाई अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय को साथ लेकर जुलाई १९३८ के वीरशासन जयन्ती के उत्सव मे, उत्सव के प्रधान की हैसियत से, वीरसेवा-मन्दिर में पधारना नही हुआ। आपने वीरसेवा मन्दिर के कार्यों को देखकर अनेकान्त के पुनः प्रकाशन की आवश्यकता को महसूस किया और गोयलीय जी को तो उसका बन्द होना पहले ही खटक रहा था—वे प्रथम वर्ष मे उसके प्रकाशक थे और उनकी देशहितार्थ जेल यात्रा के बाद ही वह बन्द हुआ था। अतः दोनों का अनुरोध हुआ कि 'अनेकान्त' को अब शीघ्र ही निकलना चाहिए। लाला जी ने घाटे के भार को अपने ऊपर लेकर मुझे आर्थिक चिन्ता से मुक्त रहने का वचन दिया और गोयलीय जी ने पूर्ववत् प्रकाशन के भार को अपने ऊपर लेकर मेरी प्रकाशन तथा व्यवस्था सम्बन्धी चिन्ताओ का मार्ग साफ कर दिया। ऐसी हालत मे दीपमालिका से—नये वीर निर्वाण सवत् के प्रारम्भ होते ही अनेकान्त को निकालने का विचार सुनिश्चित हो गया। तदनुसार ही १ नवम्बर १९३८ से उसका पुनः प्रकाशन शुरू हो गया।

इस प्रकार जब अनेकान्त के पुन. प्रकाशन का सेहरा ला० तनसुखराय जी के सिर पर बँधना था तब इससे पहले उसका प्रकाशन और उसमें बा० छोटेलाल जी की संकल्पित उक्त ३६०० रु० की धन राशि का विनियोग कैसे हो सकता था? इसी से वह धरोहर सुरक्षित नही रही, ऐसा समझना चाहिए। अस्तु अनेकान्त को आठ वर्ष बाद पुनः प्रकाशित देखकर और यह देखकर कि उसका वार्षिक मूल्य भी लागत से कम ४) के स्थान पर २॥) रु० कर दिया गया है बा० छोटेलाल जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अनेकान्त की बराबर प्रतीक्षा मे

रहते थे और उनके प्राप्त होते ही स्वस्थ हों या अस्वस्थ उसे बड़ी रुचि तथा चाव से आद्योपान्त पढ़ा करते थे। अनेकान्त से और उसके कारण मुझसे वे कितना प्रेम रखते थे इसे उनके ३१ अगस्त १९३९ के पत्र से कुछ जाना जा सकता है, जिसे अनेकान्त वर्ष २ की १२वी किरण में सम्पादकीय वक्तव्य के साथ प्रकाशित किया गया था। उसके कुछ अशों को यहाँ उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है :—

"मेरे तुच्छ हृदय मे आपके प्रति कितनी श्रद्धा है यह मैं अभी तक प्रत्यक्ष न कर सका हूँ। आपने जैन समाज को जो कुछ प्रदान किया है उसका बदला तो यह जैन समाज न चुका सकेगी, पर भावी जैन समाज अवश्य ही कृतज्ञता प्रकट करेगी। साहित्यिक अनुसन्धान कार्य करने की शिक्षा विश्वविद्यालयो से प्राप्त करनी पडती है पर आपके अनेकान्त में प्रकाशित लेखों को पढकर ही अनेक विद्वान आज अच्छे-अच्छे लेख लिखने लगे हैं। अनेकान्त निकलने के पूर्व के लेख और तत्पश्चात् के लेखों को यदि सामने रखकर तुलना की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा। आपकी कार्य प्रणाली मे मौलिकता है। इस प्रकार की विशेष बाते इस समय मैं लिखकर आपको कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता हूँ। पर तो भी इतना ही निवेदन है कि अभी आपसे बहुत कुछ लेना है।"

सितम्बर १९४१ की अनेकान्त किरण ८ मे 'वीर सेवा मन्दिर के सच्चे सहायक' नाम से मैंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी, जिससे वीरसेवा मन्दिर के बा० छोटे लाल जो के तत्कालीन प्रेम, सहयोग और सहायतादि का कितना ही पता चलता है। अतः यहाँ उसे ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है :—

"श्रीमान् माननीय बा० छोटेलाल जी जैन कलकत्ता मेरी तुच्छ सेवाओं के प्रति बड़े ही आदर-सत्कार के भाव को लिए हुए हैं, यह बात 'अनेकान्त' के उन पाठकों से छिपी नही है जिन्होंने आपके विशुद्ध हृदयोद्गारों को लिए हुए वह पत्र पढ़ा है जो द्वितीय वर्ष की १८वी किरण के टाइटिल पेज पर मुद्रित हुआ है। यही कारण है कि आप मेरी अन्तिम कृतिरूप इस वीरसेवामन्दिर' को बड़े प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, उसके साथ पूर्ण सहानुभूति रखते हैं और उसको सहायता करने-कराने का कोई भी अवसर व्यर्थ नहीं जाने देते। इस संस्था को स्थापित करने के कोई एक साल बाद जब मैं कलकत्ता गया तो आपने साहू शान्तिप्रसाद जी जैन रईस नजीबाबाद से मुझे तीन हजार ३०००) रु० की सहायता का वचन 'जैन लक्षणावली' आदि की तैयारी के लिए दिलाया और मेरे बिना कुछ कहे ही चलते समय चुपके से ही ३००) तीन सौ रु० औषधालय तथा फरनीचर के लिए भेट किये। आप वीरसेवामन्दिर को बहुत बड़ी चिरस्मरणीय सहायता करना चाहते थे परन्तु देवयोग से वह सुयोग हाथ से निकल गया, जिसका आपको बहुत खेद हुआ। बाद को आपने ५००) अपने भतीजे चि० चिरंजीलाल के आरोग्य लाभ की खुशी में भेजे, १००) रु० अपने मित्र बा० रतनलालजी झांझरी से लेकर भेजें, २००) रु० अपने छोटे भाई बा० नन्दलाल जी से और २००) रु० अपनी पूज्य माता जी से दिलवाये। अपनी धर्म पत्नी के स्वर्गारोहण से पूर्व किये गये दान में से पाँच हजार ५०००) रु० की बड़ी रकम इस सस्था के लिए निकाली। 'अनेकान्त' पत्र के लिए स्वयं १३५) रु० भेजे, २००) रु० सेठ बैजनाथ सरावगी से दिलाये, और कलकत्ते के कितने ही सज्जनों को स्वय पत्र लिखकर तथा साथ मे नमूने की कापियाँ भेजकर उन्हे अनेकान्त का ग्राहक बनाया। इसके सिवाय गत मार्च मास में आपके जेष्ठ भ्राता बा० फूलचन्द जी का स्वर्गवास हो गया था, उस अवसर पर सात हजार ७०००) रु० का जो दान निकाला गया था उसका स्वयं बटवारा करते हुए हाल में १०००) रु० वीरसेवामन्दिर को प्रदान किये हैं। ऐसे सच्चे सहायक एवं उपकारी का आभार किन शब्दों में प्रकट किया जाय, यह मुझे कुछ भी समझ नहीं पड़ता। मेरा हृदय ही सर्वतोभाव से उसका ठीक अनुभव करता हुआ आपके प्रति झुका हुआ है—शब्द उसके लिए पर्याप्त नहीं है, खासकर ऐसी हालत में जबकि आभार के प्रकटीकरण से आपको खुशी नहीं होती और अपने नाम तक से आप दूर रहना चाहते हैं। मैंने भाई फूलचन्दजी का चित्र प्रकाशनार्थ भेजने को लिखा था, इसके उत्तर मे आप लिखते है—'मुख्तार साहब, आप जानते है हम लोग नाम से सदा दूर रहते हैं। चित्र तो उनका छपना चाहिए जो दान करें। हम लोग तो परिग्रह का प्राय-

दिखत—(अधूरा ही)—करते हैं। फिर भी जरा-जरा सी सहायता देकर इतना बड़ा नाम करना पाप नहीं तो दम्भ अवश्य है। अस्तु क्षमा करे।" कितने ऊँचे उदार एवं विशाल हृदय से निकले हुए ये वाक्य हैं। सचमुच बा० छोटेलालजी जैन समाज की बहुत बड़ी विभूति है। मेरी तो शुद्ध, अन्त.करण से यही भावना है कि आप यथेष्ट स्वास्थ्य लाभ के साथ चिरकाल तक जीवित रहे और अपने जीवनकाल में ही वीरसेवा मन्दिर को खूब फलता फूलता तथा अपने सेवा मिशन मे भले प्रकार सफल होता देखकर पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त करे।"

वीरसेवामन्दिर ने अपने जन्म के प्रथम वर्ष सन् १९३६ से ही 'वीर शासन-जयन्ती' नाम के एक नये पर्वोत्सव को मनाना शुरू किया था, जिसे जैन समाज सैकड़ों वर्षो से भूला हुआ था और जिसका पता मुझे को धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों पर से चला था। यह पर्व-श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का पुण्य दिवस है, जिस दिन भगवान महावीर की पवित्र वाणी सब से पहले विपुलाचल पर खिरी थी और उनका धर्मतीर्थ प्रवर्तित हुआ था। इस महत्वपूर्ण तिथि का सभी विद्वानों तथा सज्जनों ने अभिनन्दन किया और तब से अनेक दूसरे स्थानो पर भी वीरशासन जयन्ती दिवस के उत्सव मनाये जाने लगे और सरसावा के उत्सव मे दूर दूर के सज्जन शामिल होने लगे। सन् १९४३ के आठवें उत्सव मे कलकत्ता से बा० छोटेलाल जी भी पधारे थे, आपके ही सभापतित्व मे उस वर्ष का उत्सव मनाया गया था। आपने उत्सव को महोत्सव का रूप देते हुए यह प्रस्ताव रखा था कि अगले वर्ष यह उत्सव राजगृही मे ढाई सहस्त्राब्दी महोत्सव के रूप में मनाया जाय जहाँ भ० महावीर की वाणी का सबसे पहले अवतार होकर उनका तीर्थ प्रवर्तित हुआ था। तदनुसार श्रावण कृष्ण १, २ ता०, ७-८ जुलाई १९४४ को यह महोत्सव राजगिरि में बडे उत्साह के साथ मनाया जिसका आनन्दप्रद संक्षिप्त परिचय 'विपुला चल पर वीर-शासन जयन्ती का अपूर्व दृश्य' नामक लेख से प्राप्त किया जा सकता है, जो अनेकान्त वर्ष ६ की १२वी किरण में प्रकट हुआ है।

भारी वर्षा कालीन स्थिति के कारण विपुला चल—राजगृह का यह उत्सव वार्षिकोत्सव के रूप में ही मनाया गया था, और इस उत्सव का आयोजन, अतिथि सत्कार तथा खर्च का सब भार बा० छोटेलाल जी ने उठाया था, जिसके लिए वे भारी धन्यवाद के पात्र है।' सार्द्धद्वय-सहस्त्राब्दी महोत्सव के रूप मे उत्सव का दूसरा विशाल आयोजन चार महीने बाद कलकत्ते में कार्तिकीय महोत्सव के अवसर पर ता० ३१ अक्टूबर से ४ नवम्बर १९४४ तक, सरसेठ हुकमचन्द जी के सभापतित्व मे, मनाया गया, जिसमें जैन समाज के दिगम्बर-श्वेताम्बरादि सभी सम्प्रदायों ने भाग लिया, दूर दूर से सभी प्रान्तो के विद्वान तथा प्रतिष्ठित सज्जन पधारे थे। यह महोत्सव बहुत सफल रहा और इसमे कितने ही महत्व के कार्य सम्पन्न हुए है। इसकी सफलता का विशेष हाल 'कलकत्ता मे वीर-शासन का सफल महोत्सव' लेख से जाना जा सकता है, जो अनेकान्त वर्ष ७ की सयुक्त किरण ३-४ मे प्रकाशित हुआ है। और जिसके अन्त मे मैंने लिखा है—"वास्तव मे यह सारा महोत्सव ही बा० छोटेलाल जी का ऋणी है, उन्हीं के दिमाग की यह उपज है, वे ही इसे वीरसेवा मन्दिर (सरसावा) से राजगिरि, राजगिरि से कलकत्ता ले गये है, कलकत्ता की सारी मशीनरी के ये ही एक मूविंग एंजिन (Moving Engine) रहे है और उन्ही की योजनाओ, महीनों के अनथक परिश्रमो, व्यक्तिगत प्रभावों का तथा स्वास्थ्य तक की बलि चढ़ाने से यह सब इस रूपमे सम्पन्न हो सका है। अत इसके लिए बा० छोटेलाल जी जैसे मूक सेवक का जितना भी आभार माना जाय और उन्हे जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। आप स्वस्थता के साथ दीर्घजीवी हो, यही अपनी हार्दिक भावना है।"

कलकत्ता के उक्त महोत्सव की समाप्ति पर बा० छोटेलाल जी बीमार पड़ गये, जिसका दुःखद समाचार मुझे 'बा० छोटेलाल जी बीमार' नाम की विज्ञप्ति के रूप मे अनेकान्त की उक्त नवम्बर १९४४ की किरण मे ही देने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसमें बा० छोटेलाल जी के पत्र का भी कुछ अंश उद्धृत है अतः उसे यहाँ ज्यों का त्यों दे दिया जाना उचित जान पड़ता है—

"पाठकों को यह जानकर दुःख होगा कि वीरशासन

महोत्सव के प्राण बा० छोटेलाल जी महोत्सव की समाप्ति के अनन्तर ही ता० ५ नवम्बर से बीमार चल रहे हैं—महीनों के दिन रात के अनथक परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य को भारी धक्का पहुँचाया है। उन्हे पहले इन्फ्लुएँजा हुआ, फिर मियादी ज्वर (टाइफाइट फीवर)। ज्वर के न जाने पर छाती का एक्सरे लिया गया, उससे मालूम हुआ कि प्लूरिसी की बीमारी है, जो पीछे जाकर थाइसिस बन सकती है। अतः उनको मद्रास के पास मदनपल्ली के T. B. Sanatorium मे जाना पडेगा, जहाँ उनके लिए अलग मकान निर्माण किया जा रहा है और वहाँ उनको ५-६ महीने रहना होगा। वे सभवतः २२ या २३ दिसम्बर तक वहाँ के लिए कलकत्ता से रवाना हो जाएँगे, ऐसा उनके १५ दिसम्बर के पत्र से ज्ञात होता है। आपकी इस बीमारी के कारण कलकत्ता में जिस महती सस्था की नीव पडी है उसके कार्य मे कोई प्रगति नही हो सकी। इस सम्बन्ध मे बा० छोटेलाल जी के पत्र के निम्न शब्द हृदय मे बड़ी वेदना उत्पन्न करते हैं:—"चन्दा जितना हुआ था—अन्दाज पौने चार लाख का—उतना ही है। मेरे बीमार हो जाने के कारण जो कार्य जितना जहाँ था वहाँ ही है और मेरी ऐसी हालत मे अब ५-६ मास कुछ होना सभव नही है। इस बीच मे समाज का रुपया अन्य कार्यो मे उठ जायगा और मेरी १० लाख की स्कीम यो ही रही जाती जान पड़ती है। जैन समाज का भाग्य ही ऐसा है। या तो अच्छे कार्यकर्ताओ का सहयोग नही मिलता, या कोई आगे आता है तो चन्द रोज मे जीवन समाप्त हो जाता है—या कुछ प्रगति का कार्य जहाँ का तहाँ रह जाता है। मैं बीमार न होता तो तुरन्त यहा पाँच लाख हो जाते और पाँच लाख दौरा करके ले आता। भगवान की मर्जी। कृपा रखे।"

आशा है समाज बा० छोटेलाल जी की शीघ्र निरोगता के लिए, अविरल भावना भाएगा और उन्हे उनकी स्कीम के विषय मे जरा भी निराश न होने देगा।"

हर्ष का विषय है कि उक्त मदनपल्ली के सेनेटोरियम में रहकर बा० छोटेलाल जी का स्वास्थ्य सुधरा, उनके शरीर मे वैसा कोई रोग नही रहा और वे अप्रैल मे वापिस कलकत्ता आ गये तथा अपनी आयोजित सस्था 'वीरशासन संघ' के कार्य में लग गये।

अप्रैल १९५१ के अन्त में मैंने अपने द्वारा संस्थापित वीरसेवा मन्दिर के लिए अपने ट्रस्ट की आयोजना की और ट्रस्ट नामा लिखकर २ मई को उसकी रजिस्ट्री कर दी। इस ट्रस्ट में मैंने बा० छोटेलाल जी को भी अपना एक ट्रस्टी चुना था, जो ट्रस्ट की पहली मीटिंग में पुनः सरसावा पधारे थे और उस मीटिंग में आपको ही ट्रस्ट का अध्यक्ष चुना गया था। तब से सस्था का सब कार्य ट्रस्ट कमेटी के हाथो वीरसेवा मन्दिर के नाम से होता रहा।

कुछ अर्से बाद वीरसेवा मन्दिर को उसके जन्म स्थान सरसावा से बाहर अन्यत्र ले जाने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, जिसके लिए अनेक स्थानो के प्रस्तावों पर विचार होकर अन्त को दिल्ली में उसे स्थानान्तर करने का विचार स्थिर हुआ, जिसके लिए बाबू छोटेलाल जी ने ला० राजकृष्ण जी की उस जमीन को पसन्द किया जिस पर वर्तमान मे 'वीरसेवा मन्दिर' स्थित है। और उसे आपने तथा आपके भाई नन्दलाल जी ने अपनी स्वर्गीय माता जी के दान द्रव्य से ४० हजार रुपये में वीरसेवा मन्दिर को खरीदवा दिया जिसकी सूचना जनवरी १९५३ मे प्रकाशित 'वीरसेवा मन्दिर का सक्षिप्त परिचय' मे दी गई। इसी वर्ष उक्त बा० नन्दलाल जी से बिल्डिंग के लिए १० हजार की और सेठ मिश्रीलाल जी काला कलकत्ता की ओर से ५ हजार की सहायता का वचन प्राप्त हुआ, जिसके आधार पर बिल्डिंग का कार्य शुरू हुआ और वीरसेवा मन्दिर के नूतन भवन का शिलान्यास तथा चौखटे का मुहूर्त १६ जुलाई १९५४ को साहु शान्ति प्रसाद जी के हाथो सम्पन्न हुआ। इस उत्सव के अवसर पर साहू जी ने अपने भाषण के अन्त में वीरसेवा मन्दिर के महान कार्यों का उल्लेख करते हुए उसके नवीन भवन निर्माण के लिए ११०००) रु० प्रदान करने की घोषणा की। इस पर बा० छोटेलाल जी ने खड़े होकर कहा "आपका सहयोग हमने आपके गुणो से आकृष्ट होकर शिलान्यास के लिए चाहा था, आपसे आर्थिक सहायता की याचना नही की थी; किन्तु जब आप स्वय उदारता पूर्वक दे ही रहे है तब हम आपसे कम क्यों लें? अतएव हम तो आपसे पहली मजिल के निर्माण का पूरा खर्च

लेंगे इस पर साहूजी ने अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। इसके लिए साहूजी से पैंतीस हजार रुपये प्राप्त हुए।

इस तरह दिल्ली में वीर-सेवा-मन्दिर भवन के निर्माण में बाबू छोटेलाल जी का बहुत बड़ा हाथ रहा है, जिसे उन्होंने वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट के अध्यक्ष पद पर आसीन रहते हुए किया है। आपके और भाई नन्दलाल जी के प्रयत्न से ही सेठ मिश्रीलालजी काला की पांच हजार की सहायता दस हजार के रूप में परिणित हुई है। दूसरी मजिल का निर्माण प्रायः बाबू नन्दलालजी और सेठ मिश्रीलालजी की सहायता से ही हुआ है। तीसरी मजिल के निर्माण में अधिष्ठाता वीर-सेवा-मदिर ट्रस्ट की खास प्रेरणा को पाकर बाबू रघुवरदयालजी जैन एम. ए. एल. एल. बी करौलबाग न्यू देहली ने तीन हजार की और उनके समधी सेठ छदामीलालजी जैन फिरोजाबाद ने चार हजार की सहायता प्रदान की है। शेष कुछ फुटकर सहायता भी उसके निर्माण मे लगी है। इस भवन का उद्घाटन मुहूर्त भी श्रीमान साहू शान्तिप्रसादजी के कर कमलो द्वारा जुलाई १९५७ म श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को सानन्द सम्पन्न हुआ है। उत्सव से अगले दिन बाबू छोटेलालजी साहू शान्तिप्रसादजी से उनके निवास स्थान पर मिले और वीर-सेवा-मन्दिर की आर्थिक स्थिति उनके सामने रखी और बतलाया कि सस्था को १५ हजार की तत्काल आवश्यकता है। साहूजी ने १५ हजार की सहायता देना स्वीकार किया, जो बाद को उनसे प्राप्त हो गई।

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि बाबू छोटेलालजी वीर-सेवा-मन्दिर से कितना अधिक प्रेम रखते थे, भवन निर्माण का कार्य भी उन्होने कई महीने स्वयं खड़े होकर तथा अपने स्वास्थ्य की बलि चढ़ाकर कराया है। अनेकान्त के साथ तो आपका शुरू स ही गहरा प्रेम था, जिसे कई बार अनेकान्त मे प्रकट किया जा चुका है। आपने अनेकान्त को समय-समय पर स्वय सैकडो रुपये की सहायता ही प्रदान नहीं की बल्कि दूसरों से भी बहुत कुछ सहायता दिलवाई है। पीछे चौदहवें वर्ष जुलाई १९५७ के बाद से जब अनेकान्त का प्रकाशन कई वर्ष तक बन्द रहा तब आपने ही सेठ मिश्रीलालजी आदि कुछ सज्जनों का सहयोग प्राप्त करके अप्रैल १९६२ से उसे द्विमासिक के रूप में पुनः प्रकाशित कराया है, उसी के फलस्वरूप आज यह विशेषांक पाठकों के सामने है।

वीरसेवा मन्दिर के भवन का उद्घाटन हो जाने पर प० कैलाशचन्द जी शास्त्री ने जैन सन्देश मे उसका अभिनन्दन करते हुए एक टिप्पणी प्रकाशित की थी जिसका ऐसा आशय था कि वीरसेवा मन्दिर की बिल्डिंग तो खड़ी हो गई परन्तु मुख्तार साहब (जुगलकिशोर जी) का कोई उत्तराधिकारी तैयार नहीं किया गया, इससे मुख्तार साहब के बाद सस्था मे कोई काम नहीं हो सकेगा और केवल बिल्डिंग ही खडी रह जायगी, जिसका दुरुपयोग होना अधिक सभव है। इस पर बा० छोटेलाल जी ने उत्तराधिकारी की तलाश के लिए पत्रो मे एक विज्ञप्ति प्रकाशित कराई थी और कुछ विद्वानो से पत्र व्यवहार भी किया था, उस समय के वातावरण मे मैंने बा० छोटे लाल जी को एक पत्र २१ अप्रैल १९५८ को लिखा था, जिसके निम्न शब्द खास तौर से ध्यान मे लेने योग्य है—

"सस्था को मैंने जन्म दिया और आपने उसे सींच-सिंचाकर तथा पालपोष कर बडा किया है. इसलिए सस्था से जो प्रेम मुझे तथा आपको हो सकता है वह दूसरो को नहीं। इसी तरह सस्था की हानि से जो दुःख-कष्ट मुझे और आपको पहुँच सकता है वह तीसर को नहीं। मैं अब वृद्ध हो गया हूँ और इधर रुचि मे भारी परिवर्तन हो गया है, इसीलिए सस्था की जिम्मेदारी उठाने और उसका ठीक काम करने मे असमर्थ बन गया हूँ। ऐसी स्थिति में स्वाभावत. आप पर ही उसकी सँभाल और सचालन का सारा भार आ जाता है। फिर (आपने तो कलकत्ता महोत्सव के अवसर पर) लगभग बीस हजार जनता की उपस्थिति मे अपने को मेरा पुत्र घोषित करते हुए निश्चित रूप से मेरा उत्तराधिकारी होने की घोषणा भी की थी, जिस पर जनता ने भारी हर्ष व्यक्त किया था। तब पत्रों मे मेरा उत्तराधिकारी के लिए तलाश की विज्ञप्ति कैसी? मेरे उत्तराधिकारी आप हैं—मैं बड़ी खुशी के साथ सस्था का उत्तराधिकार आपको सौंपना चाहता हूँ, अतः उसको स्वीकार करने में जरा भी आनाकानी नहीं करनी चाहिए—अपने प्रण तथा अपने वचन का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए, एक

बार मुझसे उत्तराधिकार लेकर फिर आप चाहे जिसको सौंपें या अपना उत्तराधिकारी बनावे, मैं तो आपको सौंप कर निश्चित हो जाना चाहता हूँ।"

इसके पहले भी मैंने दो तीन बार आपको उत्तराधिकार संभालने के लिए लिखा तथा प्रेरणा की है। एक बार तो मैंने ट्रस्ट कर देने से पहले यहाँ तक भी लिख दिया कि आप पुत्र के नाते मेरी निजी सपत्ति का भी उत्तराधिकार सभाले, जिसे मैं अपने जीवन मे ही आपके सुपुर्द कर देना चाहता हूँ। ऐसा होने पर मैं अपने निज की कोई चीज साथ न लेकर जो वस्त्र पहने हुए हूँगा उन्ही के साथ अकेला घर से बाहर चला जाऊँगा। परन्तु आपने मेरे किसी भी लिखने तथा प्रेरणा पर कोई ध्यान नही दिया और आप मेरा उत्तराधिकार प्राप्त किये बिना ही स्वर्ग सिधार गये हैं, यह एक बड़े ही दु.ख तथा खेद का विषय है। आपके इस वियोग से मुझे कष्ट का पहुचना स्वाभाविक है। वीरसेवा मन्दिर तथा अनेकान्त को जो भी क्षति पहुँची है उसकी शीघ्र पूर्ति होना कठिन है। आप कई वर्ष से दिल्ली आने और सस्था की सुव्यवस्था करने के लिए बहुत लालायित थे, परन्तु नहीं आ सके और न हीं कुछ कर सके। अभिनन्दन ग्रन्थ जो आपके लिए तैयार हो रहा था उसे भी आप नहीं ले सके। यह सब अलंघ्यशक्ति भवितव्यता का ही कोई विधान जान पड़ता है। नि:संदेह आप समाज की एक बड़ी विभूति थे, नि.स्वार्थ सेवाभावी तथा प्रसिद्धि से दूर रहने वाले एक परोपकारी सज्जन थे। कलकत्ता महोत्सव के अवसर पर आपने अपना शेष जीवन वीरशासन की सेवा के लिए अर्पण किया था। वीरशासन को अवतरित हुए ढाई हजार वर्ष हो जाने की यादगार में आप विपुलाचल पर एक कीर्तिस्तम्भ की स्थापना करना चाहते थे, जिसके लिए महोत्सव के अवसर पर वहां उत्तम संगमरमर पर उत्कीर्ण हुए एक स्मृति-पट्टक (Memorial Tablet) की योजना की गई थी; परन्तु रोगाक्रान्त हो जाने के कारण वे अपनी उस इच्छा को पूरा नहीं कर सके। हार्दिक भावना है कि परलोक मे आपको सुखशान्ति की प्राप्ति होवे और आप अपनी शुभ इच्छाओ तथा समाज एव जिन शासन की सेवा-भावनाओं को अगले जन्म में पूरा करने मे समर्थ होवें। (एटा १५ जून १९६६)

एक निष्ठावान साधक

जैनेन्द्रकुमार जैन

स्वर्गीय बा० छोटेलालजी के सम्पर्क में पहली बार जब मैं आया तब उनकी अवस्था ३० के लगभग थी। मैं बालक ही था और माता जी के साथ तीर्थ दर्शन करता हुआ पहली मर्तबा कलकत्ता पहुँचा था। उस समय भी बाबूजी जैन समाज के नेता की तरह माने जाते थे। सार्वजनिक सेवा कार्यों मे उनकी लगन थी। और इस प्रकार के लगभग सभी प्रवृत्तियो मे उनका योग रहता था। शायद ही कोई संस्था हो जिसमे उनका सहारा न हो। मैं याद कर सकता हूँ कि माता जी को कलकत्ता में उनका विशेष अवलम्बन प्राप्त हुआ था, उस समय माता जी दिल्ली में जैन महिला श्रम नामक सस्था स्थापित कर चुकी थी। अपने प्रति उनका अनुराग और अनुग्रह तभी से अनुभव करता आया हूँ। वह भी अपनी ओर से मेरे लिए अभिभावक तुल्य रहे है। यह तो मेरा ही दुर्भाग्य था कि जैनों के सामाजिक जीवन से बिछुड़ता-सा चला गया। किन्तु बाबू छोटेलाल जी का कृपा भाव मुझ पर सदा बना रहा। आरम्भ में तो मैं कलकत्ता प्रवास का अवसर आने पर उनके पास ठहरा भी था, उनका हृदय-वत्सल था उदार था। और उनकी सहायता मूक और गुप्त हुआ करती थी। जैन सस्कृति और पुरातत्व मे उन्हे गहरी रुचि थी। और तत् सम्बन्धी परिचय और बोध भी गहरा और विस्तृत था। वह बड़ी लगन और धुन के आदमी थे, और जो मन में उठता उसको पूरा करके ही छोड़ते थे।

दिगम्बर जैनों के प्रति तो उनके बहुतेरे उपकार हैं। कई जगह मैं गया और यह देखकर विस्मय हुआ कि बा० छोटेलालजी के आदेश पर वहां की व्यवस्था निर्भर है। उदयगिरि-खण्डगिरि जैसे एकान्त और निर्जन प्रदेश में पहुंचकर उस दिगम्बर तीर्थ का आविष्कार और उद्धार उनके जैसे निष्ठावान साधक का ही काम था। मैं तो तब पहुँचा जब उत्कल की राजधानी भुवनेश्वर का निर्माण समीप ही हो चुका था। किन्तु फिर भी उदयगिरि और खण्डगिरि का वह प्रखड नितान्त वीरान सा प्रतीत होता था, दूर दूर इतने पड़े हुए जैन तीर्थों के उद्धार कार्य का उनका योग देखा जा सकता है। जैनों विशेषकर दिगम्बर जैनों के प्रति यद्यपि उनमे ममत्व भाव था पर वह उसमे सर्वथा घिरे हुए न थे। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी और इसी प्रकार की दूसरी सेवा समितियो मे उनका दायित्वपूर्ण योग रहा।

ऐतिहासिक नोआखाली काण्ड के समय बाबूजी वहाँ पहुँचे थे, और जमकर एक डेढ महीने तक उस दुर्द्धर्ष परिस्थिति मे निर्भर होकर सेवा कार्य किया था। इन विद्वानों और कार्यकर्ताओं को उनसे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उनकी गिनती न होगी। यद्यपि उनका अच्छा बड़ा व्यवसाय था लेकिन उनका अधिकांश समय समाज की सेवा मे व्यतीत हुआ। ऊपरी बिचार मे उनकी श्रद्धा और लालसा न थी। वरन उनकी वृत्ति रचनात्मक थी। साहित्य के निर्माण और उद्धार का उन्हें चाव था, और इस दिशा का उनका अभिप्राय बहुत अभिनन्दनीय है। वीरसेवामन्दिर उनके जीवन की साधना की अन्तिम कृति के रूपमे हमे प्राप्त है। और आशा करनी चाहिए कि उस सस्था का सब प्रकार का सहयोग इस रूप मे प्राप्त होगा। कि वह समाज के लिए सरस्वती सस्थान का स्थान ले ले, और उस स्वर्गीय आत्मा का समुचित स्मारक बन सके।

विचारवान सहृदय व्यक्ति

पन्नालाल साहित्याचार्य

अभी जनवरी के प्रथम सप्ताह में भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद की कार्यकारिणी के बाद वाराणसी से कलकत्ता जाने का अवसर आया। श्रीमान् प० जगन्मोहन लालजी शास्त्री कटनी साथ थे। मार्ग मे अनेक विषयों तथा व्यक्तियों पर चर्चा हुई। श्रीमान् बा० छोटेलालजी कलकत्ता भी एक चर्चा के विषय थे। पण्डितजी ने उनके विषय मे जो अपने अनुभव सुनाये उनसे बा० छोटेलालजी के प्रति मेरे हृदय में बहुत श्रद्धा उत्पन्न हुई। वैसे वे पूज्य वर्णी जी के अत्यन्त भक्त थे और उनके निमित्त से उनका सागर भी एक-दो बार आना हुआ है। एक बार उन्होंने अपने द्वारा सचित पुरातत्व की सामग्री मूर्ति आदि की फिल्म मन्दिर मे दिखलाई थी तथा स्वय ही उसका परिचय दिया था। उनके इस कार्य से जनता बहुत प्रभावित हुई थी। वर्णी जी के आहार होने के उपलक्ष में आपने सागर विद्यालय को एक हजार का दान भी दिया था। उदारता और विवेक दोनों ही गुणों का उनमे अच्छा परिपाक देखने को मिला था। कलकत्ता पहुचने पर हम और पण्डित जगन्मोहनलालजी उनसे मिलने गये। अस्वस्थ होने के कारण वे मारवाड़ी हास्पिटल मे प्रविष्ट थे। अलग कमरा था। बडी प्रसन्नता से मिले, हम लोग चार दिन तक कलकत्ता रहे और चारो दिन उनसे मिलते रहे। बीमार होन पर भी उनके मुख पर उद्विग्नता का एक अंश भी दिखाई नही देता था। एक दिन शाम को हम दोनों हास्पिटल गये तब उनके कमरे पर बाहर लिखा हुआ था कि मिलना मना है। हम लोग बाहर रुक गये पर जब बाबूजी को इसका पता चला तब उन्होन उसी समय बुलाकर दु.ख प्रकट किया।

उनकी प्रत्येक वाणी से स्नेह टपकता था। ऐसा लगता था कि इस महापुरुष के हृदय में स्नेह का अगाध सागर लहरा रहा है। डा० भागचन्द्रजी भी उस समय सपत्नीक बम्बई से आये उनके सौजन्य और प्रतिभाशालित्व की बाबूजी बहुत समय तक चर्चा करते रहे। अनेक विषयों पर चर्चा होते होते एक दिन मुझसे बोले कि मुझे आपसे एक शिकायत है। मैंने कहा कि क्या बाबू

जी ! बोले कि आपके ग्रन्थों मे पद्यानुक्रमणिका नही रहती इसके बिना अन्वेषकों को बडी कठिनाई होती है। बाबूजी की दृष्टि में बहुत पहले आदिपुराण का प्रथम संस्करण था। प्रारम्भ में उसमे पद्यानुक्रमणिका नही दी गई थी। सोचा था कि स्वाध्यायशील जनता के लिए कथा की आवश्यकता है श्लोक की नही, इसीलिए इतने विशाल ग्रन्थ की पद्यानुक्रमणिका कौन तैयार करे? न प्रकाशक की प्रेरणा रही और न मेरा उत्साह। परन्तु जब ग्रन्थ सामने आया बाबूजी ने भारतीय ज्ञानपीठ को प्रेरित कर उसकी पद्यानुक्रमणिका बनवा कर पृथक से छपवाई और जो प्रतियां कार्यालय से चली गई थी उनके खरीदारो के प्रति अलग से भिजवाई तथा शेष प्रतियो के साथ लगवाई। उसके बाद तो उत्तरपुराण, पद्मपुराण १–२–३ भाग, हरिवंशपुराण तथा जीवन्धर चम्पू आदि जितना भी मेरा साहित्य ज्ञानपीठ से निकला सब के साथ अनुक्रमणिका दी जाने लगी। हरिवंशपुराण की अनुक्रमणिका तो मैंने स्वय बनाई। बारह हजार श्लोको को अलग-अलग लिखकर उन्हे अकारादि क्रम से लगाना बडा कठिन काम था पर बाबूजी की प्रेरणा से मैंने किया। न केवल पद्यानुक्रमणिका ही, तीन चार हजार खास-खासकर भौगोलिक, व्यक्तिवाचक, पारिभाषिक एवं साहित्यिक शब्दो का भी अकारादि क्रम से सपरिचय सग्रह किया।

समाज के अन्दर कौन व्यक्ति क्या कर रहा है? उसकी क्या स्थिति है इस सब की जानकारी बाबूजी रखते थे। अभी तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से हमारे मित्र रतनलाल जी कटारया केकडी सागर आये। बोले कि पिताजी के (मिलापचन्द्रजी कटारया) बहुत सारे निबन्ध बाबू छोटेलालजी ने वृहद् संग्रह के रूप मे छपवाये है इस भावना के साथ कि ये महत्वपूर्ण निबन्ध प्रकीर्णक दशा मे अखबारो की फाइलों मे ही पड़े रह जावेंगे। मुझे लगा कि बाबूजी की दृष्टि सर्वतोमुखी है किसी विद्वान् की उत्तम कृति व्यर्थ ही न पड़ी रहे इस बात का इन्हें कितना ध्यान है।

एक दिन सन्ध्या समय हम लोग बैठे हुए थे। नर्स इंजेक्शन देने आयी और देकर चली गई। बाबूजी दुर्बलकाय तो पहले ही से थे पर उस समय बीमारी के कारण दुर्बलता अत्यन्त बढ गई थी। बोले—शरार तो बिल्कुल घुल गया है अब इसमें कुछ रहा नहीं है और रहे इसकी इच्छा भी नहीं है। इच्छा सिर्फ एक बात की रह गई है कि हमने विदेशों तथा देश में प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तकों में जैनधर्म के विषय में किसने क्या उल्लेख किया है इसके संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया था पर उसे अब पूरा करने की क्षमता शरीर में नहीं दीखती। यदि एक बार अच्छा होकर यह काम हो जाता तो लोगों को बडी सुविधा होती। हम लोगों ने कहा कि बाबूजी! किसी सहायक को रखकर यह महत्वपूर्ण कार्य करा लीजिये। बोले कि सहायक के हृदय में भी इस बात की लगन हो तो काम बने। सहायक मिलते नहीं और मिलते हैं तो मेरी शारीरिक स्थिति गडबडा जाती है। जान पडता है यह कार्य अपूर्ण ही रह जायगा।

यह सब कहते हुए उनके चेहरे पर उद्वेग सा छा गया, खांसी का दौरा भी उठ पडा और उससे वे परेशान भी बहुत हुए। हमारे हृदय में भी भाव उठा कि काश मैं अंग्रेजी जानता होता तो सब काम छोड इनकी इच्छा पूरी करता परन्तु भाषा का ज्ञान न होने से मैं कुछ कर न सका। सामायिक का समय हो गया था इसलिए हृदय में एक विषाद की भावना लेकर उस समय हम लोग उठकर चले आये। आते समय हम लोगों ने कहा कि बाबू जी! आप कम बोलिये। अधिक बोलने से शक्ति का ह्रास होता है। बोले कि वैसे हम कम ही बोलते हैं मिलते भी कम है पर आप लोग कब कब आते हैं, मिलने पर आपसे बात किए बिना कैसे रहा जा सकता है।

अन्तिम दिन आते वक्त जब मिलने गये तब बोले आज हमारी तबियत ठीक है। रात के उस दौर के बाद खासी का कोई जोरदार दौरा नहीं आया। ऐसा जान पडता है कि हम अच्छे हो जावेंगे। डाक्टर का नाम मैं भूल गया······बहुत परिश्रम कर रहे है।

अभी यह समाचार सुनकर कि २६ जनवरी को बा० छोटेलालजी का स्वर्गवास हो गया है, हृदय पर गहरी चोट लगी। लगा कि एक विचारवान् सहृदय व्यक्ति समाज से उठ गया। मैं शोक-संतप्त हृदय से स्वर्गीय बा० जी के प्रति अपनी नम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

एक संस्मरण

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

मेरी पीढ़ी. अपने किशोरकाल में समाज के निम्न विद्वानों, त्यागियों एवं नेताओं से अत्यधिक प्रभावित रही है उनमें प्रमुख थे गुरुगोपालदास बरैया, ब्र० शीतल, वर्णीत्रय (पं० गणेशप्रसाद, पं० दीपचन्द और बाबा भागीरथ), महात्मा भगवानदीन. पं० नाथूराम प्रेमी, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, बा० सूरजभान वकील, बैरि० जुगमन्धरलाल जैनी और बैरि० चम्पतराय। इनमें से कई एक के साथ तो कोई सम्पर्क भी नहीं हो पाया, शेष के साथ अल्पाधिक साक्षात् एवं परोक्ष सम्पर्क रहे। किन्तु सर्वाधिक सम्पर्क उनमें से केवल मुख्तार साहब के ही साथ रहा जो अब तक चला आ रहा है। वीरसेवा-मन्दिर की सरसावा में स्थापना के बाद जब उन्होने 'अनेकान्त' मासिक निकालना आरम्भ किया तो मैं प्रारम से ही उसका पाठक बना, उसके लिए अपने नगर से सहायतादि भिजवाने के भी प्रयत्न किये। मुख्तार साहब की प्रेरणा से ही मैं उसके लिए लेख भी लिखने लगा। संभवतया अनेकान्त में प्रकाशित मेरे लेखों को देखकर ही स्व० बाबू छोटेलाल जी का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हुआ। मुख्तार साहब के वह अनन्य भक्त थे और वीर-सेवामन्दिर के प्रधान स्तम्भ थे।

यह मुख्तार साहब ही थे जिन्होंने वर्तमान युग में वीरशासन जयन्ति के मनाने का ॐ नमः एव प्रचार किया। अनेकान्त में कितने ही लेख लिखे और वीरसेवा-मन्दिर में प्रतिवर्ष यह उत्सव मनाया जाने लगा। मुख्तार साहब की सतत् प्रेरणा के फलस्वरूप बा० छोटेलालजी ने वीरशासन के सार्द्ध-द्वि सहस्राब्द महोत्सव को एक बड़े पैमाने पर मनाने की सुन्दर योजना बनाई और उसे सफल बनाने में जुट गये। १९४८ ई० में वह महोत्सव श्रावण शुक्ल प्रतिपदा के प्रातः शासन प्रवर्तन की पुण्य-स्थली विपुलाचल पर प्रारंभ होकर तदुपरान्त कलकत्ता महानगरी में कई दिवस पर्यन्त मनाया गया। अनेक प्रौढ जैनाजैन विद्वानों ने उसमें भाग लिया। बाबूजी के संकेत पर मुख्तार साहब को 'प्राक्तन विद्याविचक्षण' जैसी सार्थक उपाधि से विभूषित किया गया। इस महोत्सव की सफलता का अथ से अन्त तक सर्वाधिक श्रेय बाबूजी को ही है। किन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने इसी उपलक्ष में वीरशासन संघ नाम से एक संस्थान की विशाल योजना बना डाली और उसके लिए अपने वैयक्तिक प्रभाव एवं सम्पर्कों का लाभ उठाकर दस लाख रुपये के दान की स्वीकृति कुछ एक श्रीमानो से प्राप्त करली।

योजना बन गई, दान की स्वीकृतिएँ भी कुछ प्राप्त हो गईं, उसमें से दशमांश के लगभग शीघ्र ही नकद प्राप्त भी हो गया था—ऐसा सुना गया था, और शेष के लिए विश्वास था कि कार्य प्रारम्भ होते ही मिल जायेगा। अब प्रश्न था कि यह कार्य कहाँ और कैसे प्रारम्भ किया जाय। अनेक कारणों से, जिन में स्वयं की सुविधा भी सम्मिलित थी, कार्य का प्रारम्भ कलकत्ता मे ही करना निश्चित हुआ। दूसरा प्रश्न कार्यकर्त्ता का था। बहुत कुछ ऊहापोह करने के बाद बाबूजी और मुख्तार साहब की दृष्टि मुझ पर अटकी—न जाने क्यों। मैं उस समय तक मेरठ से आकर लखनऊ में जम चुका था। यहाँ कारोबार जमा लिया था, बच्चे छोटे-छोटे थे। बाबू जी और मुख्तार साहब के स्नेह एवं आग्रहपूर्ण पत्र आने लगे। युवावस्था थी, साहित्यिक एवं सामाजिक कार्य करने का शौक था और ऐसे दो आदरणीय बुजुर्गों का स्नेहपूर्ण निरन्तर अनुरोध—ना नहीं कर सका, और अन्ततः एक दिन कलकत्ता जा पहुँचा।

हबड़ा स्टेशन पर प्रातः के समय गाड़ी पहुँची। सामान उतार कर प्लेटफार्म पर रक्खा और यह सोच भी

नहीं पाया था किधर चला जाय कि सामने की ओर दृष्टि पड़ी—एक लम्बे छरहरे बदन के भद्र पुरुष, बन्द गले का कोट, धोती, और सिर पर टोपी, मन्दगति से मेरी ओर बढ़ रहे थे। मन में हुआ कि कहीं यही तो बा० छोटेलाल जी नहीं है? इतने मे ही उनके शब्द 'ज्योतिप्रसाद जी हैं?' कर्णगोचर हुए। अभिवादन प्रति अभिवादन हुआ। कुली से कहा सामान उठाओ। स्टेशन के बाहर उनकी घोड़ा गाड़ी खड़ी थी। जैनभवन आये। कमरा पहले से ही ठीक किया हुआ था। स्नान, भोजनादि हुआ। सब बातों मे उनकी प्रबन्ध पटुता व्यक्त थी। मध्याह्न के समय बाबूजी फिर मेरे कमरे मे पधारे, लगभग दो घटे विभिन्न विषयो पर वार्तालाप हुआ। आगामी तीन-चार दिनो मे वह अपने साथ ही बेलगछिया ले गये, स्व० बा० निर्मलकुमार जी, सेठ बलदेवदास सरावगी आदि अपने धनी इष्टमित्रो एवं सहयोगियो के मकानो पर ले गये—उनसे परिचय कराया। कलकत्ता का प्रसिद्ध कार्तिकी रथोत्सव निकट था—उसके लिए अग्रेजी मे सचित्र परिचायिका लिखने के लिए मुझे कहा—बंगाल के अग्रेज गवर्नर तथा अन्य ऊँचे अधिकारियो को मार्ग मे एक महल के बराडे से यात्रा दिखाने की योजना थी, यह पुस्तिका विशेष रूप से उन लोगो मे ही बाँटी जानी थी। पुस्तिका तैयार की, ब्लाक बनवाये, प्रेस में स्वयं बैठकर छपवाई। बाबूजी व उनके मित्रो को वह पसन्द आई।

लगभग डेढ़ मास मैं कलकत्ता रहा। बाबूजी से प्राय: नित्य ही एकाधिक बार भेट वार्तादि होती थी, वैयक्तिक प्रसग भी चलते थे, प्रायः कोई पर्दा न था, उनका एक आत्मीय जन ही बन चला था। किन्तु जिस कार्य के लिए आया था उसके प्रारम्भ होने की कोई सूरत नहीं दिखाई दे रही थी। कई बार कहा कि कोई स्थान, अस्थायी ही सही, निश्चित करके, आवश्यक पुस्तक सग्रह और प्रारम्भिक कार्य शुरू कर दिया जाय। परन्तु वे टालते ही रहे। उन दिनो उनका स्वास्थ्य भी कुछ ढीला रहने लगा, जैसा कि उनके साथ गत पच्चीस वर्षों में बहुधा होता रहा है, उस समय मानसिक उद्विग्नता के भी कतिपय वैयक्तिक कारण रहे प्रतीत होते है। उनके जिन सहयोगियों ने आर्थिक सहायता के वचन दिये थे वे भी शायद वचन पालन में टालमटोलकर रहे थे—मौखिक 'हाँ, हाँ' तो वह लोग कर देते थे किन्तु उनकी योजना के प्रति कोई सक्रिय सहयोग तो क्या उत्साह भी प्रदर्शित नहीं करते थे।

ऐसे ही समय कलकत्ता में भयंकर दंगा हो गया और मुख्तार साहब के कलकत्ता के लिए रवाना होने की सूचना मिली। उन्हें स्टेशन से लाने का भार मुझे सौंपा गया, शायद इसीलिए कि कोई, अन्य व्यक्ति तैयार ही नहीं हुआ। ट्राम, बस, रिक्शा सब बन्द थीं, बाजार बन्द थे, मार्ग निर्जन थे, सड़कों पर कूड़े व गन्दगी के ढेर लग रहे थे, बीच-बीच मे कहीं-कही दगाइयों के गोल या पुलिस अथवा मिलिटरी नजर आती थी। साहस करके गलियो गलियो होता हुआ किसी प्रकार हवड़ा स्टेशन पहुँचा। सारा स्टेशन देख डाला मुख्तार सा० का पता नहीं था। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि गाड़ी दगे के कारण यहाँ न आकर स्याल्दह स्टेशन पर गई है। हताश वापस लौटा। स्याल्दह का मार्ग ज्ञात नही था, भवन से कोई जैनी अथवा कर्मचारी साथ चलने को तैयार नही हुआ। अतः बाबूजी को सूचना देने के लिए उनके मकान की ओर चला। मार्ग मे एक गली के मोड़ पर कुछ लोग खड़े थे, सामने थाने पर मशीनगनें लिए मिलिटरी खड़ी थी, उसके आगे वाली सड़क बाबूजी के मकान की ओर जाती थी। देखते-देखते ही उस बड़ी सड़क पर एक फौजी जीप आई कि किसी ने उस पर कुछ फेंका और वह धड़-धड़ जलने लगी, उधर मिलिटरी वालों ने चारो ओर गोलियाँ चलानी शुरू कर दी। जो लोग जहाँ खड़े थे भाग चले। एक गोली मेरे पैर के पास से ही निकली। किसी तरह भागकर भवन आया। मन न माना, कुछ देर बाद एक दूसरे मार्ग से फिर बाबूजी के यहाँ पहुँचा। मुख्तार साहब भी किसी तरह वहां पहुँच ही गये। इस अवसर पर कुछ अप्रिय प्रसंग भी हुआ, जो न लिखा जाना ही उचित है।

दगा समाप्त हुआ, शान्ति स्थापित हुई। कई दिन मुख्तार साहब भी कलकत्ता रहे। मैंने उनसे कहा कि इस प्रकार व्यर्थ पड़े रहना तो मुझे अच्छा नहीं लगता। अन्ततः एक दिन उन्होने स्वय ही कहा कि यहा का कुछ

ठीक नहीं है, मुझे तो यहाँ कुछ होता जाता दिखाई नहीं देता, बाबूजी से काफी चर्चा हुई, वह भी विवश ही हैं। अतएव मैं कलकत्ता से बिदा लेकर अपने घर आया।

इस प्रवास में मैं बाबू छोटेलालजी के पर्याप्त निकट सम्पर्क में आया, उनके स्वभाव और व्यक्तित्व को परखने का भी अवसर मिला। समाज के उत्थान और जैन संस्कृति की प्रभावना उनके मन की चीज थी, उसके लिए कुछ भी करने का अवसर मिले सदैव तत्पर रहते थे। विद्वानों के लिए उनके हृदय मे सहज वात्सल्य एव आदर-भाव था। लेखकों, साहित्यिकों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं को प्रेरणा एव प्रोत्साहन देने में कभी पीछे नहीं रहे, दूसरी ओर अपने धनी मित्रो को भी समाज एव सस्कृति के हित मे द्रव्य लगाने की प्रेरणा देने मे और भी अधिक पटु थे। स्वयं जो कुछ कर सके उसके अतिरिक्त दूसरों से उन्होंने बहुत कुछ कराया है।

उपरोक्त घटना के पश्चात् लगभग दो वर्ष तो उनका मेरे विषय मे मौन रहा, उसके उपरान्त फिर पत्र आने जाने लगे जिनमें वही पूर्ववत् स्नेह था। उनके साथ अन्तिम भेंट दिसम्बर सन् १९६३ में आरा में सिद्धान्त भवन की हीरक जयन्ती पर हुई—उस आयोजन के वह स्वागताध्यक्ष थे। बड़े प्रेम से मिले। गत वर्ष जब उनके अभिनन्दन समारोह के मनाये जाने के समाचार मिले तो बड़ा हर्ष हुआ—उनके अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए दो लेख भी भेजे। किन्तु उनके जीवन मे उनका वह अभिनन्दन समारोह न हो सका शायद, अब वह स्मृति ग्रन्थ के रूप मे प्रगट हो। जीवन की नश्वरता पर लोकहित, समाज-हित, अथवा संस्कृति के हित मे की गई सेवाएँ ही विजयिनी होती हैं।

संस्मरण

हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री

यों तो मैं श्रीमान बा० छोटेलालजी से अनेकान्त के जन्म-काल से ही परिचित था, परन्तु प्रत्यक्ष भेट का अवसर मिला मुझे उस समय, जबकि मैं वीर-सेवा-मन्दिर में नियुक्त होकर आया और वह अहिंसा-मन्दिर मे स्थान पाकर अपना कार्य कर रहा था।

बात सन् १९५४ के प्रारम्भ की है, वीरसेवामन्दिर के लिए जमीन खरीदने के निमित्त वे दिल्ली आये हुए थे और अहिंसा-मन्दिर में ही ठहरे हुए थे। एक दिन अवसर पाकर मैंने उनसे सिद्धान्त-ग्रन्थों के मूलरूप के प्रकाशन-के सम्बन्ध में चर्चा की और सानुवाद षट्खण्डागम सूत्र और कषायपाहुड सूत्र की प्रेस कापी उन्हें दिखायी, साथ ही इन ग्रन्थों के प्रकाशन-सम्पादनादि से सम्बन्धित सभी बातें उन्हें सुनाई। सुनकर और सम्मुख उपस्थित सर्व-सामग्री देखकर आश्चर्य-चकित होकर बोले—मैं तो अभी तक बिल्कुल अंधेरे में था, आज यथार्थ बात ज्ञात हुई है। मैं इन दोनों ग्रन्थों के मूलरूप को शीघ्र से शीघ्र प्रकाशन की कोई व्यवस्था अवश्य करूँगा। इसके पश्चात् उन्होंने आचार्य श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार साहब से उक्त दोनों ग्रन्थो के प्रकाशन के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया। मुख्तार साहब ने कहा कि ये दोनों ही ग्रन्थ प्रकाशन के योग्य हैं और वीरसेवा मन्दिर इन्हें प्रकाशन करने मे अपना गौरव अनुभव करता। किन्तु इस समय दिल्ली मे वीरसेवा मन्दिर के निजी भवन के निर्माण का प्रश्न सामने है, आर्थिक समस्या है, इसलिये वह तो इनके प्रकाशन के लिए इस समय असमर्थ है। आप इन्हें अपने वीरशासन संघ कलकत्ता से क्यों न प्रकाशित कीजिए? मुख्तार सा० का परामर्श उनके हृदय मे घर कर गया और उन्होंने दोनों ग्रन्थों मे से पहले कसायपाहुडसुत्त का प्रकाशन अपने संघ से करने का निश्चय किया। फलस्वरूप उक्त ग्रन्थ-राज सन् १९५५ मे वीरशासन सघ कलकत्ता से प्रकाशित होकर समाज के सामने आया। इसके प्रकाशन को रोकने के लिए विरोधियों ने कोई कोर-कसर उठा न रक्खी,

किन्तु आप अपने निर्णय पर सुमेरुवत् अचल रहे। एक कृशकाय निर्बल शरीर में इतनी दृढ़ता और प्रारब्ध कार्य को पूर्णरूप से सम्पन्न करने की अद्भुत क्षमता का मुझे उनके भीतर दर्शन हुआ।

सन् १९५४ के वीरशासन जयन्ती के दिन की बात है। वीरसेवा मन्दिर का शिलान्यास २१ दरियागंज में श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा होने वाला था, उसके पूर्व वीरशासन जयन्ती मनाने का कार्यक्रम था। बाहर पश्चिम वाली गली में शामियाना खड़ाकर बैठने की सारी समुचित व्यवस्था आषाढ़ सुदी १५ के शाम को की जा चुकी थी। भाग्यवश रात्रि को मूसलाधार वर्षा ने सारे आयोजन को पानी में बहा दिया। तब आपने रात भर जागकर समीपवर्ती सुमेरु-भवन के मालिक ला० सुमेरुचंद्र जी से कहकर उनके मकान के नीचे का हाल खाली कराया और उसमें समारोह की समुचित व्यवस्था की। बारिश में लथ-पथ होते हुए एवं दमा-श्वास से पीड़ित होते हुए भी आप रात भर सब सहयोगियों को साथ में लेकर जुटे रहे और यथासमय निश्चित कार्यक्रम को संपन्न करके ही आपने दम ली। इस समय की उनकी कर्तव्य-परायणता देखकर मैं दंग रह गया।

उक्त अवसर पर श्रीमान् साहूजी ने वीरसेवा मन्दिर का शिलान्यास करने के पूर्व उसके भवन-निर्माण के लिए ग्यारह हजार रुपये देने की घोषणा की। बाबू छोटेलाल जी घोषणा के सुनते ही तुरन्त उठकर बोले—क्या मैंने रुपया लेने के लिए आपके द्वारा शिलान्यास का आयोजन किया है? पर जब आप स्वयं दे ही रहे हैं, तो मैं इतनी रकम नहीं लूंगा। इस पर साहूजी ने पच्चीस हजार रु० देने को कहा, तो बाबूजी बोले—नहीं, मैं यह रकम भी नहीं लूंगा। तब साहूजी बोले—तो आप क्या चाहते हैं? बाबूजी ने कहा—निचली मंजिल बनने में जो कुछ भी खर्चा आयेगा, वह आपसे लूंगा। साहूजी ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की और सारा हाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। पहिली मंजिल के बनने में पैंतीस हजार खर्च हुए और साहूजीने सहर्ष प्रदान किए। यहां यह उल्लेखनीय है कि बाबू छोटेलालजी और उनके बन्धुओं ने चालीस हजार में उक्त भूमि खरीद कर वीरसेवा मन्दिर को प्रदान की थी और उनके भाई श्री नन्दलालजी ने उनकी ही प्रेरणा पर दस हजार रुपये भवन-निर्माण के लिए और भी दिये थे। इसके अतिरिक्त बाबूजी और उनके परिवार से हजारों ही रुपये इसके आगे और पीछे और भी वीरसेवा मन्दिर को प्राप्त हुए हैं। जो स्वयं देता है, वही वस्तुतः दूसरों से दिलाने की सामर्थ्य रखता है।

शिलान्यास के पश्चात् इधर तो वीरसेवा मन्दिर के भवन-निर्माण का काम चालू हुआ और उधर बाबूजी बीमार पड़ गये और स्वास्थ्य-लाभार्थ कलकत्ता चले गये। जब स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ और शीतकाल समाप्त होने को आया, तब आप भवन-निर्माण की गति-विधि देखने के लिए पुनः सन् ५५ के प्रारम्भ में दिल्ली आये। उस समय तक लगभग निचली मंजिल बन कर तैयार हो चुकी थी। जब आपने उसे देखा तो उसका रूप (आकार प्रकार) आपको पसन्द नहीं आया, क्योंकि उसमें कोई एक विशाल हाल न तो निचली मंजिल में निकला था और न ऊपरी मंजिल में ही निकल सकता था। तब आपने स्थानीय इंजीनियरों से सम्पर्क स्थापित किया—जिनमें रा०ब० बा० उल्फतरायजी मेरठ और रा०ब० बा० दयाचन्द्रजी दिल्ली प्रमुख थे। सारे नक्शे पर एक विशाल हाल बनाने की दृष्टि से पुनः विचार किया गया। अन्त में काफी तोड़-फोड़ के पश्चात् वर्तमान रूप स्थिर हुआ। इस समय आपने अनुभव किया कि मेरे यहाँ बैठे बिना जैसा भवन मैं संस्था के लिए बनवाना चाहता हूँ, वह नहीं बन सकेगा, तब आप लालमन्दिर की नीचली धर्मशाला में डेरा डालकर बैठ गये।

इस समय तक गर्मी ने उग्ररूप ले लिया था। मगर आप प्रतिदिन प्रातः कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व ही ७ बजे लालमन्दिर से दरियागंज पहुँचते, काम को शुरू कराते, सब ओर की देख-रेख करते और १२ बजे मजदूरों की रोटी खाने की छुट्टी होने पर आप स्वयं रोटी खाने लाल-मन्दिर आते। लिया-दिया सा खा-पीकर तुरन्त ही एक घंटे के भीतर वापिस चले जाते और फिर ५ बजे शाम तक काम-काज देखते। ईंट, चूना, सिमेंट, लोहा, लकड़ी आदि जरूरी चीजों के मंगाने की व्यवस्था करते और मजदूरों की छुट्टी हो जाने के पश्चात् भी सब सामान को

यथास्थान सुरक्षित रखाकर ६ बजे वापिस लालमन्दिर आते। भोजन कर मुख्तार साहब से जरूरी परामर्श करते और एक बार फिर दरियागंज का चक्कर लगा आते। इस प्रकार दिल्ली की मई-जून की गर्मी भर वे पूरे दिन तपस्या करते रहे। यहा यह उल्लेखनीय है कि वीरसेवा-मन्दिर मे काम करने वाले हम लोग लालमन्दिर के नीचे के हाल मे खस के पर्दे लगाकर दोपहरी में आराम करते रहते थे और हम लोगों को यह पता भी नहीं चलता था कि बाबूजी कब आये और रोटी खाकर वापिस दरियागंज काम की देख-रेख को कब चले गये। कोई धनिक व्यक्ति निजी मकान बनवाने में भी इतना श्रम नहीं करता, जितना उन्होने वीरसेवा मन्दिर के भवन-निर्माण के लिए किया।

महीनों बाबूजी के साथ रहने का तथा उनकी देख-रेख में काम करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है और पत्र-व्यवहार तो पूरे बारह वर्ष तक (मरण से २ मास पूर्व तक) चालू रहा। इस लम्बे समय में अनेकों प्रकार से मुझे उनके अन्तरंग और बहिरंग रूप को देखने और परखने का अवसर मिला है। यहां यह सम्भव नही कि उन सब का उल्लेख कर सकू। पर इतना आजतक के अनुभव के आधार पर निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वे हृदय के अत्यन्त स्वच्छ और सरल थे। सामने आये हुए व्यक्ति के मनोगत भावों को पढ़ने और समझने की उनमें अद्भुत-विलक्षण शक्ति थी और वे मनुष्य रूपी हीरों के पारखी सच्चे जौहरी थे। परिचय में आने वाले व्यक्ति के विशिष्ट गुणों पर उनकी दृष्टि जाती और उसकी प्रशंसा करते नही अघाते। मुझे ऐसे अनेकों अवसर याद आ रहे हैं, जहां पर कि उनके साथ मुझे दिल्ली या कलकत्ता के अनेक ख्याति-प्राप्त विद्वानों, श्रीमानों एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के पास आने-जाने का प्रसंग आया और उन्होंने जिन शब्दों के द्वारा मेरा परिचय सामने वालों को कराया, उन्हें सुनकर मैं स्वयं लज्जा और सकोच का अनुभव करने लगता था, पर वे प्रशंसा के पुल बांधते न थकते थे। सन् १९५४ के पर्युषणपर्व पर मुझे कलकत्ता शास्त्र-प्रवचनार्थ जाने का अवसर आया। वे कार लेकर लेने को स्वयं ही स्टेशन पहुचे और अपने ही निवास-स्थान पर ठहराया। दोनों समय वेलगछिया मंदिर मे ही शास्त्र-प्रवचन करता था। वे बराबर पूरे समय तक चुपचाप मेरा प्रवचन आंख बन्द किये सुनते रहते। मैं तो समझता कि रात को खांसी की पीड़ा से नींद न आने के कारण बाबूजी झपकी ले रहे हैं, पर घर आने पर जब वे कहते कि पं० जी आज आपने अमुक बात बहुत अच्छी या नवीन बात कही है, तब मेरा भ्रम दूर होता और ज्ञान होता कि वे आख बन्द किये बैठे रहने पर भी प्रत्येक शब्द कितने जागरूक होकर सुना करते थे। आने-जाने वाले व्यक्ति के सुख-दुख, खान-पान आदि का वे कितना ध्यान रखते थे, यह प्रत्येक परिचय में आनेवाला व्यक्ति जानता है। पत्रों द्वारा वे कितना प्रोत्साहन देते रहते थे, यह सब को ज्ञात है। मेरे पास उनके लगभग १५० पत्र सुरक्षित हैं और अनेकों शिलालेख आदि वाले कागजात भी, जिनका कि वे मेरे द्वारा सम्पादन चाहते थे। आज उन सब बातों की याद करके आंखों में आंसू आ रहे हैं कि ऐसा प्रेरणा देने वाला व्यक्ति स्वयं ही स्मरणीय बन गया है। ●

विनम्र श्रद्धांजलि

कपूरचन्द वरैया

मैं सदैव ही भाद्रपद मास में पर्यूषण पर्व पर पूज्य वर्णीजी के पास पहुँचता था। उन दिनों पू० वर्णीजी का स्थायी मुकाम 'जैन उदासीनाश्रम, ईसरी' में ही निश्चित हो गया था। प्रति वर्ष 'वर्णी-जयन्ति-समारोह' वहां मनाया जाता था; किन्तु एक बार मुझे भी उनकी 'जन्म-जयन्ती' में सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जयन्त्युत्सव में शामिल होने का प्रमुख आकर्षण था कलकत्ता के साहू शातिप्रसाद जी जैन की अध्यक्षता तथा बा० छोटेलालजी की देख-रेख मे आश्रम की सुव्यवस्था। बाबूजी एक सप्ताह पहले आश्रम में आ गये थे और

उत्सव को सफल बनाने में बड़ी पटुता से कार्य में जुट गये थे। उनके कार्य करने की लगन, दृढ़ता और साहस देखकर मैं विमुग्ध था। समय पाकर मैं अपने एक साथी के साथ उनके निवासस्थान पर एकाएक पहुँच गया। प्रथम परिचय में ही वह मुझे शान्त और प्रसन्नचित्त दिखाई दिये। करीब थोड़ी देर ही उनसे वार्तालाप हुआ, लेकिन उतने ही समय में मुझे बहुत हर्ष का अनुभव हुआ। दमाँस रोग से ग्रसित, दुबले-पतले छरहरे शरीर को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता था कि यह वही बा० छोटेलालजी हैं, जिन्होने अपने जीवन का अधिकाश भाग जैन पुरातत्व, इतिहास तथा साहित्य व समाज की सेवा में अर्पण कर दिया। पूज्य वर्णीजी के प्रति उनकी अपूर्व भक्ति थी जो उनके गुणानुराग को ही प्रकट करती थी। प्रबन्ध कुशलता में वे मानो एकमेवाद्वितीय थे।

२६ जनवरी १९६६ को उनके स्वर्गवास का समाचार पाकर हृदय को एक आघात लगा। यह आघात स्वाभाविक था, क्योंकि समाज में अब ऐसा निरभिमानी, दानी, परोपकारी साधुमना व्यक्ति कहां, जो जीवन भर अपनी मूक साधना से जैन-जगत में छाया रहे। समाज और साहित्य के क्षेत्र में सचमुच जिस निःस्वार्थभाव और तत्परता से उन्होंने कार्य किया, वह किसी भी व्यक्ति के लिये अनुकरणीय और स्पर्द्धा की वस्तु है। आज वह हमारे बीच में नहीं, किन्तु अपने पीछे वे जिन कार्यों की एक लम्बी सूची छोड़ गये हैं, उन्हें कालान्तर मे पूरा करना समाज का कर्त्तव्य है।

मुझे वे दिन अच्छी तरह याद हैं जब 'वीर-सेवा-मन्दिर' से पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' के सम्पादकत्व में 'अनेकान्त' का मासिक प्रकाशन होता था, जो जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्त, इतिहास तथा पुरातत्व शिलालेख सम्बन्धी उत्तमोत्तम सामग्री से सुसज्जित रहता था। यह पत्र उन दिनों अपनी चरम प्रसिद्धि पर था, जिसमें बाबूजी की मूक प्रेरणा बराबर बनी रहती थी। अब तो सिर्फ उनके कार्यों का एक लेखा-जोखा ही रह गया है। मुझे सन्देह है कि उनका यह अवशिष्ट कार्य पूरा हो सकेगा, फिर भी उनकी वह सौम्यमूर्ति निरन्तर हमे आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रहे, यही इस अवसर पर मेरी उनके प्रति विनम्र श्रद्धाजलि है। ●

श्रीमान गुरुभक्त धर्मानुरागी सेठ छोटेलालजी जैन सरावगी कलकत्ता निवासी

के करकमलों में सादर समर्पित

अभिनन्दन-पत्र

आज के युग में जैन धर्म की जाग्रति व प्रभावक श्री धर्मनेता आचार्यरत्न १०८ देशभूषण जी महाराज के दर्शनार्थ पधारने के कारण आपके दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ यह हमारे सौभाग्य की बात है।

हम लोग आपके नामको बहुत दिनोंसे सुनते थे व आपकी तारीफ सुनते थे परन्तु आज प्रत्यक्ष दक्षिण काशी कोल्हापुर में आने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ यह अत्यन्त श्लाघनीय है इसलिये आज हम सब दक्षिण निवासियों को आपकी सेवा करनेका अवसर प्राप्त हुआ नहीं, तो भी केवल वचनों से ही आपका स्वागत करके हम लोग कृतार्थ मानते हैं।

हे महानुभाव आपकी हृदय भावना, धर्मप्रभावना, न्याय, नीति, सामाजिक सेवा और जैन-साहित्य की प्रकाशन तथा प्राचीन ग्रंथ संशोधन लालसा की कामना आपके हृदयमें हमेशा बनी रहती है। इतना ही नहीं बल्कि कलकत्ता जैन समाजमें भी आप एक गौरवशाली व्यक्तिहैं।

उसी माफिक हमारे दक्षिण जैन समाज के लिये भी आप अत्यन्त गौरवशाली है इसलिये हम लोग यही चाहते हैं कि आप इसी प्रकार धर्म जाग्रति, धर्मप्रभावना, समाज सेवा, अहिंसा का प्रचार, राजनीति आदिक कार्यों मे हमेशा अग्रगण्य होकर जैनधर्म की जागृति करते रहें। यही हम सब जैनसमाज हमेशा इच्छा रखते हैं और आपकी दीर्घ आयु की कामना करते हुए बार-बार धन्यवाद देते हैं।

कोल्हापुर — आपके जिज्ञासु

ता. ११-४-६४ — स० दि० जैन समाज, कोल्हापुर

श्री छोटेलालजी सरावगी
के करकमलों में

गनी ट्रेडर्स एशोसिएशन द्वारा सादर समर्पित

अभिनन्दन-पत्र

मान्यवर बन्धु

गनी ट्रेडर्स एसोसिएशन की ओर उसके माध्यम से समस्त बोरा हैसियन व्यवसाइयों की जो दीर्घकालीन सेवाएँ आपने की हैं, उनके उपलक्ष में आज आपका अभिनन्दन करते हुए हमें अतीव आनन्द हो रहा है।

मूर्तिमान संस्था,

इस एसोसिएशन की स्थापना सन् १९२५ में हुई थी आपका प्रतिष्ठान इनके आदि संस्थापकों में से है उसी समय से आप लगातार बत्तीस वर्ष तक संघ की कार्यकारिणी समिति के सदस्य रहे और दस वर्ष तक अवैतनिक संयुक्त मंत्री के पद को सुशोभित करते रहे क्रमशः तीन वर्ष तक आप एसोसिएशन के उपप्रधान और दो वर्ष तक प्रधान पद पर भी आसीन रहे। आपकी प्रशस्त सेवाओं का यह सुदीर्घकाल न केवल एसोसिएशन के इतिहास में ही, वलिक सारे बोरे बाजार के इतिहास मे स्मरणीय रहेगा।

नीर-क्षीर विवेकी

जब कभी गनी व्यवसाइयों के सामने कोई सकट अथवा समस्या आई तो उसके निवारण और समाधान के लिए आपने जिस उत्साह, तत्परता और अध्यवसाय का परिचय दिया वह कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। आपकी सबसे बड़ी विशेषता व्यापारियो के पारस्परिक विवादों को सुलझाने और तय करवाने की पद्धति थी। इस कार्य मे निष्पक्षता के आधार पर आपने जो ख्याति प्राप्त कर ली थी उसके कारण आपका निर्णय सबको सहर्ष स्वीकार होता था। इन सेवाओं का यह परिणाम था कि एसोसिएशन ने बोरा हैसियन व्यवसाय में और उसके बाहर भी अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की।

निरभिमान सेवाव्रती

सहज मानवीय संवेदना से प्रेरित होकर आपने इस व्यवसायिक संगठन को जिस प्रकार मानव सेवा में प्रेरित किया उसी का फल था कि सन् १९४२ से सन् १९५१ तक की अवधि में इस एसोसिएशन ने जनकल्याण के कार्यों पर विशेषकर बंगाल में लगभग पाच लाख रुपये खर्च किये।

साहित्य और संस्कृति के उपासक,

आपकी योग्यता और सेवावृत्ति केवल व्यवसाय और व्यवसायिक संगठन के क्षेत्र तक ही सीमित नही रही। सस्कृति, साहित्य और इतिहासान्वेषण की दिशा में आपने जो साधना की है और जिस लगन से आप उस कार्य मे रत है उसे देखकर हमे और भी आनन्द का अनुभव होता है। सस्कृति और इतिहास पर आपने हिन्दी और अंग्रेजी की कई पुस्तके तथा निबन्ध भी लिखे हैं जिससे आपकी अन्वेषण बुद्धि और सुलझी हुई दृष्टि का परिचय मिलता है।

प्रेरणा के स्रोत,

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत प्रेरणा भरी है। सादगी और सरलता का आदर्श आपको सदैव प्रिय रहा है। यशोलिप्सा आपको छू भी नहीं गई। आपको नाम से काम प्यारा रहा है। आपने जो भी कार्य किया है उस पर कर्तव्य-परायणता, निष्ठा, त्याग और परिश्रमशीलता की छाप रही है। आपके इन गुणों से कितने ही युवकों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रेरणा मिलती रही है।

श्रद्धेय,

आपकी सुदीर्घ कालीन सेवाओं के लिए हम परम आभारी हैं और यह अभिनन्दनपत्र समर्पण कर हम आपके प्रति श्रद्धा और प्रेम प्रगट कर रहे हैं। आप दीर्घायु हो और अपना जीवन सुख शान्तिपूर्वक व्यतीत करें यही शुभकामना है।

कलकत्ता — हम हैं आपके गुणानुरागी
दिनांक ११-१०-५८ — गनी ट्रेडर्स एशोसिएशन के सदस्य

धर्मप्रेमी बाबू छोटेलालजी

विशन चन्द जैन

बा० छोटेलाल जैन सच्चे धर्मप्रेमी, मिलनसार, खुश-मिजाज सज्जन थे। मेरी आपसे लगभग ३० वर्ष पूर्व की जानकारी थी। लेकिन सन् १९४३ मे देहली से अजमेर बदली हो जाने के कारण मै १९५४ तक अजमेर मे रहा इसलिए इस बीच मे इनसे न मिल सका उसके बाद में अजमेर के दफ्तर से १९५५ में रिटायर होकर देहली आया तब मेरे सच्चे प्रेमी बाबू पन्नालाल अग्रवाल देहली निवासी से, जो वर्षो मेरे साथ रहकर जैन-मित्र मण्डल देहली" के कार्यकर्ता रहते हुए जैनधर्म प्रचार का कार्य करते रहे हैं, मालूम हुआ कि श्रीमान बा० छोटे लाल जी का विचार दरियागंज देहली मे एक "वीरसेवा मन्दिर" का भवन निर्माण करने का है। उसके बारे में, आपसे कुछ सलाह लेना चाहते है। मे खबर पाते ही श्री पन्नालालजी अग्रवाल के साथ बा० छोटेलालजी से देहली के लाल मन्दिर में मिला। बड़े प्रेम से आपने बातचीत की और भवन के बारे में आपने अपने विचार सामने रखे। मैंने अपनी सेवाएँ देने का वचन दिया। आपने मुझसे तनख्वाह पर काम करने को कहा।

इस पर मैं तैयार न हुआ। मुझसे जो सेवा हो सकी फ्री की। उस समय भी आपका स्वास्थ्य खराब चल रहा था। मई सन् १९५६ मे, मैंने साहू सीमेण्ट सरविस नई देहली मे सरविस करली। आप मेरे से म० प्र० के प्राचीन क्षेत्रो के मन्दिरों आदि के जीर्णोद्धार के कार्य के बारे में पूछते रहते थे जो श्रीमान दानबीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन की ओर से हो रहा है. सुनकर बड़े प्रसन्न होते थे और कहते थे कि श्रीमान साहूजी ने यह बहुत बड़ा ठोस कार्य कराकर पुन्य कमाया है।

उनसे मेरी आखरी मुलाकात लगभग सन् १९६२ के आखीर मे या १९६१ के शुरू में "वीरसेवा मन्दिर" दरियागज देहली मे हुई। आप पूज्य वर्णीजी के अत्यन्त भक्त थे। दिसम्बर १९६४ मे उन्होने मेरे से पूज्य वर्णीजी के "इस धूप" का नकशा बनाने के वास्ते कहा जो श्री सम्मेद शिखरजी में बनवाना चाहते थे उस पर आपने अपने विचार रखे।

उसके बाद वह मेरी सलाह से मेरे साथ "साहू सीमेंट सरविस" नई देहली के चीफ इन्जिनियर से मिले और श्री वर्णीजी के "इसधूप" का नकशा बनवाने के लिए चर्चा की। उसके बाद मैं और वह तथा नेशनल म्यूजियम नई देहली में गये, वहाँ के अधिकारी श्री कृष्णमूर्ति से मिले। उन्होंने "इस धूप" के बहुत से नकशे दिखाए और तमाम संग्रहालय का दौरा कराकर प्राचीन कलाओं के दर्शन कराए।

उसके बाद "साहू सीमेण्ट सर्विसेज नई देहली" के इन्जिनियर ने श्री पूज्य वर्णी जी को "इसधूप" का नकशा बनाकर श्री० बाबू छोटेलालजी की सेवा में भेंट किया।

आपको इतिहास, पुरातत्त्व तथा जैन धर्म से बहुत प्रेम था आप अनुभवी थे। और परोपकारी जीव थे। गरीबोंका सदा ध्यान रखते थे। जैन नव युवकों को रोजगार से लगाते रहते थे। उनका अनेक जैन संस्थाओं से सम्बन्ध था और जैन धर्म प्रचार की सच्ची लगन थी। रूढ़ीवाद को हटाने के पक्ष में थे। ऐसे मनुष्य संसार में कम ही देखने में पाये जाते हैं जो दूसरों के हित के लिए अपने स्वास्थ की भी परवाह नहीं करते।

मुझे उनके निधन पर महान शोक है। मैं उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और श्रीजी से प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय आत्मा को शांति प्राप्त हो। ●

श्रद्धांजलि

प्रेमचन्द जैन

मेरा बा० छोटेलालजी कलकत्ता के साथ सन् १९५६ में परिचय उस समय हुआ, जब मैं वीरसेवामन्दिर का संयुक्त मंत्री बनाया गया। और थोड़े ही समय के बाद उनके साथ मेरा वह सम्बन्ध और भी गाढ़ा हो गया। उन्होंने हमेशा मुझे अपने छोटे भाई की तरह माना और वीरसेवामन्दिर का कोई भी कार्य मुझसे परामर्श किये बिना नहीं किया। मैंने देखा कि वीरसेवामन्दिर की ओर उनकी इतनी तीव्र लगन थी कि जिससे मैं भी संस्था की ओर आकर्षित होता चला गया। सस्था की उन्नति के लिये उन्होंने अपने स्वास्थ्य तक की भी परवाह नहीं की। और जिस लगन से उन्होने वीरसेवामन्दिर भवन का निर्माण किया और उसकी देख-रेख में दिन-रात लगे रहते थे, उन्हें उसके निर्माण की इतनी अधिक चिन्ता रहती थी कि जितनी कि किसी को अपने निजी भवन की भी नहीं होती। वीरसेवामन्दिर की ओर उनका घनिष्ट झुकाव देखकर यह स्पष्ट मालूम होता था कि वे उसके अभिन्न अंग हैं। बीमारी के दिनों मे भी उनके जितने पत्र आये उन सब में देहली आने की तीव्र भावना पाई जाती है। परन्तु भाग्य को कुछ और ही मजूर था और वे अपने अन्तिम दिनों में रुग्ण अवस्था के कारण दिल्ली आने में असमर्थ रहे।

यदि संस्था का एक पैसा भी दुरुपयोग मे आये तो उन्हें बड़ा दुःख होता था। उनकी व्यक्तिगत महानता का परिचय तो इसी से ज्ञात होता है कि उन्होंने सस्था को इतनी सहायता देने के वाद भी कभी अपने नाम की इच्छा नहीं की, और हमेशा यही कहा करते थे कि मैं अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। अजैनों को जैन साहित्य की ओर आकर्षित करने और अनुसंधान की दृष्टि से जो छात्रवृत्तिया दी, उनका यह कार्य भी स्मरणीय रहेगा। उन्होंने जैनधर्म को ऊँचा उठाने के लिए जितना कार्य किया उतना शायदही किसी अन्यने किया हो। उनके पास इतिहास-पुरातत्व की जितनी सामग्री थी यदि वह सब प्रकाशित हो पाती तो उससे कितनी महत्व की बातें प्रकाश में आ जाती। मेरा तो उनके कुटुम्बियो से अनुरोध है कि यदि वह सब सामग्री प्रकाशित करा सकें, तो जैनधर्म का उससे महान् उपकार होगा।

उनके निधन का तार रात्रि को जिस समय मुझे मिला, तो मेरे हृदय को बड़ा धक्का पहुँचा। क्योंकि मैं भी हमेशा यही चाहता था कि वह एक बार दिल्ली आकर वीरसेवामन्दिर के कार्यो मे अपना सहयोग प्रदान करे। पर भावी को ऐसा मंजूर न था। मैं उनकी मृत्यु को आसानी से भुला नहीं सकता। और उनकी प्रति सच्ची श्रद्धाजलि यही होगी कि उनके छोड़े हुए अधूरे कार्यों को पूरा किया जाय। इन्ही शब्दों के साथ मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। ●

संस्मरण

श्री छोटेलाल जी के सम्बन्ध में क्या कहूँ। वह जैन समाज की तथा अनेकान्त धर्म की सेवा के लिए पूर्णतः समर्पित थे।

—राजेन्द्रकुमार जैन

दो संस्मरण

'स्वतन्त्र' जैन

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बाबू छोटेलालजी कलकत्ता हमारे बीच से इतनी जल्दी चले जायेंगे। क्रूर कालगति के कारण अनिच्छित भाव से आज आपके नाम के साथ स्वर्गीय विशेषण लगाना पड़ा यह विधि की बिडम्बना ही मानी जायेगी। स्वर्गस्थ को शांतिलाभ और आपके परिवार को बाबूजी का असह्य वियोग सहन करने की समता और क्षमता प्राप्त हो। बाबूजी के दो संस्मरण निम्नप्रकार हैं—

बाबू श्री छोटेलालजी जैन सरावगी कलकत्ता से मैं तीन बार मिला हूँ। आपका नाम और आपके काम तो बहुत वर्षों से सुन रखे थे पर आपसे साक्षात्कार नहीं हुआ था। पर आज से १२ या १३ वर्ष पूर्व बाबूजी मेरे भाग्योदय से सूरत आये तभी सर्वप्रथम आपसे साक्षात्कार हुआ था। बाबूजी श्री कापड़िया जी के यहाँ पर ठहरे हुए थे। आफिस के कामकाज की अधिकता के कारण मैंने सोचा था कि आफिस से जाने के बाद बाबूजी के पास कुछ समय बैठूंगा और शांति के साथ बातचीत करूंगा। यह विचारधारा चल ही रही थी।

तभी श्री कापड़ियाजी ने कहा—प०जी आपको बाबू जी याद करते हैं अभी मिल आइये। मैं उसी समय मिलने गया तो बा०जी उठ खड़े हुए और गले लगाकर मिले। मैंने कहा, बाबूजी मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिए इतना सम्मान, मुझे तो लगता है मैं धरती मे गड़ा सा जा रहा हूँ। बा०जी ने मेरा हाथ पकड़कर बैठाते हुए कहा—भाई स्वतन्त्रजी, न तो मैं ऐसी भाषा जानता हूँ और न साहित्यिक विद्वान ही हूँ।

इसके बाद आपसे सामाजिक एवं धार्मिक चर्चायें आधा घंटे तक होती रही। आपके साथ आपकी भतीजी भी थी, उसने एक गिलास मुझे दूध दिया। बा०जी ने कहा—आप कलकत्ता अवश्य आइये मैं प्रतीक्षा में हूँ, कब तक आ रहे हैं?

मैंने कहा—बा०जी जब अनुकूलता होगी तब अवश्य आऊँगा आप विश्वास कीजिये।

आप सूरत दो दिन ठहरे इस बीच में आपसे ३-४ मर्तबा मिला, और मैंने देखा कि आप में बेहद दर्जे की आत्मीयता थी। आप जिससे मिलते थे उसमें अपनी आत्मीयता उंडेल कर उसे अपना बना लेते थे यह आपकी विशेषता थी। आप श्रीमानों में श्रीमान, विद्वानों में विद्वान, दानियो मे दानी, नेताओं में नेता, निस्वार्थ निष्काम सेवाभावियों मे लोकप्रिय सेवक थे। प्रथम परिचय मे जो वार्तालाप हुआ वह स्मृतिस्वरूप चलचित्र के एक दृश्य के समान आज भी मुझे दिख रहा है और आप के वही शब्द कान मे टकरा रहे हैं ऐसा हो रहा है।

दूसरी बार आपसे मिलना तब हुआ जबकि मैं प्रातः-स्मरणीय पूज्य वर्णीजी की जन्म जयन्ती पर ईसरी गया था। बा०जी से मिलने गया तो पलग पर लेटे हुए थे क्यों बा०जी अच्छे तो है न? हां भाई स्वतन्त्रजी ठीक तो हूँ, पर ४-५ दिन से बुखार आ रहा है। उनका मैंने हाथ छुआ तो कम-से-कम १०४ डिग्री बुखार था।

आधा घंटे के बाद देखा तो बा०जी पण्डाल में बैठे हुए हैं और बुखार चढ़ा है। बा०जी धुन के पक्के थे वे अपनी शारीरिक स्थिति को न देखते हुए भी सेवा के कार्य में जुटे रहते थे। वर्णीजी के तो आप अनन्य भक्त ही थे।

श्रीमान् बद्रीप्रसाद जी सरावगी पटना ने मुझसे कहा कि स्वतन्त्रजी आपके मार्ग-व्यय की व्यवस्था मैं कर दूंगा मैं वहाँ बीमार भी हो गया था तब सरावगीजी मुझे पटना ले गये थे। बा०जी को न मालूम कैसे पता लग गया? कुछ पता नही, सभा समाप्त होने के बाद उनने मुझसे कहा कि आप जब यहाँ से जायें तब मुझसे मिल कर जाना। मेने कहा बा०जी आपके बगैर कहे ही मिलने आऊँगा।

जाने के पहिले मैं मिलने गया तो उन्होंने १००)का एक नोट देते हुए कहा आप अपना मार्ग-व्यय तो ले जाइये। मैंने कहा बाबूजी ! मेरे मार्ग-व्यय की व्यवस्था हो चुकी है, पटना वाले सरावगीजी देंगे, अब आवश्यकता नहीं है अन्यथा अवश्य ले लेता। बा०जी ने जोर देकर कहा अगर सरावगीजी आपको मार्ग-व्यय देंगे तो क्या हुआ ?—

ले जाइये, बच्चों के काम आयेंगे उन्हे कपड़े बनवा देना। मैंने विनम्रता से कहा—बच्चे आपके हैं, इस समय तो आवश्यकता नहीं हैं। भाई स्वतन्त्रजी ! तुम इस जगह मेरी बात नही मानोगे, मुझे तो अच्छा नहीं लगता मैंने बाबूजी से जय जिनेन्द्र कहा और चल दिया।

बाबू छोटेलालजी सचमुच महान थे और उदार थे और यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि वे विद्वानों के मूक सेवक थे, पोषक थे और प्रसिद्धि से सर्वथा अलिप्त एवं निरपेक्ष रहते थे। बाबूजी समर्थ थे अर्थ सम्पन्न भी थे पर वे सदैव अपने आपको अकिंचन मानते थे, वे जो कहते थे उसे करके ही दिखा देते थे।

अन्त मे स्वर्गीय आत्मा को हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हुआ, सुख-शान्ति की कामना करता हूँ। ●

वे महान् थे

प्रकाश हितैषी शास्त्री

यूँ तो प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे अपनी-अपनी विशेषताएँ होती है किन्तु उसमे जनसाधारण की दिलचस्पी इसलिये नहीं होती कि उसका जनहित से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। किन्तु बा० छोटेलाल जी के व्यक्तित्व की चर्चा करना इसलिये सार्थक है क्योंकि वे आजीवन धर्म और समाज के लिये कुछ-न-कुछ करते ही रहे। जैनदर्शन के प्राणभूत जैन साहित्य, इतिहास, और पुरातत्व से उन्हें असाधारण प्रेम था। वह स्वभाव से अल्पभाषी थे किन्तु निकट आने पर उन्हें हम असाधारण सहृदय, सरल और सहानुभूति पूर्ण पाते। हो सकता है उनसे दूर रहने वालों के ही इन गुणों का परिचय न मिला हो।

वैसे उनकी स्मृति आते ही अनेक चित्र, अनेक स्मृतियाँ और अनेक सरल आकृतियाँ प्रत्यक्ष होने लगती है, जिनमें उनकी सरलता, गांभीर्य एव समरसता प्रतिपग पर झलकती है। वह एक उदार और कर्तव्य निष्ठ व्यक्ति रहे। यद्यपि अनेक वर्षों से उनको भयकर शारीरिक प्रतिकूलता रही; किन्तु फिर भी वे हतोत्साह या अकर्मण्य बनें नहीं रहें। मस्तिष्क और कलम कभी भी विश्रांत नहीं रहे। उन्होंने महत्वपूर्ण शोध खोज की इतनी सामग्री संकलित की है। जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यद्यपि उन्होंने कभी भी अपने को प्रकाश में लाने का प्रयत्न नहीं किया किन्तु वे सबके अग्रणी रहे। उनकी विचारधारा मे कही भी अहं या दम्भ नही मिलता।

उन्होंने ज्ञानोपयोगी दूसरे के साहित्य को प्रकाश मे लाने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु स्वयं के महत्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन मे उनकी कोई दिलचस्पी नही रही।

उन्हें विद्वानो से असीम प्रेम था। वे प्रत्येक विद्वान् का दिल खोलकर सन्मान करते थे। सुना है कि कुछ वर्षों पूर्व वे वयोवृद्ध साहित्य तपस्वी प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के चरण छुआ करते थे। मैं ५ वर्ष पूर्व वीरसेवामन्दिर का वैतनिक कार्यकर्ता था, और वे इसके सर्वस्व थे, किन्तु जब कभी कार्यवशात् उनके समीप जाने का अवसर आता तो वे सम्मान के साथ सौजन्य पूर्ण व्यवहार करते थे। उनकी अनेक महत्ताएँ विस्तार भय से लिख सकना अशक्य है। उनकी सेवाएँ महान् है उन जैसी कर्तव्यनिष्ठा अन्य में दिखाई नहीं देती। वे इस युग के महापुरुष थे।

साहित्य-समीक्षा

१. जैन शिलालेख संग्रह—(भाग ४) संग्राहक सम्पादक—डा० विद्याधर जोहरापुर कर, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ संख्या पाँचसौ से अधिक मूल्य सात रुपये।

प्रस्तुत ग्रंथ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत जैन शिलालेख सग्रह का यह चौथा भाग है। इस सग्रह मे ईस्वी पूर्व चौथी सदी से लेकर १८वीं सदी तक के ६५४ लेखों का सकलन किया गया है। ये लेख विविध प्रान्तों के और विविध भाषाओं का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। इनमें सबसे अधिक लेख मैसूर प्रान्त के ४४७ लेख हैं, जो कन्नड भाषा के हैं। यद्यपि प्राकृत के १८, सस्कृत के ८८, हिन्दी के ३, तेलगु ८, तमिल के ७७ और कनाडी भाषा के कुल ८६० लख सगृहीत है। डा० जोहरापुर करने इसका परिश्रम पूर्वक सम्पादन किया है। इस लेख सग्रह की विशेषता है कि इसमे नागपुर के दि० जैन मन्दिरो की मूर्तियों के लेख भी संकलित किये गये है।

सम्पादक जी ने प्रस्तावना और आगत लेखो मे राजवशों तथा गण-गच्छों पर भी प्रकाश डाला है। अभी मध्यप्रदेश आदि के बहुत से अप्रकाशित लेख पड़ हुए है, जो अभी तक जनसाधारण मे प्रकाश मे नही आये, और न उन पर उचित विचार ही हो सका है। आशा है डा० साहब उन लेखो का सकलन भी जैन जगत के सामने रखने का प्रयत्न करेगे।

ग्रथ का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ के अनुसार उत्तम है। इस उपयोगी ग्रन्थ को प्रत्येक लायब्रेरी, और अनुसधाता प्रिय विद्वानो को मगाकर रखना चाहिए।

२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—लेखक डा० नेमिचन्द शास्त्री आरा, प्रकाशक तारा पब्लिकेशन्स कमच्छा वाराणसी। पृष्ठसख्या ६४० मूल्य २० रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे डा० नेमिचन्द जीने ई० पूर्व ६०० से ई० सन् की १८वी सदी तक के प्राकृत भाषा साहित्य का परिचय करता हुआ उसका आलोचन भी किया है। ग्रन्थ नौ अध्यायो मे विभक्त है, जिनमें प्राकृत भाषा, ध्वनि और व्याकरण सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए प्राकृत भाषा के महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, चम्पूकाव्य, मागधी, मुक्तककाव्य, कथासाहित्य तथा अलंकार एव छन्द शास्त्रों का परिचय दिया गया है। आगम साहित्य का भी सक्षिप्त परिचय इसमें निहित है, इससे पाठको को प्राकृत भाषा के साहित्य का सहज ही परिचय मिल जाता है। प्राकृत भाषा के साहित्य को तीन कालो मे विभाजित किया जा सकता है। प्राचीन, मध्य कालीन और अर्वाचीन। प्राकृत का प्राचीन साहित्य आगम और अध्यात्म साहित्य पाया जाता है। मध्यकालीन कथासाहित्य और कालिदास के नाटको में पाया जाता है और अर्वाचीन प्राकृत साहित्य को अनेक छोटी कृतियाँ हैं; और उसका रूप अपभ्रंश साहित्य मे पाया जाता है। लेखकने वैज्ञानिक विश्लेषण, काल विभाजन द्वारा ग्रन्थ को पठनीय और रोचक बनाने के लिए अच्छा परिश्रम किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत भाषा के जिज्ञासुओ को मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिये।

३. जैनदर्शन—लेखक डा० महेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक श्री गणेशप्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला, काशी, पृ० ६००, मूल्य ७ रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे जैन दर्शन का मौलिक, प्रामाणिक और तुलनात्मक विवेचन दिया हुआ है। जहाँ कही भी आलोचन की आवश्यकता हुई लेखक ने बड़े ही सयत शब्दो मे उसे देने का प्रयास किया है। पुस्तक की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि यह उसका द्वितीय एडीसन है। अन्त मे जैन दार्शनिक साहित्य की सूची भी दी हुई है, जिससे पाठक उससे यथेष्ट लाभ उठा सकता है। इससे लेखक की प्रतिभा का ज्ञान सहज हो जाता है। उनसे जैन समाज को बहुत बडी आशा थी, काश वह और रहते तो जैन दर्शन की अनेक गुत्थियो को सुलझाते। लेखक की यह कृति महत्वपूर्ण है। इनके द्वारा सम्पादित सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ बड़ा ही महत्वपूर्ण और गभीर है।

वर्णी ग्रन्थमाला के मन्त्री दरबारीलाल जी कोठिया का यह प्रयास प्रशसनीय है। आशा है, भविष्य मे उससे और सुन्दर ग्रन्थो के प्रकाशन का आयोजन किया जायगा।

४. सुगध दशमी कथा—सम्पादक डा० हीरालाल जैन एम० ए० डी० लिट् प्राध्यापक तथा विभागाध्यक्ष संस्कृत, पाली व प्राकृत इन्स्टीट्यूट आव लेंग्वेज एण्ड रिसर्च

जबलपुर विश्वविद्यालय (म० प्र०), प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी। बड़ा आकार पृष्ठ १६२ मूल्य ११) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सुगन्ध दशमी व्रत की कथा अपभ्रंश, संस्कृत, गुजराती, मराठी और हिन्दी इन पांच भाषाओं में पद्यमय प्रकाशित की गई हैं। उदयचन्द की अपभ्रंश कथा और श्रुतसागर की संस्कृत कथा का अनुवाद भी साथ में दिया गया है। ब्रह्मजिनदास की गुजराती कथा और खुशालचन्द की हिन्दी कथा के साथ जिनसागर की मराठी कथा को सचित्र प्रकाशित किया है। जिन में ४ चित्र रंगीन और शेष ६७ चित्र इकरंगे हैं।

काशी नरेश पद्म नाभ की रानी श्रीमती ने एक तपस्वी मुनि को द्वेषभाव से कटुक फलों का आहार कराया। जिसके विषम प्रभाव से मुनि मूर्छित हो गए। इससे राजा ने रानी को निकाल दिया। रानी ने अपने पाप फल से अनेक पशुयोनियों में जन्म लिया, पश्चात् मनुष्य योनि में दुर्गंधित शरीर पाया। भाग्यवश दयालु मुनिराज ने एक व्रत पालने का उपदेश दिया, जिससे वह अगले भवमें सर्वांग सुन्दर तिलकमती नामक रानी हुई और अन्त में समाधिमरण करके ईशान स्वर्ग में देवी हुई।

ऐतिहासिक दृष्टि से कथा का मूल रूप प्राचीन जान पड़ता है। सम्पादक महोदय ने अपनी प्रस्तावना मे इस पर अच्छा प्रकाश डाला है, और कथानक के विभिन्न रूपों पर विचार करते हुए उसकी मौलिकता और रोचकता का भी निर्देश किया है। फ्रेंच और जर्मन कथा से भी तुलना की गई है। महाभारत के कथानक से सुगन्ध दशमी कथा के मूलाधार पर भी प्रकाश डाला है।

डा० साहब ने ग्रंथ को सर्वोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में कथा ग्रंथों के ऐसे ही सुन्दर संस्करण प्रकाशित होने चाहिये जिससे कथाओं का मूल्य आंका जा सके, और पाठकों को उसकी महत्ता का भी दिग्दर्शन हो। भारतीय ज्ञान पीठ का यह प्रकाशन बहुत सुन्दर है। इसके लिये वह और डा० साहब धन्यवाद के पात्र हैं। जैन समाज में यह कथा भाद्रपद पढ़ी में जाती है। इसे मंगाकर प्रत्येक मन्दिर और सरस्वती भवनों में विराजमान करना चाहिये।

५. दयोदय चम्पू (हिन्दी अनुवाद सहित) मुनि श्री ज्ञानसागर जी, सम्पादक पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक पं० प्रकाशचन्द्र जैन, ब्यावर, पृष्ठ १६२ मूल्य १-५० पैसा।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण कृति है जिसमें एक ऐतिहासिक व्यक्ति की कथा दी गई है जो हिंसा द्वारा अपनी आजीविका को सम्पन्न करता था। उसने साधु के उपदेश से केवल इतना ही नियम लिया था कि जाल मे पहली बार जो जीव आयगा उसकी मैं हिंसा नहीं करूंगा। उसने इस नियम का दृढ़ता से एक दिन ही पालन कर पाया कि वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। और उस लघु अहिंसा के प्रभाव से अगले ही जन्म में एक उच्च कुलीन सेठ के घर पैदा हुआ और अन्त में आत्म कल्याण करके सर्वोच्च सांसारिक अभ्युदय पर और अगले जन्म में कर्मबन्धन से मुक्त हो अविनाशी सुख का पात्र बना।

इस दयोदय काव्य के रचयिता मुनि श्री ज्ञानसागर जी हैं, जो जयपुर के पास राणोली ग्राम के निवासी हैं। इनका कुल खंडेलवाल और गोत्र छावडा है, पितामह का नाम सुखदेव और पिता का नाम चतुर्भुज तथा माता घृतवरी देवी था। उनके पांच पुत्रों में से आप द्वितीय हैं। सं० १६५६ में पिताका असमय में स्वर्गवास हो गया, उस समय आपकी अवस्था १० वर्ष की थी, अपने गांव के स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा पाई। आपने बनारस के स्याद्वाद महाविद्यालय में अध्ययन किया। आपमें प्रतिभा थी, और अध्यवसायी थे, बुद्धि तीव्र थी, पढ़े हुए पाठ को जल्दी ही कण्ठाग्र कर लेते थे। ब्र० ज्ञानानन्द जी से आपको अध्ययन करने का प्रोत्साहन मिला। कौन जानता था कि वही विद्वान परिग्रह का परित्याग कर बाल ब्रह्मचारी रह कर साधुवृत्ति का आचरण करेगा। आज आपकी कवित्व शक्ति और प्रतिभा तथा निर्ग्रन्थ मुद्रा का अवलोकन से आपके प्रति श्रद्धा का भाव सहज ही जाग्रत हो जाता है। आपने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। समाज को चाहिये कि आपके काव्यों, ग्रन्थों का प्रकाशन करें। प्रस्तुत ग्रन्थ सुन्दर है। इसे मंगाकर पढ़ना चाहिये।

परमानन्द शास्त्री

वीरशासन-जयन्ती महोत्सव सानन्द सम्पन्न

इस वर्ष वीर सेवा मन्दिर की ओर से वीर शासन जयन्ती महोत्सव बड़ी धूमधाम से समन्तभद्र सस्कृत महाविद्यालय के विशाल प्राङ्गण में ३ जुलाई रविवार को प्रातःकाल मनाया गया। जनता से पण्डाल ठसाठस भरा हुआ था। जनता की उपस्थिति पाच हजार के लगभग होगी। परमानन्द शास्त्री के मंगलाचरण के अनन्तर पं० अजितकुमारजी शास्त्री, पं० बाबूलालजी और प्रोफेसर सुखनन्दनजी बड़ौत के महत्वपूर्ण भाषण हुए। बाल आश्रम के बालको का गायन भी हुआ। पश्चात् श्री १०८ पूज्य मुनि विद्यानन्दजी का ओजस्वी एवं चित्ताकर्षक भाषण हुआ। आपने वीरशासन की महत्ता बतलाते हुए जनता से कहा कि वीर शासन को जाने बिना हम उसकी महत्ता और सर्वोदय तीर्थता का मूल्य नही आक सकते। इसके लिए आपको स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करनी होगी। महाराज श्री के निर्देश से उपस्थित स्त्री-पुरुषो ने चातुर्मास तक १५ मिनट प्रति दिन स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा ली। महाराजश्री के भाषण का जनता पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि पण्डाल में कही से भी कोई आवाज नहीं सुनाई देती थी। सब शान्त होकर भाषण सुन रहे थे। आपने बतलाया कि मतभेद होना स्वाभाविक है परन्तु मनोमालिन्य नहीं होना चाहिये। जो व्यक्ति मनोमालिन्य रखता है, वह हिंसक है, और जो नहीं रखता वह अहिंसक है। क्योंकि राग-द्वेष विकार रूप परिणति ही हिंसा है, सम्यग्दृष्टि के इस प्रकार की परिणति नही होती, वह सप्त भय रहित निर्भय होता है, अतएव वह अहिंसक है। हमारा वीर शासन जयन्ती का मनाना तभी सार्थक होगा, जब हम भगवान महावीर के शासन का शक्त्यनुसार अनुसरण करेंगे। मानव जीवन जीवन की सार्थकता त्याग में हैं। दुनिया के भोगोपभोग और वैभव क्षण में विनष्ट हो जाते हैं, और हमारी अनन्त तृष्णाएँ भी यों ही विलीन हो जाती हैं। अतः जीवन को सार्थक बनाने के लिए वीरशासन का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्त में सामूहिक प्रार्थना हुई जिसमे महाराजश्री के साथ-साथ जनता ने भी भाग लिया। और महावीर की जयध्वनि पूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

प्रेमचन्द जैन
मंत्री, वीरसेवामन्दिर

R. N. 10591/62

वीरसेवामन्दिर, दिल्ली के शिलान्यास के समय (ता० १७-७-५४) बा० छोटेलाल जैन भाषण दे रहे हैं।

सम्पादक—१. डा० ए. एन. उपाध्ये, २. यशपाल जैन, ३. डा० प्रेमसागर जैन
प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वमासिक

अगस्त १९६६

अनेकान्त
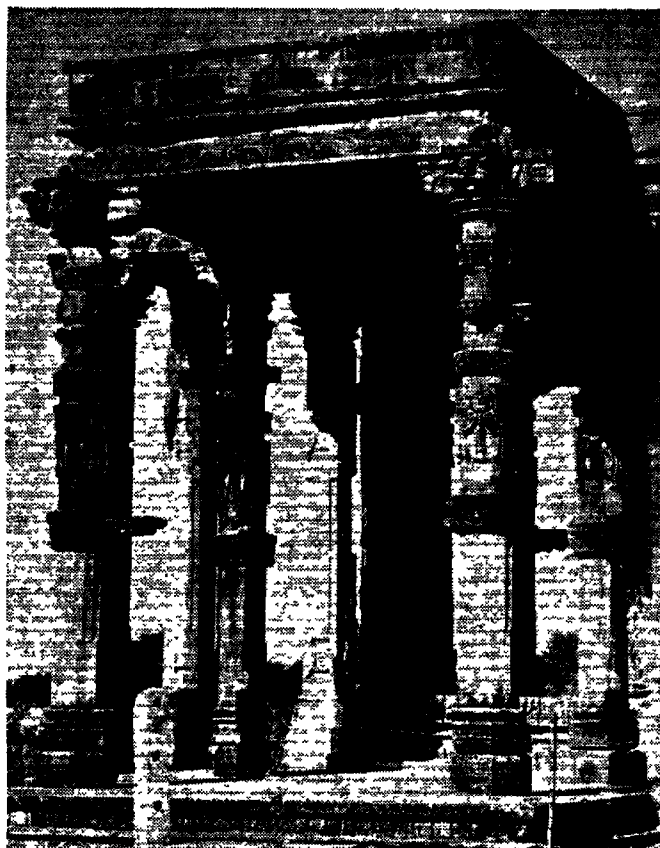
खजुराहो का घण्टइ मन्दिर
१०वीं ११वीं शती ईस्वी
(छायाकार नीरज जैन)

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
जिनवर-स्तवनम्—मुनि श्री पद्मनन्दि	२०३
जैन प्रतिमा लक्षण—बालचन्द जैन एम० ए०	२०४
सूरदास और हिन्दी का जैन पद-काव्य (एक तुलनात्मक विश्लेषण)—डा. प्रेमसागर जैन	२११
एलिचपुर के राजा एल (ईल) और राजा अरिकेसरी—पं० नेमचन्द धन्नूमा जैन	२१६
षट्खण्डागम-परिचय—बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	२२०
खजुराहो का घंटई मन्दिर —गोपीलाल 'अमर' एम. ए.	२२६
बंगाल का गुप्तकालीन जैन ताम्र-शासन —स्व० बाबू छोटेलाल जैन	२३४
स्व-स्वरूप में रम—	२३३
जैनदर्शन और निःशस्त्रीकरण —साध्वी श्री मंजूला	२४०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

व्यवस्थापक अनेकान्त

ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन ग्राहकों का १६वें वर्ष का वार्षिक मूल्य अभी तक भी प्राप्त नहीं हुआ, वे इस अंक के पहुंचते ही अपना वार्षिक शुल्क छह रुपया शीघ्र ही मनीआर्डर से निम्न पते पर भेज देने की कृपा करें। अन्यथा अगला अंक वी. पी. से भेजा जावेगा, उसमें ७५ पैसे अधिक देने होंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली

सूचना

२०२ पेज का महत्वपूर्ण अनेकान्त का 'छोटेलाल जैन स्मृति' विशेषांक छह रुपया भेजने वाले प्रत्येक ग्राहक को फ्री प्राप्त होगा। उसका अलग मूल्य नहीं लिया जावेगा। अतः जैन साहित्य और इतिहास के प्रेमी पाठकों, शिक्षा संस्थाओं और लायब्रेरियों को छह रुपया भेज कर शीघ्र ही ग्राहक बन जाना चाहिये। और जो सज्जन अनेकान्त की पुरानी फाइलें चाहें उन्हें ८वें वर्ष से १८वें वर्ष तक की सब फाइलें उसके निश्चित मूल्य पर ही मिलेंगी। हाँ, डाक रजिस्ट्री खर्च अलग होगा।

—व्यवस्थापक अनेकान्त
वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

समागत ग्रन्थों की समालोचना अगले अंक में दी जावेगी।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १९ } किरण ३ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९२, वि० सं० २०२३

{ अगस्त { सन् १९६६

जिनवर-स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णियं महापावं ।
रविउग्गमे णिसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं ॥४॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो को वि पुण्णपब्भारो ।
होइ जिणो जेण पहू इह-परलोयत्थसिद्धीणं ॥५॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहं ।
होही सो जेणासरिससुहणिही अक्खओ मोक्खो ॥६॥

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर मैं महापाप को नष्ट हुआ ही मानता हूँ। ठीक है—सूर्य का उदय हो जाने पर रात्रि का अन्धकार भला कितने समय ठहर सकता है ? अर्थात् नहीं ठहरता, वह सूर्य के उदित होते ही नष्ट हो जाता है ॥ हे जिनेन्द्र ! आप का दर्शन होने पर वह कोई अपूर्व पुण्य का समूह सिद्ध होता है कि जिससे प्राणी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अभीष्ट सिद्धियों का स्वामी हो जाता है ॥ हे जिनेन्द्र ! आप का दर्शन होने पर मैं अपने उस पुण्यलाभ को मानता हूँ जिससे कि मुझे अनुपम सुख के भण्डारस्वरूप वह अविनश्वर मोक्ष प्राप्त होगा ॥

जैन प्रतिमा लक्षण

बालचन्द्र जैन एम० ए० साहित्य शास्त्री

बिम्ब निर्माण क्यों ?

जैन परम्परा में अर्हंत्, सिद्ध, साधु और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म को मंगल और सर्वोत्तम माना गया है। इनमें से साधु तीन प्रकार के होते हैं, (१) आचार्य, (२) उपाध्याय और (३) सर्व (साधारण) साधु। केवली के उपदेश को जिनवाणी या श्रुत भी कहा जाता है। इसलिए अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पाँच परमेष्ठियों और श्रुतदेवता की पूजा करने का विधान जैन ग्रंथों में मिलता है१। अनेक जैन ग्रंथों में पूजन की आवश्यकता और उसकी विधि का वर्णन किया गया है और उसे श्रावक का दैनिक कर्तव्य बताया है। कहीं इसे वैयावृत्य के अन्तर्गत रखा है—जैसे समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार में, कहीं सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत—जैसे सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू में, और कहीं कहीं पूजन को श्रावक का एक स्वतन्त्र कर्तव्य कहा गया है—जैसे जिनसेन कृत आदिपुराण में।

वसुनन्दी ने पूजन को छह प्रकार का बताया है, (१) नामपूजा, (२) स्थापनापूजा, (३) द्रव्यपूजा, (४) क्षेत्रपूजा, (५) कालपूजा और (६) भावपूजा२।

इनमें से स्थापना दो प्रकार की कही गई है।

(१) सद्भावस्थापना और (२) असद्भावस्थापना। प्रतिष्ठेय की तदाकार सागोपांग प्रतिमा बना कर उसकी प्रतिष्ठा करना सद्भावस्थापना है और शिला, पूर्णकुंभ, अक्षत, रत्न, पुष्प, आसन आदि प्रतिष्ठेय से भिन्न आकार की वस्तु में प्रतिष्ठेय का न्यास करना असद्भावस्थापना है३।

जैन ग्रंथकारों ने वर्तमान अवसर्पिणी कालमें असद्भावस्थापना पूजा का निषेध किया है, क्योंकि वर्तमान काल में लोग कुलिंग मति से मोहित होनेके कारण अन्यथा कल्पना कर सकते हैं४। इसीलिए वसुनन्दी ने कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा को स्थापना पूजा बताया है५।

जो मंगल है सो पूजनीय है, क्योंकि वह हमारे आभ्यन्तर मल को गला कर दूर करनेवाला है और आनन्द देनेवाला है। तिलोयपण्णत्ती में मंगल के छह भेद बताये गये हैं, (१) नाममंगल, (२) स्थापनामंगल, (३) द्रव्य मगल, (४) क्षेत्रमंगल, (५) कालमंगल और (६) भावमंगल। इनमें से स्थापनामगल कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्बों को कहा गया है६।

प्रवचनसारोद्धार और पद्मानन्द महाकाव्य में भी जिनेन्द्र की प्रतिमाओं को स्थापनाजिन या अर्हंत् की

---

१. जिणसिद्धसूरिपाठ्यसाहूणं जं सुयस्स विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं ॥
वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८० :

२. णाम ट्ठवणा दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ॥
वही, ३८१

३. साकारे वा निराकारे विधिना या विधीयते।
न्यासस्तदिदमित्युक्ता प्रतिष्टा स्थापना च सा ॥
भट्टाकलंककृत प्रतिष्ठाकल्प।

४. वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८५ : आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार, ६।६३

५. एवं चिरंतणाणं कट्टिमाकट्टिमाण पडिमाण।
जं कीरइ बहुमाण ठवणापुज्जं हि तं जाण ॥
वसुनन्दि श्रावकाचार, ४४६

६. णामणिट्ठावणादो दव्व खेत्ताणि कालभावा य।
इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं ॥
तिलोयपण्णत्ती, १।१८
ठावणमगलमेदं अकट्टिमाकट्टिमाणि जिणबिंबा।
वही, १।२०

संज्ञा दी गई है१। कुन्दकुन्द के अग्र शिष्य जयसेन के अनुसार जिनबिम्ब का निर्माण कराना मंगल है२ और भाग्यवान गृहस्थों के लिये अपने (न्यायोपात्त) धन की सार्थकता के हेतु चैत्य और चैत्यालयों के निर्माण के बिना अन्य कोई उपाय नहीं हैं३। जैन अनुश्रुति मानती है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर मणि और रत्नों के चूर्ण से जिनमंदिरों का निर्माण कराया था और उनमें जिनबिम्बों की स्थापना कराई थी। उस समय से ही लोग प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराते है४।

यतः प्रतिमा को देखकर चिदानन्द जिन का स्मरण होता है अतएव जिनबिम्ब का निर्माण कराया जाता है और प्रतिमा में जिन और उनके गुणों की प्रतिष्ठा करके उनकी पूजा की जाती है।

मन्दिर के योग्य स्थान

वराह मिहिर ने कहा है कि वन, नदी, पर्वत और झरनों के निकटवर्ती भूमि पर तथा उद्यानयुक्त नगरों में देवता सदा निवास करते हैं५। मनु ने सीमासंधियों पर देवायतन निर्माण कराने का विधान किया है६। तात्पर्य यह कि देवालय उन स्थानों पर बनाये जाना चाहिये जो रमणीक हों अथवा अन्य कारणों से महत्त्वपूर्ण हों। तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकों से पवित्र स्थानों तथा नदीतट, पर्वत, ग्रामसन्निवेश, समुद्रतट अथवा ऐसे ही अन्य मनोज्ञ स्थानों को जिनमंदिर के योग्य बताया गया है७। अपराजितपृच्छा में जिनमंदिरों को शान्तिदायक स्वीकार कर उन्हें नगर के मध्य में बनाने का विधान किया है८, किन्तु मानसार के कर्ता बौद्धों और जैनों के प्रति उतने उदार नहीं प्रतीत होते, जिन्होंने दुर्गा, गणपति, कार्त्तिकेय आदि के मंदिरों के समान ही बौद्ध और जैनमंदिरों को भी नगर के बाहर निर्माण करने का विधान किया है९।

जिनमंदिर निर्माण के लिए भूमि का चयन करते समय जो बातें उपयोगी हैं, वे यह हैं कि भूमि शुद्ध हो, रम्य हो, स्निग्ध हो, सुगंधवाली हो, दूब आदि से ढकी हुई हो१० तथा वह पोली न हो, वहां कीड़े मकोड़ों का निवास न हो और दग्ध पाषाण और हड्डियां आदि न हों,

---

१. नामजिणा जिणनामा केवलिणो सिवगया य भाविजिणा।
ठवणजिणा जिणपडिमा दव्वजिणा भावजिणजीवा ॥
प्रवचनसारोद्धार, द्वार ४२

अर्हन्तः स्थापना-नाम-द्रव्य-भावैश्चतुर्विधाः।
चतुर्गतिभवोद्भूतं भयं भिन्दन्तु भाविनाम् ॥
पद्मानन्द महाकाव्य, १।३

२. मंगलं जिननामानि मंगलं मुनिसेवितम्।
मंगलं श्रुतमध्येयं मंगलं बिम्बनिर्मितः ॥
प्रतिष्ठापाठ, ७१५

३. अहो महाभाग्यवतां धनसार्थक्यहेतवे।
नान्योपायो गृहस्थानां चैत्यचैत्यालयाद् बिना ॥
वही, २२

४. श्रुत्वा सकाशाद् भरतेश्वरोऽपि कैलासभूध्रे मणिरत्नचूर्णैः
द्वासप्तति जैनगृमंदिराणां निर्माप्य चक्रे जिनबिंबसंस्थाम्।
ततः प्रभृत्येव महाधनैः स्वं प्रतिष्ठया धन्यतमं विधाय।
संरक्षतेऽनादिजिनेन्द्रचन्द्रमुखोद्गतं स्थापनसद्विधानम् ॥
वही, ६२।६३

५. बृहत्संहिता, ५५।८

६. मनुस्मृति, ८।२४८

७. जन्मनिष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूलनगेषु च ॥
ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च।
अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमंदिरम् ॥
वसुनन्दि कृत प्रतिष्ठासारसंग्रह, ३।३-४

शुद्धे प्रदेशे नगरेऽन्यटव्यां नदीसमीपे शुचितीर्थभूम्याम्।
विस्तीर्णशृंगोन्नतकेतुमालाविराजितं जैनगृहं प्रशस्तम् ॥
जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, १२५

८. तीर्थंकरोद्भवाः सर्वे सर्वशान्तिप्रदायकाः।
जिनेन्द्रस्य प्रकर्त्तव्याः पुरमध्येषु शान्तिदाः।
अपराजित पृच्छा, १७६।१४

९. दुर्गां गणपतिं चैव बौद्ध-जैनगतालयम्।
अन्येषां षण्मुखादीनां स्थापयेन्नगराद् बहिः ॥
मानसार, ९।४०५।६

१०. रम्ये स्निग्धं सुगंधादि दूर्वाद्याढ्यां स्ततः शुचिम्।
जिनजन्मादिनावास्ये स्वीकुर्याद्भूमिमुत्तमम् ॥
आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार १।१८

अर्थात् वह श्मशानभूमि न हो१। भूमि का चयन मंदिर निर्माण विधि का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण अंग है, क्योंकि योग्य भूमि पर निर्मित प्रासाद ही दीर्घ काल तक स्थिर रह सकता है। भूमिपरीक्षा के लिये विभिन्न ग्रंथकारों ने दो उपाय बताये हैं। जिस भूमि पर मंदिर बनाने का विचार किया गया हो, उसमें एक हाथ नीचे तक गड्ढा खोदा जाय और फिर उस गड्ढे को उसी में से निकाली गई मिट्टी से पूर दे। ऐसा करने पर यदि वह मिट्टी गड्ढे से अधिक हो तो वह भूमि श्रेष्ठ होती है, यदि मिट्टी गड्ढे के बराबर हो तो भूमि मध्यम मानी जाती है और यदि उतनी मिट्टी से ही गड्ढा न भरे तो वह भूमि अधम जाति की समझ कर छोड़ देनी चाहिये२। ठक्कर फेरू ने जो दूसरा उपाय बताया है वह यह है कि खोदे गये गड्ढे को जल से भर दे और सौ कदम दूर चला जाय। वहाँ से लौटने पर यदि गड्ढा एक अंगुल कम भरा मिले तो भूमि को उत्तम, यदि दो अंगुल कम हो तो मध्यम और तीन अंगुल कम होने पर अधम समझा जाय३। पादलिप्ताचार्य गड्ढे के पूरा पूरा मिलने पर भूमि को श्रेष्ठ, एक अंगुल खाली होने पर मध्यम और उससे अधिक खाली होने पर निकृष्ट मानते हैं४।

प्रतिमा घटन द्रव्य

मंदिर में प्रतिष्ठा करके पूजन करने हेतु दो प्रकार की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता है (१) चल प्रतिमा और (२) अचल प्रतिमा। अचल प्रतिमा अपनी वेदिका पर स्थिर रहती है, किन्तु चल प्रतिमा को अभिषेक करने हेतु अथवा विशिष्ट विशिष्ट अवसरों पर मूलवेदी से उठा कर अस्थायी वेदी पर लाया जाता है और उत्सव के अन्त में यथास्थान वापस पहुँचाया जाता है। इसलिये अचल प्रतिमा को ध्रुवबेर और चल प्रतिमा को उत्सवबेर भी कहा जाता है। इन्हें स्थावर और जंगम प्रतिमा भी कहा जा सकता है।

मणि, रत्न, सोना, चांदी, पीतल, मुक्ताफल और पाषाण आदि से प्रतिमायें निर्मित करने का विधान जैन ग्रन्थों में प्रायः मिलता है५। जयसेन ने स्फटिक की प्रतिमाएं भी प्रशस्त कही हैं६। वर्धमान सूरि ने कांसे, सीसे और कलई की प्रतिमाएं निर्मित करने का स्पष्ट निषेध किया है७। उसी प्रकार जयसेन आदि आचार्यों ने मिट्टी, काष्ठ और लेप से बनाई गई प्रतिमाओं को पूज्य नहीं कहा है८।

---

१ जलाशयारामसमग्रशोभा वाल्मीकजंतुप्रविचारवर्ज्या।
कीलास्थिदग्धाश्मविवर्जिता भूरत्र प्रशस्या जिनवेश्मयोग्या।
जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, २८

२. खात्वा हस्तमधः पूर्णे गर्ते तेनैव पांशुना।
तदाधिक्यसमोनत्वे श्रेष्ठा मध्याधमा च भूः।
आशाधरकृते प्रतिष्ठासारोद्धार १।१६

तत्राध्वरं गर्तमधः खनित्वा तद्दोषवर्ज्यं यदि तेन पांशुना।
प्रपूरयेन्न्यूनसमाधिकेषु भंगं समं लाभ इति प्रशस्यते॥
जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, २६।

चउवीसंगुलभूमिखणेवि पूरिज्ज पुण वि सा गत्ता।
तेणंव मट्टियाए हीणाहियसमफला नेया॥
ठक्करफेरुकृत वास्तुसारप्रकरण १।३

तत्र हस्तमात्रं खातं तत्रत्यमृदा यस्याः पूर्यते सा मध्यमा।
या उद्धरितमृत्तिका सा श्रेष्ठा।
यत्राऽपरिपूर्णा मृत्तिका साऽधमा।
पादलिप्ताचार्यकृत निर्वाणकलिका भूपरीक्षाविधि पत्र १०

३. अह सा भरियजलेण य चरणसयं गच्छमाण जा सुसई।
ति-दु-इगअंगुलभूमी अहम-मज्झम-उत्तमा जाण॥
वास्तुसारप्रकरण, १।१४

४. उदकेन च खातमापूरितं पदशतगमनागमनपर्यन्तं यत्र सपूर्णं दृश्यते सा ज्यायसी। अङ्गुलोहीनं मध्यमा। बहुभिरङ्गुलैरून निष्कृष्टेति।
निर्वाणकलिका, भूपरीक्षाविधि पन्ना १०

५. मणि-कणय-रयण-रुप्पय-पित्तल-मुत्ताहलोवलाईहिं।
पडिमालक्खणविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा॥
वसुनन्दिकृत श्रावकाचार, ३६०

६. स्वर्णरत्नमणिरौप्यनिर्मितं स्फटिकामलशिलाभवं तथा।
उत्थितांबुजमहासनांगितं जैनबिम्बमिह शस्यते बुधैः॥
प्रतिष्ठापाठ, ६६।

७. स्वर्णरूप्यताम्रमयं वाच्यं धातुमयं परम्।
कांस्यसीसबङ्गमयं कदाचिन्नैव कारयेत्॥
आचारदिनकर

८. न मृत्तिकाकाष्ठविलेपनादिजातं जिनेन्द्रैः प्रतिपूज्य-मुक्तम्॥ जयसेन कृत प्रतिष्ठापाठ, १८३

काष्ठ, दंत और लोहे की प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों में मतभेद जान पड़ता है। कुछ आचार्यों ने काष्ठ, दन्त और लोहे की प्रतिमाओं के निर्माण का कोई उल्लेख नहीं किया है। कुछ ने इन द्रव्यों से जिनबिम्ब निर्माण का निषेध किया है, तो कुछ ने ऐसे बिम्बों की प्रतिष्ठाविधि का वर्णन किया है। भट्टाकलंक ने अपने प्रतिष्ठाकल्प में मिट्टी, काष्ठ और लोहे से निर्मित प्रतिमाओं को प्रतिष्ठेय कहा है१। वर्धमान सूरि ने काष्ठमय, दन्तमय और लेप्यमय प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाविधि का वर्णन किया है२। जीवन्तस्वामी की चन्दनकाष्ठ की प्रतिमा बनाये जाने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है३। पर ऐसा प्रतीत होता है कि काष्ठ जैसे भंगुर द्रव्यों से जिनप्रतिमायें निर्मित करने की विचारधारा को जैन परम्परा में विशेष मान्यता कभी प्राप्त नहीं हुई। यद्यपि जैनेतर मान्यता के अनुसार काष्ठ और लोहनिर्मित प्रतिमा को भी प्रशस्त और पूज्य माना गया है४। किन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन काल में पाषाण की प्रतिमाएं निर्मित करने की परम्परा अधिक व्यावहारिक मानी जाती थी और उसे ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त थी।

जैन और जैनतर दोनों ही प्रकार के प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिमा के लिये शिला के अन्वेषण और शिला के गुण-दोषों का विस्तार से वर्णन मिलता है। आशाधर ने लिखा है कि जब जिनमंदिर का निर्माण कार्य पूरा होने को हो अथवा हो चुका हो तो शुभ लग्न और शकुन को देख कर शिल्पी के साथ प्रतिमा के लिये शिला का अन्वेषण करने हेतु जाना चाहिये५। विष्णुधर्मोत्तर (३।९०।२५), मयमत (३३।१९-२०), रूपमण्डन (१।६) आदि ग्रन्थों में भी ऐसे कार्य शुभ दिन, शुभ मुहूर्त और शुभ शकुन में ही करने का विधान है।

बिम्ब निर्माण के योग्य प्रशस्त शिला के सम्बन्ध में जैन और जैनेतर वास्तुशास्त्री प्रायः एकमत हैं। काश्यपशिल्प (४९।३२), विष्णुधर्मोत्तर (३।९०।२१-२२) और रूपमण्डन (१।५) आदि ग्रंथों में प्रशस्त पाषाण के वर्णों की गणना की गई है। काश्यपशिल्प में श्वेत, लाल, पीला और काला केवल ये चार वर्ण बताये गये हैं जब कि विष्णुधर्मोत्तर और रूपमण्डन में प्रशस्त शिला के आठ विभिन्न रंगों का उल्लेख किया गया है। वसुनन्दी ने भी श्वेत, लाल, काले, हरे आदि वर्ण की शिला को जिनबिम्ब निर्माण के लिये उत्तम कहा है६। प्रतिमा घटन के योग्य शिला कठिन, शीतल, स्निग्ध, अच्छे स्वाद, स्वर और गंधवाली, दृढ, तेजस्विनी और मनोज्ञ होनी चाहिये६।

बिंदु और रेखाओंसे युक्त शिलाकी प्रतिमा को निर्माण के लिये सर्वथा वर्जित कहा गया है। उसी प्रकार अत्यन्त कोमल, विवर्ण, दुर्गन्धयुक्त, वजन में हल्की, रूक्ष, धूमिल, और निःशब्द शिला को भी प्रतिमा के लिये अयोग्य ठहराया गया है७। आचार दिनकर मे चीरे, मस्से या नसोंवाली शिला को जिनबिम्ब निर्माण के लिये लाने का निषेध है। प्रतिमा निर्माण के लिये ऐसी शिला का अन्वे-

---

१. तद्योग्यैः सगुणैर्द्रव्यैर्निर्दोषैः प्रौढशिल्पिना।
रत्नपाषाणमृद्दारु-लोहाद्यैः साधुनिर्मितम्।,

२. आचारदिनकर उदय ३३

३. उमाकान्त परमानन्द शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० ४

४. मत्स्यपुराण, २५७।२०-२१, रूपमडन, १।१०

५. धाम्नि सिध्यति सिद्धे वा सेत्स्यत्यर्चाकृते शिलाम्।
अन्वेष्टुं सेष्टशिल्पीन्द्रः सुलग्न-शकुने व्रजेत्॥
प्रतिष्ठासारोद्धार, १।४९

६. श्वेता रक्ताऽसिता मिश्रा पारावतसमप्रभा।
मुद्गकपोतपद्माभा मांजिष्ठा हरितप्रभा॥
प्रतिष्ठासारसंग्रह, ३।७७

७. कठिना शीतला स्निग्धा सुस्वादा सुस्वरा दृढा।
सुगंधात्यन्ततेजस्का मनोज्ञाचोत्तमा शिला॥
वही, ३।७८

प्रसिद्धपुण्यदेशोत्था विशाला मसृणा हिमा।
गुर्वी चार्वा दृढा स्निग्धा सद्गदा कठिना घना॥
सद्वर्णात्यन्ततेजस्का बिंदुरेखावदूषिता।
सुस्वादा सुस्वरा चार्हद्बिम्बाय प्रवरा शिला॥
आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार, १।५०-५१

८. मृद्वी विवर्णा दुर्गन्धा लघ्वी रूक्षा च धूमला।
निःशब्दा बिंदुरेखादिदूषिता वर्जिता शिला॥
प्रतिष्ठासार संग्रह, ३।७९

षण किया जाय जो वृक्षों की छाया में स्थित हो अथवा दूब से ढकी हुई हो, ताकि वह सदा ही सूर्य की किरणों से तपती न रही हो। जलाशय में डूबी हुई शिला इस कार्य के लिये उत्तम मानी गई है, किन्तु खारे पानी में अथवा उसके निकट स्थित शिला प्रतिमा कार्य के लिये अनुपयुक्त होती है।

गृह पूज्य प्रतिमा

मत्स्यपुराण में अंगूठे की ओर से लेकर एक वितस्ति अर्थात् बारह अंगुल तक ऊंची प्रतिमा को घर मे रखने योग्य बताया गया है और उससे अधिक ऊची प्रतिमा को घर में पूजना प्रशस्त नहीं कहा है[१]। यही मत रूपमंडनकार का भी है[२]। किन्तु जैन ग्रंथकारों में गृहपूज्य प्रतिमा की अधिकतम ऊंचाई के बारे में किंचित् मतभेद दिखाई देता है। दिगम्बर आचार्य वसुनन्दी द्वादश अंगुल तक ऊँची प्रतिमा को घर में पूज्य बताते हैं[३]। किन्तु ठक्कर फेरु ने केवल ग्यारह अंगुल तक ऊंची प्रतिमा को ही गृहपूज्य बताया है[४]। इसका मुख्य कारण यह है कि ठक्कर फेरु सम अंगुल प्रमाण की प्रतिमाओं के निर्माण को अशुभ मानते हैं[५]। वर्धमान सूरि ने भी विषम अंगुल प्रमाण की ही प्रतिमाएं निर्मित करने का विधान किया है और सम अंगुल प्रमाण की प्रतिमा का निषेध किया है[५]। उन्होंने एक से लेकर ग्यारह अंगुल तक की प्रतिमाओं के निर्माण का फल भी बताया है। वह इस प्रकार है—एक अंगुल की प्रतिमा श्रेष्ठ होती है, दो अंगुल की प्रतिमा से धननाश, तीन अगुल की प्रतिमा से सिद्धि और चार अंगुल की प्रतिमा से पीड़ा होती है। पांच अंगुल की प्रतिमा वृद्धिकारक है जब कि छह अंगुल की प्रतिमा से उद्वेग होता है। सात अंगुल की प्रतिमा से गोधन की वृद्धि होती है और आठ अंगुल की प्रतिमा से उसकी हानि होती है। नौ अंगुल की प्रतिमा से पुत्रवृद्धि और दश अगुल की प्रतिमा से धन का नाश होता है। ग्यारह अगुल की प्रतिमा सभी इच्छाओं को पूरा करती है[७]।

ठक्कर फेरु ने सिद्धों की केवल उन्हीं प्रतिमाओं को घर में पूजने योग्य कहा है जो धातुनिर्मित हों[८]। कुछ ग्रंथकारों ने बालब्रह्मचारी तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को भी गृहपूज्य नहीं कहा है, क्योंकि उनके हर समय दर्शन करते रहनेसे *परिवारके प्रत्येक व्यक्तिको वैराग्य हो सकता है*[९]। इसके अतिरिक्त मलिन, खण्डित और अधिक या हीन प्रमाणवाली प्रतिमाएं भी घर में नहीं पूजी जानी चाहिये।

रूपमंडन (१।८-९) में बताया गया है कि मंदिर मे तेरह अंगुल से लेकर नौ हाथ ऊंची प्रतिमा की पूजा की जानी चाहिये और उससे अधिक ऊंची प्रतिमाओं की पूजा प्रासाद के बिना ही की जा सकती है। मत्स्यपुराण (२५७:२३) में सोलह हाथ तक की प्रतिमाओं को प्रासाद में पूजने योग्य बताया है। आचार दिनकर (३३) उदय

---

१. मत्स्यपुराण, २५७।२२

२. रूपमंडन, १।७

३. द्वादशांगुलपर्यन्तं जात्वष्टांशादितः क्रमात्।
स्वगृहे पूजयेद्बिम्बं न कदाचित्ततोऽधिकम्॥
प्रतिष्ठासारसंग्रह, ५।७७

४. इक्कंगुलाइ पडिमा इक्कारस जाव गेहि पूइज्ज।
उड्ढं पासाइ पुणो इय भणियं पुव्वसूरीहिं॥
वास्तुसारप्रकरण, २।४३

५. समअंगुलप्पमाणं न सुन्दरं हवइ कइयावि॥
वही २।३

६. विषमैरङ्गुलैर्हस्तैः कार्यं बिम्बं न तत्समै.।
द्वादशाङ्गुलतो हीनं बिम्बं चैत्येन धारयेत्॥
आचारदिनकर, उदय ३३

७. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि गृहबिम्बस्य लक्षणम्।
एकाङ्गुले भवेच्छ्रेष्ठं द्व्यङ्गुलं धननाशम्॥
त्र्यङ्गुले जायते सिद्धिः पीडा स्याच्चतुरङ्गुले।
पंचाङ्गुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडङ्गुले।
सप्ताङ्गुले गवां वृद्धिर्हानिरष्टाङ्गुले मता॥
नवाङ्गुले पुत्रवृद्धिर्धननाशो दशांङ्गुले।
एकादशाङ्गुले बिम्बं सर्वकामार्थसाधनम्॥
आचार दिनकर उदय

८. पाहाणलेवकट्ठा दंतमया चित्तलिहिय जा पडिमा।
अप्परिगरमाणाहिय न सुन्दरा पूयमाण गिहे।
वास्तुसार प्रकरण, २।४२

९. सकलचन्द्र उपाध्याय कृत प्रतिष्टाकल्प।
गुजराती अनुवाद पन्ना १

में कहा है कि बारह अंगुल से कम ऊंची प्रतिमा को मंदिर में न रखा जाय।

अपूज्य प्रतिमाएं

हीनांग और अधिकांग दोनों ही प्रकार की प्रतिमाएं अपूज्य होने के कारण वैसी प्रतिमाओं के निर्माण का सर्वथा निषेध किया गया है[१]। शुक्रनीति के अनुसार हीनांग प्रतिमा निर्माण करानेवाले की और अधिकांग प्रतिमा शिल्पी की मृत्यु का कारण होती है[२]। बृहत्संहिता (५७।५०-५२), मत्स्यपुराण (२५८।१६-२१) और समरांगण सूत्रधार (७७।७-८) मे भी प्रतिमा के दोषों का वर्णन है। प्रतिमा के वक्रांग, हीनांग या अधिकांग होनेको जैन परम्परा में भारी दोष माना गया है। वास्तुसार प्रकरण और प्रतिष्ठासारसंग्रह में सदोष प्रतिमा के निर्माण और पूजन से होनेवाली हानियों का विस्तार से वर्णन है। जयसेन ने जिनबिम्ब को नासाग्रदृष्टि और उग्रता आदि दोषों से रहित कहा है। यदि प्रतिमा के अंग छोटे बडे बनाये जाते है तो निर्माता को हानि पहुचती है।[३]

वास्तुप्रकरण के अनुसार, यदि प्रतिमा टेढ़ी नाकवाली हो तो बहुत दु.ख देती है, उसके अग छोटे हों तो क्षयकारी होती है, नेत्र खराब हो तो नेत्रनाशक और यदि मुख छोटा हो तो भोगों की हानि करती है। उसी प्रकार यदि प्रतिमा की कमर हीनप्रमाण हो तो आचार्य का नाश होना है, जघा क्षीण हो तो पुत्र और मित्र का क्षय होता है। आसन हीन होने से ऋद्धियों का विनाश होता है और हाथ पैर हीन होने से धन का क्षय होता है। प्रतिमा की गर्दन उठी हुई हो तो भी धन का क्षय होता है। ग्रीवा वक्र हो तो देश का विनाश होता है। अधोमुख प्रतिमा से चिन्ताएं बढती हैं तथा ऊंच नीच मुख वाली प्रतिमा से विदेशगमन होता है। विषम आसनवाली प्रतिमा से व्याधियां उत्पन्न होती हैं। अन्यायोपात्त धन से निर्माण कराई गई प्रतिमा दुर्भिक्ष फैलाती है। न्यूनाधिक अंगवाली प्रतिमा स्वपक्ष और परपक्ष दोनों को ही कष्ट देनेवाली होती है। रौद्र प्रतिमा के निर्माण करानेवाले की मृत्यु होती है और अधिक अंगवाली प्रतिमा से शिल्पी की। दुर्बल अंगवाली से द्रव्य नष्ट होता है और कृषोदर प्रतिमा दुर्भिक्ष का कारण होती है। ऊर्ध्वमुखो प्रतिमा से धननाश होता है और तिरछी दृष्टिवाली प्रतिमा अपूज्य है। अतिगाढ़ दृष्टिवाली प्रतिमा अशुभ और अधोदृष्टिवाली प्रतिमा विघ्नकारक है[४]।

वसुनन्दी ने जिनप्रतिमा की नासाग्रनिहित, शान्त, प्रसन्न, निर्विकार और मध्यस्थ दृष्टि को उत्तम कहा है। प्रतिमा की दृष्टि न अत्यन्त उन्मीलित हो और न विस्फुरित ही हो। प्रतिमा की दृष्टि तिरछी, ऊची या नीची न हो, इसका विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये[५]। जिनबिम्ब की दृष्टि तिरछी होने से धननाश, विरोध और भय होता है, अधोदृष्टि से पुत्र का नाश तथा ऊर्ध्वदृष्टि से पत्नीवियोग होना बताया गया है। यदि दृष्टि स्तब्ध हुई तो शोक, उद्वेग, संताप और धननाश हो सकता है। शान्त दृष्टि सौभाग्य, पुत्र, धन, शांति और वृद्धि देती

---

१. रूपमंडन, १।१४

२. शुक्रनीति, ४।५०६

३. जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, १८२

४. वहु दुक्ख वक्कनासा हस्संगा खयंकरी य नायव्वा।
नयणनासा कुनयणा अप्पमुहा भोगहाणिकरा॥
कडिहीणाऽऽयरियहया सुयबंधव हणई हीणजंघा य।
हीणासण रिद्धिहया धणक्खया हीणकरचरणा॥
उत्ताणा अत्थहरा वंकग्गीवा सदेसभंगकरा।
अहोमुहा य सचिंता विदेसगा हवइ नीचुच्चा॥
विसमासण वाहिकरा रोरकरण्णायदव्वनिप्पन्ना।
हीणहियंगप्पडिमा सपक्ख परपक्खकट्ठकरा॥
पडिमा रउद्दजा सा करावयं हंति सिप्पि अहियंगा
दुब्बल दव्वविणासा किसोअरा कुणइ दुब्भिक्खं
उड्ढमुही धणनासा अप्पूया तिरिअदिट्ठि विन्नेया।
अइघट्टदिट्ठि असुहा हवइ अहोदिट्ठि विग्घकरा॥
वास्तुसारप्रकरण २।४६-५

५. नात्यन्तोन्मीलिता तथा ? न विस्फुरितमीलिता
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः॥
नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका।
वीतरागस्य मध्यस्था कर्त्तव्या दृष्टि चोत्तमा॥
प्रतिष्ठासारसंग्रह ४।७३-७४

है१। प्रतिमा के अन्य दोषों का उल्लेख करते हुए वसुनन्दी ने बताया है कि रौद्र प्रतिमा को निर्माण करानेवाले का नाश होता है और कृशांगा प्रतिमा धन का क्षय करती है। छोटे अंगोंवाली प्रतिमा से हानि होती है और चिपटी प्रतिमा दुःख देती है। विकृत नेत्रवाली प्रतिमा से नेत्रों की ज्योति की हानि होती है। यदि प्रतिमा हीनवक्त्र हो तो अशुभ है। बड़े उदर की प्रतिमा से व्याधि उत्पन्न होगी और प्रतिमा का हृदयभाग कृश बनाने से हृदयरोग उत्पन्न होता है। कधे यदि हीनप्रमाण बनाये गये तो मृत्यु होती है। जंघाएं पतली बनाने से राजा की मृत्यु होती है, हीनप्रमाण चरण बनाने से लोगो की और कटि प्रदेश हीनप्रमाण बनाने से वाहन की मृत्यु होती है२।

आशाधर पण्डित और वर्धमान सूरि ने अनिष्ट करने वाली, विकृत अग वाली और जर्जर प्रतिमाओं की पूजा का निषेध किया है३। प्रतिमानिर्माण और पूजन में विधि का यथेष्ट पालन न करने के कारण जो विकृतियां होती हैं उनका उल्लेख बृहत्सहिता (४५।२५-३०), महाभारत (भीष्मपर्व २।३६), और रूपमडन (१।१६) आदि ग्रंथों मे किया गया है, किन्तु वीतराग भगवान की प्रतिमा में विकृति उत्पन्न होने का उल्लेख जैनग्रन्थों मे नहीं मिलता।

१. अर्थनाश विरोध च तिर्यग्दृष्टिर्भय तथा।
अधस्तात्पुत्रनाशं च भार्याहरणमूर्ध्वगा ॥
शोकमुद्वेगसंताप स्तब्धं कुर्याद्धनक्षयम्।
शांता सौभाग्यपुत्रार्थशान्तिवृद्धिप्रदा भवेत् ॥
वही, ४।७५-७६

२. सदोषाऽर्चा न कर्तव्या यतस्यादशुभावहा।
कुर्याद् रौद्रा प्रभोर्नाश कृशागी द्रव्यसक्षयम् ॥
संक्षिप्ताङ्गी क्षय कुर्याच्चिपिटा दु खदायिनी।
विन्नेत्रा नेत्रविध्वसं हीनवक्त्रा त्वशोभिनी ॥
व्याधिं महोदरी कुर्याद् हृद्रोगं हृदये कृशी।
अंसहीरा तु जंहन्या च छुष्कजघा नरेन्द्रहा ॥
पादहीना जनान्हन्योत्कटिहीना च वाहनम्।
ज्ञात्वैवं कारयेज्जैनी प्रतिमां दोपवर्जिताम् ॥
वही, ४।७७-८०

३. प्रतिष्ठासारोद्धार, १।८३, आचारदिनकर, उदय ३३।

भग्न प्रतिमाएं और जीर्णोद्धार

भग्न प्रतिमाओं को देवालय में नहीं रखा जाता, उन्हें विसर्जित कर दिया जाता है४। किन्तु जो प्रतिमाएँ सौ वर्ष से अधिक प्राचीन हो और महापुरुषों द्वारा स्थापित की गई हों, यदि वे खण्डित भी हो जावें तो उनकी पूजा की जा सकती है५। रूपमडनकार उन मूर्तियों को विसर्जन करने योग्य कहते हैं जिनके अंग या प्रत्यंग भग्न हो गये हों६। ठक्कर फेरु ने भी मूलनायक प्रतिमा के मुख, नाक, नेत्र, नाभि और कटि के भग्न हो जाने पर उसे त्यागने योग्य बताया है७। उन्होंने अंगभग का फल बताते हुए कहा है कि जिनप्रतिमा के नख भंग होने से शत्रु का भय, अगुली भंग होने से देश का विनाश, बाहु भंग होने से बन्धन, नासिका भंग होने से कुलनाश और चरण भंग होने से द्रव्यक्षय होता है। पादपीठ, चिह्न और परिकर भंग होने से क्रमशः बधु, वाहन और भृत्य की हानि होती है और छत्र, श्रीवत्स तथा कान खण्डित होने से क्रमशः धन, सुख और बन्धुओं का क्षय होता है८।

४. शुक्रनीति ४।५२१, रूपमडन २।१

५. अतीताब्दाशता मूर्ति. या पूज्या स्यान्महत्तमैः।
खण्डिता स्फुटिताप्यर्च्या अन्यथा दुःखदायका ॥
रूपमंडन, १।११

वरिससयायो उड्ढ बिंबं उत्तमेहिं संठवियं।
विकलंगु वि पूइज्जइ तं बिंबं निप्फलं न जओ ॥
वास्तुसारप्रकरण, २।३९

यच्च वर्षशतातीतं यच्च स्थापितमुत्तमै. ॥
तद् व्यङ्गमपि पुज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न हि।
तच्च धार्य परं चैत्ये गेहे पूज्यं न पण्डितै ॥
आचारदिनकर, उदय ३३

६. रूपमंडन, २।१

७. वास्तुसारप्रकरण, २।४०

८. नह अगुलीय बाहा नासा पय भंगिणुक्कमेण फल।
सत्तुभय देसभगं बंधण कुलनास दव्वक्खयं ॥
पयपीठह्लि-चिण्ह-परिगरभगे जन-जाण-भिच्चहाणिकमे।
छत्तसिरिवच्छ-सवणे लच्छीसुहबंधवाणखयं ॥
वास्तुसारप्रकरण, २।४४-४५

पादलिप्तसूरि ने खण्डित, प्रतिमा के स्थान पर दूसरी प्रतिमा प्रतिष्ठित करने का विधान किया है१।

भग्न प्रतिमाओं के जीर्णोद्धार करने के सम्बन्ध में कुछ ग्रंथों मे उल्लेख मिलते हैं। रूपमंडन (१।१२) ने धातु, रत्न और विलेप की प्रतिमाओं के अगभंग होने पर उन्हें संस्कार योग्य बताया है, किन्तु काष्ठ और पाषाण की प्रतिमाओं के भग्न होने पर उनके जीर्णोद्धार का निषेध किया है। ठक्कर फेरु केवल धातु और लेप की प्रतिमाओं के जीर्णोद्धार के पक्ष में हैं, वे रत्न, काष्ठ और पाषाण की प्रतिमाओं को जीर्णोद्धार के लिए अयोग्य बताते हैं२। वर्धमानसूरि ने धातु और लेपमय प्रतिमाओं ही का संस्कार किया जाना बताया है और लकड़ी तथा पाषाण की प्रतिमाओं को संस्कार के योग्य नही कहा है३। पादलिप्तसूरि ने निर्वाणकलिका में पाषाण की प्रतिमा को अगाध जल में अथवा उत्तुग पर्वतशिखर पर विसर्जित करने की विधि बताई है, किन्तु सुवर्ण बिम्ब को पूर्ववत् बनाकर पुन प्रतिष्ठेय कहा है४।

जिनप्रतिमा का लक्षण

जैन प्रतिष्ठाग्रन्थों के अलावा बृहत्संहिता, मानसार, समरांगण सूत्रधार, अपराजितपृच्छा, देवतामूर्तिप्रकरण और रूपमंडन आदि ग्रन्थो मे भी जिनप्रतिमाओं के लक्षण मिलते है। बृहत्संहिता में जिनेन्द्र की प्रतिमाएँ दिगम्बर, प्रशान्तमूर्ति, तरुण, रूपवान्, श्रीवत्स चिह्न युक्त और घुटनों तक लम्बे बाहु वाली बताई गई हैं५।

मानसार मे भी जिनप्रतिमाओं को आभरणविहीन, निर्वस्त्र, श्रीवत्स लाञ्छनयुक्त, लम्बहस्त तथा ध्यानस्थ अवस्था में बताया गया है६। जिनप्रतिमाएँ केवल दो आसनों में बनाई जाती हैं, एक तो कायोत्सर्ग आसन या खड्गासन और दूसरा पद्मासन जिसे कहीं-कहीं पर्यंक आसन भी कहा गया है। जयसेन, वसुनन्दी, आशाधर, नेमिचन्द्र, कुमुदचन्द्र, भट्टाकलक आदि ग्रन्थकारों ने अपने अपने प्रतिष्ठाग्रन्थों में जिनप्रतिमा का विस्तार से निरूपण किया है। जयसेन के प्रतिष्ठापाठ में जिनबिम्ब को शान्त, नासाग्रदृष्टि, प्रशस्त मानोन्मान युक्त, ध्यानारूढ़ और किंचित् नम्रग्रीवा बताया गया है। कार्योत्सर्ग आसन मे प्रतिमाके हाथ लम्बायमान रहते हैं और पद्मासन प्रतिमा में बायें हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखी हुई होती है७।

उन्ही आचार्य के अनुसार प्रतिमा उपर्युक्त दो आसनों को छोड कर अन्य किसी आसन में नहीं बनाई जाना चाहिए। प्रतिमा दिगम्बर हो, श्रीवृक्षयुक्त हो, नख-केश विहीन हो, परमशांत हो, वृद्धत्व तथा बाल्य से रहित हो, तरुण हो और वैराग्य गुण से भूषित हो८।

---

१. निर्वाणकलिका, पत्र ३० जीर्णोद्धार प्रतिष्ठाविधि।

२. धाउलेवाइबिंबं विअलंग पुण वि कीरए सज्जं।
कट्ठरयण सेलमयं न पुणो सज्ज च कईआवि ॥
वास्तुसारप्रकरण, २।४३

३. धातुलेप्यमय सर्व व्यङ्ग संस्कारमर्हति।
काष्ठपाषाणनिष्पन्नं संस्कारार्हं पुनर्नं हि ॥
आचारदिनकर, उदय ३३

४. निर्वाणकलिका पत्र ३१, जीर्णोद्धारप्रतिष्ठाविधि

५. आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्क. प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हता देवः ॥
प्रतिमालक्षणाध्याय, ४५

६. द्विभुज च द्विनेत्र च मुण्डतारं च शीर्षकम् ॥
ऋजुस्थानकसंयुक्तं तथा चासनमेव च।
समाङ्घ्रिऋज्वाकारं स्याल्लम्बहस्तद्वयं तथा ॥
आसनं च द्विपादौ च पद्मासन तु संयुतम्।
ऋजुके च ऋजुभावं योग तत्परमात्मकम् ॥
निराभरणसर्वाङ्गं निर्वस्त्राङ्गं मनोहरम् ॥
सर्ववक्ष.स्थले हेमवर्ण श्रीवत्सलांछनम् ॥
मानसार।

७. शात नासाग्रदृष्टि विमलगणगणैर्भ्राजिमानं प्रशस्त-
मानोन्मानं च वामे विधतकरवरकर नाम पदमासनस्थम्।
व्युत्सर्गालम्बिपाणिस्थलनिहितपदाभोजमोनम्रकम्बु।
ध्यानारूढ विदैन्य भजत मुनिजनानन्दकं जैनबिम्बम् ॥
प्रतिष्ठापाठ, ७०

८. सस्थानसुन्दरमनोहररूपमूर्ध्वप्रालबित ह्यवसनं कमलासन च।
नान्यासनेन परिकल्पितमीशबिम्बमर्हाविशौ प्रथितमार्यमतिप्रपन्नैः ॥

आशाधर पण्डित१ और वसुनन्दी सैद्धान्तिक२ ने भी जिन-प्रतिमा के उपर्युक्त लक्षणों का निरूपण किया है। विवेकविलास मे भी कायोत्सर्ग और पद्मासन प्रतिमाओं का सामान्य लक्षण बताया गया है३।

सिद्ध परमेष्ठी की प्रतिमाओं मे प्रातिहार्य आदि नही बनाये जाते४। किन्तु अर्हत्प्रतिमाओ मे उनका होना आवश्यक है। अर्हत् और सिद्ध की मूल प्रतिमा समान बनाई जाती है, केवल अष्ट प्रातिहार्यों के होने अथवा न होने से ही अर्हन् और सिद्ध प्रतिमा को पहचाना जाता है। जिन की अर्हत् अवस्था की प्रतिमा में अष्ट प्रतिहार्यों के अलावा दाहिनी ओर यक्ष, बायीं ओर यक्षी और पाद-पीठ के नीचे उनका लांछन भी दिखाया जाता है५। तिलोय-पण्णत्ती में भी सिंहासनादि तथा यक्षयुगल से युक्त जिन-प्रतिमाओं का वर्णन है। ठक्कर फेरु ने तीर्थंकर प्रतिमा के आसन और परिकर का विस्तार से वर्णन किया है और उसके विभिन्न अंगों के मान का विवरण दिया है६। अपराजित पृच्छा में भी यक्ष-यक्षी, लांछन और प्रातिहार्यों की योजना का विधान है७। मानसार में भी जिनप्रति-

---

वृद्धत्वबाल्यरहितांगमुपेतशांति
श्रीवृक्षभूषितहृदयं नखकेश हीनम्।
सद्धातुचित्रदृषदां समसूत्रभाग
वैराग्यभूषितगुणं तपसि प्रशक्तम्॥

प्रतिष्ठापाठ १५१–१५२

२. शान्तप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थाविकारदृक्।
संपूर्णभावारूढानुविद्धाङ्गं लक्षणान्वितम्॥

प्रतिष्ठासारोद्धार, १।६२

३. अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य कर्तव्यं लक्षणान्वितम्।
ऋज्वायुतसुसंस्थानं तरुणाङ्गं दिगम्बरम्॥
श्रीवृक्षभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजाङ्गुलप्रमाणेन साष्टाङ्गुलशतायुतम्॥
कक्षादिरोमहीनाङ्गं श्मश्रुलेखाविवर्जितम्।
ऊर्ध्वं प्रलम्बकं दत्वा समाप्त्यन्तं च धारयेत्॥

प्रतिष्ठासारसग्रह, ४।१,२,४

४. उपविष्टस्य देवस्योर्ध्वस्य वा प्रतिमा भवेत्।
द्विविधापि युवावस्था पर्यङ्कासनगाऽऽदिमा॥
वामोदक्षिणजङ्घोर्वोरुपङ्घ्रि करो ऽपि च।
दक्षिणो वामजङ्घोर्वोस्तत्पर्यङ्कासन मतम्॥
देवस्योर्ध्वस्य चार्चा स्याज्जानुलम्बिभुजद्वया।
श्रीवत्सोष्णीषयुक्तं द्वे छत्रादिपरिवारिते॥

विवेकविलास १।१२८–३०

१. प्रतिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशम्।

वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासारसंग्रह ४।७०

सिद्धेश्वराणां प्रतिमाऽपि योज्या तत्प्रातिहार्यादि बिना तथैव। जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, १८१
सैद्ध तु प्रतिहार्यांकियक्षयुग्मोज्झित शुभम्।

भट्टाकलककृत प्रतिष्ठाकल्प

---

२. स्थापयेदर्हतां छत्रत्रयाशोकप्रकीर्णकम्।
पीठं भामण्डल भाषां पुष्पवृष्टि च दुन्दुभिम्॥
स्थिरेतरार्चयोः पादपीठस्याधो यथायथम्।
लांछन दक्षिणे पार्श्वे यक्षं यक्षीं च वामके॥

आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार, १।७६–७७

सल्लक्षणं भावविवृद्धिहेतुक सम्पूर्णशुद्धावयवं दिगम्बरम्।
सत्प्रातिहार्यैर्निजचिह्नभासुर सकारयेद्बिम्बमथार्हत. शुभम्॥ जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, १८०
प्रातिहार्याष्टकोपेत सर्वज्ञ सवतोमुखम्।
तेजोव्याप्तदिशाचक्र ज्ञानव्याप्तजगत्त्रयम्॥

कुमुद्चन्द्रकृत प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण

प्रातिहार्याष्टकोपेत सपूर्णावयव शुभम्।
भावविद्धानुरूपाग कारयेद्बिम्बमर्हतः॥

वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासारसग्रह, ४।६९

स्थित वापि तमज्वार्हतं चेद् यक्षयुगांकयुक्।
पीठभामण्डलाशोकभाषत्रिच्छत्रदुंदुभिः।
प्रकीर्णकप्रसूनोद्धवृष्टिभिः प्रविराजितम्।

भट्टाकलंककृत प्रतिष्ठाकल्प।

१. वास्तुसारप्रकरण, २।२६–३८

२. लाञ्छनं सिंहासनं च चामरं कुसुमांजलि.।
प्रभामण्डलाशोकाश्च दुन्दुभिश्च्छत्रकत्रयम्॥
वीतरागेति विख्याता देवाना तु प्रतिक्रमाः॥
यक्षशासनदेवीश्च कुर्यादुभयपार्श्वतः॥

अपराजित पृच्छा, १३३।२६–२७

माओं के परिकर आदि का वर्णन किया गया है। सूत्रधार मण्डन ने अपने देवतामूर्ति प्रकरण और रूपमण्डन दोनों ही ग्रंथों में जिनप्रतिमा को छत्रत्रय, अशोकद्रुम, देव-दुन्दुभि, सिंहासन, धर्मचक्र आदि से युक्त बताया है।

जैसा कि ऊपर बताया है, प्रत्येक तीर्थंकरप्रतिमा अपने लाछन से पहचानी जाती है जो उसके पादपीठ पर दिखाया गया होता है। किन्तु कुछ तीर्थंकरो की प्रतिमाओं मे विशिष्ट चिह्न भी पाये जाते हैं। आदि जिनेन्द्र ऋषभ-देव की प्रतिमा जटामुकुटरूप शेखर से युक्त होती है1। सुपार्श्वनाथ के सिर पर सर्प के पांच फणों का छत्र रहता है2। जबकि वही पार्श्वनाथ के मस्तक पर सात फणों का होता है3। नेमिनाथ की प्रतिमाओंमें कभी-कभी बलराम और वासुदेव को भी दिखाया जाता। ऐसी एक प्रतिमा मथुरा में मिली है।

1. तिलोयपण्णत्ती, ४।२३०

2. श्रीसुपार्श्वप्रभो शीर्षे पान्तु वः फणभृत्फणाः।
पञ्च पञ्चेन्द्रियारातिजयलब्धा ध्वजा इव॥
अमरचद्रसूरिकृत पद्मानन्द महाकाव्य, १।१०

3. मौलौ फणिफणाः सप्त नयश्रीभिः करा इव।
धृताः शान्तरसास्वादे यस्य पार्श्वः स पातु वः॥
वही, १।२६

सूरदास और हिन्दी का जैन पद-काव्यः

एक तुलनात्मक विश्लेषण

डा० प्रेमसागर जैन

सूरदास हिन्दी-भक्ति-युग के सशक्त कवि हैं। उन्होने भाव-विभोर होकर सगुण ब्रह्म के गीत गाये। सूरसागर इसका प्रतीक है। उसमें सूर के निर्मित सहस्रों पदों का सकलन है। ये पद गेय हैं—राग-रागनियों से समन्वित। उनका बाह्य सुन्दर है तो अन्तः सहज और पावन। सब कुछ भक्तिमय है। दूसरी ओर, इसी युगमे, जैन कवियों ने अधिकाधिक हिन्दी पद-काव्य का निर्माण किया। वह भी भक्त्यात्मक है। उसमे भी प्रसाद और लालित्य है। विविध राग-रागनियों का नर्तन वहां भी है। दोनों मे बहुत कुछ साम्य है। कही कही तो हू-बहू है। बनारसी-दास, द्यानतराय, भूधरदास, भगवतीदास जगतराम और देवब्रह्म आदि हिन्दी के समर्थ जैन कवि थे। कला और भाव दोनों दृष्टियों से सूर के समतुल्य, किसी भी दशा में कम नहीं। उनकी तुलना हिन्दी के भक्ति-काव्य मे एक नया अध्याय जोड़ सकेगी।

'भगवद्भक्ति' के क्षेत्र में सूरदास वात्सल्य-रस के एकमात्र कवि माने जाते हैं। तुलसी ने भी बालक राम पर लिखा, किन्तु वह महाकाव्य के कथानक के एक अंश की पूर्ति-भर है। सूर का सानी नहीं। किन्तु जैन काव्यों में वात्सल्य भाव के विविध दृश्य उपलब्ध होते हैं। जैन कवियों ने तीर्थंङ्करों के बालरूप का चित्राङ्कन किया है। इस विषय की प्रसिद्ध रचना है 'आदीश्वरफागु'। उसके रचयिता भट्टारक ज्ञान भूषण एक समर्थ कवि थे। द्यानत-राय, जगतराम, बूचराज आदि ने भी आदीश्वर की बाल दशा का निरूपण किया है। कवि बनारसीदास का 'आध्यात्मिक बेटे का चित्रण अनुपम है। इसके अतिरिक्त सूरदास का जितना ध्यान बालक कृष्ण पर जमा, बालिका राधा पर नही। बालिकाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन सीता, अञ्जना और राजुल के रूप मे, जैन पद-काव्यो में उपलब्ध होता है। ब्रह्म रायमल्ल के 'हनुवन्तचरित्र' में हनुमान के बालरूप का ओजस्वी वर्णन है। वस उदात्तता परक है। मधुरता परक है। जैन कवियों का अधिकांश

बालरूप तेजस्विता का निदर्शन है। इससे सिद्ध है कि उस पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव नहीं था। जैन काव्यों में बाल-रस से सम्बन्धित गर्भ और जन्मोत्सवों की अपनी शैली है। वह उन्हें परम्परा से मिली है। इन उत्सवों के जैसे चित्र जैन काव्यों में उपलब्ध होते हैं, सूरसागर मे नहीं। सूरदास जन्मोत्सवों के एक-दो पदो के बाद ही आगे बढ़ गये। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि सूरदास ने अपनी बन्द आँखों से बालक कृष्ण की नाना मनोदशाओं का जैसा भाव-विभोर निरूपण किया, जैन कवि नहीं कर सके। दोनों पर अपनी-अपनी परम्पराओं का प्रभाव था। एक दूसरे से प्रभावित नही थे। अतः डा० रामसिंह तोमर का यह कथन कि 'हिन्दी की सभी काव्य-पद्धतियों का स्पष्ट स्वरूप हमें जैन कवियो से प्राप्त हुआ है," ठीक नहीं है।

सूरदास ने दाम्पत्यमूला भक्ति मे कृष्ण की किशोरावस्था पर लिखा, और जम कर लिखा। इसम गोचारण, रासलीला, मुरली-वादन आदि प्रसंग आ जाते हैं। इसे शृङ्गार का सयोग पक्ष कहा जा सकता है। सूरसागर म उसके एक-से-एक अनुपम दृश्य अंकित हैं। जैन काव्यो का सयोग पक्ष 'विवाह' के सन्दर्भ म सन्निहित है। वर-वधू का सौन्दर्य, उसकी साज-सज्जा और औत्सुक्य सयोग के मुख्य पहलू हैं। यहाँ जैन कवियों के चित्र सजीव है—देश काल की सीमा से परे। राजशेखर सूरि की राजुल और हेम विजय के नेमीश्वर—जैसे चित्र आज भी मानस के समक्ष प्रस्तुत हो जाते है। इनके अतिरिक्त जैन कवियों के 'आध्यात्मिक विवाह' और 'होलियों' से सम्बन्धित पद उनके अपने हैं। उन्हें यह परम्परा अपभ्रंश काव्यों से प्राप्त हुई। ये काव्य शक्ति के निदर्शन तो हैं ही, भाव प्रवणता भी स्वाभाविक है। रूपको के माध्यम से इनमें भाव और कला दोनो का ही उत्तम रूप उपलब्ध होता है।

सूर का भ्रमरगीत विरह गीत है। कृष्ण के विरह मे गोपियों की वेदना। भक्ति के परिप्रेक्ष्य मे यह विरह जितना पावन है उतना ही सुन्दर। यहाँ भगवद्विरह की ओट में विलासिता को यत्किंचित् भी प्रश्रय नही मिला। यद्यपि सूर की गोपियों को काम ने लुब्ध बना दिया है, किन्तु यह 'काम' कामवासना का नहीं अपितु विरह का पर्यायवाची है। चण्डीदास और विद्यापति की राधा की भाँति सूर की राधा न मुखरा है और न विकासोन्मुखा। शालीनता मे खिची-सी, खोई-खोई सी राधा नेमीश्वर की भावी पत्नी राजुल की समवाची है। दोनो के भावो का साम्य हू-बहू है। यह कहाँ से मिला? खोज का विषय है। विवाह-मण्डप तक आकर बिना विवाह किये ही नेमीश्वर पशुओं की पुकार से द्रवित होकर दीक्षा ले गिरनार पर चले गये। विवाह-मण्डप में बैठी राजुल ने यह सुना तो उसकी असह्य वेदना हृदय की शत-शत अश्रुधाराओं मे विगलित हो उठी। कृष्ण भी राधा को बिना कहे ही मथुरा चले गये फिर लौटे नहीं। दोनों मे अद्भुत साम्य है। सूर के भ्रमरगीत और विनोदीलाल तथा लक्ष्मीबल्लभ के 'बारहमासो' मे तुलना का पर्याप्त क्षेत्र है। किन्तु जहाँ कभी-कभी भ्रमरगीत निर्गुण के खडन मे दत्तचित्त-सा दिखाई देता है, वहा जैन विरह-काव्य नितात काव्य की सामा तक ही सीमित है। उसमें खण्डन-मण्डन जैसी बात नही है। गोपियो के पैने तर्कों ने ऊधो जैसे दार्शनिक को निरुत्तर कर दिया। काव्य रस मे यह तक प्रवणता कही-कही रसाभास उत्पन्न करती है। जैन काव्य उससे बचे रहे। जैन कवि राजुल, सीता और अञ्जना के विरह गीतो तक ही सीमित नही रहे, उनका 'गुरु-विरह' एक मौलिक तत्त्व है। गुरु के विरह म शिष्य की बेचैनी राजुल से कम नही। दूसरी ओर जैन कवियो ने सुमति को राधा कहा और परमात्मा के विरह में उसकी बेचैनी हिन्दी काव्य को नयी देन है। इन सन्दर्भों मे प्रकृति-निरूपण भी स्वाभाविक है।

सूरदास की भक्ति सखाभाव की भक्ति मानी जाती है। सखा भाव के कारण ही सूर मे ओजस्विता है। भैया भगवती दास के 'ब्रह्म विलास' मे भी ओज ही प्रमुख है। यह चेतन इस आत्मा को अपना सखा मानता है, जिसमें परमात्म-शक्ति मौजूद है, किन्तु जो अपने रूप को न पहचान कर इधर-उधर बहक गया है। एक सच्चे मित्र की भाँति यह जीव उसे मीठी फटकार लगाता है। जैन कवियों का पद-काव्य इस प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। सूर से अद्भुत साम्य है। सूर का ओज उनके मीठे उपालम्भों मे

खिल उठा है। जैन कवियों के उपालम्भों में भी वैसी ही दम है। "तुम प्रभु कहियत दीनदयालु। आपन जाय मुकति मे बैठे हम जु रुलत इह जग-जाल।।" द्यानतराय का पद है। सूर के स्वर से मिलता जुलता। ऐसे अनेकानेक हैं। किन्तु जहाँ सूर के पदो मे अन्य देवो के प्रति तीक्ष्णता है, वहाँ भी जैन काव्य धीर-गम्भीर बने रहे है। उनके उपालम्भ मर्यादा के धागे से थोडा भी बिखर नही सके।

यद्यपि भक्त की प्रवृत्तिया और उसके दायरे सार्वभौम होते हैं, वहाँ सम्प्रदाय और धर्म सम्बन्धी वैभिन्य मिट जाता है, फिर भी कुछ-कुछ अपनी विशेषता बनी ही रहती है। सूरदास और जैन कवियो के काव्य मे अद्भुत साम्य है, फिर भी उनकी प्रेरणाओ के मूल स्वर भिन्न है। जैसे सूर की भक्ति केवल सगुण ब्रह्म' की भक्ति है। उन्होंने 'निर्गुण ब्रह्म' का जबर्दस्त खण्डन किया है। जन भक्ति में सगुण और निर्गुण जैसी दो धाराये नही है। वहाँ जो तीर्थंकर आज 'सगुण ब्रह्म' है, वह अघातिया कर्मों का नाश कर निर्गुण बन जाता है। इसी कारण जंन भक्ति और अध्यात्म मे पृथकत्व नही है। दोनो का समन्वय ही जैन भक्ति का मूलाधार है। इसी भाँति सूरदास और जैन कवियों ने अपने-अपने आराध्यदेव से याचनायें कीं और दोनों की पूर्ण भी हुई। किन्तु जहाँ सूर के भगवान ने स्वयं आकर पूरा किया, वहाँ जैन ब्रह्म अपनी वीतरागी विवशता से न आ सका। उसके ध्यान, स्मरण, नाम-जप आदि से जैन भक्त की जो पुण्य-प्रकृतिया बनती हैं, उन्ही से वह इहलौकिक और परम्परया पारलौकिक लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। इसी से आचार्य समन्तभद्र ने लिखा, "न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे, तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।"

सूरदास और जैन कवियों के पद गेय काव्य है। उनमें विविध राग-रागिनियों की सगीतात्मक लय है। जैन पद काव्य के अध्ययन से सिद्ध है कि उसमें अनेक नवीन राग-रागिनियाँ हैं। गेय काव्य सदैव लोक से सम्बन्धित रहा है। वह लोक काव्य ही है। प्राकृत और अपभ्रंश काव्य लोक के सन्निकट रहा है। इसमे जैन साहित्य की अधिकाधिक रचना हुई। इसके अतिरिक्त रासक और लोक नाट्य भी जैन मदिरो मे गाये और खेले जाते थे। उनके निर्माता जैन कवि थे। वहाँ जैन हिन्दी पद काव्य की पूर्व भूमिका प्राप्त हो जाती है। क्या सूरदास के पद-काव्य को भी वहाँ से प्रेरणा मिली?—खोज का विषय है।

जहाँ तक काव्य सौन्दर्य के बाह्य पक्ष का सम्बन्ध है, सूरसागर और जैन पद-काव्य दोनो की भाषा में स्वाभाविकता, प्रसाद और लालित्य है। दोनो मे अलकारों की खीचतान नही है। उनकी गति सहज है। जहाँतक रूपको का सम्बन्ध है, वह केवल सूर और जैन कवियो का नही, अपितु समूचे मध्यकालीन भक्ति-काव्य की प्रवृत्ति रही है। किन्तु अध्यात्म के पैराक होने के कारण जैन कवियों को यह परम्परा बहुत दूर से प्राप्त हुई और उसमे उनका सानी नही। उनमे कहीं पुनरावृत्ति नही, उबा देने वाली बात नहीं। जैन कवियों के रचित अनेक पूरे रूपक काव्य मिलते हैं। प्रकृति निरूपण मे दोनों समान थे।

जैन पद-काव्य चित्रो का काव्य है। उसका एक-एक पद एक चित्र है। सूरदास मे भी चित्रमयता है, किन्तु दोनो मे अन्तर है। पौराणिक नामो—अजामिल, गणिका आदि की पुनरावृत्ति से जहाँ सूरदास के चित्र कही-कही धूमिल है, वहाँ जैन-चित्र दोषमुक्त हैं। वे अछूते तो नही हैं, किन्तु पुनः-पुनः की आवृत्ति स नितात बचे है। इसी कारण उनमें ऊब नही है। उन्होंने सौन्दर्य के प्रति क्षण नवत्व को सहेजा है। सूर थोड़ा पीछे रह गये। एक ही चित्र यदि पुनः पुनः आये तो उसकी चित्रमयता ही चुक जायेगी। सूर मे ऐसा ही हुआ।

●

एलिचपुर के राजा एल (ईल) और राजा अरिकेसरी

पं० नेमचन्द्र धन्नूसा जैन

एलोरा गुफा [जिला औरंगाबाद] के बाबत श्री मुनि कांतिसागर 'खण्डहरों के वैभव' मे लिखते हैं— 'पश्चिमी गुफा मंदिरों मे एलागिरी एलोरा का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत भाषा के साहित्य मे इसका नाम एल उर मिलता है। धर्मोपदेशमाला के विवरण में [रचना काल सं० ६१५] समयज्ञ मुनि की एक कथा आई है, कि वे भृगुकक्ष नगर से चल कर 'एल उर' नगर आये और दिगम्बर वसही मे ठहरे। इससे जान पड़ता है उन दिनों एल उर की ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। दिगम्बर वस्ती से गुफा का तात्पर्य नहीं है ?" [पृष्ठ ४८]

यहाँ उन्होंने धर्मोपदेशमालावृत्ति का उद्धरण वाक्य दिया है—तओ नदपाहिहाणो साहू कारणान्तरेण पट्ठविओ गुरुणा दक्षिणावह। एगागी वच्चतो य पओसे पत्तो एलउर।" [धर्मोपदेशमाला पृष्ठ १६१]।

एलिचपुर के राजा एल के कारण बसा हुआ जो नगर वह एलउर [उर याने नगर]=एलोरा है। यह इतिहास सिद्ध है। यहा की कई गुफाएँ भले ही एल राजा से प्राचीन हैं तो भी उस स्थान को एलौर यह नाम राजा एल के बाद ही पड़ा, यह सुनिश्चित है। क्योंकि राजा एल यह दिगम्बर जैन था और उसने श्रीसिद्धक्षेत्र मुक्तागिरी, शिरपुर [जिला अकोला] और यहाँ—एलोरा मे—दि० जैन संस्कृति दर्शक शिल्प निर्माण किये है। एलोरा मे जैन दि० गुफा होने का यह ऊपर का अति प्राचीन उदाहरण है। धर्मोपदेशमाला वृत्ति का रचना काल मुनि जी स० ६१५ मानते हैं। वह विक्रम सवत मानें तो एल राजा का काल भी इसके पूर्व या समकालीन ठहरता है। लेकिन यह गलत है। एल राजा का काल दसवी शदी का उत्तरार्ध सुनिश्चित है[1]। अतः यह सवत शक संवत अगर मान लिया जाय तो यह ग्रथ बराबर एल राजा के समकालीन ठहरता है। याने ई० सं० ६६३ में ईल [एल] राजा एलिचपुर मे शासन कर रहे थे तब यह ग्रंथ रचा गया है। अतः एलोरा मे दि० जैन गुफा निर्माण करने वाले और उसके लिए अनत द्रव्य खर्चा करने वाले एल राजा दिगम्बर ही सिद्ध होते है।

लेकिन खण्डहरो का वैभव मे पृष्ठ १२० पर मुनिजी लिखते हैं—"नवागी वृत्तिकार से भिन्न, मलधारी श्री अभयदेवसूरि ने विदर्भ में आकर अतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा वि० स० ११४२ माघ सुद्ध ५ रविवार को की। अचलपुर के राजा ईल [एल] जैन धर्मानुयायी था। उसने पूजार्थ श्रीपुर-सिरपुर गांव चढाया था।"

और यहाँ ईल राजा की टिप्पणी में मुनिजी लिखते हैं—'ईल राजा ने अभयदेवसूरि द्वारा मुक्तागिरी तीर्थ पर भी पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी थी। शील विजयजी ने इस तीर्थ की वदना की थी।'

अब सोचिए कि, वि० स० ६१५ या शक संवत ८१५ [वि० म० १०५०] में होने वाले ईल राजा, वि० सं० ११४२ मे अभयदेवसूरि के हाथ से शिरपुर या मुक्तागिरी मे किस तरह प्रतिष्ठा कर सकते हैं ?

मुनि कांतिसागर जैसे सत्यशोधक और इतिहासज्ञ व्यक्ति द्वारा ऐसा लिखा जाना कैसे उचित कहा जा सकता है—इससे तो इतिहास का ही हनन होता है।

मुक्तागिरि यह सिद्ध क्षेत्र सर्वथा दिगम्बरों का ही है और था भी। न वहा श्वेताम्बरों के कोई चिह्न हैं, न भूत में थे। न कोई इतिहास उसका साक्षी है। जान पड़ता है कि, एक झूठ पचाने के लिए यह दूसरा झूठ बताया है। जिन दि० जैन ईल राजा ने अंतरिक्ष पार्श्वनाथ क्षेत्र का निर्माण किया, उस क्षेत्र को हस्तगत करने

1. देखो अनेकात १९६४ अगस्त के अक मे 'राजा श्रीपाल उर्फ ईल' नामका मेरा लेख।

की[1] चेष्टा करके राजा के मूलस्थान पर ही आघात करने का यह प्रयत्न है।

वि० सं० ११४२ की प्रतिष्ठा की जानकारी मे हमारे हाथ श्वेताम्बर रचित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ परिचय पुस्तक आया। वहाँ उसके सिद्धि के लिए उन्होंने प्राचीन आचार्यों का कोई साहित्यिक आधार तो नहीं बताया, लेकिन कहा कि, विक्रम की अठारहवी शताब्दी के भावविजयगणी को पद्मावती माता ने साक्षात्कार में यह इतिहास सुनाया।

न मालूम यह झूठा इतिहास बताने वाली पद्मावती कौन थी और वे भावविजयगणी कौन थे। यह एक स्वतंत्र चर्चा का विषय है कि श्वेताम्बरों के इस स्व-तंत्र की पूरी समीक्षा की जावे। जिन अभयदेवसूरि के हाथ से मुक्तागिरी व शिरपुर की प्रतिष्ठा हुई ऐसा बताया जाता है। उनके शिष्य हेमचंद्रसूरि ने अचलपुर आदि की चर्चा मे इसका उल्लेख क्यों नही किया? १४, १५ तथा १६वी शताब्दी में होने वाले जिनप्रभ, सोमप्रभ और लावण्यसमय आदि विद्वानों का अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के इतिहास के लेखक ने इनका क्यों नहीं बखान किया? तथा

भावविजयगणी के समय इस बात का पता चला ऐसा मान भी लिया जाय और श्वेताम्बर-परिचय पुस्तिका मे बताये मुजब भावविजयगणी ने वि० स० १७१५ मे वहां प्रतिष्ठा की और बड़ा मन्दिर निर्माण किया होता तो, उनके बाद सिर्फ १० और २० साल मे इस तीर्थ की वंदना कर इतिहास देने वाले शीलविजय तथा विनयराज इन्होंने उस इतिहास का और इस प्रतिष्ठा व उद्धार का क्यो नहीं उल्लेख किया? शीलविजय ने तो वि० सं० १७२१ मे ही दक्षिण भारत की यात्रा शुरु की थी और जगह-जगह का इतिहास जान कर तथा आँखों देखी सच्ची सामग्री उनकी तीर्थमालामे दी हुई है।

जब वे नर्मदा छोड़कर बुरहाणपुर, मल्लकापुर तथा देऊलघाट आये तब वहा के नेमीश्वर भगवान के दर्शन कर वे लिखते हैं—

"हवि संघली दिगंबर वसि, सगुअसुषीलं घणु उल्हसि।१३
शिरपुर नयर अंतरीक पास, अमीझरो वासीम सुविलास।
परगट परतो पूरि आज, नव निधि आपी ये जिनराज॥१४

आश्चर्य यह है कि जहां सब दिगम्बर ही दिगम्बर बसते है वहां का भगवान क्या श्वेताम्बर हो सकता है? अर्थात् शीलविजयजी के शब्दों मे उन दिनो शिरपुर से लगाकर समुद्र तक सब दिगम्बर बसही ही थी।

इतना स्पष्ट उल्लेख होने पर भी ये श्वेताम्बर कहते है—१. हमारे पूर्वजों ने यात्रा की थी। २. हमारे साहित्य मे उल्लेख है। ३. हम इनके भक्त हैं। आदि। उसका सीधा उत्तर है—१. हमारे दादा ने ताजमहल की यात्रा की थी, तो क्या ताजमहल हमारे दादा का होगा? २ इनके साहित्य में अकबर आदि बादशाह के उल्लेख हैं, तो क्या बादशाह इनके हो गये? या ये बादशाह के समाज के कहलाये? ३. हजारो हिन्दू सैलानीबाबा [जि० बुलढाणा] की भक्ति करते हैं, तो क्या सैलानीबाबा इनके हो गये?

इस पर वे कहते हैं, ये हमारे थे, इसीलिए हमने या हमारे आचार्यों न इनकी पूजा-वंदना की, अन्यथा उनकी पूजा नही करते। श्वेताम्बर गुरु दिगम्बर देव को पूजते या नही इसके उत्तर में शीलविजयजी का ही वाक्य उद्धृत करता हूँ—

"पुरवाचार्य ने वचने वरी, देव दिम्बर वंदा फिरी।"१७०,
[तीर्थमाला]

इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बर समाज और गुरु दिवम्बर देव को दिगम्बर जानकर ही—न कि श्वे० ताम्बर बना कर—पूजते थे। इसमें पूर्वाचार्य का वचन साक्षी है।

अत. दिगम्बर जैन तीर्थ को केवल यात्रा करने से, या साहित्य मे उल्लेख मिलने से, या इनकी भक्ति करने से श्वेताम्बर बताना या बनाना याने दुनिया के एक इतिहास को नष्ट-भ्रष्ट कर देना है। क्या यह ही जैन धर्म की शिक्षा है?

२. एलिचपुर के राजा दिगम्बर जैन ही थे इसका एक और उल्लेख यहाँ दे रहा हूँ। शक स० ६१५ मे रची हुई धर्मोपदेशमाला के पृष्ठ १७७ पर श्वेताम्बरीय जयसिंह

---

१. अंतरिक्ष पार्श्वनाथ यह क्षेत्र किसका है, इसके मालिक कौन हैं इसके विवाद मे दिगम्बर और श्वेताम्बरो के बीच दीवानी केस अभी चालू है।

सूरि लिखते हैं—"अयलपुरे दिगंबर भत्तो 'अरिकेसरी' राया। तेणेय काराविओ महापासाओ परट्ठाविआणि तित्थयर बिबाणी।"

एलिचपुर के इतिहास मे ईल राजा के सिवाय किसी अन्य जैन राजा या वंश परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता। तो भी प्राचीनतम यह उल्लेख दिगम्बर जैनों की दृष्टि से बड़े महत्व का है।

एक बात तो निर्विवाद है कि राष्ट्रकूटों का अमल [अधिकार] दसवी सदी के अंत तक एलिचपुर [विदर्भ] तक चलता ही था। अतः जो अरिकेसरी उन दिनों एलिचपुर में थे वह सामंत ही होगे, निदान शत्रु तो हो ही नहीं सकते।

राष्ट्रकूटों के सामंत में चालुक्यवशीय नरेशों की वंशावली में तीन अरिकेसरी१ का पता चलता है।

उसके आधार तीन हैं—१. कवि पंप के विक्रमार्जुन विजय [रचना काल शक स० ८६३] मे चालुक्यों की वंशावली दी है—युद्ध मल्ल-अरिकेसरी—नरसिंह—युद्ध-मल्ल—बद्दिग—नरसिंह और केसरी।

२. यशस्तिलक की प्रशस्ति मे श्रीसोमदेव सूरि दिगम्बराचार्य लिखते है—'चैत्र वदी १३ शक स० ८८१ को राष्ट्रकूटराजा श्रीकृष्णराज देव के······चरणोपजीवी सामंत वद्दिग की—जो चालुक्य वशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे—राजधानी गगधारा में यह काव्य समाप्त हुआ।'

३. परभणी [मराठवाडा] जिले में मिले हुए एक ताम्र पत्र में—पंप के जैसी ही चालुक्यो की वशावली दी है और अन्त में कहा है कि वद्दिग के पुत्र अरिकेसरी हुए। इन्होंने शके ८८८ में श्रीसोमदेव सूरि को पिता के शुभधाम जिनालय के व्यवस्था के हेतु कुछ भूमि दान दी थी।

एक राजा का राज्यकाल सरसरी तौर पर २५ साल का भी मान लेवें तो यह निष्कर्ष निकलता है—शक स० ८८८ यह तीसरे अरिकेसरी के राज्य का प्रारम्भकाल होगा। शक ८६३ यह दूसरे अरिकेसेरी के राज्य अन्तिम काल होगा और पहले अरिकेसरी का राज्यकाल शक ७०० के आसपास आता है, जो कि कलिगमय सहित [तैलगन], वेंगी प्रदेश [गोदावरी जिला] पर भी शासन करने वाले थे। इनके पिता सपादलक्ष [सवालख] प्रदेश के स्वामी थे।

धर्मोपदेशमाला का रचनाकाल वि० सं० ८१५ अगर माने तो उसमें उद्धृत अरिकेसरी [शक ७००] प्रथम ही हो सकते हैं। लेकिन डा० जोहरापुरकर के मत से उन दिनों चालुक्य और राष्ट्रकूटों में शत्रुत्व था। चालुक्य उन दिनों मे गगवशीय नरेशो के सामंत थे। अतः उनका यह उल्लेख नहीं हो सकता।

द्वितीय या तृतीय अरिकेसरी का वह उल्लेख मानें तो धर्मोपदेशमाला का रचनाकाल शक स० ९१५ ही निश्चित होता है। अत वह उल्लेख तृतीय अरिकेसरी का ही अधिक जान पडता है। जो एलिचपुर में प्रतिष्ठा के प्रमुख होंगे और धर्मोपदेशमाला की यह घटना लेखक को आखो देखी घटना हो सकती है।

क्योकि शक स० ८९४ तक राष्ट्रकूट राजा श्रीकृष्ण-राजदेव [नित्यवर्ष] शासन करते थे। और उनका प्रभाव केरल से लगा कर पूरे विदर्भ, मराठवाडा तक था इनके भी दिगम्बराचार्य को बहुत दान देने के उल्लेख मिलते हैं। इनके बाद इन्द्रराज चतुर्थ शक सं० ८९४ से ९०४ तक गद्दी पर थे। और बाद में राष्ट्रकूटों का राज्य चला गया।

एक बात फिर नजर मे आती है कि—इन्द्रराज चतुर्थ के समय उनकी उपराजधानी एलिचपुर में किसी 'हरि-वर्ष' नाम के राजा की अपमृत्यु के बाद एक ग्वाल ने एलिचपुर का राज्य लिया था। [इसकी चर्चा अनेकात के पिछले अक मे की गई है।] हिन्दू पुराणो मे उल्लेख आता है कि—एलिचपुर के आसपास का प्रदेश 'इलावत' नाम से प्रसिद्ध था१। और इलावर्त का राजा ईल था२।

१. इसकी विस्तृत चर्चा श्री प्रेमीजी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' में श्रीसोमदेवसूरि के लेख में की है।

१. यादव माधव काले कृत 'व-हाड-चा इतिहास' पृष्ठ ७०+७१—इस एलिचपुर को इलावर्त कहते यहाँ ईल नरेश राज्य करते थे।

२. मदिरमाला मुक्तागिरि पृ० १ [वोराकृत]—इलावर्त का राजा ईल था।

जैन ग्रन्थों में उल्लिखित इल्लि देश और यह इलावर्त एक ही है। अतः राज्यारोहण समय उस ग्वाल ने श्रीपाल नाम धारण करने पर भी जैन और इतर साहित्य में उसकी प्रसिद्धि इल नाम से ही हुई। इसने राष्ट्रकूटों का सामत पद स्वीकार कर लिया था३। और ऐसा करने से ही वह निराबाध शासन कर सका। इसने दिगम्बर जैन धर्म स्वीकार किया था। इसको किसी समय स्वप्न के दृष्टांत से भगवान पार्श्वनाथ की एक मूर्ति की प्राप्ति हुई थी।

हो सकता है कि इसकी प्रतिष्ठा के समय इन्द्रराज [चतुर्थ] की मृत्यु हो गई होगी, इसलिए सामन्त चूडामणि या सामताधिपति ऐसे अरिकेसरी तृतीय को उस मंगल पंचकल्याण के प्रतिष्ठा के लिए बुलाया होगा और प्रमुख के नाते वह या अन्य और मूर्ति की प्रतिष्ठा इनके हाथ से हुई होगी। ये दिगम्बर भक्त तो थे ही।

३. देखो १९६३ दिसबर के अनेकांत में डा० जोहरापुरकर का 'राजा एल' यह लेख।

अर्थात् यह घटना शके ९०४ [वि० सं० १०३९] के बाद की मालूम होती है। अतः शक ९१५ में इसका उल्लेख होना अधिक महत्त्व रखता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि दिगम्बर भक्त अरिकेसरी को बुलाने वाला ईल राजा दिगम्बर जैन ही था। न कि श्वेताम्बर। तथा ईल राजा राष्ट्रकूटों का सामत था, और राष्ट्रकूटों के सम्बन्धित जितने भी जैन राजे, श्रावक या मुनि थे वे सब दिगम्बर ही थे। [देखो—गोविंद सखाराम सरदेसाई B.A. बड़ोदाकृत 'हिन्दुस्थानचा अर्वाचीन इतिहास भाग २, पृ० १९—[अनुवादित]—"चालुक्योंके समय जैनों का महत्त्व शुरु हुआ। वह राष्ट्रकूटो के समय बढता गया कितनेक सामत राजे और वैश्य गृहस्थ जैन धर्म के कट्टर उपासक थे, "यह जैनधर्म का दिगम्बर पंथ था।"

ईल राजा को दिगम्बर जैन सिद्ध करने वाले और भी अनेक प्रमाण हैं, जिन पर यथा समय प्रकाश पड़ेगा ही। तो भी प्रत्यक्ष श्वेताम्बर समकालीन साहित्य से भी ईल राजा के दिगम्बर जैनत्व पर सुनिश्चित प्रकाश पड़ता है। अस्तु। ●

आत्म-सम्बोधन

वा दिन को कर सोच जिय मन में ॥
बनज किया व्यापारी तूने टांडा लादा भारी रे।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ॥
इक दिन डेरा होयगा वन में, कर ले चलने की तैयारी ॥ वा दिन को० ॥१
झूठे नेना उल्फत बांधी, किसका सोना किसका चांदी।
इक दिन पवन चलेगी आंधी, किसकी बीबी किसकी बांदी ॥
नाहक चित्त लगावे धन में ॥ वा दिन को० ॥२
मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो पानी से पानी।
मूरख सेती मूरख मिलियो, ज्ञानी से ज्ञानी ॥
यह मिट्टी है तेरे तन में ॥ वा दिन को० ॥३
कहत 'बनारसि' सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सो नाहीं, सिर पर काल निशाना रे ॥
सूझ पड़ेगी बुढ़ापे पन में ॥ वा दिन को० ॥४

षट्खण्डागम-परिचय

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इस नाम का निर्देश मूल ग्रन्थ मे कही पर भी उपलब्ध नही होता है, तथापि उसके ऊपर 'धवला' टीका के रचयिता आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने प्रकृत ग्रन्थ के अन्तर्गत कृति-अनुयोगद्वार मे उसका कुछ संकेत किया है। यथा—

तदो भूदबलिभडारएण सुदणाणपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठ महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण 'छखंडाणि' कयाणि। धवला पु० ६ पृ० १३३

अर्थात् भूतबलि भट्टारक ने श्रीधरसेनाचार्य से महाकर्मप्रकृति-प्राभृत प्राप्त करके आगे श्रुतज्ञान के प्रवाह के नष्ट हो जाने के भय से भव्य जीवो के अनुग्रहार्थ उक्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपसंहार करके छह खण्ड किये—षट्खण्डागम के रूप मे परिणत किया।

वीरसेन स्वामी के शिष्य आचार्य जिनसेन स्वामी ने भी इसका संकेत अपनी 'जयधवला' टीका की प्रशस्ति मे किया है। वहां उन्होने इस षट्खण्डागम परमागम को छह खण्डस्वरूप भरत क्षेत्रकी उपमा देकर उसके विषय मे भरतचक्रवर्ती की आज्ञा के समान आचार्य वीरसेन की भारती को—धवला टीकास्वरूप वाणी को—अबाध बतलाया है[१]।

इसके अतिरिक्त आचार्य इन्द्रनन्दी ने तो अपने श्रुतावतार में अनेकों बार उपर्युक्त नाम का उल्लेख किया है। वे उसके सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि आचार्य भूतबलि ने छठे खण्ड महाबन्ध के साथ जीवस्थान, क्षुल्लकबन्ध, बन्धस्वामित्व, भाववेदना और वर्गणा खण्डोंस्वरूप 'षट्खण्डागम' की रचना करके व उसे असद्भावस्वरूप स्थापनानिक्षेप से पुस्तको मे आरोपित करके ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी के दिन चातुर्वर्ण्य संघ के साथ उन पुस्तकोपकरणों से विधिपूर्वक पूजा की थी। इसीसे उक्त पंचमी तिथि 'श्रुतपंचमी' के रूप मे प्रसिद्ध हुई। आज भी जैन जन उक्त तिथि पर श्रुत की पूजा करते है[२]।

अपने उपर्युक्त नाम के अनुसार प्रस्तुत परमागम निम्न छह खण्डो मे विभक्त है—१ जीवस्थान, २ क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा और महाबन्ध[३]।

ग्रन्थ-प्रमाण

आचार्य इन्द्रनन्दी के उल्लेखानुसार प्रकृत परमागम के अन्तर्गत जीवस्थान आदि प्रथम पाच खण्डो का प्रमाण

१. प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेषगोगरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत्॥

२. आद्य जीवस्थानं क्षुल्लकबन्धाह्वयं द्वितीयमतः।
बन्धस्वामित्वं भाववेदना-वर्गणाखण्डे॥
एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः॥
जेष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः॥

इन्द्र०श्रुता० १४१-१४४

इनके अतिरिक्त श्लोक १३४, १३७, १४६ और १४९ भी द्रष्टव्य हैं।

३. इनमे से प्रारम्भ के जीवस्थानादि ५ खण्ड श्री सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय से क्रमशः १-६,७,८, ९-१२, १३-१६; इस प्रकार १६ जिल्दो मे धवला टीका के साथ प्रकाशित हो चुके हैं। अन्तिम खण्ड महाबन्ध मूल रूपमे हिन्दी अनुवाद के साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा ७ जिल्दों मे अलग से प्रकाशित हुआ है।

छह हजार (६०००) श्लोक और अन्तिम खण्ड महाबन्ध का प्रमाण तीस हजार (३००००) श्लोक है१। ग्रन्थ का अधिकांश भाग गद्यात्मक सूत्रों मे रचा गया है। फिर भी यत्र क्वचित वहां कुछ गाथा-सूत्र भी उपलब्ध होते हैं२। ग्रन्थगत समस्त सूत्र-सख्या इस प्रकार है—

१—जीवस्थान

सदादि अनु०	सूत्रसंख्या	चूलिकायें	सूत्रसंख्या
१. सत्प्ररूपणा	१७७	१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन	४६
२. द्रव्यप्रमाणानुगम	१९२	२. स्थानसमुत्कीर्तन	११७
३. क्षेत्रानुगम	९२	३ प्रथम दण्डक	२
४. स्पर्शनानुगम	१८५	४. द्वितीय ,,	२
५. कालानुगम	३४२	५. तृतीय ,,	२
६ अन्तरानुगम	३९७	६. उत्कृष्ट स्थिति	४४
७. भावानुगम	९३	७. जघन्य ,,	४३
८. अल्पबहुत्वानुगम	३८२	८. सम्यक्त्वोत्पत्ति	१६
	——	९ गत्यागति	२४३
	१८६०		——
			५१५

१. समस्त जीवस्थान १८६०+५१५=२३७५

२—क्षुद्रक बन्ध

१ { बन्धकसत्प्ररूपणा	४३	७. स्पर्शनानुगम	२७८
एकजीवेन स्वामित्व	९१	८. नानाजीवकाल	५५
२. एकजीवेन कालानु.	२१६	९. नानाजीवअन्तर	६८
३. एकजीवेन अन्तरानु.	१५१	१०. भागाभाग	८८
४. नानाजीवभंगविचय	२३	११. अल्पबहुत्व	२०६
५ द्रव्यप्रमाणानुगम	१७१	१२. महादण्डक	७९
६. क्षेत्रानुगम	१२४		——

२ समस्त क्षुद्रकबन्ध १५९३

३—बन्धस्वामित्व-विचय ३२४

४—वेदना

१. कृतिअनुयोगद्वार ७५

२ वेदना—

१. वेदनानिक्षेप	३	९. वेदनास्वामित्वविधान	१५
२. वेदनानयविभा.	४	१०. वेदनावेदनाविधान	५८
३. वेदनानयविधान	४	११. वेदनागतिविधान	१२
४. वेदनाद्रव्यविधान	२१	१२. वेदनाअन्तरविधान	११
५. वेदनाक्षेत्रविधान	९९	१३. वेदनासंनिकर्षवि.	३२०
६. वेदनाकालविधान	२७९	१४. वेदनापरिमाणवि.	५३
७. वेदनाभावविधान	३१२	१५. वेदनाभागाभागवि.	२१
८. वेदनाप्रत्ययविधान	१६	१६. वेदनाअल्पबहुत्व	२६
			——
			१५२१
		गाथा-सूत्र	८
			——
			१५२९

५—वर्गणा

अनुयोगद्वार	गद्यसूत्र	गाथासूत्र
१ स्पर्श	३१	२
२. कर्म	३१	–
३. प्रकृति	१४२	१७
४. बन्धन	७८८	९
	——	——
	९९२	२८

५ खण्डो की समस्त सूत्रसंख्या—

१. जीवस्थान	२३७५
२ क्षुद्रकबन्ध	१५९३
३ बन्धस्वामित्व	३२४
४. वेदना	१५२९
५. वर्गणा	१०२०
	——
	६८४१

इस प्रकार धवला टीका से समृद्ध पचखण्डस्वरूप षट्खण्डागम के अन्तर्गत समस्त सूत्र छह हजार आठ सौ इकतालीस (६८४१) हैं।

यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि अन्तिम (छठा) खण्ड महाबन्ध स्वयं आचार्य भूतबलि के द्वारा विस्तार-पूर्वक रचा गया है, जिसके ऊपर वीरसेन स्वामी को टीका लिखने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। यह समस्त खण्ड तीस हजार श्लोक प्रमाण है।

---

१. इन्द्र० श्रु० १३९-४०

२. देखो आगे वर्गणा खण्ड की सूत्रसंख्या

ग्रन्थ की भाषा

जैसा कि समवायांग सूत्र[१] और जबूदीवपण्णत्ति में[४] निर्दिष्ट है, समस्त तीर्थंकरों का उपदेश अर्धमागधी भाषा में हुआ करता है। भगवान् महावीर स्वामी के समय में यह अर्धमागधी भाषा प्रचलित लोकभाषा रही है। उसके अर्ध-मागधी इस नाम से प्रसिद्ध होने का कारण यह है कि वह मगध देश के अर्ध भाग मे—जहाँ कि भगवान् महावीर का विहार हुआ है—बोली जाती थी[३]। प्राचीन जैनागम प्रायः इसी भाषा मे निर्मित हुआ है। आज दिगम्बर सम्प्रदाय में जो प्रवचनसारादि अनेक प्राकृत ग्रंथ उपलब्ध होते है वे शौरसेनी—जैन शौरसेनी—प्राकृत मे रचे गये हैं, ऐसा अनेक भाषा शास्त्रियो का अभिमत है[४]।

पौराणिक काल मे मथुरा के एक राजा—भगवान् नेमि जिनके प्रपितामह—का नाम शूरसेन था। उसने मथुरा के समीप शौर्यपुर नाम के नगर को बसाया था[५]। उक्त राजा के नाम से यह प्रदेश 'शूरसेन' नाम से प्रसिद्ध रहा है। प्रस्तुत शौरसेनी सम्भव है इस देश की लोकभाषा रही हो।

प्रकृत षट्खण्डागम की भाषा में इस शौरसेनी प्राकृत के कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—

१. स्वरों के मध्यवर्ती त के स्थान में द[६]। जैसे—संयतासयत=संजदासंजद (१, १, १३), गति=गदि (१, ६-१, १०८) आदि।

२. स्वरों के मध्यवर्ती थ के स्थान में ध[७]। जैसे—कथ=कधं (२,२,४)।

३. श और ष के स्थान मे स[८]। जैसे—लेश्या=लेस्सा (१,१,४), आदेश=आदेस (१,१,८); घोष=घोस (४,१,५४)।

४. क्त्वा प्रत्यय के स्थान मे दूण[९]। जैसे—कृत्वा=कादूण (४, २-४, ७०), संसृत्य=ससरिदूण (४, २-४, ७१)। विकल्प मे अनुपाल्य=अणुपालइत्ता (४, २-४, ७१), विहृत्य=विहरित्ता (४, २-४, १०७)।

५. प्रथम पुरुष के एक वचन मे विहित इ के लिए द का आगम[१०]। जैसे—बधइ=बधदि, १, ६-१, १, १, ६-१,२) ठवेइ=ठवेदि (१, ६-८, ५)।

६. भू धातु के आदेशभूत हकार के स्थान मे भ[११]। जैसे—भवदि (१,६-४, १); होदि (१,६,२)।

इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उसके लक्षण है जो यहाँ नही पाये जाते, किन्तु उनके स्थान म अन्य ही रूप उप-लब्ध होते हैं। यथा—

१. र्य के स्थान में य्य[१२]। जैसे—पर्याप्त=पज्जत्त (१,१,३४)।

२. पूर्व के स्थान मे पुरव[१३]। जसे—पूर्व=पुव्व (१, ५, १८)।

३. कृञ् और गम् धातु के आगे क्त्वा प्रत्यय के

---

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण दुप्पय-चउप्पय-मियपसु-पक्खि-सरीसिवाण अप्पणो हियसिवसुहयभासत्ताए परिणमइ २३। सम० सू० ३४, स्थानक ३४।

२. अदिसयवयणेहि जुदो मागधअद्धेहि दिव्वघोसेहि। तस्स दु रूव दट्ठुं मेत्ताभावो दु जीवाण॥ ज० प० १३-१०२।

३. मगहविसयभासाणिबद्ध अद्धमागह, अट्ठारसदेसी-भासाणियय वा अद्धमागह। निशीथचूर्णि (१९६०) ३, भाष्य गा० ३६१८।

४. पाइयसद्दमहण्णओ (१९२८) प्रस्तावना पृ० ३४, षट्खण्डागम पु० १ प्रस्तावना पृ० १८०।

५. ह० पु० १८, ८-१४।

६. दस्तस्य शौरसेन्यामखावचोऽस्तोः। प्रा० शब्दानु० ३, २, १।

७. थो धः। प्रा० श० ३, २, ४।

८. शेषं प्राकृतवत्। प्रा० श० ३, २, २६; शोः सल्। प्रा० श० १, ३, ८७।

९. इय-दूणौ क्त्वः। प्रा० श० ३, २, १०।

१०. इचेचोर्दट्। प्रा० श० ३, २, २५।

११. भुवो भः। प्रा० श० ३, २, ६।

१२. र्यो य्यः। प्रा० श० ३, २, ८।

१३. पूर्वस्य पुरवः। प्रा० श० ३, २, ९।

स्थान में अदुम आदेश१। जैसे—कादूण (४, २-४, ७०) गंतूण (३, २२)

४. इदानीम् के स्थान में दाणि२। जैसे—इदाणि (१, ६-३, १)।

५. भविष्यत् अर्थ मे स्सि३। जैसे—रणणइस्सामो (१, ६-६, २); णिल्लेविहिदि (४, २-४, ४६)।

इस प्रकार चूकि प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा में शौरसेनी के कुछ लक्षण तो उपलब्ध होते है और कुछ नही भी उपलब्ध होते हैं, अतएव उसे जैन शौरसेनी प्राकृत कहा जा सकता है। वह जहां अर्धमागधी से प्रभावित है वहाँ उसमें महाराष्ट्री के भी बहुत से लक्षण उपलब्ध होते हैं। पर महाराष्ट्री शौरसेनी से प्राचीन नही है, अत: उस शौरसेनी का प्रभाव ही महाराष्ट्री पर समझना चाहिए।

कुछ विशिष्ट शब्दों का उपयोग

जिस समय प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई उस समय व उसके पूर्व भी यथास्थान कुछ विशिष्ट शब्दो का ही उपयोग होता रहा है। यह पद्धति प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी देखी जाती है। जैसे—तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो में जहाँ इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान के लिए 'मति' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ मे उसके लिए सर्वत्र 'आभिणिबोहिय—'आभिनिबोधिक' शब्द का ही उपयोग किया गया है४। विपरीत ज्ञानी के लिए जैसे मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी शब्दो का उपयोग हुआ है वैसे अवधि-अज्ञानी शब्द का उपयोग नही हुआ, किन्तु उसके स्थान मे सर्वत्र विभगज्ञानी (विहगणाणी) शब्द का ही उपयोग हुआ है।

जीव जब एक गति से निकल कर—मर कर—दूसरी गति मे जाता है तब गति विशेष के अनुसार उसके लिए निम्न शब्दों के प्रयोग की परिपाटी रही है५—

नारकियों के लिए 'उव्वट्टिदसमाणा' व 'आगच्छंति'। (सूत्र १, ६–६, ७६ आदि)।

तिर्यचो व मनुष्यों के लिए 'कालगदसमाणा' व 'गच्छंति' (१,६-६,१०१ और १४१ आदि)।

देव सामान्य, भवनत्रिक और सौधर्म-ऐशान कल्पवासी देवो के लिए 'उव्वट्टिद-चुदसमाणा' व आगच्छति'६ (१, ६–६, १७३ आदि)।

सानत्कुमार आदि देवों के लिए 'चुदसमाणा' व 'आगच्छति'७ (१, ६-६, १६१ आदि)।

द्वादशांग से उसका सीधा सम्बन्ध

धवलाकार श्री वीरसेन स्वामी ने प्रस्तुत ग्रन्थ का द्वादशाग से सीधा सम्बन्ध बतलाते हुए७ प्रथमत: प्रमाण, नय और निक्षेप आदि के कथनपूर्वक समस्त श्रुत का विस्तार से परिचय कराया है। उन्होंने वहाँ बतलाया है कि बारहवें दृष्टिवाद नामक अग के पाँच भेदो मे चौथा भेद पूर्वगत है। वह उत्पादपूर्व आदि के भेद से चौदह प्रकार का है। उनमे से प्रकृत मे दूसरा अग्रायणीय पूर्व विवक्षित

---

१. क्-गमोर्डदुअ:। प्रा० श० ३, २, १०।
२. इदानीमोल्दाणि। प्रा० श० ३, २, ११।
३. भविष्यति स्सि:। प्रा० श० ३, २, २४।
४. यद्यपि 'सत्संख्या–' (तत्त्वार्थसूत्र १–८) आदि सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका मे 'आभिनिबोधिक' शब्द का उपयोग देखा जाता है, पर उसे प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणादि अनुयोगद्वारों का अनुवाद ही समझना चाहिए। नन्दिसूत्र आदि आगम ग्रन्थों मे भी यही आभिनिबोधिक शब्द उपलब्ध होता है।
५. इस विशेषता को स्वयं सूत्रकार ने ही निम्न सूत्र के द्वारा व्यक्त किया है—सणक्कुमारप्पहुडि जाव सदर-सहस्सारकप्पवासियदेवेसु पढमपुढवीभंगो णवरि चुदा त्ति भाणिदव्वं। १, ६-६, १६१।
६. ऐसी ही कुछ विशेषता वर्तमान में भी कहीं-कहीं पर पाई जाती है। जैसे—जब कोई मराठीभाषी किसी से मिल कर वापिस जाना चाहता है तब वह 'वर मी येतो' (अच्छा मैं आता हूँ)' कहता है—'मी जातो' ऐसा नही बोलता।

'राम' नाम यद्यपि उत्तम समझा जाता है, पर विवाहादि मांगलिक कार्य के समय 'राम नाम' सत्य है, कहना अनिष्ट माना जाता है।
७. संपहि जीवट्ठाणस्स अवयारो उच्चदे। त जहा······ धवला पु० १, पृ० ७२।

है। उसके वस्तु नाम से प्रसिद्ध चौदह अधिकारों में१ पाँचवाँ अधिकार चयनलब्धि है, जिसके बीस प्राभृतों में से चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृतिप्राभृत है। उसका दूसरा नाम वेदना-कृत्स्नप्राभृत भी है२। उसमें ये चौबीस अधिकार हैं—१. कृति, २. वेदना, ३. स्पर्श, ४. कर्म, ५. प्रकृति, ६. बन्धन, ७. निबन्धन, ८. प्रक्रम, ९. उपक्रम, १०. उदय, ११. मोक्ष, १२. संक्रम १३. लेश्या १४ लेश्याकर्म, १५. लेश्यापरिणाम, १६. सात असात, १७. दीर्घ-ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलात्त (या पुद्गलात्म), २०. निधत्त-अनिधत्त, २१. निकाचित-अनिकाचित, २२. कर्मस्थिति, २३. पश्चिम स्कन्ध और २४. अल्प-बहुत्व३।

इनमे से यहाँ छठे बन्धन अधिकार को विवक्षित निर्दिष्ट किया है। उसमे ये चार अन्तराधिकार है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान४। उनमें से प्रकृत में बन्धक और बन्धविधान ये दो अधिकार विवक्षित हैं। इनमे से बन्धक अधिकार में ये ग्यारह अनुयोगद्वार हैं—१. एक जीवेन स्वामित्व, २. एकजीवेन काल, ३. एक जीवेन अन्तर, ४. नानाजीवैः भंगविचय, ५. द्रव्यप्रमाणानुगम, ६. क्षेत्रानुगम ७. स्पर्शनानुगम, ८. नानाजीवैः कालानुगम, ९. नानाजीवैः अन्तरानुगम, १०. भागाभागानुगम और ११. अल्पबहुत्व५। इनमे से पाँचवें द्रव्यप्रमाणानुगम से षट्खण्डागम के प्रथम खण्डभूत जीवस्थान का द्रव्यप्रमाणानुगम नामक दूसरा अनुयोगद्वार निकला है६।

उपर्युक्त बन्धन अधिकार के अन्तर्गत चार अनुयोगद्वारों मे चौथा जो बन्धविधान है वह चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमे प्रकृतिबन्ध मूल और उत्तर के भेद से दो प्रकार का है। इनमे भी उत्तर प्रकृतिबन्ध के दो भेद है—एक-एक उत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढप्रकृतिबन्ध। इनमे एक-एक उत्तरप्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तनादि चौबीस अनुयोगद्वारों मे जो प्रथम समुत्कीर्तना अनुयोगद्वार है उससे उपर्युक्त जीवस्थान की नौ चूलिकाओं मे (पु० ६) प्रथम समुत्कीर्तना, द्वितीय स्थानसमुत्कीर्तना और तीन दण्डक (तृतीय, चतुर्थ व पाचवी चूलिका), इस प्रकार पाच चूलिकाएं निकली है७।

उपर्युक्त एक-एक उत्तरप्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तनादि चौबीस अनुयोगद्वारों मे तेईसवाँ भावानुगम है। इससे उक्त जीवस्थान का भावानुगम नामक सातवा अनुयोगद्वार निकला है८।

अव्वोगाढप्रकृतिबन्ध भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध के भेद से दो प्रकारका है। इनमे से प्रकृतिस्थान बन्ध मे ये आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुम। इन आठ अनुयोगद्वारों से जीवस्थान के ये छह अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। इस प्रकार पूर्वोक्त द्रव्यप्रमाणानुगम और भावानुगम के साथ जीवस्थान के सत्प्ररूपणा आदि आठो अनुयोगद्वार हो

---

१. धवला पु० १, पृ० १२३, पु० ९, पृ० २२६।

२. वेयणाकसिणपाहुडे त्ति वि तस्स बिदिय णाममत्थि। वेयणा कम्माणमुदयो, तं कसिणं णिरवसेस वण्णेदि; अदो वेयणकसिणपाहुडमिदि एदमवि गुणणाममेव। धवला पु० १ पृ० १२४–२५।

३. अग्गेणियस्स पुव्वस्स पचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम। तत्थ इमाणि चउवीस अणिओगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति कदि वेदणाए……। ष० ख० ४; १, ४५, (धवला) पु० ९ पृ० १३४; पु० १ पृ० १२५।

४. ज तं बंधविहाण त चउव्विह—पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। ष० ख० ५, ६, ७९६; धवला पु० १, पृ० १२६; पु० ९ पृ० २३३।

५. धवला पु० १ पृ० १२६।

६. दव्वपमाणादो दव्वपमाणाणुगमो णिग्गदो। धवला पु० १ पृ० १२६।

७. एदेसु समुक्कित्तणादो पयडिसमुक्कित्तणा ट्ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णिमहादंडया णिग्गदा। धवला पु० १ पृ० १२७।

८. तेवीसदिमादो भावो णिग्गदो। धवला पु० १ पृ० १२७

जाते हैं१ ।

बन्ध का दूसरा भेद जो स्थितिबन्ध है वह मूलप्रकृति-स्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध के भेद से दो प्रकारका है। उनमे उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध के अद्धाच्छेद आदि चौबीस अनुयोगद्वारो मे प्रथम (अद्धाच्छेद) के दो भेद है जघन्य-स्थिति-अद्धाच्छेद और उत्कृष्ट-स्थिति-अद्धाच्छेद। इन दोनों अद्धाच्छेदो से क्रमश. जावस्थान की जघन्य स्थिति (सातवी) और उत्कृष्ट स्थिति (छठी) नामकी ये दो चलिकाएँ निकली हैं२ ।

इसके अतिरिक्त दृष्टिवाद अग के दूसरे भेदभूत सूत्र से सम्यक्त्वोत्पत्ति३ और व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पाचवे अग से गति-आगति४ (नौवीं) नामकी चूलिका निकली है। इस प्रकार इन नौ चूलिकाओ से सयुक्त होकर पूर्वोक्त सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारो म विभक्त समस्त जीवस्थान खण्ड (सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन दो चूलिकाओ को छोड़ कर) उद्गम पूर्वोक्त चयनलब्धि के चतुर्थ प्राभृतभूत कर्मप्रकृतिप्राभृत से हुआ है।

प्रकृत षट्खण्डागम का दूसरा खण्ड जो क्षुद्रकबन्ध है वह 'एकजीवेन स्वामित्व' आदि ग्यारह अनुयोगद्वारों से सम्पन्न होता हु पूर्वोक्त बन्धक अधिकार के ग्यारह अनुयोगद्वारों से निकला है५ ।

उसका बन्धस्वामित्वविचय नामका तीसरा खण्ड पूर्वोक्त एक-एकउत्तरप्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तनादि चौबीस अनुयोगद्वारों मे बारहवें बन्धस्वामित्वविचय से निकला है५ ।

वेदना नामक चौथे खण्ड मे कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार हैं जो क्रम से कर्मप्रकृतिप्राभृत के चौबीस अनुयोगद्वारो मे से प्रथम (कृति) और द्वितीय (वेदना) अनुयोगद्वारो से निकले है।

वर्गणाखण्ड मे प्ररूपित स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोगद्वार भी पूर्वोक्त कर्मप्रकृतिप्राभृत के चौबीस अनुयोगद्वारो मे इन्ही नामोवाले तृतीय (स्पर्श), चतुर्थ (कर्म), पचम (प्रकृति) और छठे (बन्धन) अनुयोगद्वारो से निकले है।

महाबन्ध नामक अन्तिम (छठा) खण्ड पूर्वोक्त बन्धन अनुयोगद्वार के चतुर्थ भेदभूत बन्धविधान अनुयोगद्वार से निकला है६ ।

हस्तलिखित प्राचीन प्रतियां

प्रस्तुत ग्रन्थ की वर्तमान मे जो भी प्रतिया उपलब्ध होती हैं वे सब आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा विरचित धवला टीका के साथ ही उपलब्ध होती है, मात्र मूल ग्रन्थ की कोई भी स्वतन्त्र प्रति नही उपलब्ध होती। मूल मे उसकी कानड़ी लिपि मे तीन प्राचीन प्रतिया रही हैं जो मूडबिद्री की गुरुवसति मे सुरक्षित है। आज से लगभग ४०-४२ वर्ष पूर्व श्री लाला जम्बूप्रसादजी रईस द्वारा

---

१. एदेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु छ अणियोगद्दाराणि णिग्गयाणि। तं जहा—सतपरूवणा खेत्तपरूवणा पोसणपरूवणा कालपरूवणा अंतरपरूवणा अप्पाबहुगपरूवणा चेदि। एदाणि छ, पुव्विल्लाणि दोण्णि, एक्कदो मेलिदे जीवट्ठाणस्स अट्ठ अणियोगद्दाराणि हवंति। धवला पु० १ पृ० १२७–२८।

२. तत्थ अद्धाछेदो दुविहो जहण्णट्ठिदिअद्धाछेदो उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदो चेदि। जहण्णट्ठिदिअद्धाछेदादो जहण्णट्ठिदी णिग्गदा, उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदादो उक्कस्सट्ठिदी णिग्गदा। धवला पु० १ पृ० १३०।

३. पुणो सुत्तादो सम्मत्तुप्पत्ती णिग्गया। धवला १ पृ० १३०।

४. वियाहपण्णत्तीदो गदिरागदी णिग्गदा। धवला पु० १ पृ० १३०।

५. त जहा—महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणादिगेसु चदुवीसअणियोगद्दारेसु छट्ठस्स बधणे त्ति अणियोगद्दारस्स बधो बधगो बधणिज्ज बधविहाणमिदि चत्तारि अधियारा। तेसु बधगे त्ति बिदियो अधियारो, सो एदेण वयणेण सूचिदो। जे ते महाकम्मपयडिपाहुडम्मि बधगा णिद्दिट्ठा तेसिमिमो णिद्देसो त्ति वुत्त होदि। धवला पु० ७ पृ० १–२।

६. एदेसि चदुण्णं बंधाण विहाण भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवचेण लिहिद त्ति एत्थ ण लिहिद; धवला पु० १४, पृ० ५६४

सहारनपुर मे उसकी एक प्रति नागरी लिपि में भी तैयार करा ली गई थी। उसके आधार से उसकी येन केन प्रकारेण कुछ थोड़ी-सी अन्य प्रतियां भी नागरी लिपि मे तैयार हो सकी, जो वर्तमान मे आरा, सागर, अमरावती, कारजा, बम्बई और झालरापाटन आदि नगरो में विद्यमान हैं।

प्रतियों में पाठभेद

ग्रंथ मे मुख्यता से कर्म का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। यह विवेचन वहाँ अतिशय व्यवस्थित एवं नियमित पद्धति के अनुसार गुणस्थान और मार्गणाओं के आधार से सुन्दरतापूर्वक किया गया है। उक्त विवेचन में वहाँ यथाप्रसग केवल अनेक शब्दो का ही पुनरावर्तन नही हुआ, बल्कि अनेक सूत्रो का भी आवश्यकतानुसार यत्र तत्र पुनरावर्तन हुआ है[१]। ऐसी अवस्था मे लेखक के पर्याप्त सावधानी रखने पर भी यदि कुछ शब्द या वाक्य प्रतियो में लिखने से रह गये हैं या वे दुवारा लिखे गये हैं तो यह अस्वाभाविक नही है। ऐसे पाठभेद तो उसके ऊपर धवला जैसी महत्वपूर्ण टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन स्वामी के समक्ष भी विद्यमान थे, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी इस धवला टीका में जहाँ-तहाँ किया भी है[२]। वर्तमान मे जो धवला टीका युक्त तीन कानडी लिपिवाली प्रतिया मूडबिद्री में सुरक्षित है उनमे भी स्थान स्थान पर अनेक पाठभेद उपलब्ध होते हैं[३]। फिर उनके आधार से जो अन्य प्रतियां नागरी लिपि में तैयार हुई हैं उनमें तो उनसे भी अधिक पाठभेद होना सम्भव है। उक्त प्रतियों में इस प्रकार के जो पाठभेद हुए हैं उनमे उदाहरण के रूप में कुछ का यहाँ उल्लेख कर देना उचित होगा। यथा—

१ सूत्र १. ८, ४१ (पु० ५ पृ० २६८) में 'तिरिक्ख-पंचिदय-तिरिक्ख-पंचिदियपज्जत्ततिरिक्ख-पंचिदियजोणिणीसु' पाठ प्रतियो मे (अमरावती, कारजा और आरा) उपलब्ध हुआ है जो इस प्रकार होना चाहिये था—तिरिक्ख-पंचिदियतिरिक्ख-पंचिदियतिरिक्खपज्जत्त-पंचिदियतिरिक्खजोणिणीसु[४]।

२ सूत्र १. ८, ३४६ (पु० ५ पृ० ३४४) की प्रतियों मे 'अप्पमत्तसजदा अणुवसमा सखेज्जगुणा' पाठ उपलब्ध हुआ है, पर वह 'अप्पमत्त सजदा अक्खवा अणुवसमा सखेज्जगुणा'[५] ऐसा होना चाहिए था।

३. सूत्र १, ६-६, ४, मे (पु० ६ पृ० ४१६) 'ता अतोमुहुत्तप्पहुडि जाव तप्पाओग्गअंतोमुहुत्त उवरि०' यह पाठ प्रतियों मे उपलब्ध होता है, पर फोटो प्रति में[६] वह 'जाव उवरि०' ऐसा पाया जाता है जो शुद्ध प्रतीत होता है।

---

१ देखिये अन्तरानुगम (पु० ५) सूत्र ६, २५, ३२, ४३ व ७६ तथा ८, ११ व १५ आदि।

२ केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्सतरं छम्मासा। धवला पु० ५ पृ० १०६,

अप्पमत्तद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु देवाउअस्स बंधो वोच्छिज्जदित्ति केसु वि सुत्तपोत्थएसु उवलब्भइ। धवला पु० ८ पृ० ६५।

केसु वि सुत्तपोत्थएसु बिदियमत्थमस्सिदूण परूविद-अप्पाबहुगाभावादो च। धवला पु० ८ पृ० ३८२।

केसु वि सुत्तपोत्थएसु एसो पाठो। धवला पु० १४ पृ० १२७।

३ देखिये धवला पु० ३ का परिशिष्ट पृ० २०-४२।

४ फोटो प्रति (४३।८।२) में वह इसी प्रकार से पाया भी जाता है।

यहां यह स्मरणीय है कि धवला, जयधवला और महाबन्ध की जो कानडी लिपि में प्रतिया मूडबिद्री मे विद्यमान है उन सब के फोटो लिए जा चुके है। उनमें से धवला के फोटो फलटण से जैन सस्कृति-सरक्षक-सघ—शोलापुर में पहुँचे थे व लेखक ने कानडी लिपि के जानकार श्री पं० चन्द्रराजय्या के साथ श्री शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय द्वारा प्रकाशित धवला की १६ जिल्दो मे प्रथम ६ जिल्दों का मिलान कर पाठभेद लिए थे उन्ही के आधार से यहां फोटो प्रति के पाठभेदों का सकेत किया गया है।

५ फोटो प्रति (४६।४।१०) मे वह इसी प्रकार से पाया भी जाता है।

६ फोटो ५६।८।६।

४. सूत्र १, ६-६, ४२ (पु० ६ पृ० ४३६) में 'केइं जाइं सोऊण' ऐसा पाठ फोटो प्रति में[1] उपलब्ध होता है। यहां फोटो की आधारभूत मूल प्रति मे 'जाइं' शब्द व्यर्थ जुड गया है।

५ सूत्र २, ८, १४ में फोटो प्रति में (६६।७।६) 'पत्तेयसरीरपज्जत्ता' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है जो 'पत्तेयसरीरपज्जत्तापज्जत्ता' ऐसा होना चाहिये[2]।

६ सूत्र ३, ४२ (पृ० ८, पृ० ६१) मे अच्चणिज्जा वंदणिज्जा णमसणिज्जा' ऐसा पाठ प्रतियों में उपलब्ध हुआ है। वही पाठ फोटो प्रति (६६,८,१) में 'अच्चणिज्जा पूजणिज्जा णमंसणिज्जा' इस प्रकार पाया जाता है। इस प्रकार जहां अन्य प्रतियों में 'पूजणिज्जा' पाठ स्खलित हुआ है वहाँ फोटो प्रति में 'वदणिज्जा' पद स्खलित हुआ है। पर होने चाहिये वहाँ उक्त दोनो ही शब्द, क्योंकि धवलाकार ने सूत्रोक्त उन सभी पदों का—क्रम से पूजा, अर्चा व वंदना आदि का—पृथक् पृथक् स्पष्टीकरण किया है[3]।

७ इसी प्रकरण (बन्धस्वामित्वविचय) में सूत्र ५५ में 'असुह' और 'अजसकित्ति', सूत्र ६३ में 'अथिर', सूत्र ७३ में 'अपज्जत्त' और 'दुभग'; सूत्र ६० में 'अरदि-सोग' और 'उच्चागोद'; सूत्र १८८ में 'चउदंसणावरणीय-सादावेदणीय', सूत्र २४२ में 'बंधो'; सूत्र २४३ मे 'अरदि' तथा सूत्र ३०४ मे 'बंधा'; ये पाठ प्रतियों में छूटे हुये हैं। परन्तु धवला के विवेचन से उनका उपर्युक्त सूत्रों में अस्तित्व सिद्ध है[4]।

८ सूत्र ४, २-४, १०८ (पु० १० पृ० ३२६) 'दव्वदो[5]' तथा सूत्र ४, २-४, १३० और १३६ में 'दो वि तुल्लाओ'[6] पाठ छूटा हुआ है।

६ सूत्र[6] ४, २-७, २८७ में (पु० १२ पृ० २६५) में 'हाणि' शब्द छूटा हुआ है[7]।

१० सूत्र ४, २-११, २ (पु० १२ पृ० ३६५) में 'अवट्ठिदा' के स्थान में 'अट्ठिदा' पाठ होना चाहिये था[8]।

११ सूत्र ४, २-१३, १०४ (पु० १२ पृ० ४१७) और १२६ में 'अजहण्णा' पद छूटा हुआ है[9]।

इसी प्रकार कहीं कहीं पर चिह्नविशेष (॥छ॥ आदि) के न रहने से अथवा उसका अस्थान में उपयोग किये जाने से जिस प्रकार सूत्र का अंश कहीं टीका में समाविष्ट हो गया है उसी प्रकार कहीं पर टीका का अंश सूत्र में भी सम्मिलित हो गया है। ऐसी अवस्था में सूत्र और टीकाभाग के निर्णय करने में पर्याप्त कठिनाई रही है व कहीं कहीं पर उसका समय पर निर्णय न हो सकने से मुद्रण के समय भूल भी हुई है[10]।

१ उदाहरणस्वरूप कृतिअनुयोगद्वार (पु० ६) पृ० ३२६ पर "एदेहि सुत्तेहि तेरसण्ण मूलकरणकदीणं संत-परूवणा कदा ॥७१॥" यह अश सूत्र के रूप मे मुद्रित हुआ है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से वह सूत्र प्रतीत नहीं होता है। कारण यह कि इस प्रकारकी सूत्र-रचना की पद्धति नहीं रही है। इससे पूर्व के सूत्र ६८ में

---

१. फोटो ५५।८।६

२. देखिये धवला पु० ७ पृ० ४१७।

३. धवला पु० ८ पृ० ६२।

४. इनमे 'असुह' व 'अजसकित्ति' (७०।६।१), अथिर' (७१।१।५), 'अपज्जत्त' (७२।२।१), 'उच्चागोद' (७२।४।६) और 'अरदि' (७५।३।१); ये पाठ फोटो प्रति मे उपलब्ध होते हैं। परन्तु 'दुभग' (७२।२।१), 'चउदसणावरणीय-सादावेदणीय' (७४।७।१५), बधो (७६।२।११) और 'बंधा' (७७।१।१); ये पाठ वहां भी उपलब्ध नहीं होते।

५. मिलान के लिये देखिये द्रव्यविधान पु० १० सूत्र ७५ और १२१।

६. मिलान के लिये देखिये द्रव्याविधान सूत्र १२५, १३७, १४० तथा कालविधान पु० ११ सूत्र २८ और ३३।

७. देखिये इसी के पीछे व आगे के सूत्र २८६, २८८ व २८६ आदि।

८. देखिये उसी के आगे के सूत्र ३, ५, ६, ७, ६ व १०। इसी प्रकरण के सूत्र १ की धवला का 'किमट्ठं वेदणा-गदिविहाणं वुच्चदे' आदि शंका-समाधान भी द्रष्टव्य है।

६. देखिये इसी प्रकरण के सूत्र १०६, ११०, ११२, १३१, १३३ व १३५ आदि।

१०. देखिये धवला पु० ६ सूत्र ४५, ५१ और ५४ तथा शुद्धिपत्र (प्रस्तावना) पृ० १४ व १७।

करणकृति के मूल और उत्तर करणकृति रूप दो भेदों का निर्देश करके उनमे से मूलकरणकृति के औदारिक-शरीर आदि रूप ५ भेदों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् सूत्र ६९ में औदारिक-शरीर आदि ३ मूल-करणकृतियों मे से प्रत्येक के संघातनादिरूप ३-३ और सूत्र ७० मे तैजसशरीर और कार्मणशरीर इन दो मूल-करणकृतियों मे से प्रत्येक के २-२ भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इस प्रकार इन ३ सूत्रों द्वारा मूलकरणकृति के क्रमशः ३+३+३+२+२=१३ भेदो की मात्र सत्प्ररूपणा की गई है१। इस पर धवलाकार ने 'एदेहि सुत्तेहि···' आदि उपर्युक्त वाक्य के द्वारा यह कहा है कि सूत्रकार ने इन सूत्रों के द्वारा केवल १३ मूलकरणकृतियों की सत्प्ररूपणा मात्र की है। इस सूत्र के देशामर्शक होने से यहां—धवला टीका में—उसके द्वारा सूचित पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की जाती है२।

२. वेदनाभावविधान में 'एत्तो उक्कस्सओ चउसट्ठिपदियो महादडओ कायव्वो भवदि ॥६५॥' इस सूत्र द्वारा (पु० १२ पृ० ४४) चौंसठ पद वाले उत्कृष्ट महादण्डक के कहने की सूचना करके तदनुसार आगे सूत्रकार ने उक्त महादण्डक की प्ररूपणा ६६-११७ सूत्रों मे (पृ० ४४-५९) की है। तत्पश्चात् 'एवमुक्कसओ चउसट्ठिपदियो महादडओ कदो भवदि' यह अश आया है, जिसे सूत्र ही समझना चाहिये। परन्तु वह मुद्रण के समय टीका का अंश बन गया है। किन्तु सूत्र ६५ की और इसकी शब्दरचना को देखते हुए इसके सूत्र होने में कुछ भी सन्देह नही रहता१।

३. इस प्रकार यदि यह (११८) सूत्र रहा है तो फिर 'एत्तो जहण्णओ चउसट्ठिपदियो···' आदि (११८) सूत्र के साथ सूत्र १७४ के पश्चात् जो 'एव जहण्णयं चउसट्ठिपदियं परत्थाणप्पाबहुग समत्त' वाक्य (पृ० ७५) आया है उसके भी सूत्र होने की सम्भावना की जा सकती है। परन्तु शब्दरचना कुछ वैसी नहीं है, यह सुनिश्चित है।

प्रकृति-अनुयोगद्वार मे सूत्र २२-३५ मे आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय के भेद-प्रभेदो का निर्देश कर देने के पश्चात् दो सूत्र इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

तस्सेव आभिणिबोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स अण्णा परूवणा कायव्वा भवदि ॥३६॥ पु० १३ पृ० २४१

एवमाभिणिबोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स अण्णा परूवणा कदा होदि ॥४२॥ पृ० २४४

इन दोनो सूत्रो और उनकी रचनापद्धति को देखते हुए पूर्वोक्त 'एवमुक्कस्सओ··' आदि वाक्यांशके सूत्र होने की कल्पना और भी बलवती होती है।

४. बन्धन अनुयोगद्वार (पु० १४) मे यह सूत्र मुद्रित हुआ है—

एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम ॥५८१॥

परन्तु यह सूत्र न होकर निश्चित ही टीका का अश प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि जिन जिन अनुयोगद्वारों मे इस प्रकार के चूलिका प्रकरण आये हैं उनमे कही भी ऐसा सूत्र उपलब्ध नही होता२। प्रकृत मे सूत्र ११७

---

१. मूल-सूत्रकार ने इन सूत्रो मे केवल करणकृति के भेद-प्रभेदों का ही निर्देश किया है, जिसे सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत समझना चाहिये—उन्होने स्पष्टतया सत्प्ररूपणा का भी कोई निर्देश नही किया।

२. तदनुसार ही धवलाकार ने चूंकि पदमीमासा आदि इन तीन अधिकारों के बिना प्रकृत सत्प्ररूपणा भी सम्भव नहीं थी, अतएव सर्वप्रथम पृ० ३२६ से ३५४ तक इन तीन अधिकारो की प्ररूपणा की है। तत्पश्चात् उन्होने 'सपधि एत्थ अणियोगद्दाराणि देसामासियसुत्तसूइदाणि भणिस्सामो' ऐसी सूचना करके पृ० ३५४ से ३५९ तक प्रथमतः स्वयं सत्प्ररूणा की है, पश्चात् क्रम से द्रव्यप्रमाणानुगम आदि शेष ७ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा विस्तार-पूर्वक पृ० ४५० तक की है।

१. यहां यह आशका नही की जा सकती है कि 'एत्तो उक्कस्सओ···'आदि भी सूत्र (६५) नही है; क्योकि, धवलाकार ने उसकी उत्थानिका मे '···अत्थपरूवणट्ठमुवरिमसुत्तं भणदि' कहकर उसे स्पष्टतया सूत्र बतलाया है (पु० १२ पृ० ४४)।

२. देखिये जीवस्थान-चूलिका (पु० ६), द्रव्यविधान-चूलिका (पु० १० पृ० ३९५) कालविधान-चूलिका (पु० ११ पृ० १४० व २४१) तथा भावविधान-चूलिका (पु० १२ पृ० ७८, ८७ व २४१)।

से ५८० के द्वारा बाह्य वर्गणा की प्ररूपणा कर देने पर सूत्र ५८० की टीका के अन्त में धवलाकार यह कहते है—

एवं विस्सासुवचयपरूवणाए समत्ताए बाहिरिया वग्गणा समत्ता होदि। एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम, पुव्वं सूचिदअत्थाण विशेषपरूवणादो।

जिस अनुयोगद्वार से सम्बद्ध विषय की प्ररूपणा वहा न करके उसके पश्चात् जिस प्रकरण के द्वारा की जाती है वह उस अनुयोगद्वार का 'चूलिका' अधिकार कहा जाता है[1]।

प्रकृत ग्रन्थ मे ऐसे प्रकरणों की सूचना सर्वत्र धवलाकार ने ही अपनी धवला टीका मे की है[2]—मूल ग्रन्थकार ने स्वयं अन्यत्र कहीं भी सूत्र द्वारा वैसा निर्देश नहीं किया।

ऊपर जो थोड़े-से पाठभेद दिखलाये गये हैं वे सब मात्र मूल सूत्रों से सम्बद्ध हैं, ऐसे पाठभेद धवला में तो स्थान स्थान पर उपलब्ध होते हैं।

१. का चूलिया? सुत्तसूइदत्थपयासण चूलिया णाम। *धवला पु० १० पृ० ३९५, कालविहाणेण सूचिदत्थाणं विवरणं चूलिया।* जाए अत्थपरूवणाए कदाए पुव्वपरूविदत्थम्मि सिस्साणं णिच्छओ उप्पज्जदि सा चूलिया त्ति भणिद होदि। धवला पु० ११ पृ० १४०

२. *यथा*—संपहि एत्तो उवरि चूलियं भणिस्सामो। धवला पु० १२ पृ० ७८; सपहि बिदियचूलिया-परूपणट्ठमुत्तरसुत्त भणदि। धवला पु० १२ पृ० ८७।

खजुराहो का घण्टइ मन्दिर

गोपीलाल अमर एम० ए०

घण्टइ मन्दिर खजुराहो ग्राम के दक्षिण-पूर्व मे जैन समूह से एक कि० मी० की दूरी पर स्थित है। ४५'× २५' के अधिष्ठान पर १४' ऊँचे १२ स्तम्भों द्वारा निर्मित अर्धमण्डप और महामण्डप के रूप मे अवशिष्ट 'इस मन्दिर-कंकाल मे किसी समय अन्तराल और गर्भगृह तो थे ही, अनुपम साज-सज्जा और शिरोमणि सौन्दर्य भी था जिसका अनुमान इसके आसपास के अवशेषो से होता है[1]।' श्री स्मिथ ने 'दीवारों को सहारा देनेवाले ग्रेनाइट पत्थर के बाहरी स्तम्भों की परीक्षा की जो तब दीवारों में चिन दिये गये थे[2]।' उन्होने सपूर्ण भवन का नाप लेकर रेखा-चित्र भी तैयार किया था। दीवारों में चिने गये स्तम्भों पर विशालाकार एकप्रस्तरीय महराबें थीं जिन पर मन्दिर का ऊपरी भाग आधारित था। बाहरी होने से ये स्तम्भ सादे थे पर भीतरी स्तम्भ अलंकृत है। सभी स्तम्भ २४ थे[3]'। जिनसे २४ तीर्थंकरों का स्मरण हो जाता है। प्रत्येक स्तम्भ मे एक-एक दीवालगीर कदाचित् एक-एक तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित करने को ही बनाया गया था।

'इस ओर पार्श्वनाथ मन्दिर के आकार-प्रकार की समानता से प्रतीत होता है कि ये दोनो मन्दिर मुख्य तत्त्वों की दृष्टि से, एक दूसरे से बहुत भिन्न नही हो सकते। दोनों में से घण्टइ अपेक्षाकृत बड़ा और कुछ

१ ब्राउन, पर्सी इंडियन आर्किटेक्चर, भाग १, पृ० ११३।

२ जनरल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, (१८७९), जिल्द ४६, भाग १, पृ० २८५।

३ जनरल आफ ए० सी० आफ बं०, वही।

अधिक विकसित लगता है और उसी के अनुकरण पर कुछ बाद में बना होगा५।' 'उसे, अतएव, मूर्तिकला और स्थापत्य के प्रकार के आधार पर दसवीं शताब्दी के अन्त का माना जा सकता है, जिसका समर्थन अभिलेख सबंधी प्रमाणों द्वारा होता है६।

स्तम्भों पर झूमती हुई घण्टियों और क्षुद्र घण्टिकाओं की अद्भुत सयोजना के कारण ही इसे घण्टइ मन्दिर कहते हैं। अभी अभी श्री नीरज जैन ने बताया है कि इसे 'घण्टइ मन्दिर' नाम उसके निर्माण काल में ही प्राप्त हो गया था। उन्होंने खजुराहो के पुरातत्व संग्रहालय मे कुछ ऐसी जैन मूर्तियाँ भी देखी हैं जिनपर 'घण्टइ' शब्द उत्कीर्ण है और जो उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं यह मन्दिर। वैसे यह प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित किया गया होगा; क्योंकि इसके महामण्डप के प्रवेश द्वार के ललाटबिम्ब पर उनकी यक्षी, अष्टभुजी गरुड़वाहिनी चक्रेश्वरी७ स्थित है, इसके अतिरिक्त, श्री कनिंघम को इस मन्दिर के पास आदिनाथ की एक मूर्ति भी मिली थी८ जो इस मन्दिर की मूल प्रतिमा रही होगी। चौवीस तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ ही सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। 'जैनेतर जनता में इनकी विशेष ख्याति है। कहीं कहीं तो जैनों का मतलब ही पार्श्वनाथ का पूजक समझा जाता है९। परन्तु खजुराहो मे, इसके विपरीत, आदिनाथ की लोकप्रियता सर्वाधिक थी; क्योंकि यहाँ के अपने प्राचीन रूप में प्राप्त होनेवाले सभी जैन मन्दिरों मे उन्ही की प्रतिमा मूल नायक के रूप मे थी। पार्श्वनाथ मन्दिर मे मूलनायक के रूप मे आदिनाथ की प्रतिमा थी जिसका चिह्न वृषभ आज भी मूलनायक (पार्श्वनाथ) की पादपीठ पर उत्कीर्ण है। किसी कारण से उसका स्थान रिक्त हो जाने से लगभग १०० वर्ष पूर्व उस रिक्त स्थान पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की गई थी१०। आदिनाथ११ और शान्तिनाथ१२ मन्दिरों में तो आदिनाथ ही मूलनायक के रूप में विराजमान है।

अपनी प्रथम यात्रा में श्री कनिंघम इसे बौद्ध मन्दिर मान बैठे थे; क्योकि (१) इसमें ग्रेनाइट और बलुवा पत्थर का उपयोग किया गया है जो उन दिनों प्राय. बौद्ध मन्दिरों में ही उपयोग में लाया जाता था, (२) उन्हें इस मन्दिर के पास बुद्ध की एक मूर्ति भी प्राप्त हुई थी और (३) उन्हें एक चतुर्भुजी मूर्ति भी प्राप्त हुई थी जो उनके अनुसार बौद्ध देवी धर्मा१३ हो सकती थी१४। परन्तु पाँच वर्ष बाद, १८७६-७७ मे वे श्री फर्गुसन के साथ यहाँ पुन: आये और तब, मन्दिर के चारों ओर मूर्तियों और सामग्री की परीक्षा करके उन्होंने इसे जैन मन्दिर स्वीकार किया१५। सन् १८७९ में श्री स्मिथ ने भी उनका मत स्वीकार किया१६।

घण्टइ मन्दिर की प्रसिद्धि का सबसे बडा कारण है उसके स्तम्भ, जिनका अलकरण अद्भुत और भव्य बन पड़ा है। कीर्तिमुखों से झूमती हुई मालाएँ कही परस्पर गठबन्धन कर रही हैं तो कही प्रतिमास्थानोंको आलिङ्गन पाश में लेने का प्रयत्न-सा कर रही है। प्रतिमास्थानों मे कही साधु अङ्कित हैं तो कही मिथुन और कहीं विद्याधर। मालाओं की शृंखलाबद्ध और मण्डलाकार पंक्तियों से कीर्तिमुखो से झूमती हुई क्षुद्र घण्टिकाओं की मालाए

---

५ कृष्णदेव : दि टेम्पल्स आफ खजुराहो : ऐंश्येंट इडिया, भाग १५, पृ० ६०।

६ वही।

७ आगे देखिये टिप्पणी संख्या २२।

८ एनुअल रिपोर्ट्स, आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, भाग १०, पृ० १६।

९ शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र, जैनधर्म, (१९५५) पृ० १५।

१० एनुअल रि० भाग २, पृ० ४३२ और आगे।

११ इस मन्दिर के मूलनायक आदिनाथ की वर्तमान प्रतिमा प्राचीन नहीं है पर वह प्राचीन प्रतिमा भी आदिनाथ की ही रही होगी जिसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनपर फिर कभी प्रकाश डालूंगा।

१२ इसका नाम शान्तिनाथ मन्दिर होनेपर भी इसमें मूलनायक के रूपमें आदिनाथ ही विराजमान हैं। इस विरोधाभास पर भी फिर कभी प्रकाश डालने का विचार है।

१३ बौद्ध देवताशास्त्र में धर्मा नाम की कोई देवी नहीं है।

१४ एनुअल रि०, भाग २, पृष्ठ ४३१।

१५ वही, भाग १०, पृष्ठ १।

१६ जनरल आफ ए० सी० आफ ब०, वही।

उलझ रही हैं। कारनिस में अत्यन्त मनोहर नक्काशी है। लघुकाय दृश्यावलियाँ रोमाञ्चकारी चेतना प्रदान करती है। उनसे प्रकृति की सशक्त गति का बोध होता है। यदि इन स्तम्भों की संख्या कुछ अधिक होती तो श्री फर्गुसन के अनुसार उनकी पृथक् शैली मानी जा सकती थी[१७]। मौर्य युग से मध्य युग तक उत्तरोत्तर विकाश करती हुई स्तम्भों की परम्परा मे कही भी, घण्टइ मन्दिर के स्तम्भों की उपमा नहीं मिलती। उड़ीसा के स्थापत्य में तो स्तम्भों का कोई महत्त्व ही नही है। दूसरी विशेषता यह है कि अर्धमण्डप और यहाँ तक कि महामण्डप को भी आधार देने के लिए स्तम्भो का उपयोग सर्वप्रथम खजुराहो[१८] में ही किया गया है[१९]।

विद्यमान स्तम्भों की चौकियाँ अष्टकोण और शीर्ष गोलाकार है। ये बलुवा पत्थर के बनाये गये हैं क्योंकि इन पर मण्डप का साधारण भार ही रहना था। प्रवेश द्वार के दोनों ओर के स्तम्भ दीवाल मे चिन दिये गये हैं। अर्धमण्डप के चारों स्तम्भों मे उच्चकोटि का प्रतीकात्मक अलंकरण है। इन स्तम्भो और महामण्डप के उत्तर-दक्षिणी-स्तम्भ में काफी समानता है। अनेक स्तम्भों की चौकियों को अलंकृत करनेवाली पत्राकार रचना विशेष रूप से दर्शनीय बन पड़ी है। प्रथम दो स्तम्भों के शीर्ष निश्चय ही विशेष प्रकार के बनाये गये थे कि उनपर पूर्व से आनेवाली बडेरे रखी जा सके; क्योंकि मेहराब का अलंकरण वहाँ पहुँचते ही सहसा रुक जाता है और वहाँ सिर्फ उतना ही स्थान छोड दिया जाता है जितना बड़ेर को रखने के लिए आवश्यक होता है।

मन्दिर के चतुष्कोण कक्ष की छत में अत्यन्त सूक्ष्म और भव्य अलकरण है। इसके बहिर्भाग को सुन्दरतम बनाने मे कलाकार को पूर्ण सफलता मिली है। परन्तु जहाँ तक मण्डप के अन्तर्भाग का प्रश्न है, चालुक्य शैली के मण्डप ही सुन्दरतम प्रतीत होते हैं जिनके मध्य में श्रेष्ठ अलंकरणों के साथ, एक पूर्ण विकसित पद्म का अंकन होता है। पद्म के चारों ओर का ढाल साधारण दृष्टि में नही आता अत. उस पद्म का उभार और भी स्पष्टतर हो उठता है। वहाँ अलंकरण के नाम पर, अतिरिक्त अंश को कोर कर ही काम नहीं चलाया गया बल्कि उसे काट कर ही अलग कर दिया गया है जिससे उसमें भव्यता का संचार हो पडता है। यह विशेषता घण्टइ मन्दिर में तो नही ही है, खजुराहो के प्रायः सभी मन्दिरो मे नहीं है[२०]। इस छत की, बल्कि खजुराहो के सभी मन्दिरो की छत की समानता हम आबू के जैन मन्दिरों की छत में पाते हैं। देवगढ के कुछ मन्दिरों मे छत की इस शैली के प्रारम्भिक चिह्न दीख पडते हैं। यह भी सभव है कि खजुराहो के स्थपति ने आबू के या राजपूताना के ही अन्य जैन मन्दिरों से ही यह शैली ग्रहण की हो। पर यह कहना तो नितान्त भ्रम होगा कि छत का यह आदर्श अनाडा और कोरदोवा के इस्लामी स्मारकों से लिया गया है, क्योकि जिनके माध्यम से उक्त आदर्श की खजुराहो तक पहुँचने की सम्भावना थी उन मुस्लिम शासको का प्रथम आगमन यहाँ परमर्दिदेव (११६५-१२०२) के शासनकाल में हुआ था जब यहाँ के सभी मन्दिर बन चुके थे[२१]।

अर्धमण्डप की छत भी जो अब टूट गई है, अपेक्षाकृत सुन्दर नही बन सकी है क्योकि यहाँ भी उसी प्रकार कोर कर ही काम चलाया गया है। अलकरणों के प्रतीक महा-मण्डप के समान है जिनके चारों कोणो पर सुसज्जित विभिन्न आकारों के तोरण निर्मित हैं। खजुराहो के अन्य मन्दिरों की भाँति यहाँ भी नृत्य-संगीत की मण्डलियां बहुत हैं। किन्तु यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यहाँ कोई भी आकृति मैथुन-मुद्रा में नही है। अनेकों संयो-जनाओं से छत मे एकरूपता आ गयी है। छत की सन्धियों में उभरी हुई नक्काशी की गयी है जिसके बीच-बीच में समतल चतुष्कोण आते गये है जिससे दर्शक भव्य आनन्द में शराबोर हो जाता है।

---

१७ हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृष्ठ २४७।

१८ केवल स्तम्भों पर आधारित मन्दिर, इससे बहुत पहले देवगढ़ मे निर्मित होने लगे थे।

१९ गांगुलि, ओ०सी०, दि आर्ट आफ चन्देलस, पृ० २१।

२० श्रीमती जन्ना और श्रीमती एव्वायार, खजुराहो, पृ० १४२।

२१ गांगुलि, ओ०सी० : वही पृ० १८-१९।

महामण्डप का प्रवेश द्वार तत्कालीन स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है। आयताकार बड़ेर एक ही पत्थर की है और द्वारपक्ष पर आधारित है। द्वारपक्ष समानान्तर प्रसार पट्टिकाओं से बने हैं जिनके विविध अलंकरण दर्शनीय हैं। द्वारपक्षों पर नीचे खड़ी आकृतियाँ अंकित की गई हैं, यह पद्धति समूचे भारतीय स्थापत्य में कम-से-कम गुप्त युग तक देखी जा सकती हैं। द्वार की चौखट एक आयताकार सोपान पर स्थित है। इसमे अत्यधिक नक्काशी और अलंकरण है। चौखट के नीचे का भाग एक ऊँची सीढ़ी का काम भी करता है। उसकी ऊंचाई से पूरे द्वार के विस्तार में ऊंचाई आ गयी है। उसमें एक बहुत ही सुन्दर पुष्पाकृति का अलंकरण है। उसके दोनों ओर देवताओं और दोनों कोणों पर एक-एक हाथी का अंकन है। चौखट का ऊपरी भाग दो भागों में विभक्त है। उसके मध्य में एक प्रतिमास्थान है, जिसमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की अष्टभुजी२२ चक्रेश्वरी स्थित है। श्रीमती जन्ना और श्रीमती एब्वायर इसे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की यक्षी निर्वाणी मानती है२३ जो उचित नहीं; क्योंकि (१) तिलोयपण्णत्ती, वास्तुशास्त्र और प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार किसी भी तीर्थंकर की यक्षी का नाम निर्वाणी नहीं है, (२) शान्तिनाथ की यक्षी का नाम तिलोयपण्णत्ती२४ के अनुसार मानसी और वास्तुशास्त्र२५ और प्रतिष्ठासारोद्धार२६ के अनुसार महामानसी हैं।

चौखट के ऊपरी भाग के दोनों छोरों पर एक-एक प्रतिमास्थान हैं और ये मध्यवर्ती प्रतिमास्थान से छोटे है। इनमें विभिन्न तीर्थंकरों का अंकन हुआ है। चौखट के ऊपरी भाग के ही बायें पार्श्व में नवग्रहों का अंकन है। नवग्रहों के इस अंकन और दक्षिण भारत मे प्रचलित अंकन मे कुछ सूक्ष्म अन्तर है२७। दायें पार्श्व में पशु-मस्तकों वाली आठ आकृतियाँ हैं जो खण्डित होने से पहिचानी नहीं जा सकती। चौखट के ऊपर तीर्थंकर की माता२८ के सोलह मङ्गलस्वप्न उत्कीर्ण है। मङ्गलस्वप्नों की मान्यता भारत मे बहुत प्राचीन काल से है। छान्दोग्य उपनिषद मे लिखा है कि 'वह स्त्री को देखे तो समझ ले कि कार्य सफल हो गया। जैसा कि इस श्लोक मे लिखा है. जब अभीष्ट कार्यों को हाथ मे ले चुकने पर स्वप्न मे स्त्री दिखे तो उस स्वप्न के निमित्त से समझ ले कि उन कार्यों में सफलता मिलेगी ही२९। महावीर-पूर्व काल मे स्वप्नों का फल बतानेवाले व्यक्ति निमित्तपाठक कहलाते थे। आजीवक संप्रदाय मे निमित्तशास्त्र बहुत लोकप्रिय था। ईस्वीपूर्व प्रथम शताब्दीमे कालकाचार्य ने इन्ही से निमित्तशास्त्र मे पूर्ण विद्या प्राप्त की थी३०। अगविज्जा नामक (लगभग ६०० ई०) एक महत्वपूर्ण जैनग्रन्थ में निमित्त विद्या का वर्णन है। श्वेताम्बर जैन मान्यता के अनुसार भगवान महावीर जब देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में

२२ प्रतिष्ठासारोद्धार (अध्याय ३, श्लोक १५६) के अनुसार चक्रेश्वरी के १६ हाथ और वास्तुशास्त्र (भाग २, पृ० २७२) के अनुसार उसके १२ हाथ होना चाहिये। परन्तु खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर और संग्रहालय तथा छतरपुर के गांधी स्मारक संग्रहालय और देवगढ़ आदि मे इस यक्षी को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। उसके हाथों की विभिन्न सख्याओ और उनमे धारण की गई वस्तुओ की विविधता को देखकर यह धारणा प्रबल होती है कि कलाकार शास्त्रीय विधानों का बहुत अधिक कायल नही था।

२३ खजुराहो, पृ० १४३।

२४ भाग १, महाधिकार ४, गाथा ९३७-३९।

२५ भाग २, पृ० २७१-७२।

२६ अध्याय ३, श्लोक १५६-१७८।

२७ शिवराममूर्ति, प्रो०सी० : क्रानालाजिकल फेक्टर्स इन इण्डियन आइकोनोग्राफी : ऐंश्येंट इण्डिया, भाग ६।

२८ साधारण लेखको की धारणा है कि मङ्गल स्वप्न महावीर की माता त्रिशला ने ही देखे थे जब कि यह विशेषता सभी तीर्थंकरों की माताओ की है।

२९ 'स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्ध कर्मेतिविधात्।
तदेष श्लोक. :
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्ध तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने॥'
छान्दोग्य उपनिषद्, २, ७-८।

३० शाह, उमाकान्त प्रेमानन्द : स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० १०५, टि० १।

अवतीर्ण हुए तो उन्हें चौदह स्वप्न दिखे थे[३१] और जब देवों ने उन्हें क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ मे स्थानान्तरित कर दिया तो उसने भी वही चौदह स्वप्न देखे[३२]। प्रात त्रिशला ने इन स्वप्नों की बात अपने पति सिद्धार्थ से कही तो उन्होने निमित्तपाठको को बुला कर इन स्वप्नों का फल बताने का आदेश दिया था। दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार इन स्वप्नों की संख्या सोलह होती है और उनका अर्थ सिद्धार्थ स्वय बताते है, निमित्तपाठकों को नहीं बुलाते[३३]। सोलह स्वप्नों के दृश्य, खजुराहो में इस मन्दिर के अतिरिक्त आदिनाथ और शान्तिनाथ मन्दिरो मे भी उत्कीर्ण हैं। देवगढ के शान्तिनाथ मन्दिर और आबू के खरतरवसहि मे भी इन्हे देखा जा सकता है। गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर मङ्गल स्वप्नों को उत्कीर्ण करने की परम्परा आज विद्यमान है[३४]। काष्ठफलकों पर भी इन्हें उत्कीर्ण कराया जाता था[३५]। पाण्डुलिपियों मे[३६] और उनके काष्ठआवरणों और दीवालों आदिपर इन्हें चित्रित करने की परंपरा, विशेषतः श्वेताम्बरो में बहुत रही है[३६]।

घटइ मन्दिर, श्री कँवरलाल के शब्दों मे 'आज, हजार वर्ष बाद, एक खंडहर के रूप मे शेष है तथापि खजुराहो के स्मारको मे वह सर्वाधिक सुरुचिपूर्ण और परिष्कृत दृश्य उपस्थित करता है[४०]।'

३१ कल्पसूत्र (जैकोबी), सूत्र ३, पृ० २१६।

३२ वही, सूत्र ३१-४३, पृ० २३६ ३८।

३३ (१) महापुराण (आदिपुराण), सर्ग १२, श्लोक १०१-१६। (२) हरिवशपुराण, सर्ग ८, श्लोक ५८-७४।

३४ दि० जैन बुघूव्या का मन्दिर, बडा बाजार, सागर की दूसरी मंजिल के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर यह दृश्य सुन्दरता से अकित है।

३५ यह फलक श्री पांड्यागृह, पाटन, उत्तर गुजरात में सुरक्षित है।

३६ (१) जैनचित्रकल्पद्रुम, आकृति ७३।
(२) कुमारस्वामी, आनन्द के० : कैटलाग आफ दि इण्डियन कलेक्शस इन दि बोस्टन म्यूजियम, जिल्द ४, आकृतियां १३-३४।
(३) पवित्र कल्पद्रुम, आकृतियाँ १७, २२।

३७ कलेक्शस आफ प्रवर्तक श्री कान्तिविजय : जे आइ एस ओ ए, जिल्द ५ पृ० २-१२, और सम्बद्ध फलक।

३८ णिरयावलियाओ, २, १, पृ० ५१ पर उल्लिखित।

३९ स्वप्नों की सोलह की सख्या से निश्चय होता है कि यह मन्दिर दिगम्बर जैनों से सम्बन्ध रखता है।

४० इम्मार्टल खजुराहो, पृ० २२२।

स्व-स्वरूप में रम

चेतन ! चिन्तन कर स्वरूपका, गहराई से मनन कर। तू कहाँ भटक रहा है। कहाँ निवास कर रहा है, जड़ पदार्थ मे तेरी इतनी ममता क्यों है ? वह चर्म चक्षुओ से ही अच्छा लग रहा है। जब मैं तेरे इतिहास का अवलोकन करता हूँ तो हृदय कराह उठता है, तू अनादि काल से जड़ के अधिकार मे पल रहा है। अपने स्वरूप को भूल कर इसी के साथ प्यार कर रहा है। इसी को देख-देख कर तू दीपक मे पतग की भाँति मोहित हो रहा है, इसी की सार सभाल मे पागल बन रहा है। मृग तृष्णा की भाँति इसी के पीछे दौड रहा है।

कभी तूने सोचा भी है कि यह मेरा नही है, फिर इसमे क्यो मुग्ध बनूं ? परन्तु तू तो उसी के चक्कर मे फस रहा है। अपना ज्ञानानन्द स्वभाव छोड़ कर, पर-स्वभाव मे रमण कर रहा है इसी से तू दुःख का पात्र बन रहा है। जब अज्ञानी अपने मूल स्वभाव को छोड़ कर पर की सगति करता है तब उसे जलना पड़ता है। अग्नि लोहे की संगति के कारण हथोड़ों की चोटे सहती है, यही गति आज तेरी हो रही है। अब तो संभल, पर को छोड़ कर स्वरूप में स्थिर हो, तभी तेरा कातिमान चिदानन्द स्वरूप झलक उठेगा।

बंगाल का गुप्तकालीन जैन ताम्र-शासन

स्व० बाबू छोटेलाल जैन

बंगाल के राजशाही जिले में बदलगाछी थाने के अन्तर्गत और कलकत्ता से १८६ मील उत्तर की ओर जमालगञ्ज स्टेशन से ३ मील पश्चिम की ओर पहाड़पुर है। यहां एक प्राचीन मन्दिर के ध्वंशावशेष ८१ बीघो में हैं जिनके चारों ओर इष्टकानिर्मित प्राचीर है। इनके मध्य का टीला बहुत बड़ा होने से गांववाले इसे 'पहाड़' के नाम से पुकारने लगे, और इसी से यह स्थान पहाड़पुर कहा जाने लगा।

इसके निकट नदीतल के चिन्ह उपलब्ध हुए है, इससे प्रकट होता है कि यहाँ पहले नदी बहती थी। इसके ध्वंश का एक कारण बाढ़ है; क्योंकि इसकी शून्य वेदिया और अन्य व्यवहार्य सामग्री की अनुपलब्धि यह प्रमाणित करती है कि यह स्थान एकाएक परित्यक्त नहीं हुआ था। दूसरा कारण १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब मुसलमानों ने बगाल पर आक्रमण किया तब अन्य अनेक हिन्दू मठ-मन्दिरो के साथ-साथ इसका भी ध्वंश किया जाना है।

इस टीले में सबसे प्राचीन ध्वंशावशेष गुप्ताब्द १५६ का एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है। यहाँ से उपलब्ध विभिन्न सामग्री की परीक्षा और मनोभिनिवेश से यह ज्ञात होता है कि एक समय पहाड़पुर जैन, ब्राह्मण और बौद्ध—इन तीनों महान् धर्मों का उन्नतिवर्द्धक केन्द्र था। इसलिये अविच्छिन्न और धारावाहिक यात्रियों का दल पहाड़पुर के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करता था और भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से इस पवित्र स्थान पर अनेक छात्र विद्याध्ययन के लिये आते थे। यों तो यह स्थान बहुत प्राचीन था, पर पञ्चम शताब्दी के पूर्वार्द्ध से दशम शताब्दी तक इसकी प्रख्याति अतिशय रूप में थी।

यहां से उपलब्ध लेखों (ताम्रशासन और मृण्मय मुद्रिकासमूह Sealings) से भिन्न-भिन्न दो समय के दो विहारो के अस्तित्व की सूचना मिलती है।

इस गुप्ताब्द १५६ (सन् ४७८-७६) के ताम्र शासन में वटगोहाली ग्रामस्थ श्री गुहनन्दी के एक जैन विहार का उल्लेख है। इसमें पौण्ड्रवर्द्धन के विभिन्न ग्रामो में भूमि क्रय कर एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा वटगोहाली के जैन विहार के लिये दान किया जाना लिपिबद्ध किया गया है। पहाड़पुर से संलग्न पश्चिम की ओर अवस्थित यह वटगोहाली वर्तमान का 'गोआलभीटा' ग्राम है और इस ग्राम में इस मन्दिर की सीमा का कुछ अश अवस्थित है।

सन् १८०७ मे डाक्टर बुकानन हैमिलटन को यह टीला (जिसके अन्दर से यह मन्दिर निकला है) "गोआलभीटा का पहाड़" के नाम से बताया गया था। इस लेख में उल्लिखित वटगोहाली का जैन विहार निश्चय से पहाड़पुर के इस मन्दिर के मूलस्थान पर अवस्थित था और वटगोहाली से ही गोआलभीटा हो गया मालूम होता है।

ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी के उत्तर बग मौर्यों के शासनाधिकार मे था और पुण्ड्रवर्द्धन नगर में उनका प्रान्तीय शासक रहता था। गुप्तकाल मे भी बगाल के इस प्रान्त की राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन थी। आजकल जो स्थान महास्थान के नाम से प्रसिद्ध है, उसे ही प्राचीन काल मे पौण्ड्रवर्द्धन कहते थे। पहाड़पुर महास्थान से उत्तर-पश्चिम की ओर २६ मील पर और बानगढ़ (प्राचीन कोटिवर्ष) से दक्षिण-पूर्व की ओर ३० मील पर अवस्थित है। इन दोनों प्रधान नगरो के निकट इस मदिर को स्थापित करने का आशय यह था कि त्यागीगण नगरों से बाहर एकान्त में रह कर शान्ति से धर्मलाभ के साथ-साथ विद्याध्ययन करे और नगर-निवासियों को भी धर्मोपदेश का लाभ मिलता रहे। दूसरे उस समय पौण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष जैनाचार्यों के प्रधान पट्टस्थान भी थे। उस

समय वहाँ जैनों का ही पूर्ण प्राधान्य था।

गुप्त साम्राज्य के प्रभुत्व काल में भी यद्यपि जैनों की ही प्रधानता रही, पर साथ-साथ ब्राह्मण-प्रभाव भी धीरे-धीरे बढ़ता रहा; किन्तु बौद्धों का प्रभाव यहाँ बहुत ही कम था। इसका अनुमान चीनी यात्री के वर्णन से भली भाँति हो जाता है तो भी उस युग मे यहाँ का वातावरण पूर्णत: सहिष्णुता का था, कारण यहाँ जैन, बौद्ध और हिंदू तीनों ही सम्प्रदायो की प्राचीन सामग्री प्राप्त हुई है।

षष्ठ शताब्दी के किसी समय में इस मन्दिर के वृद्धिकरण की आयोजना प्रारम्भ की गई थी और अट्टालिकाओंकी ऊचाई को बहुत बढ़ाया गया जिससे सम्भवत: मध्यस्थित प्राचीन अट्टालिका आच्छादित हो गई।

छठी शती से गुप्तो का प्रभाव क्षीण होता गया और सप्तम शताब्दी के प्रारम्भ मे बगाल मे महाराजा शशांक का आधिपत्य हो गया। शशाक शैव धर्मावलम्बी था। उसने जैन और बौद्धो को बहुत ही सताया था। तो भी जैनों के पाँव यहाँ से नही उखड़े। तत्पश्चात् सप्तम शताब्दी में ही जब बंगाल में अराजकता का बोलबाला हुआ तब धीरे-धीरे यहाँ से जैनधर्म विलीन होता गया। वटगोहाली का यह श्री गुहनन्दी जैन विहार भी पौण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष की जैन सस्थाओ की भाँति क्षतिग्रस्त हुआ। पुन: जब यहाँ शान्ति हुई और पालराज्य सुदृढ़ता से अष्टम शताब्दी मे सुस्थापित हुआ, उस समय यह स्थान सोमपुर१ के नाम से प्रख्यात हो चुका था।

पाल नृपतियो का अधिकार ३५० वर्ष तक रहा। पाल राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। इनके समय में यहाँ जैनों की प्रधानता नष्ट हो गई और बौद्धों के प्रभाव ने जोर पकडा और इस जैन विहार पर उनका पूर्ण अधिकार हो गया।

ईसा की अष्टम शताब्दी के शेष भाग मे अथवा नवम शताब्दी के प्रारम्भ में पालवंश के द्वितीय सम्राट् महाराज धर्मपाल ने इसी विहार के ऊपर महाविहार निर्माण किया था, तब से यह स्थल धर्मपाल देव का "सोमपुर महाबौद्ध-विहार" के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस विहार की प्रख्याति सर्वत्र हो गई और यहीं 'दीप'कर नामक प्रसिद्ध बौद्धाचार्य ने भवविवेक के मध्यमक रत्नद्वीप का अनुवाद किया था। दशवी और ग्यारहवीं शताब्दी काल की भी इमारतें इस पर हैं।

पहाड़पुर के इस परकालीन बौद्ध मन्दिर से नगण्य जैन ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं, पर ब्राह्मण और बौद्धों के परवर्ती गुप्त काल के अनेक शिला पर अल्प-उत्तोलित-भास्कर कार्य (Basrelicfs) और दग्ध मृणमय पटरियां (Plagues, Terracottas) प्राप्त हुई हैं, जिनमें अनेक तन्त्रादिक कथा-साहित्य के प्राचीन उपाख्यानों को सूचित करनेवाले चित्र भी हैं। ऐसे जनसाधारण के पूज्य स्थान जहाँ पर सभी सम्प्रदायों के लोग एकत्रित होते हों, वहाँ ऐसे चित्रों को सजाने के काम में लाना अत्यावश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। इससे प्रकट होता है कि इनमे देवमूर्तियाँ हैं और वे खास पूजन की दृष्टि से नहीं लगाई गई हैं२। किसी समय विद्वेषवश जैन सामग्री वहाँ से अवश्य पृथक् कर दी गई है।

चीनी यात्री हुयेनसाग३ जो खृष्टीय सप्तम सताब्दी के पूर्वार्द्ध में पौण्डवर्द्धन में आया था। वहाँ का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि यहाँ एक सौ देव मन्दिर हैं। पर यहाँ निम्न-निग्रन्थ सब से अधिक हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम सताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो यह विहार निश्चय से जैन भिक्षुओं को आकर्षित करता रहा है। और उस समय इस स्थान पर बौद्ध मठादि नहीं थे३। हो सकता है कि अष्टम शताब्दी के लगभग कुछ काल पर्यन्त ब्राह्मणों का भी इस मन्दिर पर अधिपत्य रहा हो। तत्पश्चात् बौद्धों ने इस पर नूतन विहार और मठ निर्माण कर इसे अपना लिया और शेष तक उनका अधिकार यहीं रहा, यह ऊपर पाल वंश के वर्णन में बताया जा चुका है।

चीनी परिव्राजक के आगमन से १५० वर्ष पूर्व का यह ताम्रशासन जैनों के प्रभाव का केवल समर्थन ही नहीं करता है किन्तु यहाँ तक प्रमाणित करता है कि यह विहार

---

१. पहाड़पुर से दक्षिण की ओर एक मील पर अब सोमपुर ग्राम है, वही सोमपुर था।

२. Memoirs of A.S.I. No. 55 P. 58

३. Beals Budhist records of the Western World Vol. II, Page 195 (A.S.I. Memoirs No. 55 P. 3)

अति प्राचीन है और इसमे धारावह गुरु शिष्यों की परम्परा चली आई है आचार्य भद्रबाहु तथा उसके शिष्य गुप्तिगुप्त (विशाखाचार्य अर्हद्बलि) आदि प्रसिद्ध जैनाचार्यों का यह स्थान पुण्ड्रवर्द्धन और कोटि वर्ष में था। पुण्ड्रवर्द्धन के पट्टाचार्य मुनिसंघ का निग्रह अनुग्रह पूर्वक शासन करते थे और प्रत्येक पांच वर्ष के अन्त में सौ योजन क्षेत्र में निवास करने वाले मुनियों के समूह को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे४।

गुहनन्दी भी सम्भवतः भद्रबाहु की परम्परा के आचार्य मालूम होते हैं, आचार्यों के नंद्यान्त नाम प्राचीन काल से ही उपलब्ध होते हैं। अर्हद्बलि आचार्य ने नन्दी और पंचस्तूपान्वय स्थापित किया था। नन्दी वृक्ष के मूल से वर्षा योग धारण करने से नन्दी संघ हुआ। इसके प्रथमाचार्य श्री माघनन्दी थे। तृतीय और चतुर्थ शताब्दी के नन्द्यान्त नामों में यशोनन्दी, जयनन्दी, कुमारनन्दी आदि हैं।

विहार

सोमपुर (पहाड़पुर) के इस विहार को वृहदाकार और उन्नत वर्तमान अवस्था मे पहुंचाने का श्रेय बौद्धधर्मपरायण पांच सम्राटों को है। इसके चारों ओर प्रायः दो सौ कमरे हैं। अट्टालिका परिवेष्ठित प्रागण का परिमाण ९२२×९१९ फुट है। भारतवर्ष मे इतना बड़ा मठ कही भी नही मिला है। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण ३६१ फुट और चौड़ाई ३१९ फुट है। मन्दिर के तीन खड़ terraces हैं और पहिले और दूसरे खडों मे चैत्यागन (प्रदक्षिणामार्ग) है।

जिस प्रकार के नक्शे पर यह मूल मन्दिर निर्मित हुआ था, उस प्रकार का अन्य उदाहरण अभी तक भारतीय पुरातत्त्व को उपलब्ध नही हुआ है और न प्राचीन बौद्ध स्तूपों से इसका विकास ही माना जा सकता है। अतएव वही सम्भव है कि इस स्थल पर ही था इसके अति निकट जैनों का एक चतुर्मुख मन्दिर था इसकी पुष्टि यहाँ से उपलब्ध इस ताम्र शासन से भी होती है।५

भारतीय पुरातत्त्व विभाग के प्रसिद्ध प्रत्नतत्त्वविद श्रीयुत पं० काशीनाथ नारायण दीक्षित ने लिखा है६ कि कुशान कालीन मथुरा के जैन स्तूप (ककाली टीला) के अतिरिक्त उत्तर भारत में मध्य काल से पूर्व एक भी जैन अट्टालिका अभी तक नहीं मिली है। पहाड़पुर का परवर्ती गुप्तकालीन मन्दिर और प्रारम्भिक पाल कालीन विहार को मूल जैन मन्दिर का प्रसारण और वृद्धिकरण स्वरूप मान लेने से अनुमान होता है कि इस चार प्रवेश द्वार युक्त चतुष्कोण मन्दिर की वेदी चतुर्मुख थी जिसमें अर्हन्तों की चार मूर्तियाँ थीं और सम्भवतः मन्दिर से कुछ ही दूरी पर श्रमणों या जैनमुनियों के लिये एक मठ था। (चतुर्मुख या सर्वतोभद्र मन्दिरों का होना जैनों मे भिन्न-भिन्न काल और भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे प्रचलित था। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ फरगुसन साहब ने तो चतुर्मुख मन्दिरो को प्रधान जैन श्रेणी का कहा है७। चतुर्मुख या सर्वतोभद्र मन्दिरों की उत्पत्ति समवसरण से है। ऐसे उत्तरकालीन जैन मन्दिर अभी तक कई स्थानों मे उपलब्ध हैं।

पहाड़पुर के इस विहार से जैन ताम्रशासन के अतिरिक्त अक छोटी सी जिन मूर्ति (धातु की) उपलब्ध हुई है जिसके उभय पक्ष में दो अस्पष्ट मूर्तियां यक्षों या श्रावकों की है। अर्हन्त भगवान एक कमलासन पर खड्गासन से स्थित है। यह प्रतिमा गुप्त कालीन मालूम होती है।

अब महत्वपूर्ण आलोच्य ताम्र शासन ८ का परिचय प्रस्तुत किया जाता है :—

पहाड़पुर के प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर की खुदाई करते समय सन् १९२७ में पुरातत्व विभाग के पं० काशीनाथ नारायण को गुप्त सवत् १५९ (सन् ४७९) का यह ताम्रपत्र मिला था। प्रधान मन्दिर के दूसरे खण्ड (Jetrace) की प्रदक्षिणा के उत्तर पूर्व के मार्ग की मृतिका और भग्न

---

४. श्रुतावतार कथा श्लोक ८०–८७।

५. Memoris of A.S.I. No. 55 P. 7

६- Arch. Survey of India Report 1927-28 P. 38

७. Hist. of India Eastern Architet Vol. II P. 28

८. EPi. India Vol. XX P.P. 59-64

इष्टक राशि अपसारण करते समय यह ताम्रपत्र आविष्कृत हुआ था। इसकी प्राप्ति अवस्था सूचित करती है कि इस विहार की अन्तिमावस्था पर्यन्त वहा दफ्तर (Archines) मे यह सुरक्षित था।

इसकी कतिपय पक्तिया और अक्षर घिस गये हैं, तथा मजदूरो की असावधानी से भी ऊपर के दक्षिण कोने में एक छिद्र हो गया है। तो भी इस ताम्रपत्र की अवस्था अच्छी है। इसकी नाप ७। X ११। इच है और इसका वजन २६ तोला है।

इसकी लिपि उत्तरीय पंचम शताब्दी की है, भाषा सस्कृत है। अन्त के पाच अमगल प्रार्थी पद्यो के अतिरिक्त सारा लेख पद्य मे है।

पहाड़पुर का ताम्र शासन गुप्ताब्द १५७ (सन् ४७९)

अग्रभाग

१. स्वस्ति [॥+॥] पुण्ड्र [वर्द्ध] नाद=आयुक्तक.१ आर्य्य-नगर श्रेष्ठि-पुरोगञ्च=अधिष्ठान्-अधिकरणम् दक्षिणाशक-वीथेय-नागिरट्ट-

२. माण्डलिक-पलाशा-पार्श्विक-वट-गोहाला - जम्मुदेव-प्रावेश्य-पृष्ठिम-पोत्तक-गोषा-टपुञ्जक-मूल - नागिरट्ट-प्रावेश्य-

३. नित्व-गोहालीषु ब्राह्मण्-ओत्तरान्=महत्तर-आदि-कुडम्बिन: कुशलम्-अनुवराण्य्=आनुबोधयन्ति [+] विज्ञापयत्य्=अस्मान्=ब्राह्मण-नाथ-

४. शर्म्मा एतद्-भार्य्या रामी च [।] युष्माकम् इह=अधिष्ठान्-आधिकरणे द्वि-दीनारिक्कय - कुल्यवापेन शश्वत्-काल-ओपभोग्य-आक्षय-नीवी-समुदय-व्राह्य-आ

५. प्रतिकर-खिल-क्षेत्र-वास्तु-विक्क्रयो=नुवृत्तस् = तद्=अर्हथ्=आनेन्=ऐव वक्रमेण=आवयोस्=सकाशाद्=दीनार=द्वयम्=उपसगृह्य=आवयो [स+]=स्व-पुण्य-आप्या-

६. यनाय वट-गोहाल्याम्=अव्२=आस्था=काशिक-पञ्चस्तूप-निकायिक३-निग्रन्थ-श्रमण-आचार्य्य-गुहनन्दि-शिष्य-प्रशिष्य्-आधिष्ठित-विहारे

७. भगवताम्-अर्हताम्-गन्ध-दीप-सुमनो-दीप्-आद्य-अर्थन्=तल-वाटक-निमित्तञ्=च अ (त) एव वट-गोहालीतो वास्तु-द्रोणवापम्=अध्यर्द्धान्=ज-

८. म्बुदेव-प्रावेश्य-पृष्ठिम्=पोत्तकेत्४ क्षेत्र द्रोण-वाप-चतुष्टयम् गोपा-टपुञ्जाद्=द्रोणवाप-चतुष्टयम् मूल नागिरट्ट-

९. प्रावेश्या-नित्व-गोहालीत: अर्द्ध-त्रिक-द्रोण-वापान्=इत्य=एवम्=अध्यर्द्धम् क्षेत्र-कुल्यावापम्=अक्षय० नीव्या दातुम्=इ[त्य्=अत्र] यत: प्रथम—

१०. पुस्तपाल-दिवाकरनन्दि-पुस्तपाल-धृतिविष्णु-विरोचन-रामदास-हरिदास-शशिनन्दि-षु प्रथमनु५...... [ना] म् अवधारण६—

११. य=आवधृतम् अस्त्य=अस्मद् अधिष्ठान्-आधि-करणे द्वि-दीनारिक्कय-कुल्यवापेन शश्वत् काल्-ओपभोग्य् -आक्षय-नीवी-समु, [द य-वा] ह्य-आप्रतिकर—

१२. [खिल+]-क्षेत्र-वास्तु-विक्रयो=तुवृत्तस्=तद्=यद=युष्माम्७=ब्राह्मण-नाथ-शर्मा एतद् भार्य्या रामी च पलाशाट्ट-पार्श्विक-वट-गोहालीस्थ८ (?)-य

१३. [काशि]......क=पंच-स्तूप-कुल-निकायिक-आचार्य्य-निग्रन्थ-गुहनन्दि-शिष्य-प्रशिष्य - आधिष्ठित-

+ EPI. Ind. Vol. XX P.P. 61-63 By K. N. Dikshit.

१ ताम्रपत्र मे युक्त का आर्य्य है—इस पाठ से सूचित होता है कि दो से अधिक आयुक्तक थे।

२. एव् पाठ पढ़ें। H. Shastri connects the Name with नव्यावकाशिका:

३. १३वी पंक्ति मे पञ्चस्तूप-कुल-निकायक है—अस्तु यहां भी इसी अर्थ का द्योतक है। यहा पाच निकायो का आशय नहीं है किन्तु यहा निकाय का अर्थ [जैनाचार्यों की] शाखा है। पच-स्तूप किसी स्थान का नाम होना चाहिये। श्रुतावतार कथा में सेनसंघ की उत्पत्ति इस प्रकार है कि जो मुनि पंचस्तूपों में से आये वे सेनसघ के नामधारी हुए।

४. इसमे त् अत्यधिक है।

५. इसके बाद कई अक्षर नष्ट हो गए है।

६. दामोदरपुर के शासन से मालूम होता है कि अवधारणया के पहले पुस्त पालों के नाम थे।

७. युष्मान् पढ़िए।

८. ऊपर की छठी पंक्ति से मिलान करें।

सद्–विहारे–अरहताम् ९ गन्ध [–धूप्]–आद्य–उपयोगाय

१४. [तल–व्+] आटक निमिताञ्=च तत्र्–ऐव वट–गोहाल्यां वास्तु–द्रोणवापम्=अध्य-र्द्धं क्षेत्राव्=जम्बु-देव–प्रावेश्य–पृष्ठिम-पोत्तके द्रोणवाप–चतुष्टयं

१५. गोषाट पुञ्जाद्=द्रोणवाप–चतुष्टयं मूल–नागि-रट्ट–प्रावेश्य–नित्व गोहालीतो द्रो-णवाप्–द्वयम्=आढवा [प द्व] य्-आधिकम्=इत्य्=एवम्=अ–

१६. ध्यर्द्ध क्षेत्र+कुल्यवापम्=प्रार्थयते=त्र न कश्चिद्=विरोधः गुणस्=तु यत्=परम–भट्टारक–पादानाम्=अर्थ=ओपचयो धर्म्म–षड्–भाग्–आप्याय–

१७. नत्–च भवति तद–एवन्=क्रियताम=इत्य=अनेन्=आवधारना × क्रमेण–आस्माद् – ब्राह्मण –नाथ – शर्म्मत एतद्–भार्य्या–रामियाश्–च दीनार–त्र

१८. यम्=आयीकृत्य=ऐताभ्या विज्ञापितक–क्रम्–ओपयोगाय्=ओपरि–निर्दिष्ट=ग्राम–गोहालि–केषु: तल वाटक–वास्तुना सहक्षेत्रं

१९. कुल्यवाप अध्यर्द्धो=क्षय–नीवी–धर्मेण दत्त: कु १ द्रो४ [।+] तद्=युष्माभि: स्व–कर्म्मण् × आविरोधिस्थाने षट्क नडेर्=अप

२०. विव्च्छय दातव्यो=क्षय–नीवी–धर्मेण च शश्वद्=आचन्द्र–आवर्क–तारक–कालम्=अनु–पालयितव्य इति[+] सम १०० ५० ९

२१. माघ दि७ [।+[उक्त न्–च भगवता व्यासेन [।+] स्व–दत्तां पर–दत्ता वा यो हरते वसुन्धराम् [।+]

२२. स विष्ठायां क्रिमिर१० भूत्वा पितृभिस्=सह पच्यते [।।+] षष्टि वर्ष–सहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिद. [।+]

२३. आक्षेप्ता च=आनुमन्ता च तान्य=एव नरके वसेत् [।।=] राजभिर्=व्वहु–भिर्=दत्ता दीयते च पुन पुनः [।+] यस्य यस्य

२४ यदा भूमि११ तस्य तस्य तदा फलम् [।।+] पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो य त्नाद्=रक्ष युधिष्ठिर [।+] महीम्=महिमताम् श्रेष्ठ

२५. दाना च्=छ्रेयोनुपालनं [।।+] विन्ध्य–आटविष्व्=अनम्बुषु शुष्क–कोटर–वासिन [।:] कृष्ण=आहिनो, हि जायन्ते देव–दायं हरन्ति ये [।।]

लेख का सारांश

नाथ शर्मा नामक ब्राह्मण और उसकी धर्मपत्नी रामी ने पुण्ड्रवर्द्धन के आयुक्तक (District offlcer) जिला अफसर और नगर श्रेष्ठी (Mayor) के निकट जा निवेदन किया कि स्थानीय प्रचलित रीत्यानुसार उनको दक्षिणांशक वीथी और नागिरट्ट मण्डल में अवस्थित चार विभिन्न ग्रामों की १।। कुल्यवाप भूमि के मूल्यस्वरूप तीन दीनार अधिष्टान अधिकरण (city council) में जमा करा देने की अनुमति दी जाय। क्योकि वटगोहाली के विहार के अर्हन्तों की पूजा के प्रयोजनीय चन्दन, धूप, पुष्प, दीप के निर्वाहार्थ तथा निर्ग्रन्थाचार्य गुहनन्दि के विहार में एक विश्राम स्थान निर्माण कराने के लिये यह भूमि सदा के लिये दान दी जायगी। इस विहार के अधिष्ठाता बनारस के पञ्चस्तूप निकाय सघ के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य प्रशिष्य हैं।

भूमि परिमाण

पृष्ठिम–पोत्तक, गोवाट पुञ्जक और नित्व गोहाली ग्रामों मे क्रमानुसार ४, ४ और २।। द्रोणवाप परिमाण क्षेत्र और वाट गोहाली की १।। द्रोणवाप परिमाण आवस-भूमि।

(अधिष्ठान अधिकरण) सभा ने प्रथम पुस्तपाल (Recordkeeper) दिवाकरनन्दि से परामर्श किया। पुस्तपाल ने बताया कि इस कार्य मे कोई आपत्ति नही है। दूसरे राजकोष मे कुछ आय प्राप्ति के अतिरिक्त इस दान से जो पुण्य होगा उसका षष्ठांश पुण्य महाराज को प्राप्त होगा, अस्तु सभा ने ब्राह्मण दम्पति के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और भूमि हस्तान्तर को लिपिबद्ध किया।

विभिन्न ग्रामों के (जहां ये क्षेत्र थे) प्रधानों को सभा ने क्षेत्रों की चौहद्दी निर्देश करने के लिये कहा।

इसकी तिथि माघ कृष्णा ७ गुप्ताब्द १५९ (सन् ४७९) है। अन्त मे प्रचलित अमंगल प्रार्थी पद्य है।

---

९. अर्हताम् × स्व-कर्षणा विरोधी स्थाने

१०. क्रमिर पढ़िए। ११. भुमिस पढ़िए।

इस ताम्र शासन से बंगाल के उस प्रान्त में प्राचीन-काल में भूमि क्रय और दान करने के लिये किस प्रकार की कार्य प्रणाली का उपयोग होता था, इसका परिचय भली भांति हो जाता है।

इच्छुक दानकर्ता आयुक्तक (District offleer) और अधिष्ठान अधिकरण (City council) के मुखिया नगर श्रेष्ठी (Mayor) के निकट गये और निर्धारित मूल्य पर दान के लिये भूमि बिक्री करने के लिये निवेदन किया। इस पर आयुक्तक और अधिष्ठान अधिकरण ने जिज्ञास्य विषय को मीमांसार्थ (जांच पडताल के लिये) पुस्तपाल+ (Recordkeepers) के हाथ मे अर्पण कर दिया। पुस्त-पाल ने आवश्यक अनुसन्धान कर (Transaction) सौदे के पक्ष में अनुमति देते हुए अपनी विवृत्ति (Report) पेश कर दी। *तत्पश्चात् शासन कर्तृ वर्ग ने प्रार्थी से आवश्यक* मूल्य वसूल कर लिया और उन गांव के मुखिया और अन्य गृहस्थों को सूचना दे दी कि भूमि को माप कर प्रार्थी को दे देवें।

इस दान पत्र में भूमि माप का परिमाण धान्य (बीज) के अनुसार है अर्थात् कुल्यवाप१। कुल्यवाप=८ द्रोण= ३२ आढक १२८ प्रस्थ। कुल्यवाप का आशय उतनी भूमि से है जितनी एक कुल्य धान्य (बीज) से बोई जाय। इस दान पत्र मे द्रोणवाप और आढ़ बाप भूमि माप भी है।

दानपत्र मे समय सं० १५९ माघ वदी० ७ लिखा है। यह संवत् सम्भवतः गुप्ताब्द है। जिस समय का यह दान पत्र है, उस समय बगाल मे गुप्ताब्द प्रचलित था। तद-नुसार गणना करने से जनवरी सन् ४७९ का यह लेख हैं।

+ एक पुस्तकपाल प्रधान होता था और उसके आधीन कई पुस्स्तपाल होते थे।

१. Api. India Vol. XU PP. 113-45

दानपत्र की सोलहवी पंक्ति में परम भट्टारक शब्द उस नृपति से सम्बन्ध रखता है जिसके शासन काल का यह दान पत्र है। पर इसमें उसका नाम नहीं है। दामोदरपुर१ के दानपत्रों से विदित है कि इस समय बुद्ध गुप्त के राज्यान्तर्गत पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति थी। अस्तु, बहुत सम्भव है कि इस दान पत्र के निरुल्लिखित नृपति बुद्धगुप्त ही थे। उनका राज्यकाल सन् ४७६ से ४९५ था।

पंच स्तूपान्वय

इस ताम्र शासन की की छट्ठी और १३वीं पंक्तियों में "काशीक पंचस्तूपान्वय" का उल्लेख हुआ है। जैन संघों के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अभी तक सन्तोषपूर्ण नही हुआ है। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि इस पंचस्तूपान्वय के संस्थापक पौण्ड्रवर्द्धन के श्री अर्हद्बल्या चार्य थे। आप अपने समय के बड़े भारी संघ नायक थे।

एक बार युग प्रतिक्रमण के समय उन्हें यह ज्ञात हुआ कि अब पक्षपात का जमाना आ गया है। उन्होने यह विचार किया कि मुनियों में एकत्व की भावना बढ़ाने से ही लाभ होगा। अतः आचार्य श्री ने नन्दि, वीर, देव, अपराजित, सेन, भद्र, पंचस्तूप, गुप्त गुणधर, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न-भिन्न सघ स्थापित किये१ अर्हद् बलिका समय वीर निर्वाण स० ७१३ के लगभग पं० जुगलकिशोर जी ने लिखा है२। किन्तु नन्दि सघ की पट्टावली के अनुसार उनका समय वीर निर्वाण स० ५९३ वर्ष होता है३।

१. श्रुतावतार (मा० ग्र० न० १३)
२. स्वामी समन्तभद्र पृ० १६१
३. भास्कर भाग १ किरण ४

आग में उबलते हुए पानी में जिस तरह मानव को अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, उसी तरह क्रोध से संतप्त मानव को आत्मा का शान्त स्वरूप भी दिखाई नहीं देता।

जैन दर्शन और निःशस्त्रीकरण

साध्वी श्री मंजुला

निःशस्त्रीकरण आज की अन्तराष्ट्रीय परिचर्चा का प्रमुख विषय है। क्योंकि आज सारा विश्व सहारक शक्ति से भयभीत और आशंकित है। लेकिन बाह्य वस्तु को शस्त्र मानना बहुत स्थूल बात है। वस्तुत: तो हिंसा के मनोभाव ही शस्त्र हैं। हिंसा के भाव उग्र हैं और शस्त्र पास में नही हैं तो हाथ के आभूषण या क्रीड़ा सामग्री या पूजा सामग्री भी शस्त्र का रूप ले लेगी और हिंसा के भाव क्षीण हैं तो तलवार और बाण भी निष्क्रिय पड़े रहेंगे।

निःशस्त्रीकरण शस्त्र परिज्ञा का आधुनिकीकरण है। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने शस्त्र-परिज्ञा का तत्त्व दिया जो निःशस्त्रीकरण का ही पर्याय है। आज का जन-मानस निःशस्त्रीकरण को वर्तमान युग की उपज मानता है और उसे राजनीति की पृष्ठभूमि पर फलित देखना चाहता है। लेकिन यह असभाव्य सा लगता है। क्योंकि निःशस्त्रीकरण धर्म, दर्शन या अभय की निष्पत्ति है और राजनीति कूटनीति की परिणति। तभी तो राजनैतिक क्षेत्र मे निःशस्त्रीकरण की भावनाएं फलित नहीं होती हैं। वहाँ कार्य के प्रति जितनी तीव्रता है, कारणों के प्रति उतनी ही उदासीनता है।

दर्शन की अपनी अलग प्रक्रिया है। वह कार्य की अपेक्षा कारणों के प्रति अधिक सतर्क रहता है। और यह उचित भी है। क्योंकि निःशस्त्रीकरण अहिंसा का परिणाम है, यह ठीक है लेकिन अहिंसा की भावना कैसे पनपे। अहिंसा क्या होती है? अहिंसक कौन होता है? अहिंसा क्यों की जाती है? हिंसा क्या होती है? क्यों की जाती है? हिंसक कौन होता है? हिंसा किन परिस्थितियों में की जाती है? इत्यादि परिपार्श्ववर्ती कारणों से अनपेक्ष रह कर निःशस्त्रीकरण को आकार नही दिया जा सकता।

भगवान् महावीर ने इन सब तथ्यों का उद्‌घाटन आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में बड़े मार्मिक ढंग से किया है। हिंसक और अहिंसक का विवेक देते हुए वहाँ कहा गया है कि हिंसक वह होता है जो रुग्ण होता है[1]। स्वस्थ व्यक्ति हिंसा नही करता। हिंसा वह करता है जो प्रमत्त[2]—आत्मविमुख होता है। आत्मोन्मुख व्यक्ति हिंसा नही कर सकता[2]। हिंसा वह करता है जो विषयार्थी होता है। विषय विमुख हिंसा किसलिए करे? हिंसा वह करता है, जो भयभीत होता है। अभय व्यक्ति हिंसा नही करता।

हिंसा वह करता है जो विषयास्वादि कुलि[3] और कृत्रिम होता है। सहज व्यक्ति हिंसा नहीं करता, हिंसा वह करता है जो आरम्भ में आसक्त है, अनासक्त व्यक्ति हिंसा नही करता।

व्यक्ति हिंसा क्यों करता है? यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसी प्रश्न के परिप्रेक्ष्य मे हम हिंसा के समग्र कारणों का तलस्पर्शी विवेचन प्राप्त कर सकते है।

आचारांग मे हिंसा के मुख्य पांच कारण बतलाए हैं—१ आसक्ति, २ प्रयोजन, ३ प्रतिशोध, ४ सुरक्षा ५ आशका।

ये पांचों ही कारण सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। बहुत से

---

१ आचाराग अ० १, उ० १, सूत्र ५

२ आ० श्रु० १, अ० १, उ० १, सूत्र ४

३ आचारांग अ १, उ ४, सूत्र ३
गुणासाते पकसमायारे पमत्ते आगार मावसे।

मम्मण जैसे व्यक्ति हैं जो बिना किसी प्रयोजन के रात-दिन हिंसा में ही रत रहते हैं[१]। ऐसी हिंसा आसक्ति जनित हिंसा कहलाती है। शारीरिक, मानसिक या अन्य किसी आवश्यकतावश जो हिंसा की जाती है, वह सह-प्रयोजन हिंसा कहलाती है। इसमें १५ कर्मादान, कृषि, व्यापार, गृह-कार्य आदि से अद्भुत सारी हिंसाए समाविष्ट होती हैं। जैसे कोई शरीर के लिए हिसा करता है[२]। कोई मांस के लिए हिसा करता है। कोई रक्त आदि के लिए हिंसा करता है। यह सब प्रयोजन हिंसा के ही प्रकार हैं।

प्रतिशोध भी हिंसा का बहुत बडा कारण है। बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिनमे सामान्यतया हिंसा के भाग नही जगते लेकिन जब कोई दूसरा व्यक्ति अनिष्ट कर देता है तो वे संतुलन खो देते हैं और दबी हुई हिंसक वृत्तियां उग्र रूप ले लेती हैं फिर उनके चिन्तन का कोण ही बदल जाता है। वे सोचते हैं कि अमुक ने हमारा अनिष्ट किया है, हमारे सम्बन्धी को मारा है[३], या हमें सताया है, इसलिए हम भी उसे मारेंगे। इसके विपरीत चिन्तन का अवकाश उन्हे नही, कोई कुछ करे हमे अपना आत्म-धर्म समझकर सहिष्णुता की साधना करनी चाहिए। प्रतिशोधजन्य हिसाएं सहिष्णुता के अभाव मे ही होती हैं।

सुरक्षा भी हिंसा का प्रबल कारण है और यह इतना अव्यवहारिक भी नहीं है। क्योंकि साधारणतया व्यक्ति किसी पर हाथ उठाना नही चाहता लेकिन जब सामने वाला चल कर आक्रमण करता है तो उस समय अहिसक रहना बहुत कठिन है। अपने बचाव के लिए सहज ही प्रत्याक्रमण के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। अमुक मुझे मारता है[१] अतः मैं भी उसे मारूंगा, यह सुरक्षा प्रेरित हिंसा है। बहुत से युद्धों का कारण की सुरक्षा ही है।

आशंका या भय वश भी व्यक्ति भयंकर हिंसाए कर लेता है। आशंकाजनित हिंसाए अनगिनत हो सकती हैं। क्योंकि आशंका मन ही कल्पना है और कल्पनाएं असीम हो सकती है। अमुक मुझे मार देगा[२], अमुक मेरा अनिष्ट कर देगा, अमुक मेरा धन हर लेगा, अमुक मेरा राज्य छीन लेगा, अमुक मेरे अहं को कुचल देगा। इत्यादि भविष्य की आशंकाएं व्यक्ति को अतर्कित हिंसा प्रयोग में नियोजित कर देती है।

हिंसा के इन कारणों के अतिरिक्त भी कुछ कारण है, जिससे मानव मन की सहज वृत्तियां अभिव्यंजित होती हैं। सायकोलोजी का यह सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि हरव्यक्ति महत्वाकांक्षी होता है। हर व्यक्ति बन्धन-मुक्ति का इच्छुक होता है। हर व्यक्ति दुःख प्रतिघात के लिए प्रयत्नशील रहता है। आचारांग में इन तीनों ही प्रवृत्तियों को हिसा के हेतु रूप में स्वीकार किया है। प्रवृत्तिमात्र कोई हिंसा नही है। लेकिन असम्यक् कर्म हिंसा है। अथक असत् उद्देश्य से जो कर्म किया जाता है, वह असम्यक् ही होता है। अतः उसे हिंसा मे ही परिगणित किया जाएगा। कभी-कभी और कहीं-कही उद्देश्य सम्यक् होते हुए भी साधन की विकृति कर्म को असम्यक् बना देती है। बहुत से व्यक्ति यश, पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए हिंसा करते है। यहां उद्देश्य और साधन दोनों विकृत है। कई व्यक्ति जन्म-मरण की परम्परा[३] से मुक्ति पाने के लिए हिंसा करते हैं। यहां साध्य पवित्र होते हुए भी साधनों की नितान्त कलुषता है। बहुत से व्यक्ति दुःख प्रतिघात[४] के लिए हिंसा करते हैं।

---

१. वही, अ० १, उ ७, सूत्र ७
आरंभ सत्ता पकरेंति सग।

२. वही, अ १, उ० ६, सूत्र ५
अप्पेगे अच्चाए वहंति

३. वही, अ० १, उ० ६, सूत्र ७
अप्पेगे हिंससु मेत्ति वा वहंति।

---

१. आचारांग, अध्ययन १, उद्देशक ६, सूत्र ७
अप्पेगे हिंसति मेत्ति वा वहति।

२. वही, अ० १, उ० ६, सूत्र ७।
हिंसि मंति मेत्ति वा वहंति

३. वही, अ० उ १, सूत्र ५

४. वही,

पूजा, प्रतिष्ठा, जन्म-मरण, मुक्ति और दुःखघात ये तीनों ही हिंसा के परिणाम नहीं हैं, फिर भी अनजान व्यक्ति हिंसा से ही इन ईप्सित चीजों को पाना चाहते हैं।

आग्रह और अज्ञान[१] भाव हिंसा के अनन्य कारण हैं। इसीलिए अज्ञान और अभिनिवेश महत्तर पाप माने गए हैं और सच तो यह है कि हिंसा के समग्र कारणों में बलवान कारण अज्ञान ही है। अज्ञान के अभाव में प्रतिशोध, आशंका, पूजा, प्रतिष्ठा आदि कारण नगण्य के बराबर हैं।

हिंसा जीवन की एक जटिल गांठ है[२]। जिसको सुलझाना बहुत कठिन है। हिंसा व्यामोह है। हिंसा-रत-व्यक्ति निर्णय की शक्ति नहीं रखता। हिंसा स्वयं के लिए जीते जी मृत्यु है और भयंकर नरक है हिंसक हिंसा के कारण और हिंसा के स्वरूप की इतनी स्पष्टता के बाद अहिंसक अहिंसा के कारण और अहिंसा के स्वरूप की व्याख्या आवश्यक नहीं। यह तो स्वतः फलित है—जो हिंसा के कारण नहीं है, वे अहिंसा के है। जो हिंसक वृत्तियों से या हिंसक के लिए बताए गए विशेषणों रुग्ण, प्रमादी, विषयार्थी आदि से अतीत है, वह अहिंसक है।

अहिंसा ही जीवन है, अहिंसा ही स्वर्ग है, अहिंसा ही स्वास्थ्य है। अहिंसा में स्पष्टता है। निर्णायकता है। पर अहिंसा की भूमिका अभय है। अभय के बिना अहिंसा का उद्भव और विकास दोनों ही असंभाव्य है। अहिंसक की साधना का प्रथम चरण अभय है। अभय की सुदृढ़ भित्ति पर ही अहिंसा का वृक्ष फलता-फूलता है।

अभय को साधना विधि का उत्कृष्ट आलम्बन जान कर उसपर अहिंसा को विकसित करता है और हिंसा से दूर होता हैं, वह कुशल है।

आतंक द्रष्टा—अर्थात् हिंसा जीवन के लिए पीड़ा-जनक है, ऐसा जो मानता जानता है, वह हिंसा में अहित देखता है और उसे न करने का संकल्प करता है[३]।

जब हिंसा के मनोभाव ही नहीं जागेंगे तो निःशस्त्रीकरण का प्रश्न स्वतः समाहित है। जिस निःशस्त्रीकरण के लिए आज विदेशों में गोष्ठियां बुलाई जाती हैं, वह जैन दर्शन का सहज फलित रूप है। जो आत्म-हित, देश हित समाजहित आदि सभी दृष्टियों से अत्युत्तम है। और जिसकी समुचित प्रकृतियां भी जैन-दर्शन ने संसार को दी है।

१. आचारांग, अध्याय १, उद्देशक २, सूत्र १

२. वही, अ० १, सूत्र ४
एस खलु गन्थे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नाइए

३. वही, अ० १, उ० ४, सूत्र १
अभय विदित्ता तं जे णो करए।

४. वही, उ० ७, सूत्र १
आयकदंसी अहियंति नच्चा।

ठगनी माया

सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछिताया ॥१॥
आपा तनक दिखाय बीज ज्यों, मूढमती ललचाया।
करि मद अंध धर्म हर लीनों, अन्त नरक पहुंचाया ॥२॥
केते कंथ किये तैं कुलटा, तो भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहि प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया ॥३॥
भूधर छलत फिरे यह सब कौं, भौंदू कर जग पाया।
जो इस ठगनी कौं ठगि बैठे, मैं तिसको सिर नाया ॥४॥

—कविवर भूधर दास

अनेकान्त के विशेषांक पर लोकमत

मुनि कान्तिसागर जी अपने पत्र मे उदयपुर से लिखते हैं कि—बाबू छोटेलाल जी 'स्मृति' अंक यथासमय मिला। सीमित साधनों के आधार पर भी अनेकान्त का प्रस्तुत अंक सुन्दर सामग्री से परिपूर्ण है। इसके वैयक्तिक लेखों के अतिरिक्त भी शोध-विषयक तथ्यपूर्ण संकेतात्मक लेख पठनीय हैं।

पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना—

अनेकान्त का छोटेलाल जैन 'स्मृति अंक' यथासमय प्राप्त हुआ।

पढ़कर मालूम हुआ कि इसकी तैयारी में जो प्रयत्न किया गया है वह सम्मानीय स्व० बाबू छोटेलाल जी की भावना और प्रवृत्तियो के अनुकूल किया गया है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे प्रयत्नो को स्थायित्व दिया जाय, जिससे उनकी प्रवृत्तियों का सम्बर्द्धन हो सके।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) , सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, *लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली*
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ॥।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ॥।)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ॥।)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित मूल्य ४)

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित।)

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। ।)

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ॥।), (६) महावीर पूजा ।)

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१७) अध्यात्म रहस्य—पं आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १)

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमान्द शास्त्री। सजिल्द १२)

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन-संघ प्रकाशन ५)

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दो अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। • ... २०)

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

अक्टूबर १९६९

अनेकान्त

आध्यात्मिक सन्त पू० मुनिश्री विद्यानन्द जी
इस वर्ष आपने समन्तभद्राश्रम दरियागंज, दिल्ली में चातुर्मास किया है। आपके प्रवचन मानव समाज के लिए बड़े प्रभावशाली होते हैं।

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	ऋषभ-स्तोत्रम्—मुनि पद्मनन्दि	२४३
२.	धुवेला संग्रहालय के जैन मूर्ति लेख—बालचन्द जैन एम. ए.	२४४
३.	तिरुकुरल (तमिल वेद) एक जैन रचना —मुनि श्री नगराज जी	२४६
४.	जैन साहित्य के अनन्य अनुरागी—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	२५२
५.	दिल्ली शासकों के समय पर नया प्रकाश —हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री	२६०
६.	निर्वाण काण्ड की निम्न गाथा पर विचार —पं. दीपचन्द पाण्ड्या	२६१
७.	उपनिषदों पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव —मुनि श्री नथमल	२६२
८.	षट् खण्डागम और शेष १८ अनुयोग द्वार —बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री	२६५
९.	समय और साधना—साध्वी श्री राजीमतिजी	२७०
१०.	श्रमण सस्कृति के उद्भावक ऋषभदेव —परमानन्द शास्त्री	२७३
११.	अग्रवालों का जैन सस्कृति मे योगदान —परमानन्द शास्त्री	२७६
१२.	शान्तिनाथ फागु—कुन्दनलाल जैन	२८२
१३.	एक लाख रुपये का साहित्यिक पुरस्कार —कवि जी शकर कुरूप को	२८७
१४	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	२८६

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं।

व्यवस्थापक अनेकान्त

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ साहित्य-तपस्वी सिद्धान्ताचार्य

मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी की

९०वीं जन्म-जयन्ती का उत्सव

एटा में २३ दिसम्बर १९६६ को दिन के २ बजे से **डा० ज्योतिप्रसाद जी जैन एम. ए. एल. एल. बी; पी-एच. डी** लखनऊ की अध्यक्षता मे मनाया जायगा।

इस शुभ अवसर पर मुख्तार श्री के सम्बन्ध मे जो चार निबन्ध पुरस्कृत हुए है वे उन्हें भेट किये जायेंगे, आगत श्रद्धाञ्जलियां पढी जायेंगी, संस्मरण सन्देश सुनाये जायेंगे, विद्वानों के भाषण होगे और शुभ कामनायें व्यक्त की जाएँगी। जो सज्जन मुख्तार श्री और उनके साहित्य से प्रेम रखते हैं आशा है वे इस मंगल मिलन मे किसी न किसी रूप मे शामिल होने की कृपा करेगे।

कृपाकांक्षी
डाक्टर श्रीचन्द्र जैन 'संगल'
जी टी. रोड एटा (उ० प्र०)

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठको से निवेदन है कि अनेकान्त के कुछ ग्राहको ने १९ वर्ष का वार्षिक मूल्य अभी तक भी नही भेजा है उनसे पुन. प्रेरणा की जाती है कि वे अपना वार्षिक शुल्क ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भेज कर अनुगृहीत करे। अन्यथा उन्हे अगला अक वी० पी० से भेजा जावेगा, जिससे ७५ पैसे अधिक देने होंगे। नये बनने वालो ग्राहको को ४) का छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंक भी उसी ६) रुपये मे ग्राहक बनने पर मिलेगा, उसका अलग चार्ज नही देना पड़ेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागज दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैं०

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १९ किरण ४	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० सं० २०२३	अक्टूबर सन् १९६६

ऋषभ-स्तोत्रम्

कम्मकलंकचउक्केणट्ठे णिम्मलसमाहिभूईए ।
तुह णाण-दप्पणे च्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं ॥१९॥
आवरणाईणितए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूणं ।
कम्मचउक्केण मुयं व णाह भीएण सेसेण ॥२०॥
णाणामणिणिम्माणे देव ठिओ सहसि समवसरणम्मि ।
उवरिं व संणिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं ॥२१॥

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—हे भगवन् ! निर्मल ध्यानरूप सम्पदा से चार घातिया कर्मरूप कलंक के नष्ट हो जाने पर प्रगट हुए आपके ज्ञान (केवल ज्ञान) रूप दर्पण मे ही लोक और अलोक प्रतिबिम्बित होने लगे थे ॥१९॥ हे नाथ ! उस समय ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों को समूल नष्ट हुए देख कर शेष (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) चार अघातिया कर्म भय से ही मानो मरे हुए के समान (अनुभाग से क्षीण) हो गए थे ॥२०॥ हे देव ! विविध प्रकार की मणियों से निर्मित समवसरण मे स्थित आप जीते गये सब योगियो के ऊपर बैठे हुए के समान सुशोभित होते हैं ॥

विशेषार्थ—भगवान् जिनेन्द्र समवसरण सभा मे गन्धकुटी के भीतर स्वभाव से ही सर्वोपरि विराजमान रहते है। इसके ऊपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उन्होंने चूंकि अपनी आभ्यान्तर व बाह्य लक्ष्मी के द्वारा सब ही योगीजनों को जीत लिया था, इसी लिए वे मानो उन सब योगियो के ऊपर स्थित थे ॥२१॥

धुबेला संग्रहालय के जैन मूर्ति-लेख

बालचन्द्र जैन एम. ए.

मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले मे नौगांव से ५ मील की दूरी पर स्थित राज्य सग्रहालय धुबेला में जैन तीर्थंकरों की अनेक महत्वपूर्ण पाषाण प्रतिमाए सगृहीत है। उनमें से पांच प्रतिमाओं के पादपीठो पर उनकी प्रतिष्ठापना सम्बन्धी लेख उत्कीर्ण है। ये सभी प्रतिमाएं सग्रहालय से एक मील दूर बसे मऊ नामक ग्राम से सग्रह की गई हैं।

मूर्तिलेख क्रमांक १

यह लेख बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की काले पाषाण की प्रतिमा (सग्रहालय क्रमाक ७) के पाद पीठ पर उत्कीर्ण है। प्रतिमा मस्तक विहीन है तथा चार टुकड़ो मे खण्डित है। लेख की भाषा सस्कृत और लिपि नागरी है। अन्त मे तिथि का उल्लेख करने वाले भाग को छोड़ कर बाकी पूरा लेख छन्दोबद्ध है। जिसमें कुल मिलाकर पाच छन्द है। लेख में र् के बाद आने वाले चार व्यञ्जनाक्षर का द्वित्व (पंक्ति १ और २), तथा श् और ष् के स्थान पर स् का प्रयोग किया गया है। लेख का उद्देश्य है **गोलापूर्व** कुल के **बाले** के पौत्र और **देवकर** (या देवकवि) के पुत्र **मल्हण** के द्वारा (विक्रम) संवत् ११९९ में वैसाख सुदि द्वितीया रविवार को जगत् के नाथ **नेमिनाथ** की प्रतिमा की स्थापना किये जाने का उल्लेख करना। **मल्हण** की माता का नाम **पद्मावती** और लहुरे भाई का नाम **जल्हण** था। सेठ **वीवो मल्हण** के ससुर थे। **मल्हण** के तीन बेटे थे जिसमें **लक्ष्मण** जेठा था। इस लेख का पूरा पाठ निम्न प्रकार है—

१. गोल्लापूर्व्वकुले जातः साधुर्व्वा [ले] [गुणा+] न्वितः। तस्य देवकरो पुत्रः पद्मावतीप्रियाप्रियः॥ [१॥+] तयोर्जातो सुतौ सि (शि)—

२. स्तौ (ष्टौ) सी (शी) लव्रतविभूषितौ। धर्म्माचाररतौ नित्यं ख्यातौ म[ल्ह]णजल्ह[णौ]॥ [२॥+] मल्हणस्य च [धूरासीत्स] त्यसी (श) ला पतिव्रता। श्रेष्ठिवीवोतनूजा च प्रबुद्धा बि (वि) नयान्विता॥ [३॥+] लक्ष्म (क्ष्म) णाद्यास्तया जाताः पुत्राः गुण [गणान्विताः:]

३. ......ढ्या जिनचरणाराधनोद्यता॥ [४॥+] कारितश्च जगन्नाथ [नेमि] नाथो भवान्तक.। त्रै [लोक्यश] रणं देवो जगन्मगलकारकः॥ [५॥+] सम्वतु (त्) ११९९ वैशाख सुदि २ रवौ रो [हिण्याम्+]

मूर्तिलेख क्रमांक २

दूसरा लेख मुनि सुव्रतनाथ की काले पाषाण की पद्मासन स्थित प्रतिमा (२४×५६ से० मी०, सग्रहालय क्रमाक ४२) के पादपीठ पर उत्कीर्ण है। प्रतिमा का ऊपरी भाग खण्डित है। लेख सस्कृत भाषा और नागरी लिपि में है तथा तिथि का उल्लेख करने वाले अंश को छोडकर बाकी पूरा लेख छन्दोबद्ध है। उसमे तीन छन्द है। इस लेख का उद्देश्य है **गोलापूर्व** कुल में उत्पन्न **श्रीपाल के पौत्र और जीण्हक** के पुत्र **सुल्हण** द्वारा सवत् ११९९ में वैशाख सुदि द्वितीया, रविवार को **मुनिसुव्रतनाथ** की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख करना। **सुल्हण** की माता **रुक्मिणी** और पत्नी का नाम **श्री** था। मूल लेख इस प्रकार है—

१. गोलापूर्व्वकुले जात. साधुश्रीपालसञ्ज्ञक। तत्सुतोजनि जीण्हकः समग्रगुणभूषित॥ [१॥+]

२. रुक्मिण्या जनितस्तेन सत्पुत्रः सुल्हणाभिधः। श्रीसञ्ज्ञिका प्रिया तस्य समग्रगुणधारिणी॥ [२॥+] मुनिसुव्रतनाथस्य विवं (बिंब) त्रैलोक्य—

३. पूजितः कारित सुल्हणेनेदमात्मश्रियोभिवृद्धये॥ [३॥+] सम्वत् ११[९९] वैशाख सुदि २ रवौ।

मूर्तिलेख क्रमांक ३

यह लेख शान्तिनाथ की काले पाषाण की खड्गासन प्रतिमा (१६०×५६ से० मी०, सग्रहालय क्रमांक २४)

के पादपीठ पर उत्कीर्ण है। लेख की भाषा संस्कृत है। लेख का आधा भाग पद्य में और आधा भाग गद्य में है। पूर्व भाग में केवल दो छन्द हैं। लेख की लिपि नागरी है। विशेषता यह है कि तीन स्थानों पर श् के बदले स् का प्रयोग हुआ है और र् के बाद आने वाले व्यञ्जन को द्वित्व किया गया है। प्रथम श्लोक में बताया गया है कि **गोलापूर्वकुल** मे **स्वयंभू** हुआ जिसके **स्वामी** और **देवस्वामी** नामक दो बेटे थे। दूसरे श्लोक में **देवस्वामी** के **शुभचन्द्र** और **उदयचन्द्र** नामक दो बेटो का उल्लेख है और कहा गया है कि **देवस्वामी** और उसके बेटों ने **शान्तिनाथ** की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई। लेख की तीसरी पक्ति मे **दुम्बर अन्वय के जिनचन्द्र** के पौत्र और **हरिश्चन्द्र** के पुत्र **लक्ष्मीधर** द्वारा प्रतिमा की सदा पूजा किये जाने का उल्लेख है। लेख के अन्त मे **मदनवर्म्मदेव** के राज्यकाल का तथा संवत् १२०३ फाल्गुन सुदि नवमी सोमवार का उल्लेख है। यह मदनवर्म्मा चंदेलवंशी राजा था। लेख का पाठ नीचे दिया जा रहा है।

१. सिद्ध गोलापूर्व्वान्वये साधु स्वयंभूधर्म्मवत्सल। तत्सुतौ स्वामिनामा च देवस्वामिगुणान्वितः ॥ [१॥+] देवस्वामि—

२. सुतौ श्रेष्ठौ सु (शु)भचद्रोदयचद्रक. (कौ)। कारित च जगन्नाथं शान्तिनाथो जिनोत्तम ॥]२॥+] धर्म्मसि (शे) पि १४।

३. तथा दुम्बरान्वये साधुजिनचंद्रतत्पुत्रहरिम्च[न्द्र] तत्सुतलक्ष्मीधर श्री सा (शा) न्तिनाथ प्रणमति सरा. (दा)।

४. लक्ष्मीधरस्य धर्म्म संधिज श्रीमन्मदनवर्म्मदेव-राज्ये सवत् १२०३ फा० सुदि ६ सोमे।

मूर्तिलेख क्रमांक ४

चौथा लेख आदिनाथ की काले पाषाण की पद्मासन स्थित प्रतिमा (५१×४७ से० मी०, संग्रहालय क्रमांक ७) के पादपीठ पर उत्कीर्ण है। पहले के लेखों के समान इस लेख की भाषा तथा लिपि क्रमश. संस्कृत और नागरी है। पूरा लेख गद्य में है। लेख से विदित होता है कि **जाहुल** का बेटा **आल्हण** इस प्रतिमा का प्रतिष्ठाता था। उसका गोत्र **कोंचे** जान पड़ता है लेख की दूसरी पक्ति मे **रूपा** नामक स्त्री का उल्लेख है जो संभवतः **आल्हण** की पत्नी थी। लेख वि० सवत् १२०३ में लिखा गया था। मूल लेख इस प्रकार है—

१. सिद्ध संवतु (त्) १२०३ कोंचे जाहुल तस्य सुत कोंचे आल्हण नित्य प्रणमति [।+]

२. रूपानी (नि)त्य प्रणमती (ति) [।+]

मूर्तिलेख क्रमांक ५

यह लेख महत्वपूर्ण है क्योंकि इस लेख में **परवाड़** कुल का उल्लेख हुआ जबकि उपर्युक्त अन्य लेख गोलापूर्व कुल से सबंधित है। प्रतिमा का पादपीठ खण्डित हो जाने से लेख अपूर्ण है। तीर्थकर के चिन्ह युक्त भाग के भी खण्डित हो जाने से यह पता नहीं लगता कि प्रतिमा किन तीर्थकर की है। बचा हुआ लेख नीचे इस प्रकार है :—

१. सिद्ध परवाडकुले जात. साधु श्री ती……।

इस प्रकार धुबेला संग्रहालय के ये मूर्तिलेख सिद्ध करते हैं कि ईस्वी सन् की १२वीं शती में बुन्देलखण्ड और विशेषकर छतरपुर जिले मे जैनो की गोलापूर्व और परवाड़ जातिया विद्यमान थी।

●

देखो, जिस आदमी ने अपने घर में ढेर की ढेर दौलत जमा कर रखी है, मगर उसे उपयोग में नहीं लाता उसमें और मुर्दे में कोई फर्क नहीं है क्योंकि वह उससे कोई लाभ नहीं उठाता है।

× × × ×

उस धनवान मनुष्य की मुसीबत कि जिसने दान दे दे कर अपने खजाने को खाली कर डाला है, और कुछ नहीं केवल जल बरसाने वाले बादलों के खाली हो जाने के समान है—यह स्थिति अधिक समय तक न रहेगी।

—तमिलवेद

तिरुकुरल (तमिलवेद) : एक जैन-रचना

मुनिश्री नगराजजी

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने कहा—"यदि कोई चाहे कि भारत के समस्त साहित्य का मुझे पूर्ण ज्ञान हो जाये तो तिरुकुरल को बिना पढ़े उसका अभीष्ट सिद्ध नही हो सकता।" इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी अपना धर्मग्रन्थ मानने को समुत्सुक हैं। लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व लिखा गया वह ग्रन्थ तमिलवेद अर्थात् तिरुकुरल है। तमिल जाति का यह सर्वमान्य और सर्वोपरि ग्रन्थ है। इसलिए उसका नाम 'तमिलवेद' पड़ा।

प्रचलित धारणा के अनुसार इस ग्रन्थ के रचयिता तिरुवल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर हैं। यह एक काव्यात्मक नीति-ग्रन्थ है। बहुत बड़ा नहीं है। यह ग्रन्थ कुरल नामक छन्द में लिखा गया है। कुरल छन्द एक अनुष्टुप श्लोक से भी छोटा होता है।

इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ और काम—ये तीन मूलभूत आधार माने गये हैं। विभिन्न विषयपरक १३३ अध्याय हैं और एक एक अध्याय में दश-दश कुरल छन्द हैं। कुल मिलाकर १३३० छन्द होते हैं, जो पंक्तियों में २६६० हैं। रचना-सौष्ठव तमिल के विद्वानों के द्वारा निरुपम माना गया है। हिन्दी में गद्य अनुवाद उपलब्ध है, पर पद्य का गद्यात्मक या पद्यात्मक अनुवाद एक भावबोध से अधिक कुछ नहीं बताया करता। कालीदास ने संस्कृत शब्दावली में जिस भाव को अपने कलात्मक कवित्व में बाँधा है और जो आनन्द उससे संस्कृत काव्यरसिक उठा सकता है, वह कलात्मकता उसके हिन्दी अनुवाद में थोड़े ही आ सकती है! वह अनुवाद भी यदि संस्कृत पद्य का हिन्दी गद्य में हो तो काव्यात्मक आनन्द का लेश भी कहाँ बच पायेगा? तिरुकुरल के काव्यात्मक आनन्द के विषय में तमिल नहीं जानने वाले हम अननुभूत और अनभिज्ञ ही रह सकते हैं; तथापि कवि की उक्ति-चारुता आदि कुछ विशेषताओं को हम तथारूप अनुवाद से भी पकड़ सकते हैं।

काव्य की भाषा तीखी और हृदयस्पर्शी है। धर्म की उपादेयता के विषय मे कहा गया है—"मुझ से मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है? बस एक बार पालकी उठाने वाले कहारों की ओर देख लो और फिर उस आदमी को देखो जो उसमें सवार है।"१

क्रोध के विषय मे कहा गया है—"जो व्यक्ति क्रोध को दिल मे जमाकर रखता है, जैसे वह कोई बहुमूल्य पदार्थ हो, वह उस मनुष्य के समान है जो कठोर जमीन पर हाथ दे मारता है। उस आदमी को चोट आये बिना नही रह सकती।"२

मायावी के विषय में कहा गया है—"तीर सीधा होता है और तम्बूरे मे कुछ टेढ़ापन होता है। इसलिए आदमियो को उनकी सूरत से नही, उनके कामो से पहचानो३।" भावार्थ—तीर सीधा होकर भी कलेजे में लगता है, तम्बूरा टेढ़ा होकर भी अपनी मधुर ध्वनि से हमे आल्हादित करता है; अतः मायावी लोगों की ऊपरी सरलता में न फंसो।

धैर्य के विषय में कहा गया है—"विपत्ति से लोहा लेने में मुस्कान से बढकर कोई साथी नही हो सकता४।"

वाणी के विषय में कहा गया है—"तुम ऐसी वक्तृता उसे चुप न कर सके५।"

सामान्य उपदेशो को भी निराले ढंग से कहने में कवि बहुत सफल रहा है।

गरिमा और अभिधा

यह ग्रन्थ इतना ख्यातिलब्ध कैसे हुआ और इसे इतनी

---

१. धर्म प्रकरण—७
२. क्रोध प्रकरण—७
३. माया प्रकरण—१
४. विपत्ति में धैर्य प्रकरण—१
५. वाक् पटुता प्रकरण—५

मान्यता कैसे मिली, इस विषय में भी एक सरस किंवदन्ती तमिल लोगों में प्रचलित है। कहा जाता है, उन दिनों दक्षिणमें मदुरा नामक एक नगर था। वह नगर अपने विद्याबल से प्रसिद्ध था। वहा तमिल भाषा के विद्वानो की एक बडी सभा थी। उसमे एक ऊंचा आसन रहता। उसके विषय में यह धारणा थी कि जब सभा लगती है, तब अदृश्य रूप मे यहा सरस्वती आकर बैठती है। अन्य ४९ आसनों पर उस सभा के धुरन्धर विद्वान बैठते थे। दूर-दूर तक इस सभा का यश फैला था। विविध ग्रथ-रचयिता वहा आते और अपने ग्रंथ को उस सभा के समक्ष रखते। सभासद उस ग्रथ का वाचन करते और उस पर अपना मत अभिव्यक्त करते।

तिरुवल्लुवर एक सन्त प्रकृति के पुरुष थे। वे अपने ग्रंथ का ऐसा अभिस्थापन नहीं चाहते थे, पर मित्रों के दबाव से अपना ग्रथ लेकर उन्हे मदुरा की उस विद्वत्-सभा मे उपस्थित होना पडा। उन्होने अपना ग्रंथ सभाध्यक्ष के हाथो मे दिया। सभाध्यक्ष ने अन्य सभासदो को वह ग्रंथ दिखाते हुए तिरुवल्लुवर से पूछा—आपका ग्रथ किस विषय पर है? वल्लुवर ने विनम्र भाव से कहा—मानव जीवन पर। यह पूछा जाने पर कि मानव-जीवन के किस पहलू पर, वल्लुवर ने कहा—सभी पहलुओ पर।

इस बात पर सभी सभासद हसे। छोटा-सा ग्रथ और मानव-जीवन के सभी पहलुओ पर विवेचन!

प्रधान ने पुस्तक का वाचन प्रारम्भ किया। दो-चार पद्य पढे कि वल्लुवर की भाव-व्यजना ने सभी को आकृष्ट किया। क्रमश. पूरा ग्रथ पढ़ा गया। सभी सभासद आनन्द विभोर हो उठे। एक स्वर से सब ने कहा—सचमुच ही यह तो तमिलवेद बन गया है।

इस प्रकार तिरुवल्लुवर महान ख्याति अर्जित कर घर लौटे। तिरुकुरल ग्रथ तब से तमिलवेद कहा जाने लगा। तिरुकुरल का अभिप्राय होता है—कुरल छन्दो मे लिखा गया पवित्र ग्रथ। तिरुवल्लुवर का अभिप्राय है—पवित्र, वल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर।

वल्लुवर का गृह-जीवन

वल्लुवर कबीर की तरह जुलाहे थे। कपड़ा बुनना और उससे आजीविका चलाना उनका परम्परागत कार्य था। जातीयता की दृष्टि से वे दक्षिण की अछूत जाति के माने गये हैं। उनकी पत्नी का नाम वासुकी था। वह भी एक आदर्श और अर्चनीय महिला मानी गई है। पतिव्रत धर्म को निभाने मे वह निराली थी। अपने पति के प्रति मन, वचन और कर्म मे वह कितनी समर्पित थी और कितनी श्रद्धाशील थी; इस सम्बन्ध मे बहुत सारी घटनायें तमिल समाज मे प्रचलित हैं।

कहा जाता है, तिरुवल्लुवर ने एक बार उसकी श्रद्धा का अकन करने के लिए कहा—आज लोहे की कीलो और लोहे के टुकडो का शाक बनाओ। वासुकी ने बिना किसी तर्क और आशंका के चूल्हे पर तपेली चढा दी और वह लोहे के टुकडो और कीलो को उबालने लगी।

एक बार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश मे भी किसी खोई हुई वस्तु को खोजने के लिए तिरुवल्लुवर ने वासुकी से चिराग मगाया। वासुकी ने बिना ननु-नच के चिराग जलाया और वह खोई हुई वस्तु के खोजने मे पति की मदद करने लगी।

एक दिन वासुकी घर के कुए से पानी निकाल रही थी। अकस्मात् पति का आह्वान कानो मे पड़ा। उसने अपने आधे खींचे वर्तन को ज्यों-का-त्यों छोड़ा और पति के पास चली गई। कार्य-निवृत्त होकर जब वह वापस आई तो देखा, पानी का वर्तन ज्यों-का-त्यों कुए मे आधे लटक रहा है।

सन्त पुरुष

तिरुवल्लुवर एक सन्त पुरुष थे। उनकी साधना परिपूर्ण थी। उनके जीवन की एक ही घटना उनकी शान्त-वृत्ति का पूरा परिचय दे देती है। एलेल सिगन नामक एक धनाढ्य व्यक्ति वल्लुवर के ही नगर मे रहता था। वह अपने समुद्री व्यवसाय से प्रसिद्ध था। उसके एक लड़का था। वह अधिक लाड़-प्यार मे ढीठ-सा हो गया था। बड़े-बूढों के साथ भी शरारत कर लेना उसके प्रतिदिन का कार्य था। एक दिन वह अपने साथियो की टोली के साथ उस मुहल्ले से गुजरा, जहा वल्लुवर अपना बुनाई का काम किया करते थे। उस समय वल्लुवर शान्त भाव से किसी चिन्तन मे बैठे थे और उनके सामने बेचने को दो साड़ियाँ रखी थीं। शरारती युवक के मित्रो ने वल्लुवर

को एक सन्त बताते हुए उनकी प्रशंसा की। शरारती युवक ने कहा—"सन्तपन स्वयं एक ढोंग है। एक आदमी की अपेक्षा दूसरे आदमी मे ऐसी कौन-सी विशेषता होती है, जिससे वह सन्त बन जाता है।" मित्रों ने कहा—"शान्ति। इसी विशेषता से सन्त कहलाता है।"

शरारती युवक यह कहते हुए कि मैं देखता हूं इसकी शान्ति, वल्लुवर के सामने ही जा धमका। एक साड़ी उठा ली और बोला—इसका क्या मूल्य है ?

वल्लुवर—दो रुपये।

युवक ने साड़ी के दो टुकड़े कर दिये और एक टुकड़े के लिए पूछा—इसका क्या मूल्य है ?

वल्लुवर ने शान्त भाव से कहा—एक रुपया। युवक चार, आठ, सोलह आदि टुकड़े क्रमश करता गया और अन्तिम का दाम पूछता ही गया। सारी साड़ी मटियामेट हो गई। वल्लुवर उसी शान्तभाव मुद्रा से यह सब देखते रहे। अन्त मे युवक ने कहा—मेरे यह साड़ी अब किसी काम की नही है। मैं नही खरीदता। वल्लुवर ने भी शान्तभाव से कहा—सच है बेटे ! अब यह साड़ी किसी के किसी काम की नही रही है। शरारती युवक तिलमिला-सा गया। मन मे लज्जित हुआ। मित्रो के सामने हुई अपनी असफलता पर कुढने लगा। जेब से दो रुपये निकाले और वल्लुवर के सामने रख दिये। वल्लुवर ने रुपयों को वापस करते हुए कहा—बेटे ! अपना सौदा पटा ही नही तो रुपये किस बात के ? अब युवक के पास कहने को कुछ नही रह गया था। अपनी ढीठता पर उसका हृदय रो पड़ा। वह सन्त के चरणों मे गिर पड़ा, यह कहते हुए कि मनुष्य-मनुष्य में इतना अन्तर हो सकता है, जितना मेरे मे और वल्लुवर सन्त में, यह मैंने पहली बार जाना है।

कहा जाता है, इस घटना के पश्चात् वह शरारती युवक सदा के लिए भला हो गया। उसका पिता और वह सदा के लिए वल्लुवर के भक्त हो गये और वे वल्लुवर का परामर्श लेकर ही प्रत्येक कार्य करने लगे।

जैन-रचना

'कुरल' और 'वल्लुवर' के विषय में उक्त सारी धारणाएं तो जनश्रुति के अनुसार चल ही रही हैं, पर अब इस समग्र विषय पर इतिहास भी कुछ करवट लेने लगा है। वल्लुवर सन्त-श्रेणी के व्यक्ति और विलक्षण मेधावी थे। इसमे कोई सन्देह नहीं, पर उन्हे वह ज्ञान कहां से मिला: यह विषय सर्वथा अस्पष्ट था। अब बहुत सारे आधारो से प्रमाणित हो रहा है[1] कि वल्लुवर जैन आचार्य कुन्द-कुन्द के शिष्य थे और 'कुरल' उनकी रचना है। वल्लुवर 'कुरल' के रचयिता नही, प्रचारक मात्र थे।

यह एक सुविदित विषय है : कि जैन धर्म किसी एक परिस्थिति विशेष मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत मे साधु-चर्या का निर्वाह कठिन होने लगा था। उस समय भगवान् महावीर के सप्तम पट्टधर श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं के एक महान् सघ के साथ दक्षिण भी आये। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी दीक्षित होकर उनके साथ आये थे। वह संघ-यात्रा कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि १२००० साधु-श्रावको का परिवार तो केवल प्रव्रजित सम्राट् चन्द्रगुप्त का था।

मैसूर राज्य में ऐसे अनेक शिलालेख प्राप्त हुए है, जिनसे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का कन्नड़ प्रदेश में आना और दीर्घकाल तक जैन धर्म का प्रचार करते रहना प्रमाणित होता है[2]।

भद्रबाहु के दक्षिण जाने वाले शिष्यों में प्रमुखतम विशाखाचार्य थे। वे तमिल प्रदेश में गये। वहां के राजाओं को जैन बनाया। जनता को जैन बनाया। सारे तमिल प्रदेश में जैन धर्म फैल गया और शताब्दियों तक वह वहा राज-धर्म के रूप मे माना जाता रहा। तमिल साहित्य का श्रीगणेश भी जैन विद्वानों द्वारा हुआ। व्याकरण आदि विभिन्न विषयों पर उन्होंने गद्यात्मक व पद्यात्मक ग्रंथ लिखे।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित—Thirukkural की भूमिका।

१. आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ; चतुर्थ अध्याय, के० एस० धरणेन्द्रिया, एम०ए०बी०टी० द्वारा लिखित दक्षिण भारत में जैन धर्म शीर्षक लेख के आधार पर।

ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य श्री कुन्द-कुन्द मद्रास के निकट पोन्नूर की पहाड़ियों मे रहते थे। वल्लुवर का आचार्य कुन्द-कुन्द से सम्पर्क हुआ। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए और कुन्द-कुन्दाचार्य ने उनको अपना शिष्य बना लिया। अपनी रचना 'कुरल' अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंपते हुए उन्होंने आदेश दिया—"देश मे भ्रमण करो और इस ग्रथ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तो का प्रचार करो।" साथ-साथ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को चेतावनी भी दी, "देखो! ग्रथ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना, क्योंकि यह ग्रथ मानवता के उत्थान के लिए लिखा गया है; आत्म-प्रशंसा के लिए नही।"

प्रमाणो के अधिक विस्तार मे हम न भी जायें तो उस ग्रथ का आदि पृष्ठ ही एक ऐसा निर्द्वन्द्व प्रमाण है जो 'कुरल' को सर्वांशत जैन रचना प्रमाणित कर देता है। प्रथम प्रकरण ईश्वर-स्तुति का है। हमें देखना है कि रचयिता का यह ईश्वर कैसा और कौन होता है? मुख्यत: ईश्वर की परिभाषा ही जैन धर्म को अन्य धर्मों मे पृथक् रखती है। कुरल की ईश्वर-स्तुति मे कहा गया है—धन्य है वह पुरुष जो आदि पुरुष के पादारविन्द मे रत रहता है, जो कि न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष[१]।" जैन सस्कृति के मर्मज्ञ सहज ही समझ सकते हैं कि इस स्तुतिवाक्य मे कविता का हार्द क्या रहा है? यह तो स्पष्ट है ही कि रचयिता अपने ग्रथ को सर्वमान्य प्रार्थना से अलकृत करना चाहता है। ग्रंथ के नैतिक उपदेशों से जैन-जैनेतर सभी लाभान्वित हो, यह इसका अभिप्रेत रहा है। इन कारणों से उसने मगलाचार मे सार्वजनिकता बरती है। रचयिता का अभिप्राय इतने मे ही अभिव्यक्त किया जा सकता है कि जैन देवों की स्तुति हो और वैदिक लोग उसे अपने देवों की स्तुति मानें। परमार्थ नष्ट न हो और समन्वय सध जाये। अन्य जैन आचार्यों ने भी इस पद्धति का व्यवहार किया है।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

"महावीर आदि तीर्थंकरो मे मेरा अनुराग नही है और कपिल आदि तीर्थंको पर मेरा द्वेष नही है। जिसका वचन यथार्थ हो, उसी का वचन मेरे लिए ग्राह्य है।" भाषा समन्वय मूलक है। यथार्थता मे महावीर का वचन ही ग्राह्य है।

एक अन्य श्लोक मे जो जैन परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी प्रणाम किया गया है पर शर्त यह डाली है कि वे राग-द्वेष रहित हो। कहा गया है—

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

कथनमात्र के लिए प्रणाम सबको किया है, पर प्रणाम ठहरता केवल 'जिन' के लिए है। कुरल के प्रस्तुत श्लोकार्थ मे भी आदि ब्रह्मा की स्तुति की गई है। पुराण परम्परा के अनुसार ब्रह्मा आदि पुरुष हों, क्योंकि उसीसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण पैदा हुए है। अत: यह स्तुति उस आदि-ब्रह्म तक पहुचनी चाहिए। यहा राग-द्वेष रहित होने का अनुबन्ध लगाकर रचयिता ने वह स्तुति आदि पुरुष श्री आदिनाथ प्रभु तक पहुचा दी है। वे आदि-पुरुष भी हे और राग-द्वेष रहित भी।

एक अन्य श्लोक मे रचयिता कहते हैं—"जो पुरुष हृदय-कमल के अधिवासी भगवान के चरणो की शरण लेता है, मृत्यु उस पर दौड़कर नही आती।" यहा विष्णु की स्तुति प्रतीत होती है। पर हृदय-कमल के अधिवासी पुरुष भगवान् कहकर रचयिता ने सारा भाव जैनत्व की ओर मोड दिया है। सगुणता मे भगवान् निर्गुणता की ओर चले गये।

अन्य अनेकों श्लोको मे रचयिता ने अपने अभिप्राय का निर्वाह किया है। ईश्वर-स्तुति-प्रकरण का प्रत्येक श्लोक ही इस दृष्टिकोण मे बहुत माननीय है। इस प्रकरण के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

१—" 'अ' शब्द श्लोक का मूल स्थान है, ठीक इसी तरह आदि-ब्रह्म सब लोको का मूल स्रोत है।" यहा आदि-ब्रह्म शब्द मे आदिनाथ भगवान की ओर सकेत जाता है।

२—"यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्रीचरणो की पूजा नही करते हो तो तुम्हारी यह सारी

---

१. ईश्वर-स्तुति—प्रकरण—४

विद्वत्ता किस काम की ?" इस लोक में अपने परमेश्वर का स्वरूप सर्वज्ञ के रूप में स्पष्ट कर दिया है। जैनो का ईश्वर कर्ता-धर्ता नही, सर्वज्ञ ही है।

६—"जो लोग उस परम जितेन्द्रीय पुरुष के दिखाये धर्म-मार्ग का अनुसरण करते है, वे दीर्घजीवी होगे।" प्रस्तुत भावना मे भी जितेन्द्रिय शब्द से 'जिन' भगवान् की ओर सकेत किया गया है।

७—"केवल वही लोग दु खो से बच सकते है जो उस अद्वितीय पुरुष की श्रेणी मे आते है।" तीर्थकर भरत क्षेत्र मे एक साथ दो नही होते; इसलिए रचयिता ने उन्हे भी अद्वितीय पुरुष कहा है, ऐसा लगता है।

८—"धन-वैभव और इन्द्रिय-सुख के ज्वार-संकुल समुद्र को वही पार कर सकते है, जो उन धर्म-सिन्धु मुनीश्वर के चरणो मे लीन रहते है।" यहा जैनो के परमेष्ठी पचक पद की स्तुति की गई है।

९—'जो मनुष्य अष्टगुण सयुक्त परमब्रह्म के चरणों में सिर नही झुकाता, वह उस इन्द्रिय के समान है, जिसमे अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नही है।" जैन परम्परा मे मुक्त जीव सिद्ध भगवान् कहलाते है। वे केवलज्ञान, केवल दर्शनादि आठ गुणो से संयुक्त होते है। पूर्वोक्त भावना मे उनकी स्तुति का ही सकेत मिलता है।

१०—"जन्म-मरण के समुद्र को वही पार कर सकते है, जो प्रभु के चरणो की शरण मे आ जाते है। दूसरे लोग उसे तर ही नही सकते।" प्रस्तुत भावना के प्रभु शब्द मे पच परमेष्ठी रूप प्रभु की स्तुति की गई है, ऐसा स्वय लगता है।

५—"देखो, जो मनुष्य प्रभु के गुणों का उत्साहपूर्वक गान करते हैं, उन्हे अपने कर्मो का दुःखप्रद फल नही भोगना पड़ता।" इस प्रकार समग्र स्तुति-दशक मे कही भी जैनत्व की सीमा का उल्लंघन नहीं किया गया है; अपितु स्तुति को जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं से सम्मत बनाते हुए भी रचयिता ने जैनत्व का संपोषण किया है।

इस प्रकार हम अन्य प्रकरणों की छान-बीन मे भी जा सके तो सम्भवतः बहुत सारी उक्तिया मिल जायेंगी जो नितान्त रूप से जैनत्व को अभिव्यक्त करने वाली ही है।

अन्य विद्वानों के अंकन में—

'तिरुकुरल' कृति की इस सहज अभिव्यक्ति को भारतीय व पाश्चात्य के अन्य विद्वानों ने भी आका है। कनक सभाई पिल्ले (Kanak Sabhai Pillai) एस० वियपुरी पिल्ले (S. Viyapuri Pillai) टी०वी०कल्याण सुन्दर मुदालियर (T.V. Kalyan Sundara Mudaliar) आदि अनेको जैनेतर विद्वान है, जिन्होने स्पष्ट व्यक्त किया है कि तिरुकुरल एक जैन-रचना है[1]। यूरोपीय विद्वान् एलिस (Ellis) और ग्राउल (Graul) ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

तमिल विद्वान् कल्लदार (Kalladar) ने कुरल की प्रशस्ति में लिखा है—"परम्परागत सभी मतवाद एक-दूसरे से विरोध रखते है। एक दर्शन कहता है, सत्य यह है, तो दूसरा दर्शन कहता है, यह ठीक नही हैं, सत्य तो यह है। कुरल का दर्शन एकान्तवादिता के दोष से सर्वथा मुक्त है[2]।"

---

1. Thirukkural, Ed by Prof. A. Chakravarti, Introduction, P.X.
2. "Speaking about these traditional darshanas he (Kalladar) points out that they are conflicting with one another. However one system says the ultimate reality is one, another system will contradict this and says no. This mutual incompatability of the six systems is pointed out *and the philosophy of Coural is praised to* be free from this defect of onesideness." —Thirukkural, Ed. by Prof. A Chakravarti, Introduction.

इस प्रसंग में यह भी एक महत्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है कि 'कयतरम्" (Kayatram) नामक तमिल निघण्टु के देव प्रकरण मे जिनेश्वर के पर्यायवाची नामों मे बहुत सारे वही नाम दिये है जो कुरल की मंगल प्रशस्ति मे प्रयुक्त किये गये हैं। निघण्टुकार ने जो कि ब्राह्मण विद्वान् हैं, कुरल के रचयिता को जैन समझ कर ही अवश्य ऐसा माना है।

कुरल पर अनेको प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होती है। उनमे से अनेक टीकाए जैन विद्वानो द्वारा लिखी गई है; इससे भी कुरल का जैन-रचना होना पुष्ट होता है।

सबसे महत्वपूर्ण माने जाने वाली टीका के रचयिता धर्मार हैं। उनके विषय मे भी धारणा है कि प्रसिद्ध जैन-विद्वान तो थे पर धर्म से जैनी नही थे१।

कुन्द-कुन्द ही क्यो ?

कुरल को जैन रचना मान लेने के पश्चात् भी यह जिज्ञासा तो रह ही जाती है कि उसके रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही क्यो ? इस विषय मे भी कुछ एक ऐतिहासिक आधार मिलते है। मामूलनार (Mamoolnar) तमिल के विख्यात कवि है। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उन्होंने कुरल की प्रशस्ति गाथा मे कहा है—"कुरल के वास्तविक लखक थीवर है, किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को इसका लेखक मानते है, पर बुद्धिमान लोगों को अज्ञानियों की यह मूर्खता भरी बाते स्वीकार नही करनी चाहिए।"२

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपने द्वारा सम्पादित तिरुकुरल मे भली-भांति प्रमाणित किया है, कि तमिल परम्परा मे आचार्य कुन्द-कुन्द के ही 'थीवर' और 'एलाचार्य' ये दो नाम है।३

जैन विद्वान् जीवक चिन्तामणि ग्रंथ के टीकाकार नचिनार किनियर ने अपनी टीका मे सर्वत्र तिरुकुरल के लेखक का नाम थीवर बतलाया है।४

तमिल साहित्य में सामान्यत: थीवर शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ में किया जाता है।

कुरल की एक प्राचीन पाण्डुलिपि के मुखपृष्ठ पर लिखा मिला है—"एलाचार्य द्वारा रचित तिरुकुरल५। इन सारे प्रमाणो को देखते हुए सन्देह नही रह जाना चाहिए कि कुरल के वास्तविक रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही थे।

भ्रम का कारण—

यह एक कड़ा-सा प्रश्न चिन्ह बन जाता है कि आचार्य कुन्द-कुन्द (थीवर व एलाचार्य) ही इसके रचयिता थे तो यह इतना बडा भ्रम खडा ही कैसे हुआ कि इसके रचयिता तिरुवल्लुवर थे ? तमिल की जैन परम्परा मे यह प्रचलित है कि एलाचार्य (आचार्य कुन्द-कुन्द) एक महान् साधक व गणमान्य आचार्य थे। अत: उनके लिए अपने ग्रथ को प्रमाणित कराने की दृष्टि से मदुरा की सभा मे जाना उचित नही था। इस स्थिति मे उनके गृहस्थ शिष्य श्री तिरुवल्लुवर इस ग्रथ को लेकर मदुरा की सभा मे गये और उन्होने ही विद्वानो के समक्ष इसे प्रस्तुत किया। इसी घटना-प्रसग से तिरुवल्लुवर इसके रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हो गये१। दूसरा कारण यह

---

1. Thirukkural Ed. by Prof. A. Chakraverti, Preface, P. II
2. "The real auther of the work spaeks of the four topics is Thevar. But ignorant people mentioned the name of Valluwar as the author. But wise men will not accept this statement of ignorant fool." —Ibid, Preface.
3. Ibid, Intronuction, P xii.
4. Ibid, Introduction, P. x.
5. Ibid, Introduction, P. xii.

1. Thirukkural Ed. by Prof. Chaklavarti, Introduction, P. xiii.
   "According to the Jaina tradition. Elacharya was a great Nirgrantha Mahamuni, a great digamber ascetic, not caring for wordly honours. His lay disciple was delegateed to introduce the work to the scholars assembled in the Madura acadamy of the sangha. Hence the introduction was by Valluwor, whow placed it before the scholars of the Madura Sangha for their approval.

भी था कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने यह ग्रन्थ वल्लुवर को प्रसारार्थ सौंपा था और वे इसका प्रचार करते थे। अतः सर्वसाधारण ने इन्हें ही इसका रचयिता माना। ऐसा भी सम्भव है कि आचार्य कुन्द-कुन्द इस ग्रन्थ को सर्वमान्य बनाये रखने के लिए अपना नाम इसके साथ जोड़ना नहीं चाहते थे, जैसे कि उन्होंने अपने देव का नाम भी सीधे रूप में ग्रंथ के साथ नहीं जोड़ा। रचयिता का नाम गौण रहे तो प्रसार का नाम रचयिता के रूप में किसी भी ग्रंथ के साथ सहज रूप में ही जुड़ जाता है।

उपसंहार—

'तिरुकुरल' काव्य आज दो सहस्र वर्षों के पश्चात् भी एक नीति ग्रंथ के रूप मे समाजके लिए बहुत उपयोगी है। समग्र जैन समाज के लिए यह गौरव का विषय होना चाहिए कि एक जैन-रचना पंचम वेद के रूप मे पूजी जा रही है। अपेक्षा है, इस सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य चालू रहे। यह ठीक है कि एतद् विषयक बहुत सारी शून्यताएँ तमिल की जैन परम्परा भर देती है, पर अपेक्षा है, उन शून्यताओं को ऐतिहासिक प्रमाणों से और भर देने की। प्रो० ए० चक्रवर्ती ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया है। पर अपने प्रतिपादन मे कुछ एक सहारे उन्होंने ऐसे भी लिए हैं, जो शोध के क्षेत्र में बड़े लचीले ठहरते हैं। जैसे तिरुकुरल के धर्म, अर्थ, काम आदि आधारों की कुन्द-कुन्द के अन्य ग्रथों में वर्णित चत्तारि मगलं के पाठ से पुष्टि करना। हमे जैनेतर जगत के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खीच-तान कर लाये गये प्रमाण विषय को बल न देकर प्रत्युत निर्बल बना देते हैं। आग्रहहीन शोध ही लेखक की कसोटी है। शोध का सम्बन्ध सत्य से है, न कि सम्प्रदाय से।

जैनसाहित्यके अनन्य अनुरागी—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

डा० वासुदेवशरण अग्रबाल के निधन के समाचार अब रेडियो पर सुने तो हृदय को गहरा आधात लगा और ऐसा अनुभव हुआ जैसे कोई घनिष्ठ परिजन से सदा के लिए विछोह हो गया हो। वास्तव मे डा० अग्रवाल की मृत्यु का समाचार लेखक को ही नही किन्तु प्रत्येक भारतीय सस्कृति एव कला प्रेमी के लिए दुखप्रद रहा होगा। उनसे अभी देश की सस्कृति के गूढ एवं अज्ञात तथ्यों पर प्रकाश डाले जाने की बहुत आशाएँ थीं। वे वेद, उपनिषद् एवं भारतीय प्राचीनतम साहित्य के अधिकारी विद्वान् माने गये थे। इधर १०-१२ वर्षों में उनके जितने भी निबन्ध प्रकाशित हुए उन सब में उनके अगाध ज्ञान का दर्शन होता था। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा भारतीय संस्कृति के ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया जो उनके पूर्व अज्ञात माने जाते थे।

अग्रवाल साहब उच्चकोटि के लेखक थे। कलम के वे धनी थे। पुरातत्व एवं कला के वे प्रारम्भ से ही प्रेमी थे। वे देश के सबसे अधिक समाहत विश्व विद्यालय के चित्रणीय आचार्य थे और अपने ज्ञान को विद्यार्थियों मे मुक्त हस्त से वितरित करते रहते थे। वाराणसी आने से पूर्व राष्ट्रीय सग्रालय मथुरा, लखनऊ एव देहली के सचालक थे। इस अवधि में डा० साहब ने भारतीय पुरातत्व एव कला का गहरा अध्ययन किया और उनके गूढ तथ्यों का पता लगाने मे सफलता प्राप्त की। वेद एवं उपनिषदों का अध्ययन उन्होंने जयपुर के प्रसिद्ध वेदशास्त्री स्वर्गीय प० मोतीलाल जी शास्त्री के साथ बैठ कर किया। वे अपने जीवन के अन्त तक आचार्य एवं विद्यार्थी दोनों ही रहे और भारतीय साहित्य एवं सस्कृति की प्रत्येक शाखा का अध्ययन करते रहे।

लेखक का उनसे सर्वप्रथम सम्पर्क सन् १६४८ में हुआ जब उसने अपने प्रथम सम्पादिन ग्रन्थ 'आमेर शास्त्र भण्डार की ग्रन्थ सूची' सम्मत्यर्थ भेजी। इसके पश्चात् तो गत १८ वर्षों में बीसों पत्रोंका आदान-प्रदान चलता रहा। सभी पत्रों में उनकी आत्मीयता एव स्नेह के दर्शन होते थे तथा वे साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करते रहने को बराबर प्रोत्साहित करते रहते थे। पुस्तकों के अतिरिक्त जब कभी लेखक के द्वारा लिखा हुआ कोई खोजपूर्ण लेख उन्हें पसन्द आता तो वे तत्काल उसके सम्बन्ध मे अपना अभिमत प्रकट करते थे।

जीवन मे दो बार उनके साक्षात्कार का भी अवसर मिला। प्रथम बार जयपुर मे ही स्वर्गीय पं० मोतीलाल जी शास्त्री द्वारा स्थापित मानवाश्रम में उनसे भेंट हुई। यह भेट बिना किसी पूर्व सूचना के थी इसलिए मैं जब मानवाश्रम के अध्ययन-कक्ष मे प्रविष्ट हुआ तो देखने को मिला कि दो सज्जन किसी विशेष अध्ययन मे लगे हुए हैं। लेकिन दोनो के शरीर मे बडा अन्तर था। एक ओर मोतीलाल जी स्थूलकाय वाले थे जबकि डा० साहब कृषकाय के व्यक्ति थे। जब मैने अपना परिचय दिया तो उन्होंने तत्काल अपना कार्य बन्द कर दिया और मुझसे बातें करने लगे। मैं उस समय श्रद्धेय प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ एव मेरे द्वारा सम्पादित होने वाले हिन्दी के एक आदिकालिक काव्य 'प्रद्युम्न चरित' की पाण्डुलिपि को लेकर गया था। डा० साहब ने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखा और शीघ्र ही उनके सम्बन्ध में दो-चार प्रश्न पूछ डाले। उन्होंने उस कृति को शीघ्र ही प्रकाशित कराने का आग्रह किया और मैं उनका आशीर्वाद लेकर लौट आया। दूसरी भेट अभी वाराणसी में कोई ३॥ वर्ष पूर्व हुई। मैं वाराणसी मे किसी सम्मेलन में भाग लेने गया हुआ था तो उनके दर्शनों का मोह नहीं छोड सका। और जैन साहित्य एव संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् प० कैलाशचन्द जी शास्त्री, प्रो० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य एव प० फूलचन्द जी शास्त्री के साथ उनके निवास स्थान पर पहुँच गया। उनके अध्ययन-कक्ष में प्रविष्ट होने पर देखा कि वे अपने निजी सहायक को कुछ लिखवा रहे हैं। हम लोग उन्हीं के पास बैठ गए फिर साहित्य धर्म एव भारतीय पुरातत्व के सम्बन्ध में बातें होने लगीं। उस समय वे काफी क्षीण काय हो चुके थे लेकिन चारों ओर उनके पुस्तकों का अम्बार लगा हुआ था और उसमें वे खोये रहते थे। बातचीत के प्रसग में उन्होंने कहा कि वे जितना अधिक साहित्यिक कार्य करते हैं उतनाही अधिक आत्म संतोष उन्हें मिलता है। गत ४, ५ वर्षोंकी रूग्णावस्था में जितनी अधिक एवं उच्चस्तर का साहित्य उन्होंने लिखा इसके पूर्व वे इतना कभी नहीं लिख सके थे। इसलिए वे कहने लगे कि—वे बीमारी को वरदान मानते थे। वे लिखते ही रहते और कभी थकने का नाम नहीं लेते। वे सरस्वती के सच्चे उपासक थे और सरस्वती का भी उन पर पूरा हाथ था। जब मैंने डी० लिट० के विषय के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करना चाहा कि उन्होंने तत्काल 'जैन मूर्ति कला' पर कार्य करने के लिए कहा।

डा० साहब के जीवन एवं उनके साहित्य या प्रकाशित लेखो मे अब तक यही कहा जाता रहा है कि वे वैदिक साहित्य के प्रमुख विद्वान् थे। लेकिन भारतीय सस्कृति की एक शाखा जैन साहित्य एवं पुरातत्व के वे प्रशंसक थे इसके सम्बन्ध में किसी ने विचार नही किया है। वैसे वे जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य के भी अनन्य अनुरागी थे लेकिन लेख की आगे की पंक्तियो में मैं उनके जैन साहित्य एवं पुरातत्व के अनुराग एव विचारों पर प्रकाश डालना चाहूँगा। डा० साहब जैन साहित्य एवं संस्कृति के प्रमुख प्रशमक थे। इस दिशा मे वे हिन्दी भाषा भाषी विद्वानों से सदैव आगे रहे हैं और अपनी धर्म-निरपेक्षता का अच्छा परिचय दिया है। यद्यपि जैन धर्म साहित्य एव कला पर उन्होंने कोई स्वतन्त्र कृति तो नहीं लिखी लेकिन समय-समय पर प्रकाशित लेखो, पुस्तको के प्राक्कथनों एवं सम्मतियों में जो उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं वे उनकी इस सस्कृति के प्रति अनुराग एवं आस्था के द्योतक माने जा सकते हैं वे प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य को भारतीय साहित्य का महत्वपूर्ण अग मानते थे और उनके प्रकाशन के लिए लोगों को सदैव प्रेरित किया करते थे वे जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध मे स्पष्ट विचार रखते थे। उनके अनुसार वैदिक युग के प्रारम्भ से ही श्रमण संस्कृति के उल्लेख मितेल हैं।

इस सम्बन्ध में उन्होंने पं० कैलाशचन्द शास्त्री द्वारा लिखित 'जैन साहित्य का इतिहास' के प्राक्कथन में जो विचार प्रकट किये हैं वे निम्न प्रकार हैं :—

"जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। 'भगवान महावीर' तो अन्तिम तीर्थंकर थे। मिथिला प्रदेश के लिच्छवि गणतन्त्र से, जिसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है, महावीर का कौटुम्बिक सम्बन्ध था। उन्होने श्रमण परम्परा को अपनी तपश्चर्या द्वारा एक नई शक्ति प्रदान की, जिसकी पूर्णतम परम्परा का सम्मान दिगम्बर परम्परा में पाया जाता है। भगवान महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे। उनके नाम और जन्म वृत्तान्त जैन साहित्य में सुरक्षित हैं। उन्ही मे भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला मे उनका अकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। 'ऋषभनाथ' के चरित का उल्लेख श्रीमद्‌भागवत' में भी विस्तार से आता है और यह सोचने पर वाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा। 'भागवत' मे ही इस बात का उल्लेख है कि महा-योगी भरत ऋषभ के शत पुत्रों मे ज्येष्ठ थे और उन्ही से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

येषां खलु महायोगी भरतो, ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण आसीत।
येनेदं वर्ष भारतमिति, व्यपदिशन्ति॥" भागवत ५।४।६

राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारो की सग्रहीत सामग्री से वे अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी यह मान्यता थी कि इन शास्त्र भण्डारों का व्यवस्थित रूप से शोध होना चाहिए। जिससे भारतीय साहित्य के विविध अगो पर व्यवस्थित प्रकाश डाला जा सके। लेखक द्वारा सम्पादित राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची के चार भागों की उन्होंने मुक्तकठ से प्रशसा की थी। और चतुर्थ भाग की तो स्वय ने भूमिका भी लिखी इस अवसर पर जो अपने विचार व्यक्त किए है वे अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

"विकास की उन पिछली शतियों में हिन्दी साहित्य के कितने विविध साहित्य रूप थे यह भी अनुमधान के लिये महत्वपूर्ण विषय है। इस सूची को देखते हुये उनमे से अनेक नाम सामने आते है। जैसे स्तोत्र, पाठ, संग्रह, कथा, रासो, रास, पूजामगल, जयमाल, प्रश्नोत्तरी, मंत्र, अष्टक, सार, समुच्चय, वर्णन, सुभाषित, चौपाई, शुभ-मालिका, निशाणी, जकड़ी, व्याहलो, बधावा, विनती, पत्री, आरती, बोल, चरचा, विचार, बात, गीत, लीला, चरित्र, छंद, छप्पय, भावना, विनोद, कल्प, नाटक, प्रशस्ति, धमाल, चौढालिया, बत्तीसी, पच्चीसी, बावनी, सतसई, सामायिक, सहस्त्रनाम, नामावली, शकुनावली, स्तवन, सम्बोधन, चौमासिया, बारहमासा, बेलि, हिंडोलणा, चूनड़ी, बाराखडी, सज्झाय, भक्ति, बन्दना, आदि। इन विविध साहित्य रूपो से किसका कब आरम्भ हुआ और किस प्रकार विस्तार और विकास हुआ यह शोध के लिए रोचक विषय है। उसकी बहुमूल्य सामग्री इन भडारों में सुरक्षित है।"

"अपभ्रंश" भाषा प्राचीन हिन्दी का एक महत्वपूर्ण मोड़ प्रस्तुत करती है। वह इसके लिये अमृत की घूंट के समान है। अपभ्रंश के ग्रथो का अध्ययन, प्रकाशन एव अपरिशीलन अत्यावश्यक है। पं० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा सम्पादित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह" द्वितीय भाग के प्राक्कथन मे डा० साहबने इस सम्बन्ध में अपने सुलझे हुये विचार व्यक्त किये है। उन्होंने कहा है।

"अपभ्रश एव अपहट्ट भाषा ने जो अद्‌भुत स्थान प्राप्त किया, उसकी कुछ कल्पना जैन भडारो मे सुरक्षित साहित्य से होती है। अपभ्रंश भाषा के कुछ ही ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाश मे आये है और भी सैकड़ो ग्रन्थ अभी तक भडारो मे सुरक्षित हैं एव हिन्दी के विद्वानो द्वारा प्रकाश में आने की बाट देख रहे हैं। अपभ्रंश साहित्य ने हिन्दी के न केवल भाषा रूप साहित्य को समृद्ध बनाया, अपितु उनके काव्य रूपो तथा कथानकों को भी पुष्पित और पल्लवित किया। इन तीन तत्वो का सम्यक् अध्यापन अभी तक नही हुआ है। जो हिन्दी के सर्वांगपूर्ण इतिहास के लिये आवश्यक है। वस्तुतः अपभ्रंश भाषा का उत्तम कोष बनाने की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि प्राचीन हिन्दी के सहस्त्र शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ अपभ्रंश भाषा मे सुरक्षित है। इसी के साथ-साथ अपभ्रंश भाषा कालीन समस्त साहित्य का एक विशद् इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता अभी बनी हुई है।"

"जैन कला" के महत्व के सबंध में वे स्पष्टमत के

थे। जैन कला का संक्षिप्त वर्णन उन्होंने "मथुरा की जैन कला" जयपुर से प्रकाशित लेख मे किया है। उन्होंने लिखा है कि मथुरा जैन धर्म का भी प्राचीन केन्द्र रहा है। बौद्धो एवं हिन्दुओं की भाति जैन धर्म के अनुयायी आचार्यों ने मथुरा को अपना केन्द्र बनाकर अपने भक्त श्रावक श्राविकाओ को प्रेरित करके प्राचीन मथुरा मे स्तूपो और मन्दिरो की स्थापना की। कंकाली टीले की खुदाई मे जैन शिल्प कला की सामग्री प्राप्त हुई है।

डा० अग्रवाल साहब का एक लेख जैन विद्या, श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ में सन् १९४८–४९ मे प्रकाशित हुआ था जिसमे उन्होने विस्तार से जैन साहित्य के महत्व पर प्रकाश डाला है। उन्होने एक स्थान पर लिखा है।

"इन सबसे बढकर एक दूसरे क्षेत्र म जैन विद्या का सर्वोपरि महत्व हमारे सामने आता है और वह है भाषा शास्त्र के क्षेत्र मे। भारत की प्राय: सभी प्रान्तीय भाषाओ का विकास अपभ्रश से हुआ है। जैन साहित्य मे अपभ्रश भाषा के ग्रन्थो के कितने ही भन्डार भरे है। अभी बीसियो वर्ष तो इस साहित्य को प्रकाशित करने मे लगेगे। लेकिन जो भी ग्रन्थ छप जाता है वह भी हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास के लिये बहुत सी नई सामग्री हमारे लिये प्रस्तुत करता है। हिन्दी भाषा मे एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति खोज निकालने का बहुत बड़ा काम अभी शेष है। व्याकरण की दृष्टि से वाक्यो की रचना और मुहावरों के प्रारम्भ का इतिहास भी महत्वपूर्ण है। इसके लिये अपभ्रश साहित्य से मिलने वाली समस्त सामग्री को तिथिक्रम के अनुसार छाटना होगा और कोष और व्याकरण के लिये उसका उपयोग करना होगा।"

जहा तक भारतीय सस्कृति और वांगमय का सम्बन्ध है। हम उसके अखन्ड स्वरूप की आराधना करते है। ब्राह्मण और श्रमण दोनो ही धाराओ मे उसका स्वरूप सम्पादित हुआ है। श्रमण सस्कृति के अन्तर्गत जैन संस्कृति, साहित्य, धर्म, दर्शन और कला इन चार क्षेत्रो मे अति समृद्ध सामग्री प्रस्तुत करती है। नई दृष्टि से उसका अध्ययन और प्रकाशन आवश्यक है। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि जैन विद्वान निष्ठा के साथ इस कार्य मे लगे हुये हैं। उनके सफल प्रयत्न उत्तरोत्तर बलवान हो रहे हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ की सामग्री मे तो अब प्राय देश के सभी विद्वानों की अभिरुचि बढ रही है। ये विचार है जो उन्होने प्रकाशित जैन साहित्य के प्राक्कथन मे व्यक्त किये हैं।

"डा० साहब ने जैन धर्म, साहित्य एवं संस्कृति के सम्बन्ध में जिन पुस्तकों एव लेखों में उल्लेख किया है उनमे से कुछ के नाम निम्न प्रकार हैं :

१. प परमानन्द जी शास्त्री द्वारा सम्पादित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह—प्राक्कथन
२ राजस्थान के जैन शास्त्र भडारों की ग्रन्थ सूची भाग ४—दो शब्द सम्पादक डा० कस्तूरचद कासलीवाल, प० अनूपचद न्यायतीर्थ
३. बीकानेर के जैन लेख संग्रह : श्री अगरचन्द जी नाहटा प्राक्कथन
४. प्रकाशित जैन साहित्य : सयोजक श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल—प्राक्कथन
५. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका : पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री—प्राक्कथन
६. "जैन विद्या" श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ भाग १ सन् १९४८–४९ मे प्रकाशित—लेख
७. मथुरा की जैन कला . महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर : अप्रैल १९६२—लेख
८. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : डा० कामता प्रसाद जी जैन—प्राक्कथन
९. रूप रूप प्रतिरूपोभव" : विजय सूरि स्मारक ग्रन्थ—लेख

उक्त कुछ प्राक्कथनों के अतिरिक्त डा० अग्रवाल के "अनेकान्त" जैन सिद्धान्त भास्कर, वीरवाणी आदि पत्रो में जैन साहित्य एव पुरातत्व के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण लेख भी प्रकाशित हुये हैं। "अग्रवाल साहब" के निधन से साहित्यक समाज की जो महती क्षति हुई है उसकी निकट भविष्य मे पूर्ति होना सम्भव नही है।

———

दिल्ली शासकों के समय पर नया प्रकाश

हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री

जैन शास्त्र-भण्डारों में भारतीय इतिहास की कितनी विपुल सामग्री भरी पड़ी है, यह बात इतिहासज्ञ विद्वानों से अविदित नहीं है फिर भी उनकी छान-लीन के लिए हमारी भारत सरकार का ध्यान बिल्कुल भी नहीं गया है। कहने को तो वह धर्म-निरपेक्ष सरकार कही जाती है, पर उसमें साम्प्रदायिकता का कितना बोलबाला है, यह इसी से प्रकट है कि उसकी ओर से आज तक भी जैन शास्त्र-भण्डारों की शोध-खोज के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया है। प्रत्युत जैनेतर विद्वानों के द्वारा जैन साहित्य साम्प्रदायिक कह करके उपेक्षित किया जाता रहा है। क्या जैन विद्वानों द्वारा लिखे जाने मात्र से ही उसमे साम्प्रदायिकता की गन्ध आने लगती है? आज भारत की अनेक भाषाएं ऐसी हैं जिनमे लिखने का श्रीगणेश करने वाले जैन विद्वान ही रहे हैं और उन भाषाओ का इतिहास एवं साहित्य आज साम्प्रदायिक कहे जाने वाले जैन विद्वानों की कृतियों से ही समृद्ध है।

भारत के प्राचीन इतिहास की आज तक जितनी भी शोध-खोज हुई है, उसमे जैन विद्वनों की रचनाओ का, जैन शिलालेखों का, जैनमूर्तिकला एवं स्थापत्य कला का कितना महान् योगदान है। यह बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। जैन शास्त्र-भण्डारों मे विद्यमान पोथियों और गुटकों के भीतर अपरिमित ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं लोक-कल्याणकारी सामग्री विद्यमान है।

अभी हाल मे ही ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन के प्राचीन हस्त-लिखित गुटको की छान-बीन करते हुए मुझे एक गुटके में 'दिल्ली' स्थापना-काल से लेकर जहांगीर बादशाह के काल तक के शासकों की नामावली और राज्य-काल-गणना प्राप्त हुई है, जिसे अविकल रूप से यहा दिया जाता है। यह गुटका वि० स० १७१० के फागुना सुदी ५ शनिवार का लिखा हुआ है। गुटके का वे० न० ८४० है। इसकी पत्र-सख्या ७३ है। पत्रों का आकार ५ × ६ इंच है। प्रत्येक पृष्ठो मे १२ पंक्तियां हैं और प्रति पक्ति मे १७-१८ अक्षर है।

वैसे तो दिल्ली बहुत प्राचीन है और यह पाण्डवों की राजधानी रही है, पर तब इसका नाम 'इन्द्रप्रस्थ' था। 'दिल्ली' यह नाम कब पडा, इस विषय में इतिहासज्ञ का एक मत नही हैं। साथ ही 'दिल्ली' नाम रखे जाने के पश्चात् मुगल काल तक कौन-कौन इसके शासक हुए और उन्होंने कितने समय तक शासन किया, इसका क्रमबद्ध एवं परिपूर्ण उल्लेख अभी तक सामने नही आया है। गुटके के इस विवरण से इस विषय पर बहुत कुछ नवीन प्रकाश पड़ेगा और अनेक ऐतिहासिक तथ्य निश्चय करने में सहायता प्राप्त होगी। गुटके का यह उपयोगी अश इस प्रकार है—

१. स० ८०९ वर्षे वैशाख······[1] दिल्ली नगर बस्यो, खूंटी गाड़ी, राजा पाटि बिठा, ते आसामी

संख्या	पाट	राजानी आसामी	वर्ष	मास	दिन	घड़ी	विशेष विवरण
१	राजा	बीसल तूवर	१९	५	१८	१९	अनगपाल प्रथम
२	राजा	गागेय	२१	३	२८	९	गंगदेव
३	राजा	पृथ्वीमल	१९	६	१९	११	पृथ्वीराज तोमर प्रथम
४	राजा	जगदेव	२०	७	२७	१५	(?)
५	राजा	नरपाल	१५	३	८	३	(?)

टिप्पणी—१ यहाँ का पत्रांक टूटा है।

६	राजा	उदयसंघ	१४	४	९	९	उदयसिंह या उदयरवि
७	राजा	जयदास	१६	७	११	१६	जयसिंह या जयदेव
८	राजा	वाछल	२१	२	१३	१७	वच्छराज या वत्सराज
९	राजा	पावक	२२	१	८	१६	पीवक (?)
१०	राजा	विहंगपाल	२१	६	५	११	विजयपाल
११	राजा	तोलपाल	२०	४	४	८	तेजपाल या नेकपाल
१२	राजा	गोपाल	१८	३	१५	८	(?)
१३	राजा	सुलखण	२५	१०	१०	१६	सुलक्षण
१४	राजा	जसपाल	१६	४	१३	१	जयपाल
१५	राजा	कंवरपाल	२१	३	११	८	किरपाल (?)
१६	राजा	अनंगपाल	२९	६	१८	१०	अनंगपाल द्वितीय
१७	राजा	तेजपाल	२४	१	६	११	विजयवाल
१८	राजा	महीपाल	१५	३	१७	१९	मदनपाल या मोहनपाल
१९	राजा	डकतपाल (?)	२१	२	१५	१६	अनेकपाल या कृतपाल
२०	राजा	पृथ्वीराज तूवर	२२	३	१६	१७	पृथ्वीराज तोमर द्वितीय

२. संवत् १२०९ चैत्र सुदि २ दिल्ली लड़ाई हुई, चउहाणा जीते। तूवर हारे। अत्र चउहाण राज बिठा, ते लखीइ—

संख्या	पाट	राजानी आसामी	वर्ष	मास	दिन	घड़ी	विशेष विवरण
२१	राजा	वीसल चऊहाण	६	१	४	१५	विग्रहराज
२२	राजा	अमरगागेव	५	२	३	११	अमर गागेय या गंगदेव
२३	राजा	पाहड	८	१	५	११	पृथ्वीराज चौहान प्रथम
२४	राजा	सोमेसर	७	४	२	९	सोमेश्वर
२५	राजा	चाहड़ (?)	४	४	०	८	चोहड (?)
२६	राजा	नागदोण	३	१	५	८	नागदमन
२७	राजा	पृथ्वीराज चऊहाण	६	०	०	०	पृथ्वीराज चौहान द्वितीय

३. संवत १२४९ वर्ष चैत्र वदि १३ चउहाण हारया। रोहवइ पठाण आया। दिल्ली तुरकाणा हुआ छइ।

सख्या	तखत	तुरकनी पातसाह	वर्ष	मास	दिन	घड़ा	विशेष विवरण
२८	पात०	साहबदा गजनी	१४	५	१७	१३	शहाबुद्दीन गोरी
२९	पात०	साह समसदी	२	३	१३	१५	शमसुद्दीन
३०	पात०	कुतुबदी साह	२६	६	७	२७	कुतुबुद्दीन प्रथम
३१	पात०	पेरोज साह	३१	३	१०	१९	फीरोजशाह प्रथम
३२	पात०	अमानत भाणजा	३	२	११	२१	(?)
३३	पात०	अलावदीन	३१	६	५	२	अलाउद्दीन प्रथम
३४	पात०	समीरदीन	२१	०	५	२७	नासिरुद्दीन (?)
३५	पात०	ग्यासदीन	२१	०	१	१२	ग्यासुद्दीन प्रथम

३६	पात०	समसदीन	१	६	१६	१७	शमसुद्दीन
३७	पात०	जलालदीन	६	६	६	६	जलालुद्दीन रजिया सुलताना
३८	पात०	रुकनदीन	०	३	१३	६	रुकनुद्दीन
३९	पात०	अलादैत्य	१९	३	५	११	(?)
४०	पात०	अलावदीन	४	१	१३	९	अलाउद्दीन द्वितीय
४१	पात०	कुतबदी जरबक	४	१	१३	९	कुतुबुद्दीन द्वितीय
४२	पात०	महमुंद घोहड़ा	२७	३	११	१३	मोहम्मशाह प्रथम
४३	पात०	पेरोजशाह	३७	३	१३	३	फीरोजशाह द्वितीय
४४	पात०	तुगलक साह	०	३	१३	७	गयासुद्दीन द्वितीय (?)
४५	पात०	बुबक साह	०	६	१५	१५	अबूबक तुगलक
४६	पात०	दौलत खांन कुमानत	७	१	१८	१	दौलत खा लोदी
४७	पात०	मलूखान तुगलक	८	८	१८	४	(?)
४८	पात०	महिमुद साह	१२	१	१९	२४	मोहम्मदशाह द्वितीय
४९	पात०	खिदर खान	८	८	१८	११	खिजरखान
५०	पात०	अलावदीन	०	३	१०	९	अलाउद्दीन तृतीय
५१	पात०	अजन अलावदीन	३	३	८	१५	(?)
५२	पात०	बहलोलखांन लोदी	३८	२	१८	१५	बहलोलखां लोदा,
५३	पात०	सकदर लोदी	२८	५	१२	१६	सिकदर लोदी
५४	पात०	अब्राहिम लोदी	१०	५	२७	१०	इब्राहिम लोदी
५५	पात०	बावर मुगल	३	५	२२	१५	बाबर शाह
५६	पात०	हुमाऊ मुगल	१०	४	११	१७	हुमायूँ शाह

४. सं० १५९७ जेठ सुदि १२ मुगल हारे सेरखान सूर जीत्या। दिली बिठा। साह आलमसूर हुआ।

५७	पात०	साह आलमसूर	६	०	०	०	शेरशाह सूर
५८	पात०	सलेमसाह सूर	८	५	८	१३	सलामशाह सूर
५९	पात०	पेरोजसाह सूर	०	०	३	९	फीरोजशाह सूर

५. ममरेजखान मारथा अदली नाम धराया।

६०	पात०	अदली	०	१	३	४	मोहम्मद शाह
६१	पात०	सकदर	०	६	११	०	सिकन्दर शाह

६. सकदर गाजीखान अब्राहम सूर ३ तिहु हींदु घाल्यो।

६२	पात०	हूंमसाह दुजिआया ?	१	१	११	२	हुमायूँ मुगल द्वारा गद्दी पर बैठा
६३	राजा	हेमुवणिक पाठ बिठु	०	०	१६	५	हेमू बनिया गद्दी पर बैठा

७. विक्रमादित्य नाम धराया, वसतपानी[1] लड़ाई पड़ी। अकबर जीत्या वाणिक नाग (मारथा ?) सं० १६१३ फागुण सुदि २ अकबर जलालदीन पाट बिठा।

६४	पात०	अकबर साह	४८	९	११	१५	अकबर बादशाह

१. यह एक वणिक था, जो अपने अध्यवसाय से बंगाल का शासक बना था हुमायूँ की मृत्यु का समाचार पाकर दिल्ली आकर बादशाह बन बैठा और १६ दिन तक बादशाह रहा और पानीपत की दूसरी लड़ाई में हाथी के होदे पर बैठे हुए आख मे तीर लगने से मृत्यु को प्राप्त हुआ। —सम्पादक

८. साह सलेम जांगीर सं० १६६२ मगसिर वदि १२ आगरामध्ये पाट बिठा।

६५ पात० जहांगीर सलेमसाह २१ ११ ३ ० जहांगीर बादशाह

९. "सवत् १६८४ वर्षे जहांगीर काल कोधु कार्तिक वदि अमासि रवौ पाछि सुलतान बुलाखी नइ कार्तिक सुदि २ पातसाही दीधी। तथा लाहोर माहि पातसाही सहिरइयारि लीधी। कार्तिक सुदि ४ ने दिने काश्मीर थी बुलाखी आयो। कार्तिक सुदि १५ के दिनि सहिरइयार बदी कीया। माह वदि १० रवौ बुलाकी बद किया। माहवदि १२ दिने बुलाकी सहिरयार प्रमुख जीविया ववरोवीया कीधा ॥ कहि छइ ॥ लोक वादि ॥ माहसुदि १० दिने आगरा माहि खुरम सुलतान पातसाही बिठा। चारि माम माहि एह बात हुइ छइ।"

॥जेह वु देख्यु तेह वु लख्यु छि सही ॥

ऊपर के उद्धरण मे प्रथम कालम का सख्या क्रम और अन्तिम कालम का विशेष विवरण मैंने दिया है। शेप सर्व उद्धरण गुटके से ज्यो का त्यो दिया गया है।

उपरि लिखित दिल्ली शासक-नामावली से निम्न बाते फलित होती हैं·········।

१. वि० स० ८०९ के पूर्व इस नगर का नाम इन्द्रप्रस्थ रहा होगा। दिल्ली नाम इस वर्ष से ही प्रचलित हुआ मानना चाहिए; क्योंकि वशावली प्रारम्भ होने के पूर्ववर्ती उल्लेख से स्पष्ट है कि स० ८०९ मे ही दिल्ली नगर को बसाने के लिए खूंटी गाडी गई है।

२. नम्बर दो के उल्लेख से स्पष्ट है कि स० १२०९ के चैत सुदी २ को दिल्ली मे लडाई हुई उसमें तोमरवंशी हारे और चौहान वशी जीते।

३. नम्बर तीन के उल्लेख से प्रकट है कि स० १२४९ मे दिल्ली में पुन लड़ाई हुई और उसमे पृथ्वीराज चौहान हार गया। रोहतक की ओर से पठानो ने आक्रमण किया और दिल्ली की गद्दी पर शहाबुद्दीन गौरी बैठा।

४. वि० सं० १५६७ के जेठ में पुन लड़ाई हुई और उसमें हुमायूं बादशाह हार गया और आलमसूर दिल्ली के तख्त पर बैठा, जिसे कि शेरशाह सूर भी कहा जाता है।

५. इसके लगभग १५ वर्ष बाद ही दिल्ली मे फिर गड़बड़ मची। जिसका उल्लेख पैरा न० ५ और ६ में किया गया है। हुमायूं ने अपनी खोई हुई दिल्ली की बादशाहत को पुन. प्राप्त किया। उसके मरने पर हेमू बनिये ने भी १६ दिन राज्य किया है।

६. इसके बाद अकबर और उसके पुत्र जहांगीर दिल्ली के तख्त के बादशाह हुए हैं।

७. नवें नम्बर के अन्तिम उल्लेख से कई महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है, जो कि केवल चार मास के भीतर ही घटित हुई हैं—

१. सं० १६८४ के कार्तिक की अमावस को जहांगीर की मृत्यु हुई। तब कार्तिक सुदी २ को बुलाखी सुलतान को बादशाहत दी गई। इसी समय लाहौर में सहिरयार से बादशाहत प्राप्त की। कार्तिक सुदी ४ के दिन काश्मीर मे बुलाखी आया और उसने कार्तिक सुदी १५ के दिन सहिरयार को बन्दी बनाया। पुनः माघ वदी १० के दिन बुलाखी भी बन्दी बना दिया गया। माघ वदी १२ के दिन बुलाखी और सहिरयार आदि कितने ही लोगों को जीवित मार दिया। उक्त पट्टावली का लेखक लिखता है कि ऐसा लोग कहते हैं। अर्थात् इसमे सचाई का कितना अश है, यह मैं नही जानता। इसके पश्चात् माघ सुदी १० के दिन आगरा मे खुर्रम सुलतान बादशाह की गद्दी पर बैठा, जो पीछे शाहजहा के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रकार कार्तिक से लेकर माघ तक चार महीनों के भीतर उक्त घटनाएं घटित हुई हैं।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जहांगीर की मृत्यु से लेकर शाहजहां के गद्दीनशीन होने तक चार महीनो की घटनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् लेखक सबसे अन्त मे लिख रहा है कि "च्यारि माम मांहि एह बात हुइ छइ। जेह वुं देख्यु, तेह वुं लख्यु छि सही। इससे बिलकुल स्पष्ट होता है कि ये चार महीने की घटनाएँ लेखक के जीवन काल मे ही घटित हुई हैं और इसकी सत्यता का प्रमाण भी इस उल्लेख के पूर्ववर्ती पंक्ति से मिलता है जिसमें कहा गया है कि बुलाखी आदि को जीवित मार दिया गया, ऐसा लोग कहते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनके मारने को उसने अपनी आखों

से नहीं देखा है, न उसके सामने कोई प्रत्यक्ष-दर्शी व्यक्ति का साक्ष्य ही उपस्थित था। फिर यह गुटका जहांगीर की मृत्यु के केवल २६ वर्ष बाद वि० स० १७१० में लिखा गया है अतः यह निश्चित ज्ञात होता है कि जहांगीर की मृत्यु के समय लेखक जीवित था और उसकी अवस्था भी नौजवानी की रही होगी।

इस प्रकार गुटके के उद्धरण किये गये शासक पट्टावली लेख से सं० ८०६ से लेकर १६८४ तक के ८७५ वर्ष के भीतर होने वाले दिल्ली के शासको पर और वहां होने वाली लड़ाइयो पर एक नवीन ही प्रकाश पड़ता है तथा दिल्ली बसाइ जाने का भी स्पष्ट उल्लेख सामने आता है। शासकों की नामावली मे अनेक नाम सदिग्ध हैं, क्योंकि उनका अन्य साधनों से उपलब्ध नामों के साथ सामञ्जस्य नही बैठता है। विशेष विवरणमें जो इतिहास-प्रसिद्ध नामो का उल्लेख किया गया है, उसके लिए मैं मुंशी देवीप्रसाद लिखित दिल्ली शासकों की वंशावली का आभारी हूँ। नामो के निर्णय करने में मुझे स्थानीय पटेल हायर सेकेण्डरी हाई स्कूल के हेडमास्टर श्री दुर्गाप्रसाद जी शर्मा एम. ए. का साहाय्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

दिल्ली के सम्बन्ध में—

दिल्ली के सम्बन्ध में अब तक जो सामग्री उपलब्ध हुई है, वह प्रकाशित की जा चुकी है। प्रस्तुत पट्टावली मे कोई खास विशेषता नहीं है, फिर भी हमने पाठकों की जानकारी के लिये प्रकाशित की है। आवश्यकता है उसके संकलन एवं अध्ययन की। दिल्ली और दिल्ली की राजावली अनेकान्त के आठवे वर्ष की दूसरी किरण मे तुलनात्मक टिप्पण के साथ प्रकाशित की जा चुकी है। उसके बाद दिल्ली की 'दोहा राजावली' में स० १६८७ मे भगवतीदास अग्रवाल द्वारा रचित जैन सन्देश के शोधांक ११ मे १ जून १६६१ के अंक मे प्रकाशित हो चुकी है। सन् १६६३ मे 'इन्द्रप्रस्थ' नाम का एक संस्कृत प्रबध डा० दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। साथ ही राजस्थानी पत्रिका के भाग ३ अंक ३-४ मे 'दिल्ली के तबर राज्य' पर एक लेख उक्त डाक्टर सा० का भी प्रकाशित हुआ है। उसके परिशिष्ट मे तबर वशावलियां भी दी गई है। इन सब मे भगवतीदास की उक्त 'दोहावली' बहुत सुन्दर है, जिसके प्रत्येक दोह, में राजा का नाम, राज्यकाल के वर्ष, महीना, दिन और घड़ी तक का उल्लेख किया गया है। दिल्ली के शिलालेख से यह बात सिद्ध है कि दिल्ली को अनंगपाल द्वितीय ने वसाया था जो तोमरवशी था। दिल्ली पर तोमरवशियो का राज्य सं० १२१६ तक रहा है। उसके बाद वे सूबेदार के रूप मे कुछ समय दिल्ली पर शासन कर सके हैं। स० ११८९ मे दिल्ली मे अनगपाल तृतीय का राज्य था, उस काल के कवि श्रीधर द्वारा रचे गये पार्श्वपुराण मे दिल्ली और अनगपाल का अच्छा वर्णन किया है। स० १२२३ मे मदनपाल नामक तोमर राजा की मृत्यु खरतरगच्छ की पट्टावली के अनुसार मानी जाती है। स० १२१६ से १२४६ तक दिल्ली पर चौहानो का अधिकार रहा। १२४६ से सन् १८०३ तक मुसलमानों का शासन रहा है। १८०३ से १६४७ तक अंगरेजों का राज्य रहा। और १६४७ में कांग्रेस का राज्य हो गया था, जो अब तक मौजूद है। और आगे भी चलेगा। आवश्यकता इस बात की है, दिल्ली पर प्रकाशित साहित्य का अध्ययन कर उसका सिलसिलेवार इतिहास लिखा जाय। उससे दिल्ली के शासकों का व्यवस्थित इतिहास प्रकाश में आ सकता है, और वह कई पीढ़ी के युवकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

—सम्पादक

निर्वाण काण्ड की निम्न गाथा पर विचार

पं० दीपचन्द पाण्ड्या

निर्वाण विषयक रचनाओ में निर्वाण भक्ति के अतिरिक्त प्राकृत निर्वाणकाण्ड एक महत्वपूर्ण रचना है। यद्यपि उसका रचनाकाल निश्चित नही है। फिर भी वह अपना खास वैशिष्टय रखता है। उक्त काण्ड में निर्वाण क्षेत्रों के अतिरिक्त कुछ अतिशय क्षेत्रो को भी बादमें जोड़ दिया गया है। यह कार्य कब हुआ यह कुछ ज्ञात नही है। अस्तु, आज निर्वाण काण्ड की निम्न गाथा पर विचार करना ही इस लेख का प्रमुख विषय है :—

णायकुमार मुणिंदो बालि-महाबालि चेव अज्झेया।
अट्ठावय-गिरि-सिहरे णिव्वाण-गया णमो तेसिं ॥१५॥

इस गाथा का अनुवाद भैया भगवतीदास ओसवाल ने स० १७४७ मे निम्न प्रकार किया है—

बालि महाबालि मुनि दोय, नागकुमार मिले त्रय होय।
श्रीअष्टापद मुक्ति मझार, ते वंदू नित सुरति सम्हार।१५

वीरसेवामन्दिर सरसावा से प्रकाशित शासन चतुस्त्रिंशिका के परिशिष्ट पृष्ठ २७ पर प० दरबारीलाल कोठिया ने कैलाश गिरि का परिचय देते हुए लिखा है कि—उनके बाद मे नागकुमार बालि और महाबालि आदि मुनिवरों ने भी वहीं से सिद्ध पद पाया था।

क्रियाकलाप के सम्पादक प० पन्नालालजी सोनी ने उक्त गाथा का सस्कृत अनुवाद करते हुए "नागकुमार मुनीन्द्रो, बालि महाबालिश्च आध्येयाः ॥" दिया है।

इन चारों उल्लेखों के प्रकाश मे लगता है कि प्रायः जैन जनता की यही धारणा बनी हुई है कि ये बालमुनि सुग्रीव के भाई ही हैं। आचार्य रविषेण के पद्मचरित के अनुसार जिन्होंने कैलाश गिरि पर घोर तपश्चरण किया और रावण के कोप से कैलाश गिरि के नाश को बचाया था। तथा अपने पैर के अंगूठे को जरा सा दबा दिया था जिसके भार से दब कर दशानन रोने लगा था और इसी से उसका नाम 'रावण' प्रचलित हो गया था। पद्मचरित के अनुसार मेरी तथा अन्य विद्वानों की यह धारणा थी कि प्रस्तुत बालि मुनि मोक्ष गए। वे बालि मुनि सभवतः सुग्रीव के ही भाई हैं। किन्तु उनका नाग कुमार के साथ सामंजस्य कैसे बिठाया जा सकता है। साहचर्याच्च कुत्रचित्' अमरकोष के इस परिभाषा वाक्य के अनुसार अथवा प्रकरण या उक्त वाक्य के अनुसार उक्त गाथा का पाठ 'वाल महावाल' होना चाहिए।

जिसका अर्थ व्याल महाव्याल होगा। क्योंकि नागकुमार के साथ व्याल महाव्याल नामक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर तपश्चरण द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्त हुए थे। ऐसा मल्लिषेण के नागकुमार चरित्र मे उल्लेख है। नागकुमार मगधदेशस्थ कनकपुर के राजा जयंधर की रानी पृथ्वी देवी का पुत्र था जिसका जन्म नाम प्रतापंधर था, किन्तु बावडी में गिर जाने पर सर्पों से सरक्षित होने के कारण उसका नाम नागकुमार प्रसिद्ध हो गया था। यह बडा पुण्यशाली था। व्याल और महाव्याल दोनों भाई उत्तर मथुरा के राजा जयवर्मा और जयावती देवी के पुत्र थे। वे विज्ञान से युक्त और संग्राम करने मे प्रवीण तथा महा सुभट थे[१]। ये दोनो ही नागकुमार के अनुचर के रूप में साथ रहे हैं। और दोनो ने ही नागकुमार के साथ दीक्षित होकर कैलाश पर्वत पर तपश्चरण द्वारा मुक्ति प्राप्त की थी[२]। इससे स्पष्ट हं कि निर्वाण काण्ड की उस गाथा मूल पाठ 'बालि महाबालि' अशुद्ध है। और सभवतः उस पर से ही यह गलत धारणा बनी है। और भगवती दास का उक्त अनुवाद भी सदोष है। ऊपर के समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि निर्वाण काण्ड की उस गाथा के मूल पाठ में सशोधन कर 'वाल महावाल' पाठ बना लेना चाहिए। ऐसा करने से अर्थ की सगति बन जायगी। आशा है विद्वान इसी प्रकार प्रचलित पाठो में जो अशुद्धियां पाई जाती है, उनके परिमार्जन करने का प्रयत्न करेंगे।

---

१. तहो वाल महावालक पुत्त, विण्णाण जुत्त सगामधुत्त।
पुरवर कवाडणिह वियडवच्छ, थिर फलिहबाहु आय त्तिरच्छ॥
पुष्पदन्त नागकुमार चरिउ ४–१

२. देखो मल्लिषेण के नागकुमार चरित का अनु० पृ० ७८

उपनिषदों पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव

मुनिश्री नथमल

भारतीय साहित्य की दो धाराएं मानी जाती हैं—वैदिक और श्रामणिक। जैन और बौद्धो का जो साहित्य है उसे श्रामणिक (श्रमण परम्पराका) और शेष सारे साहित्य को वैदिक कहा जाता है। पर वह स्थापना निर्दोष नही है। यहां श्रमण के अनेक सम्प्रदाय रहे है—जैन, बौद्ध, आजीवक, गैरिक, तापस आदि१। मूलाचार के अनुसार रक्तपट, चरक, तापस, परिव्राजिक, शैव, कापालिक आदि भी अवैदिक सम्प्रदाय थे२। सांख्य दर्शन वैदिक धारा का प्रबल विरोधी था। उसने कठ, श्वेताश्वतर, प्रश्न, मैत्रायणी जैसे प्राचीन उपनिपदो को बहुत प्रभावित किया था।

समय के प्रभाव में आजीवको का आज अस्तित्व नही रहा। पर उनका साहित्य सर्वथा लुप्त नही हुआ। उसने वैदिक और अवैदिक सभी साहित्य धाराओं मे स्थान पाया है। गैरिक, तापस आदि वैदिक परम्परा मे विलीन हो गए है पर उनका साहित्य उनकी धारा मे पूर्ण विलीन नहीं हुआ। उनका अपना स्वर आज भी मुखरित है।

स्थानाङ्ग से पता चलता है कि महावीर के युग मे साहित्य की तीन धाराएँ प्रवाहित हो रही थी—लौकिक, वैदिक और सामयिक३। राजनीति, अर्थनीति, और काम नीति सम्बन्धी ग्रन्थ लौकिक साहित्य की कोटि मे आते थे। ऋक्, यजु और साम ये तीन वेद वैदिक साहित्य के मुख्य ग्रन्थ थे। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निरूपक ग्रन्थ सामयिक वा श्रामणिक साहित्य की धारा क थे।

इस लेख मे मेरा प्रतिपाद्य विषय यह है कि उपनिषद् पूर्णरूपेण वैदिक धारा के ग्रन्थ नही है। आज हम जिसे वैदिक साहित्य मानते हैं वह सारा वैदिक नही है किन्तु लौकिक, वैदिक, और श्रामणिक तीनों का सगम है। वह इस अनेक धाराओं का सगम है, इसीलिए उसमे अनेक विरोधी धाराएँ परिदृष्ट हो रही हैं।

दूसरी धाराओं के संरक्षक जैसे जैसे मिटते गये, वैसे-वैसे उनका साहित्य अपने संरक्षकोके अभावमें वैदिक धारा के प्रबल प्रवाह में सम्मिलित होता गया।

साहित्य की कसौटी—वैदिक साहित्य का मुख्य भाग यज्ञ था। उसका विकास उत्तरोत्तर होता रहा। समूचा आयुर्वेद उसी से अनुप्राणित है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ की परम्परा और आगे बढ़ गई थी।

औपनिषदिक धारा, जिसे श्रमणो की धारा कहा जा सकता है, यज्ञो का विरोध करती थी। उसका प्रवाह अध्यात्म विद्या की ओर था हम कौन है? कहां से आए है? क्यो आए है? कहा जाएँगे? आदि-आदि प्रश्नो पर विचार किया जाता था४। अध्यात्म विद्या श्रमण साहित्य की कसौटी थी।

त्रिवर्ग-विद्या (अर्थ, धर्म और काम) लौकिक साहित्य की कसौटी थी। इन तीन कसौटियों के आधार पर हम जान सकते है कि अमुक साहित्य किस धारा का है या किस धारा मे प्रवाहित है।

उपनिषदों की धारा—आचार्य शकर ने जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा, वे प्राचीन माने जाते है। उनके नाम है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। डा० बेलवेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिषदों मे मुख्य ये है—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश, ऐतरेय, तैत्तरीय, मुण्डक, कौपीतकि, केन और प्रश्न२। उनमे से कुछ उपनिषदों में मुख्य वेद एवं वैदिक धारा के प्रति जो विरोध है उसे देख सहज ही प्रश्न होता है कि वेदो और उसकी धारा का विरोध करने वाले उपनिषद् क्या वैदिक साहित्य की कोटि में आ सकते हैं? मुण्डकोपनिषद् मे वेदों को अपराविद्या कहा गया है। परा विद्या, जिससे

१. दशवैकालिक नियुक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६८
२. मूलाचार ५, ६२ ३. स्थानाङ्ग ३, ३, १८५

१. केनोपनिषद् १
२. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी भाग २ पृ० ८७-९०

ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उससे भिन्न है१।

परा विद्या अध्यात्म या आत्म-विद्या है२। ओंकार के द्वारा उस आत्मा का ध्यान किया जाता था३। प्रश्नोपनिषद् में भी इस तथ्य की विशेष अभिव्यक्ति हुई है। वहां बताया गया है कि ऋग्वेद के द्वारा साधक इस लोक को, यजुर्वेद के द्वारा अन्तरीक्ष को और सामवेद के द्वारा तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। इनसे परम ब्रह्म की प्राप्ति नही होती।

समग्र ओंकार के ध्यान से उस लोक की प्राप्ति होती है, जो शांत, अजर, अमर, अभय और पर है अर्थात् उससे परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है४। नारद चारो वेदो और अन्य अनेक विद्याओ का पारगामी था। उसने सनत्कुमार से यही कहा—"भगवन् ! मैं मन्त्रवित् हूं, आत्मवित् नही हूं५। इससे साधक के मन मे वेदों के प्रति कोई उत्कर्ष की भावना उत्पन्न नही होती। यह भावना महाभारत और अन्य पुराणो मे से क्रान्त हुई है। उनमे ऐसे अनेक स्थल है, जहा आत्म विद्या या मोक्ष के लिए वेदो की असारता प्रकट की गई है। श्वेताश्वतर के भाष्य मे आचार्य शंकर ने ऐसा एक प्रसंग उद्धृत किया है। वहा भृगु अपने पिता से कहता है६—

"त्रयीधर्ममधर्मार्थं, किंपाकफलसन्निभम्।
नास्ति तात सुखं किञ्चिदत्र दुःख शताकुले।
तस्मान्मोक्षाय यतता, कथं सेव्या मया त्रयी॥"

त्रयी धर्म अधर्म का ही हेतु है। यह किंपाक (सेमर) फल के समान है। हे तात ! सैकड़ो दु.खो से पूर्ण इस कर्मकाण्ड मे कुछ भी सुख नही है। अतः मोक्ष के द्वारा प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हूं।

गीता मे भी यही कहा गया है कि त्रयी धर्म (वैदिक कर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष ससार मे आवागमन करते रहते है७। यज्ञो को श्रेय मानने वाले मूढ़ होते हैं८। आत्मविद्या के लिए वेदों की असारता और यज्ञों के विरोध में आत्मयज्ञ की स्थापना किसी अवैदिक धारा की ओर संकेत करती है९।

इससे वैदिक ऋषियों की उदार और सर्वग्राही भावना के प्रति सहज ही आदर भाव उत्पन्न होता है कि उन्होंने विरोधी धाराओं को भी किस प्रकार अपनी धारा में समन्वित कर लिया।

शब्द साम्य—उपनिषदों में श्रमणधारा के दर्शन का दूसरा हेतु शब्द-साम्य है। उनमें ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका उपयोग श्रमण-साहित्य में अधिक हुआ है। छान्दोग्यमे 'कषाय' शब्द राग-द्वेष के अर्थमें व्यवहृत है१०। जैन आगम साहित्य में यह इसी अर्थ में हजारों वार प्रयुक्त है जबकि वैदिक साहित्य में इस अर्थ मे उसका प्रयोग सहज लभ्य नहीं है। मण्डूक उपनिषद् का तायी११ शब्द भी वैसा ही है। वह वैदिक साहित्य मे प्रायः अव्यवहृत नही है। जैन और बौद्ध साहित्य मे उसका प्रचुर व्यवहार हुआ है।

विषय साम्य—विषय वर्णन की दृष्टि से भी उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों का श्रमणों की सिद्धान्त धारा से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

मण्डूक, छान्दोग्य आदि उपनिषदो में ऐसे अनेक स्थल हैं जहा श्रमण विचारधारा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। जर्मन विद्वान् हर्टल ने यह प्रमाणित किया है कि मण्डूकोपनिषद् में लगभग जैन सिद्धान्त जैसा वर्णन मिलता है और जैन पारिभाषिक शब्द भी वहा व्यवहृत हुए हैं१२।

उस प्राचीनकाल मे वेदों और उपनिषदो के अतिरिक्त ब्रह्मविद्या विषयक साहित्य 'श्लोक' नाम से प्रसिद्ध

१. मण्डूकोपनिषद् १।१।५ २. मुण्डकोपनिषद् २।५
३. मुण्डकोपनिसद् ५।७ ४. प्रश्नोपनिषद् ५।७
५. छान्दोग्योपनिषद् ७,१, २-३
६. श्वेताश्वतर पृष्ठ २३ : गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण। ७. भगवद्गीता ९-२१
८. मण्डूकोपनिषद् १-२, ७-१०
९. छान्दोग्योपनिषद् ८,५,१ बृहदारण्यक २,२,६,१०
१०. छान्दोग्य ७।२६।२—मृदित कषायाय—शंकराचार्य ने इसके भाष्य मे लिखा है—मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्वस्य रञ्जनारूपत्वात्......।
११ मण्डूकोपनिषत् ६६
१२. इण्डो-इरेनियन मूल ग्रंथ और संशोधन भाग ३

था१। द्वादशाङ्गी के विवरण में सर्वत्र यह मिलता है कि प्रत्येक अङ्ग में सख्येक श्लोक थे२। वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य से भिन्न पूर्ववर्ती श्रमण साहित्य भी विद्यमान था३। यह असम्भव नही कि उपनिषदों का ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी विवरण व श्लोक साहित्य किसी पूर्ववर्ती ब्रह्म-विद् श्रमण परम्परा का आभारी हो।

निर्ग्रन्थ परम्परा में उद्दालक, नारद, वरुण, अङ्ग ऋषि (या अङ्गिरस) याज्ञवल्क आदि प्रत्येक बुद्ध हुए हैं। उपनिषदो मे भी इनका उल्लेख है४।

कही-कहीं तो विषय साम्य भी है। "जब तक लोकपणा है तब तक वित्तैषणा है। जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकेषणा है। साधक लोकेषणा और वित्तैषणा का त्याग कर गोपथ जाए, महापथ से न जाए—यह अर्हत् याज्ञवल्क ऋषि ने कहा५।"

वृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल से कहते हैं—यह वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं। भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते है।······जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है। जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है६।

इसि भासियाइ के याज्ञवल्क्य भी एषणा-त्याग के बाद वृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य की भाति भिक्षा से सन्तुष्ट रहने की बात कहते हैं७। इस प्रकार दोनों की कथन-शैली में विचित्र समानता है। वैदिक विचार धारा मे पुत्रैषणा के त्याग का स्थान नही है। उसके अनुसार सन्तानोत्पत्ति आवश्यक कर्म है। इसलिए सहज ही यह प्रश्न होता है कि वृहदारण्यक में एषणा त्याग का विचार कहां से आया? इस आधार पर यह कल्पना होती है कि उपनिषद् का कुछ भाग श्रमणों की रचना है, अथवा श्रमणों और वैदिक ऋषियों का मिला-जुला प्रयत्न। कुछ और अतीत में जाएँ तो कहा जा सकता है कि यह क्रम आरम्भिक काल तथा उससे पूर्व वेदकाल में ही आरम्भ हो गया था। अरुण, केतु और वातरशनद ये तीन प्रकार के ऋषि थे। उनमें वातरशन ऋषि श्रमण थे, भगवान ऋषभ के शिष्य थे९। वे ऊर्ध्वमन्थी (ऊर्ध्व-रेता) हो गए हैं। उनके पास कुछ दूसरे ऋषि जिज्ञासा लिए हुए आए। उन्हे पहले ही मालूम हो गया था, अतः वे उनके आने से पहले ही अन्तर्हित हो गये। योग सामर्थ्य से शरीर को सूक्ष्म बना 'कूष्माण्ड' नामक मन्त्र वाक्य मे प्रविष्ट हो गए। आने वाले ऋषिगण ने चित्त को शान्त किया और ध्यान से देखा तो उन्हें वे वातरशन श्रमण प्रत्यक्ष दीखे। वे वातरशन श्रमण से बोले— आप क्यों अन्तर्हित हुए?" तब उन्होने कहा—'हम आपको नमस्कार करते हैं। आप हमारे स्थान पर आए हैं, हम आपकी क्या परिचर्या करे।' तब आने वाले ऋषिगण ने कहा—"वातरशन ऋषि! आप हमें वैसा पवित्र—शुद्धि का स्थान बतलाएँ, जिससे हम पापरहित हो जाएँ।" उन्होने आने वाले ऋषिगण को शुद्धि का साधन बतलाया और वह ऋषिगण पापरहित हो गया१०।

इस प्रकार से यह प्रतीत होता है कि ऋषि श्रमणो से मिलते थे और उनसे आत्म धर्म का बोध लेते थे।

एम. विन्टरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदों को अवैदिक माना है११। किन्तु उक्त तथ्योंसे यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन उपनिषद् भी पूर्णतः वैदिक नही हैं। ★

१. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली भा० ३ पृ० ३०७–३१५ (उमेशचन्द्र भट्टाचार्य का लेख)
२. समवायाङ्ग सूत्र १३६–१४६, नंदीसूत्र ४५–५५
३. The Jainas in the history of Indian Literature By Dr Maurice Winternitz Ph. D. Page 5—"Even before there was such a thing as Buddhist as Jaina Literature be sides the Brahmanic Literature.
४. उद्दालक छान्दोग्य ५, नारद छान्दोग्य ७, अङ्गिरस मुण्डक १।२ वरुण तैत्तिरेय ३।१, याज्ञवल्क्य वृहदारण्यक ३।४।१ ५. इसिभासियाइ १२
६. वृहदारण्यक ३, ५, १ ७. इसिभासियाइ १०, १-२।
८. वैदिक कोष ४७३—यह शब्द ऋग्वेद १०, १३६, २ मे मुनियो के लिए और तैत्तिरीय आरण्यक १, २३, २; १. २४४; २,७,१ में ऋषियो के लिए आया है। नग्न साधु अभिप्रेत है, जिनका उल्लेख परवर्ती साहित्य मे बहुधा मिलता है।
९. श्रीमद्भागवत।
१०. तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक २ अनुवाक् ७ पृ० १३७-१३९
११. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० १९०-१९१।

षट्खण्डागम और शेष १८ अनुयोगद्वार

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

[श्री आ० शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था—फलटण द्वारा प्रकाशित षट्खण्डागम के परिशिष्ट में देने के उद्देश से प्रकृत निबन्ध लिखा गया था। सोलापुर रहते हुए मेरे द्वारा उक्त षट्खण्डागम का प्रायः समस्त कार्य सम्पन्न हुआ है। परन्तु जब वह कार्य समाप्तप्राय था तब कुछ ऐसी खेदजनक परिस्थिति निर्मित हुई कि अन्तत. मुझे उससे विराम लेना पड़ा। अत यह उसमें नही दिया जा सका। पूर्व किरण में दिया गया 'षट्खण्डागम-परिचय' भी उसकी प्रस्तावना एक अश था।]

अनेकान्त की पिछली किरण (३, वर्ष १६, पृ २२०) मे षट्खण्डागम का परिचय कराते हुए यह लिखा जा चुका है कि उक्त ग्रन्थ की रचना महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपसंहार रूप मे की गई है। परन्तु उसमे महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति वेदनादि २४ अनुयोगद्वारो मे केवल प्रारम्भ के ६ अनुयोगद्वारों की ही प्ररूपणा की गई है, शेष (७–१८) निबन्धन आदि १८ अठारह अनुयोगद्वारों की वहां प्ररूपणा नहीं की गई। ऐसी स्थिति मे उन १८ अनुयोगद्वारो की प्ररूपणा के बिना प्रकृत षट्खण्डागम अपूर्ण-सा रह जाता है। इस पर विशेष ध्यान देते हुए षट्खण्डागम के प्रमुख टीकाकार श्री आ० वीरसेन स्वामी ने उसके अन्तिम सूत्र (५,६,७९५ पु.१४ पृ. ५६८) को देशामर्शक[१] मान कर उन शेष अनुयोगद्वारो की प्ररूपणा अपनी धवला टीका मे संक्षेप से कर दी है[२] व उसका नाम उनके द्वारा 'सत्कर्म' रखा गया प्रतीत होता है[३]। ये १८ अनुयोगद्वार सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड द्वारा प्रकाशित धवला-युक्त षट्खण्डागम की १६ जिल्दों मे से अन्तिम १५ व १६वीं जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं। उक्त १८ अनुयोगद्वारो में निबन्धन,

१. जहा प्रकृत विषय की प्ररूपणा देशत. करके शेष सब प्ररूपणा की सूचना अन्तर्हित 'आदि' शब्द के द्वारा की जाती है वह देशामर्शक सूत्र कहलाता है। जैसे स्थितिकल्प में—मुमुक्ष की कर्तव्यविधि में 'आचेलक्य' सूत्र प्रवृत्त हुआ है। उसमें गृहीत 'चेल (वस्त्र)' शब्द से वस्त्रादि समस्त परिग्रह का ग्रहण अभीष्ट है। अथवा—'तालप्रलम्ब' सूत्र मे 'ताल' शब्द से ताल वृक्ष आदि समस्त हरितकाय (सचित्त) उपलक्षित है। उस सब का त्याग साधु के लिए अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में भगवती-आराधना में निम्न गाथा उपलब्ध होती है—

देसामासियसुत्तं आचेलक्क त्ति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोऽत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥११२३.

एतदुक्तं भवति— चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणम्, तेन सकलग्रन्थत्याग आचेलक्य-शब्दस्यार्थ इति। 'तालपलंब ण कप्पदि त्ति' सूत्रे ताल-शब्दो न तरुविशेषवचनं, किंतु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीनां गृहीतम्। तथा चोक्तं कप्पे—
हरिततणोसहि-गुच्छा गुम्मा वल्ली-लदा य रुक्खा य।
एव वणप्फदीओ तालोद्देसेण आदिट्ठा ॥

(विजयोदया टीका)

ठीक इसी प्रकार से भगवत भूतबलि द्वारा प्रकृत षट्खण्डागम मे की गई कृति आदि ६ अनुयोगद्वारो की प्ररूपणा उन शेष १८ अनुयोगद्वारों की उपलक्षण भूत जानना चाहिए।

२. भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्त देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेसअट्ठारसअणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।

धवला पुस्तक १५, पृ० १

३. वोच्छामि संतकम्मे पंचि[जि]यरूवेण विवरण सुमहत्थं ॥ संतकम्मपंजिया—धवला पु० १५, पृ० १

अक्रम, उपक्रम और उदय इन चार अनुयोगद्वारों पर एक अज्ञातकर्तृक पंजिका भी उपलब्ध है। यह पजिका भी उक्त अनुयोगद्वारो के साथ १५वी जिल्द के अन्त मे प्रकाशित की जा चुकी है। इस पंजिका मे प्राय: अल्प-बहुत्व से सम्बद्ध कुछ विशेष प्रकरणों का ही स्पष्टीकरण किया गया दिखता है। पंजिका की उत्थानिका में पंजिका-कार ने लिखा है१—

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति-वेदनादि २४ अनु-योगद्वारों में कृति और वेदना अनुयोगद्वारों की वेदना-खण्ड में; स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोगद्वार के *अन्तर्गत बन्ध एवं बन्धनीय अनुयोगद्वारों की वर्गणाखण्ड* में; बन्धविधान की महाबन्ध में; तथा बन्धक अनुयोग-द्वार की क्षुद्रकबन्ध खण्ड मे विस्तार से प्ररूपणा की गई है। इसलिए इनको छोड़कर शेष सब अठारह अनुयोग-द्वारों की प्ररूपणा सत्कर्म में की गई है। फिर भी उसके अतिशय गम्भीर होने से यहाँ उसके विषम पदों के अर्थ का व्याख्यान पजिका२रूप से किया जाता है। उन अठारह अनुयोगद्वारों का विषय परिचय सक्षेप मे इस प्रकार है—

७. **निबन्धन**—निबन्धन का अर्थ कारण या निमित्त होता है, परन्तु यहां 'निबध्यते तत् अस्मिन् इति निबन्धनम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो जिसमें सम्बद्ध होता है, उसे निबन्धन स्वरूप से ग्रहण किया गया है। जैसे—चक्षु इन्द्रिय चूंकि रूप विषय में सम्बद्ध है, अत: चक्षु का निबन्धन रूप होता है३। यद्यपि इस अनुयोगद्वार में जीव-पुद्गलादि छहों द्रव्यों के निबन्धन की प्ररूपणा की जाती है, तो भी यहां अध्यात्मविद्या का अधिकार होने से केवल मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के ही निबन्धन की प्ररूपणा की गई है४। जैसे—ज्ञानावरण के निबन्धन की प्ररूपणा करते हुए यह कहा गया है कि ज्ञानावरण सब द्रव्यों में निबद्ध है, न कि सब पर्यायों मे५। अभिप्राय इसका यह है कि ज्ञानावरण की पाच प्रकृतियों में केवलज्ञानावरण का व्यापार सब द्रव्यों में है और शेष मतिज्ञानावरणादि चार प्रकृतियों का व्यापार उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों में न होकर कुछ ही पर्यायों में होता है६।

८. **प्रक्रम**—'प्रक्रामति इति प्रक्रम:' इस निरुक्ति के अनुसार यहां जो कार्मण पुद्गलों का समूह अपना कार्य करने में प्रकर्ष से समर्थ होता है वह विवक्षित है। इस अधिकार मे अकर्म स्वरूप से स्थित जो कार्मणवर्गणास्कन्ध मूल-उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप से परिणत होते हुए प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विशेषता से विशेषता को प्राप्त होते हैं उनके प्रदेशों की प्ररूपणा की गई है। अकर्म से

---

१. महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणाओ[इ] चउ-व्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि-वेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखडम्मि, पुणो य [पस्स-कम्म पयडि बधण त्ति] चत्तारिअणियोगद्दारेसु तत्थ बध-बंधणिज्जाणमणियोगेहि सह वग्गणाखडम्मि, पुणो बधविधाणणामाणियोगद्दारो महाबधम्मि, पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबधम्मि च सप्पवचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसेट्ठारसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुत्थयेण पजियरूवेण भणि-स्सामो। सतकम्मपजिया (धवला पु. १५) पृ १।

२. जिसमे पदविभाग के साथ अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है वह पजिका कहलाती है। यथा—
कारिका स्वल्पवृत्तिस्तु सूत्र सूचनकं स्मृतम्।
टीका निरन्तरं व्याख्या पंजिका पदभंजिका॥

३. णिबधण मूलुत्तरपयडीणं णिबधणं वण्णेदि। जहा चक्खिदिय रूवम्मि णिबद्ध, सोदिंदिय सद्दम्मि णिबद्धं, घाणिंदिय गधम्मि णिबद्ध, जिब्भिदियं रसम्मि णिबद्धं, पासिंदियं कक्खदादिपासेसु णिबद्धं; तहा इमाओ पयडीओ एदेसु अत्थेसु णिबद्धाओ त्ति णिबधणं परू-वेदि, एसो भावत्थो। धवला पु. ६ पृ. २३३।

४. एद णिबधणाणिओगद्दारं जदि वि छण्णं दव्वाणं णि-बंधणं परूवेदि तो वि तमेत्थ मोत्तूण कम्मणिबंधण चेव घेत्तव्वं, अज्झप्पविज्जाए अहियारादो। (सत-कम्म) धवला पु. १५ पृ. ३।

५. तत्थ णाणावरण सव्वदव्वेसु णिबद्धं, णो सव्वपज्जा-एसु ॥१॥ धवला (संतकम्म) पु. १५ पृ ४।

६. यह अनुयोगद्वार धवला पु. १५ पृ. १–१४ मे प्ररू-पित है।

कर्म की उत्पत्ति कैसे होती है, इस प्रसंग को पाकर यहां आचार्य वीरसेन ने कारण-कार्य का विस्तार से विवेचन करते हुए आप्तमीमांसा की ४१, ५६-६०, ५७ और ६ से १४ कारिकाओं का अनुसरण करके अन्त में कथंचित् सदादिरूप सप्तभंगी की योजना की है[1]।

९. उपक्रम—इस अनुयोगद्वार में बन्धनोपक्रम[2], उदीरणोपक्रम[3], उपशामनोपक्रम[4] और विपरिणामोपक्रम[5] ये चार अधिकार हैं। इनमें बन्धनोपक्रम में बन्ध के द्वितीय समय से लेकर आठों कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इनके बन्ध की प्ररूपणा की गई है। उदीरणोपक्रम में उन्हीं चारों की उदीरणा का विचार किया गया है। उपशामनोपक्रम में प्रकृति आदि के भेद से चार भेदों में विभक्त प्रशस्त और अप्रशस्त उपशामनाओं का विवेचन है। तथा विपरिणामोपक्रम में उक्त प्रकृति व स्थिति आदि की देशरूप व सकलरूप निर्जरा की प्ररूपणा की गई है।

१०. उदय—इस अनुयोगद्वार में मूल और उत्तर प्रकृतियों के आधार से स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इनके उदय का—वेदन का—विचार किया गया है[6]।

११. मोक्ष—मोक्ष से यहां कर्ममोक्ष अभिप्रेत है। वह चार प्रकार का है—प्रकृतिमोक्ष, स्थितिमोक्ष, अनुभागमोक्ष और प्रदेशमोक्ष। इनमें प्रकृति जो निर्जरा को प्राप्त होती है अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणत होती है, उसका नाम प्रकृतिमोक्ष है। स्थिति जो अपकर्षण, उत्कर्षण अथवा संक्रमण को प्राप्त होती है या अध:स्थिति के गलने से निर्जरा को भी प्राप्त होती है, उसे स्थितिमोक्ष कहते हैं। अनुभाग जो अपकर्षण, उत्कर्षण अथवा संक्रमण को प्राप्त होता है या अध:स्थिति के गलन से निर्जरा को भी प्राप्त होता है, उसे अनुभागमोक्ष जानना चाहिए। अध:स्थिति के गलने से जो कर्मप्रदेशों की निर्जरा होती है अथवा उनका जो अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है, इसे प्रदेशमोक्ष कहा जाता है। इन मोक्षभेदों में प्रत्येक के जो देशमोक्ष और सर्वमोक्ष के भेद से दो भेद तथा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट मोक्षादि के भेद से अन्य भी जो चार भेद होते हैं उन सभी की इस अनुयोगद्वार में प्ररूपणा की गई है[7]।

१२. संक्रम—संक्रम से यहां कर्मसंक्रम की विवक्षा है। वह प्रकृतिसंक्रम आदि के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रकृति जो अन्य प्रकृति रूप से परिणत होती है, इसका नाम प्रकृतिसंक्रम है। यह प्रकृतिसंक्रम मूल प्रकृतियों में कभी भी नहीं होता है। उत्तर प्रकृतियों में भी दर्शनमोहनीय कभी चारित्रमोहनीयरूप और चारित्रमोहनीय कभी दर्शनमोहनीयरूप परिणत नहीं होती है। इसी प्रकार चार आयु कर्मों में भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। प्रकृत उत्तरप्रकृतिसंक्रम का विवेचन यहां स्वामित्वादि अधिकारों के द्वारा किया गया है[8]।

स्थितिसंक्रम मूल व उत्तर प्रकृति के भेद से दो प्रकार का है। इनमें जो स्थिति अपकर्षण या उत्कर्षण को प्राप्त कराई जाती है अथवा अन्य प्रकृतिरूप भी परिणत करायी जाती है, इसका नाम स्थितिसंक्रम है[9]। इसी प्रकार जो अनुभाग भी अपकर्षण या उत्कर्षण को प्राप्त कराया जाता है अथवा अन्य प्रकृतिरूप संक्रान्त किया जाता है उसे अनुभागसंक्रम जानना चाहिए[10]। प्रदेशपिण्ड जो अन्य प्रकृतिरूप परिणत होता है वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। यह प्रदेशसंक्रम मूल प्रकृतियों नहीं होता। उत्तर प्रकृतियों में होने वाला प्रदेशसंक्रम उद्वेलनसंक्रम, विध्यातसंक्रम, अध:प्रवृत्तसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम के भेद से पांच प्रकार का है। इन पांचों की

---

१. धवला पु० १५ पृ० १५-४०।
२. धवला पु० १५ पृ० ४२-४३।
३. धवला पु० १५ पृ० ४३-२७५।
४. धवला पु० १५ पृ० २७५-८२।
५. धवला पु० १५ पृ० २८२-८४।
६. धवला पु० १५ पृ० २८५-३३६ में इसकी प्ररूपणा की गई है।
७. इस अनुयोगद्वार की प्ररूपणा धवला पु० १६, पृ० ३३७-३८ में देखिए।
८. देखिये धवला पु० १६ पृ० ३३९-४७।
९. धवला पु० १६ पृ० ३४७-७४।
१०. धवला पु० १६ पृ० ३७४-४०८।

यहां प्ररूपणा की गई है१। इस प्रकार से यहां अन्य अवान्तर अधिकारों के द्वारा संक्रम की प्ररूपणा विस्तारसे की गई है।

१३. लेश्या—द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकारकी है। उनमें चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जो शरीरात्मक पुद्गलस्कन्धों का वर्ण होता है उसका नाम द्रव्यलेश्या है। वह कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल के भेद से छह प्रकारकी है।

इस प्रसंग में यहा चारों गतियों के जीवों में से किनके कौन-सी द्रव्यलेश्या (शरीर का वर्ण) होती है, इसका संक्षेप से कथन करते हुए यह शंका उठाई गई है कि जब शरीररूप पुद्गलों में अनेक वर्ण उपलब्ध होते है तब अमुक जीवके यही द्रव्यलेश्या होती है, यह कैसे कहा जा सकता है? उत्तर में यह कहा गया है कि विवक्षित शरीर में अनेक वर्णों के होने पर भी एक वर्ण की प्रमुखता से उस प्रकार की लेश्या कही जाती है। इसी प्रसंग में विवक्षित लेश्यायुक्त जीव के शरीरगत जो अन्य अनेक वर्ण होते हैं, उनके अल्पबहुत्व का भी निर्देश किया गया है। जैसे—कृष्णलेश्या युक्त द्रव्यके शुक्ल गुण सबमें अल्प, हारिद्र गुण उनसे अनन्तगुणे, लोहित गुण उनसे अनन्तगुणे, नील गुण उनसे अनन्तगुणे और काले गुण उनसे अनन्तगुणे होते हैं; इत्यादि।

मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगसे जनित जो जीव का संस्कार; अर्थात् मिथ्यात्वादि से अनुरंजित, जो कर्मागमन की कारणभूत योगों की प्रवृत्ति होती है, उसका नाम भावलेश्या है। उसमे तीव्र सस्कार का नाम कापोतलेश्या है। तीव्रतर संस्कार का नाम नीललेश्या और तीव्रतम सस्कार का नाम कृष्णलेश्या है। मन्द सस्कार का नाम तेजोलेश्या, मन्दतर का नाम पद्मलेश्या और मन्दतम का नाम शुक्ललेश्या है। इस भावलेश्या में भी उक्त प्रकार से तीव्र-मन्दता का अल्पबहुत्व निर्दिष्ट किया गया है२।

१४. लेश्याकर्म—उपर्युक्त कृष्णादि भावलेश्याओं के निमित्त से जो जीव की मारण आदि क्रियाओं मे प्रवृत्ति होती है उसे लेश्याकर्म कहते हैं। प्रस्तुत अधिकार में पृथक्-पृथक् कृष्णादि लेश्याओं के निमित्त से होने वाली इस प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है३।

१५. लेश्यापरिणाम—कौन-सी लेश्यायें किस वृद्धि अथवा हानि के द्वारा किस स्वरूप से परिणमन करती हैं, इसका विवेचन प्रस्तुत अनुयोगद्वार में किया गया है। जैसे—कृष्णलेश्यावाला जीव यदि सक्लेश को प्राप्त होता है तो वह अन्य किसी लेश्यारूप परिणत नही होता है। किन्तु अपने स्थान मे ही—कृष्णलेश्या मे ही—अवस्थित रहकर अनन्तभागवृद्धि आदि के द्वारा वृद्धिगत होता है। इसके विपरीत यदि वह विशुद्धि को प्राप्त होता है तो वह अपने स्थान में अवस्थित रहकर अनन्तभागहानि आदि के द्वारा हीनता को प्राप्त होता है तथा अनन्तगुणी हानि के साथ नीललेश्या स्वरूप से भी परिणत होता है। इस प्रकार से यहा प्रत्येक लेश्या के आश्रय से उसके परिणमन का विचार किया गया है४।

१६. सात-असात—इस अनुयोगद्वार मे समुत्कीर्तना, अर्थपद, पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व; इन पाच अधिकारोंके द्वारा एकान्तसात, अनेकान्तसात, एकान्तअसात और अनेकान्तअसात इनकी प्ररूपणा की गई है। जो कर्म सातास्वरूप से बांधा गया है उसका प्रक्षेप से रहित होकर सातास्वरूपसे ही वेदन होना, इसका नाम एकान्तसात है और इससे विपरीत अनेकान्तसात है। इसी प्रकार असातास्वरूप से बांधे गये कर्म का असातास्वरूप से ही वेदन होना एकान्त-असात और उससे विपरीत अनेकान्त-असात जानना चाहिए५।

१७. दीर्घ-ह्रस्व—दीर्घ और ह्रस्व मे से पृथक्-पृथक् प्रत्येक प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकारका है तथा इनमें भी प्रत्येक मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से ० दो दो प्रकारका है। इन सब का विचार इस अनुयोगद्वार मे बन्ध, सत्त्व और उदय की अपेक्षा से किया गया है। उदाहरणार्थ आठो प्रकृतियो के बधने पर प्रकृतिदीर्घ और उनसे कम के बधने पर नो-

१. धवला पु० १६ पृ० ४०८-८३।
२. धवला पु० १६ पृ० ४८४-८६।
३. धवला पु० १६ पृ० ४६०-६२।
४. धवला पु० १६ पृ० ४६३-६७।
५. धवला पु० १६ पृ० ४६८-५०६।

प्रकृतिदीर्घ होता है। यही अवस्था सत्त्व व उदय के आश्रय से भी होती है। उत्तर प्रकृतियों मे भी यथायोग्य यही क्रम जानना चाहिए१।

१८. **भवधारणीय**—ओघ, आदेश और भवग्रहण के भेद से भव तीन प्रकारका है। इनमे आठ कर्म और उनके निमित्त मे उत्पन्न जीव के परिणाम का नाम ओघभव तथा चार गति नामकर्मों और उनके निमित्त से उत्पन्न जीव के परिणाम का नाम आदेशभव है जो नारकादि के भेद से चार प्रकारका है। जिस जीव की भुज्यमान आयु निर्जीर्ण हो चुकी है तथा अपूर्व आयु उदय को प्राप्त है उसके इस अपूर्व आयु के उदय के प्रथम समय मे जो परिणाम होता है वह भवग्रहणभव कहलाता है, जो 'व्यजन' नाम से प्रसिद्ध है। अथवा, पूर्व शरीर का परित्याग करके जो उत्तर शरीर को ग्रहण किया जाता है उसे भी भवग्रहणभव कहा जाता है। प्रकृत मे यही भवग्रहण विवक्षित है। इस भव का धारण ज्ञानावरणादि अन्य कर्मो को छोडकर एक मात्र इस भव सम्बन्धी आयु कर्म के द्वारा होता है२।

१९. **पुद्गलात्त**—'पुद्गलात्त' में जो 'आत्त' शब्द है उसका अर्थ गृहीत होना है। तदनुसार पुद्गलात्त से अभिप्राय ग्रहण (आत्माधीन) किये गये पुद्गलों का है। ये पुद्गल छह प्रकार से आत्माधीन किये जाते है—ग्रहण से, परिणाम से, उपभोग से, आहार से, ममत्तोसे और परिग्रह से। १. हाथ आदि के द्वारा जो दण्ड आदि पुद्गल ग्रहण किये जाते है वे ग्रहणत आत्त पुद्गल है। २ मिथ्यात्वादि परिणामो के द्वारा जो पुद्गल गृहीत होते है वे परिणाम से आत्त पुद्गल कहलाते है। ३. सुपारी व पान आदि रूप जो पुद्गल ग्रहण किये जाते है उन्हे उपभोगत. आत्त जानना चाहिए। ४. भोजन-पानादि की विधि से गृहीत पुद्गल आहारत: आत्त पुद्गल माने जाते है। ५ जो पुद्गल अनुराग के वश गृहीत होते है वे ममत्तोसे आत्त कहे जाते है। ६. जो पुद्गल अपने आधीन होते है वे परिग्रह से आत्त पुद्गल है।

अथवा प्राकृत मे 'अत्त' शब्द का अर्थ आत्मा या स्वरूप होता है। तदनुसार पुद्गलोंके वृद्धि व हानिको प्राप्त होने वाले रूप-रसादि की जो अवस्था होती है उसे भी पुद्गलात्त कहा जाता है। इन सबकी प्ररूपणा प्रकृत अनुयोगद्वार में की गई है३।

२०. **निधत्त-अनिधत्त**—जो कर्मप्रदेशाग्र न उदय में दिया जा सकता है और न अन्य प्रकृतिरूप परिणत कराया जा सकता है उसका नाम निधत्त है। अनिधत्त इसके विपरीत होता है। इनमे प्रत्येक प्रकृति आदि के भेद से चार-चार प्रकारका है। इनका विवेचन इस अनुयोगद्वार मे किया गया है४।

२१. **निकाचित-अनिकाचित**—जो कर्मप्रदेशाग्र अपकर्षण, उत्कर्षण व अन्य प्रकृतिरूप परिणमण करने मे तथा उदय मे देने के लिए समर्थ नहीं होता है उसे निधत्त और इससे विपरीत को अनिधत्त कहा जाता है। ये प्रत्येक प्रकृति आदि के भेद से चार प्रकारके हैं। प्रकृत अनुयोगद्वार मे इन सबका विचार किया गया है५।

२२. **कर्मस्थिति**—आचार्य नागहस्ती क्षमाश्रमण के मतानुसार जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों के प्रमाण की प्ररूपणा का नाम कर्मस्थितिप्ररूपणा और आचार्य आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण के मतानुसार कर्मस्थिति के भीतर संचित कर्म के सत्त्व की प्ररूपणा का नाम कर्मस्थितिप्ररूपणा हैं। इस कर्मस्थिति की प्ररूपणा प्रकृत अनुयोगद्वार में की गई है६।

२३. **पश्चिमस्कन्ध**—इस अनुयोगद्वार मे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के आश्रय से अन्तिम भव में वर्तमान जीवके समस्त कर्मोंकी बन्धमार्गणा, उदयमार्गणा, उदीरणामार्गणा, सक्रममार्गणा, और सत्कर्ममार्गणा इन पांच की प्ररूपणा की जाती है, ऐसा निर्देश करके अन्तिम भव मे सिद्ध होने वाले जीव की अन्तर्मुहूर्त मात्र आयुके शेष रहने पर जो जो क्रियाये—आवर्जित करण व केवलिसमुद्घात आदि अवस्थायें—होती हैं उनकी प्ररूपणा की गई है७।

---

१. धवला पु० १६ पृ० ५०७-११।
२. धवला पु० १६ पृ० ५१२-१३।
३. धवला पु० १६ पृ० ५१४-१५।
४. धवला पु० १६ पृ० ५१६।
५. धवला पु० १६ पृ० ५१७।
६. धवला पु० १६ पृ० ५१८।
७. धवला पु० १६ पृ० ५१९-२१।

२४. अल्पबहुत्व—इस अनुयोगद्वार में नागहस्ती भट्टारक सत्कर्मका अन्वेषण करते हैं, यह निर्देश करते हुए उनके उपदेश को आचार्यपरम्परागत बतलाया गया है। तदनुसार सत्कर्म की प्ररूपणा करते हुए उसके प्रकृति-सत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म और प्रदेशसत्कर्म इन चार भेदों का निर्देश करके उनके स्वामी आदि की पृथक् पृथक् प्ररूपणा की गई है।

इसके पश्चात् वहां पूर्व प्ररूपित लेश्या आदि अनुयोगद्वारों के आश्रय से क्रमशः कुछ विशेष प्ररूपणा करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि महावाचक क्षमाश्रमण इस अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में सत्कर्म का मार्गण करते हैं। तदनुसार यहां उत्तरप्रकृतिसत्कर्म के आश्रय से विविध दण्डक किये गये हैं[२]।

१. धवला पु० १६ पृ० ५२२-६३।

समय और साधना

साध्वीश्री राजीमतीजी

समय साधना का मूल तो नही किन्तु मूल की सहायक सामग्री अवश्य है। जो समय का मूर्ख है वह सदा दरिद्र रहता है; क्योंकि साधना, अभूत कलपना नही, वास्तविक धरती का स्पर्श है। स्पर्श के लिए चाहिए अह की दुर्भय दीवार को तोड़कर स्व प्रवेश (बाहर और भीतर) यह प्रवेश और निर्गमन अभ्यास–काल में समय सापेक्ष होता है। स्वाध्याय के बाद ध्यान होता है, किन्तु ध्यान के बाद स्वाध्याय नहीं। क्रिया से आचार शिथिल होता है, किन्तु समय अनियन्त्रितता और उसके लंघन से एक क्षण के बाद आने वाले सुपरिणाम को कई वर्ष लग जाते हैं। उचित काल, विचारो की कुण्ठा, शारीरिक आलश्य तथा मानसिक अरुचि पर गहरा प्रभाव डालना है। जैनाचार्यों ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य नही माना, क्योंकि इसमें स्वत. प्राप्त द्रव्यत्व-नहीं है। इसकी द्रव्य संख्या में परिगणना 'उपकारकं द्रव्यं' इस आधार पर हुई है। निष्कर्ष यह हुआ कि काल हमारा उपकार करता है और अकाल अपकार। कच्ची औषधि, कच्चा पारा और कच्चा फोड़ा स्वयं मे कितना भयकर होता है। यह अनुभव प्रसिद्ध है। साधना, चैतन्य जागरण का नाम है, जिसे लम्बी थपथपी के बाद ही जगाया जा सकता है। कच्चे फल और कच्ची साधना में इतना ही अन्तर हो सकता है कि दोनों समय लेकर पकते है किन्तु एक पकने के बाद खत्म होता है और एक बनता है।

शास्त्रीय भाषा मे स्थिति पाक ही स्थायी तथा चमत्कारिक निष्पत्तियों का कारण है। क्या समय और संकल्प को संसार की महानता उपलब्धियों का कारण इसी आधार पर नहीं माना गया है? हर सफलता के पीछे समय की शर्त है। शिशु-शरीर का जिस मन्थर गति से विकास होता है, उसी सूक्ष्म गति से वाणी और चिन्तन मे स्फुरणा आती है। इसके बिना न नवीनता है न प्राचीनता और न ह्रास के लिए विकास है और न विकासके लिए ह्रास है। मानव जीवन की समग्र सामर्थ्य-शक्ति सम्भावनाओ की साधिका काल की कृपा है। सारा चराचर जगत इसी कालचक्र की परिक्रमा किए चलता है।

महावीर साधक थे। उन्होंने बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक साधना की। इस लम्बी अवधि के बाद उन्हे आत्म साक्षात हुआ जैन आगम आचाराग में श्रमण के लिए समयण्णे और कालण्णे दो विशेषण प्रयुक्त हुए है। जिनका अर्थ है समाधि के लिए समय की पाबन्दी काल शब्द समाधि के अर्थ-मे प्रयुक्त होता है। जैसे "कालस्स कंखाए विहरेज्ज मेहावी"—मुनि समाधि के लिए विहरण

करे। असमय में घूमने वाले मुनि के चारित्र मे असमाधि पैदा होती है। एक बार एक मुनि अकाल में भिक्षा लाने गया। वह बहुत घरों में घूमा किन्तु भिक्षा नही मिली। वापिस जा रहा था। रास्ते में काल चारी मुनि मिला। उसने पूछा—खाली कैसे ? भिक्षा नही मिली इधर ? उसने घृणा के स्वर में कहा—यहा भिक्षा क्या मिले ? यह तो भिखारियों का गाव है। इस अकाल चारी मुनि की उक्ति और असन्तोषभरी वाणी को सुनकर वह बोला मुने ! अपनी गल्ती से औरों को बुरा भला कहना पाप है गल्ती तुम्हारी है। मुनि ने इस प्रसग में एक शिक्षा पद भी कहा—

अकाले चरसि भिक्खू काल न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेस च गरहसि॥

भिक्षा के समय (गृहस्थ याद करे) तुम घरों मे जाया करो। तुम्हारा भी कार्य होगा और गृही वर्ग को भी तुम्हे नही मिलने मे होने वाला क्लेश नही होगा। प्राचीन जैन व्याख्या ग्रन्थों मे इस बात पर विशेष बल दिया है कि मुनि ऐसे ग्रामो और नगरों मे न रहें जहा कि स्थडिल भूमि और भिक्षा के घर अधिक दूर हो। ऐसा होने से—"पढिम पोरिसिज्झाय" इसमे बाधा आती है। तपस्वी मुनि के लिए पारणक काल मे इतनी दूर जाने और स्थान पर भोजन लाकर खाने मे बड़ी कठिनाई होती है[1]। अत काल का निर्णय साधना मे सबसे प्रथम करना चाहिए। विक्षिप्त मानस नियन्त्रण नही चाहता। इस लिए कभी-कभी मन और इन्द्रियों में अधिक जकडन हो जाती है किन्तु जिस साधक का लक्ष्य स्वय को पाना है वहा अवश्य इस प्राचीरको तोड़कर अन्दर घुसना चाहेगा। भेद, विज्ञान, आत्मबोध तथा सम्भाव, समय की उपज तो नही किन्तु समय के निमित्त को पाकर फलने वाली साधना है। तत्त्वत: सकल्प नहीं फलता, फलती साधना है। लम्बे समय तक अपने कर्म सकल्पो को दोहराते रहना ही साधना है। शास्त्रों मे अमुक क्रिया को अमुक समय पर ही करने का विधान है। क्रिया-व्यत्यय मे अबोधि असमाधि तथा आत्म-हनन होता है। वर्तमान मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि हम चेतन मन की सहायता से समय के पाबन्द नही हो सकते; क्योंकि हमारी अव्यक्त चेतना शक्ति (अवचेतनमन) जैसा करवाती है, वैसा हम करते हैं। ९९ प्रतिशत कार्य इसी अव्यक्त प्रेरणा से होते हैं। अपेक्षा है—विभिन्न सुझावो तथा स्वतः सूचना विधि बहुत बार जिस समय हम उठना चाहते है, उस समय उठ नहीं सकते, क्या इसके पीछे हमारे अन्तर की कोई मजबूरी नही बोल रही है ? मेरे विचारो के अनुसार महान् साधना के लिए समय का अनुशासन हमे स्वीकार होता है क्योंकि समय की नियामकता मे हम साधना के बन्द द्वारो को खोल सकते है। अकाल मे ज्ञान दर्शन और चारित्र का अभ्यास करना निषिद्ध है किसी जिज्ञासु मुनि ने गुरु से पूछा—भन्ते ! यदि ज्ञान मोक्ष प्राप्ति म सहायक हो तो उसकी आराधना मे प्रतिबन्ध क्यो ? गुरु—शिष्य ! देह धारण के लिए आहार आवश्यक है, और मोक्ष प्राप्तिके लिए देह-धारण आवश्यक है। किन्तु आहार के लिए अकाल चारी बनना भगवान् ने अप्रशस्त बताया है। विहार चर्या मुनि के लिए विहित है किन्तु वर्षावास मे चलना निषिद्ध है। ऋतु बद्ध चर्या-प्रशस्त है, मुनि दिन मे चले, किन्तु केवल तीसरे पहर म। प्रथम दो प्रहर—स्वाध्याय, ध्यान के लिए है, तथा अन्य आत्मिक विशिष्ट क्रियाओ के लिए। प्रथम पहर की उपयोगिता तो आज भी प्रतीत होती है। पता नही प्रथम प्रहर मे विहार करने की यह परम्परा किस जैन मनीषी ने किस महान् उद्देश्य के लिए प्रारम्भ की जिसके कुछ कटु परिणाम हमे भी भुगतने पड़ रहे हैं। यदि उस समय तक ध्यान परम्परा सुव्यवस्थित ढंग से चालू होती तो ऐसा नहीं होता। संभव है कि यह विधि जिन कल्पिक मुनियों के लिए ही विहित हो, परन्तु इसका स्पर्श दूसरी परम्परा से सर्वथा नही था, ऐसा नही जचता। प्राचीन उग्र विहार की मर्यादा मीलों और कोसो पर नही थी। उग्र विहार का अर्थ था—सयम और तप से स्वयं को विशेष भावित करते रहना। विहार चर्या का नाम ही उग्र विहार था वर्तमान मुनियो की सहनन दुर्बलता, भिक्षा सुलभता तथा लम्बे विहारो की परम्परा से इतना महान् परिवर्तन हुआ

---

१. यह कथन श्वेताम्बर परम्परा से सम्बन्ध रखता है।
—सम्पादक

है। इस प्रकार कम से कम काले-काले सभा भरे, इस काल समाचारी की पूर्ण आराधना नही हो पाती। सूत्र कृतांग में लिखा है—मुनि दैनिक कार्य नियत समय पर करे। समय बदलने से बुभुक्षा के पूर्व खाने से अजीर्ण होता है तथा अधिक विलम्ब करने से बात दोष बढ़ता है। धीरे-धीरे पाचक-अग्नि मन्द पड़ जाती है।

पाणं पाण काले—पानी के समय पानी पीए। बहुत जल्दी पानी पीने से आमाशय की क्रिया (घोल) व्यवस्थित नही होती। अधिक समय तक पानी नही पीने से मलावरोध तथा पित्त प्रकोप हो जाता है।

वत्थं वत्थ काले—वस्त्र जीर्ण होने पर नये वस्त्रों को धारण करे। अथवा—ऋतु भेद से अचेल और सचेल धर्म को स्वीकार करे। सयणं-सयण काले—जल्दी सोने और जल्दी जागने से ब्रह्मचर्य की साधना मे बहुत सहायता मिलती है। भोजन करने के नियमित तीन घण्टा बाद सोने से वीर्य वाहिनी नाड़ियो पर दबाव कम रहता है। और वीर्य के बनने और पचने मे सुविधा होती है। यह क्रम रात्रि को भोजन नही करने वालों के लिए व्यवस्थित चल सकता है। प्रातः देरी से उठने से शुक्राशय, मलाशय तथा मूत्राशय पर भार रहता है। शुद्ध प्राण वायु का पर्याप्त आत्मीकरण फिर दिन भर में नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अनेक बाह्य कारण हैं, जिनका संयमी जीवन के निर्वाह के लिए पालन करना जरूरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से समय पलटने से दिन भर की क्रियाए पहले पीछे हो जाती है। आगम ग्रथो में आवश्यक क्रियाओं के (छह आवश्यक) नियमित करने का महान् पुण्य फल बताया है। तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति बन्धन के बीस कारणों मे काल समाचारी एक कारण है। जब तक आत्मानुशासन जागृत नही, तब तक परानुशासन (समय का कठोर नियंत्रण) अपेक्षित है। सघीय व्यवस्थाएं इसी आधार पर जन्म लेती है। बढ़ते हुए आत्म जागरण के अभाव मे ये ही विधि-विधान, चेतना शील प्राणी के साथ जड़ता का सम्बन्ध स्थापित करते है, अतः प्रत्येक साधक का यह परम लक्ष्य होना चाहिए कि मुझे जल्दी—संपिक्खए अप्पग मप्पएण—आत्मा से आत्मा को पहचानना है। यही सत्य के साक्षात् का पुनीत-प्रशस्त पथ है। इस पथ तक आने के लिए समय का नियंत्रण सर्वथा मान्य होना चाहिए।

मनोनियंत्रण

अनेकान्तात्मार्थं प्रसवफलभारातिविनते,
वचः पर्णाकोर्णे विपुलनयशाखा शतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान्रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥१७०॥
—आत्मानुशासनम्

अर्थ—जो श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलो के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूप पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयो रूप सैकड़ों शाखाओ से युक्त है, उन्नत है, तथा समीचीन एव विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कंधरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु के लिए अपने मनरूपी बन्दर को प्रतिदिन रमाना चाहिए।

श्रमण संस्कृति के उद्भावक ऋषभदेव

परमानन्द शास्त्री

संस्कृति शब्द अनेक अर्थों में रूढ है, उनकी यहां विवक्षा न कर मात्र संस्कारों का सुधार, शुद्धि, सभ्यता, आचार-विचार और सादा रहन-सहन विवक्षित है। भारत मे दो संस्कृतिया बहुत प्राचीन काल से प्रवाहित हो रही हैं। दोनों का अपना अपना महत्व है ही, फिर भी दोनों हजारों वर्षों से एक साथ रहकर भी सहयोग और विरोध को प्राप्त होती हुई भी एक दूसरे पर प्रभाव अंकित किये हुए हैं। इनमें एक संस्कृति वैदिक और दूसरी अवैदिक है। वैदिक संस्कृति का नाम ब्राह्मण संस्कृति है। इस संस्कृति के अनुयायी ब्राह्मण जब तक ब्रह्म विद्या का अनुष्ठान करते हुए अपने आचार-विचारो में दृढ़ रहे तब तक उसमे कोई विकार नहीं हुआ; किन्तु जब उनमे भोगेच्छा और लोकेषणा प्रचुर रूप मे घर कर गई तब वे ब्रह्मविद्या को छोड़ कर शुष्क यज्ञादि क्रियाकाण्डों मे धर्म मानने लगे, तब वैदिक संस्कृति का ह्रास होना शुरू हो गया।

दूसरी संस्कृति अवैदिक है उसका नाम श्रमण संस्कृति है। प्राकृत भाषा मे इसे समन कहते है और संस्कृत मे श्रमण। समन का अर्थ समता, राग-द्वेष से रहित परम शान्त अवस्था का नाम समन है। अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका समान भाव है ऐसा साधकयोगी समण या श्रमण कहलाता है। 'श्रमण' शब्द के अनेक अर्थ है, परन्तु उन सभी अर्थों की यहा विवक्षा नही है, किन्तु यहां उनके दो अर्थों पर विचार किया जाता है। श्रम धातु का अर्थ खेद है। जो व्यक्ति परिग्रह-पिशाच का परित्याग कर घर-बार से कोई नाता नही रखते, अपने शरीर से भी निर्मोही हो जाते हैं, वन मे आत्म-साधना रूप श्रम का आचरण करते हैं, अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण करते है, काय क्लेशादि होने पर भी खेदित नही होते, किन्तु विषय-कषायोंका निग्रह करते हुए इन्द्रियोका दमन करते हैं। वे श्रमण कहलाते हैं अथवा जो बाह्य आभ्यान्तर ग्रन्थियों का त्याग कर तपश्चरण करते हैं, आत्म-साधनों में निष्ठ, और ज्ञानी एवं विवेकी बने रहते हैं, (श्रामयन्ति बाह्याभ्यन्तरं तपश्चरन्तीति श्रमण:) जो शुभ क्रियायों में, अच्छे बुरे विचारों में, पुण्य-पापरूप परिणतियो मे तथा जीवन-मरण, सुख-दुख मे और आत्म-साधना से निष्पन्न परिस्थितियों में रागी द्वेषी नही होते प्रत्युत समभावी बने रहते है, वे श्रमण कहलाते है।

जो सुमन हैं—पाप रूप जिनका मन नही है, स्वजनों और सामान्यजनो मे जिनकी दृष्टि समान रहती मे। जिस तरह दुख मुझे प्रिय नही है, उसी प्रकार ससार के सभी जीवो को प्रिय नहीं हो सकता। जो न स्वय मारते हैं और न दूसरों को मारने की प्रेरणा करते हैं[१] किन्तु मान-अपमान मे समान बने रहते है, वही सच्चे श्रमण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो श्रमण शत्रु और बन्धुवर्ग मे समान वृत्ति है, सुख-दुख मे समान है, निन्दा-प्रशंसा मे समान है, लोह और कांच मे समान है, जीवन-मरण मे समान है, वह श्रमण है। जैसा कि निम्न गाथा से स्पष्ट है—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद-समो।
समलोट्ठु कंचणो पुण जीविय मरणे समो समणो॥

(प्रव० ३-४१)

जो पाच समितियों, तीन गुप्तियो तथा पाच इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, कषायों को जीतने वाला है, दर्शन, ज्ञान, चरित्र सहित है, वही श्रमण संयत कहलाता है :—

१—सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अजणे य समो, समो अमाणाऽवमाणेसु॥
जह मम न पिय दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइय सममणई तेण सो समणो॥

—अनुयोगद्वार १५०

पंच समिदो तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिद कसाओ।
दंसण-णाण-समग्गो समणो सो संजयो भणिदो ॥ (३-४२)

ऊपर जिन श्रमणों का स्वरूप दिया गया है वे ही सच्चे श्रमण हैं। अनुयोगद्वार में श्रमण पांच प्रकारके बतलाये गये हैं। निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरुय और आजीवक इनमें अन्तर्बाह्य ग्रन्थियों को दूर करने वाले विषयाशा से रहित, जिन शासन के अनुयायी मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। सुगत (बुद्ध) के शिष्य सुगत या शाक्य कहे जाते हैं। जो जटा धारी हैं, वन में निवास करते हैं, वे तापसी है। रक्तादि वस्त्रों के धारक दण्डी लोग कहलाते है। जो गोशालक के मत का अनुसरण करते है वे आजीवक कहे जाते हैं१। इन श्रमणों मे निर्ग्रन्थ श्रमणोका दर्जा सबसे ऊचा है, उनका त्याग और तपस्या भी कठोर होती है वे ज्ञान और विवेक का अनुसरण करते हैं। ऐसे सच्चे श्रमण ही श्रमण संस्कृति के प्रतीक हैं। इस श्रमण संस्कृति के आद्य प्रतिष्ठापक आदि ब्रह्मा ऋषभदेव है जो नाभि और मरुदेवी के पुत्र थे और जिनके शतपुत्रों मे ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है२।

श्रमण शब्द का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध साहित्य मे हुआ है। ऋग्वेद मे जिस 'वातरशना' मुनि का उल्लेख किया गया है, वह उक्त संस्कृति के संस्थापक ऋषभदेव के लिए किया गया है।

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरेस्माकं यूय मर्तासो अभि पश्यथ ॥
(ऋग्वेद १०, १३६, २-३)

अतीन्द्रियार्थ-दर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं, जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं—रोक लेते हैं—तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता रूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यान वृत्ति को) प्राप्त होते है, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यतर स्वरूप को नही, ऐसा वे वातरसना मुनि प्रकट करते हैं।

ऋग्वेद की उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है। केशी का अर्थ केश वाला जटाधारी होता, सिह भी अपनी केशर (अयाल) के कारण केशरी कहलाता है। ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि और भागवत पुराण के उल्लिखित 'वातरशना श्रमण' एव उनके अधिनायक ऋषभ की साधनाओं की तुलना दृष्टव्य है। दोनों एक ही सम्प्रदाय के वाचक है जैन कला मे ऋषभदेव की अनेक प्राचीन मूर्तियां जटाधारी मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ती मे लिखा है—'उस गंगा कूट के ऊपर जटा रूप मुकुट से सुशोभित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमाएं हैं। उन प्रतिमाओ का मानो अभिषेक करने के लिए ही गंगा उन प्रतिमाओं के ऊपर अवतीर्ण हुई है। जैसा कि निम्न गाथा से प्रकट है:—

आदि जिणपडिमाओ ताओ, जडमउड सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥

रविषेणके पद्मचरित (३-२८८) में "वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुरा कुलमूर्तयः।" और 'हरिवंशपुराण' (९-२०४)

१—निग्गंथ सक्क तावस गेरू आजीव पंचहा समणा।
तम्मिय निग्गंथा ते जे जिणसासण भवा मुणिणो ॥
सक्काय सुगम सिस्सा जे जडिला तेउ तावसा गीया।
जे गोसाल गमयमणु जे धाउ रत्तवत्था तिदंडिणो गेरुया तेण ॥
सरंति भन्नति ते उ आजीवा—अनुयोगद्वार अ० १५०

२—नाभेः पुनश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्न. त्विदं वर्ष भारत चेति कीर्त्यते ॥
—विष्णु पुराण अ० १

अग्नीध्रं सूनोनाभेस्तु ऋषभोऽभूत सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताद्वरः ॥
३९, मार्कण्डेय पुराण अ० ५०

येषा खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण आसीत।
येनेंद वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥
भागवत ५–९

में—"सप्रलम्ब जटाभार भ्राजिष्णु." रूप से उल्लेखित किया है। अपभ्रंश भाषा के सुकमाल चरिउ मे भी निम्न रूप से उल्लेख पाया जाता है :—

पढमु जिणवरु णवि वि भावेण,
जड-मउड विहूसिउ विसय विण्हु मयणारिणासणु।
अमरासुर-णर-थुय-चलणु,
ससतच्च णवपयत्थ णव णयहि पयासणु।
लोयालोयपयासयरु जसु उप्पण्णउ णाणु।
सो पणवेप्पिणु रिसहजिणु अक्खय-सोक्ख-णिहाणु।

जटा, केश केसर एक ही अर्थ के वाचक है, "जटा सटा केसरयोः इति मेदिनी।" इस सब कथन पर से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

केशी और ऋषभ एक ही है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है और वह इस प्रकार है :—

ककर्दवे ऋषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी, दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

इस सूक्त की ऋचा की प्रस्तावना मे निरुक्त मे मुद्गलस्य हृता गाव आदि श्लोक उद्धृत किये गये है कि मुदगल ऋषि की गायो को चोर चुरा ले गये थे, उन्हे लौटाने के लिए ऋषि ने केशी ऋषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौए आगे न भाग कर पीछे की ओर लौट पड़ी। इस ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने केशी और वृषभ का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु प्रकारान्तर से उसे स्वीकृत भी किया है—"अथवा, अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशी वृषभ अवावचीत् अशमशब्दयत्" इत्यादि।

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मा वृत्ति) की ओर लौट पड़ीं अर्थात् मुद्गल ऋषिकी इन्द्रियां जो स्वरूप से पराङ्मुख हो अन्य विषयों का ओर भाग रहीं थी वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई—अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गई।

ऋग्वेद के (४, ५८, ३) सूक्त मे—"त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यान विवेश" बतलाया गया है, कि दर्शन ज्ञान चरित्र से) अनुबद्ध वृषभ ने घोषणा की और वे एक महान् देव के रूप में मर्त्यों में प्रविष्ट हुए।

इस तरह वेद और भागवत तथा उपनिषदो में श्रमणों के तपश्चरणकी महत्ताका जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह महत्वपूर्ण है। और उसका सम्बन्ध ऋषभदेव की तपश्चर्या से है। श्रमणो ने अपनी आत्म-साधना का जो उत्कृष्टतम आदर्श लोक मे उपस्थित किया है तथा अहिंसा की प्रतिष्ठा द्वारा जो आत्म-निर्भयता प्राप्त की, उससे श्रमण संस्कृति का गौरव सुरक्षित है। श्रमण-सस्कृति ने जो भारत को अपूर्व देन दी है वह है अहिंसा, समता और अपरिग्रह। भारतीय संत-परम्परा ने इनके द्वारा ही अपने को यशस्वी बनाया है। भगवान ऋषभदेव सत-परम्परा एव श्रमण-संस्कृति के आद्य सस्थापक थे। उनको हुए बहुत काल बीत गया है तो भी उनकी तपश्चर्या का महत्व और उनका लोक कल्याणकारी उपदेश भूमडल में अभी वर्तमान है। वे श्रमण सस्कृति के केवल सस्थापक ही नही थे किन्तु उन्होंने उसे उज्जीवित और पल्लवित भी किया। और उनके अनुयायी तेईस तीर्थकरो ने भी उसका प्रचार एव प्रसार किया। उनमे अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। इसी से उनके समक्ष जाति-विरोधी जीवो का वैर-विरोध भी शान्त हो जाता था। ऋषि पतजलि ने योग सूत्र मे लिखा है कि—'अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैर त्यागः।' यह उक्ति ही नहीं है किन्तु उन्होंने इसे अपने जीवन मे चरितार्थ किया था। ऋषभदेव का जीवन कितना महान था और उन्होंने श्रमण सस्कृति के लिए क्या कुछ देन दी इस पर फिर कभी विचार किया जायगा।

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द जैन शास्त्री

अग्रवाल यह शब्द एक क्षत्रिय जाति का सूचक है। जिसका निकास अग्रोहा या अग्रोदक जनपद से हुआ है, यह स्थान हिसार जिले मे है। अग्रोदक एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। यहा एक टीला ६० फुट ऊंचा था, जिसकी खुदाई सन् १९३९ या ४० में हुई थी। उसमें प्राचीन नगर के अवशेष, और प्राचीन सिक्कों आदिका ढेर प्राप्त हुआ था। २६ फुट से नीचे प्राचीन आहत मुद्रा का नमूना, चार यूनानी सिक्के और ५१ चौखूंटे तांबे के सिक्के भी मिले है। ताबे के सिक्कों मे सामने की ओर 'वृषभ' और पीछे की ओर 'सिह' या चैत्य वृक्ष की मूर्ति अंकित है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों मे 'अगोद के अगच जनपदस' शिलालेख भी अकित हैं, जिसका अर्थ 'अग्रोदक में अगच जनपद का सिक्का' होता है। अग्रोहे का नाम अग्रोदक भी रहा है। उक्त सिक्कों पर अकित वृषभ, सिह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति जैन मान्यता की ओर सकेत करती है[1]।

कहा जाता है कि अग्रोहा मे अग्रसेन नाम के एक क्षत्रिय राजा थे। उन्हीं की सन्तान परम्परा अग्रवाल कहे जाते है। अग्रवाल शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु यहाँ उन अर्थों की विवक्षा नही हैं। यहाँ अग्र देश के रहनेवाले अर्थ ही विवक्षित है। अग्रवालों के १८ गोत्र बतलाये जाते है, जिनमे गर्ग, गोयल, मित्तल, जिन्दल, सिहल या सिंगल आदि नाम हैं। इनमें दो धर्मों के माननेवाले पाये जाते हैं। एक जैन अग्रवाल, दूसरे वैष्णव अग्रवाल। श्री लोहाचार्य के उपदेश से उस समय जो जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे वे जैन अग्रवाल कहलाये और शेष वैष्णव। परन्तु दोनों में रोटी-बेटी-व्यवहार होता है, रीति-रिवाजों मे बहुत कुछ समानता होते हुए भी उनमें अपने-अपने धर्म परक प्रवृति पाई जाती है। हां सभी अहिंसा धर्म के माननेवाले हैं। यद्यपि उपजातियों का इतिवृत्त १० वी शताब्दी से पूर्व का नहीं मिलता, पर लगता है कि कुछ उपजातिया पूर्ववर्ती भी रही हों। जैन अग्रवालों में अपने धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा एव आस्था पाई जाती है। उससे उनकी धार्मिक दृढता का समर्थन होता है। अग्रवालों के जैन परम्परा सम्बन्धी उल्लेख १२वी शताब्दी तक के मेरे अवलोकन मे आये हैं। यह जाति खूब सम्पन्न, राजमान्य और धार्मिक रही है। ये लोग धर्मज्ञ, आचारनिष्ठ, दयालु और जन धन से सम्पन्न तथा शासक रहे हैं। अग्रवालो का निवासस्थान अग्रोहा या हिसार के आस-पास का क्षेत्र ही नही रहा है, किन्तु उनका उल्लेख उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा दिल्ली और उसके आस-पास का स्थान भी रहा है। क्योंकि अग्रवालों द्वारा निर्मित मन्दिर उदयपुर, जयपुर में भी पाये जाते हैं। पणिपद (पानीपत), स्वनिपद (सोनीपत) कर्नाल, हांसी, हिसार, बिजनौर, मुरादाबाद, नजीबाबाद, जगाधरी, अम्बाला, सरसावा, सहारनपुर, कैराना, श्यामली, बडौत, नकुड़, देवबन्द, मुजफ्फरनगर, कलकत्ता, ग्वालियर, खतौली, आगरा, मेरठ, शाहपुर, दिल्ली, हापुड़, बुलन्दशहर, खुर्जा, कानपुर, ब्यावर, आरा, ज्वालापुर, बनारस, इलाहाबाद, पटना आदि अनेक नगरों में इनका निवास पाया जाता है। इससे इस जाति की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है। अग्रवाल जैन समाज द्वारा अनेक मन्दिरों, मूर्तियों, विद्यासंस्थाओं, औषधालयों, लायब्रेरियों और साहित्यिक संस्थाओं आदि का निर्माण कराया गया है। इनका वैभव राजाओं के सदृश रहा है। ये शाही खजांची, मंत्री, सलाहकार आदि अनेक उच्च पदों पर भी नियुक्त रहे हैं। शास्त्रदान में भी रुचि रही है उसीका परिणाम है कि दिल्ली के ग्रन्थभंडारों में ग्रन्थों का अच्छा संग्रह पाया

१. एपिग्राफिका इंडिका जिल्द २ पृ० २४४। इडियन एण्टीक्वेरी भाग १५ के पृष्ठ ३४३ पर अग्रोतक वैश्यों का वर्णन दिया है।

जाता है। आरा का जैन सिद्धान्तभवन तो प्रसिद्ध ही है, जैनसाहित्य और इतिहास का प्रसिद्ध शोधसस्थान वीर-सेवा मन्दिर से सभी परिचित हैं। मेरठ, खतौली, मुजफ्फरनगर और सहारनपुर के शास्त्रभडार भी उपयोगी हैं। आज इस लेख द्वारा अग्रवाल जैनों की जैनधर्म और समाज एवं साहित्य-सेवा का थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है जिससे जनसाधारण अग्रवालों के जैन-धर्म व संस्कृति में योगदान का परिज्ञान कर सकें।

संवत् ११८९ से पूर्व साहू नट्टल के पूर्वज पिता वगैरह योगिनीपुर (दिल्ली) के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल थी। नट्टल साहु के पिता साहु जोजा श्रावकोचित धर्म कर्म मे निष्ठ थे। इनकी माता का नाम 'मेमडिय' था, जो शीलरूपी सत् आभूषणों से अलकृत थी और बाधव जनों को सुख प्रदान करती थी। साहु नट्टल के दो ज्येष्ठ भाई और भी थे राघव और सोढल। इनमे राघव बड़ा ही सुन्दर और रूपवान् था। उसे देखकर कामनियो का चित्त द्रविन हो जाता था। और सोढल विद्वानो को आनन्ददायक, गुरुभक्त तथा अरहंत देव की स्तुति करने वाला था, उसका शरीर विनयरूपी आभूषणो से अलकृत था, तथा बडा बुद्धिवान और धीर-वीर था। साहू नट्टल इन सब मे लघु पुण्यात्मा, सुन्दर और जन वल्लभ था। कुलरूपी कमलो का आकर, पापरूपी पाशु (रज) का नाशक, आदिनाथ तीर्थकर का प्रतिष्ठापक, बन्दीजनो को दान देने वाला, पर दोषों के प्रकाशन से विरक्त, रत्नत्रय से विभूषित और चतुर्विध संघ को दान देने मे सदा तत्पर रहता था। उस समय दिल्ली के जैनियो मे वह प्रमुख था, व्यसनादि से रहित हो श्रावक के व्रतो का अनुष्ठान करता था। साहू नट्टल केवल धर्मात्मा ही नही थे किन्तु उच्चकोटि के व्यापारी भी थे। उन्होने व्यापार मे अच्छा अर्थ सचय किया था और उसे दान धर्मादि कार्यों में सदा व्यय करते रहते थे। उस समय उनका व्यापार अग, बग, कलिंग, कर्नाटक, नेपाल, भोट पाचाल, चेदि, गौड, ठक्क, (पजाब) केरल, मरहट्ट, भादानक, मगध, गुर्जर, सोरठ और हरियाना आदि देशों और नगरों मे चल रहा था। यह व्यापारी ही नही थे, किन्तु राजनीति के चतुर पंडित भी थे। कुटुम्बीजन तो नगर सेठ थे और आप स्वयं तोमरवशी राजा अनगपाल (तृतीय के आमात्य थे। आपने कवि श्रीधर से, जो हरियाना देश से यमुना नदी को पार कर उस समय दिल्ली में आये थे। साहू नट्टल ने उनसे ग्रंथ बनाने की प्रेरणा की थी, तब कवि ने उनके अनुरोध से 'पासणाह चरिउ' नामक सरस-खण्ड काव्य की अपभ्रंश भाषा मे रचना वि० सं० ११८९ अगहन वदी अष्टमी रविवार के दिन समाप्त की थी१।

नट्टल साहू ने उस समय दिल्ली मे आदिनाथ' का एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर भी बनवाया था, जो अत्यन्त सुन्दर था जैसा कि ग्रन्थ के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

कारावेवि णाहेय हो णिकेउ, पविइण्णु पंचवण्णं सुकेउ।
पइं पुणु पइट्ठ पविरइयजेम, पासहो चरित्तु पुण वि तेम॥

आदिनाथ के इस मन्दिर की उन्होंने प्रतिष्ठा विधि भी की थी, उस प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख 'पासणाह चरित्र' की पांचवी सधि के निम्न संस्कृत पद्य से भी प्रकट है :—

येनाराध्यविशुध्यधीरमतिना देवाधिदेवं जिन,
सत्पुण्यं समुपाजितं निजगुणैः सन्तोषिता बान्धवाः।
जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतर जैनीं प्रतिष्ठां तथा,
स श्रीमान्विदितः सदैव जयतात्पृथ्वीतले नट्टलः॥

इससे नट्टल साहु की धार्मिक परिणति का सहजही पता चल जाता है। आदिनाथ का उक्त मन्दिर कुतुब-मीनार के पास बना हुआ था, बड़ा ही सुन्दर और कलापूर्ण था, जहाँ कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद बनी हुई है, जिसे २७ हिन्दू मन्दिरो को तोडकर बनाने को कहा गया है। उसे ठीक रूप से निरीक्षण करने पर जैन सस्कृति के चिन्ह बहुतायित से मिलते है। नीचे प्रवेश स्थान के दाहिनी ओर एक स्तम्भ पर तीन दिगम्बर जैन मूर्तिया अकित हैं। उक्त मस्जिद के ऊपरी भागमे दोनों ओर छतके ऊपर जो गुमटी बनी हुई है। उनमे ऊपर छत के चारों किनारो के पत्थरो पर जैन मूर्तियां अकित हैं। बीच मे पद्मासन और अगल-बगल मे दो खडगासन मूर्तिया उत्कीर्ण है। उनके दोनो किनारों पर हाथी घोडा आदि परिकर उत्कीर्ण है और चारो कोनो पर चार मीन युगल भी बने हुए है। जो दाई-

१ सणवासि एयारह सएहिं, परिवाडिए वरिसह परिगएहिं।
कसणट्ठमीहि आगहणमासि, रविवारि समाणिउ सिसिरभासि।
—पासणाह चरिउ प्रशस्ति सं० पृ० ४८

बाई दोनों तरफ हैं। इससे यह स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है, कि इसमे नट्टल साहू के आदिनाथ मंदिर के अनेक भग्नावशेष होगे।

दिल्ली में सं० १३२६ चैत्र वदी दशमी के दिन ग्यासुद्दीन के राज्य में पंचास्तिकाय की प्रति दिल्ली मे लिखी गई१। जो जयपुर में मौजूद है।

सं. १३७० मे पौष शुक्ला १० गुरुवारके दिन योगिनीपुर (दिल्ली) में साधु नारायण पुत्र भीम, पुत्र श्रावक देवधर ने अपने पढने के लिये देवनन्दि (पूज्यपाद) की तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) लिखवाई थी, जिसे गौडान्वय कायस्थ पंडित गंधर्व के पुत्र वाहड ने लिखा था। (देखो, उदयपुर भंडार की प्रति)

संवत् १३६१ मे ज्येष्ठ सुदी ६ गुरुवार के दिन मुहम्मद शाह के राजकाल मे योगिनीपुर मे अग्रवाल वशी साहू महीपाल के पुत्रों ने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ और भव्यजीवों के पठनार्थ महाकवि पुष्पदन्त के उत्तरपुराण की प्रति लिखवाई थी,२ जो आज भी आमेर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है।

संवत् १३६६ की फाल्गुन शुक्ला पचमी शुक्रवार के दिन योगिनीपुर (दिल्ली) मे महम्मद शाह के राज्य मे काष्ठासंघ के विद्वान भट्टारक जयसेन उनके शिष्य भ० दुर्लभसेन के अध्ययन के लिये प्रतिक्रमण वृत्ति को लिखाकर दरबार चैत्यालय के समीप मे स्थित अग्रवालान्वय के परमश्रावक सागिया (जिनके पूर्व पुरुष पाटन के निवासी थे, साह पाणा भार्या हलो, के पुत्र दिउप और पूना नामके थे। पूना की भार्या वीसो के पुत्रों ने दरबार चैत्यालय में पंचमी व्रत के उद्यापन के लिये सकल संघ को बुलाकर देवशास्त्र गुरु की बड़ी पूजा (महामह) करके सघ की पूजा वस्त्र आहारादि के साथ शास्त्रदान के प्रस्ताव मे पात्र पुस्तके प्रदान की, साह छाजू और उसकी पत्नी माल्हो तथा पुत्र भीम ने पंचमी का उद्यापन किया। पुस्तके पंडित गंधर्व के पुत्र वाहडदेव ने लिखीं।

सवत् १४१६ मे भगवती आराधना का टिप्पण और द्रव्य सग्रह की टीका की प्रतियां लिखवा कर भेट की।

विक्रम सं० १४६३ मे योगिनीपुर (दिल्ली) के समीप बादशाह फिरोजशाह तुगलक द्वारा बसाये गये फिरोजाबाद नगर मे, जो उस समय जन, धन, वापी, कूप, तडाग, उद्यान आदि से विभूषित था, उसमे अग्रवाल वशी गर्ग गोत्री साहु लाखू निवास करते थे। उनकी पत्नी का नाम प्रेमवती था, जो पातिवृत्यादि गुणों से अलकृत थी। उसमे दो पुत्र हुए खेतल और मदन। खेतल की धर्मपत्नी का नाम 'सरो' था, जो सम्पत्ति सयुक्त तथा दानशीला थी। उससे तीन पुत्र हुए फेरू, पाल्हू और वोधा। इन तीनो पुत्रो की क्रमशः काकलेही, माल्हाही और हरिचन्दही नाम की तीन पत्निया थी। लाखू के द्वितीय पुत्र मदन की धर्मपत्नी का नाम 'रतो' था, उसमे 'हरधू' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसकी धर्मपत्नी का नाम मन्दोदरी था। खेतल के दूसरे पुत्र पल्हू के मडन जाल्हा, घिरीया और हरिश्चन्द्र नाम के चार पुत्र थे। इस तरह यह परिवार खूब सम्पन्न था। परिवार के सभी लोग जैनधर्म का विधिवत् पालन करते थे और आहार औषध अभय तथा ज्ञानादि चारों दानों मे सम्पत्ति का विनिमय करते रहते थे। साहू खेतल ने गिरनारि तीर्थ क्षेत्र की यात्रा कर उसका यात्रोत्सव किया था। वह अपनी पत्नी काकलेही के साथ योगिनीपुर (दिल्ली) मे आया था। कुछ समय सुख पूर्वक व्यतीत होने पर साहू फेरू की धर्मपत्नी ने कहा कि स्वामिन्! श्रुत पञ्चमी

---

१ सं० १३२६ चैत्र वदी दशम्यां बुधवासरे अद्येह योगिनीपुरे समस्त राजाबलिसमालकृत ग्यासदीन राज्ये अत्रस्थित अग्रोतक परम श्रावक जितचरन कमल...।

—जैन ग्रन्थ-सूची भा० २ पृ० १४२

२ संवत्सरेऽस्मिन् श्री विक्रमादित्य गताब्दाः सवत् १३६१ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ६ गुरुवासरे अद्येह श्री योगिनीपुरे समसू राजावलि शिरोमुकुट माणिक्य खचित नखरश्मौ सुरत्राण श्री महम्मदसाहि नाम्नि मही विभ्रति सति अस्मिन् राज्ये योगिनीपुरस्थिता अग्रोतकान्वय नभश्शांक सा० महिपाल पुत्रैः जिनचरण कमल चंचरीकैः सा० खेतू फेरा साढा महाराजा तृषा एतैः सा० खेतू पुत्र गल्हा आजा एतौ सा० फेरा पुत्र वीधा हेमराज एतैः धर्मकर्माणि सदोद्यम परैः ज्ञानावरणीय कर्मक्षयाय भव्यजनाना पठनाय उत्तरपुराण पुस्तकं लिखापितं। लिखित गौडान्वय कायस्थ पंडित गंधर्व पुत्र वाहड राज देवेन। —आमेर भंडार

का उद्यापन कराइये। इस बात को सुन कर फेरू अत्यन्त हर्षित हुए। और उन्होंने मूलाचार नाम का आचार ग्रंथ श्रुत पञ्चमी के निमित्त लिखा कर मुनि धर्मकीर्ति के लिए अर्पित किया। धर्मकीर्ति के दिवगत होने पर उनके प्रमुख शिष्य मलयकीर्ति को जो यम, नियम मे निरत तथा तपस्वी थे सम्मान पूर्वक समर्पित किया। उक्त महत्वपूर्ण प्रशस्ति मलयकीर्ति द्वारा लिखी गई है जो ऐतिहासिक विद्वानो के लिए उपयोगी है१। क्योंकि इसके प्रारम्भ मे जो गुरु परम्परा दी गई है वह विचारणीय है।

अग्रवाल वशी साहू वील्हा और धेनाही के पुत्र हेमराज, जिसे बादशाह मुमारख (सैयद मुबारक शाह) ने मत्री पद प्रतिष्ठित किया था२। उमने योगिनीपुर (दिल्ली) मे अरहत देव का जिन चैत्यालय बनवाया था और भट्टारक यशःकीर्ति से 'पाण्डव पुराण' वि० स० १४६७ सन् १४४० मे बनवाया था३। भट्टारक यशःकीर्ति काष्ठासंघ माथुरगच्छ और पुष्कर गण के भट्टारक गुणकीर्ति (तपश्चरण से जिनका शरीर क्षीण हो गया था) के लघु भ्राता और पट्टधर थे। यह उस समय के सुयोग्य विद्वान और कवि थे, तथा सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने स० १४८६ मे विबुध श्रीधर के सस्कृत 'भविष्यदत्त चरित्र' और अपभ्रंश भाषा का 'सुकमालचरित' ये दोनो ग्रन्थ लिखवाये थे। इन्होंने अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा कराई थी। यह ग्वालियर के तोमरवशी शासक राजा डूंगरसिंहके समय हुए है जिनका राज्यकाल स० १४८१ से १५१० तक रहा है।

उक्त भट्टारक यशःकीर्ति ने हिसार निवासी अग्रवाल वशी गर्ग गोत्री साहुदिवड्ढा के अनुरोध से, जो इन्द्रिय विषय-विरक्त, सप्त व्यसन रहित, अष्ट मूलगुण धारक तत्त्वार्थ श्रद्धानी अष्ट अग परिपालक, ग्यारह प्रतिमा आराधक और बारह व्रतो का अनुष्ठापक था, वि० सं० १५०० में भाद्रपद शुक्ला एकादशी के दिन४ 'इंदउरि' (इद्रपुर) परगना तिजारा मे जलालखा५ (शय्यद मुबारिकशाह) के राज्य मे समाप्त किया था६।

योगिनीपुर के निवासी अग्रवाल कुल भूषण गर्ग गोत्रीय साहु भोजराज के ५ पुत्रो मे से ज्ञानचन्द्र के विद्वान पुत्र साधारण श्रावक की प्रेरणा से इल्लराज सुत महिंदु या महाचन्द ने स० १५८७ की कार्तिक कृष्णा पञ्चमी के दिन७ मुगल बादशाह बाबर के राज्य काल८ मे समाप्त किया था। ज्ञानचन्द्र के तीन पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र सारंगसाहु ने सम्मेदशिखर की यात्रा की थी।

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष १३ किरण ४ मे प्रकाशित मलयकीर्ति और मूलाचार प्रशस्ति।

२. तहो णदणु णदणु हेमराउ,
जिणधम्मोवरि जसु णिच्च भाउ।
सुरताण मुमारख तणइं रज्जे,
मतितणे थिउ पिय भार कज्जे॥
—जैनग्रथ प्रशस्ति सं० पृ० ३६

३. विक्कमरायहो ववगय कालए,
महि-सायर-गह-रिसि अकालए।
कत्तिय-सिय अट्ठमि बुह वासर,
हुउ परिपुण्ण पढम नदीसर॥

४. विक्कमरायहो ववगय कालइं,
महिइंदिय दुसुण्ण अकालइं।
भादवि सिय एयारसि गुरुदिणे,
हुउ परिपूण्णउ उग्गतहि इणे॥ —हरिवंश पुराण

५. Tarikhi Mubarakh Shah P. 211

६. इंदउ रहिएउ हुउ संपुण्णउ,
रज्जे जलालखान कय उण्णउ॥ —हरिवश पुराण

७. विक्कम रायहु ववगयकालइं,
रिस-वसुसर-भुवि-अकालइ।
कत्तिय-पढम-पक्खि पंचमिदिण,
हुउ परिपुण्ण वि उग्गतइ इणि।
—जैनग्रथ प्रशस्ति सं० पृ० ११४

८. बाबर ने सन् १५२६ ई० मे पानीपत की लड़ाई में दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी को पराजित और दिवगत कर दिल्ली का राज्यशासन प्राप्त किया था, उसके बाद उसने आगरा पर अधिकार कर लिया था और सन् १५३० (वि० स० १५८७) मे आगरा में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। इसने केवल पाच वर्ष ही राज्य किया है।

और द्वितीय पुत्र साधारण ने जो गुणी और विद्वान था, जिसका वैभव बढ़ा चढा था, उसने शत्रुजय की यात्रा की थी, जिनमन्दिर का निर्माण कराकर हस्तिनापुर की यात्रार्थ संघ चलाया था।

राजा हरसुखराय लाला हुकूममतराय जी हिसार के पांच पुत्रों में से एक थे। दिल्ली के बादशाह ने उन्हे हिसार से बुलाया था, वे दिल्ली के प्रतिष्ठित नागरिक और शाही श्रेष्ठी थे, और उन्हें रहने के लिए शाही मकान प्रदान किया गया था। हरसुखराय स्वभावतः गभीर और बात बनाने की कला में अत्यन्त प्रवीण एव मिठबोला थे। वे शाही खजाची थे, सरकारी सेवाओ के उपलक्ष्य मे उन्हें तीन जागीरे, सनदे तथा सार्टीफिकेट आदि प्राप्त हुए थे। आप भरतपुर राज्य के कौसलर (Councilor) भी थे[१]। उन्ही के द्वारा धर्मपुरा का नया मन्दिर जो पच्चीकारी मे अनूठा है, बनवाया था। और विशाल शास्त्र भंडार का भी संग्रह किया था मुसलमानी शासन काल में सरे बाजार जैन रथोत्सव निकलवाना साधारण काम नही है। इनके पुत्र सेठ सुगनचन्द जी थे, जो भाग्यशाली होने के साथ साथ अत्यन्त उदार और प्रभावशाली थे, वे अपने पिता के कार्यो मे भी सहयोग देते थे। समाज मे तो उनकी प्रतिष्ठा थी ही, किन्तु सरकार मे भी उनकी मान्यता कम नही थी। इनके समय दिल्ली पर अग्रेजी सरकार का प्रभुत्व हो गया था। इन्होने चूकि अग्रेजो को आर्थिक सहयोग प्रदान किया था, इस कारण भी इनकी प्रतिष्ठा मे चार चाद लग गये थे। लाला हरसुख राय जी ने जब हस्तिनापुर के मन्दिर का निर्माण कराया[२] तब उसमे आपका पूरा सहयोग रहा। और मन्दिर बन जाने के बाद उसका बड़ा दरवाजा उन्ही की सूझबूझ का ही परिणाम है। उसे आपने ही निर्माण कराया था। नई दिल्ली जयसिंहपुरा का मन्दिर स्वय आपने बनवाया था, उसके लिये जयपुर राज्य की ओर से आपको जयसिह के दीवान संघी झूथाराम की मार्फत १० बीघा जमीन प्रदान करने का पर्वाना मिला था। शहादरा और पटपड़गज के मन्दिर भी आपके द्वारा बनवाये गये थे। आपकी उदारवृत्ति प्रसिद्ध है। यद्यपि उनके जीवनकाल मे मन्दिरों के सिवाय कोई महत्व के सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न नही हुए, किन्तु उस समय के अनुकूल सामाजिक और धार्मिक कार्य तो सम्पन्न हुए ही है। साधर्मी भाइयों की सेवा के अतिरिक्त दीन-अनाथों की सेवा वे करना अपना कर्तव्य मानते थे। धार्मिक कार्यो मे उनकी अधिक रुचि थी। वे तेरह पंथ की शैली का पूरा अनुकरण करते थे। नये मन्दिर की शास्त्र-सभा में प्रति दिन आते थे। आपकी यह शैली प्रसिद्ध थी, उसका अनुकरण अन्यत्र भी हुआ। सहारनपुर की शैली सुगनचन्द के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होने जयपुर के विद्वान पं० मन्नालालजी से चारित्रसार की हिन्दी टीका का सं० १८७१ मे निर्माण कराया था[३]। आपके पुत्र पडित गिरधारीलाल थे, जो प्राकृत संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। नये मन्दिर की शास्त्र-सभा मे वे स्वय शास्त्र पढते थे और जनता को उसका अर्थ बतलाते थे। उनकी शैली और वक्तृत्व कला उच्च दर्जे की थी। वे अच्छे वक्ता और समाजसुधारक थे। उन्होंने दिल्ली में अग्रवाल दिगम्बर जैन पचायत की स्थापना की थी। इनके अतिरिक्त दिल्ली मे और भी अनेक सज्जन हुए है, जिन्होने जैनधर्म, जैन सस्कृति के विकास तथा म्युनिसिपल कमेटी शिक्षण सस्थाओं आदि मे योगदान दिया है और दे रहे हैं। उनमे मे कुछ के नाम निम्न प्रकार है :—

लाला बलदेवसिंह, लाला हजारीमल जौहरी, लाला पारसदास रायबहादुर मुल्तानसिह रायसा० वजीरा सिंह रायसाहब बा० प्यारेलाल एडवोकेट, लाला मेहरसिंह, ला० डिप्टीमल, ला० उल्फतराय, डा० चम्पतराय जैना, आदीश्वर लाल, ला० भोकूराम आदि सज्जनो ने अपनी शक्त्यनुसार जनतोपयोगी कार्य किये है। साथ ही सामाजिक और धार्मिक कार्यो मे सहयोग दिया है। इस समय

१. इनके विशेष परिचयके लिए देखे अने. वर्ष १५ कि० १

२ देखो, अनेकान्त वर्ष १२ कि० ८ मे प्रकाशित हस्तिनापुर का बड़ा जैन मन्दिर लेख।

३ ता कारय थिरता तिहिपाय, सुगुनचन्द के कहे सुभाय।
चरितसार ग्रन्थ की भाष, वचनरूप यह करी सुभाय॥

× × × ×

सवत् एक सात अठ एक, माघ मास सित पंचमी येक।
मंगल दिन यह पूरण करी, नन्दो विरधो गुणगण भरी॥
—चारित्रसार

दिल्ली मे जैन समाज की ओर से विविध धार्मिक संस्थाएं चल रही हैं, उनमें पक्षियो का हस्पताल भी शामिल है। यदि उन सबके सम्बन्ध मे प्रकाश डाला जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ बन सकता है।

काष्ठासंघ के भट्टारक कुमारसेन की आम्नाय में भटानिया कोल (अलीगढ) के निवासी साहू रूपचन्द थे। उनके पुत्र साहू 'पासा' थे, जो धर्मनिष्ठ और उदारचरित थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। यह जैन धर्म के अनुयायी थे। साहू पासा की धर्मपत्नी का नाम 'घोषा' था जो साध्वी, जिनचरणों में रत द्वितीय लक्ष्मी तथा सरस्वती के समान थी। घोषा से टोडर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। उनकी दो स्त्रिया थी। उनमे ज्येष्ठा का नाम 'हरो' था और उसके गर्भ मे ऋषि (ऋषभ) दास नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। जो राजसभा मे मान्य था, उसकी रूपवती साध्वी पत्नी का नाम लालमती था। साहु टोडरमल की लघु पत्नी का नाम कुसुम्भमती था, उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। बडा पुत्र मोहनदास जिसकी स्त्री का नाम माधुरी था और दूसरा पुत्र रूपमागद था, जिसकी भार्या का नाम भाग्यवती था[१]।

साहू टोडर अलीगढ से किसी समय आकर आगरा में बस गये थे। वे भाग्यशाली, कुलदीपक और अत्यन्त उदार थे। वे गुणी, कर्तव्यपरायण और टकसाल के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। और सम्भवत वे अकबर की टकसाल का कार्यभार भी सम्पन्न करते थे। साहु टोडर देव-शास्त्र-गुरु के भक्त थे। धर्मवत्सल, विनयी, परदारविमुख, दानी, कर्तव्यपरायण, परदोषभाषण मे मौन रखनेवाले, दयालु और धर्मफलानुरागी थे। काष्ठासघ के विद्वान पाडे राजमल को आगरामे इनके समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे इनका बहुत आदर करते थे। राजमल को वहा रह कर साहु टोडर और अकबर बादशाह को नजदीक से देखने का अवसर मिला था। इसीसे उन्होंने अपने जम्बूस्वामिचरित मे, जो साहु टोडरमल की प्रेरणा से स० १६३२ में रचा गया था, अकबर की खूब प्रशसा की गई है और शराबबन्दी तथा 'जजिया' कर छोड़ देने वाला लिखा है[२]।

साहु टोडर अकबर के प्रिय पात्र तथा राज्य संचालन मे सहयोग देने वाले अरजानी पुत्र साहु गढमल और कृष्णामगल चौधरी दोनों के प्रीतिपात्र तथा कृष्णामगल चौधरी के सुयोग्य मत्री थे[३]। पाडे राजमल ने उनकी केवल प्रशंसा ही नहीं की; किन्तु उनके धार्मिक कार्यों का भी उल्लेख किया है, और आशीर्वाद द्वारा उनकी मगल कामना भी प्रकट की है[४]। (क्रमशः)

---

१ आम्नाये तस्य ख्यातो भुवि भरतसमः पावनो भूतलेऽस्मिन्।
पासा सघाधिपोऽसौ कुलबलसबलस्तस्यभार्यास्ति घोषा।
साध्वीश्री वा द्वितीया जिनचरणरता वाचिवागीश्वरी व।
गर्भेतस्या बभूव गुणगणसहितो टोडराख्यस्तु पुत्र ॥१४
भार्येतस्य गुणाकरस्य विमले द्वे दान पूजारते।
या ज्येष्ठा गुणपावना शशिमुखी नाम्ना हरो विश्रुता।
तस्या गर्भसमुद्भवोऽस्ति नितरां योनन्दनः शान्तिधी।
मान्यो राजसभा-सुसज्जनसभा दासो ऋषीणा महान् ॥१५
बल्लभा तस्य संजाता रूपरम्भा विशेषतः।
भर्तानुगामिनी साध्वी नाम्ना लालमती शुभा ॥१६
टोडरस्य नृपस्यवरागना लघुतरा-गुण-दान-विराजिता।
विमलभापि कुसुम्भमती परा अजनि पुत्रद्वयो वरनायको ॥१७
तेषा ज्येष्ठ सुकृत-निरतो, मोहनाख्यो विवेकी।
भार्या[तस्य] सुकृत निरता, नामतो माधुरी या।
कान्त्या कामो वचन-सरसो रूप रुक्मांगदोऽपि।
भार्या गेहे कमलवदना भागमती-भाग्यपूराः ॥१८
—जम्बूस्वामिपूजाप्रशस्ति, अजमेर, भंडार

२ जंबू स्वामी चरित १–५६–५९, २७, २९ पृ० ४–५।

३ शाश्वत साहि जलालदीन पुरतः प्राप्त प्रतिष्ठोदयः।
श्रीमान् मुगलवंश शारद शवणि विश्वोपकारोद्यतः।
नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् स-क्षात्र धर्मोन्नतेः।
तन्मत्रीश्वर टोडरोगुणयुतः सर्वाधिकारोद्यतः।
—ज्ञानार्णव संस्कृत टीका प्रशस्ति

४ उग्राग्रोतक वंशोत्थः श्रीपामा तनयः कृती।
वर्धतां टोडरः साधू रसिकोऽत्र कथामृते ॥
—जंबूस्वामि चरित

शान्तिनाथ फागु

कुन्दनलाल जैन एम. ए.

भट्टारक सकलकीर्ति १५ वी शताब्दी के सुयोग्य विद्वान और धर्म प्रचारक सन्त थे। उनके सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अत. उस पर विराम करते हुए अनेकान्त के पाठको के लिये उनकी हिन्दी भाषा की एक रचना 'शान्तिनाथफाग' जिसका सम्बन्ध जैनियों के १६वे तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ के जीवन-परिचय से है। नीचे दी जा रही है, आशा है पाठक उसका मनन करेगे और शोध-खोज करनेवाले विद्वानो को उससे सहायता मिलेगी।

भ० सकलकीर्ति जी अपने समय के प्रकाड पण्डित तो थे ही साथ ही लोक-प्रवृत्तियों के श्रेष्ठ अध्येता एव अनुभवी थे, जो जानते थे कि संस्कृत भाषा मे लिखा गया साहित्य जन-साधारण के मानस-पटल पर सरलता से अंकित नही किया जा सकता है, अत. जनसाधारण को धार्मिक कार्यो की ओर प्रबुद्ध एव अग्रसर करने के लिए लोकभाषा मे ही लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओ मे साहित्य सर्जन करने से जनसाधारण को विशेषतया प्रभावित किया जा सकता है इसीलिए उन्होने वेली, धूलि, फाग, रास आदि लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओ मे साहित्य सर्जन किया।

वे प्रबुद्ध पाठक जो नगरी की औद्योगिकता, व्यस्तता, कोलाहल एवं भडभडाहट से ऊब कर जब ग्रामों के नीरव, शात एवं निश्छल वातावरण मे पहुच कर लोकजीवन को प्रेरित करनेवाले लोकसाहित्य तथा लोक नृत्यादि मे तनिक भी रुचि लेते हैं तथा लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओं का रसास्वादन कर आनंद विभोर हो उठने हैं।

मदमाते वसत की बहार आते ही ग्रामीण जीवन मे एक अद्भुत ही आनद की हिलोर लहराने लगती है, जिसकी आनंदानुभूति कोई अनुभवी रसिक ही कर पाते हैं। दिन-भर का हारा-थका किसान जब कुछ विश्राति या मनोरजन की आवश्यकता अनुभव करता है ढोल-मजीरे, पखावज और झाझ की मनोमुग्धकारी थाप पर फागे, रसिया, वेली, धूलि आदि विभिन्न लोकसाहित्य की विधाओं को गा-गा कर आनदातिरेक से पुलकित हो उठता है। बुन्देलखंड में तो ईशुरिया की फागे विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। पर ऐसे गीतों या फागों मे शृंगारिकता, अश्लीलता अथवा व्यावहारिक जीवन की बाह्य दुर्बलताओं का समावेश प्रचुर मात्रा में हो ही जाता है, अत इन्ही बुराइओं और दुर्बलताओ को दूर करने के लिए धार्मिक नेताओ, आचार्यो एव विद्वानों ने धार्मिक कथाओ अथवा तत्त्वों को लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओं में लोकगीतो की धुन के रूप मे सुनियोजित कर लोकसाहित्य के रूप मे सत्साहित्य की सर्जना की।

प्रस्तुत रचना इसी आदर्श की परिचायक है। इस रचना मे १६वे तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती भ० शान्तिनाथ स्वामी का जीवन परिचय सक्षिप्त रूप से लोकगीत की धुन में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसकी भाषा ग्रामीण है फिर भी सरस एव मनोहारी है। इसमे कही कही सस्कृत के श्लोक तथा प्राकृत की गाथाये पाई जाती है, वैसे सारी रचना मुख्यतया अठीयु और रासछद में रची गई है। संपूर्ण रचना चार ढालों में विभाजित है, इसकी भाषा मे गुजराती और राजस्थान की पुट स्पष्ट रूप से संमिश्रित है।

शान्तिनाथ फागु

विख्यात नृसुराधिपार्चित पदो विश्वेक चूडामणि रंतातीत गुणार्णवोति सुभगः श्री शांति तीर्थंकरः।
चक्री सर्व सुखाकरोति विमला कामारि विध्वंसक, कामः कामद एव यस्तमसमं नत्वा ब्रुवे बहुगुणान ॥१॥

अहे आवीय मास वसंत रमंतहु आवहु रंग, अहे जिणहरि पूज चडंत करत सुखेला चंग ॥१॥
अहे मिलिए सुतेवड तेवडी जेवडी साविय रंगि। अहे जाईय जिणहरि मनहरि पूजकरी जिन अंगि ॥२॥
अहे वइसिय रंगिहि भंगिहि शांति जिणेसर फाग। अहे गाइहिं मिलिय आनंदिहि नादिहिं मन अनुराग ॥३॥
अहे रत्नसचय नाम पुर वर शुभ धर जिम सोहंत। अहे श्रीषेण नाम महीपति नरपति राज करत ॥४॥
अहे चारण पात्रह् देईय लेईय गुण दातार। अहे आहार दान मनोहर शुभवर संचिय सार ॥५॥

गाहा—तत्तो छंडिय पाणा उत्तर कुरु भोगभूमिसु सुरुवे। जाउ अज्जो सुहणिहि सुपत्त दाणस्य पुण्णेण ॥

अहे दसविधि सुरतरु अपना नीपना भोग विसाल। अहे भोग वि दान फलेण सुहेण गमिय घणु कालु ॥१॥
अहे वस्त्राभरण विमंडिय खडिय पल्ल त्रि आयु। अहे रोग किलेस विवज्जिअ सज्जीय छडिय काय ॥२॥

गाहा—सोहम्मे सिरिणिनये दिव्वविमाण सुहाय रे तत्तो। सिरिपहदेऊ जाऊ महड्ढिउ दिव्वरुवधरा ॥

अठीयु—भोगवइ भोग महत अपछर स्यूक्रीडंत। नंदीसर वर ए पूजइ जिणवर ए ॥१॥
अते छडिय काय अमित तेज खगराय। विजयारिध्धि गिरिए ऊपनउ मणहरिए ॥२॥
वहु विद्या साधेइ जिति रिपुराज करेइ। जिन गुरु पय पणमेए निशिदिन धरम रमेइ ॥३॥
पछइ सजम लेवि दुद्दिलउ तप साधे वि। राग विणासियए सुमरण साधीयए ॥४॥

तस्मादानत संज्ञके सुखनिधौ स्वर्गे महानिर्जरे, नाम्नाभूद्रविचूलएव सुभगो ज्ञानत्रयालंकृतः।
दिव्यांगो जिनचैत्यपूजनपरः स्रग्वस्त्रभूषांकितो, नंद्यावर्त विमान सत्पतिरसौ धर्मैक निष्ठः शुभात् ॥

अहे वीस सागर पर जीवित क्रीडित देवि मझारि। अहे समकित ज्ञान अलंकित संकित धर्म विचारि ॥१॥
अहे सरग विच वि अपराजित भूपति हुयउ बलभद्र। अहे जप-तप दान सुपूजन रजन गुणह समुद्र ॥२॥
छडिय राज विभूतीय दूतीय सुगतिहि दीख। अहे लेवि विरागइ आचरइ सचरइ तप गुरु सीख ॥३॥
अहे सन्यासे तनु छंडिय खडिय पापनु जाल। अहे अच्युत नायक उपनऊ नीपनु भोग विसाल ॥४॥
अहे अमर निकाय नमसीय ससीय गुण सुरराज। अहे जिन कल्याण भजत करत सदा सुभ काज ॥५॥

गाहा—तत्तो चविय सुरिंदो वज्जायुधणाम चक्कवट्टीय। जातु णवणिहि सामिय छखंड रयणाइ सिरिणाहो ॥

रासु—नृप सुत रमणी गजगति रमणी तरुणी सम क्रीडंत रे ॥१॥
बहु गुण सागर अवधि दिवाकर सुभकर निसि दिन पुण्य रे ॥२॥
छंडिय सब सुख पालिय जिन दिख सनमुख आतमध्यान रे ॥३॥
अणमरणविधना मूकीअ असुना आज्ञा जिनवर लेवि रे ॥४॥

गाहा—ततो पुण्य पहावे सराम ग्रैवेयकस्स सोमणसे। जातुदिव्व विमाणे अहमिंदो रिद्धगुण जुत्तो ॥

अहे बहुविह गुणगण आयर सायर आयूण तीस। अहे जिणपय कमल नमंत रमंत गयासविदीस ॥१॥
अहे तो ईहा आवीय ऊपनउ नीपनउ राजकुमार। अहे मेघरथो अति सुंदर मंदिर गुणगण सार ॥२॥
अहे भोग वि राज सुखेन सुभेन करत सुपुण्य। अहे सीलु पवास सुभूपीय सोखीय पाप ए धन्य ॥३॥
अहे काले राग विखंडिय छडिय तृण जिम राज। अहे मन सुद्धइ चारित्र धरीय कारीय आपणू काज ॥४॥
अहे भावीय षोडश कारण साधन जिणवर नाम। अहे पयडि तीर्थंकर बाधीय शुभ परिणाम ॥५॥

तस्मात्सविधिना विमुच्य सुमनिः प्राणान् स्वपुण्योदयात्, सजातोऽप्यहमिन्द्र एव सुभगः सर्वार्थसिद्धौ महान्।
दिव्यांगोति शुभाशयोति विमलाः श्रीधर्म पूजादिभाक्, स्रग्भूषांवर भूषितोति सुकृती ज्ञानत्रयालंकृतः ॥

ढालवीजी—वरदेश कुरुजागल भरतक्षेत्र हस्तिनापुर नगर धरमिइ पवित्र।
तहिं स्वामीय विश्वसेनो नरेश त्रिह-ज्ञान-विज्ञान-वहुगुणगरेश ॥१॥
तसु ऐरादेवीय घरणि जाया महारूपलावण्य सौभाग्य काया।

मुदा मास छ पहिलऊं धनद देव तिह मदिर आवीय नितु तहेव ॥२॥
करइ रतननी वृष्टि आकास रही जनं देखवइ पुण्यनऊ सुफल सही ।
एकहि दिन सूतीय सोधिबाला निशि पाछिली दीठां हां सुपन सोला ॥३॥
पहिलऊ गजदीठउ तुंग काय वली वृषभ पेखिउ महाश्वेत भाय ।
सिंह लक्ष्मी वि अ फूल माल पूरउ चन्द्रमा सूरिज मछसार ॥ ४॥
काल सविइ सरोवर समुद्र देखिउ सिंहासन देव विमान।
सुपेखिउ वली नाग घर रतन नी राशि सखि धगधगात घण अगनि जाल निवारी ॥५॥
हवइं सांभली प्रात भेरी निनाद देवी उठीय तिहा फल भरी आनद ।
ततो वहिलीय भरतार पासि जाई राजा पूछिऊ सुपननां फल जकाई ॥६॥
भणई भूपति देवि तह्म धरमराज सुत होइ सइ भविजन करण काज ।
इहे वचने हेह्यि डलइ हरषि जाया तिहां आनंदिइ पूरीय सयलकाया ॥७॥
छह देवि आवी तसुगरभ साध्यउ सविकलमस शुचिद्रव्यें दूरि कीधउ ।
तदा देवीय सोभीय दिव्य काया जिसी पूतली कनक कनक रहित माया ॥८॥

गाहा—भद्दवकिण्हे **पक्खे सत्तमि दिणि रोहिणी सुणक्खत्ते। तग्गब्भे उप्पण्णो देवो सव्वट्ठसिद्धीदो ॥**

तिहां आवीइ सुरपति सुर समेत जिन करियउ गर्भ कल्याण पवित्र ।
अहे दिग कुमारी सवि सेव करइ जिन मायन्हइ हिय डलइ देव धरइ ॥१॥
वली मास नव रतन नी वृष्टि कीधी राणी मदिर गगन मणि धारु रुंधी ।
ज्येष्ठ वदी चउदशि याम्य योग निशि पाछिली जाइउ जिन सुयोग ॥२॥

काव्यं—ज्ञात्वा जन्म जिनेशिनः सुरवरा घंटादि नादात्ततः, सत्सिंहासनकंपनाच्च सकला स्व-स्वश्रियालंकृता ॥
तज्जन्मोत्सवकारिणः सुकृतनो हस्त्यादि यानाश्रिताः। सानंदा महतोत्सवेन सुविदस्तत्रायमुः सांगनाः ॥

अठिऊ—पइसीय प्रसवागार लईय शचीय कुमार। भरतार करतले ए मू किउ नद भरिए ॥१॥
सुरपति नमसकरेवि बांह ऊपरि थापेवि परम महोत्सविए मेरु शिखरि धरिए ॥२॥
जोयण आठ गंभीर मुखि जोयण विस्तीर सहस्र अठोत्तरए क्षीर समुद्र भरिए ॥३॥
पाडुकशिलसिरि लेवि कांचन कलस सवेवि जिनसिरि ढालीयए निजरीति पालीयए ॥४॥

इन्द्राणी कौतुकी भरीतु भमा रुली जिनवर मंडन करंत ।
भूहरि अगि भली करीतु भमारुली तिलकनि लाडि भरत ॥१॥
आंजीय अजनि वे नयणं तु भमारुली गलि फूल माल घालति ।
माथइ मणिमइ मुकुट धर्यतु भमारुली कानि कुंडल झलकति ॥२॥
हियडइ हार उद्योत काइतु भमारुली कटि मेखला सोहति ।
करि वीटी ककण सोहइत्तु भमारुली पगि नेउर खलकंति ॥३॥
पछुला पहिराविं करीतउ भमारुली कीधीय शोभ महंत ।
दस अतिसय सह ऊपना तउ भमारुली स्वेद मलादि रहृत ॥४॥
सहजिइं जिनवर सुदरु तउ भमारुली मडन करिउ अपार ।
तेज पुज जिमि दीपीउ तउ भमारुली यौवन न लहइ पार ॥५॥
रूप निरीक्षण जिण तणूं तु भमारुली नृपति अपामीय इन्द्र ।
सहस्रनेत्रनी पाइ करी तु भमारुली जिन शोभा जोइ इन्द्र ॥६॥

पश्चात्तं जिन बालकं नियतमं श्रुत्वा प्रजम्योज्झितिं, कृत्वा जन्म महोत्सव च परया भूत्या समावाय ते ।
शक्रो प्राप्य पुरीं प्रवेश सुमुदा राज्ञां गणं पूजनं, पित्रोः संप्रविधाय भूवनवरैः प्रागु प्रभाभास्वरम् ॥

पुत्र शोभा अवलोकता ए सुणि सुन्दरे माय मनि हरिष ने माइ ।
माल्हंतडे माइ मनि हरिख न माइ जात महोछत्र तत्र करयउ ए सुणि सुंदरे सजन राणी अनइ राय ॥१॥
बली हरिषि आनंदिनाटक करीए सुणि सुंदरे सुर गया आपणइ ठामि ।
देवीय जिन सेवा करइ ए सुणि सुंदरे भगति रमाडइ कामि ॥२॥
जिम जिम मरुकले सुत हसइ ए सुणि सुंदरे तिमतिम माय सतोष ।
अनुक्रमिइं शाति जिन वाधीया ए सुणि सुंदरे कू अरहुउ हुआ निरदोष ॥३॥
सीखामण विण अवतरी ए सुणि सुंदरे जिन मुख विद्यावाणि ।
ता यौवनि अलंकरया ए सुणि सुंदरे रूप शोभा गनी खाणि ॥४॥
ऊचीय चालीस धनुष काया सुणि सुंदरे हेम वरण दीपत ।
पूरउ जीवीय लाख वरिष सुणि सुंदरे धरम मूरति जिम भत ॥५॥
आयु चउथउ भाग सुखि गयउ ए सुणि सुंदरे कुमर पद भजत ।
बापइ राजपट बाधीयउए सुणि सुंदरे सुरवर सहित सोहत ॥६॥
मंडलेसर पद भोगवइ ए सुणि सुंदरे तेतला बरिष महंत ।
चक्र रतन पछइ उपनउं ए सुणि सुंदरे नवनिधि चउदह रत्न ॥७॥
महीय छ खड साधीहुउ ए सुणि सुंदरे राज करंत महंत ।
चक्रवर्ति पद भोगवइ ए सुणि सुंदरे आयु नउ चउथलु भाग ॥८॥

गाहा—एसो पंचम चक्की णर सुर खग णाह णमिय पयकमलो । भुंजइ भोग महंतो सावयधम्मंमि पर लीणो ।

अठीऊ—अंतेउर सविचरि छणऊ सहुसनारि भूचर खेचर ए भोगवइ मन हरीए ॥१॥
गज चुरासी लाख तुंगा करइ सुभाष तेतला रथ वरए जू ताहा असवरए ॥२॥

ढालबीजी—कोडि अठार तुरग माए पायदल चुरासीय कोडितु । तसुपय मणमइ मुकुट बद्ध राजा सहस बत्रीसतउ ।१।
तिह समदंस विभासीय ए बहुतरि सहस पुराणि तउ । पाटण च्यालीस सहस आठ ग्राम छइछणउ कोडि तु ।२।
सहस नवाणउ द्रोणमुख सोल सहस खेडा जाणि तु । छपन्न अन्तरदीप हुइ चउदस सहस संवाह तु ।३।
सहस्र अठार संख्या म्लेच्छ राजा चक्रवर्ति पाय पडति तउ । सोल सहस गण बद्ध सुर राखइ निधि अंगरत्न तउ ।४।
अनुपम चामर ढालीइं ए सूरिज प्रभसिरि छत्र तउ । बीजली प्रभमणि कुण्डल बिए कवच अभेदी जाणितउ ।५।
अजितं जय घर हेममय धनु वज्र काड हवेइ तु । अपर अनेरी रिद्धि घणी आगमि कहीय अपार तउ ।६।
पुण्य फलिइं सवि भोगवइ ए सरगह करज भोग तु । इम जाणि करु धरम एक जाणिय चंचल आयु तु ।७।
जीणंपर भवि जीव लहइ मन वाछित फल सार तु । जेह न कीधउ धरम पर पसु सम तेह नऊ आयु तु ।८।

ढालबीजी—एकहं दिन ऐ जिनवर राज काजि दर्पण मुख जोअता । तत्र देखिय रे छिन्निए छाह तां हसइं वैराग उपनुए ।१।
घणु संसार रे एह असार सार न दीसइ दु खिन भरयु । निनु एकलु रे आवइ जाह माय करमे जीव वाधीउ ।२।
सही विषय नू ए विष सम सौख्य दुक्ख भोग अति चचला ए । सवि इन्द्रीरे विषम ए चोर घोर नरहबिल देहडी ।३।
इम चितता रे जिनवर पासि आसि अवसरि सुर आवीया ।
जिन छडीय ए तृण जिम राज आज पालि खिचड़ी नीकल्या ।४।

अन्ते उरी रे स्वामीय पूठि मूठिहार करती नीक ली । केए फोडइ रे कंकण भार सार बिलूरइ देहडी ।५।
एक ओडइ रे नव सर हार पार न पामइ रोवती । ए केई कूटइ ए पेट अपार सार पालइ धरणिइ पडइं ।६।
एके बोलइ रे मधुरी बाच साच बहिनि सुणि रडि मन हनइ । लेसिउ रे आपना दीख सीखए सरग मुगतहिं तणी ।७।
तेह संभली ए वचन अशोकशोक मूकी धरि तउ गई । ततो आवी आए शाति जिनेसर दिशि आवां वनि सुरसम ।८।
सइं लेई अरे वि उपवास पारि उत्तरदिशि वइ सीया । भरी पाचे हे रे मुठि उपाडि वाडिनी माला के रेडी ।९।
सब भूपति रे सहस समेत हेत जेस विदूषणतणा । तअ छडी रे भूषणवस्त्र शस्त्र कषाय मन शुद्धि करी । १०।

गाहा—जिट्ठे किण्हे पक्खे अवरण्हे भरणिणाम णक्खत्ते ।
उड्डीय सयल परिग्गह जिण दिक्खा लइ य मुक्ख बल्लहिय ।
रासु—उपधि विछंडीय चरण सुमडिय खडिय मोहनउ जाल रे ।१।
परम समाधिइं रहिय अबाधिइं साधीय आतम ध्यान रे ।२।
ध्यान अभ्यासीय धाति कर्म नासीय आसीय वनहं मझारि रे ।३।
पामीय ज्ञान पर केवल नुत सुर ईसर हऊ उजग देव रे ।४।

"पुण्ये मास चतुर्दशीवरविने पक्षे सुशुक्ले सुधीः, सन्ध्यायां विनहत्य घाति प्रकृतीन संप्राप सत्केवलं ।
लोकालोकपदार्थदीपकमहो मुक्त्यगना दर्पण, छाद्मस्थो न विनीय शांति जिनप. सवत्सरान षोडश ।।"

अठीऊ—समोशरण वर सार रचिउ धनद् अपार कनक रयण करि ए बार सभा भरिए ।१।
अहे मोह मिथ्यात विखडिय दंडिय पाखंडिय जाल । अहे महि मंडलि विहरत करत सुश्रम विसाल ।२।
अहे समेदाचलि लोधउ कीधउ योग निरोध । अहे काय करम सवि छेदीय भंजीय जिनवर योध ।३।

गाहा—जिट्ठे णिट्ठीय कम्मो किण्हे पक्खे चउद्दसी दिवसे । संपत्तं परम सुह तच्चं सो भरणी णक्खत्ते ।।

अठीऊ—काल अनत अपार भोग वई शिव सुख सार । पामीय वसु गुण ए रहित सविधि गण ।१।
देव सवि आवेवि शिव कल्याण करेवि । परम भगति भरी ए तो गय निज घरी ए ।२।
जे गाइ फागि मनि आणी अनुराग । तेह घरि निब निधिए संपडइ सिद्धिए ।३।

यो देवेन्द्रनरेन्द्रनागपतिभिर्नित्य स्तुतो वंदितो, हयंततीत गुणार्णवो गुणहरः कामः सुचक्री जिनः ।
भुक्त्या दिव्य सुखं नृदेव जनितं प्राप्तः सुभूक्त्यंगनां, कीर्त्या सविकयास्तुतः सच मया येनेनदद्याच्छिवं ।।

इति भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते श्री शातिनाथ फाग समाप्ता ।

आत्म-निरीक्षण

आत्म-निरीक्षण का सकल्प जीवन को समुज्ज्वल और समुन्नत बनाने मे प्रबल सहायक है। यह आत्मोन्नति का एक अमोघ साधन है। जब अपना दोष स्वय अपने ध्यान मे आ जाता है तब उसे त्यागने मे विलम्ब नही होता, किन्तु जब आत्म-दोष निरीक्षण की दृष्टि परिपक्व हो जाती है तब राग द्वेषादि विकार भावों का परिकर स्वयं दूर होने लगता है। आत्मनिरीक्षण के अभाव में दूसरों का दोष देखना सुगम है। पर अपनी स्खलित दृष्टि पर नियन्त्रण करना कठिन है। निर्मल दर्पण में चेहरा देखने पर सुन्दरता और असुन्दरता का सहज बोध हो जाता है उसी तरह आत्म निरीक्षण करने से भी पवित्रता-अपवित्रता का सहज ही भान हो जाता है। अत. आत्म-निरीक्षण आत्म-शुद्धि का सुगम उपाय है।

एक लाख रुपये का साहित्यिक पुरस्कार

महाकवि जी० शंकर कुरुप को

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित देश की सर्वोत्कृष्ट सर्जनात्मक साहित्यिक कृति के लिए एक लाख रुपये राशि का पुरस्कार १९ नवम्बर को मलयालम के महाकवि श्री जी० शंकर कुरुप को उनके काव्यसग्रह 'ओटक्कुषल' पर समर्पित किया गया। समर्पण समारोह विज्ञान भवन नई दिल्ली मे सम्पन्न हुआ और देश की विभिन्न भाषाओ के प्रमुख साहित्यकार, समीक्षक तथा सुधी नागरिक सम्मिलित हुए।

सविधान-विहित देश की चौदह भाषाओ की सर्वश्रेष्ठ कृति पर दिया जानेवाला यह पुरस्कार भारत का सर्वोच्च पुरस्कार है और इस प्रकार का पुरस्कार समर्पण समारोह भारत मे पहली बार सम्पन्न हुआ है। सम्मानित काव्य-कृति 'ओटक्कुषल' सन् १९२० मे १९५८ के बीच प्रकाशित साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ निर्णीत हुई है, यह निर्णय प्रवर परिषद् ने सर्वसम्मति से किया था। प्रवर परिषद् के सदस्य है —डा० सम्पूर्णानन्द (अध्यक्ष), आचार्य काकासाहब कालेलकर, डा० नीहार रजन रे, डा० बी० गोपाल रेड्डी, डा० करणसिंह, डा० हरेकृष्ण मेहताब, डा० वी० राघवन, डा० रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, श्रीमती रमा जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन।

श्रीमती रमा जैन और श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन पुरस्कार प्रदायिनी संस्था भारतीय ज्ञानपीठ के प्रतिनिधि है, जिसकी सस्थापना ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री के अनुसन्धान एव प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य के निर्माण' के उद्देश्य मे सन् १९४४ मे प्रसिद्ध उद्योगपति श्री शान्तिप्रसाद जैन के द्वारा हुई थी। श्रीमती रमा जैन भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा है और श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन उसके मन्त्री।

पुरस्कार समर्पण समारोह में महाकवि कुरुप को एक लाख रुपये के चेक के अतिरिक्त रजत-मजूषा में एक प्रशस्ति-पत्र और पुरस्कार-प्रतीक स्वरूप 'वाग्देवी' की कास्य-प्रतिमा शंखध्वनि तथा मगल-तिलक के साथ समर्पित की गयी। डेढ फुट आकार की यह प्रतिमा उस प्राचीन प्रतिमा की मूर्ति है जो ब्रिटिश म्यूजियम मे सग्रहीत है और सन् १०३५ मे धाराधिपति भोज की राजधानी उज्जयिनी मे उनके सभामण्डप की शोभा-विशिष्टता थी जहाँ देश-भर के कवियो-विद्वानो तथा चिन्तको के सम्मेलन हुआ करते थे।

१९ नवम्बर, १९६६ को विज्ञान भवन नई दिल्ली मे सम्पन्न हुए इस समारोह का सभापतित्व राजस्थान के मनीषी राज्यपाल तथा प्रवर परिषद् के अध्यक्ष डा० सम्पूर्णानन्द ने किया। स्वागत भाषण मे श्रीमती रमा जैन ने प्रवर परिषद् के प्रथम अध्यक्ष तथा भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद की स्मृति मे श्रद्धाजलि अर्पित की, जिनके प्रेरणापूर्ण सुझाव पुरस्कार योजना के रूप-ग्रहण मे बडे सहायक हुए। श्रीमती जैन ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए कहा कि ज्ञानपीठ द्वारा उठाये गये इस कठिन कार्य को सुखद परिणाम तक पहुँचाने का श्रेय डा० सम्पूर्णानन्द के नेतृत्व, प्रवर परिषद् के सदस्यों तथा देश के साहित्यकारो को ही है। उन्होने बताया कि देश की सास्कृतिक एकता और विचार-सामंजस्य, जो जीवन के यथार्थ थे, उन्हें राजनीति तथा अन्य दुराग्रहो ने धूमिल कर दिया है; इस सन्दर्भ मे प्रस्तुत पुरस्कार-निर्णय और यह समारोह विशेष महत्व ग्रहण कर लेते है।

समारोह की महत्वपूर्णता को डा० वी० के० नारायण मेनसन, महानिदेशक आकाशवाणी ने विशेष रूप से रेखांकित किया। महाकवि जी के जीवन और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि जिस मलयालम

भाषा को दूर दक्षिण की भाषा समझकर निरपेक्ष भाव से लिया जाता था और जिस केरल प्रान्त को केवल उसी रूप मे समझा जाता था कि वहाँ राष्ट्रपति का शासन है, यहाँ तक कि जिसका उच्चारण कहीं-कही 'करेला' तक मान लिया जाता है, वहाँ भाषा और देश का वही आँचल आज देशवासियो के हृदय के इतने निकट आ गये हैं कि महाकवि कुरुप के अभिनन्दन में सब कही हार्दिकता ही हार्दिकता दृष्टिगोचर हो रही है।

अध्यक्ष डा० सम्पूर्णानन्द ने अपने भाषण मे बताया कि कवियों और विद्वानों का समादर करने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से चली आती है; परन्तु आज तक कोई योजना ऐसी नही रही जिसमे समूचे भारत को एक इकाई मानकर किसी भारतीय साहित्य-स्रजेता को अखिल भारतीय स्तर पर सम्मान किया जा सकता। इस अभाव की पूर्ति अब भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा की गयी है। उन्होंने कहा कि मै स्वय उन लोगो मे से हूँ जिन पर पुरस्कार-योग्य सर्वोत्कृष्ट कृति के चयन का अन्तिम दायित्व था। सम्भव है किन्ही दूसरे सुयोग्य निर्णायकों द्वारा किसी दूसरी पुस्तक का चयन होता, पर सम्बन्धित सारी कठिनाइयो और सीमाओं को देखते हुए हमें विश्वास है कि हमने अपने कर्तव्य-पालन में पूरी निष्ठा से काम लिया है और अपने प्रयास मे हमे सफलता भी मिली है।

डा० सम्पूर्णानन्द के हाथो पुरस्कार ग्रहण करने के बाद महाकवि कुरुप ने साहित्य की विभिन्न समस्याओ पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि जिस प्रकार एक रत्न की अनेक मुखिकाएँ होती है उसी प्रकार ये विभिन्न भाषाएँ एक ही भारतीय हृदय की अनेक मुखिकाएँ है। राजनैतिक अविवेक के कारण भाषाओ की विविधता भले ही बाधा बन रही हो, मगर आत्माभिव्यक्ति को विविधता और भाव-समग्रता प्रदान करनेवाली उपाधि के रूप में भाषा को देखनेवालों के लिए यह वैविध्य अवश्य ही एक अनुग्रह प्रतीत होगा। उन्होंने सस्वर कहा कि सुमित्रानन्दन पन्त, उमाशकर जोशी, नजरुल इस्लाम, और जी० शंकर कुरुप एक ही भारतीय साहित्यिक परम्परा के विभिन्न नाद है जो समग्र रूप से देश के विशाल एवं अगाध अन्तस्तल के भावो को अभिव्यक्त करते हैं।

इसके अनन्तर ही कुरुप ने अपनी 'निमिषम्' शीर्षक रचना का मूल मलयालम मे पाठ किया और श्री बच्चन ने उसका हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया। महाकवि की एक और रचना 'वन्दनम् परयुक्' का हिन्दी रूपातर 'शतश. धन्यवाद' श्री दिनकर ने सुनाया। इसी प्रकार उनकी रचना बूढा शिल्पी' का अँग्रेजी अनुवाद नैशनल स्कूल आव ड्रामा के निदेशक श्री अब्राहम अलकाजी द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसी अनुक्रम में महाकवि की 'शिवताण्डव' शीर्षक कविता को यामिनी कृष्णमूर्ति ने भावनृत्य के रूप में प्रस्तुत किया।

भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने अत्यन्त संक्षेप मे संस्था का परिचय दिया और पुरस्कार विधान की रूपरेखा स्पष्ट की। ज्ञानपीठ की विभिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि एक प्रकार से यह साहित्यिक पुरस्कार ज्ञानपीठ की प्रवृत्तियो की ही स्वाभाविक परिणति है।

इस सम्बन्ध मे अधिक जानकारी की आवश्यकता हो तो आपके पत्र पाने पर स्मारिका की एक प्रति भी सेवा मे भेजी जायेगी।

दिल्ली, सोमवार
२१-११-१९६६

आशाया ये दासाः ते दासाः सर्व लोकस्य। आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकाः॥

आशा के जो दास हैं वे सारे लोक के दास हैं। जिन्होंने अपनी आशा को दास बना लिया, उनके लिए सारा लोक दास है। हे आत्मन्! यदि तू विश्व विजयी बनना चाहता है तो तृष्णा का दास कभी मत बन।

साहित्य-समीक्षा

१. पद्मावती पुरवाल जैन डायरेक्टरी खड १)—सम्पादक जुगमन्दिरदास जैन, प्रकाशक, अशोककुमार जैन कलकत्ता। पृष्ठ सख्या ६५६, छपाई सफाई गेटप सुन्दर, मूल्य सजिल्द प्रति का १०) रुपया।

किसी भी उपजाति की समृद्धि और अस्तित्व का परिज्ञान करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका इतिवृत्त सकलित किया जाय। चूंकि भारतवर्ष मे विविध उपजातिया है और विविध सम्प्रदाय है। यद्यपि मानव जाति एक ही है जो मनुष्य जाति नामकर्म के उदय से समुत्पन्न हैं। किन्तु वह मानवजाति छोटे-छोटे अनेक हिस्सों मे विभाजित है। जैन समाज भी अनेक उपजातियो मे विभाजित है। ये विभाग किसी समूची जैन जाति की समृद्धि के लिए किए गये होगे. किन्तु वर्तमान में उनकी उतनी आवश्यकता प्रतीत नही होती। अस्तु, जैन समाज मे ८४ उपजातियो का उल्लेख मिलता है किन्तु उनमें अधिकाश का इतिवृत्त अज्ञात है। उन चौरासी उपजातियो मे पद्मावती पुरवाल भी एक उपजाति है, जो जैनधर्म का अनुष्ठान करती है। पद्मावती पुरवालों का विकास पद्मावती नगरी वर्तमान पवाया से हुआ है जो नागराजाओं की राजधानी थी। पद्मावती पुरवाल वाक्य भी इसी अर्थ की ओर सकेत करता है। मैंने सन् १९५० मे इस जाति के कवि रइधू का परिचय देते हुए उसके इतिवृत्त पर भी कुछ प्रकाश डाला था (अनेकान्त वर्ष १० कि० १०)। जिसे बाद मे पण्डित बनवारीलाल स्याद्वादी ने ब्रह्मगुलाल चरित की प्रस्तावना मे लिया था, परन्तु उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

प्रस्तुत डायरेक्टरी मे पद्मावती पुरवाल समाज की सख्या १० प्रान्तो मे सैंतीस हजार एकसौ पचहत्तर बतलाई गई है। डायरेक्टरी में प्रमुख व्यक्तियोके चित्र भी दिये गये हैं। विद्वानों और प्रमुख व्यक्तियो का परिचय भी साथ मे दिया गया है। मन्दिरों आदि की सख्या भी अलग दी गई है। मन्दिरों की संख्याके साथ उनमे प्रतिष्ठित मूर्तिलेखभी दे दिये जाते तो और भी अधिक अच्छा होता। साथ ही पद्मावती पुरवाल जाति के शिलालेख या दान पत्रादि हों तो उन्हें दे दिया जाय, तो उससे उक्त जाति के इतिवृत्त पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा। सभव है यह आगे के खण्ड मे दिया जाय।

डायरेक्टरी के सम्पादक मूक सेवी बाबू जुगमन्दिर दास जी हैं। जिन्होने डायरेक्टरी के इस महान् कार्य को उत्साह और लगन के साथ सम्पन्न किया है। मालूम होता है उन्होंने धर्म और जातीय प्रेम से आपूरित हो इस महान् कार्य को अपने अकेले बल पर सम्पन्न किया है। इसमे उन्होने जाति की महत्ता पर चार चाद लगा दिये है। डायरेक्टरी की महत्ता भी बढ गई है। बाबू जुगमन्दिरदास जी जैसे धर्म-समाज-सेवी व्यक्तियों से बड़ी आशाएं है। उन्होने स्वय ही इसका व्यय भार उठाया है। और समाज के सामने एक आदर्श उपस्थित किया है।

२. ब्रह्मचर्य दर्शन—प्रवचनकार उपाध्याय अमर मुनि। सम्पादक विजयमुनि। प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृष्ठ स० २४० मूल्य ३-५०।

प्रस्तुत पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित है, प्रवचन खण्ड, सिद्धान्त खण्ड और साधन खण्ड। उक्त खण्डो की विषय सामग्री की संयोजना सुन्दर है। जहा प्रथम खण्ड मे आधुनिक युगीन विचार-धारा उपलब्ध है, वहा दूसरे खण्ड मे ब्रह्मचर्य को शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान धर्म और नीतिशास्त्र एवं दर्शन से परखने का, या कहने का प्रयत्न किया गया है। और साधना खण्ड में ब्रह्मचर्य की साधना जीवन मे उतारने के प्रयोगात्मक और रचनात्मक उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। उपाध्याय मुनि श्री अमर जी स्थानकवासी समाज के एक विचारक सन्त है, जो कवि हैं, साहित्यकार हैं और आलोचक भी हैं। उन्होने

जीवन मे जो कुछ भी अनुभव किया उसे उन्होंने साहित्यिक रचना द्वारा मानस धरातल तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। मुनि जी अनेक ग्रंथों के लेखक हैं, जहा वे सुधारक हैं वहां वे क्रान्तिकारी विचारक भी हैं। पुस्तक सुन्दर और उपयोगी है। प्रकाशन भी सुन्दर हुआ है।

४. **आगम युग का जैन दर्शन**—लेखक पण्डित दलसुख मालवणिया सम्पादक विजयमुनि, प्रकाशक सम्मति ज्ञानपीठ आगरा, पृष्ठ सख्या ३५३ मूल्य ५) रुपया।

प्रस्तुत ग्रथ में आगम-ग्रन्थ की रूप-रेखा का विवेचन करते हुए प्रमेय खण्ड मे श्वेताम्बरीय जैन आगम के आधार से प्रमेय पदार्थ का विचार किया गया है। प्रमाण खण्ड में ज्ञानों की प्रामाणिकता का परिचय कराया गया है। साथ ही उनकी सम्यक् असम्यक् दशा पर भी प्रकाश डाला गया है। और आगम में निर्दिष्ट प्रामाण्य अप्रामाण्य की दृष्टि का भी उल्लेख किया है। वाद-विद्या-खण्ड में आगमों मे वाद-विद्या का महत्व स्थापित करते हुए कथा के अत्थकहा, धम्मकहा और कम्मकहा और स्थानांगमे वर्णित धर्म कथा के भेद-प्रभेदो की चर्चा की गई है। अनन्तर आगमोत्तर जैनदर्शन का विशद विवेचन किया गया है। अन्त के दो परिशिष्टो में दार्शनिक साहित्य का विकास-क्रम और मलयवादि का नयचक्र इन दो विषयों के विवेचन भी शामिल कर दिये गये है।

प० दलसुख जी से प्राय: सभी जैन विद्वान परिचित है, उन्होने प० सुखलाल जी के सांनिध्य में रह कर जो साहित्य का सम्पादनादि कार्य किया है। वह सर्व विदित ही है। आपकी यह कृति आगम अभ्यासियों के लिए विशेप उपयोगी होगी। इसके लिए लेखक और सम्पादक दोनों ही धन्यवाद के पात्र है।

५. **जैन दर्शन और संस्कृति परिषद्**—के प्रथम अधिवेशन १९६४ में पठित शोध-पत्र, सयोजक मोहनलाल बांठिया। व्यवस्थापक श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१।

प्रस्तुत शोध-पत्र में हिन्दी अंग्रेजी और बंगला तीन भाषाओं में अन्वेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित किये गये है, जो सन् १९६४ के २५ अक्टूबर को बीकानेर में आचार्य तुलसी के सानिध्य मे पढे गये थे। उनमें हिन्दी भाषा के १४ निबन्ध उक्त पुस्तक में प्रकाशित है। यों तो सभी निबन्ध शोध-परक है। किन्तु ३-४ निबंध बड़े ही महत्त्वपूर्ण है, और वस्तु तत्व पर ठीक प्रकाश डालते है। मुनि नथमल और नागराज आदि के निबन्ध जहा शोध परक हैं, वहा सास्कृतिक वस्तुतत्त्व के भी निदर्शक हैं। मुनि नथमल जी के निबन्ध मे उपनिपदो मे श्रमण सस्कृति का प्रभाव परिलक्षित है। लेख सामयिक और उपनिषदो के अध्ययन को प्रेरित करता है। मुनि नगराज जी ने तिरुकुरुल की रचना के सम्बन्ध में प्रो० चक्रवर्ती के विचारो को पुष्ट किया है, उससे कुन्दकुन्द के समय की पुष्टि होती है। साध्वी सघ मित्रा जी का ध्वनि विज्ञान नाम का लेख भी खोजपूर्ण है। अंग्रेजी में मुनि महेन्द्रकुमार जी को Reality of Soul and Matter नाम का लेख भी महत्वपूर्ण है। इस तरह से सभी लेख मननीय है। डा० सत्यरजन बनर्जी का प्राकृत भाषा के सम्बन्ध मे जो शोध पत्र पढा गया था, वह प्राकृत भाषा साहित्य पर अच्छा प्रकाश डालता है। वह इसमें नही है। सभव है वह अलग से प्रकाशित हुआ हो। उस लेख के सम्बन्ध डा० बनर्जी ने परिषद् से लौटने पर मुझे बतलाया था अन्त मे जैन समाज के पत्रो की सूची भी दी गई है। आचार्य तुलसी द्वारा प्रस्थापित यह परिषद सास्कृतिक तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रेरणाप्रद होगी और भारतीय साहित्य के साथ जैन साहित्य की महत्ता का मूल्यांकन करने में भी सहयोग प्रदान कर सकेगी।

परमानन्द शास्त्री

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन संस्थापक भारतीय ज्ञानपीठ

पुरस्कार विजेता महाकवि जी० शंकर कुरूप

श्रीमती रमाजैन अध्यक्षा—भारतीय ज्ञानपीठ

वाग्देवी की प्रतिमा की प्रति छवि

प्रकाशक— प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

दिसम्बर १९६६

अनेकान्त

फणावलि और कुण्डली सहित पद्मासन
पारसनाथ की आकर्षक मूर्ति
शान्तिनाथ मंदिर खजुराहो (११वीं शती)
छायाकार—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	सिद्ध-स्तुति—मुनि पद्मनन्दि	२६१
२.	बुद्धघोष और स्याद्वाद—डा० भागचन्द जी एम. ए. पी-एच डी.	२६२
३.	सूत्रधार मण्डन विरचित रूपमण्डन मे जैन मूर्ति लक्षण—अगरचन्द नाहटा	२६४
४.	क्या द्रव्य सग्रह के कर्ता व टीकाकार समकालीन नही है ?—परमानन्द जैन शास्त्री	२६६
५.	श्री शिरपुर पार्श्वनाथ स्वामी विनति—नेमचन्द्र धन्नूसा जैन	३०१
६.	मेवाड़ के पुरग्राम की एक प्रशस्ति—रामवल्लभ सोमानी	३०३
७.	शिक्षा का उद्देश्य—आचार्य तुलसी	३०७
८.	जैन और वैदिक अनुश्रुतियो मे ऋषभ तथा भरत की भवावलि—डा० नरेन्द्र विद्यार्थी एम. ए., पी-एच. डी.	३०६
६.	एक उपदेशी पद—कविवर द्यानतराय	
१०.	रामचरित का एक तुलनात्मक अध्ययन—मुनि श्री विद्यानन्द जी	३१५
११.	सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक पर षट्खण्डागम का प्रभाव—बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री	३२०
१२.	अग्रवालों का जैन सस्कृति मे योगदान—परमानन्द शास्त्री	३२६
१३.	कुछ पुरानी पहेलिया—डा० विद्याधर जोहुरा पुरकर	३३१
१४.	मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी का ६०वां जन्म-जयन्ती उत्सव—परमानन्द शास्त्री	३३३
१५.	शोधकण-चपावती नगरी—नेमचन्द धन्नूसा	३३४
१६.	अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीकृत सस्कृत कर्मप्रकृति—डा० गोकुलचन्द्र जैन आचार्य एम.ए. पी-एच. डी.	३३५
१७	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	२३७

★

अनेकान्त को सहायता

११) बाबू जयप्रकाश जी जैनीलाल जी जैन स्वस्तिक मेटल वर्क्स जगाधरी (अम्बाला) द्वारा विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए दान मे से ग्यारह रुपये अनेकान्त को भी सधन्यवाद प्राप्त हुए हैं।

१०) मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने अपनी ६०वे जन्म-जयन्ती के अवसर पर निकाले हुए दान मे मे दस रुपया अनेकान्त को सधन्यवाद भेट किये है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागज दिल्ली

जिनवाणी के भक्तों से

वीरसेवामन्दिर का पुस्तकालय अनुसन्धान से सम्बन्ध रखता है। अनेक शोधक विद्वान अपनी थीसिस के लिये उपयुक्त मैटर यहा से संगृहीत करके ले जाते है। सचालक गण चाहते है कि वीरसेवामन्दिर की लायब्रेरी को और भी उपयोगी बनाया जाय तथा मुद्रित और अमुद्रित शास्त्रो का अच्छा संग्रह किया जाय। अत: जिनवाणी के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे वीरसेवामन्दिर लायब्रेरी को उच्चकोटि के महत्वपूर्ण प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थ भेट भेज कर तथा भिजवा कर अनुगृहीत करे। यह सस्था पुरातत्त्व और अनुसन्धान के लिए प्रसिद्ध है।

—व्यवस्थापक अनेकान्त

वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १९ किरण ५ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० स० २०२३ { दिसम्बर सन् १९६६

सिद्ध-स्तुतिः

सिद्धात्मा परमः परं प्रविलसद्बोधः प्रबुद्धात्मना,
येनाज्ञायि स किं करोति बहुभिः शास्त्रैर्बहिर्वाचकैः ।
यस्य प्रोद्गतरोचिरुज्ज्वलतनुर्भानुः करस्थो भवेत्,
ध्वान्तध्वंस विधौ स किं मृगयते रत्नप्रदीपादिकान् ॥२५॥
सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः,
सर्वत्राखिल वस्तुजातविषयव्यासक्तबोधत्विषः ।
सर्वत्र स्फुरदुन्नतोन्नत सदा नन्दात्मका निश्चलाः,
सर्वत्रैव निराकुलाः शिवसुखं सिद्धाः प्रयच्छन्तु नः ॥२६॥

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ— जिस विवेकी पुरुष ने सम्यग्ज्ञान से विभूषित केवल उत्कृष्ट सिद्ध आत्मा का परिज्ञान प्राप्त कर लिया है वह बाह्य पदार्थों का विवेचन करने वाले बहुत शास्त्रों से क्या करता है—उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। ठीक ही है—जिसके हाथ मे किरणो के उदय से संयुक्त उज्ज्वल शरीर वाला सूर्य स्थित होता है वह क्या अन्धकार को नष्ट करने के लिए रत्न के दीपक आदि को खोजता है—नही खोजता ॥ जो सिद्ध जीव समस्त आत्म प्रदेशों में कर्म बन्धन से रहित हो जाने के कारण सब आत्म प्रदेशों मे व्याप्त समीचीन दर्शन से रहित हैं, जिनकी समस्त वस्तु समूह को विषय करने वाली ज्ञान ज्योति का प्रसार सर्वत्र हो रहा है—जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, जो सर्वत्र ही निश्चल एवं निराकुल हैं; ऐसे वे सिद्ध हमें मोक्ष सुख प्रदान करें ॥२५, २६॥

बुद्धघोष और स्याद्वाद

डा० भागचन्द्र जैन आचार्य एम. ए. पी-एच. डी.

आचार्य बुद्धघोष पालि साहित्य के युगविधायक आचार्य कहे जाते हैं। चौथी-पाचवी शताब्दी ईसवी मे इस व्यक्तित्व ने प्राचीन परम्परा के अनुसार स्वयं के विषय में विशेष कुछ नही लिखा। उनकी अट्ठ-कथाओं के अतिरिक्त उनके विषय में सूचनाये देने वाले कुछ और साधन हैं—(१) महावंश की २१५-२४६ गाथाये, (२) बुद्धघोसुत्पत्ति, (३) गन्धवस, (४) सासनवंश और (५) सद्धम्म संग्रह। इनमें महावंश का भाग, जो तेरहवीं शताब्दी के भिक्षु धम्मकित्ति की रचना है, इस विषय में अधिक प्रामाणिक कहा जा सकता है। तदनुसार बुद्धघोष का जन्म बोधि गया के समीप ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। वे कुशल वेदज्ञ थे। पातञ्जलि मत पर उनका अधिकार था। वाद-विवाद करने मे भी अत्यन्त प्रवीण थे। एक बार जैसे ही ये बौद्ध भिक्षु रेवत द्वारा पराजित हुए कि इन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया और उसका अध्ययन कर उसमे पारङ्गत हो गये। श्री लंका पहुँच कर उन्होंने त्रिपिटक पर अट्ठकथाये लिखीं जिनकी संख्या लगभग बीस है।

पचम शताब्दी के युग मे उत्तर भारत मे रहने वाला ब्राह्मण अथवा बौद्ध विद्वान जैनधर्म एव दर्शन के ज्ञान से अछूता रहे यह कैसे संभव था। बुद्धघोष ने भी त्रिपिटक की अट्ठकथाओ मे जहा तहा जैनधर्म के विषय मे लिखा है भले ही वह निष्पक्ष न हो। यह स्वाभाविक भी है। फिर भी त्रिपिटक मे आते हुए जैन विषय अट्ठकथाओं मे कुछ और स्पष्ट हो जाते हैं।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में वासठ मिथ्या दृष्टियो का उल्लेख आता है। इनमे १८ मिथ्या दृष्टिया जीवन और जगत के आदि सम्बन्धी हैं और ४४ अन्त सम्बन्धी। आदि सम्बन्धी मिथ्या दृष्टियां पांच भागों में विभाजित हैं—१. शाश्वतवाद, २. नित्यता-अनित्यतावाद, ३. शान्त-अनन्तवाद, ४. अमराविक्षेपवाद और ५. अकारणवाद। अन्त सम्बन्धी मिथ्यादृष्टियां भी पाच भागों मे विभक्त हैं—१. ऊर्ध्वमाघातनिक संज्ञीवाद, २. ऊर्ध्वमाघातनिक असज्ञीवाद, ३. ऊर्ध्वमाघातनिक नैव सज्ञीवाद नैव असज्ञीवाद, ४. उच्छेदवाद, और ५. दृष्टधर्म निर्वाणवाद[१]। इनमें बुद्धघोष के अनुसार भगवान् महावीर (निग्गण्ठ नातपुत्त) ने अपने परिनिर्वाण के अन्तिम समयमें अपने दो शिष्यो को शाश्वतवाद और उच्छेदवादका उपदेश दिया।

आवुसो त्वं मम अच्चयेन सस्सत इति, गण्हयेसि। एव द्वे पि जने एके लद्धिके अकत्वा बहु-नाना-नीहारेन उग्गण्हयेत्वा कालं अकासि। ते तस्स सरीरकिच्चं कत्वा सन्निपतिता अञ्चं अञ्च पुच्छिसु—"कस्स" आवुसो अचरियो सारं अचिक्खि ? ति "सस्मत" ति। अपरो तं पटिवाहेत्वा" मह्यं सार आचिक्खी······"उच्छेदवाद" ति[२]।

इस उद्धरण मे जहा यह पता लगता है कि बुद्धघोष जैसे महाविद्वान ने स्याद्वाद को ठीक तरह से समझा नही, वहाँ यह भी समझ में आता है कि बुद्धघोष ने त्रिपिटक पर टीकायें लिखी हैं और इसीलिए उनमे परम्परागत विचारधारा का आलेखन अवश्य होगा। ये दोनों अनुमान त्रिपिटक के देखने से सही हो जाते है। स्याद्वाद को समझने मे जो भूल भगवान् बुद्ध और उनके सम-सामयिक आचार्यों व शिष्यों ने की है वही भूल उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा दुहरायी जाती रही है। बुद्धघोष इसके अपवाद कैसे होते।

त्रिपिटक मे वर्णित उपर्युक्त वासठ मिथ्यादृष्टियों को विहंगम दृष्टि से देखे तो उनमें मुख्यतः दो सम्प्रदाय हैं एक शाश्वतवाद, जो वस्तुविशेष को नित्य व स्थिर स्वीकार करता है और दूसरा उच्छेदवाद, जो वस्तुविशेष को

---

१. दीघनिकाय, भाग १, पृ० १२

२. दीघनिकाय अट्ठकथा भाग २, पृ० ९०६-७; मज्झिमनिकाय अट्ठकथा—भाग २, पृ० ८३१।

अनित्य व अस्थिर स्वीकार करता है जहां यह सत्य है कि जैन दर्शन ने प्रारम्भ से ही इन दोनों कोटियों को अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर कथञ्चित् दृष्टिकोण से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। वहां यह भी सत्य है कि इस प्रयत्न की—सिद्धान्त की—प्राय: सभी जैनेतर दार्शनिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में खूब आलोचना की गई है। हम त्रिपिटक को ही ले। भगवान बुद्ध सच्चक३ की आलोचना यह कह कर करते हैं कि तुम्हारा पूर्व कथन पश्चात् कथन से विपरीत पड़ता है और पश्चात्कथन से पूर्व कथन (न खोते सन्धियति पुरिमेण वा पच्छिमं पच्छिमेण वा पुरिमं)४। स्याद्वाद के विरोध में यह स्वात्मविरोध (Self Chntradiction) शायद प्राचीनतम होगा।

निग्गण्ठ नातपुत्त और चित्त गहपति के बीच हुए संवाद से भी यही बात ध्वनित होती है। चित्त गहपति नातपुत्त के कथन पर टिप्पणी करता है कि यदि आपका पूर्वकथन सत्य है तो उत्तर-कथन असत्य है और यदि उत्तर-कथन सत्य है तो पूर्व कथन असत्य है—सचे पुरिमं सच्च, पच्छिमं ते मिच्छा, सचे पच्छिमं सच्च, पुरिमं ते मिच्छा५।

भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यो ने वस्तुत: स्याद्वाद को सही ढग से समझने का प्रयत्न ही नही किया। छठवी शताब्दी ई० पू० के उस विसंवादिक युग में जहाँ अन्य दार्शनिको ने प्रत्येक वस्तु को ऐकान्तिक दृष्टिकोण से देखा वही नातपुत्त ने दृष्टवादिता को दूर कर मनोमालिन्य मिटाने का भरपूर प्रयत्न किया और वस्तु स्वरूप को अनेकान्तिक दृष्टि से जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। दीघनख परिब्बाजक, जो उच्छेदवाद का समर्थक और सञ्जय के सिद्धान्त का पोषक रहा है६, तीन प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख करता है—

१. सब्ब मे खमति। २. सब्ब मे न खमति।

३. एकच्चं मे खमति सूच्चं मे न खमति।

ये तीन भंगियाँ स्याद्वाद की प्रथम तीन भंगियों का अनुगमन करती है—

१. स्यादस्ति। २. स्यान्नास्ति। ३. स्यादस्तिनास्ति।

इन भंगिओं को यदि बुद्धघोष ने सूक्ष्म दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया होता तो शायद उनसे इतनी बड़ी भूल न होती। स्याद्वाद नि:सन्देह शाश्वतवाद और उच्छेदवाद पर विचार करता है, परन्तु "कथचित्" दृष्टिकोण से। इस दृष्टिकोण को किसी भी जैनेतर दार्शनिक ने हृदयंगम नही किया।

'स्यात्' शब्द के उपयोग के विषय में पालि त्रिपिटक में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। चूल राहुलोवादसुत में "ते जो धातु सिया अज्झनिका सिया वहिरा" जैसे प्रसगों में उसका जो उपयोग मिलता है वह बौद्ध दार्शनिक क्षेत्र का है। जैनदर्शन में "सिया" शब्द का प्रयोग होता था, इस विषय मे त्रिपिटक मौन है। इस मौन से "स्याद्वाद" का कुछ अधिक नही बिगड़ा। पर पञ्चम शताब्दी, जो जैन और बौद्ध दोनों दर्शनो का विकास का महत्वपूर्ण काल रहा है, मे उत्पन्न हुए बुद्धघोष जैसे आचार्य ने यह भूल कैसे की, यही आश्चर्य है। इस समय तक तो कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर जैसे धुरन्धर जैन तत्ववेत्ताओं का साहित्य बुद्धघोष को सुलभ रहा ही होगा। फिर भी बुद्धघोष के रिमार्क मे गभीरता का अश दिखाई क्यों नही देता ? हो सकता है कि उन्होंने त्रिपिटक की मान्यता का ही निर्देशन किया हो। यह अनुमान तब और भी सत्य बैठता है जब हम बुद्धघोष को ही त्रिपिटकके आत्मा विषयक रूपी अरूपी आदि सिद्धान्तोंके बीच "अरूपी आत्मा" जैनों का सिद्धान्त है यह कहते हुए पाते है७।

---

३. सच्चक मूलत. पार्श्वनाथ सम्प्रदाय का अनुयायी था परन्तु उत्तरवाद मे वह भगवान् महावीर द्वारा सुधारे गये सम्प्रदाय का भक्त हो गया था।

४. मज्झिमनिकाय भाग १, २३२।

५. संयुत्तनिकाय भाग ४, ८. २६८-९९।

६. Dictionary of Pali Proper names—दीघनख शायद जैन रहा होगा। उसे और दीघतपस्सी को एक माना जाय तो यह अनुमान औरभी सही हो जाता हैं।

७. अरूप समापत्ति निमित्तं पन अत्ता ति समापत्ति सञ्ञं च अस्स सञ्जी गहेत्वा वा निगण्ठो आदयो पञ्ञापेति, विय तक्कमत्तेन एव वा, अरूपी अत्ता सञ्जीति नं…सुमंगल विलासिनी, पृ० ११०।

सूत्रधार मण्डन विरचित 'रूपमण्डन' में जैन मूर्ति लक्षण

श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म में मूर्ति पूजा का प्रचार बहुत ही प्राचीन-काल से चला आ रहा है। जैन आगमों और उनके व्याख्या ग्रन्थों तथा जैन कथा ग्रन्थों से तो प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय से ही जैनधर्म में मूर्ति पूजा का प्रचार सिद्ध होता है। इस मनुष्य लोक मे ही नही देवलोक में भी शाश्वत जैन चैत्य व मूर्तियां है। देवों ने अपने स्थान पर उत्पन्न होने के अनन्तर ही अपने वहा के जैन चैत्यों और मूर्तियों की विधिवत पूजा की इसका भी विस्तृत विवरण 'राय पसेणी जीवाभिगम' आदि प्राचीन जैन आगमों में प्राप्त होता है। नंदीश्वर द्वीप आदि मे भी शाश्वत जैन चैत्य एवं मूर्तियां हैं ही। इस भरत क्षेत्र में भी सर्व प्रथम भगवान ऋषभदेव जब मुनि अवस्था मे विचरते हुए अपने शक्तिशाली बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला के बाहर पधारे। बाहुबलि को प्रभु का आगमन ज्ञात हुआ पर इस विचार से कि कल प्रातः सेना और नगर-जनो के साथ बड़े धूमधाम से प्रभु-दर्शन करूँगा। वे तत्काल ऋषभदेव के दर्शन को न जा सके। दूसरे दिन प्रात: बाहुबलि के वहा आने से पूर्व ही ऋषभदेव वहाँ से विहार कर गये क्योंकि वे तो सर्वथा नि स्नेही थे—वीत-राग थे।

बाहुबलि को जहा प्रभु ठहरे हुए थे वहाँ जाने पर जब प्रभु के विहार कर जाने की बात मालूम हुई तो मन मे वेदना का पार नही रहा। उन्होंने सोचा मैं कितना हतभागी हूँ कि प्रभु का आगमन ज्ञात कर भी तत्काल दर्शनार्थ नहीं पहुँच सका। सेना और जनता के साथ आडम्बर से आने की बात सोचता रहा और प्रभु तो अब अन्यत्र जा चुके हैं। अन्त मे उसने जहाँ प्रभु कायोत्सर्ग में अवस्थित हुए थे वहां उनकी चरण पादुकायें बनवा-कर स्थापित की और उन्ही के दर्शन-पूजन से अपने को कृतार्थ किया।

भगवान ऋषभदेव का निर्वाण कैलाश पर्वत पर हुआ जिसकी एक-एक योजन की आठ पेड़िया थी इसलिए उसे अष्टापद तीर्थ कहा गया है। वहा भरत ने एक विशाल स्तूप या मन्दिर का निर्माण करवाया था जिसकी मूल वेदिका मे चारों ओर २४ तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ स्थापित की गई जो कि भगवान महावीर के समय तक विद्यमान थीं। भगवान महावीर के प्रथम और प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने पधारे थे और तीन पेड़ियों पर तपस्या करने वाले ५०१-५०१ मुनियो को जैन धर्म मे दीक्षित कर अपना शिष्य बनाया था। भगवान महावीर के बाद कैलाश हिम से आच्छादित हो गया अत: हिमालय कहलाने लगा। अष्टापद तीर्थ उसी बर्फ मे विलीन हो गया प्रतीत होता है।

भगवान महावीर के समय मे पूर्ववर्ती जैन तीर्थंकरों के स्तूप आदि विद्यमान थे। मथुरा का देव निर्मित सुपार्श्व और पार्श्वनाथ का स्तूप तो मध्यकाल मे भी जैन तीर्थ के रूप में बहुत प्रसिद्ध रहा है। सौभाग्य से ककाली टीले की खुदाई मे उस स्तूप के अवशेष-आयागपट्ट व लेख प्राप्त हो गये है।

जैन प्रतिमाओ मे तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण तो काफी प्राचीन है पर अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमायें कब से बनने व पूजी जाने लगीं इसका इतिहास अन्वेषणीय है। प्राचीन जैन आगमों में उस समय के अनेक स्थानों के यक्षायतनों का महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। जैन प्रति-माओ के लक्षण एवं निर्माण सम्बन्धी उल्लेख मध्यकाल के ही प्राप्त होते है। वास्तु-शास्त्र के प्राचीन जैनेतर ग्रंथों मे भी जैन प्रतिमाओं के लक्षण वर्णित है। मानसार, अपराजित पृच्छा आदि जैनेतर ग्रन्थ उल्लेखनीय है। जैन वास्तु सार, प्रतिष्ठा कल्प, निर्वाण कलिका, आचार-दिनकर आदि अनेक जैन ग्रन्थों में जैन प्रतिमाओं के

लक्षण आदि बतलाये गये हैं। उन सब के आधार से श्री बालचन्द्र जैन, क्यूरेटर, रायपुर म्यूजियम का एक लेख 'जैन प्रतिमा लक्षण' के नाम से 'अनेकान्त' के अगस्त ६६ के अंक (वर्ष १९ किरण ३) में प्रकाशित हुआ है।

गुजरात और राजस्थान जैन मन्दिर और मूर्तियों की दृष्टि से बहुत ही उल्लेखनीय है। यहा सोमपुरा नामक शिल्पियों की एक जाति वश-परम्परा से जैन मन्दिरो व मूर्तियों के निर्माण मे अग्रणी रही है। अनेक शिलालेखों मे उस मन्दिर व मूर्तियो के शिल्पियों का भी नामोल्लेख पाया जाता है। इन सूत्रधारों मे १५वी शताब्दी के सूत्रधार मण्डन बहुत ही उल्लेखनीय हैं जिन्होंने मेवाड के महाराणा कुम्भा के समय वास्तु-शास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। उसके रचित प्रासाद मण्डन, रूप मण्डन, राज वल्लभ, देवता मूर्ति प्रकरण आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। प्रासाद मण्डन का हिन्दी अनुवाद के साथ एक सुन्दर सस्करण प० भगवानदास जैन, जयपुर ने प्रकाशित किया है। और रूप मण्डन को हिन्दी अनुवाद के साथ डा० बलराम श्रीवास्तव ने सम्पादित कर मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी से सन् १९६४ मे प्रकाशित करवाया है। रूप मण्डन का छठा अध्याय जैन मूर्ति लक्षणाधिकार' है। ३९ श्लोको के इस अध्याय के सम्बन्ध मे डा० बलराम श्रीवास्तव ने भूमिका मे अच्छा प्रकाश डाला है। जैन समाज की जानकारी के के लिए जैन मूर्ति लक्षण सम्बन्धी भूमिका का अश यहा नीचे दिया जा रहा है :

डा० बलराम श्रीवास्तव ने रूप मण्डन के अतिरिक्त बहद् महिना, जैन आइकनोग्राफी, अपराजित पृच्छा, आदि के आधार से विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मण्डन का देवता मूर्ति प्रकरण अभी हमारे सग्रह का मुनि कान्तिसागर जी को भेजा हुआ है अन्यथा उसमे आये हुये जैन सम्बन्धी विवरण को भी यहा साथ मे दिया जाता।

जैन प्रतिमा लक्षण सम्बन्धी और एक ग्रन्थ सन् १९५६ मे 'प्रतिमा विज्ञान' के नाम से हिन्दी मे प्रकाशित हुआ था उसके लेखक डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग मे है उन्होने इस सम्बन्ध में और भी कई ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। 'प्रतिमा विज्ञान' मे जैन धर्म, जैन मन्दिर जैन प्रतिमा आदि के सम्बन्ध मे काफी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। परिशिष्ट में अपराजित पृच्छा के श्लोक भी उद्धृत कर दिये गये हैं।

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल का दिया हुआ विवरण रूप मण्डन की अपेक्षा भी काफी विस्तृत है। इसलिए उसे अन्य स्वतन्त्र लेख मे प्रकाशित किया जायगा। वास्तव में जैन मन्दिर और मूर्तियो सम्बन्धी जो भी विवरण वास्तु शास्त्र के ग्रन्थो मे उपलब्ध है वह काफी अपूर्ण लगता है। इनमे उल्लिखित जैन प्रतिमाओ के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की पाषाण व पीतल की (सप्त धातु) छोटी-बड़ी अनेक शैलियो की मूर्तिया प्राप्त है। समय-समय पर इनकी शैली और कला मे काफी परिवर्तन व परिवर्द्धन हुआ है। दक्षिण भारत और उत्तर भारत के जैन मन्दिरों पर जैनेतर मन्दिर-मूर्ति निर्माण कला का भी काफी प्रभाव पडा। कुछ विलक्षण जैन व जैनेतर मूर्तियां पुरातत्व अवशेषो मे प्राप्त हुई हैं जिनके सम्बन्ध में वास्तु-शास्त्र के ग्रन्थो मे कही उल्लेख तक नही मिलता। अत आवश्यकता है जैन मन्दिर व मूर्तियो की कला का प्राप्त साधनो के आधार से सम्यक् अध्ययन और विवेचन किया जाय। उत्तर भारत की जैन श्वेताम्बर मूर्तियों का तो बडौदा के डा० उमाकान्त शाह ने बहुत विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन किया है पर अभी तक उनका विशाल शोध प्रबन्ध प्रकाशित नहीं हो पाया है। 'जैन आर्ट' नामक छोटा ग्रन्थ ही अंग्रेजी मे प्रकाशित हुआ है। उत्तर दक्षिण-भारत के दि० श्वे० मन्दिर मूर्तियों का पूर्ण अध्ययन अभी किया जाना अपेक्षित है।

जैन मूर्ति लक्षण—

'रूपमण्डन' का छठा और अन्तिम अध्याय 'जैन मूर्ति लक्षणाधिकार' है। सूत्रधार मण्डन के काल में गुजरात और राजस्थान मे जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था और जैन मन्दिरो तथा मूर्तियो के निर्माण का प्रचार था। सूत्रधार मण्डन ने जैन-प्रतिमा लक्षण का सूक्ष्म किन्तु उपयोगी विवरण प्रस्तुत किया है। जैन साहित्य में जिनों तथा तीर्थंकरों के मूर्ति लक्षणों का यत्र-तत्र विवरण मिलता है।

चतुर्विंशति तीर्थंकरों की प्रतिमा के लक्षणों में स्वतः बहुत भेद नहीं होता। 'बृहत्संहिता' में जिनों का प्रतिमाविधान इस प्रकार बताया गया है :—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्त मूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

यह अर्हतों अथवा तीर्थंकरों का सामान्य विवरण है। 'रूपमण्डन' (६।३३-३९) में अर्हत प्रतिमा का समग्र वर्णन है। इसके अनुसार तीर्थंकर की प्रतिमा के आवश्यक तत्व इस प्रकार होंगे :—

१. तीन छत्र।
२. तोरणयुक्त तीन रथिकाएँ।
३. अशोक द्रुम और पत्र।
४. देव दुन्दुभि।
५. सुर गज सिंह से विभूषित सिंहासन।
६. अष्ट परिकर।
७. गो सिंह आदि से अलंकृत वाहिका या यक्ष।
८. तोरण और रथिकाओं पर ब्रह्मा, विष्णु, चण्डिका, जिन गौरी, गणेश आदि की प्रतिमाएँ।

'रूप मण्डन' का यह विवरण मूर्तिकारों मे प्रचलित शिल्प की व्यावहारिक परम्परा के सर्वथा मेल मे है। तोरण अथवा रथिका पर तेईस तीर्थकरों की प्रतिमाओ के बनाने का विधान मध्ययुगीन शिल्प परम्परा मे बहुमान्य था। रथिकाओं पर ब्रह्मादि हिन्दू देवताओं की मूर्तियों को बनाने के विषय में यह कहा जाता है कि चूंकि ब्रह्मादि देव भी कभी चतुर्विंशति तीर्थंकरों के उपासक थे, अतएव जैनियों के लिए हिन्दू-देव भी आदरणीय हैं[1]।

तीर्थंकर प्रतिमा-विधान—

चतुर्विंशति तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में साम्य होने पर भी उन्हें उनके ध्वज (लांछन) वर्ण, शासन देवता, और देवी (यक्ष और यक्षिणी), केवल वृक्ष तथा चामर धारी और चामरधारीणी के आधार पर अलग-अलग समझा जा सकता है[2]। 'रूप मण्डन' में केवल वृक्ष और चामरधारिणी का विवरण नहीं है। इसकी परम्परा के अनुसार सभी जिन प्रतिमाओं पर अशोकद्रुम होना चाहिए। 'रूपमण्डन' (६–३४)।

'रूपमण्डन' में चतुर्विंशति तीर्थंकरों की गणना की गयी है। साथ ही उनके यक्ष और यक्षिणियों की भी गणना है। किन्तु विशेष विवरण केवल कुछ हो का है। रूपमण्डन' के अनुसार चतुर्विंशति जिनों में केवल चार ही विशेष प्रसिद्ध है। इनके नाम, इनकी यक्षिणियां और सिंहासनादि का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

जिनस्य मूर्तयोऽनन्ता पूजिताः सर्व सौख्यदाः।
चतस्त्रोऽतिशयैर्युक्तास्तासां पूज्या विशेषतः॥
श्री आदिनाथो नेमिश्च पार्श्वो वीरश्चतुर्थकः।
चक्रेश्वर्यम्बिका पद्मावती सिद्धायकेति च॥
कैलाशं सोमशरणं सिद्धवर्ति सदाशिवम्।
सिंहासनं धर्मचक्रमुपरीन्द्रातपत्रकम्॥
(६।२५–२७)

चतुर्विंशति तीर्थंकरो, उनके ध्वज, यक्ष, यक्षिणी और वर्ण का विवरण तालिका-सख्या ३० मे स्पष्ट किया गया है। तालिका-सख्या ३१ में अन्य ग्रन्थो के आधार पर तीर्थंकरो के केवलवृक्ष' और चामरधारिणी का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है .—

तालिका संख्या ३०

संख्या	तीर्थंकर	ध्वज	यक्ष	यक्षिणी
१	ऋषभ	वृष	गोमुख	चक्रेश्वरी
२	अजित	गज	महायक्ष	अजितबला
३	सम्भव	अश्व	त्रिमुख	दुरितारी
४	अभिनन्दन	कपि३	यक्षेश्वर	कालिका
५	सुमति	क्रौंच	तुम्बर	महाकाली
६	पद्मप्रभ	रक्त अब्ज	कुसुम	श्यामा
७	सुपार्श्व	स्वस्तिक	मातंग	शाता
८	चन्द्रप्रभ	शशी	विषय	भृकुटि
९	सुविध	मकर	जय४	सुतारिका
१०	शीतल	श्रीवत्स	ब्रह्मा	अशोका

१. बी०सी० भट्टाचार्य, जैन आइकनोग्राफी पृ० २५-२६।
२. वही पृ० ४९–६०।
३. रूप मण्डन का पाठ स्पष्ट नहीं है। अपरा० के अनुसार (२२१।९) कपयः है।
४. अन्य ग्रंथों के अनुसार रचित।

११	श्रेयांस	गण्डक१	यक्षेट्२	मानवी
१२	वासुपूज्य	महिष	कुमार	चण्डी
१३	विमल	सूकर	षण्मुख	विदिता
१४	अनन्त	श्येन	पाताल	अंकुशी
१५	धर्म	वज्र	किन्नर	कंदर्पी
१६	शांति	मृग	गरुड़	निर्वाणी
१७	कुंथु	छाग	गन्धर्व	बाला
१८	अर	नन्द्यावर्त	यक्षेट्३	धारीणी
१९	मल्लि	घट	कुबेर	धरणप्रिया
२०	मुनिसुव्रत	कूर्म	वरुण	नादरवता
२१	नमि	नीलोत्पल	भृकुटि	गंधर्व४
२२	नेमि	शंक	गोमेध	अम्बिका
२३	पार्श्व	फणी	पार्श्व५	पद्मावति
२४	महावीर	सिंह	मातङ्ग	सिद्धायिका

तालिका संख्या ३१

संख्या	तीर्थंकर	केवलवृक्ष	चामरधारी या धारीणी
१	वृषभ	न्यग्रोध	भरत और बा०
२	अजित	सातपर्ण	सगर चक्री
३	सम्भव	शाल	सत्य वीर्य
४	अभिनन्दन	पियाल	?
५	सुमति	पियाग	मित्रवीर्य
६	पद्मप्रभ	छत्राभ	यमदूती
७	सुपार्श्व	शिरिष	धर्मवीर्य
८	चन्द्रप्रभ	नागकेशर	दानवीर्य
९	सुविध	नाग या मल्लि	मधवत् राजा
१०	शीतल	बिल्व	राजसिंहारि
११	श्रेयास	तुम्बर	राजा त्रिपिष्ट
१२	वासुपुज्य	पाटलिक	दिरपिष्ट
१३	विमल	जम्बु	स्वयम्भू
१४	अनन्त	अश्वत्थ	पुरुषोत्तम्
१५	धर्म	दधिपर्ण	पुण्डरीक
१६	शांति	नन्दिवृक्ष	पुरुषतत्
१७	कुंथु	तिलक तरु	कुम्तुल
१८	अर	च्यूत	गोविन्द राजा
१९	मल्लि	अशोक	सुलूम
२०	मुनिसुव्रत	चम्पक	अजित
२१	नमि	बकुल	विजय राय
२२	नेमि	महावेणु	उग्रसेन
२३	पार्श्व	देवदारु	अजितराय
२४	महावीर	शाल	श्रेणिक

१. 'अपरा० में गडक पाठ गेंडे के लिए है। 'रूपमण्डन' (६।३) का पाठ खगीश है जो अशुद्ध है।
२. अन्य ग्रन्थो के अनुसार ईश्वर है।
३. अन्य ग्रन्थों के अनुसार क्षेन्द्र या यक्षेन्द्र है।
४. अपरा० का पाठ गाधारी है।
५. इनका नाम वामन अथवा धरणेन्द्र भी है।

सूत्रधार मण्डन ने (जिन मूर्ति प्रकरण) में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की परम्पराओं को ही मान्यता दी है। तीर्थंकर मूर्तिविधान पर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायगत परम्पराओं की भिन्नता का प्रभाव है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सुविध, शीतल और अनन्त का लांछन या ध्वज क्रमश. वृश्चिक, अश्वत्थ और कुक्ष है। इसी प्रकार सुपार्श्व, श्रेयास, वासु पुज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शाति, कुथ, मल्लि और नेमिनाथ की यक्षणिया भी क्रमश: काली, गौरी, गाधारी, वैरोटी, अनन्तमती, मानसी, महामानसी, विजया, ब्रह्मरूपिणी, चामुण्डी और कुष्माण्डिनी है। श्रेयास और शांति के यक्ष भी दिगम्बर सम्प्रदाय के मत से यक्षेट् और गरुड न होकर क्रमश ईश्वर और किं पुरुष है।

'रूपमण्डन' (६।४) में जिनों के वर्णों का विवरण अपूर्ण और सदिग्ध है। 'अपराजित पृच्छा' (२२१।५-७) मे भी जिनों का वर्ण-विवरण सदोष ही है।

शासन देवता—

कुछ विशिष्ट शासन-देवताओं का वर्णन 'रूपमण्डन' मे पृथक् रूप से भी दिया गया है। इनके—वाहन, वर्ण, आयुध आदि का विवरण तालिका ३२ से ज्ञातव्य है। तालिका-सख्या ३३ में जिनके आठ प्रतिहारी (इन्द्र, इन्द्र-जय माहेन्द्र, विजय धरणेन्द्र, पद्माक सुनाम, सुरदुन्दुभि) तथा उनके आयुधों को स्पष्ट किया गया है।

तालिका संख्या ३२

(शासन देवता)

	देवता	वाहन	वर्ण	आयुध	विशेष
१	पार्श्व	कूर्म	श्याम	बीजपूरक, उरग, नाग,	गजानन नकुल ।१
२	गोमुख	गज२(?)	हेम	वर, अक्ष-सूत्र, पाश, बीजपूरक	गजानन३
३	चक्रेश्वरी	तार्क्ष्य	हेम	वर, बाण, पाश, चक्र, शक्ति, शूल, नकुल ? (आठवीं भुजा का विवरण 'रूपमण्डन' में स्पष्ट नही है। सम्भवत: चक्रेश्वरी के दोनों हाथों मे चक्र है) द्वादश भुजी४ चक्रेश्वरी के आठ हाथों में चक्र, दो में वज्र और दो हाथों मे मातुलिंग है।	
४	अम्बिका	सिंह	पीत	नाग, पाश, अकुश पुत्र५	
५	पद्मावती	कुक्कुट	रक्तअयस्वत्	पद्म, पाश, अंकुश, बीजपूरक६।	
६	मातंग	गज	सित	नकुल, बीजपूरक७	
७	सिद्धायिका	सिंह	नील	पुस्तक, अभय, बाण, मातुलिंग८	

तालिका संख्या ३३

प्रतिहार	आयुध
इन्द्र	फल, वज्र, अंकुश, दण्ड।
इन्द्रजय	फल, वज्र, अकुश, दण्ड।
माहेन्द्र	वज्र, वज्र फल, दण्ड।
विजय	वज्र, वज्र, फल. दण्ड।
धरणेन्द्र	निधिहिस्त।
पद्मक	निधिहिस्त।
सुनाभ	विवरण नहीं है।
सुरदुन्दुभि	"

जैन सम्प्रदाय के देवताओं के चार वर्ग ज्योतिषी, भुवनवासी, व्यन्तर वासी और विमानवासी हैं। इनमे ईशान, ब्रह्मा आदि विमान वासी, यक्ष, व्यन्तर देव, दिक्पाल, भुवनवासी और नक्षत्रादि ज्योतिषी देवता कोटि मे हैं। 'रूपमण्डन' (६।७-११) में नक्षत्र और राशियों की भी गणना है। जो जैन सम्प्रदाय के अनुसार ज्योतिष देव कोटि मे आते हैं। 'रूपमण्डन' के इस अध्याय मे सत्ताइसों नक्षत्रों और द्वादश राशियों की गणना मात्र है, इनके स्वरूप का विचार नही है।

---

१. अपरा० (२२१।५५) के अनुसार पार्श्व के आयुध धनुष, बाण, भृण्डि और मुद्गर है।
२. अपरा० (२२१।४३) के अनुसार वृष है।
३. गोमुख के प्रसग मे 'गजानन' पाठ अशुद्ध है, किन्तु इसे वृषानन माना जा सकता है।
४. 'रूप मण्डन' में चक्रेश्वरी के दो रूप बताये गये हैं। एक तो अष्टभुजी (६।१८) और दूसरा द्वादशभुजी (६।२४)।
५. 'रूपमण्डन' के अनुसार अम्बिका का वर्ण पीत और आयुध नाग, पाश, अंकुश और चौथे हाथ मे पुत्र बताया गया है। उपेन्द्र मोहन ने 'पुत्र' का उचित पाठ 'पत्र' बताया है। अपरा० (२२१।२२) में अम्बिका को द्विभुजी और उनका वर्ण हरा कहा गया है। इनके दोनों हाथो में एक में तो फल और दूसरा हाथ वर मुद्रा में कहा गया है। इनके साथ इनका पुत्र भी होना चाहिए—

पुत्रेणोपास्यमाना च सुतोत्सगा तथाऽम्बिका। 'नेमिनाथ चरित' मे (जैन आइकनोग्राफी पृ० १४२) अम्बिका के एक दाहिने हाथ मे आम्रमजरी दूसरे मे पास तथा बाएँ एक हाथ मे पुत्र और दूसरे मे अंकुश बताया गया है।

६. अपरा० (२२१।२३) के अनुसार वर।
७. अपरा० (२२१।५६) के अनुसार वर।
८. अपरा० (२२१।३८) के अनुसार वर्ण, कनक और एक हाथ मे फल तथा दूसरा हाथ वर मुद्रा मे है। प्रतिमा द्विभुज है।

क्या द्रव्य संग्रह के कर्ता व टीकाकार समकालीन नहीं हैं ?

परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्त के छोटेलाल जैन स्मृति अक १-२ मे मैंने अपने उस लेख मे नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, ब्रह्मदेव तथा सोमराज श्रेष्ठी को मालवा के राजा भोज के समकालीन बतलाया था। परन्तु यह बात पडित दरबारीलाल जी कोठिया को नही रुची और उन्होंने अपनी द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना मे राजा भोज के ऐतिहासिक क्रम का उल्लंघन करते हुए ब्रह्मदेव को वसुनन्दि (वि० स० ११५०) के बाद का (स० ११७५) विद्वान सूचित किया है। जब कि राजा भोज का राज्य काल वि० सं० १०६७ से १११० तक रहा है। उसके बाद नही।

दूसरे आपने माणिक्यनन्दि के प्रथम विद्या शिष्य नयनन्दि को, जो 'सुदसणचरिउ' के कर्ता हैं, द्रव्यसग्रह के कर्ता नेमचन्द्र को उनका शिष्य सूचित किया है और नेमिचन्द के शिष्य वसुनन्दि हैं। वसुनन्दि का समय वि० स० ११५० बतलाते हुए उनके उपासकाध्ययन की दो गाथाओं का उद्धरण ब्रह्मदेव द्वारा उद्धृत किया जाना सूचित किया है। पर उन गाथाओं के सम्बन्ध मे कोई अन्वेषण नही किया गया कि उक्त गाथाएँ वसुनन्दि की है या वसुनन्दि ने कही अन्यत्र से उन्हें अपने ग्रन्थ मे संग्रह किया है। इसके जानने का उन्होने कोई प्रयत्न नही किया मालूम होता है। यदि वे बृ० द्रव्य सग्रह का प्रथम एडीसन, जो रायचन्द्र शास्त्रमाला वम्बई से छपा था, उसे देख लेते, तो उन्हे उन गाथाओ के आधार पर संभवत समकालीनत्व का विरोध न करना पड़ता। अस्तु।

द्रव्य सग्रहकार को वसुनन्दि से २५ वर्ष पूर्ववर्ती और ब्रह्मदेव को वसुनन्दि से २५ वर्ष बाद का विद्वान ठहरा कर उनके समकालित्व का विरोध किया है। ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि केवल वसुनन्दि पर रही, जान पड़ती है। वसुनन्दि का समय वि० सं० ११५० मानने मे मुख्तार सा० की पुरातन वाक्य-सूची का उद्धरण दिया गया है। पर पुरातन वाक्य-सूची की उस प्रस्तावनामें मुख्तार साहब ने कहीं भी वसुनन्दि का समय वि० सं० ११५० सूचित नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि—"उनकी इस कृति का (आचार वृत्ति का) समय विक्रम की १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध जान पड़ता है और यह भी हो सकता है कि वह ११वी शताब्दी का चतुर्थ चरण हो, क्योंकि पं० नाथूराम जी के उल्लेखानुसार अमितगति ने भगवती आराधना के अन्त में आराधना की स्तुति करते हुए उसे 'श्री वसुनन्दियोगिमहिता' लिखा है। यदि ये वसुनन्दि योगी कोई दूसरे न होकर प्रस्तुत श्रावकाचार के कर्ता ही हों, तो ये "अमितगति के समकालीन भी हो सकते हैं। और १२वीं शताब्दी के प्रथम चरण में भी उनका अस्तित्व बन सकता है।" —(पुरातन जैन वाक्य-सूची पृ० १००)

पाठक देखें कि इस उल्लेख में मुख्तार सा० ने कहीं भी वसुनन्दि का समय वि० सं० ११५० नही बतलाया है। तब कोठिया जी ने उस पर से ११५० समय कैसे फलित कर लिया, यह कुछ समझ मे नही आया।

तीसरे 'सुदंसणचरिउ' के कर्ता नयनन्दि ने अपने को श्री नन्दि का शिष्य कहीं भी सूचित नहीं किया, और न श्री नन्दि तथा नेमचन्द्र सिद्धान्तदेव का उल्लेख ही किया है। ऐसी स्थिति मे इन नयनन्दि को श्रीनन्दिका शिष्य कैसे कहा जा सकता है। श्रीनन्दि नाम के कई विद्वान हो गये हैं।[1]

---

१. एक श्रीनन्दि वे है जो बलात्कारगण के विद्वान थे, उनके शिष्य श्रीचन्द ने वि० सं० १०७० और १०८० मे पद्मचरित सस्कृत का टिप्पण और पुराणसार ग्रन्थ की रचना की थी।

दूसरे श्रीनन्दिगणि वे हैं जिनकी प्रेरणा से श्री विजय या अपराजित सूरि ने भगवती आराधना की विजयोदया टीका लिखी।

तीसरे श्रीनन्दि वे हैं जो सकलचन्द के शिष्य

परन्तु जब तक उनके गण-गच्छादि का ठीक पता नहीं चलता, तब तक उनमें से किस श्रीनन्दि को ग्रहण किया जाय। वसुनन्दि ने स्वयं अपना और अपने गुरु वगैरह के गण-गच्छादि का कोई उल्लेख नही किया। ऐसी स्थिति में 'सुदंसणचरिउ' के कर्ता को नेमिचन्द का गुरु और उन श्री नन्दि का शिष्य नहीं कहा जा सकता, जिनका उल्लेख वसुनन्दि ने अपने उपासकाध्ययन में (वसुनन्दि श्रावकाचार में) किया है। अतः बिना किसी प्रमाण के प्रस्तुत नयनन्दि को नेमिचन्द्र का गुरु नहीं कहा जा सकता। उस समय मालवा में बलात्कार गण और कुन्दकुन्दान्वय आदि की परम्परा के विद्वान थे। इससे जाना जाता है कि सभवतः वहा दो परम्पराएँ जुदी-जुदी रही हैं। उक्त नयनन्दि ने तो अपने को माणिक्यनन्दि का प्रथम विद्या शिष्य सूचित किया है, श्रीनन्दि का नहीं। तब परम्परा की विभिन्नता होने के कारण उनका सामजस्य कैसे बिठलाया जा सकता है। जबकि उन्होंने अपने 'सयल विहि विहाणकव्व' मे अपने से पूर्ववर्ती और समसामयिक विद्वानों का उल्लेख किया है, श्रीचन्द, प्रभाचन्द्र, श्रीकुमार, जिन्हें सारस्वती कुमार भी कहा है। आचार्य रामनन्दि, रामनन्दि शिष्य बालचन्द मुनि, और हरिसिंह मुनि का भी नामोल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में क्या वे

और माघनन्दि के प्रशिष्य अथवा माघनन्दि के शिष्य थे।

चौथे श्रीनन्दि वे हैं, जो उग्रदित्याचार्य के गुरु थे। उग्रदित्याचार्य अपना कल्याणकारक ग्रथ राष्ट्रकूट राजा नृपतुग वल्लभराज के समय मे ९वीं शताब्दी में की। अतः इन श्रीनन्दि का समय भी लगभग वही है। (कल्याण कारक २५वा अधिकार)

पाचवे श्रीनन्दि वे है जिनका उल्लेख होय्सल वंश शक सं० १०४७ के श्रीपाल त्रैविद्यदेव वाले शिलालेख में किया गया है। (श्रव० शि० ४९३ पृ० ३९५)।

छठवें श्रीनन्दि सूरस्थगण के विद्वान थे और विनयनन्दि के गुरु थे।

(देखो जैनिज्म इन साउथ इडिया पृ० ४२९)

अपने गुरु और शिष्य नेमचन्द का उल्लेख नहीं कर सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

अब रही वसुनन्दि के उपासकाचार से ब्रह्मदेव द्वारा दो गाथाओं के उद्धृत होने की बात, जो आपकी प्रस्तावना का मौलिक आधार है। वसुनन्दि श्रावकाचार में अनेक गाथाएं दूसरे ग्रन्थों की बिना किसी 'उक्त च' वाक्य के पाई जाती है। और एक स्थान पर तो लिखित प्रति मे 'अतो गाथा षट्कं भवसंग्रहात्' वाक्य के साथ छह गाथाएँ भाव संग्रह की दी हुई हैं। ऐसी स्थिति में वे गाथाएँ वसुनन्दि की निज की कृति हैं या पूर्व परम्परा के किसी ग्रन्थ पर से ली गई हैं: इसमें सन्देह नही है कि ब्रह्मदेव की मुद्रित वृत्ति में वे पाई जाती हैं। टीका भी उन्होंने की है। पर मुझे तो वे वसुनन्दि की कृति मालूम नहीं होतीं। वे वसुनन्दि से बहुत पहले की रची गई जान पड़ती हैं। ब्रह्मदेव ने किसी पुरातन स्रोत से 'परिणामजीवमुत्त' नामक गाथा लेकर उसकी टीका बनाई है। जयसेन ने भी पचास्तिकाय की टीका में 'परिणामजीवमुत्त', गाथा को उद्धृत कर उसकी टीका, बृहद्द्रव्य सग्रह की टीका के समान ही, लिखी है, वह ज्यों की त्यों रूप मे मिलती है। अन्वेषण करने पर 'परिणाम जीवमुत्त' नाम की गाथा मूलाचार के ७वें अधिकार की ४८वी है। और दूसरी गाथा संस्कृत टीका मे नहीं है। वह अन्यत्र से उठा कर रखी गई है। चुना चे रायचन्द्र शास्त्र माला द्वारा प्रकाशित बृहद्रव्य संग्रह के ६५वे पेज की टिप्पणी मे सम्पादक ने 'दुण्णिय एयं एय' गाथा के नीचे फुटनोट में लिखा है कि—"यह गाथा यद्यपि सस्कृत टीका की प्रतियों में नहीं है, तथापि टीकाकार ने इसका आशय ग्रहण किया है, और जयचद जी कृत द्रव्य सग्रह की वचनिका तथा मूल मुद्रित पुस्तक मे उपलब्ध होती है, अतः उपयोगी समझ कर, यहा लिख दी गई है।" इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में इस गाथा को नहीं दिया था। सम्पादक प० जवाहरलाल शास्त्री ने वहां जोड़ दी थी। और फुटनोट द्वारा उसकी सूचना भी कर दी थी। किन्तु बाद के संस्करणों में उसे बिना किसी फुटनोट के वहां शामिल कर लिया गया है। और अब कोठिया जी ने

दोनों गाथाओं को वसुनन्दि की मान कर ब्रह्मदेव द्वारा उदधृत बतलाया है। पर लिखित प्रति में वे नहीं हैं।

ऊपर के इस सब विचार विनिमय से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मदेव ने वसुनन्दि के उपासकाचार से उक्त दोनो गाथाए नही ली, वे गाथाएं वसुनन्दि रचित भी नहीं हैं। उनमे पहली गाथा वट्टकेर के मूलाचार की है, और दूसरी भी किसी प्राचीन ग्रन्थ की होगी। वह उनकी टीका में नही है। पं. जवाहरलाल शास्त्री ने शामिल की है। इससे कोठियाजी ने वसुनन्दि के आधार पर जो ब्रह्मदेव का समय निर्णय करना चाहा है, वह ठीक नही है। अर्थात् ब्रह्मदेव स० ११५० के बाद के विद्वान नही ठहरते। किन्तु वे उससे पूर्ववर्ती हैं। उनका समय भोजदेव के समकालीन है। उनसे बहुत बाद का विद्वान बतलाना संगत नहीं जान पड़ता।

ऐसी स्थिति में नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, ब्रह्मदेव और सोमराज श्रेष्ठी के समकालित्व के विरोध की जो दीवार खड़ी की गई थी वह धराशायी हो जाती है। उसमे कोई बल नहीं रहता। अतः उन तीनो का समकालिक होना असिद्ध नहीं है। मुख्तार साहब से चर्चा होने पर उन्होंने भी उन तीनो को समकालिक बतलाया है। विद्वानों को वस्तु स्थिति पर गम्भीरता से विचार कर पूर्वापर स्थिति और बलवान प्रमाणो की साक्षी में ही लिखना चाहिए, जिससे वह प्रामाणिक माना जा सके।

श्री शिरपुर पार्श्वनाथ स्वामी विनति

नेमचचंद धन्नुसा जैन

शिरपुर के सम्बन्ध मे अनेककाव्य रचे गये है। जिनमे शिरपुर की महिमा का वर्णन किया गया है, जिनमे वहा की मूर्ति के अतिशयों का भी वर्णन मिलता है। यहा ऐसे ही एक ऐतिहासिक काव्य पाठकों की जानकारी के लिए दिया जा रहा है।

इस ऐतिहासिक काव्य को मैं श्री विष्णुकुमार जी कलमकर मु० जिन्तूर (परभणी) के सौजन्य से प्रकाशित कर रहा हूँ। उन्होंने यह काव्य श्री काष्ठासंघ दि० जैन मन्दिर, कारंजा के पुराने साचे पर से लिया था।

"प्रणमि सद्‌गुरुपाय, विश्वसेन वाराणसी ठाय।
वामादेवी वर्ण सुमाम, नवकर उन्नत शरीर आयाम ॥
श्री पार्श्वजिनेश्वर विघ्नविनाश,
कमठासूर मर्दन मोक्षनिवास।
पद्मावती सहित सेवे धरणीद, शिरपुर वंदो पास जिनद ॥१
लंकानगरी रावण करे राज, चंद्रनखा भगिनी भरतार(ज)।
खरदूषण विद्याधर धीर, जिनमुख विलोकन व्रत धरधीर।
वसतमाम आयो तिहा काल, क्रीडा करवाने चालो भूपाल।
पद्मावती सहित सेवे धरणीद, शिरपुर वदो पास जिनद ।२
लगी तृष्णा प्रतिमा हि मग, वालुनलो निपायों बिंब।
पूजी प्रतिमा जल लियो विश्राम, राखो बिंब ते कूपनिठाम ॥
बहुनकाल गमेतिहां गये, प्रतिमा एल करे सुरगये।
पद्मावति० ॥३॥
येलचनगरी एलच करे राज,
कुष्टरोग करी पीडयो घात (ब्याज)।
रजनी समये होये तनुक्रम,
दा(दि)न कर उगवे होय तनु जोम ॥
दुःख देखत काल बहुत गयो, (तब) राजा एल वन गयो।
पद्मावती ॥४॥
क्रीडा करता लागी तृषाल,
वृडत च(ज) लतल देखो बटको यार।

चरण पखाली लियो नीर, क्रीडा कर घर आयो वीर ॥
रयनी विखे राणी चितवे इस, कौन कारण हुओ जगदीश ।
पद्मावती० ॥५॥

प्रातःसमे सुंदरी पूछे तास, क्रीडा करी कवन वनमास ।
भोजनपान कियो किहां ठाम,
सिंहासनका कहा कियो विश्वास ॥
सर्व वृतान्त पूछे भूपाल, राजाराणी चाले ततकाल ।
पद्मावती० ॥६॥

गाजे थानक जल लियो विश्राम,
तत्खिन राजा आयो ते गाम ।
ओढे नीर पखाले तास, सकल रोग का हुवा विनास ॥
ते दिन राजा रह्यो तिने ठाम, किंवा राजनो तिहा विश्राम ॥
पद्मावती० ॥७॥

प्रातह भूप करे(धरे) सन्यास, जब ये प्रगटे देव कोई पास ।
तबलगनी येम अनशन देह, सात व्रत हुआ भूपने तेह ॥
दिवस सातमें सुपनांतर हुयो, राजा मनमें हर्षित भयो ।
पद्मामती० ॥८॥

सरकालनो रथ करो विस्तार, एक दिवसना गोवच्छ सार ।
ले जोपि रथ चलायों भार, फिरी मत चितओ राजकुमार ॥
तवहु आविस सहज सभाव, मनवांछित पुर तु राज लेजाव ।
पद्मावती० ॥९॥

प्रातःसमे कियो सब साज,
जोपि रुखब रत(थ) चलाओ राज ।
मनमां संखा उपजी हेव, न जानु किमु आवे देव ॥
उपजे भ्रम फिरी चितवे भूप, अंतरीक्ष देव रह्या तिहां अनूप ।
पद्मावती ॥१०॥

महीमा बढ्यो महियेल घनो, अंतरिक्ष प्रभू पास सहुतनो ।
गजकेशरी दावानल सर्प, उदधीरोग बंधन सर्वादर्प ।
पासने सहु विघ्न विनास, भव भव गरण सरण जिन पास ।
पद्मावती० ॥११॥

काष्ठासंघे गुण गंभीर, सूरि श्रीभूषण पट्टसुधीर ।
चंद्रकीर्ति नमित नरेश, सेवक लक्ष्मण चरण विशेष ॥
पास जिनेश्वर राखो पास, जोनीसंकट निवारो वास ।
पद्मावती० ॥१२॥

भट्टारक श्री चंद्रकीर्ति १७वीं सदी में हुए हैं। और उन्होंने इस श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ दि० जैन अतिशय क्षेत्र की वंदना भी की थी। उनके साहित्य में तीन जगह इस क्षेत्र के वंदना का वर्णन आता है। अत. उनके साथ-साथ रहते उनके शिष्य लक्ष्मण ने यह ऐतिहासिक काव्य रचा होगा, ऐसा लगता है। इस काव्य के अस्तित्व की सूचना प्रो० डा० विद्याधर जी जोहरापुरकर ने ई० सन् १९६० के अगस्त के मराठी सन्मति में दी है। इस क्षेत्र संबंधी ऐसे अनेक काव्य जगह-जगह अप्रकाशित अवस्था में है। वे सब प्रकाशित होने चाहिए। उनका मैं यथा शक्ति सग्रह कर रहा हूँ। क्योंकि उन सबका 'श्री दि० जैन अंतरिक्ष पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र' इस तीर्थ परिचय किताब में पुन प्रकाशन करना है। अत: जहा-जहां भी ऐतिहासिक सामग्री हो वे सब प्रकाशित करे, या हमको सूचित करे।

मेवाड़ के पुरग्राम की एक प्रशस्ति

रामवल्लभ सोमानी

श्री वृद्धिचंद जी दिगम्बर जैन मन्दिर जयपुर के ग्रन्थ भंडार मे संग्रहीत लब्धिसार नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रशस्ति (ग्रंथ स० १३६) जो वि० सं० १५५१ आषाढ सुदी १४ की है उल्लेखनीय है१। इस प्रशस्ति से पता चलता है कि मेवाड़ के पुर ग्राम मे ब्रह्म चालुक्य वंश के शासक सूर्यसेन का अधिकार था। यह सूर्यसेन कौन था ? इसका उल्लेख टोड़ा से प्राप्त ग्रन्थ कई लेखो और प्रशस्तियो मे अवश्य मिलता है। यह राव सुरत्राण का ही नाम होना चाहिए, जिसे टोड़ा से मुसलमानो ने निकाल दिया था और मेवाड़ मे महाराणा रायमल के समय में आकर के रहा था। इसकी पुत्री तारादेवी बड़ी प्रसिद्ध थी जिसका विवाह उक्त महाराणा के पुत्र पृथ्वीराज के साथ इसी शर्त पर हुआ था कि वह टोडा से मुसलमानों को निकाल देवे।

मेवाड के इतिहास में राव सुरत्राण को बदनोर जागीर मे देना उल्लिखित है। उक्त ग्रंथ भंडार मे वि० स० १५५६ की एक षट्कर्मोपदेशमाला की एक प्रशस्ति१ और देखने को मिली है जो भीलवाड़ा ग्राम की है। यह पुर मे ६ मील दूर है। इस प्रशस्ति मे राव भाण का उल्लेख है। भाण (बून्दी का हाडा) को भीलवाड़ा देते समय महाराणा ने सुरत्राण को बदनोर दे दिया हो। अथवा इसके पूर्व भी कुछ कारणों से परिवर्तन कर दिया हो। इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि राव सुरत्राण को बदनोर कब दिया गया था। मेवाड़ मे प्रचलित कथाओ मे राव सुरत्राण का बदनोर से हो टोड़ा जीतना उल्लेखित किया है अतएव यह कहा जा सकता है कि पुर के पश्चात् ही सुरत्राण को बदनोर दिया गया था। पृथ्वीराज का लेख वि० सं० १५५७ वैशाख सुदी ६ शुक्रवार का नाडलाई के मन्दिर का मिला है जिसमें स्पष्टतः उल्लेखित है कि वह उस समय कुंभलगढ़ में प्रशासक था। टोडा भी पृथ्वीराज ने कुंभलगढ़ से आकर के ही दिलाया था।

टोडा पर मुसलमानों का अधिकार कब हुआ था ? इस सम्बन्ध मे निश्चित तिथि देना तो कठिन है किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि पूर्वी राजस्थान में १५वीं शताब्दी से ही संघर्ष प्रारम्भ२ हो गया था। मेवाड़ के महाराणा और मालवे के सुल्तान दोनों ही इसे अपने-प्रभाव में लेना चाहते थे। कुंभा के समय में यह संघर्ष बराबर विद्यमान था। टोडा को भी कुंभा ने मुसलमानों से ही जीतकर वापस सोलंकियों को दिलाया था। एकलिंगमाहात्म्य में इसका स्पष्टतः उल्लेख है। तोडा मंडल-मग्रहीच्च सहसा जित्वा शकं दुर्जयं" उस समय सेडवदेव अथवा सोड़ा वहाँ का शासक था। इसका उल्लेख वि० स० १४९२ माघ सुदि ५ को लिखी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में

---

१. "संवत् १५५६ वर्षे चैत्रवदि १३ शनिवासरे शत-भी(भि)षा (?) नक्षत्रे राजाधिराज श्री भाणविजय-राज्ये श्री भीलोडा ग्रामे श्रीचंद्रप्रभ चैत्यालये—"
राजस्थान के ग्रन्थ भंडारों की सूची भाग ३ पृ० ७८

२. वि० सं० १५४१ में लिखित "गुरु गुणरत्नाकर" काव्य से पता चलता है कि हाडावटी पर मालवा के सुल्तान का अधिकार हो चुका था। हाडावटी मालव देश नायक प्रजाप्रियऽहमदमुख्य मन्त्रिणा। श्रीमण्डपक्ष्माधर भूमि वासिना, संघाधिनाथेन च चंद्र-साधुना। समसामयिक ग्रन्थ प्रशस्तियों से भी इसकी पुष्टि होती है।"

वि० स० १५४६ "सुकुमाल चरित्र" की प्रशस्ति से पता चलता है कि बारां पर गयासुद्दीन का राज्य था। नरेणा, टोंक नैनवा मल्लारणा आदि से प्राप्त ग्रन्थ प्रशस्तियों में वि० सं० १५२८ या इससे पूर्व से ही वहां इनका राज्य प्रतीत होता है।

है। टोडा से कुछ ही दूर स्थित टोंक से ११ मूर्तियों के लेख वि० सं० १५१० के मिले हैं जिनमें पार्श्वनाथ की मूर्ति पर "डूंगरेन्द्र" नामक शासक का उल्लेख है। या तो यह स्थानीय शासक है अथवा ग्वालियर के राजा डूगर सिंह के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्मरण रहे कि डूगर सिंह तोमर के लेख वि० स० १५१० माघ सुदी ८ मे भी उसे "डूंगरेन्द्र देव" लिखा है—[सिद्धि संवत् १५१० वर्षे माघ सुदी ८—महाराजाधिराज श्री डं(डूं)गरेन्द्रदेव···] वि० स० १५२४ की आमेरशास्त्र भंडार मे संग्रहीत कातंत्रमाला की प्रशस्ति में टोंक में अल्लाउद्दीन नामक एक शासक का उल्लेख है, जिसकी कई प्रशस्तिया वि० स० १५१५ से लेकर १५८८ वि० तक की नैनवां आदि स्थानो की लिखी और भी देखने को मिली हैं। टोड़ा में ही लिखी गई एक३ ग्रन्थ प्रशस्ति मे जो वि० स १५३७ फाल्गुन सुदी ६ रविवार की है यहां के शासक का नाम गयासुद्दीन वर्णित किया है। अतएव इतना अवश्य निश्चित है कि राव सुरत्राण को वि० सं० १५३७ के पूर्व अवश्य टोड़ा छोड़ देना पड़ा था और दीर्घकाल यह मेवाड़ मे रहा हो ऐसा प्रतीत होता है।

आंवा के मन्दिर के एक प्रकाशित शिलालेख और टोड़ा के शिलालेखों में इस राव सूर्यसेन की वंशावली दी हुई है। इसके दो रानियां थीं जिनके नाम है—सीतादेवी और सोभाग्यदेवी४। सोभाग्यदेवी से पृथ्वीराज और पूर्णमल उत्पन्न हुए। टोड़ा से प्राप्त वि० सं० १६०४ के एक बहुचर्चित५ लेख में मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह दिल्ली के बादशाह सलेमशाह और टोडा के राव सूर्यसेन पृथ्वीराज एव रामचन्द्र का उल्लेख किया गया है।

सूर्यसेन बहुत ही वृद्धावस्था में मरा प्रतीत होता है। वि० स० १५६७ तक६ वह जीवित था। उसके पौत्र रामचन्द्र को वि० स० १५८० में ही चाटसू जागीर में दे दी गई थी। इसके समय की लिखी चाटसू घट्यावली आदि स्थानों की कई प्रशस्तियां देखने को मिली हैं। इनमें सबसे उल्लेखनीय वि० सं० १५८३ आषाढ़ सुदी ३ बुधवार७ और वि० स० १५८४ चैत्र सुदी १४ की है जिनमे

३. "संवत् १५३७ फाल्गुण सुदि ६ रविवारे उत्तरा नक्षत्रे······सुरत्राण गयासुद्दीन राज्य प्रवर्तमाने टोडा नगरे······"
[राजस्थान के जैन भंडारों की सूची भाग २ पृ० २०८]

४. ब्रह्मा चालुक्य वंशोद्भव सोलंकी गोत्र विस्फुरम्।
योवर्द्धते प्रजानन्दी सूर्यसेनः प्रतापवान् ॥१२॥
तस्यराजाधिराज द्वेस्त्रे(स्त्रियौ) च विचक्षणे।
वर्तते च तयो मध्ये पूर्वा शीताख्ययास्मृता ॥१६॥
द्वितीया च जिताख्याता नाम्नी सोभागदे-च।
तत्पुत्रौ चवरौ जातोकुलगुण विशारदौ ॥१४॥
प्रथमे पृथ्वीराजो द्वितीय पूर्णमलवाक्।
शोभन्ते एनराजन् पुत्र पौत्रादि संयुतः ॥१५॥
आंवां का वि० सं० १५६३ का लेख (अप्रकाशित)

५. "सवत् १६०४ वर्षे शाके १४६९ मिगसर वदि २ दिने वर्द्धनीयती। प्रो० पान्हड तस्य पुत्र नराहुण··· ···राजाधिराज राज श्री सूर्यसेणि ॥ तस्य पुत्र राज श्री पृथ्वीराज ॥ तस्य पुत्र राज श्री राव रामचन्द्र राज्ये वर्तमाने ॥ तस्य कुवर भ० परसराम ॥ पातिसाहि सेरसाह सूर। तस्य पुत्र पातिसाहि असले-मसाहि ॥ को वारो वर्तमान ॥ सर्व भूयि भो षसम षोडा लाख ११ को पसमु राज श्री संग्रामदेव। तस्य पुत्र उदयसिंघ देवराणो कुभलमेर राज्ये वर्तमाने···"
[मरु भारती वर्ष ५ अंक १ पृ० २०]

६. सुदर्शन चरित की प्रशस्ति—
"सवत् १५६७ वर्षे माघ मासे कृष्ण पक्षे द्वितीयायां तिथौ बुध वासरे पुष्य नक्षत्रे श्री कुन्दकुन्दान्वये······ तोडागढ महादुर्गात् राजाधिराज सोलंकीराउ श्री सूर्यसेन विजयराज्ये······"
[प्रशस्ति सग्रह पृ० १८६]

७. करकंडु चरिउ की प्रशस्ति—
"संवत् १५८१ वर्षे चैत्र वदि ६ गुरु वासरे घटयावली नाम नगरे राउ श्री रामचंद्र राज्य प्रवर्तमाने"
[उक्त पृ० ९६]

चन्द्रप्रभचरित की प्रशस्ति—
"संवत् १५८३ वर्षे आषाढ़ सुदि ३ पुष्य नक्षत्रे राणा श्री संग्रामराज्ये चम्पावती नगरे राव श्री रामचद्र प्रतापे······" [उक्त पृ० ९६]

राव रामचन्द्र के साथ-साथ महाराणा सांगा का भी उल्लेख है। स्मरण रहे वि० स० १५८४ वाली यह प्रशस्ति महाराणा सांगा की अब तक प्राप्त ग्रन्थ प्रशस्तियों में अन्तिम प्रशस्ति है। वि० स० १५९४ की एक वरांग चरित्र की प्रशस्ति में जो आवा नामक ग्राम मे लिखा गया था, राव सूर्यसेण और उसके पुत्र पूरणमल का उल्लेख है। सभव है कि आवा पूरणमल को जागीर में दिया हो। सूर्यसेन का ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज या तो अपने पिता के जीवनकाल मे ही मर चुका था अथवा उसका राजत्व काल अत्यन्त अल्प रहा होगा, क्योंकि वि० सं० १६०१ की जम्बू स्वामि चरित९ की प्रशस्ति में जो अभी बधीचंद जी के मन्दिर मे संग्रहीत है, टोडा के शासक का नाम राव रामचन्द्र दिया है।

इन सोलंकियो का कछवाहो से बराबर सघर्ष रहा प्रतीत होता है। आमेर के कछवाहा राजा१० पृथ्वीराज के शासनकाल में लिखी वि० सं० १५८१ की ज्ञानार्णव की एक ग्रंथ प्रशस्ति (यह ग्रन्थ यशोदानन्दजी के दिगम्बर जैन मन्दिर में सग्रहीत है) देखने को मिली है इसके कुछ समय बाद इनके इतिहास मे कुछ व्यवधान आता है। कछवाओं में गृहकलह भी इसी काल में होता है। इसका लाभ उठाकर ही इन सोलंकियों ने चाटसू तक का भाग इनसे जीत लिया था। आम्बेर की एक जैन मूर्ति के वि० स० १५९३ के लेख में राव सूर्यसेन को शासक वर्णित किया है११। लेख बहुत ही अधिक अस्पष्ट है। "वि० सं० १५९३ के पश्चात् कुछ अक्षर पढे नहीं जाते हैं। और अम्बावती वास्तव्ये खंडेलान्वये आदि शब्द है इसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि अम्बावती के रहने वाले खंडेलवाल गोत्र के श्रेष्ठियों ने महाराजा "सूर्यसेणि" के राज्य में उक्त मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराया। इस क्षेत्र में वि० सं० १५९४ में बीरमदेव मेडतिया ने आक्रमण कर चाटसू पर अधिकार कर लिया था। इसके समय भी वि० सं० १५९४ माघ सुदी २ की षट्पाहुड की एक प्रशस्ति देखने को मिली है। इसे मालदेव ने दूसरे वर्ष ही हटा दिया था। वि० स० १५९५ की वरांगचरित की प्रशस्ति मे जो सांखोण ग्राम (टोंक के पास) की है राव मालदेव राठोड़ के शासन काल का उल्लेख किया है। इनसे सोलंकियों ने शीघ्र ही क्षेत्र वापस ले लिया था। चाटसू आदि क्षेत्र को शाह आलम ने सोलकियों से छीन लिया इसके समय१२ की लिखी वि० स० १६०२ वैशाख सुदी १० की षट्पाहुड की एक प्रशस्ति जो चाटसू में लिखी गई थी देखने को मिली है। इस शाह आलम का अलवर

बर्द्धमान कथा की प्रशस्ति—

सवत् १५८४ वर्षे चैत्र सुदि १४ शनिवारे पूर्वा नक्षत्रे श्री चम्पावती कोटे राणा श्री श्री श्री सग्राम-राज्ये राउ श्री रामचन्द्र राज्ये।

[राजस्थान के जैन भडारों की सूची भाग ३ पृ० ७७]

यह प्रशस्ति महाराणा सागा की अब तक ज्ञात प्रशस्तियों मे अन्तिम प्रशस्ति है।

८ वरांगचरित की प्रशस्ति—

"स० १५९४ वर्षे शाके १४५९ कार्तिग मासे शुक्ल-पक्षे दशमी दिवसे शनैश्चर वासरे धनिष्टा नक्षत्रे गडयोगे आवा नाम महानगरे श्री सूर्यसेणि राज्य प्रवर्तमाने कुवर श्री पूर्णमल्ल प्रतापे......"

[राज० के जैन भडारों की सूची भाग ४ पृ० १९४]

९ 'जम्बूस्वामी चरित की प्रशस्ति"—

सवत् १६०१ वर्षे आषाढ़ सुदि १३ भोमवासरे टोडा-गढवास्तव्ये राजाधिराज राव श्री रामचन्द्र विजय-राज्ये......"

१०. ज्ञानार्णव की प्रशस्ति—

"सवत् १५८१ वर्षे सरस्वती गच्छे—आम्बेरगण स्थानात् कूरमवशे महाराजाधिराज पृथ्वीराज राज्ये खडेलान्वये समस्त गोठि पंचायतन शास्त्र ज्ञानार्णवं लिखापितं"।

११. सवत् १५९३ वर्षे—चालुक्यान्वये सोलंकी गोत्रे महा-राजा सूर्यसेणि तस्यराणि सीतादे द्वि० राणी सुहागदे तत्पुत्री महाकवर पृथ्वीराज पूर्णमल राज्य प्रवर्तमाने अम्बावती वास्तव्ये खंडलान्वये......"

[अनेकान्त वर्ष १६ पृ० २१२]

१२. षट्पाहुड की प्रशस्ति—

संवत् १६०२ वर्षे वैशाख सुदि १० तिथौ रविवासरे उत्तर फाल्गुन नक्षत्रे राजाधिराज शाह आलम राज्ये चम्पावती मध्ये......"

के आस-पास राज्य था वि० सं० १६०० की लिखी लघु संग्रहणी सूत्र की एक प्रशस्ति (जो अलवर१३ में लिखी गई थी) छाणी गुजरात के ग्रन्थ भण्डार में सग्रहीत है। चाटसू के वि० सं० १६२३ में भारमाल कछावा ने अधिकृत कर लिया था ऐसा उपासकाध्ययन ग्रन्थ की एक१४ प्रशस्ति से प्रकट होता है। टोड़ा की जगन्नाथ बावड़ी ईसर बावड़ी आदि के लेखों में वहां के शासक का नाम जगन्नाथ दिया हुआ है१५।

इस प्रशस्ति में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि वि० सं० १५५१ में पुर ग्राम में दिगम्बरों की बड़ी वस्ती होना अनुमानित होता है। केन्द्रीय मेवाड़ से दिगम्बरो का प्रभाव १४वीं शताब्दी से कम हो गया था। महारावल तेजसिंह, समरसिंह आदि के समय से ही श्वेताम्बरो का प्राबल्य हो गया था फिर भी श्वेताम्बरों के साथ-साथ दिगम्बरों का भी उल्लेख१६ इस क्षेत्र में बराबर मिलता है। मुझे हाल ही मे चित्तौड़ के पास के गगारार मे वि० सं० १३७६ एवं १३७५ के दो दिगम्बर जैन लेख१७ मिले हैं जिन्हें मैंने वीरवाणी (जयपुर) में प्रकाशित कराये हैं जिनसे की इस तथ्य की पुष्टि होती है। प्रशस्ति में पद्मनन्दि और शुभचंद्र का उल्लेख है। बिजोलियां के एक लेख में इनकी वंशावली इस प्रकार दी हुई है१८—

१. वसंतकीर्ति, २. विशालकीर्ति, ३. शुभकीर्ति, ४. धर्मचंद्र, ५. रत्नकीर्ति, ६. प्रभाचंद्र, ७. पद्मनन्दि, ८. शुभचद्र।

आबू के दिगम्बर जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा भी इन्हीं शुभचंद्र ने की थी। इसके शिलालेख को मैंने वीरवाणी में सम्पादित करके प्रकाशित कराया था। इसमे "मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे" ही वर्णित है१९। इस प्रशस्ति मे दी गई वशावली नैणसी की वशावली से भिन्न है। नैणसी की दी हुई वशावली मे दुर्जनशाल, हरराज सुरत्राण ऊदा बैरा ईसरदास राव दलपत्त राव अणदा राव श्यामसिंह आदि नाम है किन्तु शिलालेखों और प्रशस्तियों में उल्लेखित सोढा, सूर्यसेण; पृथ्वीराज, रामचन्द्र आदि के नाम इसमे नही होने से यह अप्रमाणिक है। मूल प्रशस्ति इस प्रकार है—

"सवत् १५५१ वर्षे आषाढ सुदी १४ मंगल बासरे ज्येष्ठा नक्षत्रे श्रीपुर नगरे श्रीब्रह्म चालुक्य बेटो श्री राजाधिराज राय श्री सूर्यसेन राज्य प्रवर्तमाने श्री मूलसघे

१३. "संवत् १६०० वर्षे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे १३ रवौ पातिशाह श्री साह आलम राज्ये अलवह महादुर्गे···"
[प्रशस्ति संग्रह पृ० ११० बाई अमृतलाल शाह]

१४. उपासकाध्ययन की प्रशस्ति—
"संवत् १६२३ वर्षे पोष वदि २ शुक्रवासरे श्रीपार्श्वनाथ चैत्यालये गढ़ चम्पावती मध्ये राजाधिराज श्री भारमल कछावा राज्ये······"
[आम्बेर शास्त्र भंडार के सौजन्य से प्राप्त]

१५. अथ संवत्सरेस्मिन् श्री नृपति विक्रमादित्य राज्ये संवत् १६५४ वर्षे शाके १५१९ प्रवर्तमाने······पुरवरे······नृपतिमणिकिल जगन्नाथः स पाथोधिवत्···
[जगन्नाथ बावड़ी की प्रशस्ति]
"संवत् १६६१ वर्षे शाके १५२६ प्रवर्तमाने उत्तरायणे भानौ महामांगल्य प्रदेशे चैत्र मासे शुक्लपक्षे दशमी समस्त पृथ्वीपति पातिसाह श्री अकबर राज्ये टोडा नगरे कछवाहा श्री जगन्नाथ जी राज्ये······"
[ईसर बावड़ी प्रशस्ति]
[मरु भारती वर्ष ५ अंक १ पृ. २०-२१]

१६. "चित्तौड़ और दिगम्बर जैन सम्प्रदाय" नामक मेरा लेख शोध पत्रिका वर्ष १६ अंक ३-४ में प्रकाशित।

१७. (१) ॐ सिद्धि॥ संवत् १३७६।
(२) वर्षे मूल सघे।
(३) नंदिसघे भट्टारक श्री जय[की]त्ति देवाना···।
एवं—(२) ······१३७५ वर्षे कार्तिक···।
(३) ···दि चतुर्द्दशी प्राते श्रीमूलसघे।
(४) श्री [भीम]सेन शिष्य······।

१८. आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया १९०५-६ पृ० ५७।

१९. "स्वस्ति संवत् १४९४ वर्षे वैशाख सुदि १३ गुरौ श्रीमूल संगे(घे) बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भट्टारिक पद्मनन्दि देव तत्पट्टे श्रीशुभचंद्रदेव भट्टारिक श्री संघवै गोव्यंद मात्री देवसी दोशी करणा जिनदास···"
[मूल लेख से]

बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे श्री नंदिसंघे श्री कुन्दाकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री पद्मनन्दि देवा: तत्पट्टे श्री शुभचंद्रदेवा: तत् शिष्य मुनि लक्ष्मीचंद्र: खंडेलवालान्वये श्री शाहगोत्रे साह काल्हा भार्या रानादे तत्पुत्र साह बीका साह माधव साह लाला साह डूगा। बीका भार्या विजय श्री द्वितीय भार्या पूना। विजय श्री भार्या पुत्र जिणदास भार्या जोणदे। तत्पुत्र साह गांगा साह सांगा साह सहसा साह चोड़ा। सहसा पुत्र पासा समाप्तमिदं लब्धिसारभिधानं निज ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं मुनि लक्ष्मीचन्द्राय पाठनानार्थं लिखापितं, लिखितं गोगा ब्राह्मण गौड ज्ञातीय–"

शिक्षा का उद्देश्य

आचार्य श्री तुलसी

विद्यार्थी जीवन अन्य जीवनों की रीढ है। जब तक वह सम्पन्न और समुन्नत नहीं होगा, देश, समाज और राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। आज की शिक्षा-पद्धति भारतीयता के अनुकूल नहीं है। उसमे परिवर्तन की आवश्यकता है। जन-नेता ऐसा अनुभव करते है, फिर भी वे शिक्षा-पद्धति मे परिवर्तन नहीं कर पाते। उनके सामने कठिनाइयां हो सकती है, पर बिना ऐसा किये विद्यार्थियो का जीवन उन्नत नही हो सकता तथा उसके विना समाज और राष्ट्र भी उन्नत नही हो सकता। यह भारतीय जीवन जो अध्यात्म-प्रधान है, उसमे भौतिकता घर करती जा रही है। जन-जीवन मे आध्यात्मिकता आनी चाहिए।

आज की शिक्षा का लक्ष्य गलत है। विद्यार्थी पढ़ते है—किस लिए ? आगे जीवन मे अधिकाधिक धन कमा सके और भौतिक सुख-सुविधाये पा सके। यह तो मूल मे ही भूल हो रही है। वह विद्या जो मानव को मानव ही नही किन्तु मुक्त बनाने वाली थी, जो उसे दुःख-दुविधाओं से मुक्त कर शाश्वत सुख दिलाने वाली थी, आज धन और आजीविका का साधन मात्र रह गई है। यह भूल विद्यार्थियो की नहीं, धन को बड़ा मानने वालों की है। फिर भला विद्यार्थी क्या करे ? जब कि देश के कर्णधार भी इसे इसी दृष्टि से देखते हैं। जब तक धन को महत्व दिया जाता रहेगा, तब तक यह समस्या सुलझेगी नहीं।

आज कहा जाता है—पतन हो रहा है, नैतिकता गिरती जा रही है। लोग संसार को उठाने का प्रयास कर रहे हैं, पर अपने आपकी ओर वे नहीं देखते। यदि अपने आपको न सुधार कर संसार को सुधारने का प्रयास किया जायेगा तो न संसार सुधरेगा और न सुधारक ही। पहले व्यक्ति स्वयं उठे, फिर पड़ोस, समाज और राष्ट्र को उठाये। सुधार धर्म से सम्भव है। आज का बुद्धिवाद मार्ग शब्द से चिढ़ता है। इसमें सिर्फ उसका ही दोष नहीं पर दोष उनका है जिन्होंने धर्म को सही रूप से सामने नही रखा है। शब्द से चिढ़ है तो छोड़िए उसे। आप सत्य और अहिंसा को जीवन में स्थान दीजिए, यही धर्म है। धर्म वह चीज है जो व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का विकास करता है। धर्म में लिंग, रंग और वर्ण का भेद-भाव नही है। वह धर्म स्थान की ही चीज नहीं है, जीवन की भी चीज है, जो जीवन के कण-कण मे आनी चाहिए। जीवन मे प्रतिपल उसके प्रति जागरूक रहना होगा।

बन्धुओ ! आपने आजादी के युद्ध लड़े। वह ध्वंस का जमाना था। आपने विदेशी हकूमत का ज्यादा से ज्यादा नुकसान किया, पर आज तो आपकी सरकार है। विद्यार्थी यदि अब भी ध्वंस-लीलाये करते है तो यह दूसरों का नुकसान नहीं, उनका अपना नुकसान है। आज आपकी परीक्षा की बेला है, निर्माण का समय है। अपनी वीरता का परिचय दीजिए। आज अनैतिकता बढ़ रही है। उससे जब लड़ना होगा। उसे खत्म करना होगा। हिंसा और लड़ाई-वगों से नही, नैतिकता का प्रसार करके अनैतिकता पर काबू करना होगा। आत्म-निर्माण के इस काम में आपका हाथ रहा तो मैं समझूंगा, आप सच्चे वीर हैं।

जैन और वैदिक अनुश्रुतियों में ऋषभ तथा भरतकी भवावलि

डा० नरेन्द्र 'विद्यार्थी' साहित्यार्य, एम. ए. पी-एच. डी.

प्रस्तुत प्रबन्ध में ऋषभ देव तथा भरत की पूर्व भवावलियों का तुलनात्मक अध्ययन होगा जिसमे यह स्पष्ट किया जावेगा कि दोनों पिता-पुत्र ने कहाँ, किस स्थिति मे, किस प्रकार भोगों की इच्छा के साथ धर्म का बीज बोया जिसके सदाचार रूपी वृक्ष मे सद्गति के सुफल फले। धर्म एक वृक्ष है, अर्थ उसका फल है और काम उसके फलों का रस है। धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग कहलाते हैं जिसकी प्राप्ति का मूल कारण धर्म है। धर्म से ही अर्थ, काम और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। धर्म ही अर्थ और काम की उत्पत्ति का स्थान है। धर्म का इच्छुक समस्त इष्ट पदार्थों का इच्छुक होता है तथा वह अपने अनुकूल धन, सुख, सम्पत्ति आदि को प्राप्त भी करता है। विज्ञ जन धर्म को कामधेनु, चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष तथा अक्षयनिधि कहते हैं। न केवल ऐहिक संकट; पारलौकिक संकटों से भी धर्म ही बचाता है। नरक निगोदादि के दुःखों से बचा कर अन्त में अविनाशी सुख-मोक्ष की प्राप्ति भी धर्म के द्वारा ही होती है[१]। इसी परम पावन धर्म के भव-भव में साथी होने के कारण सम्यक्त्वी धर्मात्मा ऋषभदेव तथा उनके सुपुत्र चक्रवर्ती भरत आज भी विश्ववन्द्य हैं।

ऋषभदेव अपने १० भवों के बाद ग्यारहवें भव में भगवान ऋषभदेव बने[२] और भरत अपने नवयें भव मे चक्रवर्ती भरत बने[३]।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ऋषभदेव १३वें भव में भगवान ऋषभदेव बने[४]।

१. महापुराण पर्व २।३१–३७
२. वही ४७।३५७–३५६, विस्तृत वर्णन पर्व ४ से १२ तक।
३. वही ४६।२६३–२६४
४. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित पर्व १ सर्ग १–२।

ऋषभदेव की भवावलि

दोनों परम्पराओं के अनुसार ऋषभदेव की भवावलि इस प्रकार है :—

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
१. जयवर्मा	१. धन सार्थवाह (धनभव सेठ)
२. महाबल विद्याधर	२. युगलिया
३. ललिताङ्ग देव	३. सौधर्मलोक मे उत्पत्ति
४. राजा वज्रजघ	४. महाविदेह क्षेत्र मे महाबल
५. भोगभूमि का आर्य	५. ललिताङ्ग देव
६. श्रीधर देव	६. वज्रजघ
७. राजा सुविधि	७. उत्तर कुरु मे युगलिया
८. अच्युतेन्द्र	८. सौधर्म स्वर्ग में देव
९. राजा वज्रनाभि	९. जीवानन्द वैद्य
१०. अहमिन्द्र	१०. अच्युत स्वर्ग मे देव
११. ऋषभदेव	११. वज्रनाभ चक्रवर्ती
(महापुराणके आधार पर)	१२. उत्तर विमान मे देव
	१३. ऋषभ देव
	(त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित के आधार पर)

प्रथमभव जयवर्मा—

जम्बू द्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र स्थित सिंहपुर के राजा श्रीषेण के द्वारा छोटे पुत्र श्री वर्मा को राज्य दिये जाने तथा जयवर्मा जो कि बड़ा पुत्र था; उपेक्षा किये जाने के कारण जयवर्मा को एक बडा आघात लगा। "एक ही पिता के दो पुत्रों मे इतना बडा अन्तर? धिक् है लघु पुत्र स्नेह! और प्रियना का व्यामोह!! वास्तविक सुख आत्मशान्ति में है और आत्म-शान्ति आत्म कल्याण है।" इस विवेक के ज्ञान ने जयवर्मा को विरागी बना दिया! अपने पापकर्मोदय की निन्दा करते हुए उन्होंने दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर तपस्या करने लगे। परन्तु "आगामी भव में विद्याधरों के भोगोपभोग प्राप्त

हों।" इस भावना के समय ही भयङ्कर सर्प-दंश[१] से परलोक वासी हो गये। इस निदान का फल उन्हें मिला।

दूसराभव महाबल—

पूर्व भव के निदान जनित संस्कार के कारण महाबल विद्याधर हुए। अपने पिता अतिबल के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर बलशाली महाबल ने राज्य भार संभाला। वह दैव और पुरुषार्थ दोनों से सम्पन्न थे। उनके धर्म, अर्थ, काम परस्पर मे अबाधित थे, बहिरङ्ग शत्रुओं पर जैसे राजनीति से विजय प्राप्त की थी वैसे ही अन्तरङ्ग शत्रुओं पर—काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह पर भी धर्म-नीति से विजय प्राप्त की थी। राजा महाबल के राज्य में 'अन्याय' का शक ही मिट गया था, प्रजा को भय तथा क्षोभ कभी स्वप्न में भी नही होते थे। जिसे आगे चल कर तीर्थङ्कर की महनीय विभूति प्राप्त होने वाली थी ऐसा वह महाबल राजा मेरु पर्वत पर इन्द्र के समान विजयार्धी पर्वत पर चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा[२]।

स्वय बुद्ध मन्त्री के प्रश्न के उत्तर मे अवधि ज्ञानी मुनि आदित्यगति ने महाबल को भव्यात्मा तथा दसवे भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे युग के प्रारम्भ मे ऐश्वर्यवान ऋषभदेव तीर्थङ्कर होना बतलाया। मुनि के कथनानुसार महावल ने भावी तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति तथा अतिशय क्षीण आयु के सूचक दो—शुभ और अशुभ स्वप्न भी देखे। जिनका उक्त फल मुनिराज के बताये अनुसार स्वय बुद्ध मन्त्री मे ज्ञात कर समाधि मरण की ओर अपना चित्त लगाया। अपना समस्त राज्य पुत्र को देकर स्वयं निश्चिन्त होकर आराधना रूपी नाव पर चढ कर संसार सागर को पार करने लगा। तप रूपी अग्नि मे सतप्त स्वर्ण की तरह विशुद्ध हुआ। महाबल परिषहो को सहन करते हुए पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करने लगा। तप: पूत महाबल ने ध्यानरूपी तेज के द्वारा मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावना करते हुए स्वयम्बुद्ध मन्त्री के समक्ष प्राणो का त्याग कर दिया[३]।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में महाबल चौथाभव माना गया है।

तीसराभव ललिताङ्गदेव—

अतिशय तप के मनोहर फलस्वरूप महाबल का जीव सातिशय विभूतिशाली स्वर्ग में ललिताङ्ग देव हुआ। अपने किये हुए पुण्य कर्म के उदय से मन्द मन्द मुस्कान हास्य और विलास आदि के द्वारा स्पष्ट चेष्टा करने वाली स्वयंप्रभा आदि अनेक देवाङ्गनाओं तथा अनेक स्वर्गीय विभूतियों के समागम से चिरकाल तक अपनी इच्छानुसार उदार और उत्कृष्ट दिव्य भोग भोगता रहा[४]। एक दिन आयु का अवसान सूचक मन्दार माला मुरझा गई। रङ्ग मे भङ्ग पड़ गया। ललिताङ्ग देव को स्वर्ग से च्युत होने का आघात तो लगा परन्तु सामानिक जाति के देवों के द्वारा समझाये जाने पर धैर्य धारण कर उसने धर्म में बुद्धि लगायी और पन्द्रह दिन तक समस्त लोक के जिन चैत्यालयों की पूजा की। तत्पश्चात् अच्युत स्वर्ग की जिन प्रतिमाओ की पूजा करता हुआ वह आयु के अन्त में वहीं सावधान चित्त होकर चैत्य वृक्ष के नीचे बैठ गया तथा वही निर्भय हो हाथ जोड़कर उच्च स्वर से नमस्कार मन्त्र का ठीक-ठीक उच्चारण करता हुआ अदृश्यता को प्राप्त हो गया[५]। उसकी प्राणप्रिया स्वयंप्रभा भी अपने वियोग के शेष दिन धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करते करते चल बसी।

चतुर्थभव—राजा वज्रजंघ—

ललिताङ्ग देव स्वर्ग से चलकर विदेह क्षेत्र स्थित उत्पलखेट नगर मे राजा वज्रबाहु के वज्रजघ नाम का पुत्र हुआ। और ललिताङ्ग देव की प्रियपत्नी स्वयप्रभा वज्रजंघ के मामा की लड़की श्रीमती हुई। दोनों ही जैसे ललिताङ्ग की पर्याय में सुन्दर इस भव में भी वैसे ही सुन्दर थे। दोनों के हृदय में पूर्व जन्म का प्रेम सागर अपरिचितता के बाध में बँधा था परन्तु श्रीमती को जैसे ही एक दिन आकाश में जाते हुए विद्याधरों को देखकर अपने पूर्वभव के पति की स्मृति जागी; प्रेमसागर अपनी

---

१. महापुराण पर्व ५।२०३–२०९

२. वही ४।१५९, ६०, ६५, ६९ से ९८

३. वही ५।१९७–२०१, २२०, २२६, २३०, २४१–२४८

४. वही ५।२६७, २८३

५. वही ६।२, २३ से २५

उत्ताल तरंगों से उद्वेलित हो ! पुत्री की विह्वल अवस्था एवं करुणाजनक स्थिति का अवधिज्ञान से परिज्ञान कर उसे समझाया। पण्डिताधाय ने श्रीमती के पूर्वभव का परिचायक चित्रपट लेकर जिन चैत्यालय में जाकर वज्रजंघ का पता लगा लिया और चित्रपट देख कर वज्रजंघ भी अपने पूर्वभव का स्मरण कर अत्यन्त प्रेम विह्वल हो गया। अन्ततोगत्वा दो बिछुड़े प्रेमी हृदयों का मिलन हो गया। श्रीमती के पिता चक्रवर्ती वज्रदन्त ने वज्रजंघ के पिता वज्रबाहु द्वारा अपने पुत्र के लिए कन्यारत्न (श्रीमती) की याचना का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शुभ मुहूर्त में दोनों का विवाह हो गया। विवाह के अनन्तर दोनों का गृहस्थ जीवन भोगोपभोग मे व्यतीत होता था परन्तु धर्म को भी उन्होंने सदा निवाहा। भगवान की पूजा तथा दान उनके सत्कर्म थे। दमधर तथा सागरसेन नाम के दो मुनिराजों को पुण्डरीकिणी नगरी की यात्रा के समय मार्ग मे आहार दान देकर उन्होने अपने जन्म को सफल माना था१।

पांचवां भव—उत्तर कुरु में आर्य—

इस पात्र दान के प्रभाव से आगे चलकर वह उत्तर कुरु मे आर्य हुए। एक चारण ऋद्धिधारी मुनि (जो कि महाबल की पर्याय में उनके स्वयंबुद्ध नामक मन्त्री थे) वहां आये और उन्होने अपने पूर्वभव का परिचय देते हुए उन्हें सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश दिया।

सम्यक्दर्शन का स्वरूप बतलाते हुए मुनिराज ने कहा—"वीतराग सर्वज्ञदेव, आप्तोपज्ञ आगम और जीवादि पदार्थों का बड़ी निष्ठा से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है२। जीवादि सात तत्वों का तीन मूढता रहित आठ अंग सहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग् दर्शन कहलाता है३। इसलिए हे आर्य ! पदार्थ के ठीक-ठीक स्वरूप का दर्शन करने वाले सम्यग्दर्शन को ही तू धर्म का सर्वस्व समझ। उस सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो चुकने पर संसार में ऐसा कोई सुख नहीं रहता जो जीवों को प्राप्त नहीं होता हो। यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी है, नरकादि दुर्गतियों के द्वार को रोकने वाले मजबूत किवाड़ हैं, धर्मरूपी वृक्ष की स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्ष रूपी घर का द्वार है और शीलरूपी रत्नहार के मध्य में लगा हुआ श्रेष्ठ रत्न है४।"

सम्यग्दर्शन के विषय में मुनिराज के दिव्योपदेश से प्रभावित होकर इस दम्पति-आर्य तथा आर्या ने सम्यग्दर्शन को धारण किया।

छठाभव—श्रीधर देव—

जीवन में संगृहीत सम्यग्दर्शन की पूंजी ने अन्त समय तक अक्षय निधि का काम दिया। इसी से वह आगामी भव में श्रीधर देव हुए। आगामी काल मे तीर्थङ्कर होने वाले इस श्रीधर देव ने अनेक विध स्वर्गीय सुखों का उपभोग किया५। एक दिन अवधिज्ञान से श्रीप्रभ पर्वत पर अपने गुरु प्रीतिङ्कर मुनिराज का आगमन जानकर वहां जाकर उनकी पूजा की। अपने प्रश्न के उत्तर में अपने दुष्कर्मी मन्त्रियों का नरक निगोद मे जीवन यापन ज्ञातकर धर्म और अधर्म के अन्तर को श्रीधर देव की आत्मा सोचने लगी। मुनिराज ने नरक तथा निगोद के भयानक दुःखों का वर्णन करते हुए धर्म का महत्व बतलाया। "धर्म ही दुःखो से रक्षा करता है, सुख को विस्तृत करता है और कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले मोक्ष सुख को देता है। इसी से चक्रवर्ती, गणधर, तीर्थङ्कर तथा सिद्ध पद प्राप्त होता है। धर्म ही जीवों का बन्धु, मित्र तथा गुरु है। इसलिए हे देव ! स्वर्ग और मोक्ष के देने वाले धर्म में ही अपना मन लगा६।" आचार्य श्री के धर्मोपदेश से श्रीधर देव अतिशय धर्म प्रेम को प्राप्त हुआ। अपने इस धर्म लाभ से उसने अपने महाबल काल के मिथ्यात्वी मन्त्री-शतबुद्धि को नरक में जाकर समझाया। सम्यक्त्व ग्रहण कराया जिससे वह वहा से निकल कर चक्रवर्ती का राजपुत्र हुआ तदनन्तर पुनः श्रीधर के उपदेश से दैगम्बर दीक्षा ग्रहण कर तपश्चर्या के प्रभाव से स्वर्ग में ब्रह्मेन्द्र हुआ७।

---

१. महापुराण पर्व ६ से ८ तक।
२-३. वही ९।१२१–१२२।
४. महापुराण पर्व ९।१२९ से १३२।
५. वही ९।१९५
६. वही १०।१०७–१०९
७. वही १०।११०–११८

सातवां भव–राजा सुविधि—

श्रीधर देव स्वर्ग से च्युत होकर पूर्व विदेह क्षेत्र स्थित सुसीमानगर के राजा का पुत्र सुविधि हुआ। शरीर मे सुन्दर सुविधि धर्म के आन्तरिक सौन्दर्य से भी अलंकृत था। बड़े होने पर जितेन्द्रिय राजकुमार सुविधि ने यौवन के प्रारम्भ समय में ही आन्तरिक शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य पर विजय प्राप्त कर ली थी। अपने मामा अभय घोष चक्रवर्ती की सुपुत्री मनोरमा के साथ विवाह कर गृहस्थ धर्मका परिपालन किया। इन्ही सद्गृहस्थ के घर श्रीमती के जीव-स्वयंप्रभ देव ने स्वर्ग से च्युत होकर केशव नामक पुत्र के रूप मे जन्म लिया। वज्रजघ पर्याय मे जो प्राणप्यारी स्त्री थी वही अब पुत्र था! पुत्र के व्यामोह से गृह त्याग तो नही कर सका परन्तु श्रावक के उत्कृष्ट पद मे स्थित रह कर कठिन तप तपता रहा। गृहस्थो के बारह व्रत पालते हुए राजर्षि सुविधि ने चिरकाल तक श्रेष्ठ मोक्षमार्ग की उपासना की। तदनन्तर जीवन के अन्त मे परिग्रह रहित दिगम्बर दीक्षा धारण कर उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की आराधना कर समाधि मरण पूर्वक शरीर छोड़ा जिससे अच्युत स्वर्ग मे इन्द्र हुआ१।

आठवां भव–अच्युतेन्द्र—

अत्यन्त सुन्दर तथा श्रेष्ठ शरीर को धारण करने वाला यह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्ग मे उत्पन्न भोगों को भोगता रहा। इसकी दिव्य विभूतियां—देवाङ्गनाएं, अप्सराएं तथा विविध सेनाएं उसके पूर्वोपार्जित पुण्य के परिणाम स्वरूप थी२। चिरकाल तक भोगे जाने वाले भोगो का भी अवसान आ गया, अच्युतेन्द्र की आयु की समाप्ति सूचक कल्पवृक्ष कुसमों की माला मुरझा गई! परन्तु धैर्यशाली अच्युतेन्द्र को अन्य साधारण देवों की तरह कोई दुःख नहीं हुआ। उसने अपनी शेष आयु भगवद्भक्ति, जिनेन्द्र पूजा आदि शुभ कर्मों को प्रधानता देते हुए व्यतीत की३।

नवमां भव–सम्राट् वज्रनाभि—

स्वर्ग से चय कर अच्युतेन्द्र अपने अन्तिम धार्मिक सस्कारों के कारण पूर्व विदेह क्षेत्र स्थित पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा के घर वज्रनाभि नाम का पुत्र हुआ। बड़े होने पर सौन्दर्यशाली राजकुमार ने शास्त्र रूपी सम्पत्ति का अच्छी तरह अध्ययन किया था इसलिए काम ज्वर का प्रकोप बढ़ाने वाले यौवन के प्रारम्भ समय मे भी उसे मद उत्पन्न नहीं हुआ था। धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाली, महान् फलों को देने वाली, लक्ष्मी का आकर्षण करने में समर्थ राजविद्याओं को पढने के कारण वह लक्ष्मी तथा सरस्वती का सङ्गम स्थल तो था ही राज्याभिषेक के समय से इन दोनों सखियों के साथ राजलक्ष्मी का सस्नेह मिलन स्थल भी वह हो गया। राज्य करते, प्रजा का न्याय नीति से पालन करते एक ओर उसके मन को जीत लिया था तो दूसरी ओर चक्ररत्न से समस्त पृथ्वी को जीत लिया था।

चिरकाल के बाद बुद्धिमान तथा विशाल अभ्युदय के धारक चक्रवर्ती वज्रनाभि ने शिवलक्ष्मी प्रदायक रत्नत्रय को—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप निधि को—अपने पिता तीर्थङ्कर वज्रसेन से पैतृक सम्पत्ति—राज्यलक्ष्मी की तरह प्राप्त किया और उन्ही के चरणों में उसे जीर्ण तृणवत् त्याग भी दिया! जिन हाथों ने—"तू बड़ा भारी चक्रवर्ती हो" यह आशीर्वाद देते हुए शिर पर राजमुकुट बाधा था वही हाथ दीक्षा के समय वह राजमुकुट ही नही शिर के बाल उखाड फेंकने (केश लुञ्चन करने) तक का सकेत कर रहे थे। सम्राट् और तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती और तपस्वी का यही तो अन्तर था।

महाव्रत, समिति, गुप्ति और सम्यक्त्व के धारक, उत्कृष्ट तपस्वी, धीर वीर प्रशम मूर्ति, शुद्धात्मतत्त्व के चिन्तक वज्रनाभि मुनिराज ने अपने पिता तीर्थङ्कर वज्रसेन के निकट तीर्थङ्कर पद प्राप्ति मे सहायक कारण—सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया४।

"परिग्रह पोट उतार सब लीनों चारित पन्थ।
निज स्वभाव में थिर भये वज्रनाभि निर्ग्रन्थ॥"

---

१. महापुराण पर्व १०।१२१,२२,४१,४३,४५,५६,६८ से ७० तक।
२. महापुराण पर्व १०।
३. वही ११।२-६
४. वही ११।८, ६, ३४, ५८, ६१, १२, ६८।

सोलह कारण भावनाओं का चिरकाल तक चिन्तवन करने के अनन्तर तीर्थङ्कर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया। उग्र तपश्चरण द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं का विनाश करते हुए वज्रनाभि मुनिराज ने सिद्धपद की प्राप्ति की कामना से धर्मध्यान में लवलीन होकर पृथकत्व वितर्क नामक शुक्लध्यान को पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए। अन्त में उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान मे प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए१।

दसवां भव—अहमिन्द्र—

पूर्वोपार्जित पुण्य, धर्म के प्रभाव से सर्वार्थ सिद्धि विमान में दोष, धातु और मल के स्पर्श से रहित सुन्दर लक्षणों से युक्त, पूर्ण यौवन को प्राप्त, स्वभाव से ही सर्वाङ्ग सुन्दर अहमिन्द्र अमृत पिण्ड के द्वारा ही बनाया सा, चांदनी से घिरे पूर्ण चन्द्रमा सा, गंगा तट के बालू के ढेर पर बैठे तरुण राजहंस सा, उदयाचल पर स्थित सूर्योदय सा अथवा स्वर्गलोक के एक शिखामणि सा साक्षात् धवल पुण्यराशि के समान शोभायमान हुआ था।

भगवद्भक्ति, जिनेन्द्र पूजा, तत्वचर्चा और जिनेन्द्र-गुण स्तवन, चिन्तवन उसकी दिनचर्या के प्रमुख अंग को स्वर्गीय भोगोपभोग की समस्त सामग्री उसके समक्ष झाड कर फेंक जाने वाले कूड़ा के ढेर के समान तुच्छ थी। इसलिए अहमिन्द्र होते पर भी अहमिन्द्र पने का अभिमान उसे नहीं था२।

चिरकाल तक वास्तविक सुख भोगने के अनन्तर अपने सर्वार्थसिद्धि विमान मे रहने की आयु पूर्ण करने पर अहमिन्द्र स्वर्गलोक से पृथ्वी तल पर अवतार लेने के सन्मुख हुआ३।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार विदेह क्षेत्र स्थित प्रतिष्ठित नगर में प्रथम भव मे ऋषभदेव का जीवधर सेठ था। नदियों के आश्रय समुद्र की तरह वह धन तथा यश का आश्रय चन्द्रमा की शीतल सुखद चादनी की तरह उसके द्रव्य का सदुपयोग सार्वजनीन सुख के लिए था। धन सेठ रूपी पर्वत से सदाचार रूपी नदी बहती थी। जो सारी पृथ्वी को पवित्र करती थी। वह सब के लिए सेव्य था। उसमें यश रूपी वृक्ष के उदारता गम्भीरता और धीरज रूपी उत्तम बीज को समृद्धि का साकार पुञ्ज, धनी, गुणी और यशस्वी सेठ के नौकर भी उसकी उदारता से धनी थे४। गांव के लोग तथा धर्मघोष आचार्य के साथ उसकी वसन्तपुर की यात्रा उसकी सहृदयता का परिचायक है। इसी यात्रा में धर्मघोष आचार्य आदि मुनि संघ की सेवा के उपलक्ष्य में उन्हें मोक्ष वृक्ष के बीज के समान सम्यक्त्व प्राप्त हुआ५।

श्रीधर्म घोष आचार्य ने धर्मोपदेश देते हुए सेठ से कहा—"धर्म उत्कृष्ट मंगल है, स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है। और संसार रूपी वन को पार करने में रास्ता दिखाने वाला है। धर्म माता की तरह पोषण करता है, पिता की तरह रक्षा करता है, मित्र की तरह प्रसन्न करता है, बन्धु की तरह स्नेह रखता है। गुरु की तरह उजले गुणों मे ऊंची जगह चढ़ाता है और स्वामी की तरह बात प्रतिष्ठित बनाता है। धर्म सुखों का बड़ा महत्व है, शत्रुओं के संकट में कवच है सरदी से पैदा हुई जड़ता को मिटाने में धूप है, और पाप के मर्म को जानने वाला है। धर्म से जीव राजा बनता है। बलदेव होता है, अर्द्धचक्री (वासुदेव) होता है, चक्रवर्ती होता है। देव और इन्द्र होता है, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान (नामके स्वर्गो) मे अहमिन्द्र होता है और धर्म से ही तीर्थङ्कर होता है६।

धर्म परायण सम्यक्त्वी धन सेठ का जीव दूसरे भव में मुनि को दान देने के प्रभाव से उत्तर कुरु क्षेत्र में युगलिया रूप मे जन्मा। वहा कल्पवृक्षों से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति के कारण सदा सुख ही सुख रहता है। इसलिए धनसेठ का जीव स्वर्ग की तरह विषय सुख का अनुभव करने लगा।

युगलिया की आयु पूर्ण कर धनसेठ का जीव पूर्वभव के दान के फल से सौधर्म देवलोक में देवता हुआ*।

---

१. महापुराण पर्व ११।७६,८२,८४,११०,१११
२. वही १२३ से १३२, १३४ से १४३।
३. वही १२।१

४. त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित पर्व १, सर्ग १।३५-४४।
५. ,, ,, ,, सर्ग १।१४३।
६. ,, ,, ,, सर्ग १।१४६-१५१।
* त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित पर्व १, सर्ग १।२२६, २३७, २३८।

इसके बाद महाबल के भव से श्रीधर देव पर्यन्त भवावली दिगम्बर परम्परा के अनुसार है। जीवानन्द वैद्य की पर्याय में भी ऋषभदेव का वर्णन बड़ा हृदयग्राही है। विदेह क्षेत्र स्थित क्षिति-प्रतिष्ठित नगर में सुविधि वैद्य के पुत्र के रूप में जीवानन्द अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता था। हाथियों में जैसे ऐरावत और नवग्रहों में जैसे सूरज अग्रणी (मुख्य) होता है वैसे ही सभी वैद्यों में वह ज्ञानवान् और निर्दोष विद्याओं का जानने वाला अग्रणी हुआ। उसे एक दिन एक कोढ़ी साधु का पता लगा जिसकी बड़ी प्रयत्न से चिकित्सा की२। अपने अन्य मित्रों के साथ मेरु शिखर के समान एक जिन मन्दिर बनवाया३। समय आने पर जब वैराग्य हुआ तब अन्य मित्रों के साथ जिन दीक्षा ले ली४। मोह राजा के चार सेनांगों के समान चार कषायों को उन्होंने क्षमादिक शास्त्रों से जीता। फिर उन्होंने द्रव्य से और भाव से सलेखना करके कर्मरूपी पर्वत का नाश करने में वज्र के समान अनशन व्रत ग्रहण किया। और अन्त मे पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करते हुए अपने शरीर का त्याग किया५।

इसके अनन्तर शेष भवावलि दिगम्बर परम्परा के अनुसार है। प्रारम्भ से अन्त तक सख्या की विषमता के कारण दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा स्वीकृत भवावलि में क्रम की भी विषमता है। जैसे दिगम्बर परम्परा में स्वीकृत २, ३, ४, ५, ६, ८, ९ तथा १०वां भव श्वेताम्बर परम्परा मे ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२वा भव है। इस क्रम के अनुसार दिगम्बर परम्परा में वर्णित ऋषभदेव का सातवां भव–राजा सुविधि, श्वेताम्बर परम्परा में नोवाभव–सुविधि वैद्य के पुत्र जीवानन्द का भव है।

इस प्रकार दोनों अनुश्रुतियों में स्वीकृत भगवान ऋषभदेव के पूर्वभव उनकी उन पर्यायों के परिचायक हैं जहां उन्होंने इस तीर्थङ्कर पर्याय के मूल कारण सम्यक्त्व के बीज को बोया है।

श्रीमद्भागवत् पुराण६ के अनुसार तो भगवान् विष्णु ही स्वयं ऋषभ रूप में अवतरित हुए थे। यही विष्णुपुराण७ भी कहता है। तथा शिवपुराण८ के अनुसार शिव जी ने अपना ९वा ऋषभावतार ग्रहण किया था। इस प्रकार जैन तथा वैदिक अनुश्रुतियों के अनुसार ऋषभ देव की सभी पूर्व पर्यायें प्रशस्त थीं।

भरत की भवावलि

ऋषभ देव के ज्येष्ठ सुपुत्र भरत चक्रवर्ती के पूर्वभवों का वर्णन उन्ही के भाई वृषभसेन गणधर ने किया है। उनके कथनानुसार वह पहले भव में अतिगृद्ध नामक राजा, दूसरे भव मे नारकी, तीसरे भव में शार्दूल, चतुर्थ भव में दिवाकर प्रेमदेव, पञ्चम भव में मतिवर, छठवें भव में अहमिन्द्र, सातवें भव में सुबाहु, आठवें भव में अहमिन्द्र और नौवें भव में छह खण्ड पृथ्वी के अखण्ड पालन कर्ता भरत चक्रवर्ती हुए९।

ऋषभदेव की भवावलि में ऐसा कोई भव नहीं जहां भरत की भवावलि की तरह अतिगृद्ध राजा और नारकी का भव भी उन्हें भोगना पडा हो!

पूर्व विदेह क्षेत्र स्थित प्रभाकरी नामक नगरी के राजा के रूप में अतिगृद्ध अत्यन्त विषयी और बहु परिग्रही था। इसी कारण उसे अगले भव में नारकी के दुःखों को भोगना पड़ा। प्रभाकरी नगरी के समीप एक पर्वत पर बहुत सा धन गाड रखा था जिसमे मोह के कारण नरक से निकल कर उसी पर्वत पर व्याघ्र हुआ। परन्तु व्याघ्र होने पर भी उसे एक आत्म कल्याण का अवसर मिला। पिहितास्रव मुनि के दर्शन से उसे अपने दुःखद पूर्व जन्मों का स्मरण हो उठा जिससे वह तुरन्त ही शान्त हो

---

१. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित पर्व १, सर्ग १।७१९, ७२९, ७३०।
२. वही पर्व १, सर्ग १।७३४–७७७।
३. वही पर्व १, सर्ग १।८७९।
४. वही पर्व १ सर्ग १।७८१।
५. वही पर्व १, सर्ग १।७८६–७८८।

६. श्रीमद्भागवत स्कध ५ अ० ३।
७. विष्णुपुराण स्कध २ अ० १।२७।
८. शिवपुराण शतरुद्र सहिता अ० ४।४७।
९. महापुराण पर्व ४७।३६३–६४।

गया और परिग्रह तथा कषाय को त्याग कर समाधि मरण धारण कर लिया। अठारह दिन तक निराहार रह कर विषय कषायों पर विजय प्राप्त करके, शरीर से भी ममत्व छोड़कर समाधि मरण पूर्वक शरीर छोड़ा और द्वितीय स्वर्ग में दिवाकर नाम का देव हुआ। जो कभी नारकी था—नरकों के असीम दुखों का भाजन था वही स्वर्ग में देव था—स्वर्गीय सुखों का स्वामी था। अधर्म और धर्म में, पाप और पुण्य में यही तो प्राकृतिक अन्तर है।

बस यहीं से अभ्युत्थान प्रारम्भ हुआ और कानन का केशरी नरकेशरी-चक्रवर्ती भरत बना !

ऋषभदेव की वज्रनाभि पर्याय में भरत का जीव उनका (वज्रनाभि का) सगा भाई (सुबाहु) था ! उस समय इनके पिता राजा वज्रसेन चक्रवर्ती थे, तीर्थङ्कर थे ! ऐसा लगता है कि ऋषभ देव की सतत विरागी प्रवृत्ति के कारण उन्हें अपने पिता से तीसरे भव मे तीर्थङ्कर और अतिगृद्ध्र राजा की परिग्रही अभिलाषा के कारण भरत को अपने पिता से चक्रवर्तित्व पद पाने का शुभाशीष सा साकार हुआ था ! वज्रनाभि तथा उनके भाई सुबाहु आगामी भव में भी सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र के रूपमें साथ-साथ रहे ! और आगे चल कर एक पिता बना तो दूसरा उसी का पुत्र ! वज्रनाभि सर्वार्थसिद्धि से चयकर नाभिराय कुलकर के घर ऋषभदेव हुए और उनका भाई सुबाहु सर्वार्थसिद्धि से चयकर उन्हीं ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत हुए।

वैदिक अनुश्रुतियों के अनुसार भरत की दो उत्तर पर्यायों का भी वर्णन मिलता है।

(१) अपने पुत्र को राज्य देकर जब वह पुलहाश्रम मे रहते थे तब एक मातृ वियोगी मृग शिशु को उन्होंने पुत्रवत् पाला और उससे राग हो जाने के कारण उन्हें हरिण-मृग की पर्याय लेनी पड़ी।

(२) इस पर्याय से शरीर छोड़ने के बाद उन्हें ब्राह्मण के घर जन्म लेना पड़ा तब उन्हें मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति हुई।

उक्त भवावलि के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पिता पुत्रके उन पूर्वभवों की घटनाओं में उनके चरित्र किस प्रकार उन्नति की ओर अग्रसर होते रहे हैं।

एक उपदेशी पद

कविवर द्यानतराम

भाई जानो पुद्गल न्यारा रे ॥
क्षीर नीर जड़ चेतन जानो, धातु पखान विचारा रे।
जीव करम को एक जानतो, भाख्यो श्री गणधारा रे।
इस संसार दुःख सागर में, तोहि भ्रमावन हारा रे।
ग्यारह अंग पढ़े सब पूरब, भेद ज्ञान न चितारा रे।
कहा भयो सुवटा की नाईं, राम रूप न निहारा रे।
भवि उपदेश मुकति पहुँचाये, आप रहे संसारा रे।
ज्यों मलाह पर पार उतारें, आप वार का वारा रे।
जिनके वचन ज्ञान परगासें, हिरदें मोह अपारा रे।
ज्यों मसालची और दिखावें, आप जात अंधियारा रे।
बात सुनें पातक मन नासें, अपना मल न झारा रे।
बांदी पर पद मलमल धोवें, अपनी सुध न संभारा रे।
ताको कहा इलाज कीजिये, बूड़ा अम्बुधि धारा रे।
जाप जप्यो बहु ताप तप्यो, पर कारज एक न सारा रे।
तेरे घट अन्तर चिन्मूरति, चेतन पद उजियारा रे।
ताहि लखे तासों बनि आवें, 'द्यानत' लहि भव पारा रे ॥

रामचरित का एक तुलनात्मक अध्ययन

मुनि श्री विद्यानन्द

[मुनिश्री विद्यानन्द जी अपना पर्याप्त समय ध्यान और अध्ययन में व्यतीत करते हैं। आपको नवीन और खोजपूर्ण प्रकाशित पुस्तकों के अध्ययन करने की बड़ी अभिलाषा रहती है। अध्ययन करते समय उसमें से उपयोगी और महत्व की बातों को नोट कर लेते हैं। प्रस्तुत लेख मुनिजी के रामायण सम्बन्धी विशेष अध्ययन के परिणाम स्वरूप राम का जो तुलनात्मक लेख लिया गया है वह पठनीय है। अभी आप ऋषभदेव के सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान कर रहे हैं और साथ ही श्रमण, व्रात्य और दूसरे ऐतिहासिक शब्दों के प्राचीन स्रोतों के सम्बन्ध में भी विचार कर रहे हैं। —सम्पादक]

१ श्रीरामचन्द्र जी का मंगलस्मरण भारतीय आर्य जनता का प्राण है। श्री राम कोटि कोटि भारतीयों के उपास्य हैं। वह मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उत्तम श्लोक कह कर उनका स्मरण किया जाता है क्योंकि उनकी कीर्ति उत्तम है। 'पउम चरिउ' के रचयिता कवि विमलसूरि और रविषेणाचार्य एवं स्वयम्भूने श्रीरामकथा को भगवान् महावीर द्वारा इन्द्रभूति आचार्य (गणधर) को उपदेश की हुई बताया है। इन्द्रभूति ने सुधर्माचार्य को, सुधर्माचार्य ने प्रभव को और प्रभव ने कीर्तिधर को परम्परा से श्रीराम कथा प्रदान की है१।

लोक में पुराण तथा काव्यकारों ने इसी परम्परा प्राप्त कथानक को ग्रहण कर अपनी कीर्तिलता को पुष्पित—पल्लवित किया है। पद्मपुराणकार रविषेणाचार्य ने कहा है कि गुणावली की अनन्तता के पात्र, उदार चेष्टावान् श्रीरामचन्द्र के सुन्दर चरित का वर्णन केवल श्रुतकेवली ही कर सकते हैं२। आचार्य ने विज्ञान की वृद्धि, निर्मल यशः प्राप्ति और पाप नाश ये तीन फल महापुरुषों के यशःकथन से समुत्पन्न निरूपित किये हैं३।

तुलसीदास कहते हैं कि श्रीरघुनाथ का चरित अपार विभूतिमय है और मेरी बुद्धि संसारमें आसक्त (सामान्य) है४। महर्षि वाल्मीकि ने रामचरित का विस्तार शतकोटि श्लोक—परिमाण बताया है जिसका एक-एक अक्षर महान् पातकों का विनाशक है५। अध्यात्म रामायण में ब्रह्माजी ने नारद मुनि को बताया है कि श्रीराम के माहात्म्य को समग्र रूप से वर्णित नहीं किया जा सकता। इसलिए स्वल्प रूप में ही मैं तुम्हें यह पावन रामचरित्र सुनाऊंगा। इसे जानकर तत्क्षण ही लोक को चित्तशुद्धि प्राप्त होती है६। वैष्णवों की आम्नाय परम्परागत सूक्ति है कि 'श्रीरामपादाम्बुजदीर्घनौका' ही अपार भवार्णव से पार करने में सक्षम है। श्रीरामचन्द्रजी का चरित अज्ञात इतिहास युग से अद्यावधि परः सहस्र कवियों, आचार्यों और महर्षियों ने स्वस्वप्रतिभानु रूप लिखा है। 'राम नाम को कल्पतरु कलि कल्याण निवास'—रामनाम कल्पवृक्ष

---

१. (क) 'वड्ढमाण मुहकुहरविणिग्गय। रामकहाणए एह कमागय। पच्छउं इंदभूइ आयरियं। पुणु धम्मेण गुणालंकारिएं। पुणु रविसेणायरिय पसाएं। बुद्धिए अवगाहिय कइराएं।' —पउमचरिउ १।४१-४२.

(ख) 'वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम्। इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं धारीणीभवम्। प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनूत्तरवाग्मिनम्। लिखितं तस्य सम्प्राप्य खेर्यत्नोऽयमुद्गतः॥' पद्मपुराण प्रथमपर्व ४१-४२

२. 'अनन्तगुणगेहस्य तस्योदारविचेष्टिनः। गदितुं चरितं शक्तः केवलं श्रुतकेवली।' —१।१७

३. 'वृद्धि व्रजति विज्ञानं यशश्चरति निर्मलम्। प्रयाति दुरितं दूरं महापुरुषकीर्तनात्।' —१।२४

४. 'कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मम बुद्धि निरत संसारा।' —रामचरितमानस, बाल० ११।५

५. 'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।'—वा० रामा०

६. तत् ते किंचित् प्रवक्ष्यामि कृत्स्नं वक्तुं न शक्यते। यज्ज्ञात्वा तत्क्षणाल्लोकश्चित्तशुद्धिमवाप्नुयात्॥' अध्यात्म रामायण माहात्म्य, ४७

है। कलियुग में यह कल्याण का निवास स्थान है—यह भक्तकवि सन्त तुलसीदास की सूक्ति है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्रादेशिक और प्राचीन—अर्वाचीन हिन्दी भाषा में व्यापक रूपेण श्रीराम कथा को प्रश्रय प्राप्त हुआ है। तुलसीदासजी के समक्ष 'रामचरित मानस' लिखते समय लोक में प्रचलित विविध राम—काव्य थे, जिन्हें लक्ष्य कर उन्होंने 'नानापुराण निगमागम सम्मत यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि'— तथा 'जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषां जिन्ह हरिचरित बखाने। भये जे अहहिं जे होहिहहिं आगे। प्रनऊ सबहिं कपट सब त्यागे।' इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण तथा विनय गर्भित सूक्तियां लिखी हैं। आधुनिक कवियों में मैथिलीशरणजी गुप्त ने 'साकेत' महाकाव्य में लिखा है—

'राम! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।'
—साकेत, प्र० सर्ग.

वस्तुतः गुप्तजी की उक्ति प्रतिशयोक्ति नहीं है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनके नामकारण के लिए यथोचित शब्द नहीं मिलते और कुछ ऐसे होते हैं जिनके 'सहस्रनाम' लिखने पर भी अतिरिक्त नाम लोक जिह्वाओं पर निर्मित होते रहते हैं। एक में नाम समाते नही, एक नाम मे समाता नहीं। महापुरुषों के चरित उन्हे एक से अधिक नाम प्रदान करते रहते हैं। अनन्तगुण विभूषित को ही 'बुद्धवीर जिन हरिहर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो। भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी मे लीन रहो।' इस प्रकार की नानाभिधान रत्नावली से अभिहित किया जाता है। नाम उनकी गरिमा के एक देश को प्रशस्ति तो दे सकते हैं किन्तु सीमा नही हो सकते। वे उनके विशेषण तो बन सकते हैं, विरामचिह्न नहीं।

२. श्रीरामचन्द्र अयोध्या नरेश 'दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र' हैं। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उनके लघु भ्राता हैं। कौसल्या को श्रीराम की माता होने का गौरव प्राप्त है तथापि श्रीराम की विनय भक्ति अपनी विमाताओं के साथ भी अपूर्व है। वनवास से लौटने पर उन्होंने जब कैकेयी की चरण वन्दना की, उस समय वाल्मीकि महर्षि ने कैकेयी के लिए 'यशस्विनी'[१] शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में श्रीरामचरित की समीक्षा की जाए तो उसका लोकोत्तर वैभव उनकी वन यात्रा में निहित है। उनके वन गमन से भरत का भ्रातृ प्रेम, लक्ष्मण की भक्ति सीता की एकनिष्ठ पतिव्रता सिद्धि, दुर्जय रावण का पतन, श्रीराम का अद्भुत पराक्रम—सभी प्रकरण यशस्वी करने के कारण बनते हैं। इस कष्ट परम्परा ने यशः पुष्पों की माला श्रीराम के कण्ठ मे पहनाई, यह चिरसुखद परिणाम कैकेयी प्रदत्त है।

३. श्रीराम का जीवन चरित कठिनाइयों, संघर्षों और धीरता-वीरता की अनुपम गाथा है। वह लोकविश्रुत इक्ष्वाकु कुल के मुकुट मणि हैं। अपने चरित से उन्होंने सम्पूर्ण पूर्वापर पीढ़ियों को कीर्तिकलश प्रदान किये हैं। परन्तु इन सब के लिए उन्हें जीवन पर्यन्त शर शय्या पर बिछौना लगाना पड़ा। जिस समय उनके राज्याभिषेक की योजना चल रही थी, कोने में खड़ा हुआ अदृष्ट (भाग्य) मुसकुरा रहा था। अत प्रात काल ही राज्यासन के स्थान पर उन्हें घोर वन स्थान देखना पडा[२]। मुकुट, छत्र, चामर बल्कल और जटा मे बदल गये। पतिपरायणा सीता ने साथ चलने का हठ किया। श्रीराम के निषेध किये जाने पर उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड दिया। उन्होंने कहा कि पति का अनुगमन करना नारी का धर्म है और मैं अपने धर्म का त्याग नहीं कर सकती। क्योंकि समुद्र में, अरण्य में, शत्रु समूह मे, विषम स्थितियो में धर्म ही सखा है[३]। अत. यदि आप मुझे स्वेच्छा से नहीं ले चलेंगे तो मै आपके आगे आगे कुश कण्टकों को

---

१. 'रामो मातरमासाद्य विवर्णां शोककर्शिताम्।
जग्राह प्रणतः पादौ मनो मातुः प्रहर्षयन्॥
अभिवाद्य सुमित्रां च कैकेयीं च यशस्विनीम्।
स मातृश्चततः सर्वाः पुरोहित मुपागमत्॥'
—वा० रामा० युद्ध० ७३।३३-३४।

२. 'प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती,
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी।'—

३. 'रुद्दे समुद्दे विसमे अरण्णे जले थले सत्तुसमूहमज्झे।
कहं चि जीवा पडिया यजंति लंघति धम्मेतिह याव पाव॥'
—सीयाचरियं

बुहारती हुई—आपका पथ प्रशस्त करती हुई चलूंगी१। परन्तु श्रीराम सुख-दुख मे सम भाव रखने वाले महासत्व हैं। राज्याभिषेक समाचार से उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई और वनगमन से विषाद नहीं हुआ। श्रीतुलसीदास ने लिखा है—ऐसा समता भाव रखने वाली श्रीराम की निश्चयनिष्ठा मुझे मगल प्रदान करे२।

४. श्रीलक्ष्मण सर्वत्र रामचन्द्रजी के अनुगामी हैं। श्रीराम के बिना उनकी स्थिति पानी से पृथक् किये हुए मत्स्य के समान है। वह रात्रिदिन अनिद्रायोग साधकर श्रीराम सीता के प्रहरी होकर चतुर्दश वर्ष पर्यन्त अनिमीलित वीरासन से बैठे रहे। अपने सम्पूर्ण वनवास समय मे वह मेघनाद का शक्ति बाण लगने के समय मूर्छित होने पर ही अल्प समय निद्राधीन से हुए अन्यथा अहर्निश जागते रहे। वन जाते समय लक्ष्मण की माता ने कहा था कि हे पुत्र ! तुम श्रीराम को दशरथ के समान, सीता को मेरे समान, वनभूमि को अयोध्या समझ कर सुख पूर्वक अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुगमन करो। और रात दिन सेवा करते हुए लक्ष्मण ने श्रीराम सीता को पर्णकुटी बना कर दी, फल मूल दिये, नदियों का स्वच्छ जल पात्र में भर कर लाये और धनुर्वाण लेकर जब श्रीराम-सीता सोये हुए होते, वीरासन लगाकर पहरा दिया—सेवकधर्म को मनोयोग से निबाहा।

५. श्रीराम का लक्ष्मण पर अत्यधिक स्नेह था। जब लक्ष्मण मेघनाद के शक्तिबाण से पीड़ित होकर मूर्छित हो गये तब वह शोक से व्याकुल होकर कहने लगे। स्त्रियां सर्वत्र मिल जाती हैं, मित्र स्थान-स्थान पर प्राप्त हो जाते है किन्तु वह स्थान ससार मे कही नहीं, जहां खोया हुआ सहोदर भाई मिल सकता हो। 'मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता'३—

६. मेघनाद भीम पराक्रमी था। उसने लक्ष्मण को वक्षःस्थल पर शक्तिबाण मारा था। लक्ष्मण के चौड़े वक्ष पर उसका छाला पड़ गया था। वन से वापस आने पर जब माता ने उस छाले के विषय में पूछा तो यह जानकर उन्हें बहुत कष्ट हुआ कि शक्तिबाण से मेरा पुत्र मूर्छित हो गया था परन्तु लक्ष्मण ने कुछ और ही कहा। वह बोले४—हे माता ! मैं तो इस विषय में बहुत स्वल्प जानता हूँ। विशेष तो श्रीराम जानते हैं। क्योंकि वेदना तो उन्हें ही हुई, मुझे तो यह व्रणमात्र हुआ है।' इन शब्दों में जो विश्वास, भक्ति तथा निष्ठा है, वह अपूर्व है।

७. भगवान् श्रीराम कृतज्ञशिरोमणि हैं। हनुमान् के उपकारों का स्मरण कर पुलकित हो उठते हैं। हे कपे ! तुम्हारे एक-एक उपकार के विनिमय में मैं अपने प्राण ही भेंट कर सकता हूँ। इस पर भी तुम्हारे उपकार मुझ पर शेष रह जायेंगे। मैं चाहता हूँ कि यह ऋण मुझ पर बना रहे। क्योंकि विपत्तियों में ही उपकार को लौटाया जा सकता है। तुम पर कभी विपत्ति न आए।

८. लक्ष्मण सीता को माता-समान मानते हैं। उनकी दृष्टि सदा जानकी के चरणों तक सीमित है। जब श्रीराम उन्हें सीता द्वारा फेंके हुए आभूषणों का परिचय पूछते हैं तो यह सत्य सामने आता है। लक्ष्मण कहते हैं हे राम ! मैं सीता के बाहुओं के आभूषण नहीं जानता, मैं उनके कुण्डलों को भी नहीं पहचान सकता। मैं तो चरणों के नूपुरों को जानता हूँ जो नित्य प्रणाम के समय मुझे दिखाई देते थे६। शील और विनय का कितना उज्ज्वल उदाहरण है। ये आदर्श ही भारत की सांस्कृतिक निधि के रत्न हैं।

---

१. 'यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव !
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नती कुशकण्टकान् ॥'
—वा० रामा० २।११।६

२. 'प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य सा सदाऽस्तु मे मंजुलमंगलप्रदा।'
—तुलसी, रामचरित०

३. 'देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥'—वा० रामा.

४. 'ईषन्मात्रमहं वेद्मि विशेषं वेत्ति राघवः।
वेदना रामचन्द्रस्य केवलं व्रणिनो वयम् ॥'

५. 'एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे !
शेषस्येहोपकारस्य भवाम ऋणिनो वयम् ॥
मदंगे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे !
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥'
वा० रामायण

६. 'नाहं जानामि केयूरे नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥'
—वा० रामायण

९. रावण विजय के पश्चात् जब भगवती सीता के प्रथम दर्शन होते हैं तब लक्ष्मण दौड़ कर उनके चरण स्पर्श करते हैं। विनय से शिर नवाकर सम्मुख खड़े हो जाते हैं। सीता उस इन्द्र समान रूपगुण सम्पन्न पुत्रस्नेह के अधिकारी देवर को देखती है और आलिंगन करती है। उस समय उनकी आंखो मे आंसू छलछला उठते हैं१।

१०. सीता ने रावण के बन्धनगृह में ११ दिन अन्न-जल ग्रहण नही किया। हनुमान् द्वारा पति के कुशल समाचार जानने पर ही पारणा की। पद्मपुराण मे वर्णन है कि उन्होंने दिवा भोजन लिया, रात्रि भोजन प्रशंसनीय नहीं माना२।

११. जिस प्रकार श्रीराम का जीवन अनेक कष्ट परम्पराओ की शृंखला है वैसे ही सीता को भी अनेक संकटो की अग्नि से निकलना पड़ा है। अयोध्या की राज वधू होकर वह वन मे गई, वहां रावण से हरी गई पति से वियुक्त होकर क्रूर-घोर राक्षसियो के बीच रहना पड़ा। रावण-वध के पश्चात् श्रीराम ने उन्हें अग्नि-परीक्षा के लिए कहा। अग्नि-परीक्षा के पश्चात् भी लोक-निन्दा की पात्र बनी। पुनः सगर्भा का श्रीराम ने परित्याग कर दिया और वन मे अनेक कष्ट उठाने पड़े। अत्यन्त गरिमामयी, मगलमयी महाकुलीन देवी को कितना कष्ट सहन करना पडा। सीता के इस अपराजित धैर्य की विरुदावली वर्णन करते हुए रविषेणाचार्य लिखते हैं—'अहो! पतिपरायणा सीता का धैर्य अनुपम है। इसका गाम्भीर्य क्षोभरहित है, अहो! इसके शीलव्रत की मनोज्ञता श्लाघनीय है। व्रत-पालन में निष्कम्पता प्रशंसनीय है। इसका मानसिक-आत्मिक बल उच्च कोटि का है। इस सुचरित्रा ने कभी मनसे भी रावण को नहीं चाहा३।'

१२. सती का धैर्य रावण के बन्धन में ही दिखाई दिया हो, ऐसी बात नहीं है। यह धैर्य उनकी अक्षुण्ण सम्पत्ति है। सेनापति कृतान्तवक्त्र जब सीता को घोर वन में छोड़ देता है तब भी वह श्रीराम पर किसी प्रकार का आरोप नहीं लगाती। क्योंकि 'स्वामीच्छा प्रतिकूलत्व कुलजानां कुतो भवेत्'—कुलीन स्त्रियों में पति के विरुद्ध भावना का उदय होता ही नही। 'एक हि धर्म, एक व्रत नेमा, कायवचन मन पतिपद प्रेमा' यह उनका स्वभाव होता है। उस समय सीता को धर्म रक्षा का ही स्मरण रहा। कृतान्तवक्त्र के साथ सन्देश भेजते हुए उन्होंने यही कहा—'हे महापुरुष! पिता के समान प्रजा का पालन करना। मेरे परित्याग का शोक न करना। संसार असार है, सम्यग्दर्शन ही सार है। अत. किसी अभव्य के दुर्वाद से मेरे समान उसे न छोड़ देना। मेरे ज्ञात-अज्ञात दोषो को क्षमा करना४।' घोर वन मे असहाय खड़ी होकर ऐसा शान्त, स्थिर वचन कोई देवी सदृश नारी हो कह सकती है। संसार के राग कारणों के वशीभूत स्त्रियों के मुख से निकलनेवाली शब्दावली तो आजकल प्राय. न्यायालयों में उपस्थित 'तलाक' चाहनेवालों की प्रार्थनाओ मे पढ़ी जा सकती है। परन्तु सीता सती ही नहीं, महासती हैं। पति के उत्कर्ष में सहयोग करना उनका धर्म है। वह सम्पत्ति और विपत्ति में अविचल एकरूप है। इसीलिए आज भी उनका नाम लेकर स्त्रिया आशीर्वाद प्रदान करती हैं। सती का धैर्य हिमालय होता है, वह अल्पताप से पिघल कर प्रवाह के साथ मिलना नही जानता।

१. 'सम्भ्रान्तो लक्ष्मणस्तावद् वैदेह्याश्चरणद्वयम्।
अभिवाद्य पुरस्तस्थौ विनयानतविग्रहः॥
पुरन्दरसमच्छायं दृष्ट्वा चक्रधरं तदा।
अस्राविलेक्षणा साध्वी जानकी परिषस्वजे॥'
—पद्मपुराण ७९।५८-५९

२. 'रविरश्मि कृतोद्योतं सुपवित्रं मनोहरम्।
पुण्यवर्धनमारोग्यं दिवाभुक्तं प्रशस्यते॥'
—पद्मपुराण ५३।१४१

३. अहो! निरुपमं धैर्यं सीताया साधुचेतसः।
अहो! गाम्भीर्यमक्षोभ महो! शीलमनोज्ञता
अहो! नु व्रतनैष्कम्प्यमहो! सत्वं समुन्नतम्
मनसापि ययानेष्टो रावणः शुद्धवृत्तया॥'
पद्मपुराण ७९।५६-५७

४. 'सदा रक्ष प्रजां सम्यक् पितेव न्यायवत्सलः।'
'भव्यास्तद् दर्शनं सम्यगाराधयितुमर्हसि।'
'न कथंचित् त्वया त्याज्यं नितान्तं तद्धि दुर्लभम।'
'मयाऽविनयमीशं! त्वं समस्तं क्षन्तुमर्हसि॥'
—पद्मपुराण ९७।१८, २०, २२, २३

१३. श्रीराम का चरित्र शिष्टपालन और अशिष्ट निग्रह के लिए आदर्शभूत है। रावण के साथ उनका युद्ध अशिष्टनिग्रह के लिए है। 'मरणान्तानि वैराणि' कोई महापुरुष ही कह सकता है। यदि राम पत्नीहरण को सहन कर लेते तो आर्यजाति के इतिहास की कलंकमषी को युग-युगान्तर भी प्रक्षालित नहीं कर पाते। श्रीराम ने आर्यों का मुख उन्नत कर दिया। 'विजयदशमी' पर्व मनाने का सौभाग्य प्रदान किया, यह पर्व राम के अद्भुत पराक्रम का स्मरण दिलाता है। साथ ही निर्देश करता है कि शत्रु चाहे कितना ही बलवान् हो, अपने अपमान का प्रतिशोध मानशील को लेना ही चाहिये। जो न्याय के पथ पर चलता है उसकी सहायता वानरभालू भी करते है और अन्याय के मार्ग पर चलनेवाले को सगे बन्धु भी छोड जाते है१। यही हेतु था कि रावण को विभीषण ने छोड़ दिया।

१४. श्रीराम सत्य ही राजशिरोमणि है, प्रजावत्सल हैं। 'राजा प्रकृतिरजनात्' राजा वह होता है जो प्रजा का रजन करे। श्रीराम इस नियम के परिपालक है। इसमें बाधा आनेपर वह परमसाध्वी सीता का तत्क्षण परित्याग कर देते है क्योंकि राजकुल की अकीर्ति-कालिमा प्रजा को लगती है। कीर्ति का प्रसार भले ही विलम्ब से हो परन्तु अयश का विस्तार सद्यः होता है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना देर से दिखाई देती है किन्तु कालिमा को लोग तुरन्त देख लेते है। श्रीराम ने लक्ष्मण को बताया कि 'सूखे ईन्धन के ढेर मे लगी हुई अग्निके समान यह अपयश प्रजा में व्याप्त नही हो, वैसा यत्न मैं करना चाहता हूँ।' क्योंकि जिसकी दिशाएं अकीर्ति वह्नि मे जल रही हैं उनका जीवन किस कामका? 'अर्जनीय यशोधनम्' यही मनस्वियों का जीवनव्रत होता है।

१५. श्रीराम का राज्य धर्मराज्य है। अधर्म के लिए वहां कोई स्थान नहीं। वाल्मीकि ने लिखा है कि 'राम राज्य में स्त्रियां विधवा नहीं होती थी, हिंसकों का भय प्रजा मे नहीं था, रोग से प्रजा मुक्त थी। किसीको अनर्थ स्पर्श नही करता था, वृद्धजन बालकों का प्रेतकाय नही करते थे। वृक्ष नित्यफल देते थे और पुष्पों से लदे रहते थे। समय पर वर्षा होती थीं, पवन का सुखस्पर्श संचार था, भीषण आंधियां नहीं चलती थी, लोग अपने-अपने धर्म मे प्रवृत्त हो और सन्तुष्ट रहते थे। मिथ्या भाषण नहीं करते थे और धर्मपरायण थे। आत्महत्या कोई नहीं करता था२।

१६. संसार में राज्यसंचालन के लिए दण्डव्यवस्था आवश्यक होती है। दण्ड लगाये बिना ध्वजाका वस्त्र भी स्फुरित नहीं होता। न्यायदण्ड भय से प्रजा नियम-संहिताओं का पालन करती है परन्तु धर्म शासन के बिना नियमों का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता। नियमों की रचना, न्याय का आधार धर्म होता है। जिस राष्ट्र से धर्म बहिष्कृत हो जाता है, वहां की श्रीसमृद्धि क्षीण होती जाती है। धर्म रक्षा से ही मानवता की भावना को जीवन मिलता है, मर्यादाओं की स्थापना होती है।

१७. 'रामो विग्रहवान् धर्मः' वाल्मीकि महर्षि ने श्रीराम को धर्म कहा है 'साक्षात् धर्म इवापरः' वह साक्षात् धर्म ही हैं। प्राचीन भारत मे स्तेति करने योग्य कोई है तो वह मर्म अथवा धर्मात्मा है। जब-जब उत्तम लेखकों ने उनकी प्रशंसा करने को गुणचयन किया है तो उनमे धर्म के दर्शन किये हैं।

१८. राम वीतराग हैं। वह योगवासिष्ठ मे कहते हैं—'मैं राम नामांकित कोई व्यक्ति नहीं। विषयों मे मेरा अनुराग नही। मैं तो शान्तभाव से आत्मरूप होकर अपनी आत्मा मे जिन भगवानके समान रहना चाहता हूँ३।'

---

१. 'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायताम्
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।'—

२. न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति।
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्॥
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्त्र पुष्पिताः।
कामवर्षी च पर्जन्य. सुखस्पर्शश्च मारुत.॥
सर्वे लक्षणसम्पन्ना. सर्वे धर्मपरायणाः—
(वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड ७५।२९-३५)

३. नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेष्वपि न मे मनः।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा॥'
—योगवाशिष्ठ १५।८

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक पर

षट्खण्डागम का प्रभाव

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

जैन सम्प्रदाय में तत्त्वार्थसूत्र एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह प्रमाण मे अल्प होने पर भी अर्थतः महान् है। उसका महत्त्व इसीसे जाना जाता है कि उसके ऊपर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायो मे अनेक विस्तृत टीकायें रची गई हैं। उन टीकाओं मे आ० पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि और अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक अतिशय प्रसिद्ध हैं। तत्त्वार्थसूत्र चूंकि मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त कराने के उद्देश से रचा गया है, अतएव उसमें मुक्ति में प्रयोजनीभूत जीवादि सात तत्त्व ही १० अध्यायों मे चर्चित हुए हैं। मूल सूत्रग्रन्थ के अनुसार उसपर लिखी गई उपर्युक्त दोनो टीकाओं मे भी मुख्यतया उन्हीं तत्त्वों का विस्तार के साथ विचार किया गया है। पर यथाप्रसग वहा अन्य विषयो की भी चर्चा की गई है। इन विषयों के विवरण मे वहां यथास्थान कुछ विषयों के स्पष्टीकरण के लिये भगवन्त पुष्पदन्त व भूतबलि विरचित षट्खण्डागम को आधार बनाया गया है।

उक्त षट्खण्डागम महाकर्म-प्रकृति-प्राभृत का उपसंहार है, यह सुप्रसिद्ध है। तदनुसार उसमें कर्म और उससे सम्बद्ध जीवों की ही प्ररूपणा की गई है। यद्यपि उसके ऊपर उपलब्ध आ. वीरसेन विरचित विशालकाय धवला टीका में यथाप्रसग अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का व्याख्यान किया गया है, पर मूल ग्रन्थ मे कर्म का ही प्रमुखता से वर्णन है।

सर्वार्थसिद्धि

तत्त्वार्थसूत्र में जो 'सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च'१ सूत्र (१-८) उपलब्ध है उसकी सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में जो सत् व संख्या आदि का विस्तृत विवेचन पाया जाता है उसका आधार प्रकृत षट्खण्डागम ही रहा है। इसके प्रथम खण्डभूत जीवस्थान मे उपर्युक्त सत्-संख्या आदि की प्ररूपणा पृथक्-पृथक् सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोगद्वारों के द्वारा विस्तार से की गई है। आ. पूज्यपाद ने इन्हीं अनुयोगद्वारों से लेकर अपनी सर्वार्थसिद्धि वृत्ति मे उक्त सत्-संख्या आदि का निरूपण किया है। यह वर्णन प्राय षट्खण्डागम के सूत्रों का छायानुवाद मात्र है। यथा—

१ सत्प्ररूपणा

षट्खण्डागम पु. १— सतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥८॥ ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ॥९॥ सासणसम्माइट्ठी ॥१०॥ इत्यादि।

सर्वार्थसिद्धि—तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा सामान्येन विशेषेण२ च। सामान्येन च अस्ति मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादि। पृ० ३१

षटखण्डागम मे वहां प्रत्येक गुणस्थान का उल्लेख पृथक्-पृथक् सूत्र के द्वारा (९ मे २३) किया गया है वहा

१. एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाण परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति ॥५॥ तं जहा ॥६॥ सतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। ष. ख पु. १ पृ. ५३-५५

यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि गुणस्थानो के लिए षट्खण्डागम मे जिस प्रकार 'जीवसमास' शब्द व्यवहृत हुआ है (सूत्र ५) उसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि मे भी उक्त गुणस्थानों के लिए 'जीवसमास' शब्द का ही उपयोग किया गया है। जैसे—

एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि। स. सि. (भा. ज्ञानपीठ) पृ. ३०

२. ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः, अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। धवला पु. १ पृ. १६०

सर्वार्थसिद्धिकार ने 'सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादि' कह कर संक्षेप से एक ही वाक्य में उनका उल्लेख कर दिया है।

ष. ख. पु. १—आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥२४॥ णेरइया च उट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥२५॥ तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असजदसम्माइट्ठी सजदासजदा त्ति ॥२६॥

स. सि पृ. ३१—विसेसेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति। तिर्यग्गतौ तान्येव सयतासयतस्थानाधिकानि।

२ द्रव्यप्रमाणानुगम

ष. खं. पु ३—दव्वपमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥ ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥२॥·········सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव सजदासजदा त्ति दव्वपमाणेण केवडिया ? पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागो।·········॥६॥ पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया ? कोडिपुधत्त ॥७॥ अप्पमत्तसजदा दव्वपमाणेण केवडिया ? सखेज्जा ॥८॥ चदुण्हमुवसामगा दव्वपमाणेण केवडिया ? पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कस्सेण चउवण्णं ॥९॥ अद्धं पडुच्च सखेज्जा ॥१०॥ चदुण्हं खवा अजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया ? पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कस्सेण अट्ठुत्तरसद ॥११॥ अद्ध पडुच्च सखेज्जा ॥१२॥ सजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया ? पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कस्सेण अट्ठुत्तरसद ॥१३॥ अद्ध पडुच्च सदसहस्सपुधत्तं ॥१४॥

स. सि. पृ. ३४—सख्याप्ररूपणोच्यते। सा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् जीवा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसयतसम्यग्दृष्टय. सयतासंयताश्च पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्तसयताः कोटिपृथक्त्वसंख्याः। पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा तिसृणां कोटीनामुपरि नवानामधः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। चत्वार उपशमका प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत्। स्वकालेन समुदिता संख्येयाः। चत्वारः क्षपका अयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेणाष्टोत्तरसख्याः। स्वकालेन समुदिता सख्येयाः। सयोगकेवलिनः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसहस्रपृथक्त्वसंख्या।

यहां षट्खण्डागम मे द्रव्यप्रमाण के साथ साथ क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा भी मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या निर्दिष्ट की गई है; परन्तु गणित की क्लिष्टता से सर्वार्थसिद्धिकार ने उसकी उपेक्षा की है। इसीलिए सूत्र ३, ४ और ५ का उपयोग सर्वार्थसिद्धि में नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम में जहां पृच्छा (प्रश्न)-पूर्वक सख्या का निर्देश हुआ है वहां सर्वार्थसिद्धि में पृच्छा न करके संक्षेप मे ही उस संख्या का उल्लेख किया गया है।

३ क्षेत्रानुगम

ष. खं. पु. ४—खेत्ताणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥ ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडिखेत्ते ? सव्वलोगे ॥२॥ सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडिखेत्ते ? लोगस्स असखेज्जदिभागे ॥३॥ सजोगिकेवली केवडिखेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभागे असखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा ॥४॥ आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असजदसम्माइट्ठि त्ति केवडिखेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभागे ॥५॥ एव सत्तसु पुढवीसु णेरइया ॥६॥

स. सि. पृ. ४१—क्षेत्रमुच्यते। तद्द्विविध सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टीनां सर्वलोकः। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागोऽसंख्येया भागाः सर्वलोको वा। विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभाग.।

द्रव्यप्रमाण के समान इस क्षेत्रप्रमाण में भी सर्वार्थसिद्धिकार ने पूर्व में पृच्छा को न उठाकर षट्खण्डागम के अनुसार प्रथमतः ओघ (सामान्य) से और तत्पश्चात्

आदेश (विशेष) की अपेक्षा क्रम से गत्यादि १४ मार्गणाओं का आश्रय लेकर उनमें यथासम्भव गुणस्थानों के अनुसार जीवों के क्षेत्र की प्ररूपणा की है।

४ स्पर्शनानुगम

सम्मामिच्छाइट्ठि-असजदसम्माइट्ठीहि केवडियं खेत्तं पोसिदं ? लोगस्स असखेज्जदिभागो ॥५॥ अट्ठ चोद्दस भागा वा देसूणा ॥६॥ ष. ख पु. ४ पृ. १६६

सम्यग्मिथ्यादृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ वा चतुर्दशभागा देशोनाः। स. सि. पृ. ४६.

५ कालानुगम

सासणसम्माइट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ ॥५॥ उक्कस्सेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो ॥६॥ एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ ॥७॥ उक्कस्सेण छ आवलियाओ ॥८॥

ष. ख. पु. ४ पृ. ३३०-४२.

सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षडावलिकाः। स. सि. पृ. ५५.

६ अन्तरानुगम

तिरिक्खगदीए तिरिक्खेसु मिच्छादिट्ठीणमतरं केवचिरं कालादो होदि ? णाणाजीव पडुच्च णत्थि अन्तर, णिरंतर ॥३५॥ एगजीव पडुच्च जहण्णेण अतोमुहुत्त ॥३६॥ उक्कस्सेण तिण्णि पलिदोवमाणि देसूणाणि ॥३७॥ सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव सजदासंजदा त्ति ओघं ॥३८॥ ष० ख० पु० ५ पृ० ३१–३३

तिर्यग्गतौ तिरश्चा मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टयादीना चतुर्णां सामान्योक्तमन्तरम्। स० सि० पृ० ६८

७ भावानुगम

असंजदसम्माइट्ठि त्ति को भावो ? उवसमिओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो ॥५॥ ष० ख० पु० ५ पृ० १९९

असंयतसम्यग्दृष्टिरिति औपशमिको वा क्षायिको वा क्षायोपशमिको वा भावः। स० सि० पृ० ८४–८५

८ अल्पबहुत्वानुगम

आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु सव्वत्थोवा सासणसम्माइट्ठी ॥२७॥ सम्मामिच्छादिट्ठी संखेज्जगुणा ॥२८॥ असंजदसम्मादिट्ठी असखेज्जगुणा ॥२९॥ मिच्छादिट्ठी असंखेज्जगुणा ॥३०॥ ष० खं० पु० ५ पृ० २६१–६२

विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकेषु सर्वतः स्तोका सासादनसम्यग्दृष्टयः। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा। मिथ्यादृष्टयो ऽसंख्येयगुणाः। स० सि० पृ० ८८

यहां सत्-सख्या आदि उन आठ अनुयोगद्वारों के कुछ थोड़ेसे उदाहरण दिये गये हैं। वैसे इस सूत्र (सत्-सख्या-क्षेत्र···॥८॥) की सर्वार्थसिद्धि मे की गई समस्त व्याख्या ही प्रायः षट्खण्डागम के सूत्रों के अनुवादरूप है।

इसी प्रकार त० सू० अध्याय २ के 'सम्यक्त्व-चारित्रे' सूत्र का व्याख्यान भी प्रायः षट्खण्डागम के सूत्रों का अनुवाद है[1]।

तत्त्वार्थवार्तिक

श्रीमद्-भट्टालंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक मे सर्वार्थसिद्धि के अधिकाश वाक्यों को प्रायः सर्वत्र वार्तिकों के रूप मे आत्मसात् किया गया है। आ० पूज्यपाद के समान आ० अकलकदेव के सामने भी षट्खण्डागम रहा है व उन्होने उसका पर्याप्त उपयोग भी प्रस्तुत ग्रंथ मे किया है। उदाहरण के रूप में त० सू० के द्वितीय अध्याय के 'सम्यक्त्व-चारित्रे' सूत्र की व्याख्या में जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विधान है वह षट्खण्डागम के जीवस्थान खण्ड की सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक आठवीं चूलिका के सूत्रों का अनुवाद जैसा है। यथा—

ष० खं० (पु० ६ पृ० २०३ आदि)—एवदिकालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्तं ण लहदि ॥१॥ एदेसिं चेव कम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लभदि ॥३॥ सो पुण पंचिंदियो सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ

---

१. इसकी समानता आगे तत्त्वार्थवार्तिक के उल्लेख में देखिए, कारण कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक का वह सन्दर्भ प्रायः शब्दशः समान है।

सव्वविसुद्धो ॥४॥ एदेसिं चेव कम्माणं जाधे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं ताधे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि ॥५॥

त० वा० १, पृ० १०४—उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति? अन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु, विशुद्धिपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। ××× स पुनर्भव्यः पचेन्द्रियः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति।

ष० ख० (पु० ६)—पढमसम्मत्तमुप्पादेंतो अंतोमुहुत्तमोहट्टेदि ॥६॥ ओहोट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णिभागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥ दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥ उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि? चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय-बियलिंदिएसु। पंचिदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि, णो उपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवासाउगेसु वि उवसामेदि असंखेज्जवासाउगेसु वि ॥९॥ पृ० २३०–२३८

त० वा० १, पृ० १०४-५—उत्पादयन्नसौ अन्तर्मुहूर्तमपवर्तयति, अपवर्त्य च मिथ्यात्वकर्म त्रिधा विभजते—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति। दर्शनमोहनीयं कर्मोपशमयन् क्वोपशमयति? चतसृषु गतिषु।

ऊपर षट्खण्डागम के सूत्र ९ में यह निर्देश किया गया है कि दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव उसे चारों ही गतियों में करता है। विशेष यह कि उसे पंचेन्द्रिय, संज्ञी, गर्भज और पर्याप्त होना चाहिए—एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, संमूर्छन जन्मवाला और अपर्याप्तक जीव उस दर्शनमोह के उपशान्त करने में समर्थ नहीं होता।

पर तत्त्वार्थवार्तिक में आगे 'चदुसु वि गदीसु उवसामेदि' इसका स्पष्टीकरण करते हुए क्रमशः नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति मे यथासम्भव उक्त पर्याप्त आदि अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। वहां प्रारम्भ में 'काललब्ध्यादिप्रत्यानपेक्ष्य तासां प्रकृतीनामुपशमो भवति' यह जो निर्देश किया था उसमें काललब्धि के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द से जातिस्मरणादि कारणों को ग्रहण करते हुए उनकी भी सम्भावना पृथक्-पृथक् नारकादि चारों ही गतियों में व्यक्त कर दी है[1]। यथा—

तत्र नारकाः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन्तः पर्याप्तकाः उत्पादयन्ति, नापर्याप्तकाः। पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि उत्पादयन्ति, नाधस्तात्। एवं सप्तसु पृथिवीषु। तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वमुपजनयन्ति—केचिज्जातिं स्मृत्वा, केचिद् धर्मं श्रुत्वा, केचिद् वेदनाभिभूताः। त० वा० १, पृ० १०५

किन्तु षट्खण्डागम में उनका स्पष्टीकरण गतिविशेष के अनुसार वहां न करके आगे नववीं चूलिका के प्रारम्भ में १ से ४२ सूत्रों द्वारा किया गया है। उन्हीं का यह उपर्युक्त छायानुवाद तत्त्वार्थवार्तिक में उपलब्ध होता है। यथा—

णेरइया मिच्छाइट्ठी पढमसम्मत्तमुप्पादेंति ॥१॥ उप्पादेंता कम्हि उप्पादेंति? ॥२॥ पज्जत्तएसु उप्पादेंति, णो अप्पज्जत्तएसु ॥३॥ पज्जत्तएसु उप्पादेंता अंतोमुहुत्तप्पहुडि जाव तप्पाओग्गंतोमुहुत्तं उवरिमुप्पादेंति, णो हेट्ठा ॥४॥ एवं सत्तसु पुढवीसु णेरइया ॥५॥ णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति? ॥६॥ तीहि कारणेहि पढमसम्ममुप्पादेंति ॥७॥ केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं वेदणाहिभूदा ॥८॥ ष० ख० पु० ६ पृ० ४१९–२२

त० सू० के सूत्र ३–६ की व्याख्या में तत्त्वार्थवार्तिककार ने, नारकी जीव नरकों में किस गुण-स्थान के साथ प्रवेश करते हैं व वहां से किस गुणस्थान के साथ निकलते हैं, इसकी प्ररूपणा की है (पृ० १६८)। वह भी षट्-

---

१ इन कारणों की प्ररूपणा सर्वार्थसिद्धि में भी सूत्र १, ७ की टीका में साधन का स्पष्टीकरण करते हुए ठीक इसी प्रकार से उन्हीं शब्दों में की गई है। (देखिए पृ० २६)

खण्डागम का शब्दशः अनुवाद है। यथा—

प्रथमायामुत्पद्यमाना नारकाः मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेनाधिगताः केचित् सम्यक्त्वेन निर्यान्ति। केचित् सम्यक्त्वेनाधिगताः सम्यक्त्वेनैव निर्यान्ति क्षायिकसम्यग्दृष्टयपेक्षया। द्वितीयादिषु पंचसु नारका मिथ्यात्वेनाधिगताः केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति।……इत्यादि।

इस सन्दर्भ का मिलान षट्खण्डागम (पु० ६, पृ० ४३७ आदि) के इन सूत्रों से कीजिए—

णेरइया मिच्छत्तेण अधिगदा केइं मिच्छत्तेण णींति ॥४४॥ केइं मिच्छत्तेण अधिगदा सासणसम्मत्तेण णींति ॥४५॥ केइं मिच्छत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण णींति ॥४६॥ सम्मत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण चेव णींति ॥४७॥ एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥४८॥ बिदियाए जाव छट्ठीए पुढवीए णेरइया मिच्छत्तेण अधिगदा केइं मिच्छत्तेण [णींति] ॥४९॥ इत्यादि।

उसके आगे इसी सूत्र की व्याख्या में तत्त्वार्थवार्तिक में जो नारकी जीवों की अन्य गति में जाने की प्ररूपणा की है (जैसे—षड्भ्य उपरिपृथिवीभ्यो नारका मिथ्यात्व-सासादनसम्यक्त्वाभ्यामुद्वर्तिता द्वे तिर्यङ्मनुष्यगती आयान्ति।……इत्यादि) वह षट्खण्डागम की प्रकृत चूलिका के ७६ से १०० (पु० ६ पृ० ४४६–५४) सूत्रों के अनुवादरूप है। जैसे—णेरइयमिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी णिरयादो उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति? ॥७६॥ दो गदीओ आगच्छंति तिरिक्खगदिं चेव मणुस्सगदिं चेव ॥७७॥……एवं छसु उवरिमासु पुढवीसु णेरइया ॥९२॥

तत्पश्चात् तत्त्वार्थवार्तिक में इसी सूत्र की व्याख्या में यह बतलाया है कि उन उन गतियों में आकर वे नारकी जीव किन किन गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। जैसे—

सप्तम्यां नारका मिथ्यादृष्टयो नरकेभ्य उद्वर्तिता एकामेव तिर्यग्गतिमायान्ति। तिर्यक्ष्वायाताः पंचेन्द्रिय-गर्भज-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुःषूत्पद्यन्ते, नेतरेषु। तत्र चोत्पन्नाः सर्वे मति-श्रुतावधि-सम्यक्त्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-संयमासंयमान् नोत्पादयन्ति। इत्यादि। पृ० १६८–६९।

यह कथन षट्खण्डागम की इसी चूलिका के सूत्र २०३–२२० का अनुसरण करता है। (पु० ६ पृ० ४८४ से ४९२)। जैसे—

अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति? ॥२०३॥ एक्कं चेव तिरिक्खगदिमागच्छंति ॥२०४॥ तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा छण्णो उप्पाएंति—आभिणिबोहियणाणं णो उप्पाएंति, सुदणाणं णो उप्पाएंति, ओहिणाणं णो उप्पाएंति, सम्मामिच्छत्तं णो उप्पाएंति, सम्मत्तं णो उप्पाएंति, संजमासंजमं णो उप्पाएंति ॥२०५॥

त० सू० ९–१ की व्याख्या में संवर तत्त्व का व्याख्यान करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि जिस जिस कर्म का जो कारण (आस्रव) है उसके अभाव में उस उस कर्म का संवर होता है। इसको और स्पष्ट करते हुए वहां मिथ्यात्व, अविरति (असंयम), प्रमाद, कषाय और योग के अभाव में जिन जिन कर्मों का संवर होता है उनका क्रम से नामनिर्देश किया गया है। इस कथन का आधार षट्खण्डागम का तृतीय खण्ड बन्धस्वामित्वविचय रहा है। यथा—

तद्यथा—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ-स्त्रीवेद-तिर्यगायुस्तिर्यग्गति-चतुःसंस्थान-चतुःसंहनन-तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताप्रशस्त-विहायोगति-दुर्भग-दुःस्वरानादेय-नीचैर्गोत्रसंज्ञकानां पंचविंशतिप्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिकषायोदयकृतासंयम-प्रधानास्रवाणां एकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्टयन्ता बन्धकाः। तदभावे तासामुत्तरत्र संवरः। त० वा० पृ० ५९०

इसका मिलान षट्खण्डागम के इन दो सूत्रों से कीजिए—

णिद्दाणिद्दा-पयलापयला-थीणगिद्धि-अणंताणुबंधिकोह-माण-माया-लोभ-इत्थिवेद-तिरिक्खाउ-तिरिक्खगइ-चउसंठाण-चउसंघडण-तिरिक्खगइपाओग्गाणुपुव्वि-उज्जोव-अप्पसत्थविहायगइ-दुभग-दुस्सर-अणादेज्ज-णीचागोदाणं को बंधो[1] को अबंधो? ॥७॥ मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी बंधा। एदे बंधा, अवसेसा अबंधा ॥८॥ ष० ख० पु० ८ पृ० ३०–३१।

---

१. बंधो बंधगो त्ति भणिदं होदि। धवला पु० ८ पृ० ७।

त० सू० में चूंकि कर्मबन्ध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग निर्दिष्ट किये गये हैं (सूत्र ८–१), अतएव उसकी टीका में वार्तिककार ने आस्रवनिरोधस्वरूप संवर का उसी क्रम से उल्लेख किया है। परन्तु कर्मप्रधान षट्खण्डागम में ज्ञानावरणादि के क्रम से उनके साथ बंधनेवाली अन्यान्य प्रकृतियों का उसी क्रम से उल्लेख किया गया है१।

इसी प्रकार सूत्र ६–७ की व्याख्या में तत्त्वार्थवार्तिककार के द्वारा जो मार्गणास्थान और गुणस्थानों की चर्चा की गई है उसके आधार भी षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा आदि अनुयोगद्वार रहे हैं२।

षट्खण्डागम-सत्प्ररूपणा का नामोल्लेख

तत्त्वार्थवार्तिक सूत्र २,१२,४-५ के व्याख्यान में शंकाकार के द्वारा स्थावर जीवों के स्थानशील माने जाने पर वायुकायिक और तेजस्कायिक जीवों के अस्थावरत्व का प्रसंग प्राप्त होता था। इस पर शंकाकार ने जब उसे अभीष्ट मानने की आशंका की तब उत्तर में तत्त्वार्थवार्तिककार ने उसकी आगमार्थविषयक अज्ञानता प्रगट करते हुए परमागम के रूप में षट्खण्डागम—जीवस्थान के सत्प्ररूपणादि ८ अनुयोगद्वारों में प्रथम सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार का स्वयं नामोल्लेख भी किया है। (त० वा० १ पृ० १२७)।

एवं हि समयोऽवस्थितः, सत्प्ररूपणायां कायानुवादे—त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिनः।

यह सूत्र षट्खण्डागम की सत्प्ररूपणा (पु० १ पृ० २७५) में इस प्रकार है—

तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥४४॥

दूसरा उल्लेख सूत्र २–४६ (पृ० १५३ पंक्ति २५-२७) में शंकाकार के मुख से इस प्रकार कराया गया है—

आह चोदकः—जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम् "औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देव-नारकाणाम् उक्तः", इह तिर्यङ्मनुष्याणामपीत्युच्यते; तदिदमार्षविरुद्धमिति।

उक्त सूत्र षट्खण्डागम—जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा में इस प्रकार पाया जाता है—

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणुस्साणं ॥५७॥ वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देव-णेरइयाणं ॥ पु० १ पृ० २९५–९६।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद के समान श्रीमद् भट्टाकलंक देव ने भी अपनी अपनी व्याख्या में षट्खण्डागम के अनेक प्रकरणों का यथास्थान आश्रय लिया है।

१. देखिये षट्खण्डागम पु० ८ सूत्र ५, ७, ९, ११, १३, १५ आदि।

२. इसका कुछ निर्देश श्री पं० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य ने अनेकान्त वर्ष ८ किरण २ में "संजद पद के सम्बन्ध में अकलंकदेव का महत्त्वपूर्ण अभिमत" शीर्षक में भी किया है।

क्या तुम महान् बनना चाहते हो?

क्या तू महान् बनना चाहता है। यदि हाँ, तो अपनी आशा लताओं पर नियन्त्रण रख, उन्हे वे लगाम अश्व के समान आगे न बढ़ने दे। मानव की महत्ता इच्छाओं के दमन में है, गुलाम बनने में नहीं। एक दिन आयेगा, जब तेरी इच्छाएँ ही तेरी मृत्यु का कारण बनेंगी। हम सबको अपने हाथ की पाँचों अंगुलियों की तरह रहना चाहिए, हाथ की अगुलियां सब एकसी नही होती, कोई छोटी, कोई बडी, किन्तु जब हम हाथ से किसी वस्तु को उठाते हैं तब हमें पांचों ही अंगुलियां इकट्ठी होकर सहयोग देती हैं।

—विनोबा

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द जैन शास्त्री

साहु टोडर के तीन पुत्रों का ऊपर नामोल्लेख किया गया है१। उनमें प्रथम पुत्र ऋषभदास अपने पिता के समान ही धर्मनिष्ठ, जिनवाणी भक्त और गुणी था। साहु टोडर ने आगरा में एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसका उल्लेख कविवर भगवतीदास अग्रवाल (१६५१ से १७००) ने अपनी वि० सं० १६५१ सन् १५६४ मे रची जाने वाली 'अर्गलपुर जिनवन्दना' नाम की कृति में किया है२। इससे स्पष्ट है कि साहु टोडर ने उक्त मन्दिर सं० १६५१ से पूर्व ही बनाया था। उनके उस मन्दिर में उस समय आत्म-साधिका हमीरी बाई नाम की एक ब्रह्मचारिणी रहती थी, जिसका तपश्चरण से शरीर क्षीण हो रहा था और जो सम्मेदशिखर की यात्रा करके वापिस आई थी।

मथुरा के ५१४ स्तूपों की जीर्णोद्धार कार्य—

एक समय साहु टोडर सिद्ध-क्षेत्र की यात्रा करने मथुरा गए थे। वहां उन्होंने मध्य मे बना हुआ जम्बू स्वामी का स्तूप देखा, और उसके चरणों मे विद्युच्चर मुनि का स्तूप भी देखा। तथा आस-पास बने हुए अन्य साधुओं के स्तूप भी देखे, जिनकी संख्या कहीं पांच कही आठ, कही दश और कहीं २० थी। साहु टोडर ने उनकी जीर्ण-शीर्ण दशा देखी, जिससे उन्हें बहुत दुख हुआ और तत्काल ही उनके समुद्धार की भावना बलवती हो उठी। फलतः उन्होंने शुभ दिन, शुभ लग्न में उनके समुद्धार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। साहु टोडर ने इस पुनीत कार्य में बहुत भारी धन व्यय किया। और ५०१ स्तूपों का एक समूह और तेरह स्तूपों का दूसरा। इस तरह कुल ५१४ स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के पास ही १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। इनकी प्रतिष्ठा का कार्य वि० सं० १६३० (ई० सन् १५७३) में द्वादशी बुधवार के दिन प्रात. ६ घड़ी व्यतीत होने पर सूरि मन्त्र पूर्वक किया३। उस समय साहु टोडर ने वहां चतुर्विध संघ को आमन्त्रि किया था। और सभी ने साहु टोडर को शुभाशीर्वाद दिया था। तथा संवत् १६३२ में कवि राजमल जी से जंबू स्वामिचरित की रचना करवाई थी और भी अन्वेषण करने पर साहु टोडर के धार्मिक कार्यों का परिचय मिल सकता है।

साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र रिषीदास या ऋषभदास भी अपने पिता के समान ही राजमान्य तथा धर्म कर्म में निरत था। उसकी जिनवाणी पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने अपने पढ़ने या सुनने के लिए ज्ञानार्णव की सस्कृत टीका तात्कालिक विद्वान प० नयविलास से बनवाई थी। पं० नयविलास जी संस्कृत के सुयोग्य विद्वान थे, और आगरा में ही रहते थे। उस समय आगरा में अनेक विद्वान, भट्टारक और श्रेष्ठिजनों का आवास था, जो निरन्तर अपने धर्म का अनुष्ठान करते हुए जीवन-यापन करते थे। उस समय आगरा में ४८ जैन मन्दिर थे जिनमें श्रावकगण धर्म का अनुष्ठान करते थे।

पांडे राजमल ने साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र ऋषभदास के लिए ऋषभोल्लास ग्रंथ४ के निर्माण करने का विचार

---

१. देखो, जंबूस्वामिचरित ७३ से ७७ श्लोक पृ० ६, राजा

२. टोडरसाहु करायो जिनहर रहइ हमीरी बाई हो,
तपलंकृत वपु अतिकृश काया जात शिखरि कर आई हो।
जात शिखरि करि आई वातिका तिहिं थल पूजकराई,
वंदो देव जिनेश जगतपति मस्तकु मेइणि लाई ॥
—देखो, जैन संदेश शोधांक भा० २३ पृ० १६१

३. शताना पंच चापैकं शुद्धं चाधि त्रयोदश।
स्तूपानां तत्समीपे च द्वादश कारिकादिकम् ॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात्।
शुद्धैस्त्रिश·········साधिकं दधति स्फुटम् ॥
—जंबू स्वामिचरित ११८, ११६ पृ० १३

४. देखो, अनेकान्त वर्ष १४ किरण ३–४ पृ० ११३

किया था; किन्तु उनके दिवंगत हो जाने से वह कार्य पूर्ण न हो सका। और उसे पुन: पञ्चाध्यायी के नाम से रचने का उपक्रम किया; किन्तु वे उसेभी पूर्ण नहीं कर सके और मध्य में ही काल कवलित हो गये। साहु टोडर ने जैन संस्कृति के लिए जो कुछ किया वह अनुकरणीय है। इस तरह साहु टोडर और उनके परिवार में जैनधर्म की आस्था के साथ जैन संस्कृति का प्रचार होता रहा। उन्होंने जैन संस्कृति के लिए शक्तिभर योगदान दिया। और जिस तरह से भी बना जैन संस्कृति के उद्धार में अपने कर्तव्य का विवेक के साथ पालन किया। ऋषभ दास के बाद उनके अन्य भाइयों द्वारा होने वाले कार्यों का कोई लेखा-जोखा नहीं मिलता, जिससे उस पर कुछ प्रकाश डाला जा सके।

विक्रम की १५वीं १६वीं शताब्दी में अग्रवालों द्वारा जैन संस्कृति के प्रसार में क्या कुछ योगदान हुआ उसका कुछ संकेत इस प्रकार है :—

अग्रवालों ने मन्दिर और मूर्ति निर्माण आदि द्वारा जहां जिन देव की भक्ति को प्रोत्साहन दिया वहां श्रुत-भक्तिवश जिनवाणी के प्रसार के लिए अनेक ग्रन्थों का निर्माण भी कराया और अनेक ग्रन्थ प्रतिलिपि करवा कर जैन मन्दिरों, भट्टारकों, विद्वानों और मुनियों को भेंट किये। अकेले कवि रइधू ने अग्रवाल श्रेष्ठिजनों से प्रेरित होकर १०-१५ ग्रंथों की रचना की है। अन्य जैसवाल या गोलालारीय जाति के प्रेरणास्वरूप रचे गये ग्रन्थ इनसे भिन्न हैं। उनके नाम इस प्रकार है :— सम्मइ जिनचरिउ, सुकौशल चरिउ, पासणाह चरिउ, बलहद्द चरिउ, मेहेसर चरिउ, सम्मत्त गुणनिधान रिट्ठणेमि चरिउ, जसहर चरिउ, सिद्धान्तार्थसार, वित्तसार पुण्णासव कहाकोस और सिरीपाल चरिउ ये सब ग्रन्थ अप-भ्रंश भाषा में रचे गये हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ निर्मापक अग्रवाल श्रावकों का परिचय नीचे दिया जाता है :—

हिसार निवासी अग्रवाल कुलावतंश गोयल गोत्रीय साहु सहजपाल के पुत्र और संघाधिप साहु सहदेव के लघु भ्राता साहु तोसउ की प्रेरणा से कवि ने 'सम्मइ जिनचरिउ' ग्रन्थ, जिसमें जैनियों के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर का जीवन-अंकित है, बनाया है। इस ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्ति में साहु तोसउ के वंश का विस्तृत परिचय कराया गया है। जिसमें उनके परिवार द्वारा सम्पन्न होने वाले धार्मिक कार्यों का भी परिचय कराय गया है।

इस वंश में पूर्व प्रख्यात साहु नरपति के पुत्र वोल्हा साहु थे, जो पापरहित और जिनधर्म के धारक थे, जिनका दिल्ली के बादशाह फीरोजशाह तुगलक ने सम्मान किया था१। उनके पुत्र थे, बाधूसाहु और उनके दिवराज। इस तरह इस वंश में अनेक महापुरुष हुए। उनमें जाल्हे साहु हुए, उनके दो युगल पुत्र हुए, प्रथम पुत्र सहजपाल और दूसरा तेजू या तेजा। सहजपाल की पत्नी का नाम झामेही था। सहजपाल ने व्यापार में प्रचुर द्रव्य अर्जन किया, उसने जिननाथकी प्रतिष्ठा कराई और दानादि कार्यों में उसका यथायोग्य विनिमय किया। उसके छ: पुत्र थे— सहदेव, छीतमु, खेमद, डाला, थील्हा और तोसउ। सहदेव की तीन पत्नी थीं, धामाही, जिनदासही, कुमारपालही। उसके तीन पुत्र थे अमल, वच्छराज, और साभूणा। दूसरे पुत्र छीतम के भी छह पुत्र थे—वीरदेव, हेमाह या हेमचन्द, लउदिउ, रूपा या रूपचन्द और जाला। रूपा ने गिरनार की यात्रा के लिए सघ निकाला और उसका सब भार वहन किया। थील्हा साहु के तीन पुत्र हुए—पहू-राज, हरिराज और जगसीह। और तोसउ के दो पुत्र थे खेल्हा और गुणसेण। खेल्हा का विवाह कुरुक्षेत्र के जैन धर्मानुरागी सेठिया वंश के श्री सहजासाहु के पुत्र तेजा साहु की जालपा नामक पत्नी से उत्पन्न खीमी नाम की पुत्री से हुआ था। उसके कोई सन्तान न थी अतएव उन्होंने अपने भाई के पुत्र को गोद ले लिया था और गृहस्थी का सब भार उसे सौंप कर मुनि यशः कीर्ति के पास अणुव्रत धारण कर लिए१।

---

१. सम्माणिउ जो पेरोजसाहि, तुहगुण को वण्णणि सक्कु आहि। —सम्मइ जिनचरिउ प्रशस्ति

२. कवि रइधू परिचय के लिए देखो जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भाग २ पृ० १०३।

३. सहजा साहहिं पमुह जि रवण्णु,
भायर चउक्क जुउ पुणु वि अण्णु।

खेल्हा धर्मनिष्ठ, दान-पूजादि गृही षट्कर्मों का संचालक, और देव-शास्त्र गुरु का भक्त था। सम्पत्तिशाली होते हुए खेल्हा आत्म-साधना का इच्छुक था खेल्हा ने अपनी चित्तवृत्ति वैराग्य और ज्ञान की प्रतिष्ठा करते हुए ग्यारह प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक बन गया तब उसने ग्वालियर में चन्द्रप्रभु की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था१। उसे गृहस्थाश्रम में रस नहीं आता था। कई कारणों से वह घर रूपी कारागृह से अपना उद्धार करना चाहता था। यद्यपि माता-पितादि पारिवारकजनों से उसका कोई विरोध भी प्रतीत नहीं होता, वह तो आत्महित को सर्वोपरि मानता था, इसीलिए हिसार से ग्वालियर के तात्कालिक भट्टारको और विद्वानों के सनिध्य में रह कर आत्म-साधना के साथ जिनवाणी के उद्धार में अपना समय व्यतीत करता था। इसीलिए वह सांसारिक देह-भोगों से विरक्त श्रावक के द्वादशव्रतों का अनुष्ठायक और विमल चित्त का धारक था। ब्रह्मचारी खेल्हा ने तोसउ साहु के लिए 'सम्मइ जिनचरिउ' बनाने के लिए भट्टारक यशः कीर्ति से कवि रइधू को प्रेरित कराया था; क्योंकि वह समझता था कि संभव है कवि मेरी प्रार्थना स्वीकार न करें। अतः यशः कीर्ति से अनुमति दिलवाना उचित ही था, जिससे कवि को इंकार करने का अवसर ही न मिले। इन्हीं ब्रह्मचारी खेल्हा के अनुरोध से कवि ने 'णेमिणाहचरिउ' (हरिवंशपुराण) की रचना साहू आहा के पुत्र लोणा साहू के लिए कराई थी२।

साहू तोसउ की धार्मिक परिणति का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि साहू तोसउ जिन चरणों का भक्त, पचेन्द्रियों के भोगों से विरक्त, दान देने में तत्पर, पाप से शंकित-भयभीत और सदा तत्त्व चिन्तन में निरत रहता था। उसकी लक्ष्मी दुखीजनों के भरण-पोषण मे काम आती थी और वाणी श्रुत का अवधारण करती थी। मस्तक जिनेन्द्र को नमस्कार करने में प्रवृत्त होता था, वह शुभमती था, उसके सम्भाषण में कोई दोष न होता था, चित्त तत्त्वों के विचार में लीन था और दोनों हाथ जिन-पूजा-विधि से सन्तुष्ट रहते थे। जैसाकि सम्मइ जिन चरिउ की दूसरी तीसरी संधि के प्रारंभ के निम्न पद्यों से स्पष्ट है—

जो णिच्चं जिण-पाय-कंजभसलो जो णिच्च दाणे रदो।
जो पंचेंदिय-भोय-भाव-विरदो जो चिंतए संहिदो।
जो संसार-महोहि-पातन-भिदो जो पावदो संकिदो।
एसो णंदउ तोसडो गुण जुदो सत्तत्थ वेई चिरं ॥२
लच्छी जस्स दुही जणाण भरणे वाणी सुयं धारणे।
सीसं सन्नई कारणे सुभमई दोसं ण संभासणे।
चित्त तच्च-वियारणे करजुयं पूया-विहि सं ववं।
सोऽयं तोसउ साहु एत्थ धवलो सं णवओ भूयले ॥३॥

कवि रइधू ने साहू तोसउ के लिए सन्मति चरित्र की रचना ग्वालियर के तोमरवंशी राजा डूगरसिंह के राज्य-काल मे की थी। डूंगरसिंह का राज्यकाल वि० सं० १४८१ से १५१० तक रहा।

सिरिसेट्टि वंश उप्पण्णु धम्मु,
तेजा साहू जि णामें पसण्णु।
तहु पिय जालपहिय वण्णणीय,
परिवार-भत्त सीलेण सीय।
तहि गब्भ उवण्णा सुव सपुण्णि,
राजस पालु ठाकरु जि तिण्णि।
तुरिया वि पुत्तिजा पुण्णमुत्ति,
णिच्च जि विरइय जिणणाह-भत्ति।
खीमी णामा वरसील थत्ति,
को कह वण्णइं तहं गुणह कित्ति।
सा परिणिय तेण गुणायरेण, बहु काले जं ते सायरेण।
णियर भायर णंदण गुण णिउत्त,
मागेप्पिणु गिण्हिउ कमलवत्त।
हेमाणामें परिवार-भत्तु, तहो घरहो भार देप्पिणु विरत्तु
× × × ×
जस कित्ति मुणिंदहु णविवि पाय,
अणुवय धारिय ते विगय-माय।
जैन ग्रंथ प्रशस्ति स० पृ० ६९–७०

१. ससिपह जिणंदस्स पडिमा विसुद्धस्स,
काराविया मई जि गोवायले तुग।
—जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० पृ० ६३

२. देखो, हरिवंशपुराण प्रशस्ति वही पृ० ८८–८९

ग्वालियर निवासी अग्रवाल वंशी साहू आणा के पुत्र रणमल के लिए कवि रइधू ने राजा डूंगरसिंह के राज्य काल में संवत् १४९६ में चार संध्यात्मक सुकोशल चरित की रचना की।

साहू खेमचन्द योगिनीपुर (दिल्ली) के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र साण्डिल था। इनके पिता का नाम पजणसाहु और माता का नाम बील्हा देवी तथा धर्म पत्नी का नाम धनदेवी था। उससे चार पुत्र हुए थे—सहसराज, पहराज, रघुपति और होलिवम्म। इनमें सहसराज ने गिरनार की यात्रा का सघ चलाया था। साहू खेमचन्द सप्त व्यसन रहित और देव-शास्त्र-गुरु के भक्त थे। इनके अनुरोध से कवि ने पार्श्वनाथ चरित्र की रचना ग्वालियर नरेश डूंगर सिंह के राज्य-काल में स० १४८६ से पूर्व की है। क्योंकि सं० १४९६ में रचे जाने वाले सुकोशल चरित में पार्श्वनाथ चरित्र का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में उस समय के ग्वालियर की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए वहा के जैन समाज की धार्मिक और सामाजिक परिणति का मार्मिक विवेचन किया है। उससे ग्वालियर के तात्कालिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

बलहद्द चरिउ (राम लक्ष्मण चरित्र) ग्वालियर निवासी अग्रवाल वंशी साहु बाटू के सुपुत्र साहु हरसी के अनुरोध से बनाया था। साहु हरसी धर्मनिष्ठ, जिन-शासन के भक्त, और कषायों को क्षीण करनेवाले थे। आगम और पुराण ग्रन्थों के पठन-पाठन में समर्थ, जिन-पूजा और सुपात्रदान में तत्पर, तथा रात्रि और दिन में कायोत्सर्ग मे स्थित होकर आत्मध्यान द्वारा स्व-पर के भेदविज्ञान का अनुभव करनेवाले थे। तपश्चरण से उनका शरीर क्षीण हो गया था। आत्म-विकास करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। ग्रन्थ प्रशस्ति में साहु हरसी के परिवार का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस ग्रन्थ की रचना हरिवंश पुराण के बाद की गई है।

गोपाचलवासी अग्रवालकुलभूषण साहु खेमसिंह के सुपुत्र साहु कमलसिंह एक धर्मनिष्ठ उदार सज्जन थे। राज्य में आपकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजा डूंगरसिंह उनका बड़ा सम्मान करता था। उस समय जैन समाज में भी वे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे। उन्होंने वहां आदिनाथ भगवान की एक विशाल प्रतिमा का, जो ग्यारह हाथ ऊंची अत्यन्त मनोज्ञ एवं कलात्मक थी निर्माण कराया था। मूर्ति इतनी सुन्दर और चित्ताकर्षक थी कि दर्शकजन उसे देखते नहीं अघाते थे। उसके विमल दर्शन से चित्त प्रसन्न हो जाता था। उस सातिसयी मूर्ति का प्रतिष्ठामहोत्सव करने के लिये जब सेठ कमलसिंह ने राजा डूंगरसिंह से निवेदन किया तब राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा कि यह उत्तम कार्य अवश्य कीजिये। इस कार्य में तुम जो मांगोगे सो मैं दूंगा और राजा ने पान का बीड़ा देकर उनका सन्मान किया। पश्चात् उस मूर्ति का प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न हुआ और यह प्रतिष्ठा कार्य संवत् १४९२ से पूर्व होना चाहिये; क्योंकि उक्त संवत मे बने ग्रन्थ में उसका उल्लेख है और साहु कमलसिंह के अनुरोध से कवि रइधूने सम्यक्त्व गुणनिधान नाम का ग्रन्थ सवत् १४९२ मे बनाकर समाप्त किया था।

साहु खेमसिंह ने रइधू कवि से मेघेश्वर चरित्र (जय कुमार सुलोचना चरित) का निर्माण कराया था। ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्तियों में खेमसिंह के परिवार का विस्तृत परिचय अंकित है।

दिल्ली के अग्रवाल कुलभूषण साहू नेमिदास साहू तोसउ के चार पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे। बड़े ही धर्मात्मा उदार और श्रावकोचित षट्कर्मों का पालन करते थे। शास्त्र स्वाध्य, पात्रदान, दया और परोपकार आदि षट्-कार्यों में प्रवृत्ति करते थे। उनका चित्त समुदार था और लोक में उनकी धार्मिकता सुजनता का सहज ही आभास हो जाता है[1]। उन्होंने चन्दवाड् में व्यापार द्वारा अच्छा द्रव्य अर्जित किया था। और जिनेन्द्र भक्ति से प्रेरित हो

---

१. प्रतापरुद्र नृपराज विश्रुत-
स्त्रिकाल देवार्चन वंचिता शुभा,
जैनोक्त शास्त्रामृतापान शुद्धधीः
चिर क्षितौ नन्दतु नेमिदासः ॥३॥
सत्कवि गुणानुरागी श्रेयान्निव पात्रदान विधिदक्षः।
तोसउ कुल नभचन्द्रो नन्दतु नित्यमेव नेमिदासाख्यः ॥४
—पुण्यास्रव कथा कोष प्रशस्ति

उन्होंने विद्रुम (मूंगा) रत्नों और पाषाण आदि की अनेक जिन मूर्तियों का निर्माण कराया था और मन्दिर बनवा कर उसकी प्रतिष्ठादि का कार्य भी सम्पन्न किया था। यह चन्द्रवाड़ के चौहान वंशी राजा रामचन्द्र के पुत्र रुद्र प्रताप से सम्मानित थे१। संभवत: १४६८ में वहां रामचन्द्र राज्य कर रहे थे२। उसके बाद सं. १४७५ के आस-पास प्रतापरुद्र ने राज्यभार संभाला होगा। यह राजा प्रतापी और न्यायी था। इसके शासन मे प्रजा सुखी थी। चन्द्रवाड़ उस समय व्यापार का केन्द्र बना हुआ था। वहां का व्यापार यमुना नदी में बड़ी बड़ी नौकाओं द्वारा होता था, यातायात भी नौकाओं द्वारा होता था। उस समय नगर सम्पन्न और जन धन से परिपूर्ण था। सं० १५०६ की उसके राज्य की एक प्रतिष्ठित मूर्ति कुरावली के जैन मन्दिर में विराजमान है३। इसके पश्चात् उनका राज्य वहां और कब तक रहा यह अभी अन्वेषणीय है। साहू नेमिदास की प्रेरणा से कवि रइधू ने पुण्यास्रव कथाकोष की रचना की थी। ग्रंथ में सम्यक्त्व, देवपूजा, भक्ति और पुण्य को बढ़ाने वाली रोचक कथाएं दी हुई हैं। जिनसे सम्यक्त्व आदि की महत्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

विक्रम की १६वीं शताब्दी में रोहतक निवासी अग्रवाल वंशी चौधरी देवराज थे। जो धर्मनिष्ठ और श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते थे। आपने जिनभक्ति से प्रेरित हो जैसवाल कवि माणिकराज से अमरसेन चरित की रचना रोहतक के पार्श्वनाथ मन्दिर में संवत् १५७५ में कराई थी।

ग्वालियर निवासी अग्रवाल वंशी साहू बाटू के चतुर्थ पुत्र हरिसीसाहू के अनुरोध से कवि रइधू ने श्रीपाल चरित की रचना की थी। ग्रंथ की आद्यन्त प्रशस्ति में हरिसी साहु के परिवार का अच्छा परिचय दिया गया है।

सं० १८१०–११ में आगरा में धर्मपाल नाम के एक धर्मात्मा एवं सम्पन्न सेठ रहते थे। उनकी जाति अग्रवाल और धर्म जैन था। वे जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और व्याकरण शास्त्र के पाठी थे। यह उस समय मोती कटरा के मन्दिर में शास्त्र प्रवचन करते थे। इन्हीं दिनों साधर्मी भाई रायमल्ल आगरा गये थे और उनके प्रवचनों में शामिल हुए थे। उनसे तत्त्वचर्चा भी हुई थी। इनके प्रवचनों में उस समय सौ-दो सौ साधर्मी भाई शामिल होते थे। और प्रवचन सुनकर उनका मन प्रमुदित होता था४। कुछ दिनों के बाद रायमल्ल जी जयपुर वापिस आ गये। उन्होंने अपने परिचय में उसका उल्लेख किया है।

इस तरह अन्वेषण करने पर अग्रवाल जैन समाज द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों का अन्वेषण करने पर अनेक व्यक्तियों के कार्य प्राप्त हो सकते हैं। अनेक अग्रवाल जैनों ने कांग्रेस में रह कर सेवा कार्य किया है, जेलों की यातनाएं भोगी हैं। फिर भी देश-सेवा से मुख नहीं मोड़ा। धर्म, समाज और राष्ट्र की सेवा करना जैनों का परम कर्तव्य रहा है, जिसका कुछ संकेत आगे किया जायगा। (क्रमशः)

---

१. णिव पयावरुद्द सम्माणिउ।

—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भ० २

२. अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश ग्रंथ की लिपि प्रशस्ति, नागौर भंडार।

३. सं० १५०६ ज्येष्ठ सुदी···शुक्रे चन्द्रपाट दुर्गे पुरे चौहान वंशे राजाधिराज श्रीरामचन्द्रदेव युवराज श्री प्रतापचन्द्रदेव राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठा संघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री हेमकीर्तिदेव तत्पट्टे भ० श्रीकमलकीर्तिदेव। पं० आचार्य रैधू नामधेय तदाम्नाये अग्रोतकान्वये वासिल गोत्रे साहु त्योंधर भार्या द्वौ पुत्रौ द्वौ सा० महराज नामानौ त्योंधर भार्या श्रीपातयो तयोः पुत्राश्चत्वारः संघाधिपति गजाधर, मोल्हण जलकू रतू नाम्नः संघाधिपति गजे भार्या द्वे रायश्री गांगो नाम्ने संघाधिपति मोल्हण भार्या सोमश्री पुत्र तोहक, संघाधिपति जलकू भार्या महाश्री तयोः पुत्रौ कुलचन्द्र मेघचन्द्रौ, संघपति रतू भार्या अभयश्री। साधु त्योंधर पुत्र महाराज भार्या मदनश्री पुत्रौ द्वौ। माणिक भार्या शिवदे······संघपति जयपाल भार्या मुगापते। संघाधिपति गजाधर संघा० भोला प्रमुख शान्तिनाथ बिम्बं प्रतिष्ठापितं प्रणमितं च।

—प्राचीन जैन लेख संग्रह बाबू कामता प्रसाद

४. देखो, वीरवाणी वर्ष १ अंक २ पृ० ८।

कुछ पुरानी पहेलियां

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

सत्रहवी शताब्दी के कवि ज्ञानसागर के बारे में अनेकान्त मे एकाधिक बार चर्चा हो चुकी है। वे काष्ठासघ नन्दीतटगच्छ के भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य थे। उनकी कई स्फुट रचनाओ का सग्रह हमारे संग्रह की एक हस्तलिखित पोथी में है। इन मे से सधाष्टक शीर्षक रचना कुछ समय पहले अनेकान्त (दिसम्बर १९६४) मे जैन संघ के छः अग' शीर्षक लेख मे हमने प्रकाशित की थी। इस लेख में इसी हस्तलिखित पोथी का एक और अंश दिया जा रहा है। पोथी मे इसका शीर्षक 'हरिआलि कवित्तानि' दिया हुआ है। इसमें छप्पय छन्द के १८ पद्य है। यद्यपि इसमें कई शब्द गुजराती के है तथापि पुरानी हिन्दी के क्षेत्र मे वे अपरिचित नही हैं। प्रत्येक पद्य में एक पहेली है जिसका उत्तर पद्य के बाद बता दिया गया है। इस मनोरजक रचना का मूल पाठ आगे दिया जा रहा है।

॥अथ हरिआलि कवित्तानि लिख्यते॥

एक अचेतन पुरुष नाम दो अक्षर कहिये।
काया तो तस एक सीस केइ लक्षज लहियें ॥
खाय गयो पायाल उच गगने जइ अडिओ।
पर उपकारां काज सूर सुभटांसू लडिओ ॥
हारे नहि जो सिर धणी वचन तास विहसे नही।
कहता जन इम उच्चरे सो यह अर्थ लाभे कही ॥१॥

कोट

नर नारी दोउ लडत उतपन्नी एक नारी।
हस्त पाय सिर रहित नहि हलकी नहि भारी॥
रोता राखे बाल राजसभा जइ बेसे।
मुखविन वचन वदंत गीत गान बिच पेसे।
मुखथें नारी नीकसे तब निश्चय अवतार तस।
अर्थ विचारो चतुर नर ब्रह्म ज्ञान कहे वचन रस।२।

बावडी

नारि एक नर एक एक नपुंसक मिल कर।
पुत्र नपुंसक हुओ सब जनकूं सो सुखकर ॥
बूढ मुआ बलवंत नवि हिंडो ते पालो।
द्रव्य कोडिमें रहे गढ मंदिर रखवालो ॥
चतुर विचक्षण कामिनी तास बंध छोडे निखिल।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति अथ विचारो नर सकल ॥३॥

कुलुफ

नरथी नर उतपन्न चरण थकीने छेद्यो।
डरतो जल में पेठ अंगो अंगे भेद्यो ॥
तस घर में एक नार तेन नपुंसक जायो।
तेहथें नारि सुजाणि नारियें पुरुष कहायो॥
काजी मुल्ला राय मुनि षट्दर्शन जन कर धरे।
सुजन विचक्षण अर्थवो ब्रह्म ज्ञान इम उच्चरे ॥४॥

कागल

एक अचेतन नारि तास सिर चार बखाणो।
नवरंगी गुणधार भुजा चार तस जाणो॥
पेहरे वस्त्र सुरंग सोभागी घरि संगह।
सवि जनकूं सुखकार पाय तस चार उतंगह ॥
बड मंदिर निवसे सदा पर चरणे चाले सही।
चतुर लोक सवि अर्थवो ब्रह्म ज्ञानसागर कही ॥५॥

पलंगडी

श्यामल वर्ण शरीर जाति नपुंसक जाणो।
दुःख सहे जब बहुत तब नारीपण ठाणो॥
नित सेवे नारीमाहि नर उपरी जइ बेसे।
भोगी योगी सब लोक राय रंक घरि पेसे॥
देश देशांतर संचरे पुर पुर घरि घरि छे सही।
अर्थ करो नर चतुर भवि ब्रह्म ज्ञानसागर कही ॥६॥

स्याही

नरथी नर गुणवंत ते नर नपुंसक जायो।
नारितने संयोग तेन नारिपण पायो॥

नरनारीके योग सो बहुगुण दिखलावे ।
पंचरंग तस काय भविक लोक मन भावे ॥
निकट बसे बोले नही कब नीचो कब सिर रहे ।
सकल संघ विचार करो ब्रह्म ज्ञानसागर कहे ॥७॥

नवकरवाली

पुरुष एक विन जीव हाथ पाय सिर नहि तस ।
वर्ण पंच तस काय रहत अहनिशि सो परवस ॥
जल संयोग होय जलसूं प्रीति न भावे ।
छेदन भेदन सहे मनमां रीस न आवे ॥
राजसभामें ’इ वह देशविदेशे संचरे ।
जाणे पन बोले नही ब्रह्मज्ञान इम उच्चरे ॥८॥

कागद

एक पुरुष अद्भुत रंग तस पंच बखाणे ।
चाले मृगपति चाल व्याघ्र आसन पण आणे ॥
गावत राग देस नेत्र नीला तस दोऊ ।
जल थल तास निवास धरत सबुरी सोऊ ॥
नग्न रूप निशिदिन रहत धूप ठंड परिसह सहे ।
कवण पुरुष निश्चय करो ब्रह्म ज्ञानसागर कहे ॥६॥

मेंढक

एक अचेतन नारि रंग तस पंचे परसिद्धी ।
जे जग गुणियण लोक तेन नित निज कर लिद्धी ॥
क्षण नारी के संग क्षण नर ऊपरि बसे ।
क्षण जइनि बसे कान क्षण निज मंदिर पेसे ॥
हस्त पाय दीसे नही जीभ दोय मुख श्यामहे ।
नगर लोक सवि अर्थवो ब्रह्म ज्ञानसागर कहे ॥१०॥

लेखनी

लंबू आंगल आठ गुंफामाहि चलावे ।
रुधिर चुये तस वदन कर धरि ओर हलावे ।
घसे वार दश वीस अंत लाल तस आवे ।
चाले तब निर्दोष पुरुष परम सुख पावे ॥
धोवत अति शुचि होय सवि कीधा विन चाले नही ।
सदा विचारो मानवी ब्रह्म ज्ञानसागर कही ॥११॥

दांतण

एक नारि निर्जीव रंग तस पंचा बखाणे ।
हस्त पाय सिर रहित सींग पण दो तस जाणे ॥
मुख विण गावे गीत पुच्छ लंबो तस पेखो ।
कबहों रहे भूपीठ कबहों गगनांगण देखो ॥
प्रचंड पेट दीसे सदा गुणवती कौतुक करे ।
ब्रह्म ज्ञानसागर कहे अर्थ ते जगमें जस वरे ॥१२॥

गुडी

नारि अनोपम एक प्रीति पुरुषसूं मंडे ।
मुनिवर जंगम जेह प्रीति तेहसूं छंडे ॥
बंकासूं अति बंक समासूं सम वड राखे ।
सकल पुरुष शृंगार तास महिमां सवि भाषे ।
सवि जनकूं अति वल्लही रंगे रसपूरित सदा ।
जूणे गळते जइ वसी ब्रह्म ज्ञान बोले मुदा ॥१३॥

पगडी

पुरुष एक निर्जीव तस सिर नारी धारह ।
तस सिर पुष्प विशाल परिमल रहित विचारह ॥
धूपे नवि सुकाय भ्रमर न पासे आवे ।
घर घर ते निवसंत राज भेट नवि ल्यावे ॥
ते वाडीमां नवि नीपजे देवार्चन नवि आणिये ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति कवण फूल बखाणिये ॥१४॥

रवी

नार एक निर्जीव उभय पुरुष तस जाणो ।
नाम प्रगट तस एक देह दस दोय बखाणो ॥
खावे अन्न अनंत नहि दुर्बल नहि मातो ।
न गमे नरसंयोग महिला जनसूं रातो ॥
तस पेट एक सुंदरि रहे मुख प्रगट एक जाणिये ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति ते कवण नाव पामिये ॥१५॥

चांकी

शिवरूपी सकुमाल वदन तस कृष्ण बखाणो ।
अमृत धरत अनंत शशि वर पणमत जाणो ॥
पालत सकल जगत्र वस्त्र पेहरत नाना पर ।
तजत सकल सना हरण वेला नर सुखवर ॥
संसारी वर अति घणा नाम प्रसिद्ध सुर नर लहे ।
कवण पुरुष ते जाणिये ब्रह्म ज्ञानसागर कहे ॥१६॥

कुचमंडल

एक अचेतन नार गौर वर्ण अति सुन्दर ।
कटि विन पहरे वस्त्र आंख नवि कज्जल मंदिर ॥

पगबिन फिरे विदेश मुख बिन कथा बखाणे।
सकल शास्त्र भंडार पढत श्लोक नवि जाणे॥
भविक जीवने जागवे सुपुरुषनी संगति करे।
कवण नारि ते अर्थवो ब्रह्मज्ञान इम उच्चरे॥१७॥
पोथी

श्यामल वर्ण शरीर नहि कोयल नहि मधुकर।
शुंडा दंड प्रचंड नहि गणपति नहि गयवर॥
जलपूरित नित रहत नहि सरवर नहि जलचर।
हस्त पाय सिर रहित पेट मोटो अति सुखकर॥
वचन वदत अति प्रेम को यज्ञोपवीत ऊपर धरत।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति एह अर्थ को नर करत॥१८॥
मोट

इति श्री हरिमालि कवित्तानि समाप्त॥

मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी का ९०वां जन्मजयंती-उत्सव

एटा में सानन्द सम्पन्न

मगसिर शुक्ल एकादशी शुक्रवार ता० २३ दिसम्बर १९६९ को मुख्तार श्री की ९०वीं जन्म-जयन्ती के उत्सव मे मुझे उपस्थित होने और समागत श्रद्धांजलियों एव शुभकामनाओ आदि के पत्रों को देखने तथा सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उत्सव डा० ज्योतिप्रसाद जी एम. ए. एल. एल. बी. पी. एच. डी लखनऊ की अध्यक्षता मे आगत तथा स्थानीय विद्वानो के भाषणादि पूर्वक सानन्द धर्मशाला मे सम्पन्न हुआ। एटा की दिगम्बर जैन समाज के मंत्री सुशीलचन्द जी ने अभिनन्दन पत्र पढ़ कर सुनाया और फ्रेम मे जडा हुआ अभिनन्दन पत्र भेंट किया। देश के गण्यमान विद्वानों एवं प्रतिष्ठित सज्जनों के श्रद्धांजलि पत्र और तार आये थे जिनकी सख्या १०० के लगभग थी। श्रद्धांजलि पत्रों में मुख्तार सा० के दीर्घजीवन की कामना, उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने की प्रेरणा और कुछ मे मुख्तार श्री की निःस्वार्थ सेवाओ का गुण कीर्तन किया गया था। मुनि श्री विद्यानन्द जी का आशीर्वादात्मक पत्र भी मिला था।

मुख्तार साहब ने समन्तभद्र स्मारक की ढाई लाख वाली योजना के सम्बन्ध में समाज की ओर से कोई प्रयत्न होता न देख कर अपनी संकल्पित २५ हजार की रकम को समन्तभद्रोदित जिन शासन के प्रचार में दे देने का निश्चय किया। जिसकी योजना बाद में प्रकट की जावेगी। उसका एक ट्रस्ट बनाने का भी विचार व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त उक्त अवसर पर ५०१) रुपये का दान, जैन मन्दिरों, तीर्थक्षेत्रों, संस्थाओं, गोपालदास वैरयास्मृति ग्रंथ, सूखाग्रस्त क्षेत्र और गोहत्याबन्दी आन्दोलन की सहायतार्थ प्रदान किये है। जिसमे १०) रुपये अनेकान्त को भी सधन्यवाद प्राप्त हुए हैं। अन्त में श्रद्धालु जनो ने विविध पुष्प मालाओं से मुख्तार साहब का सत्कार किया।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि इस साहित्य तपस्वी का सार्वजनिक अभिनन्दन होना चाहिए। समाज के नेताओं को चाहिए कि वे विवेक से काम लें। और इस वयोवृद्ध विद्वान् को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट कर उनका उचित सत्कार करें। समाज को साहित्य-सेवियों का सत्कार करना परम कर्तव्य है। आशा है समाज उनके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करेगी।

अन्त मे डा० श्रीचन्दजी ने उपस्थित जनता को धन्यवाद देते हुए लड्डुओं की एक-एक थैली भेंट कर उत्सव को और भी मधुर बना दिया।

—परमानन्द शास्त्री

शोध-कण

चंपावती नगरी

नमचंद धन्नूसा जैन

अंदाजा ४ माह हुए मुझे एक मराठी टाइप किया हुआ कागद मिला है। मैं उस पर अधिक प्रकाश डालने के लिए खूब प्रयत्नशील रहा हूँ। मगर आज तक मैं कुछ भी जान न सका। यह कागद बीड (मराठवाडे का एक जिला है) में मन्दिर जी की हस्तलिखित पोथी में अलग प्राप्त हुआ है। उस पर लिखा है :—'संस्कृत प्रति पर से प्रतिलिपि १ याने इस कागद का मूल आधार संस्कृत भाषा का कोई लेख है। वह आज तक प्राप्त नहीं हुआ। हो सकता है वह कागद वहां के किसी हस्तलिखित पोथी में होगा। ऐसी पोथियों का वहां एक संदूक भरा हुआ है। इस कागद पर से इतना तो सुनिश्चित हुआ कि, बीडा का प्राचीन नाम चंपावती नगरी है। और वहां के कलिकंदन नाम के जैन राजा ने जो किला बांधा है वह आज भी है तथा इसी किले में प्राप्त हुयी एक संगमरमर की सफेद पाषाण की अंदाजा २' ऊंची श्री १००८ वासुपूज्य भगवान की प्रतिमा वहां के जिन मंदिर मे मूलनायक के रूप में विराजमान है। यह किला अभी किन्ही मुसलमान फकीरों का वसति स्थान हुआ है। और वहा जिनमदिर के कुछ स्तंभ आदि विखरे हुए हैं; पास में एक मसजिद का कुछ भाग है। इस पत्र पर से वह कलिकंदन राजा बहुत प्राचीन होगा, ऐसा लगता है, मगर वह मूलनायक श्रीवासपूज्य स्वामी के दर्शन करने पर ऐसा लगता है वह मूर्ति ज्यादा से ज्यादा १०–११वी सदी की होगी। वहा काले पाषाण के एक प्राचीन मूर्ति पर तेलगू मे लेख अंकित है उसमें एक राजा और उसके मां का नाम दिया है। उस लेख का यदि पूरा वाचन हो तो इस नगरी के यथा राजा कलिकंदन के जैन इतिहास पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। वह लेख इस प्रकार है :—

"मूल संस्कृत से प्रति नक्कल

"ओम् नमः श्रीवासुपूज्य स्वामीने"

अति प्राचीन (चतुर्थ) काल में गोदावरी नदी के दक्षिण में तीन योजन (१२ कोस) दूरी पर बिंदु सुधा नदी के किनारे चंपावती (बीड, निजाम इलाका) में कलिकंदन नाम का एक सार्वभौम राजा हो गया। वह जैन था पड़ोस के कुछ राजा उसके मांडलिक थे। उस कलिकंदन राजा ने प्रधान के हाथ से चीन के मुलक से अनन्त द्रव्य खर्च कर भगवान श्री वासुपूज्य स्वामी की अतिशय सुन्दर ऐसी मूर्ति मंगाई, फिर अमरावती के राजवाड़े मुजब मनोहर मंदिर बना कर उसमें उस मूर्ति की स्थापना की। इस समारंभ के लिए अनेक देशों से लोग इकट्ठा हुए थे, उनके लिए ५ योजन (२० कोस) की जगह अपूर्ण पड़ी थी।

इस समय कुल सड़सठ राजा आये थे, इनमें कुछ माडलिक और कुछ मित्र थे। इन राजाओं ने भगवान के सामने १ लक्ष मोहर का नजराना किया, इससे भगवान के लिए सुवर्ण का सिंहासन बनाया गया।

इस मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा किसी उद्यान में हुई थी और बड़े वाद्यों के ठाट मे गांव में लाकर किले में से जिनमंदिर मे सुवर्ण सिंहासन पर स्थापना की गई। आमन्त्रित लोगों का सत्कार राजा कलिकदन ने अच्छी तरह से किया था।

कुछ ही काल बाद इस कलिकदन राजा के वंशजों पर किसी यवन राजा ने हमला किया। समय देख कर उस राजा ने इस मूर्ति को किले के किसी तलघर मे स्थापित कर ऊपर मिट्टी डालकर देश त्याग किया।

तब से यहां यवनों की सत्ता चालू हो गई। उसके भी बहुत काल बाद किसी यवन राजा ने किले में धन के

लिए खुदाई का काम किया। तब तलघर मे यह मूर्ति निकली। यह वार्ता ज्ञात होते ही वहां के कोट्याधीश साहु सदाशिव राव राघोजी रणदि ने राजा से यह मूर्ति चालीस लक्ष रुपया देकर मोल ली। और उस सदाशिव सेठ ने आज जहां मंदिर है उसके उत्तर बाजू की गली मे सुन्दर मंदिर बनाया, प्रतिष्ठा के लिए विशालकीर्ति के मठ के पंडित देवेन्द्र को बुलाया गया। उन्होंने दक्षिणाभिमुख उस मंदिर को अयोग्य जान कर वह धरमशाला बना दी। बाजार में के बड़े बाडे मे मंदिर बना कर शालीवाहन शके १५४० माघ शुक्ल सप्तमी को यथा विधि वहा मूर्ति की स्थापना की। इस समय भी बड़ा जन समुदाय एकत्रित हुआ था।

सफेद पाषाण की यह मूर्ति शुक्ल ध्यान युक्त परम वीतरागी सुलक्षण वाली है। इसके दर्शन से शोक, मोह, क्षुधा, तृषा नष्ट होकर धर्मात्मा आनद सागर में डूब जाते हैं।

इस पर से वहां के किले में अभी भी जिनमंदिर होने की शंका आती है। स्थानीय लोग किसी चंपावती देवी का वह स्थान बता कर उस देवी से इस नगरी का नाम चंपावती पडा होगा। ऐसा बताते हैं। इस किले में सरकारी तौर पर उत्खनन की आवश्यकता है। प्रयत्न करने पर भी बीड जिले का गजेटियर मुझे देखने को नहीं मिला। अगर मिलता तो कुछ अधिक प्रकाश जरूर पड़ता। मैं आशा करता हूँ, इतिहास संशोधक इसके लिए प्रयत्न करेंगे। जिन भाइयों ने मुझे यह मराठी कागद भेंट दिया उनका मैं आभारी हूँ। अस्तु।

अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत संस्कृत कर्मप्रकृति

डा० गोकुलचन्द्र जैन आचार्य, एम. ए. पी-एच. डी.

कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची में अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत कर्मप्रकृति की सात पाण्डुलिपियों का परिचय दिया गया है। किसी भी पाण्डुलिपि पर लेखन काल नहीं है। सभी की लिपि कन्नड है और भाषा संस्कृत।

यह एक लघु किन्तु महत्वपूर्ण कृति है। इसमें सरल संस्कृत गद्य में सक्षेप में जैन कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पहली बार मैंने इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद किया है। विषय के आधार पर मैंने पूरी कृति को छोटे-छोटे दो सौ बत्तीस वाक्य खण्डों में विभाजित किया है। कृति का प्रारम्भ एक अनुष्टुप मगल पद्य से होता है तथा अन्त भी एक अनुष्टुप पद्य के द्वारा ही किया गया है।

प्रारम्भ में कर्म के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये तीन भेद दिये गये हैं। उसके बाद द्रव्यकर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद बताये हैं। प्रकृति के मूल प्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तरप्रकृति, ये तीन भेद है। मूल प्रकृति ज्ञानावरणीय आदि के भेद से आठ प्रकार की है और उत्तर प्रकृति के एक सौ अड़तालीस भेद हैं। अभयचन्द्र ने बहुत ही सन्तुलित शब्दों मे इन सबका परिचय दिया है। उत्तरोत्तर प्रकृति बन्ध के विषय मे कहा गया है कि इसे वचन द्वारा कहना कठिन है। इसके बाद स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध का वर्णन है।

इसके पश्चात् सक्षेप मे भावकर्म और नोकर्म के विषय मे एक-एक वाक्य मे कह कर आगे संसारी और मुक्त जीव का स्वरूप तथा जीव के क्रमिक विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित पांच प्रकार की लब्धियां तथा चौदह गुण-

स्थानों का वर्णन किया गया है।

विषय के अतिरिक्त भाषा का लालित्य और शैली की प्रवाहमयता के कारण प्रस्तुत कृति का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। साधारण संस्कृत का जानकार व्यक्ति भी अभयचन्द्र की इस कृति से जैन कर्मसिद्धान्त की पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकता है।

कर्मप्रकृति के प्रारम्भ या अन्त मे अभयचन्द्र ने अपने विषय में विशेष जानकारी नही दी। अन्त में केवल इतना लिखा है—

"कृतिरियम् अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिनः।"

अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के विषय मे कई शिलालेखों से जानकारी मिलती है। मूल संघ, देशिय गण, पुस्तक गच्छ, कोण्डकुन्दान्वय की इगलेश्वरी शाखा के श्री समुदाय में माघनन्दि भट्टारक हुए। उनके नेमिचन्द्र भट्टारक तथा अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ये दो शिष्य थे। अभयचन्द्र बालचन्द्र पंडित के श्रुतगुरु थे।

हलेबीड[1] के एक संस्कृत और कन्नड मिश्रित शिलालेख मे अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के समाधिमरण का उल्लेख है—यह लेख शक सवत् १२०१—१२७९ ईस्वी का है। हलेबीड[2] के ही एक अन्य शिलालेख मे अभयचन्द्र के प्रिय शिष्य बालचन्द्र के समाधि मरण का उल्लेख है। यह लेख शक सवत् ११९७, सन् १२७४ ई० का है।

इन दोनों अभिलेखों से अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का समय ईसा की तेरहवी शती प्रमाणित होता है। वे संभवतया १३वी शती के प्रारम्भ मे हुए और ७९ वर्ष तक जीवित रहे।

रावन्दूर के एक शिलालेख (शक १३०६) में श्रुतमुनि को अभयचन्द्र का शिष्य बताया गया है[3]।

भारंगी के एक शिलालेख में कहा गया है कि राय राजगुरु मण्डलाचार्य महावाद वादीश्वर रायवादि पितामह अभयचन्द्र सिद्धान्तदेव का पुराना (ज्येष्ठ) शिष्य बुल्ल गौड था, जिसका पुत्र गोप गौड नागर खण्ड का शासक था। नागर खण्ड कर्णाटक देश में था[4]।

बुल्ल गौड के समाधिमरण का उल्लेख भारगी के एक अन्य शिलालेख मे है, जिसमें कहा गया है कि बुल्ल या बुल्लुप को यह अवसर अभयचन्द्र की कृपा से प्राप्त हुआ था[5]।

हुम्मच के एक शिलालेख मे अभयचन्द्र को चैत्यवासी कहा गया है[6]।

अभयचन्द्र के समाधिमरण से सम्बन्धित उपर्युक्त शिलालेख मे कहा गया है कि वह छन्द, न्याय, निघण्टु, शब्द, समय, अलंकार, भूचक्र, प्रमाणशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसी तरह श्रुतमुनि ने परमागम सार (१२६३ शक) के अन्त में अपना परिचय देते हुए लिखा है—

सद्दागम-परमागम-तक्कागम-णिरवसेसवेदीहु।
विजिद सयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरि सिद्धंति॥

इससे भी अभचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है।

---

१. E.C.V., Belur ti, No. 133 जैन शिलालेख सग्रह भाग ३, लेख ५२४

२. Lbd No. 131, 132 जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ५१५

३. वही, लेख ५८४

४. F.C.VII, Sorab ti, No. 317

५. E.B.VIII, Sorab ti No. 330 जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ६४६

६. E.C.VIII, Nagar ti, No. 46 जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ६६७

साहित्य-समीक्षा

१. **द्रव्य संग्रह**—नेमिचन्द सिद्धान्तदेव, वचनिका व पद्यानुवादकर्ता पं० जयचन्द जी छाबड़ा, सम्पादक प० दरबारीलाल जी कोठिया, प्रकाशक श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रथमाला, वाराणसी पृ० १५६ मूल्य २ रुपये ५० पैसा।

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन वर्णी ग्रंथमाला से किया गया है। पुस्तक पठनीय है और सम्पादक ने उसे स्वाध्याय प्रेमियों के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। इसमें द्रव्य सग्रह के लघु और वृहद् दोनों रूपों को सानुवाद दिया गया है। और प्रथम परिशिष्ट में सस्कृत भी हिन्दी व्याख्या के साथ दे दी है, जिससे विद्यार्थियों को उसके हार्द को समझने-समझाने में सहायता मिलेगी। सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में उसके कर्तृत्व आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस पुस्तक प्रकाशन के साथ कोठिया जी ने प्रयत्न द्वारा वर्णी ग्रन्थमाला को उज्जीवित करने का भी प्रयत्न किया है, उससे दो ग्रंथों का प्रकाशन भी हो चुका है, और ग्रंथ भी छपने वाले हैं। इससे आशा की जा सकती है कि भविष्य मे यह ग्रन्थमाला कुछ ठोस और नये प्रकाशन करने मे समर्थ हो सकेगी। इसके लिए ग्रन्थमाला के मत्री और सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं। समाज को चाहिए कि वह ग्रन्थमाला को आर्थिक सहयोग प्रदान करे जिससे वह अपनी प्रगति में समर्थ हो सके।

२. **अपभ्रंश भाषा और साहित्य**—डा० देवेन्द्रकुमार जैन एम. ए. पी-एच. डी., प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ सख्या ३४८ मूल्य सजिल्द प्रतिका १०) रु०।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक शोध-पूर्ण प्रबन्ध है जिस पर लेखक को पी एच डी की डिग्री मिली है। इसमे अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ मे ग्यारह अधिकार हैं। जिनमें अपभ्रंश भाषा का स्वरूप तथा व्याकरण दिया है। पश्चात् राजनीति पर भी प्रकाश डाला है। इसके बाद अपभ्रंश के कुछ कवि और उनके काव्यों पर अच्छा विवेचन किया है। और उनमें वर्णित विषयों की आलोचना भी की है। और अपभ्रंश काव्यों में पाये जाने वाले रस, अलंकार एवं छन्द योजना पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनमें चर्चित प्रकृति चित्रण, समाज और संस्कृति तथा दार्शनिक मन्तव्यों पर भी विचार किया है। इस तरह प्रस्तुत पुस्तक अपभ्रंश साहित्य का अच्छा दिग्दर्शन कराती है। और शोधक विद्वानों के लिए उसका मार्ग प्रशस्त करती है। यह निबन्ध डा० हीरालाल जी एम. ए. डी. लिट् जबलपुर को अर्पण किया गया है जो उस विषय के सुयोग्य विद्वान हैं। डा० साहब से समाज को आशा करनी चाहिए कि वे अन्य अनेक मौलिक ग्रन्थो की रचना कर जैन संस्कृति के मौलिक तत्त्वो का विश्लेषण करेंगे, जिससे जन साधारण उसके मूल्य को आंक सके। भारतीय ज्ञानपीठ का यह सुन्दर प्रकाशन बहुत ही उपयोगी है।

३. **कविवर बनारसीदास**—लेखक डा० रवीन्द्रकुमार जैन प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृ० सख्या ३५२ मूल्य सजिल्द प्रति का १०) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक शोध-प्रबन्ध है, जिस पर लेखक को आगरा विश्व विद्यालय से पी. एच. डी. की डिगरी मिली है। ग्रन्थ में सात अध्याय है, जिनमे कविवर बनारसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विचार किया गया है। शोधक दृष्टि मे किया गया यह प्रयत्न जहा कवि के जीवन को उजागर करता है वहा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर समीक्षक दृष्टि मे प्रकाश भी डालता है। कविवर बनारसीदास १७वी शताब्दी के एक प्रतिभा सम्पन्न कवि थे और हिन्दी के आत्म-चरित के प्रथम लेखक हैं, जिसमे अपने ५५ वर्ष के जीवन की अच्छी और बुरी सभी घटनाओं का सुन्दर पद्यों में अंकन किया गया है। ऐसा चरित ग्रंथ हिन्दी में दूसरा अवलोकन मे नही आया है। समयसार के अध्यन के कारण कवि का जीवन

अध्यात्म में परिणत हो गया था। उनकी नाटक समयसार का कविता कितनी प्राजल, भावगहन और वस्तुतत्व का विशदता से विवेचन करने की क्षमता को लिए हुए है। उसके पढ़ते ही 'हिय के फाटक खुलते हैं' कहावत चरितार्थ होती है। यह पद्यानुवाद पांडे राजमल जी की कलश टीका का ऋणी है जिसके अन्तरमन से कवि संस्कृत पद्यो के हार्द को स्पष्ट करने मे समर्थ हो सका है। कवि की अन्य सभी रचनाए सुन्दर और भावपूर्ण हैं। लेखक ने इस ग्रंथ में उनकी विस्तृत चर्चा की है। यद्यपि रचनाओं पर और भी विशद प्रकाश आवश्यक था। परन्तु ग्रन्थ की मर्यादा समय एव सामर्थ्य को देखते हुए वह उचित ही है। भारतीय ज्ञानपीठ का यह प्रकाशन उसके अनुरूप हुआ है। और इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है।

४. जैन न्याय—लेखक पं० कैलाश चन्द शास्त्री, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ सख्या ३६८ मूल्य सजिल्द प्रति का ६ रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ मे जैन न्याय या जैन दर्शन का विचार किया गया है। ग्रंथ की पृष्ठभूमि (प्रस्तावना) मे जैन दार्शनिक विद्वानों के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए उनकी रचनाओं के चर्चित विषय का भी विचार किया गया है। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण मे अच्छा श्रम किया है। जैन न्याय के सम्बन्ध मे लिखा गया दर्शन साहित्य का यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रथ है। इसमे जैन न्याय के इतिहास के विकास क्रम के साथ-साथ उसके मान्य ग्रथों के आधार पर प्रामाणिक विवेचन किया है। भाषा भी प्रौढ है और अपने विचारों के प्रकट प्रदर्शन करने में सावधानी से काम लिया है, यद्यपि भारतीय दर्शनों पर अनेक पुस्तके लिखी गई है किन्तु जैन दर्शन पर ऐसी पुस्तको का निर्माण कम ही हुआ है। डा० महेन्द्रकुमार जी के जैन दर्शन के बाद प्रस्तुत जैन न्याय ग्रंथ छात्रो के लिए विशेष उपयोगी होगा। खास कर जैन न्याय के प्राथमिक अध्येताओं के लिए तो प्रस्तुत पुस्तक मार्ग प्रदर्शन का काम करेगी ही। ग्रथ में प्रमाण, प्रमाण के भेद, और परोक्ष प्रमाण आदि का सुन्दर विवेचन दिया हुआ है। और अन्त में श्रुत के दो उपयोग और दृष्टान्ताभास का भी विवेचन किया गया है। इस तरह जैन दर्शन सम्बन्धी समस्त उपयोगी सामग्री का चयन यथा स्थान किया है।

ऐसी उपयोगी पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखक और भारतीय ज्ञानपीठ दोनों ही धन्यवाद के पात्र है।

५. सोलह कारण भावना—लेखक महात्मा भगवानदीन, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। मूल्य दो रुपया।

महात्मा भगवानदीन अपने समय के सुयोग्य कार्यकर्ता, और विचारक विद्वान थे। वे प्राचीन से प्राचीन और परम्परागत विषय को भी नई दृष्टि से देखते और सोचते थे। उनके विचारो मे तर्क का संमिश्रण रहता है तो भी विचार मौलिक प्रतीत होते हैं। उनकी लेखनी मजी हुई और सरल है। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक मे आज की दिशा में सोलह कारण भावनाओं का विवेचन किया है। किन्तु उनकी भावावबोधक शब्दावलि मे 'नेता बनने के उपाय' अलौकिक है; क्योंकि जिन मार्ग में इन भावनाओं का सम्यक् चिन्तन करने वाला व्यक्ति तीर्थंकरत्व को प्राप्त होता है। पुस्तक नई विचारधारा को लिए हुए है। अतएव जैन संस्कृति के प्रेमी जिज्ञासुओ को उसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

—परमानन्द जैन शास्त्री

जिस तरह खौलते या उबलते हुए पानी में पुरुष को अपना मुख दिखाई नहीं देता उसी तरह क्रोध से सराबोर शरीर में, उसकी ललाई तथा डसते हुए ओठों वाली आकृति में आत्म-स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता। आत्म-स्वरूप को जानने के लिए मानव का चित्त शान्त और निर्मल होना चाहिए, तभी उसे आत्मदर्शन और आत्मबोध हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

आनन्द

श्रवण बेल्गोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ

नाम की पुस्तक जो खोजपूर्ण ढग से लिखी गई है। उसमे दक्षिण भारत के प्राय सभी तीर्थों का ऐतिहासिक परिचय कराया गया है। साथ ही अन्य तीर्थों का भी परिचय निहित है। यह वीर सेवामन्दिर का सुन्दर प्रकाशन है। उसमें बाहुबली का सुन्दर चित्र भी दिया गया है। प्रत्येक यात्री के लिए वह पुस्तक पढने योग्य है। इस पुस्तक की ५०० के लगभग प्रतियां वीर-सेवा-मन्दिर मे मौजूद है। मूल्य १) रुपया है। किन्तु सभी यात्रियो को जो श्रवण बेलगोल की यात्रा को जाने वाले है। उन्हे वह पुस्तक ७५ पैसे मे दी जायगी। पोस्टेज अलग होगा। यात्रियो को मगा कर उसे अवश्य पढना चाहिए।

व्यवस्थापक

वीरसेवामन्दिर १ दरियागज, दिल्ली

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५०) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०) ,, मारवाडी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... ॥)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित मूल्य ४)

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित।)

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १।)

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ॥), (६) महावीर पूजा ।)

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१७) अध्यात्म रहस्य—पं आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १)

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२)

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन-संघ प्रकाशन ५)

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़ की पक्की जिल्द। ... ... २०)

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

फर्वरी १९६७

अनेकान्त

श्री बाहुबली की सातिशय ५७ फीट ऊँची विशाल मूर्ति, श्रवणबेलगोल

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	सरस्वती-स्तवनम्—मुनि पद्मनन्दी	३३९
२.	पतियान दाई (एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर—[गोपीलाल 'अमर'	३४०
३	हिन्दी जैन कवि और काव्य—[डा० प्रेमसागर जैन	३४७
४.	समय का मूल्य—[मुनि श्री विद्यानन्द	३५९
५.	जैन चम्पू काव्यों का अध्ययन—[अगरचन्द नाहटा	३६७
६.	पार्श्वाभ्युदय काव्यम : एक विश्लेषण—[प्रो० पुष्कर शर्मा एम. ए.	३७२
७.	आनन्द श्रमणोपासक—[बालचन्द सिद्धान्त शा.	३७६
८.	साहित्य-समीक्षा—[डा० प्रेमसागर	३८३
९.	अनेकान्त के १९वें वर्ष की विषय-सूचा	३८४

अनेकान्त को सहायता

११) लाला सुदर्शनलाल जी जैन जसवन्तनगर (इटावा)। चि० शशिभूषण के विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए दान में से अनेकान्त के लिए ग्यारह रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

सुवर्ण जयन्ती उत्सव-इन्दौर

जंबरीबाग के एक विशाल पाडाल में इस स्वर्णजयन्ती समारोह का आयोजन किया गया था। लगभग २००० व्यक्ति सम्मलित हुए। अनेक सन्देश प्राप्त हुवे, अनेक गणमान्य जैन जैनेतर सज्जन पधारे थे, सर सेठ भागचन्द्र जी सोनी भी थे। ठीक १०-१५ पर समारोह के अध्यक्ष माननीय श्री के. सी रेड्डी महोदय, राज्यपाल मध्य प्रदेश पधारे। उनकी पत्नी भी सम्मिलित हुई।

दानशीला कञ्चनबाई श्राविकाश्रम की छात्राओं द्वारा मंगलगान के पश्चात् ट्रस्ट के अध्यक्ष तथा स्वागताध्यक्ष श्री रा. ब. सेठ राजकुमार सिंह जी ने स्वागत भाषण पढ़ा। पश्चात् मंत्री जी ने संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण सुनाया। श्री भैयालाल जी बडी, पं० करमलकर जी शास्त्री, एवं पन्नालाल जी ने इन सस्थाओ की बहु-मुखी सेवाओ की सराहना की। पश्चात् श्री पारस रानी जैन ने जैनमहिला समाज, इन्दौर की ओर से श्रीमती कचन बाई साहिबा को अर्पित मानपत्र सुनाया, मानपत्र एक चांदी के कैस्केट मे रखकर श्रीमती रेड्डी द्वारा श्री सेठानी साहिबा को भेट किया गया।

स्थानीय व बाहरकी लगभग २० सस्थाओं द्वारा सेठानी जी को पुष्पहार समर्पित किये गये। श्री सेठानी साहिबा ने इस सम्मान के प्रति आभार प्रदर्शित किया। भाव-विभोर वाणी में उन्होने कहा कि वह सम्मान वास्तव मे स्व० सर सेठ सा० का ही है जिन्होंने समाज के सामने एक आदर्श जीवन उपस्थित किया है। उन्होने यह आशा भी व्यक्त की कि उनके पुत्र, पौत्र, वधुएं आदि स्व० सेठ साहिब के जीवन को सामने रखकर उनके आदर्श व उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आदर्श जीवन यापन करेंगे।

फिर बिजली का बटन दबाकर माननीय राज्यपाल महोदन ने स्व० सर सेठ हुकमचन्द जी एवं दानशीला सेठानी कंचनबाई की जँवरीबाग उद्यान मे स्थापित प्रस्तर प्रतिमाओं का अनावरण किया। तथा माननीय राज्यपाल ने जवरीबाग मे स्थित स्व० सर सेठ साहिब की समाधि पर पुष्पहार चढ़ाया। उनका अध्यक्षीय भाषण अंग्रेजी में हुआ, जिसका अनुवाद श्रीमती अग्रवाल ने किया।

[शेष टा० के तीसरे पेज पर]

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १६ किरण ६	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण सवत् २४६३, वि० स० २०२३	फर्वरी सन् १९६७

सरस्वति-स्तवनम्

जयत्यशेषामरमौलिलालितं सरस्वतित्वत्पदपङ्कजद्वयम् ।
हृदि स्थितं यज्जनजाड्यनाशनं रजोविमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥१॥
अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं न चान्तरं नैव बहिश्च भारति ।
न ताप कृज्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकल प्रकाशकम् ॥२॥

—मुनिश्री पद्मनन्दि

अर्थ—हे सरस्वती ! जो तेरे दोनों चरण-कमल हृदय में स्थित होकर लोगो की जड़ता (अज्ञानता) को नष्ट करने वाले तथा रज (पापरूप धूलि) से रहित होते हुए उस जड़ और धूलि युक्त कमल की अपेक्षा अपूर्वता (विशेषता) को प्राप्त होते हैं वे तेरे दोनों चरण-कमल समस्त देवों के मुकुटों से स्पर्शित होते हुए जयवन्त होवे ॥ हे सरस्वती ! जो तेरा तेज न दिन की अपेक्षा करता है और न रात्रि की भी अपेक्षा करता है, न अभ्यन्तर की अपेक्षा करता है और न बाह्य की भी अपेक्षा करता है, तथा न सन्ताप को करता है और न जड़ता को भी करता है; उस समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले तेरे तेज की मैं स्तुति करता हूं ॥

भावार्थ—सरस्वती का तेज सूर्य और चन्द्रमा से भी अधिक श्रेष्ट है; क्योंकि सूर्य, चन्द्र तेज दिन एवं रात्रि की अपेक्षा करने के साथ सन्ताप और जड़ता (शीतलता) को भी करते हैं। और जहा वे बाह्य अर्थ के ही प्रकाशक हैं। वहां सरस्वती का तेज दिन और रात्रि की अपेक्षा न करते हुए अन्तस्तत्त्व को प्रकाशित करता है।

पतियान दाई

एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर

गोपीलाल ग्रमर

पतौरा ग्राम

मध्यप्रदेश में, सतनासे दक्षिणपूर्व में लगभग १० मील और उचहरा से उत्तर-पश्चिम में लगभग १० मील पर पतौरा१ नाम का एक साधारण ग्राम है। प्राचीन पृष्टपुर आज पतौरा हो गया प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति२ में पिष्टपुर (पैष्टपुरक)का उल्लेख है।३ सर ए कनिंघमने उसे पृष्टपुरी ही, पढ़ा था जिसके पश्चात् ही उस प्रशस्ति में, उनके अनुसार महेन्द्रगिरिक, उद्यारक और स्वामिदत्त का उल्लेख है।४ यदि सर कनिंघम का यह पाठ प्रामाणिक मान लिया जाय तो हम न केवल पृष्टपुरी से पतौरा का ही, बल्कि महेन्द्रगिरिक से महियार५ का और उद्यारक से उचहरा६ का भी समीकरण कर सकेंगे। गुप्त युग के महाराज संक्षोभ के सं २०६ के७ एक८ और महाराज सर्वनाथ के सं० १९७ [9] और २१४ [10] के दो११ कांस्य-अभिलेखों में पृष्ठपुरिका देवी का नाम आया है, इससे भी सर कनिंघम के मत की पुष्टि होती है जैसाकि आगे कहा जाएगा,१२ सर कनिंघम प्रस्तुत मन्दिरमें प्राप्त मूर्ति को भी पृष्टपुरिका देवी की मानते हैं।१३

मन्दिर की स्थिति और आकार प्रकार

पतौरा से पूर्व मे चार मील पर, सतना से दक्षिण-पश्चिम में छह मील पर और उचहरा से उत्तर में आठ मील पर सिन्दूरिया नाम की एक पहाड़ी है। इसी पहाड़ी पर एक छोटा सा टीला है जिस पर एक लघुकाय मन्दिर खण्ड स्थित है। इस मन्दिर को 'पतियान दाई'१४ या 'डुबरी की मढ़िया१५ कहते हैं।

यह उत्तरमुख मन्दिरखण्ड वाहर से साढ़े छह फुट समचतुष्कोण और सीढी से सात फुट ऊँचा है। भीतर से इसकी लम्बाई साढे चार फुट, चौड़ाई साढ़े पांच फुट और ऊचाई छह फुट है। समूचे मन्दिर को सात फुट आठ इंच

---

१. इसका उच्चारण सर. ए. कनिंघम ने पिथावरा (Pithaora) किया है।

२. सी. आई. आई., जिल्द ३, अभिलेख सं. १, पृ० १, फलक १।

३. '......कौसलक महेन्द्रमहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरल-कमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौटटूरकस्वामिसैरण्ड-पल्लकदमन...... ।'

४. ए. आर., ए. एस. आई., जिल्द ६, पृ. १०।

५. वही, पृष्ठ ३३ और आगे।

६. वही, पृष्ठ ५ और आगे।

७. सी. आई. आई., जि. ३ अभिलेख सं. २५ पृ. ११२, फलक १५ बी (द्वितीय)।

८. '......तमेव च स्व (ं) गसोपानपंक्तिमारोपयता भगवत्याः पिष्टपूर्याः कार्तिकदेवकुले...... ।'

९. सी. आई. आई., जिल्द ३, अभिलेख सं. २८,पृ.१२९, फलक १८।

१०. वही, अभिलेख स. ३१, पृ० १३५, फलक २०।

११. (अ) 'भगवत्याः पिष्टपुरिक (ा) देव्याः खण्डफुट्ट-प्रतिसंस्कारकरणाय... ।'

११. (ब) '......तेनापि मानपुरे कार्तिकदेवकुल (`) भगवत्याः पिष्टपुरिकादेव्याः पूजानिमित्तम्...... ।'

१२. देखिये आगे टिप्पणी ३३।

१३. ए. आर., ए. एस., जिल्द ९, पृ ३१।

१४. सर कनिंघम इसका उच्चारण 'पतैनी देवी (Pataini Devi) करते हैं। देखिये वही।

१५. दो टेकड़ियों के बीच स्थित होने से इसे यह नाम मिला बताते हैं।

लम्बे, सात फुट चार इंच चौड़े और आठ इंच मोटे एक ही पत्थर से ढका गया है जिसने इस मन्दिर को सुरक्षित रखने और सुन्दरता बनाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। प्रवेशद्वार १६ की ऊंचाई साढे तीन फुट और चौडाई दो फुट है।

प्रारम्भ मे इसके सामने एक मण्डप था, जिसके दो स्तम्भ मन्दिर के उत्तरी कोणो से सटे थे और शेष दो उनसे कुछ आगे स्थित थे। मण्डप की सामग्री मन्दिर के आसपास स्पष्ट रूप से उपलब्ध नही है तथापि उसके अस्तित्व मे सन्देह नही किया जा सकता, क्योकि जैसा कि चित्र १७ से स्पष्ट है, प्रवेश द्वार के ऊपर दो कड़ियों (बडेरो) को काटकर दीवाल के समतल कर दिया गया है जो इस मण्डप का आधार थी।

इस मन्दिर को धराशायी करने को कुछ आततायियों ने इसकी पिछली दीवाल के कोणों के, लगभग एक फुट की ऊंचाई पर कुछ पत्थर निकालने की चेष्टा की थी, पर सफल होने से पूर्व ही आततायियो को भाग जाना पड़ा। 'पास के ग्राम के लोग या तो बनाने मे असमर्थ थे या वे यह बताना नही चाहते थे कि यह चेष्टा किसने की थी।'१८

मन्दिर का निर्माणकाल

यह मन्दिर प्रारम्भिक गुप्तकालीन स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है। उस समय के मन्दिरों मे पाये जाने वाले सभी लक्षण इस मन्दिर मे पाये जाते है। इसकी छत गुफा मन्दिरों की भांति सपाट है और उस पर किसी प्रकार की शिखर नही है। यह विशेषता इस मन्दिर को बहुत प्राचीन सिद्ध करती है। स्थापत्य का क्षेत्र जब गुफाओ से मन्दिर तक विस्तृत हुआ होगा तब उसका स्वरूप गुफाओं से बहुत अधिक समान रहा होगा। गुफाओं की सपाट छत और सामने का मण्डप, बिना किसी परिवर्तन के मन्दिरों में भी बनाया जाने लगा, जिसका स्पष्ट आभास हमें इस मन्दिर में दृष्टिगत होता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसके प्रवेश द्वार की चौखट का ऊपरी भाग इतना लम्बा है कि वह द्वार पक्षों की सीमा से आगे बढ़ गया है। मन्दिर स्थापत्य की यह विशेषता, यद्यपि बाद में भी कायम रही, फिर भी मिश्र के मन्दिरो और उदयगिरि तथा नासिक की गुफाओं मे भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यह विशेषता निस्सन्देह रूपसे प्रारम्भ में प्रचलित लकड़ी की चौखट से ग्रहण की गई है, जिसमें ऊपरी भाग की लम्बाई एक जरूरत की चीज थी, और उसका प्रतिरूप होने की वास्तविकता से यह स्पष्ट होता है कि भारत में और अन्यत्र भी लकड़ी प्राचीनतर निर्माण से ही पत्थर का मूल्यवान् स्थापत्य उद्भूत हुआ था।१९ इस मन्दिर की तीसरी विशेषता है उसके द्वार पक्षो पर गगा-यमुना का अकन। गुप्त-पूर्व काल से ही यह विशेषता मन्दिर स्थापत्य में स्थान पा लेती है और बहुत बाद तक चलती रहती है। चौथी विशेषता यह है कि इसकी कारनिस चारो ओर बनायी गई। यही बात साची और तिगोवा के मन्दिरो में परिलक्षित होती है, इसलिए मैं दृढ़तापूर्वक, इस मन्दिर का निर्माण गुप्तकाल मे हुआ मानता हूँ।२०

यद्यपि पतियानदाई मन्दिर मे कोई अभिलेख उपलब्ध नही हुआ है२१ तथापि उसे गुप्तकाल का एक सुन्दर उदाहरण मानने में कोई आपत्ति नही रह जाती, उदयगिरि की गुफाओं और एरन तथा बिलसर के मन्दिरों की ठीक यह शैली है जिसमे प्राप्त अभिलेख उन्हें गुप्तकालीन सिद्ध करने मे पूर्णत समर्थ है।

---

१६. इसका विस्तृत विवरण, इसी लेख मे आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१७. इसके छायाकार श्रीनीरज जैन, सतना है जिनसे यह साभार प्राप्त किया गया है। साथ का रेखाचित्र भी देखिये जिसमें मण्डप का अनुमानतः रेखांकन किया गया है।

१८. ए. आर., ए. एस. आई. जिल्द ९, पृ. ३२-३३।

१९. वही, पृ. ४३।

२०. वही पृ. ३२।

२१. इस मन्दिर मे जो मूर्ति प्राप्त हुई थी उसपर उसकी परिकर-मूर्तियों के नाम उत्कीर्ण हैं जिनकी लिपि गुप्तोत्तर काल की है पर जैसा कि आगे लिखा जा रहा है, इस मूर्ति का सम्बन्ध इस मन्दिर के निर्माण काल से जरा भी नही है।

प्रवेशद्वार और गर्भगृह

प्रवेशद्वार के दायें द्वारपक्ष पर गंगा का और बायें द्वार पक्ष पर यमुना का अंकन है। प्रत्येक देवी की ऊचाई सवा फुट है। गंगा का वाहन मकर और यमुना का वाहन कूर्म दिखाये गये हैं। दोनों के एक हाथ में कलश और दूसरे मे चमर हैं। इनके शरीर का त्रिभंग इस सयम के साथ उभारा गया है कि उसकी प्रतिकृति करने में खजुराहों का कलाकार भी असफल रहा प्रतीत होता है। दोनों के आभूषण विशेष सुन्दर बन पड़े है। गगा के पार्श्व मे यक्ष की एक भामण्डल सहित चतुर्भुज मूर्ति अंकित है जिसका प्रथम हाथ खण्डित है और शेष मे क्रमशः गदा नाग और श्वान दिखाये गये हैं। इसी प्रकार यमुना के पार्श्व में भी एक भामण्डल सहित चतुर्भुज यक्षमूर्ति है। इसका भी प्रथम हाथ अशतः खण्डित है जिसके शेष भाग में किसी जानवर की रस्सी अब भी देखी जा सकती है। शेष तीन हाथों में क्रमशः गदा, कमल और नाग अंकित है गंगा और यमुनाके शिरोभाग से द्वार की बराबरी तक सीधे पाषाण पर साधारण बेलबूटे अकित है और चौखट के ऊपरी भाग पर दोनों ओर फणावलि सहित पार्श्वनाथ की तथा मध्य में आदिनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण की गई है। ये तीनों प्रतिमाएं पद्मासन में हैं और प्रत्येक की ऊचाई पांच इच है। प्रवेशद्वार पर, गर्भगृह की ही भांति अप्सराओं और सुन्दरियों आदि के अंकन के अभाव से स्पष्ट है कि उस समय तक कलाकार की छेनी पर सयम का पहरा था। इसके अतिरिक्त सर कनिंघम ने यहाँ एक शिव-पार्वती की प्रतिमा भी अंकित देखी थी२२ जो अब वहाँ उपलब्ध नही है। पर यह निश्चित है कि प्रतिमा शिव-पार्वती की न होकर धरणेन्द्र-पद्मावती की थी; क्योंकि उन दोनों प्रकार की प्रतिमाओं मे कई दृष्टियों से समानता होती २३ और सर कनिंघम के समय तक जैन प्रतिमाशास्त्र प्राय. अप्रकाशित थे अतः उनका यह भ्रम आश्चर्यजनक नहीं।२४

गर्भगृह मे पूर्व-पश्चिम दीवालों को छूती हुई एक साधारण वेदी है। इस पर अब कोई प्रतिमा नहीं है पर सर कनिंघम ने वहाँ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और विशाल प्रतिमा देखी थी२५ जिसे अब प्रयाग-नगर-सभा के सग्रहालय में देखा जा सकता है।२६

प्रतिमा का नाम

इस प्रतिमा को क्या नाम दिया जाय, यह विशेष रूप से विचारणीय है। स्थानीय जनता इसे इस मन्दिर के नाम पर 'पतियान दाई' नाम देती है।२७ सर कनिंघम ने इसे 'पतैनी देवी' लिखा है २८ और उसका समीकरण महाराज संक्षोभ के एक२९ और महाराज सर्वनाथ के दो३० कांस्य-अभिलेखों में उल्लिखित 'पिष्टपुरिका देवी' से किया है।३१ पर यह समीकरण न तो पुरातत्व की दृष्टि से सभव है३२ और न भाषा शास्त्र की दृष्टि से३३। श्री नीरज जैन का अनुमान भी, इस प्रतिमा के नाम के संबन्ध मे उल्लेखनीय है; 'देवी अम्बिका के आसन पर भी एक पंक्ति का लेख है जो अस्पष्ट है। मुनि कान्ति-

---

२२. ए. आर. ए. एस. आई., जिल्द ६, पृ. ३२।

२३. देवगढ में धरणेन्द्र-पद्मावती की सैकड़ो प्रतिमाएँ देखो जा सकती हैं जिन्हें सहसा कोई साधारण पुरातत्वज्ञ शिव-पार्वती की प्रतिमा समझ बैठताहै।

२४. यह सर कनिंघम का भ्रम ही था क्योंकि उन्होंने अग्रलिखित अम्बिकामूर्ति की पार्श्ववर्ती मूर्तियों को भी ब्राह्मण-देवियाँ कहने की भूल की है। देखिये, ए. आर., ए. एस आई., जिल्द ६, पृ० ३२।

२५. वही, पृ० ३१ और आगे।

२६. इस प्रतिमा के स्थानान्तरित किये जाने की तथा कथा के लिए देखिये, अनेकान्त (अगस्त ६३), वर्ष १६, किरण ३, पृ० ९९।

२७. यह भी सभव है कि प्रतिमा के नाम पर यह नाम मन्दिर को मिला हो, जैसा कि प्रायः सर्वत्र होता है।

२८. ए. आर., ए, एस. आई, जिल्द ६, पृ० ३१।

२९. देखिए, पीछे टिप्पणी ७ और ८।

३०. देखिए, पीछे टिप्पणी ९, १० और ११।

३१. ए., आर, ए, एस, आई, जिल्द ६, पृ० ३२।

३२. क्योंकि इन दोनों महाराजों की इष्ट देवी पृष्टपुरिका पतौरा में नही, बल्कि खोह के आस-पास किसी मन्दिर मे थी। देखिए, उक्त तीनों कांस्य अभिलेखों के सम्बन्ध में, सी. आई. आई., जिल्द तीन में पुरातात्त्विक टिप्पणियाँ।

३३. 'पिष्टपुरिका' शब्द किसी भी नियम से 'पतियान' या 'पतैनी' शब्द का रूप नहीं ले सकता।

सागर ने इसे रामदास और पद्मावती पढ़ कर यह अनुमान लगाया था कि मूर्ति का प्रतिष्ठापक कोई रामदास नामक व्यक्ति था जिसका निवासस्थान पद्मावती रहा होगा। मेरे अनुमान से रामदास की पत्नी का नाम पद्मावती होना चाहिए, जिसका बनवाया यह मन्दिर पद्मावती मन्दिर के नाम से विख्यात हुआ होगा तथा यही नाम कालान्तर में अबोध ग्रामीणों द्वारा "पतियान दाई" हो गया होगा३४। इस अनुमान मे प्रथम आपत्ति तो यह है कि वह एक अस्पष्ट लेख और उसके अनिश्चित पाठ पर आधारित है, और दूसरी आपत्ति यह है कि पद्मावती शब्द का अपभ्रंश रूप या मुखसुख के लिए गढ़ा गया रूप "पदुमावई" या 'पउमावई' हो सकता है, 'पतियान' या 'पतियानदाई' नहीं।

इस प्रतिमा का वास्तविक और मौलिक नाम 'पतियान दाई' ही है। इसमें 'पतियान' शब्द मे पति (सिंह के रूप में है) यान (वाहन) जिसका ऐसी३५, इस प्रकार का विग्रह होकर बहुव्रीहि समास होता है। अतः 'पतियान' शब्द अपभ्रंश का या तद्भव शब्द नहीं; बल्कि मूल या तत्सम ही शब्द है। और 'दाई' शब्द 'धात्री', 'दात्री' या 'देवी' मे से किसी का भी अपभ्रंश या तद्भव रूप हो सकता है।

---

३४. अनेकान्त, (अगस्त '६३), वर्ष १६, किरण ३ पृ० १०३।

३५. इस प्रतिमा-फलक में अनेक प्रतिमाएं हैं जिनमे विशालतम और मुख्यतम है अम्बिका की। यह देवी अपने पूर्व जन्म में एक ब्राह्मणी थी और उसका वाहन सिंह अपने पूर्व जन्म में उसका पति था। इसकी कथा अत्यन्त मार्मिक और मनोरंजक है। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय गिरिनगर मे एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था। उसने पितृश्राद्ध के समय ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया परन्तु उसकी पत्नी अग्निला ने ब्राह्मणों से पूर्व ही एक जैन मुनि को आहार करा दिया जिस पर क्रुद्ध होकर ब्राह्मण भोजन किये बिना ही चले गये। इस पर भी क्रुद्ध होकर सोमशर्मा ने अग्निला को घर से निकाल दिया और वह अपने पुत्रों शुभंकर और प्रभंकर के साथ ऊर्जयन्त पर्वत पर रहने लगी। उसके पुत्र भूख से व्याकुल हुए तो उसके पुण्य प्रभाव से एक आम का वृक्ष बेमौसम ही पुष्पित-फलित हो उठा। उसने उन फलों से अपने पुत्रों की भूख शान्त की। उधर गिरिनगर में, संयोगवश आग लगी और अग्निला का घर छोड़ कर शेष सभी ब्राह्मणों के घर जल गये। बेघर ब्राह्मणों ने इसे अग्निला का महत्त्व माना जिनके आग्रह से सोमशर्मा उसे ससम्मान लेने चला पर अग्निला ने उसे आता देखा तो समझी कि यह मुझे अधिक कष्ट देगा। अत वह अपने पुत्रों के साथ पर्वत की चोटी से कूद कर मर गई और तीर्थङ्कर नेमिनाथ की यक्षी हुई। उस यक्षी का नाम आम्रादेवी या अम्बिका हुआ, क्योंकि आम्रवृक्ष से उसका एक विशेष प्रकार का नाता जुड़ चुका था, इसीलिए उसकी प्रतिमा मे उसके ऊपर आम का वृक्ष और उसके एक हाथ में आम का गुच्छा दिखाया जाता है। वह अपने एक पुत्र को गोद मे और दूसरे को साथ में लेकर पर्वत से कूदी थी इसीलिए उसकी प्रतिमा में एक बालक उसकी गोद मे और एक बालक उसके पार्श्व में दिखाया जाता है। उसे मरी हुई देख कर उसका पति सोमशर्मा भी व्याकुल होकर मर गया और सिंह बना और उसके वाहन के रूप मे उसकी सेवा करने लगा। इसीलिए अम्बिका की प्रतिमा में वाहन (यान) के रूप में सिंह दिखाया जाता है। यह कथा कुछ-कुछ भिन्न रूपों में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध है। देखिए—

(१) पुण्याश्रव कथाकोष में यक्षी कथा,
(२) वादिचन्द्र का अम्बिका कथासार,
(३) प्रभावक चरित में विजयसिंह सूरिचरित,
(४) पुरातन प्रबन्ध संग्रह में देव्या. प्रबन्ध और
(५) अम्बिका से संबन्धित विभिन्न लेखों के लिए देखिए टिप्पणी ४२ तथा
(६) अम्बिका की प्रतिमा के लक्षणों के लिए देखिए टिप्पणी ४० तथा
(७) अम्बिका-प्रतिमाओं के विभिन्न रूपों के लिए देखिए टिप्पणी ४१।

प्रतिमा का आकार-प्रकार—

इस प्रतिमा और उसके सपूर्ण परिकर की रचना सवा तीन फुट चौड़े और पौने छः फुट ऊँचे शिलाफलक पर हुई है इस फलक पर अम्बिका के अतिरिक्त शेष २३ शासन देविया यक्षिया, १३ तीर्थंकर३६, नवग्रह, अम्बिका के दोनों पुत्र शुभंकर और प्रभंकर, एक भक्त युगल और दो सेविकाएँ, इस प्रकार कुल मिल कर ५२ व्यक्तियों की प्रतिमाएँ हैं जिनमें जैसा कि कहा जा चुका है, विशालतम और मुख्यतम अम्बिका की है। इसी अम्बिका के एक विशेषण 'पतियान' के रूप में ही इस प्रतिमा और इस मन्दिर को नाम प्राप्त हुए हैं। इन प्रतिमाओ के अतिरिक्त, अम्बिका का वाहन सिंह भी अपने स्थान पर अंकित है और फलक के पार्श्व मे गज, अश्व तथा मकर आदि की आकृतिया भी सज्जा की दृष्टि से दोनो ओर अंकित की गई हैं।

जैन पुरातत्व की दृष्टि से, प्रतिमा शास्त्रीय लक्षणों की साङ्गोपाङ्ग अभिव्यक्ति से और मनोहारी सौन्दर्य के कारण यह मूर्ति भव्य और अनुपम बन पड़ी है। चतुर्विशति पट्ट तो देवगढ़ आदि में सैकडों की सख्या मे उपलब्ध है पर उनमे से किसी एक पर भी एक-दो से अधिक शासन देवियों का अंकन उपलब्ध नहीं होता जबकि इस पर एक साथ३७ चौबीसों शासन देविया अपने-अपने उपास्य तीर्थंकर और नाम के साथ अंकित की गई हैं। मुनि कान्तिसागर के शब्दों मे इसका परिकर न केवल जैन शिल्प-स्थापत्य कला का समुज्ज्वल प्रतीक है, अपितु भारतीय देवी-मूर्ति-कला की दृष्टि से भी अनुपम है३८।

प्रतिमा निर्माण काल—

यह प्रतिमा कला की दृष्टि से मध्यकाल या अधिक से अधिक पूर्व मध्यकाल की प्रतीत होती है। इस पर यक्षियों के नामों की लिपि मध्यकाल से पूर्व की नही अतः ये नाम या तो प्रतिमा के निर्माणकाल में ही उत्कीर्ण किये गये होगे या उसके कुछ पश्चात् उत्कीर्ण किये गये हो सकते है। पर यह निस्सन्देह रूप से निश्चित है कि इस प्रतिमा का निर्माण इस मन्दिर के निर्माण के कम से कम तीन सौ वर्ष पश्चात् हुआ था। इस संबन्ध मे सर कनिघम के शब्द पर्याप्त होंगे, 'अभिलेखों (यक्षी नामों के उत्कीर्ण किये जाने) के प्रारम्भिक काल से भी बहुत पहले का यह मन्दिर प्रतीत होता है। इसलिए निस्सन्देह, यह सभव है कि मूर्ति की स्थापना के काफी समय के बाद नाम उत्कीर्ण किये गये हों। पर मेरा विश्वास इस ओर अधिक है कि कि प्रस्तुत प्रतिमा भी उसी काल की है जिस काल के अभिलेख है और वह (प्रतिमा) इस मन्दिर मे स्थापित की गई थी जो काफी लम्बे समय से खाली पडा रहा था।'३९

अम्बिका मूर्ति—

शिलाफलक के बीचोबीच, शिला के कुछ भाग को उकेर कर और कुछ भाग को कोर कर अम्बिका४० की खड़ी हुई, साढे तीन फुट लम्बी चतुर्भुज४१ मूर्ति४२

---

३६. इस शिलाफलक के खण्डित अश पर शेष ११ तीर्थङ्करो की प्रतिमाएं भी अवश्य थी, क्योंकि उनकी १३ की संख्या का कोई अर्थ नहीं, और चौबीसों यक्षी-मूर्तियों का अस्तित्व भी यही सिद्ध करता है कि तीर्थङ्कर-मूर्तिया भी चौबीस ही थी।

३७. देवगढ में मन्दिर-सख्या १२ के बहिर्भाग पर चौबीसों शासन देवियों का उनके नामों के साथ अंकन है।

३८. खण्डहरों का वैभव, पृ० २५०–५२।

३९. ए. आर., ए. एस. आई., जिल्द ९, पृ० ३२।

४०. (अ) सव्यैकाङ्ग्युपगप्रियंकरसुतं प्रीत्ये करे बिभ्रतीं
दिव्याम्रस्तबकं शुभकराश्लिष्टान्यहस्ताङ्गुलिम्।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितभामाम्रद्रुमच्छायगां।
वन्दारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्बा यजे॥'
आशाधर, पण्डितः प्रतिष्ठासारोद्धार, अ० ३, श्लोक १७६

४०. (ब) 'हरिद्वर्णा सिंहसंस्था द्विभुजा च फलम् वरम्।
पुत्रेणोपास्यमाना च सुतोत्सङ्गा तथाम्बिका॥'
शुक्ल डी. एन., वास्तुशास्त्र, भाग २, पृ० २७३
अपराजितपृच्छा से उद्धृत)।

४१. इसके अतिरिक्त, इस देवी की द्विभुज, षड्भुज, अष्ट-भुज द्वादशभुज आदि मूर्तियां भी देवगढ़ आदि स्थानों पर उपलब्ध होती हैं।

४२. अम्बिका की विभिन्न मूर्तियों के विवरण के लिए देखिए :

(१) शाह यू. पी. : आइकनोग्राफी ऑफ दि जैन गॉडेस

निर्मित की गई है। चारों हाथ खण्डित हैं। शरीर पर अनेक आभूषण हैं। मस्तक पर मणिजटित मुकुट है और अलंकृत केशों के तीन जूड़े ऊपर और तीन पीछे गूंथे गये अंकित हैं। कटि से पैरों तक का भाग सूक्ष्म वस्त्र से आच्छादित बताया गया है। तथा हाथों पर से उत्तरीय के छोर दोनों ओर लटकते दिखाये गये हैं। नीचे पैरो के पास उसका वाहन सिंह४३ अंकित था जो अब खण्डित हो गया है पर उसके ऊपर या उसके समीप बैठा हुआ अम्बिका का पुत्र प्रभंकर४४ अब भी देखा जा सकता है। बड़ा पुत्र शुभंकर४५ उसका संभवतः हाथ पकड़े हुए दूसरे पार्श्व में खड़ा है। पैरों के नीचे दोनों ओर सेविकाएं, बीच में मूर्ति प्रतिष्ठापक भक्त युगल और उनके भी दोनों ओर नवग्रहों४६ का अंकन है। ऊपर भामण्डल का कटाव कमल की पंखुरियों के आकार से मिलता-जुलता होने से अति सुन्दर बन पड़ा है। भामण्डल के ऊपर जिस प्रतीक का अंकन था वह पूर्णतः खण्डित हो चुका है, केवल उसके पांच आधार दिखायी देते है। यहां आम्रमंजरी का अंकन रहा होगा जो अम्बिका की मूर्ति का एक आवश्यक लक्षण है। हाथों के अतिरिक्त मूर्ति की नाक भी खण्डित है।

तीर्थंकर-मूर्तियां—

फलक के सबसे ऊपरी भाग पर, मध्य में अम्बिका के आराध्य बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की प्रतिमा है जिसके आसन के नीचे शंख का चिन्ह है। इस प्रतिमा के दोनो ओर एक-एक कायोत्सर्गासन मे और एक-एक पद्मासन में तथा अम्बिका के पार्श्व की खड़ी पंक्तियों में दोनों ओर गज, अश्व और मकर की आकृतियों के नीचे चार-चार कायोत्सर्गासन प्रतिमाएँ हैं जिन पर चिन्हों का अभाव है। इस फलक पर, इस प्रकार १३ ही तीर्थंकर-मूर्तियां विद्यमान है पर जैसा कि कहा जा चुका है, शेष ग्यारह मूर्तिया भी अवश्य रही होंगी जो अब खण्डित हो चुकी हैं।

शासनदेवी-मूर्तियां—

इस फलक पर चौबीसों शासन देवियों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं; मध्य में मुख्य मूर्ति के रूप मे एक (अंबिका की), नीचे सिंहासन के पार्श्व मे दोनों ओर दो-दो, मुख्य मूर्ति के दोनो पार्श्वों मे खड़ी पंक्तियों में सात-सात और मुख्य मूर्ति के ऊपर (तीर्थङ्कर मूर्तियो के नीचे) पाच। ये सभी देवियां प्रायः खड़ी और चतुर्भुज हैं, अपने-अपने आयुधों से सज्जित हैं और अधिकाश के नीचे उनके वाहन भी अंकित हैं। पार्श्व की दोनों पंक्तियों में बायी ओर की देवियों का दाया और दायी ओर की देवियों का बाया पैर खण्डित है। सभी देवियां विविध आभूषणों से अलकृत दिखायी गई है और उनकी भाव-भंगिमा अत्यन्त भव्य बन पड़ी है।

इन सभी शासन देवियो के आसन पर उनके नाम अंकित हैं, जिन्हे सर कनिंघम ने इस प्रकार पढ़ा था४७ : ऊपर की पांच, बहुरूपिणी, चामुण्डा, पदुमावती, विजया, सरासती; बायी पंक्ति में सात—अपराजित, महामानुसी,

---

अम्बिका . जरनल आफ दि यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, भाग ९ खण्ड २।

(२) जैन, कामताप्रसाद . शासनदेवी अम्बिका और उसकी मान्यता का रहस्य : जैनसिद्धान्तभास्कर (दि० '५४), वर्ष २१, किरण १, पृ० २८।

(३) नाहटा, अगरचन्द्र वादीचन्द्र रचित अम्बिका कथा-सार : अनेकान्त (अक्टूबर-नवंबर '५४), वर्ष १३, किरण ४-५, पृ० १०७)।

४३. कुछ अम्बिका मूर्तियों मे सिंह आसन के रूप मे और कुछ में वह पार्श्व मे खड़ा दिखाया जाता है और कुछ में वह अनुपस्थित भी रहता है।

४४. यह कभी गोद में और कभी पार्श्व में खड़ा या बैठा दिखाया जाता है।

४५. यह कभी खड़ा या बैठा दिखाया जाता है और कभी अनुपस्थित भी रहता है।

४६. जैन स्थापत्य और शिल्प में नवग्रहों का अंकन एक परम्परागत तथ्य है। इसे हम देवगढ़ खजुराहो आदि प्राचीन स्थानों के अतिरिक्त सागर (बुधूच्या का दि० जैन मन्दिर, बड़ा बाजार) जैसे नवीन स्थान पर भी पाते हैं।

४७. ए. आर., ए. एस. आई., जिल्द ६, पृ० ३१।

४८. यह भी सभव है कि सर कनिंघम ने ही इन्हें पढ़ने में त्रुटियां की हों।

अनन्तमती, गान्धारी, महामानसी, जालमालिनी, मानुजी; दायीं पंक्ति में सात—जया, अनन्तमती, वैराता, गौरी, काली, महाकाली, त्रिशंसकला; नीचे की चार के नाम या तो वे पढ़ नहीं सके है या उन्होंने लिखे नहीं हैं। इन नामों के आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकालते हैं :

१. उन्हें उत्कीर्ण करने या कराने वाला व्यक्ति अधिक शिक्षित नही था; क्योंकि उसने भाषा सबन्धी अनेक शोचनीय त्रुटियां की हैं४८।

२. अनन्तमती का नाम दो बार उत्कीर्ण किया गया है अतः यह स्पष्ट है कि कोई एक नाम, प्रमादवश छोड़ दिया गया है।

३. यह नामावलि तिलोयपण्णत्ति४९, अपराजित-पृच्छा५० और प्रतिष्ठा सारोद्धार५१ की नामावली से कुछ भिन्न है।

४. मूर्तियां या तो क्रमश अंकित नहीं की गई हैं या उनके नाम यथास्थान उत्कीर्ण नहीं किये गये हैं; क्योंकि उनका क्रम उपर्युक्त तीनों ग्रंथोंकी नामावली से भिन्न है।

इसके अतिरिक्त श्री नीरज जैन ने भी इन नामों के संबन्ध में कुछ उल्लेखनीय निष्कर्ष निकाले है,५२ जिन्हें यहा उद्धृत किया जाता है :—

१. प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी को प्रजापति लिखा गया है। यह शब्द प्राय: कुंभकार के लिए प्रयुक्त होने से चक्रनाक् भी कहा जाता है और चक्रे-श्वरी का समानार्थक प्रतीत होता है।

२. तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथ की शासनदेवी प्रज्ञप्ति को बुधदात्री के नाम से दर्शाया गया है। यह भी समाना-र्थक नाम है।

३. पांचवे तीर्थङ्कर सुमतिनाथ की यक्षिणी को पुरुषदत्ता के स्थान पर मानुजा सज्ञा दी गई है जो पर्याय वाची ही है।

४. अठारहवे तीर्थंङ्कर अरनाथ की यक्षी तारावती को विजया लिखा है। श्री रामचन्द्रन् ने इस देवी का नाम अजिता लिखा है जो विजया से अधिक साम्य रखता है।

५. अन्तिम तीर्थंङ्कर भगवान् महावीर की शासन-देवी सिद्धायिका का इस फलक पर सरस्वती नाम से स्मरण किया गया है।

६-७. दूसरे तीर्थङ्कर अजितनाथ की रोहिणी का नाम इस फलक पर नही दिया गया है, परन्तु चौदहवे तीर्थङ्कर की देवी अनन्तमती का नाम दो स्थानों पर आया है। स्पष्ट ही यह अनाड़ी कलाकार के प्रमाद से आया ज्ञात होता है।'

---

४९. 'जक्खीओ [१] चक्केसरि–[२] रोहिणी–
[३] पण्णत्ति–[४] वज्जसिखलया।
[५] वज्जकुसाय [६] अप्पदिचक्केसरि–
[७] पुरिसदत्ता य ॥
[८] मणवेगा [९] कालीओ तह [१०] जाला-मालिणी [११] महाकाली।
[१२] गउरी [१३] गधारीओ [१४] वेरोटी
[१५] सोलसा अणतमदी ॥
[१६] माणसि–[१७] महमाणसिया [१८] जया य
[१९-२०] विजयापराजिदाओ य।
[२१] बहुरूपिणि–[२२] कुमुडी [२३] पउमा–
[२४] सिद्धयिणीओ य ॥'
तिलोयपण्णत्ती, भाग १, महाधिकार ४, गाथा ९३७-३९

५०. 'चतुर्विंशतिरुच्यन्ते क्रमाच्छासनदेविका: ॥
[१] चक्रेश्वरी [२] रोहिणी च [३] प्रज्ञा वै
[४] वज्रश्रृंखला।
[५] नरदत्ता [६] मनोवेगा [७] कालिका
[८] ज्वालमालिका ॥
[९] महाकाली [१०] मानवी च [११] गौरी
[१२] गान्धारिका तथा।
[१३] विराटा तारिका [१४] चैवानन्तमतिर च
[१५] मानसी।
[१६] महामनसी च [१७] जया [१८] विजया
[१९] चापराजिता।
[२०] बहुरूपा च [२१-२२] चामुण्डाम्बिका
[२३] पद्मावती तथा ॥
[२४] सिद्धायिकेतु देव्यस्तु चतुर्विंशतिरर्हताम्।'
शुक्ल, डी. एन.: वास्तुशास्त्र, भाग २, पृ० २७१-७२ (पर उद्धृत)।

५१. ....

५२. अनेकान्त, (अगस्त '६३), वर्ष १३, अक ३, पृष्ठ १०१

हिन्दी जैन कवि और काव्य

(वि० सं० १८००-१६५०)

डा० प्रेमसागर जैन

मेरे ग्रंथ—'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, में मध्यकालीन हिन्दी के ६० जैन भक्त कवियों के जीवन और कृतित्व का निरूपण है। उनके भावपक्ष और कला पक्ष पर विचार है, हिन्दी निर्गुण तथा सगुणमार्गी कवियों से तुलना है और हिन्दी जैन भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों का आकलन है। यह मेरा शोध प्रबन्ध था और इसके द्वारा मैं हिन्दी विद्वानो के समक्ष एक नई दृष्टि और एक नया अध्याय रख सका हूँ, ऐसा उन्होंने स्वीकार किया है।

इस 'प्रबन्ध' का समय निर्धारित था। मैंने उसमें सीमित रह कर ही कार्य किया। समय—वि०सं० १४०० से १८०० तक था। शोध के लिए इतना समय अधिक ही है। मैंने उसे पूरा किया। ग्रंथ की भूमिका में मैंने स्वीकार किया है कि हिन्दी काव्य का निर्माण वि० सं० ६६० से प्रारम्भ हुआ एक जैन कवि के द्वारा। वह सतत चलता रहा। जैन कवि लिखते रहे। उन्होंने जो कुछ लिखा, उसमें भक्ति का अंश अवश्य था—थोड़ा या बहुत। अतः मध्यकाल में वि० सं० १००० से १६०० तक जैन भक्ति धारा चलती रही। उस पूरे का परिचय, विश्लेपण और आकलन अवश्य है। मैंने शोध ग्रंथ की 'भूमिका' और 'परिशिष्ट' में इसके ठोस संकेत दिये थे। विश्वास था कि इस अवशिष्ट कार्य को कोई अन्य अनुसन्धित्सु पूरा करेगा किन्तु ऐसा न हो सका। मेरे पास अनेक शोधक आते हैं—पी. एच. डी. की अभिलाषा में। सभी आसान विषय चाहते है। एक कवि या ग्रंथ की आकांक्षा करते हैं। वास्तविक शोध कार्य को अंगीकार करने में हिचकते हैं। उन्हें डिग्री से प्रेम है शोध से नही। तो यह कार्य मैं स्वयं पूरा करूंगा, इसी विचार से यह लेखमाला प्रारम्भ कर रहा हूँ। क्रमशः चलेगी। पूरी हो ऐसा चाहता हूँ।

१. लाला हरयशराय

हिन्दी के जैन कवि साधु थे या व्यापारी। उन्होंने जो कुछ लिखा-स्वान्तः सुखाय था। उसे आजीविका का माध्यम नहीं बनाया। इसी कारण वे दरबारी कवि बनने से बचे रहे। उनका काव्य भी नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में न डूब सका। यह जैन कवियो की मानी-जानी विशेषता थी।

कविवर हरयशराय भी ऐसे ही एक कवि थे। उनका जन्म लाहौर के समीप कसूर नाम के कस्बे में हुआ था। राज्य शान्तिपूर्ण था। प्रतिदिन नये नये उपद्रव होते रहते इनका परिणाम कहिए या सजा सबसे अधिक व्यापारी वर्ग को भोगनी पड़ती थी। उन्हें धन और गहने जमीन में गाड़ने पड़ते, मोटा-झोटा पहनना पड़ता और घर के द्वार बन्द रखने होते या वहाँ से अन्यत्र भाग जाना पड़ता। हरयशराय के पिता ने सब कुछ किया। अधिक-से-अधिक विपत्तियाँ झेलकर टिके रहे। किन्तु दुर्लंध्य भी कही लांघा जाता है। अन्त में, कसूर छोड़कर दूसरी जगह जाना ही पड़ा। वह स्थान नूतन कसूर नाम से प्रसिद्ध हुआ। अवश्य ही कसूर रहने वाले अपना जन्मस्थान विस्मृत न कर सके होंगे, इसी कारण ऐसा हुआ। स्थानगत मोह प्रबल होता है। हरयशराय ने बचपन से ही विपत्तियाँ देखीं। उनका मर्म बिंध गया होगा। कविता के तारों में हलन-चलन हुई होगी। उपादान शक्ति थी ही। समय पर फूट पड़ी तो अजूबा ही क्या। कवित्व का यही इतिहास है।

हरयशराय श्वेताम्बर जैन थे। ओसवाल जाति और गोत्र गाम्धी। किन्तु उनके काव्य से स्पष्ट है कि वे जाति और सम्प्रदाय से कहीं ऊपर थे। उनका हृदय शुद्ध था, निष्पक्ष और तरल। उन्होंने कभी किसी बन्धन को सहेजा नहीं। फिर वे जाति के घेरे में बंधने वाले जीव भी नहीं

थे। उनका काव्य मुक्त गंगा सा पावन रहा। अनुभूतियाँ तरंगों-सी उठतीं और एक लचक के साथ अभिव्यक्त हो पड़तीं। व्यापारी होते हुए भी उनकी अभिव्यक्ति संस्कृत-निष्ठ, मंजी, निखरी होती। स्पष्ट था कि स्वत: अध्ययन के बलपर हो या शिक्षा के आधार पर, उन्हें संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। प्रारम्भिक भाग-दौड़ के मध्य विधिवत शिक्षा तो क्या मिली होगी, हो सकता है कि घर के सुसंस्कृत अध्ययनशील वातावरण का उन पर प्रभाव हो। उनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। हिन्दी के अनेक जैन कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने घर पर रह कर ही प्रारम्भिक शिक्षा पाई फिर मन्दिरों में प्रतिदिन के स्वाध्याय और आध्यात्मिक गोष्ठियों में सतत सम्मिलित होते रहने से विद्वान तथा कवि बने। हरयशराय भी इसी भांति जैन ग्रथ पढ़ कर और शास्त्र प्रवचन सुन-सुनकर सस्कृत-प्राकृत भाषाओ के जानकार हो गये हों तो आश्चर्य नही है। कुछ भी हो, उनकी शब्द शक्ति अपार थी। उस पर अधिकार था। अनुभूति को शब्द चित्रवत उतार दे, यही काव्य की सहजता है। वह उनमें थी।

कवि हरयशराय का रचनाकाल सुनिश्चित रूप से ईसा की १६ वीं शती का प्रारम्भ माना जाना चाहिये। उनकी देवाधिदेव रचना वि० सं० १८६० में और साधु गुणमाला १८६४ में पूर्ण हुई१। इसका तात्पर्य है कि उनका जन्म ईसा की १८ वीं शती के अन्तिम पाद मे हुआ होगा। यह गौरव की बात है कि पंजाबी होते हुए भी उन्होंने काव्य-सृजन हिन्दी में किया। इतना सच है कि उनके काव्य पर पंजाबी और राजस्थानी का प्रभाव है। भाषा में प्रवाह और गतिशीलता है। अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा दृष्टान्त आदि अलंकारों की छटा सहज और स्वाभाविक है। उनकी परिगणना हिन्दी साहित्य के मंजे कवियों में होनी ही चाहिये। जैन कवियो के द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का भावपक्ष उत्तम है तो बाह्यपक्ष भी परिमार्जित है। उसमे रसधार है तो अलंकार-निष्ठता भी। फिर भी ऐसे जैन उपदेश और प्रचार-प्रधान कह कर अस्वीकार किया जाता है। जैसे, रामचरितमानस वैष्णव धर्म पर आधृत है, वैसे ही रायचन्द्र का सीताचरित और लालचन्द का लब्धोदय का पद्मिनीचरित जैनधर्मसे सम्बन्धित है। जैसे सूरसागर वैष्णवभक्ति से ओतप्रोत है वैसे ही भूधरदास, द्यानतराय, देवाब्रह्म आदि के पदों में जैनभक्ति का स्वर प्रबल है, किन्तु इतने मात्र से एक पक्ष को तो साहित्य की कोटि मे गिना जाय और दूसरे को निष्कासन मिले, उचित नही है।

लाला हरयशराय ने देवाधिदेव रचना, देववाणी और साधु गुणमाला का निर्माण किया था। पहली मे ८४५, दूसरी में ५५६ और तीसरी मे १२४ छन्द हैं। इनमें दोहा, कवित्त, सवैय्या छप्पय, द्रुमल और मरहटा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

ये तीनों कृतियाँ भक्ति से सम्बन्धित हैं। आराध्य हैं जिनेन्द्र प्रभु जो नितान्त वीतरागी हैं। उन्हें किसी वस्तु की चाह नहीं, उनमे से राग-द्वेष निकल गये हैं। वे सर्व ज्ञाता और सर्वदृष्टा हैं, किन्तु कर्त्ता नही। जैनभक्त यह जानता है कि उसका आराध्य कुछ भी देने में समर्थ नहीं है, फिर भी वह उसकी भक्ति करता है, केवल इस लिए कि उसके अपने भाव वीरागता की ओर उन्मुख होगे। इसके अतिरिक्त उसकी कोई अभिलाषा नहीं होती। उसकी भक्ति नितांत अहैतुक थी, अकारणिक थी। वह अपने आराध्य के केवल आत्मिक गुणों पर ही रीझा है। इन्हीं गुणों के बल पर उसका आराध्य विश्व में व्याप्त है और अव्याप्त भी। वह समूचे विश्व को देखने की सामर्थ रखता है, इसलिए व्यापक है, किन्तु स्वयं 'चिदानन्द' होने के कारण उनमे नितांत भिन्न भी है। उसमे विश्व का व्यापकाव्यापकत्व भाव है। वह उसकी अनेकांत परम्पराके अनुकूल ही है।

"सर्व को देख रहे संभु व्यापक
सर्व तें भिन्न चिदानन्द नामी।
लोक अलोक विलोक लयो प्रभु
श्री जिनराज महापद कामी।
आतम के गुण साथ विर्षे भवि
सेवक वंदत है रुचि पामी।"

(देवाधिदेव रचना—पद २६ वां)

जो भव-पीड़ को नष्ट कर चुका, भव से जिसका

१. देखिये दोनों ग्रन्थों की अन्तिम प्रशस्ति।

सम्बन्ध नहीं, जो भव के मुख्य गुण राग-द्वेष मुक्त है, वह भव पर करुणा करे और उसके सहारे जीव संसार से तर जाये, एक विचार का विषय है। यह सच है कि कर्तृत्व के नितान्त अभाव में जिनेन्द्र करुणा क्या; कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं है। किन्तु फिर भी उनसे एक ऐसी प्रेरणा मिलती है, जिससे यह जीव स्वत: संसार से तर जाता है। भव-पीड़ा को नष्ट करने की उपादान शक्ति उस में मौजूद है, उसी से वह तरता है। कोई किसी को तारता नहीं—भगवान भी नही। किन्तु जो तर चुके हैं या तरने के पथ पर अग्रगामी हैं, उनसे प्रेरणा तो मिलती ही है। इसी को सब कुछ मान कर जैन भक्त भक्ति-भरे गीतों का सृजन करता है। उसकी रचनाओं का बाह्य रूप अजैन भक्तों की कृतियों के समान ही होता है; किन्तु पृष्ठभूमि में सैद्धान्तिक भाव-धारा का मोड़ भिन्न होता है। जो इसे नहीं समझता वह जैन भक्ति को भी नही समझता। लाला हरयशराय ने लिखा है कि—

आप तरे बहु तारत हैं प्रभु, श्री जिनदेव जिनद सुजाने।
सेवक वंदत है कर जोर, करो मुझ पार दयानिध दाने[1] ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है—सुजान श्री जिनदेव स्वयं तरे और दूसरों को भी तारा। सेवक हाथ जोड़ कर वन्दना करता है कि हे दयानिधि ! मुझे भी पार कर दो। ऐसा प्रतीत होता है जैसे भक्त की वन्दना से दया-द्रवित हो श्री जिनेन्द्रदेव उसे भव-समुद्र से पार लगा देंगे। यदि ऐसा हुआ तो जैन सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। वह हो नहीं सकता। जिनेन्द्रदेव ऐसा कर नही सकते। उनके साथ 'कृञ्' धातु का सम्बन्ध ही नही है। किन्तु उनसे प्रेरणा ऐसी मिलती है कि जैन भक्त स्वतः पार होने के प्रयास में लग जाता है। यद्यपि वह स्वत: के प्रयत्न से तर जायेगा; किन्तु प्रेरणा तो जिनेन्द्र से मिली, इसी कारण वह उनके प्रति कृतज्ञ है। और इसी करण स्वतः की उपादान शक्ति का फल भी उनके चरणों की कृपा मानता है। ये गीत इसी भावधारा की देन होते हैं।

कवि मे चित्रांकन की अभूतपूर्व क्षमता है। भगवान जिनेन्द्रदेव समवशरण में विराजे हैं और इन्द्र सदलबल उनके दर्शनार्थ आ रहा है। कवि ने उसका चित्र सिंहावलोकन छन्द में उकेरा है। साथ में यमकालंकार की छटा कवि के काव्य-नैपुण्य की प्रतीक है। इन्द्र के साथ कुमारी देवांगनाएँ हैं। उनका रूप-यौवन अनुपम है। देवकुमारों के साथ वे ऐसे शोभा दे रही हैं, जैसे वस्त्र पर आभूषण दमकते हैं। दोनों साथ-साथ नाना कौतुक रचते हैं, खेल खेलते हैं। उनके चित्त जिनेन्द्र की भक्ति से स्फुरायमाण होकर आनन्दोलसित हैं—

"कुमारी सुकुमार मार रत जिम पटभूषण मोदमई।
खेले मिल खेलखेल कौतुक के कौतुक विष नर लोक भई ॥
नरसिंहपुर पूर संखोत्तम उत्तम झालर भेरितुरी।
सुरगण उलसंत शांत समके चित्त चित्त मो जिणवर भक्ति फुरी ॥५८॥"

गंधर्व गाते है, नटदेव नाचते है। घटा-से घणघोर ध्वनि निकलती है। ढोलक ढमक रही है। पैरों मे पड़े घुंघरू छन-छन कर बज रहे है। यहा कवि का शब्द-लालित्य ध्वनियों को भी साकार करने मे समर्थ प्रमाणित हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का शब्दो पर एकाधिकार था। वह दृश्य देखिए—

"गावे गंधर्व सर्वस्वरपूरण पूरण विष गुणग्राम करें।
नाचे नटदेव देवचरण रच रच नाटक नटरूप धरें ॥
घंटा घणघोर घोर घटरविवढोलकवर ढोलरमं।
छंणे छणकंतकत धुन छननछिन छिन प्रभुपगदेवनमं ॥६०॥"

देवगणों ने भाति-भाति के नाटक और स्वांगों की रचना की। राग रागनियो मे सधा उनका गायन भी भक्ति-पूर्ण था। उसमे लय-तान भी और भाव विभोरता भी। रास, नाटक, स्वांग, गायन, वादन और नृत्य-भक्ति के प्रमुख अंग रहे हैं। जैन परम्परा ने उसे भली भांति अपनायी। आज से नही, बहुत पहले से। उसे लेकर मध्यकाल में विकृति आई, बढ़ चली, किन्तु कुछ आचार्यों के सुदृढ़ प्रतिरोध से वह गतिहीन हो गई। मैंने अपने ग्रथ 'जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि' मे इन अगों का तारतमिक इतिहास देने का स्वल्प प्रयास किया है। वैसे केवल इनको लेकर ही एक पृथक ग्रन्थ की रचना हो सकती है। यहा लाला हरयशराय ने एक पद्य मे उसका उल्लेख किया है—

'बत्तीसो भांत भांत भांतन के नाटक स्वांग अनूप करें।
गावे समराग रागिनी संयुत संयुत मुरछा ग्राम धरें ॥

---

1. देवाधिदेव रचना, ४४वा पद्य।

देखे जिम चित्र विचित्रनानाविध नानाविध सुररिद्धि हुये।
जिनवर सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु
प्रभु समाधि थिर चित्त भये ॥६१॥"

देवरचना लालाजी के हृदय की देन है। वह भक्ति का तो निदर्शन ही है। जिनराज को केवलज्ञान हुआ तो उसके 'महोछव' में सम्मिलित होने के लिए करोड़ों सुर-वृन्द चल पड़े। हृदय आनन्द से उमगे पड़ रहे थे। कोई हँस रहा था, कोई सिंहनाद कर रहा था, कोई गरज रहा था। कोई एक-दूसरे से मिल कर मुसुकुरा उठा तो किसी ने हास-विलास में ही चित्त लगाया। इस भांति महोत्सव का रंग सब पर सवार था। अभी जिनराज के दर्शन हुए नहीं थे, किन्तु जैसे वातावरण एक अदृश्य शक्ति से रस-भीना हो उठा था। जब कोई आत्मा परमात्मा बनती है तो सृष्टि के जड़ और चेतन सभी पुलकित हो उठते है। मलिनता भर जाती है और एक अनिर्वचनीय सुख व्याप्त हो उठता है। देवगण उसी दिव्य शक्ति के तार में बंधे चले जा रहे हैं—

"केवल ज्ञान प्रकास भयो सब इन्द्रमहा महिमा हित आए।
होइ विनीत लगे चरणों कर जोर टिके चित भक्ति भराए॥
बैन पियूष सुधर्म कथा सुख-दायक श्री जिनराज सुनाए।
जीव-अजीव पदारथ निश्चिल,
लोक-अलोक के भेद बताए ॥६३॥"

कवि कौन है? अर्थात् कवि की परिभाषा क्या है? या कवि किसे कहते है? काव्य के क्षेत्र में एक प्रारम्भिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका साहित्यशास्त्र के अनेकानेक आचार्यों ने अपने अपने ढंग से उत्तर दिया है। वे आचार्य कवि नहीं थे, केवल आचार्य थे। उन्होने काव्य सिद्धान्तों का प्रणयन किया था किन्तु स्वयं कविता नही की थी। वे अधूरे थे। काव्य सिद्धान्तों की बांध में नहीं बाधा जा सकता है। न उस परतन्त्रता को उसने कभी सहेजा। जब-जब उसमें बंधा, एक अस्वाभाविकता से घिर गया है। स्थायी नहीं हो सका। आचार्यों का प्रयास सदैव एकांगी रहा। यही कारण है कि 'कवि कौन' का उत्तर कभी सर्वांगीण नहीं हो सका। 'खग की भाषा खग ही जाने' की भांति 'कवि की भाषा कवि ही जाने' ठीक है। पहले के कवि साहित्यशास्त्र की बात नही करते थे। और शायद इसीलिए किसी कवि ने 'कवि कौन है' को अपना विषय नहीं बनाया। किन्तु लाला हरयशराय ने इसका उत्तर दिया है। लालाजी भक्त कवि थे, अतः भक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही उनका उत्तर है। इस परिप्रेक्ष्यता के होते हुए भी उनकी मान्यता सर्वांगीण है। उनका कथन है कि कवि वह है जिसकी वाणी महात्मा-साधुओं का गुणानुवाद गाये बिना न रहे। महात्मा का अर्थ है महान आत्मा का धनी। महान आत्मा वह है जो संसार के आवागमन से छूट गई हो, चिरन्तन शाश्वत सुख का अनुभव करने लगी हो अथवा उस पथ पर चल ही पड़ी हो। कवि वह ही है जो उसके गुणों में विभोर हो फूट पड़े। लाला जी ने अपनी यह मान्यता दृष्टान्तालंकार के मध्य ऐसी सजायी है कि 'कवि' साक्षात् हो उठा है—

"जिम केतकके दलके महिके, अलिके चित्तके मटके बहिके।
मधुके छलके, बनके, सरके, पिक केम चुके विनके लखके॥
घनके घटके स्वरके सुनके, किम केकि चुके नृतके लटके।
लगके रमके किवके तुटिके, कवि केम चुके स्तवके कथके।"[1]

इसका अर्थ है कि जिस प्रकार केवड़े की पत्तियों की महक में भौरा बैठे बगैर नहीं रहता, जैसे वसन्त ऋतु में बन के बीच आम की मञ्जरी को खाकर कोयल कूके बगैर नहीं रहती, जैसे मेघों की गर्जन सुन कर मयूर प्रमत्त नृत्य के बिना नहीं रहता और जैसे वायु के वेग-वान प्रवाह में ध्वजा हिले बिना नही रहती, ठीक वैसे ही महात्माओ का गुण-गान किए बिना कवि की वाणी भी नही रुकती। फूट पड़ती है। उसके शक्ति-सम्पन्न वेग को वह रोक नहीं पाता। यदि शैले के शब्दों में कहें तो उसका हार्ट 'आउट बर्स्ट' हो जाता है। महान आत्माओ के गुणों पर रीझ कर जिसका दिल नही फटा वह भी कोई कवि है। मम्मट के शब्दों में उसे सदय होना ही चाहिए। लाला जी ने उसी को कवित्वमयी भाषा मे कहा है।

जो देह ऊपर से दिखाई देती है, वह जीव नही है। जीव तो 'आतम राम' है। वह अखण्ड है, अबाधित है और ज्ञान का भण्डार है। उसका रूप चिदानन्द है।

१. साधुगुणमाला, १०वा पद्य।

साधु महात्मा सदैव ऐसा सोचा करता है। इसी कारण वह समता में विश्वास कर पाता है। वह न तो अपना सम्मान और पूजन चाहता है और न अन्य के द्वारा की गई अपनी निन्दा का बुरा मानता है। वह वन्दन और निन्दा दोनों में समभाव रखता है। उसका मोह न इस लोक में होता है और न परलोक में। यहां परलोक का अर्थ है—स्वर्गलोक। जैन परम्परा में १६ स्वर्ग माने गये हैं। सच्चा साधु स्वर्ग का वैभव और सुख-सम्पन्न जीवन भी नहीं चाहता। वह तो 'आतमराम' के महारस को चाहता है। ऐसा अनिर्वचनीय और शाश्वत आनन्द जो कभी न घटे न बढ़े न मिटे, न बने, न मरे न जीवे। सब से ऊपर हो। जो इसे पा लेता है, उसके वन्दन की बात लाला हरयशराय ने कही है—

"है घट आतमराम महारस,
ते मुनि वन्दि मिटे भव फेरी॥"१

जिस 'आतमराम' मे महारस है, उसका स्वरूप भी लाला जी ने प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि 'आतमराम' अनूप है, अमूर्तिक है, आदि अन्त रहित है, अनन्त में विलास करने वाला है। वह अभङ्ग है, चिदानन्द है। उसके न रूप है, न रग। वह व्यापक, ज्ञायक और चिरन्तन है। नाश तो उसका कभी होता ही नहीं, अर्थात् अविनाशी है२। आत्मा का यह स्वरूप जैन सिद्धान्त के अनुरूप ही है। महाकवि योगीन्दु ने 'परमात्म प्रकाश' मे आतमराम को निरञ्जन कहा। उन्होंने लिखा है— "जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण, वह निरञ्जन कहलाता है३।" परमात्मप्रकाश में ही एक दूसरे स्थान पर उन्होंने स्पष्ट किया है कि परमात्मा को हरि, हर, ब्रह्मा, बुद्ध जो चाहे सो कहो, किन्तु परमात्मा तभी है, जब वह परम आत्मा हो४। और परम आत्मा वह है जो न गौर हो, न कृष्ण हो, न सूक्ष्म हो, न स्थूल हो, न पण्डित हो, न मूर्ख हो, न ईश्वर हो, न निःस्व हो, न तरुण हो, न वृद्ध हो१। इन सबसे परे हो, ऊपर हो, मूर्ति-विहीन हो, अमन हो, अनिन्द्रिय हो, परमानन्द स्वभाव हो, नित्य हो, निरञ्जन हो, जो कर्मों से छुटकारा पाकर ज्ञान-मय बन गया हो, जो चिन्मय हो, त्रिभुवन जिसकी वन्दना करता हो२। इसी आतमराम को ब्रह्म कहते है। हरिभद्राष्टक में लिखा है, "अतीन्द्रिय परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं बिना। शास्त्र-युक्ति शतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगु.३।" अर्थात् ब्रह्म, अतीन्द्रिय होता है और विशुद्ध अनुभव के बिना उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। जैन श्रुतियों मे प्रसिद्ध है, "परं सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म४।" लाला हरयशराय इस सभूची परम्परा मे खरे उतरते हैं। उन्होंने साधुगुणमाला में लिखा है—

"आतमराम अनूप अमूरत, आदि अनादि अनन्त विलासी।
चेतन अङ्ग अभङ्ग चिदानन्द, रंग न रूपमई गुणराशी।
व्यापक ज्ञायक नृत्य विराजत,
सो थिर ध्यानविर्षं अविनाशी॥६३॥"

आत्मा के लिए 'राम' शब्द का प्रयोग मध्यकालीन है। लाला हरयशराय से पूर्व हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास, भगवतीदास, 'भैय्या', द्यानतराय, देवाब्रह्म, जगतराम, मनराम, ने आत्मा के लिए 'राम' शब्द का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के कवि निरञ्जन, चिदानन्द, निष्कल, निर्गुण, ब्रह्म और शिव कहते रहे। मुनि राम सिंह ने पाहुड़ दोहा में केवल एक स्थान पर 'राम' शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन जैन पारम्परिक काव्य में 'ब्रह्म' और 'निरञ्जन' शब्द अधिक देखने को मिलते हैं। हिन्दी में निर्गुण पंथ के कबीर ने 'राम' को ही अपना आराध्य बनाया; किन्तु वे दशरथ-पुत्र नही थे। अर्थात्. उन्होने निर्गुण ब्रह्म को राम कहा। उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर 'राम' शब्द देखने को मिलता है। उनके लिए यह सहज स्वाभाविक हो सका। वे रामानन्द के

---

१. वही, ६३वे पद्य की अन्तिम पक्ति।
२. साधुगुणमाला, ६३वा पद्य।
३. परमात्म प्रकाश, १।१९, पृ० २७।
४. परमात्म प्रकाश, २।२००, पृ० ३३७।

१. परमात्मप्रकाश, १।८६, ६१, पृ० ६०, ६४।
२. वही, १।१३१, २।१८, पृ० ३७, १४७।
३. अभिधान राजेन्द्रकोश, पञ्चमो भाग, बंभ शब्द पृ० १२५६।
४. देखिए वही।

शिष्य थे। वहां से उन्हें राम मिला। नाथपंथियों और सूफियों से अदृष्ट ब्रह्म। दोनों मिल गये तो ब्रह्म राम हो गया। मैं जहां तक समझ सका हूँ, हिन्दी काव्य को 'आतम' के लिए राम शब्द कबीर ने दिया। कबीर के बाद राम शब्द का इस अर्थ मे अधिक प्रयोग हुआ, इतना भर मेरा तात्पर्य है। जैन आध्यात्मिक कृतियों (हिन्दी) में भी राम शब्द कबीर के बाद ही अधिक देखने को मिलता है। किसका किस पर प्रभाव था, यह एक पृथक खोज का विषय है। यहां तो इतना ही पर्याप्त है कि लाला हरयशराय ने 'राम' शब्द का खुल कर प्रयोग किया। उनकी दृष्टि में कबीर न होंगे, यह सत्य है, किन्तु उनके पहले जैन हिन्दी के कवियों की एक लम्बी परम्परा थी, जिसमें आत्मा को राम कहा गया था। लाला जी ने उसे वहां से ही लिया होगा, यह ठीक है।

शब्दालङ्कारों में 'यमक' और 'अनुप्रास' लाला जी को प्रियतम हैं। उनकी छटा से शुष्क सैद्धान्तिक बात भी ललित हो उठी है। वर्णनात्मक प्रसंग भी चमक उठे है। देवलोक, देवगण, समोशरण आदि का पौराणिक वर्णन भी उनकी लेखनी में आकर कवित्व बन गया है। साथ ही कठिनता भी आई है, किन्तु संगीत की लय और कविता के प्रवाह ने उन्हें केशव की भांति 'कठिन काव्य का प्रेत' बनने से बचाया है। फिर भी इतना मानना होगा कि रीत काल की अलङ्कार-प्रियता का उन पर जबर्दस्त प्रभाव है। जैन हिन्दी का अन्य भक्ति काव्य ऐसा अलङ्कार-मय नही है, उसकी भक्ति सहज है तो अभिव्यक्ति भी आसान है। इस दृष्टि से वह हिन्दी के भक्तिकाव्य जैसा ही है। लाला हरयशराय ने अपने काव्य को समय के प्रभाव से बचाया, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति नही बचा सके। समय प्रबल होता है और लेखक या कवि को किसी-न-किसी रूप मे प्रभावित करता ही है। अनुप्रास के लिए कठिन बनाये गए एक पद्य को देखिए, जिसमें साधु-भक्ति है, किन्तु दुरूहता के बोझ से बोझिल—

"तियके सुतके मितके धनके, नरके न थुके न उके छलके।
सुरके नरके सुखके लजके, अटके न टिके शिवके थलके।
जिनके तपके बलके झलके, झपके तुलके हटके टलके।
तिनके पगके ढिगके तनके, सुरके शिरके मणिके झलके१॥"

अर्थालङ्कारों में लालाजी को सबसे अधिक प्रिय था दृष्टान्तालङ्कार। अभीष्ट कथ्य को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त उसके अन्त: तक को खोलते चले जायं, तभी उनकी सफलता है। ऐसा वह ही कवि कर पाता है जिसकी दृष्टि व्यापक और पकड़ पैनी होती हो। लाला हरयशराय ऐसे ही कवि थे। बनारसीदास के बाद मुझे वह ही मुझे इसे क्षेत्र में सिद्धहस्त प्रतीत हुए। जहां लाला जी के दृष्टान्त अधिकाशतया प्रकृति के बीच से लाए गये वहां बनारसीदास ने व्यावहारिक जीवन को अधिक टटोला। यह ही दोनो मे अन्तर था, वैसे दोनों के दृष्टान्त अपने लक्ष्य पर फिट बैठे है। और ऐसा करने मे कोई कठिनता नहीं हुई। सब कुछ सहज स्वाभाविक ढग से हुआ। वे प्रयत्न-पूर्वक नही लाये गये। इसी कारण उनमे सहज सौन्दर्य है। एक उदाहरण देखिए—

"कौन गिनें घन बूंदन को, बन पत्र पयोधि तरंग बनावे।
कौन गिनें करअंगुलि सों, उरबी, गिर मेरु को तोल दिखावे॥
कौन तरे भुजसों रतनाकर, अम्बर में उड़ अन्त सुनावे।
औगुणसागर साधु अगाध, कहां कवि अपनी बुद्धि लगावे॥"

× × × ×

"चन्द्र कि चाह चकोर चहै, दिननाथको कोक उड़ीक रहे हैं।
धेनु विषे बछरी हित धारत, बालक मात को मेल चहे हैं।
मालति सों लपटाय रहे अलि, चातक मेघ सों मोद लहे हैं।
साधु महामुनिके पग को हित सेवक चित्त अपार गहे हैं॥"२

२. कवि पारसदास

पारसदास का जन्म जयपुर मे हुआ था। उन्होंने ज्ञान सूर्योदय नाटक की वचनिका में अपना परिचय दिया है। उस समय जैपुर 'सवाई जैपुर' के नाम से प्रसिद्ध था। उसका दूसरा नाम 'ढुढाहड' भी था। वास्तव मे 'ढुढाहड' एक देश था और जयपुर उसका मुख्य नगर। उसके एक भाग मे 'ढुढाहडी' भाषा चलती थी। जयपुर में भी उसके बोलने वालो की पर्याप्त संख्या थी। कुछ कवियों ने उस नगर को ही 'ढुढाहड' देश लिखा है। ढुढाहडी भाषा मे अच्छे स हित्य की रचना हुई। प० टोडरमल की कृतियो मे उसके निखरे हुए रूप के दर्शन होते हैं।

उस समय जयपुर में ६ हजार जैन और ६४ हजार

१. साधु गुणमाला, ७७वा पद्य।

२. साधु गुणमाला, पद्य क्रमश: ११६, ११५।

अन्य जातियो के घर थे। अर्थात् एक लाख घर की आबादी थी। अतः जन-सख्या एक लाख से अधिक ही होगी। ऐसा भरा हुआ नगर था। अवश्य ही इसका कारण वहां का सुशासन होगा, साधारण जनता अपने संरक्षण की चिन्ता से निश्चिन्त होगी और आर्थिक दशा सुन्दर होगी। पारसदास के अनुसार' जयपुर के महाराजा रामसिंह थे। वे न्याय-पूर्वक राज्य करते थे। प्रजा के शुभ कर्म का उदय था। वह 'खुस्याल' थी, अर्थात् धन-धान्य से पूर्ण थी। कोई कमी नही थी।

जयपुर मे १०० जैन चैत्यालय थे। उनमे एक शान्ति-जिनेश का मन्दिर 'बड़े मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध था। वहां तेरापंथ' की अध्यात्म सैली चलती थी। अर्थात् वहा प्रतिदिन एक गोष्ठी होती थी, उसमे अध्यात्म-चर्चा और पठन-पाठन ही प्रमुख था। गोष्ठी मे 'नाटक-त्रय' सदैव पढ़े जाते थे। उनके अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का पाठन नही होता था। नाटक-त्रय आज भी अध्यात्म के प्राण है। यह क्रम प्रातः और सध्या दोनों समय चलता था। परिणाम यह हुआ कि सभी श्रोता तत्त्वज्ञान के जानकार हो गये। पारसदास भी उनमे एक थे। कुछ लगन विशेष थी, अतः अच्छा ज्ञान हो गया। यहा तक कि अब शास्त्र वे ही पढ़ने लगे और सब सुनते थे। पारसदास के दो भाई मानचन्द और दौलतराम भी जैनशास्त्रो के मर्मज्ञ थे। उनका नाम विख्यात था। सभी भाई जैन तत्त्वज्ञान के जानकार बन सके, क्योंकि उनके पिता ऋषभदास जी स्वय विद्वान थे और अपने पुत्रो की शिक्षा-दीक्षा उन्होंने स्वय की। वे सजग रहे और उनके पुत्र व्युत्पन्न बन सके१।

उनमे पारसदास विद्वान बने और कवि भी। उन्होने 'पारस विलास' की रचना की। यह वि० स० १९१९-२० के लगभग पूर्ण हुआ२। इसमे उनकी रची हुई 'अन्त की पीठिका' के अतिरिक्त ४० मुक्तक रचनाएं है। उन सब की रचना एक ही समय मे नही हो गई थी, अपितु समय-समय पर हुई। उनमे 'उपदेश-पच्चीसी' पर रचना काल—वि० सं० १८६७, ज्येष्ठ शुक्ला १५ दिया हुआ है। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनका निर्माण-कार्य वि० सं० १८६७ से १९२० तक प्रामाणिक रूप से चलता रहा। 'पारस विलास' के बाद भी उनकी गति रुकी नही। यह उनके कथन से ही सिद्ध है। उन्होंने लिखा है—"उनीसै अरु बीस के साल पछै जे कीन। ते याके बारे रहे बांचो सुनो प्रवीन॥" अत. अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्म १९वीं शताब्दी के तीसरे पाद के प्रारम्भ में हुआ होगा। इनके पिता पं० नन्दलाल के सहपाठी थे। मूलाचार की ५१६ गाथाओं की वचनिका लिखने के उपरान्त पं० नन्दलाल का स्वर्गवास हो गया था, तब उस कार्य को ऋषभदास जी ने ही पूरा किया था। उसकी प्रशस्ति उन्ही ने लिखी, जिसमे नन्दलाल जी को उनके पिता जयचन्द छाबडा के समान ही व्युत्पन्न बताया है। किन्तु मूलाचार की अवशिष्ट वचनिका से सिद्ध है कि ऋषभदास जी भी उन्हीं के समान विद्वान थे। नन्दलाल और ऋषभदास दोनो ने एक साथ जयचन्द जी से विद्या ग्रहण की थी। दोनो समकालीन थे। दोनों का रचना-काल १९वी शताब्दी का तृतीय और चतुर्थ पाद सुनिश्चित है। अतः पारसदास का समय चतुर्थ पाद के अन्त से प्रारम्भ होना स्वाभाविक लगता है।

'पारस विलास' इतना प्रसिद्ध हुआ कि पारसदास के जीवन काल में ही सर्व साधारण के बीच इसका पठन-पाठन होने लगा। उसकी अनेक हस्तलिखित प्रतिया मिलती हैं। उनमें दो को मैंने देखा है। एक दि० जैन पञ्चायती मन्दिर बड़ौत के शास्त्र भण्डार में है और दूसरी जयपुर के किसी भन्डार मे मैंने देखी थी। इस समय बड़ौत की प्रति मेरे सामने है। इसमें ८×१३ इन्च के १०४ पन्ने हैं। लिखाई स्वच्छ, सुन्दर और शुद्ध है। लिपिकर्त्ता का नाम और सन्-संवत् आदि अन्त मे कही नही दिया है। ढुढारी हिन्दी होते हुए भी लिपि में कोई अशुद्धि नही है। अवश्य ही, लिपिकर्त्ता उधर का होना चाहिए। ऐसा लगता है कि यह प्रति पारसदास जी के जीवनकाल मे लिखी गई हो। यह तो सुनिश्चित है कि लिपिकार कोई जैन था।

१. इस परिचय के लिए देखिए 'पारसविलास', दि० जैन पञ्चायती मन्दिर, बड़ौत की हस्तलिखित प्रति, अन्तिम पीठिका, पृ० १०४।

२. देखिए वही।

जिस समय पारसदास का जयपुर मे जन्म हुआ, वहां का वातावरण टीकाओं, वृत्तियों, भाष्यो और वचनिकाओं का था। प० बंशीधर, टोडरमल, जयचन्द छाबड़ा, नन्दलाल, ऋषभदास, रामचन्द आदि इसी क्षेत्र के ख्यातिप्राप्त व्यक्ति थे। टीका और वचनिकाएं ढुढारी हिन्दी मे लिखी जाती थी। दोनों में एक ज्ञात अन्तर था। टीका में मूल ग्रन्थ के विचार और शब्दों का अनुवाद-भर होता था। टीकाकार अपनी ओर से कुछ घटाने या बढ़ाने को स्वतन्त्र नही था। वचनिका में अनुवाद तो होता ही था, साथ मे, विश्लेषण भी रहता था। वहा वचनिकाकार अपना मत भी स्थापित कर सकता था।

हिन्दी की वचनिका संस्कृत मे 'वृत्ति' नाम से अभिहित होती थी। रूप विधान दोनो का एक था, केवल भाषा का अन्तर था। ब्रह्मदेव ने 'बृहद्द्रव्य संग्रह' की संस्कृत में वृत्ति लिखी है। वह अध्यात्म-परक है, जबकि द्रव्यसंग्रह द्रव्यानुयोग का ग्रन्थ है। ब्रह्मदेव ने उसे स्पष्ट रूप से अध्यात्मशास्त्र कहा है। द्रव्यसंग्रह की गाथाएँ आधार-भर हैं, बाकी सब कुछ ब्रह्मदेव का अपना है। ब्रह्मदेव की वृत्ति ने मूल ग्रन्थ को नये ढाचे मे ढाला है। उसे एक पृथक स्वतन्त्र ग्रन्थ कहना चाहिए। पेंतीसवीं गाथा पर उनका ५० पृष्ठों का व्याख्यान ही पृथक ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी है। वे मूल ग्रन्थ का अनुवाद करते-करते उसमें अपने अध्ययन और उससे सृजित मान्यताओं को भी रक्खे बिना नहीं रहते थे। वे मूल ग्रन्थकार पर छा जाते थे। उन्होंने जैन साहित्य को बहुत कुछ दिया है। किन्तु, हिन्दी के वचनिकाकार ऐसे व्यक्तित्व को न पा सके। उनमें एक-दो तो हुए, अधिकाश संस्कृत वृत्तियों पर आधृत होकर रह गये। उनका पृथक् अस्तित्व भी मूर्धन्य न हो सका। प० जयचन्द छावड़ा की 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की वचनिका का मूलाधार ब्रह्मदेव की संस्कृत वृत्ति ही है। यदि दोनों की तुलना की जाय तो कहना होगा कि कहा ब्रह्मदेव और कहां जयचन्द। मेरी दृष्टि में यदि पं० जयचन्द छावड़ा ब्रह्मदेव की वृत्ति का शब्दशः अनुवाद कर जाते तो वह भी हिन्दी साहित्य को एक बड़ी देन होती। उन्होने ब्रह्मदेव को आधार बनाया और उनको भी पूरा न उतार सके, अपना तो कुछ दिया ही नही। हिन्दी की प्राय वचनिकाएँ ऐसी ही थी। उन्हे यदि हम आधा अनुवाद मूलग्रन्थ का और आधा संस्कृत वृत्ति का कहें तो ठीक ही होगा। कम-से-कम उनसे वचनिकाकार के अपने बहु अध्ययन, बहु श्रुतता, बहु अनुसन्धान और बहु तुलनात्मक दृष्टिकोण की छाप तो नहीं पडती। संस्कृत वृत्तियों की तुलना में वे अधकचरी-सी दिखाई देती हैं।

इस सन्दर्भ में जब हम पारसदास का आकलन करते है तो कहना होगा कि वे विद्वान नही कवि थे। उनका 'व्याख्याकार' नहीं, अपितु अनुभूति वाला जीव प्रबल था। अतः उन्होंने केवल ज्ञानसूर्योदय नाटक और 'चतुर्विंशतिका' की वचनिका रची। एक रूपक है, दूसरी भक्ति की मुक्तक कृति। दोनों में कवि मुखर है। पहला गद्य में है और दूसरी पद्य में। हिन्दी का प्राचीन गद्य जैन ग्रन्थों की टीकाओं और वचनिकाओं मे ही मिलता है। इस दृष्टि से वह हिन्दी साहित्य को एक महती देन है। पारसदास की ज्ञानसूर्योदय नाटक की वचनिका इसी रूप में महत्त्वपूर्ण है। वैसे, नाटक या काव्य की वचनिका में वचनिकाकार के लिए अपना देने को कुछ नहीं होता। वह मूलग्रन्थ की अनुभूति को अपनी भाषा में ठीक वैसा ही उतार दे, यही बहुत कुछ है। यदि उससे यत्किञ्चित् भी विचलित हुए बिना अपना रंग गहरा भर सका तो वह बहुत-बहुत कुछ है। बनारसीदास के नाटक समयसार ने अपना मौलिक अस्तित्व बनाया है। किन्तु बनारसीदास और पारसदास के मूलाधार ग्रन्थों मे अन्तर है। बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार और उस पर अमृतचन्द्र की टीका को अपना आधार बनाया। दोनो दर्शन के ग्रन्थ थे। उन्हें अनुभूति-परक बनाने मात्र से नाटक समयसार की सत्ता स्वतन्त्र हो गई। वह साहित्य की कोटि मे परिगणित हुआ। पारसदास ने जिसे आधार बनाया वह पहले से ही साहित्य का ग्रन्थ था। अतः उसकी अनुभूति के रंग को और अधिक गाढ़ा करने से ही पारसदास पृथक् सत्ता पा सकते थे। किन्तु वे ऐसा न कर सके। उनका हिन्दी गद्य प्रसाद गुण-युक्त है, किन्तु अनुभूति में अपेक्षाकृत घनत्त्व न आ सका, जो वादिराज के पृथक अस्तित्व के लिए अनिवार्य था। वादिराज-जैसे

साहित्यकार को पार कर जाना पारसदास ही नहीं किसी भी वचनिकाकार के लिए आसान नहीं था। फिर भी उनका हिन्दी अनुवाद परिमार्जित, आसान और मूलभाव को पूर्णरूप से सहेज कर चला है। इतना ही बहुत है एक दृष्टान्त देखिए—

"ताही समै विलास हलकारो प्रवेस करत भयो, राजा मोह की द्वारपाली जो लीलावती ताय कहत भयो हे लीलावती! माया मोकूं भेज्यो है, सो राजा मोह कूं अरज करि, सो लीलावती भी विलास को आगमन सुणि मोह राजा के निकट जाय नमस्कार करि अरज करत भयी हे देव! विलास आयो है। राजा सुणि करि हरष सहित उठयो अरु लीलावती कूं कहत भयो सीघ्र ही विलास कूं भेजि। ऐसा हुकुम सुणि करि द्वारपाली विलास कूं कहत भयी आहु राजकुल मे राजा यादि करै है[१]।"

यहा माया ने अपने हलकारे विलास के द्वारा एक संदेश राजा मोह के पास भेजा है। हलकारा राजद्वार पर पहुँचा और प्रवेश की आज्ञा चाही। उसी का वर्णन है। 'चतुर्विशतिका' की वचनिका भी ऐसी ही है। उस मे विविध राग-रागनियो से समन्वित पदो का निर्माण किया गया है। यह तो नही कहा जा सकता कि उसमे 'मूलस्तुति' की अपेक्षा गहरा रंग भरा जा सका है। हाँ, इतना अवश्य है कि अनुभूति की कापी ठीक हुई है। शब्दो का अनुवाद सरल है, अनुभूति का कठिन। पारसदास ने इतना काम किया है। उसका एक पद है—

"अहो पास जिन राग दास मोहे अपनो जानि उबारो,
मेरी निज निधि कर्म ठगन हैं इनको संग निवारो!
विषय चाह बसि करिकै मोकूं ध्यान छुड़ावत थारो,
इन संग दुष सहे बहु दिन सं रूप न जाण्यो थारो,
अब तुम भक्ति बहु निसि वासुर ज्यों होवै सुरझारो,
जब लूं मैं शिव-वास न पावं तब लूं ध्यावूं इनतै,
गैलि छुड़ाय दयानिधि तारक विरद तुम्हारो॥"[२]

यह युग टीकाओ और वचनिकाओ का अवश्य था, किन्तु उनकी ग्रिफ्त से उबरे कतिपय ऐसे साहित्यकार भी थे जो 'मौलिक' लिख रहे थे। उनमें ब्रह्मरायमल्ल, रायचन्द, पं० दौलतराम, महाराम, टोडरमल आदि ख्यातिप्राप्त थे। उन्होने हिन्दी में लिखा और जो कुछ लिखा वह उत्तमकोटि का काव्य था। केवल जैन-परक होने से ही उसे साहित्य की कोटि से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे वैष्णव काव्य की गणना 'साहित्य' मे होती है, वैसे ही इसकी होनी चाहिए। पारसदास भी उन्हीं मौलिक रचनाकारों मे थे। उनके भाव सुन्दर थे तो अभिव्यक्ति भी परिमार्जित। उनकी एक कृति है—'अष्टोत्तरशतक'। इसमे १०८ पद्य है। जिनदेव की भक्ति में समर्पित। जिन सब कुछ हैं। अलख, निरञ्जन तो हैं ही, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध भी हैं। सब सीमाए उनमे समाकर निःसीम बन गई है। संकीर्णताओं की मेड़ें टूट गई हैं। वे सबके ऊपर नहीं, सब रूप है। उन्होने सबको मिटाया नहीं, मिलाया है। वे अविरोधी है। इस सब के साथ अनुप्रास की छटा है, शब्दों मे लय है, वाक्यो मे गति है। सुगन्धि है तो उससे उठती लहरे भी है—

"अलख निरंजन अकल अमानं अगम अरूपी लोक प्रमानं।
तू ही देव सुदेव अवेवं सुरपति नरपति वगपति एवं॥३॥
असम बिसम सम सुसम समानो ज्ञानी मानी ध्यानी दानी।
ब्रह्मा विष्णु बुद्ध सुषखानी तू संकर शिव अमृत वानी॥४॥
सकर तुही रमाकर तुही तू नयन प्रभू जगसारं।
तुही कलपतरु काम सुधेनुं तू ही चिंतामणि सौख्यनिधानं॥६
वचनातीत गुणी गुणकन्द सील सिरोमणि नयनानंद।
तत्त्वभूत तपरूप अमद तुम अविनासी हो जिनचन्दं॥११॥"

'ब्रह्मबत्तीसी' पारसदास की एक समर्थ रचना है। इसमे ३५ छन्द हैं जो चार ढालों में लिखे गये हैं। इसका मुख्य स्वर है कि आत्मा ही ब्रह्म है, कर्म तथा नोकर्म पर हैं, पृथक हैं। गोरा काला रग पुद्गल का है, आत्मा का नहीं। आत्मा रंग-हीन है। उसका स्वभाव दर्शन-ज्ञान है। यह जीव इस बात को समझता नहीं। वह कर्मों के वशभूत होकर संसार को अपना घर मान बैठता है। उसे विदित नही कि उसका घर उसी में मौजूद है और वह अपने घर में ही रहता है। न तो उसमें कोई पर प्रविष्ट हो सकता है और न पर में वह जा

१. ज्ञान सूर्योदय नाटक की वचनिका, पारसविलास, बड़ौत वाली हस्तलिखित प्रति, पृ० ४५।

२ चतुर्विशतिका की वचनिका, पारसविलास, बड़ौतवाली हस्तलिखित प्रति, पृ०

सकता है१। वह स्वयं ब्रह्म है अपने अन्दर ही रहता है। ब्रह्म कोई दूसरा नहीं है। अतः उसका जंगल, मन्दिर और मस्जिद में ढूंढ़ना भी व्यर्थ है। इसी को बनारसीदास ने लिखा है कि तू कस्तूरी मृग की भांति अपने भीतर बसी अपनी सुवास से परिचित नही है और वन में इधर-उधर ढूढ़ता फिरता है२। उनसे पूर्व महात्मा आनन्द तिलक ने 'आणंदा' मे माना था "अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहिं भमंतु। अप्पा बिन्दु न जाणहीं, आणंदा घट महिं देउ अणतु।।"३ यहा पारसदास का कथन है—

"ठाकुर ठाठ करो निज घर में क्यों पर द्वार निहारो।
पर सब जड़ है तू चिन्मूरति सुखरूप निहारो।।"४

यह जीव नही जानता कि वह स्वयं परमात्म रूप है। इस न जानने के कारण ही उसे ससार मे भटकना पडता है। यदि वह स्वय अपने को जान जाये तो शरीर की साज-संभाल की ओर से उनका मन हट जाए। उसे विदित हो जाये कि वह शरीर से जुदा है, शरीर का पालना-पोषना व्यर्थ है। यह अवसर फिर न मिलेगा। न जाने फिर मनुष्य-भव मिला न मिला। अत. अब तो चेत ही जाना चाहिए। यदि अब चूका तो संसार में भटकने के अतिरिक्त और कुछ न रह जायेगा५। वह चेतन जिसका रूप ज्ञायक परमात्मा का हो, जो तीन लोक का भूप हो और उसे संसार में भटकना पड़े, इससे अधिक दुखद घटना क्या होगी। पारसदास ने लिखा है—

"ज्ञायक परमातम तथा चेतन तेरो रूप।
चेतो या संसार तैं तीन लोक के भूप।।"६

पारसदास की 'बारहखड़ी' नाम की कृति भी सामर्थ्यवान है, उसमें १२ पद्य है। हीरानन्द जी के अनुरोध से उन्होंने इसकी रचना की थी। बारहखडी के प्रत्येक अक्षर पर एक-एक पद्य की रचना कर कृति को पूर्ण करना जैन कवियों की प्राचीन परम्परा है। बारहखडी का सम्बन्ध लोकभाषा की वर्णमाला से है और जैन शैक्षिक पद्धति में लोकभाषा का अध्ययन अनिवार्य था। अत: उसे सबसे अधिक प्रश्रय जैन आचार्यों ने दिया। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' मे एक जगह वट वृक्ष का रूपक आया है, उसमे वट रूपी उपाध्याय त्रिविध पक्षियो को कक्का, किक्की, कुक्कु, केक्कई, कोक्कउ आदि पढ़ा रहा है७। यह तो एक ग्रन्थ का एक उदाहरण है। अनेक जैन कवियों ने अपनी मुक्तक रचनाओ मे बारहखडी के प्रत्येक वर्ण पर भी काव्य-रचना कर उसके प्रति अपना अनन्य भाव दिखाया है। उनमें अजयराज पाटणी की 'कक्काबत्तीसी', कवि अमरविजय की 'अक्षरबत्तीसी', सिवजी की 'कक्काबत्तीसी' कवि चेतन की 'अध्यात्म बारहखड़ी', सूरत की 'जैन बारहखड़ी' और कवि दत्त की 'बारहखड़ी' प्रसिद्ध है। इसी पक्ति मे पारसदास भी आ जाते है। उनकी रचना अध्यात्म परक है। मौलिक है, शैली के अतिरिक्त सब कुछ अपना है। उन्होने पूर्व कवियो के भावो की नकल नही की है। अजयराज की 'कक्काबत्तीसी' में पाण्डे रूपचन्द के 'परमार्थी गीत' के अनेक स्थल हू-बहू है। एक उदाहरण देखिए—

बबा निज दरसन बिनां जिय,
जप तप सब निरथ रे लाल।
कण बिन तुस ज्यों फटक तैं जिय,

१ गोरो कालो रंग रगीली पुद्गल तणो जी प्रभाव,
आतम कै नहिं रग है जी दरसन ज्ञान स्वभाव।
घर तेरो तो माय है जी तू घर ही के माय,
तो मैं पर नहिं आय है जी तू पर मैं नहिं जाय,
रे भाई तू निज ब्रह्म विचारि।।
ब्रह्मबत्तीसी, पद्य ३, ४।

२. ज्यों मृगनाभि सुबास सौ ढढत वन दौरे।
त्यौं तुझमे तेरा धनी तू खोजत औरे।।
करता मरता भोगता, घट सो घट माही।
ज्ञान बिना सद्गुरु बिना, तू समुझत नही।।
देखिए बनारसीविलास।

३. देखिए 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, पद सख्या ३१।

४. ब्रह्मछत्तीसी, १२वा पद्य, पारसविलास, बड़ौतवाली प्रति, पृ० ५।

५ उपदेश पच्चीसी, ११, १७, २८ पद्यों का भाव, वही, पृ० १०।

६. वही, १९वां पद्य, पृ० १०।

७. अपभ्रंश भाषा और साहित्य डा० देवेन्द्रकुमार जैन भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० २७७।

आवै कछू न हाथ रे लाल ।।१६।।
अजयराज पाटणी
चेतन चित सों परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ ।
कन बिन तुस जिमि फटक तै आवै कछू न हत्थ ।।
—पाण्डे रूपचन्द

पारसदास की 'बारहखडी' में कोई पद्य ऐसा नही है। उनमे नवीनता तो है ही अजयराज की अपेक्षा लालित्य भी अधिक है। अध्यात्मवादी दोनों थे। किन्तु पारसदास अधिक खरे प्रतीत होते हैं। बारहखड़ी के दो पद्य हैं[१]—

ग गा गरम्यो रे गरम्यो तू फिरै,
या विषया मांय नाय मांय लखं छै रे,
आतमरूप ज्ञानी, जीव ये थिर नां छै रे,
थारी लार नाना दुख में साथ सहाय करगो रे,
अध्यात्म भूप ज्ञानी।।
ठ ठा ठाकुर रे तू तिहूँ लोक को
भूल्यो निज रूप परवसि होय कै रे
बूड्यो भवकूप ज्ञानी जीव दे बोध्याडो रे
खेतरपाल जो पूज्या बहु रूप नाहिं लख्यो छै रे
आतमभूप ज्ञानी जीव ।।

'कबीर ग्रन्थावली' मे 'मन को चेतावणी' एक अग है। उसमे मन को चेतावनी दी गई है कि तू ससार के सुख-भोगो मे क्यो राच रहा है। ये भोग झूठे है, लालच-मात्र है। जैन कवि द्यानतराय ने भी कबीर की भांति ही लिखा, "युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे। यह ससार सुपन की माया, आख मीचि दिख-राव रे।।"[२] अर्थात् वे भी ससार की चकाचौध को 'सुपन की माया' मानते है। पारसदास की एक रचना है 'चेतनसीप'। उसमे लिखा है कि यह चेतन जिन्हे अपना मान रहा है वे 'विजुरीवत्' भगुर है। इसके अतिरिक्त वे अपने नही पर है। उनमे रमने से अपना हित नही होगा। अपना हित तो यह मानने मे है कि ससार का जो रूप दिखाई देता है, वह एक झलक-भर है, वास्तविकता नही। हमें भी अपना बाह्य रूप दिखाई देता है, वह हमारा अपना नहीं, जो हमारा नाम है वह हमारा नही, जो हम दिखाई देते हैं वह हम नहीं। यह चेतन उसको सही मानता है, यही उसकी भूल है[३]। पारसदास का कथन है—

"पित मात सुता सुत जी भगुर बिजुरीवत जी।
जाकूं निज करि मान्यो, सो मीत न अपनो वै जी ।।
रामा और कामा जी, धन गृह अभिरामा जी।
परकूं अपनाय वृथा, यूं ही भाखियो जी ।।
तन असुचि अपावन जी, अघ-पुंज डरावन जी।
यामैं मूरख राचन, ज्ञानी न रमै जो ।।"

यह आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है। दोनों एक हैं। माया मे फंसने के कारण यह जीव अपनी पृथक् सत्ता मानता है। यही आवागमन का कारण है। इसी को द्वैत भाव कहते हैं। जब तक अद्वैतवाद न जन्मेगा आत्मा में परमात्मभाव न जाग सकेगा। ससार के दुखों को सुख मान कर यह जीव यहा ही भ्रमता रहेगा। कबीर ने कहा—"अक भरे भरि भेटिया, मन मे नाहीं धीर। कहै कबीर ते क्यू मिलै, जब लगि दोइ सरीर।।"[४] यहा 'जब लगि दोइ सरीर' का अर्थ द्वैत भाव ही है। जब आत्मा में-से द्वैत भाव निकल जाता है, तब वह परमात्म-सुख का अनुभव कर उठता है। फिर वह स्वय आशिक हो जाता है और स्वय माशूक, खुद गुरु हो जाता है और खुद शिष्य और खुद ही ध्येय होता है और खुद ही ध्याता। पारसदास ने इस अद्वैत को अंकित किया है[५]—

"मैं ही आसिक और मैं भूपा, मैं गुरु ज्ञान सिखावेगा।
मैं ही सिष्य सीख मैं ही, फुनि नय प्रमाण न कहावेगा ।।
मैं ही ध्याता ध्यान ध्येय मै ही, धर्मी धर्म न कहावेगा।
यों अद्वैतभाव भय थावै, पारस तब सुख पावैगा ।।"

यह जीव माया के लिए अपना जीवन बिता देता है।

---

१. बारहखडी—३, १२ पद्य, पारस विलास, पृ० ११, प्रति वही।

२. द्यानत पद संग्रह, कलकत्ता, 'अरहंत सुमर मन बावरे' पद की तीसरी-चौथी पक्तियां।

३. चेतनसीप, पारस विलास, वही प्रति, पद ७—८, पृ० १००।

४. परचा को अंग, २५वी साखी, कबीर ग्रन्थावली, डा० श्यामसुन्दरदास-सम्पादित, का. ना प्र. सभा, काशी।

५ पद पहला, पारसविलास, प्रति वही, पृ० ७३।

माया जड़ है और यह चेतन । माया यहा ही रह जायेगी और चेतन चला जायेगा । माया के पीछे लगन के कारण ही उसे संसार मे घूमना पड़ता है, अन्यथा संसार से उनका कोई सम्बन्ध नही है । माया एक जबर्दस्त काम करती है कि चेतन को अपनी असलियत मालूम नहीं होने देती । यदि उसे मालूम हो जाये, तो चेतन खुद हट जाये और माया भी फिर उसे अपना मुंह दिखाने मे शरमावे । वह फिर दिखायेगी ही नही । जैन और अजैन अनेक कवियों ने चेतन को माया से सावधान किया है । किन्तु बात उसकी समझ मे नही आती । पाण्डे रूपचन्द ने तो एक जगह खीझ कर लिखा—"चेतन अचरज भारी यह, मेरे जिय आवै, अमृत वचन हितकारी सतगुरु तुमहि पढ़ावै । सतगुरु तुमहिं पढ़ावै और तुम हूँ हो ज्ञानी, तबहूँ तुमहिं नहिं आवै चेतन तत्त्व कहानी ।।"१ अर्थात् बात चेतन समझ नही पाता, जबकि वह स्वय ज्ञानरूप है और समझाने वाला भी ज्ञानी है। पारसदास ने भी उसे समझाया२—

"आये कौन गति से और जावोगे कहांयी,
तुम माया नहिं लार लगै रहैगी इहांयी ।
चेतन अनुभव विचारि देखो उर मायीं,
मूढहु वृथा भ्रमो माया के तायीं ।।"

पारसदास उत्प्रेक्षा के उकेरने मे निपुण थे । कही-कहीं तो उनकी निराली छटा है । उन्होने ऋषभदेव-स्तोत्र का निर्माण किया था । ऋषभदेव अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य-पाट देकर वन मे तप करने चले गये । वहा ध्यान मे लीन होकर वे जिन बने । जिन का अर्थ है जीतने वाला । अर्थात् उन्होने इन्द्रियो को, मन को, माया को, मोह को जीत लिया । सबसे बड़ा होता है मोह और उसका शक्ति-सम्पन्न सेनानी होता है अनग । तपियो को अनग बहुत परेशान करता है । उनके ध्यान को विचलित करने के लिए नाना उपाय रचता रहता है । शकर को क्रोध आया तो उन्होने तो उसे भस्म ही कर डाला । विश्वामित्र डिग गये तो उनका दस हजार वर्ष का तप टूट गया—व्यर्थ चला गया । ऋषभदेव डिगने वाले नही थे, उन्होंने क्रोध से नही, अपितु अपनी ध्यानाग्नि से उसे जला दिया । यह प्रमाणित कैसे हो तो पारसदास का कथन है कि भगवान के श्यामकेश ही इसका सबूत है । उनकी दृष्टि मे जलते हुए अनग के धूम्र से उनके केश काले पड़ गये हैं३ ।

"हृदय तिष्ठना ध्यान अगिनि करि जाल्यो तुम सर्वंग ।
अनंग ताकी धूम रूप ये मानूं श्याम केश हैं उत्तम अग ।।"

पारसदास एक सामर्थ्यवान कवि थे । उन्होने धर्म को कवित्व की अनुभूतियों में ढाला । दूसरे शब्दों में धर्म को अनुभूति परक बनाया । बिना कवि-हृदय के यह असम्भव है । कोई उपदेष्टा ऐसा नही कर सकता उनका काव्य जैनधर्म का उपदेश नही था, उसमे काव्यत्व था, रस था ।

आध्यात्मिक रचनाओं के साथ-साथ पूजा और जयमालाओ के निर्माण मे भी पारसदास की अधिकाधिक रुचि थी । इसमे उनका मन रमा । उन्होने पार्श्वनाथ जी की पूजा, देवसिद्धि पूजा, देवसिद्धि पूजा बृहत्पाठ, जम्बूस्वामी की पूजा, चमत्कार जिनपूजा, रतनत्रय पूजा, सोलहकारण की जयमाला, दशलाक्षण की जयमाला, रतनत्रय की जयमाला, षोडशकारण मत्र की जयमाला की रचना की । सभी मे भक्ति है और कवित्व पूजा-साहित्य भक्ति का महत्त्वपूर्ण अग है । कवि द्यानतराय इस क्षेत्र के प्रसिद्ध कवि थे । उनके मार्ग को पारसदास ने प्रशस्त किया है ।

इनके अतिरिक्त उन्होंने द्वादशाग दर्शनपाठ, तीन लोक चैत्यालय की वदना, सुमति बत्तीसी, राजुलबत्तीसी, कुगुरुनिषेध पच्चीसी, सम्यक्त्व बहत्तरी दर्शनपाठ, हस्तिनापुर पाठ, रावण विभीषण रास अरहन्त भक्ति पाठ, सरस्वती अष्टक, आरती, बारह भावना, चौबीसी पद, चौबीसी तीर्थङ्कर स्तुति, ऋषभदेव स्तोत्र, तेरहपंथ स्तुति, पद आदि का निर्माण किया । उनकी कृतियां धार्मिक है और साहित्यिक भी । यह ही उनकी विशेषता है ।

(क्रमशः)

१. देखिए परमार्थ जकड़ी सग्रह, पण्डे रूपचन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

२. पद, दूसरा, पारसविलास, प्रति वही, पृ० ७३ ।

३. ऋषभदेव स्तोत्र, ६वां पद्य, पारसविलास, प्रति वही, पृ० ७८ ।

समय का मूल्य

मुनि श्री विद्यानन्द

'कालातिपातमात्रेण कर्तव्यं हि विनश्यति ।'
—क्षत्र चूड़ामणि ११।७

प्रत्येक वस्तु का अपना पृथक् मूल्य होता है । संसार मे कोई वस्तु नही । काल का सूक्ष्मतम क्षण भाग ही क्षण क्षण संयुक्त होकर मिनट, होरा दिनों मे परिणत होता है । ये दिन मास, ऋतु अयन, वर्ष और युगों में परिवर्तन होते जाते है । काल की यह सूक्ष्म और स्थूल गतिक्रिया है । काल क्षण भाग पर अभी वर्तमान की सत्ता का बोध कराता है । और दूसरे ही क्षण अतीत हो जाता है । यह इसका अविच्छिन्न क्रम है, जिसमे कभी व्याघात नही होता । वर्तमान के मुक्त गर्भ से अतीत और भोग्य गर्भ से भविष्यत काल की उत्पत्ति होती है । समय के इस सूक्ष्म रूप को जानने वालों ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह रुपये-पैसे के समान ही, बल्कि उससे भी अधिक सावधानी से समय का हिसाब रक्खे । उन्होंने लिखा है—

'क्षण वित्तं क्षणं चित्तं क्षणं जीवति मानवः
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्यत्वरिता गतिः ॥'

वित्त क्षण मे नष्ट हो जाता है, चित्त की स्थिति क्षण भर मे बदल जाती है और मनुष्य का जीवन दीप क्षण मे बुझ जाता है । काल को कही करुणा नही है । धर्म की गति क्षिप्रगामिनी है । अर्थात् धर्म काल पर आरूढ होकर धार्मिक का अनुगमन करता है । और क्योंकि जीवन क्षण बुद्बुद् है, धर्म सचय से दीर्घ सूत्रता नही करनी चाहिये । यहाँ शतायु जीने वाले मनुष्य को क्षण जीवी बताया है उसका यही आशय है कि जीवित व्यक्ति के परमाणु स्कन्धो मे प्रतिक्षण जन्म-मरण की प्रक्रिया सचार कर रही है । जीवन के सौ वर्ष भले रहे, परन्तु मृत्यु का तो क्षण ही आता है । जो आंधी के उन्मत्त स्पर्श से दीपक के समान प्राणों का देह से अपहरण कर ले जाता है । वह क्षण कभी भी आ सकता है । दस्यु अथवा तस्कर तो रात्रि के तिमिर मे किसी का कण्ठ ग्रहण करते हैं परन्तु काल तो निर्भय होकर विश्व के घाट-बाट देखता घूमता है । उसे न करुणा है, न भय । 'सर्वम यस्य वशादगात् स्मृतिपथ कालाय तस्मै नम.' जिसकी सत्ता के समक्ष सब कुछ स्मृति शेष रह जाती है, उस महा काल को नमस्कार है । किसी विज्ञ सूक्तिकार ने कहा है—'प्रत्यायान्ति गता पुनर्नदिवसा कालो जगद्भक्षक' गये हुए दिन वापस नहीं लौटते, यह काल ससार भक्षक है । 'कालेन कीलित सर्वम्'—ससार के यावत् पदार्थ काल से कीलित हैं । कोई ऐसी वस्तु नही जिसे कालस्पर्श नही करता हो । जैसे माला के पुष्पों मे से सूत्र निकलता है, वैसे ही काल समस्त जड चेतन को विद्ध कर स्थित रहता है । जन्म और मरण के स्मृतिपत्र समयाकन से जाने जाते है । दिन और रात्रि समय का चक्कर लगाते हैं । समय मे ऋतुओं का आगमन और वर्षों की गणना सम्भव होती है । "कालेन बलिरिन्द्र कृत' कालेन व्यवरोपित."—काल ने बलि को इन्द्र बनाया और काल ने ही उसे हटा दिया । 'समय एव करोति बलाबलम्' बलवान् तथा निर्बल समय के ही पर्याय हैं । सूर्य प्रात.काल बलसमृद्ध होता है, उसके ग्रह बलवान् होते हैं और सायकाल अस्तवेला मे ही बलवान् मुहूर्त्त क्षितिज के गर्त मे डूब जाते हैं । प्राचीन राजवशो का इतिहास समय के बलाबल का इतिवृत्त है । जो समय के इस रहस्य को जान लेता है, वह समय का मित्र हो जाता है । उसके कानो मे समय शंखध्वनि करता रहता है कि जागो, उठो और अपने भूतिकर्मो मे (कल्याणकारी कार्यो मे) जुट जाओ—"उत्थातव्य जागृतव्य योक्तव्य भूति-कर्मसु । भविष्यतेवेति मन. कृत्वा सततमव्यथै. ।" कार्य सिद्धि अवश्य होगी, ऐसा विश्वास रखते हुए व्यथा का परित्याग करो । क्योंकि "अनिर्वेद: श्रियो मूलम्" लक्ष्मी का मूल अखिन्नता है । जो विघ्न-बाधाओं

से खिन्न होकर कार्य मे विरत हो गया उसे सिद्धि नहीं मिलती। क्योंकि—

"नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न च शश्वत् प्रतीक्षिणः ।
न च लोक लाङ्क्षीता न क्लीबा न च मायिनः ॥"

जो आलसी है, नपुंसक है, मायाचारी है, लोग क्या कहेंगे—ऐसे विचारमूढ होकर कर्त्तव्य कर्म से विमुख हैं, तथा जो निरन्तर प्रतीक्षा करते रहते हैं कि अभी अच्छा नहीं आया, जब आएगा तब अमुक कार्य करूँगा, इत्यादि विषम चिन्तन करने वाले कभी सफल नहीं होते, उनके पास अनुकूल समय कभी नही आता। वे अवसर का मुख उसी प्रकार देखने को तरसते रहते हैं जैसे बन्ध्या पुत्र प्राप्ति को। क्योंकि अवसर स्वय तो किसी-किसी भाग्यशाली के पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त होता है अन्यथा उसे पुरुषार्थी स्वयं आगे बढ कर पकड लाते हैं। किसी अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि समय का सिर पीछे से गजा है। यदि कोई उसको सामने आने पर स्वागत कर ले तो वह उसी का मित्र होकर साथ देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है किन्तु यदि कोई स्वागत के उस दुर्लभ अवसर को चूक जाए तो समय लौट कर चल देता है, क्योंकि वह गजा है, पीछे से उसे कोई पकड नही सकता। इस लिए कुछ लोग क्षण-क्षण को मूल्यवान् बनाकर सम्पन्नता के शिखरो पर जा पहुँचे और दूसरे घटे और दिवस गिनते हुए सीढिया चढने का अनुकूल मुहूर्त देखते गर्त से अपना उद्धार नही कर सके। किसी ने उचित ही परामर्श दिया है कि—'चलती हुई चिउंटी भी सौ योजन जा पहुँचती है और न चलने पर महापराक्रमी गरुड पक्षी एक पद भी नही पहुँच पाता।' —

"गच्छन् पिपीलि को याति योजनानां शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ।"

सिद्ध है कि क्रियासिद्धि का निवास पुरुषार्थ मे है, समय के साथ चलने में है न कि समय की प्रतीक्षा करते रहने में। चीनी कहावत है कि "हजार मील लम्बी यात्रा एक कदम से प्रारम्भ होती है।"—हजार मील चलने के लिए उठा हुआ प्रथम चरण उस मार्ग की दूरी को प्रतिपद न्यून करता जाता है। एक और एक दम बढाते-बढाते गन्तव्य समीप आता जाता है और साहसी आरोही के चरण एवरेस्ट के शिखर पर पहुँच जाते हैं। जो एक चरण के महत्व को नही समझता वह गति की समग्रता नही पा सकता।

समय चिन्तामणि है, कामधेनु है, वांछित धन है। उससे कुछ भी मांगो, पा जाओगे। समय श्रमाग्नि मे तप कर सुवर्ण बन जाता है, अवसर की सीपी में गर्भ-धारण कर मुक्ताफल हो जाता है, दुरधिगम समुद्र को मथकर रत्नराशि निकाल लाता है। संसार में जो कुछ किया गया है तथा किया जा सकता है वह समय द्वारा ही सम्भव है। यदि समय नही है तो कार्य नही हो सकता। कार्य सिद्धि के लिए बड़े-बड़े उपकरण सहायक नही होते, उसके लिए समय लगाना आवश्यक होता है, जो समय पर चूक गया उसे सिद्धि के राजपथ से हटना पड़ता है। एक मिनट विलम्ब से पहुँचने पर गाड़ी चौबीस घण्टो के लिए निकल जाएगी और घण्टे भर पूर्व जाकर बैठने से समय का दुरुपयोग होगा। अतः जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित है, वही समय उसे दो। कोई प्रात.काल का भोजन सन्ध्यावेला मे नहीं लेता, परन्तु ध्यान सामायिक, स्वाध्याय के लिए वेला के अतिक्रमण को दोष दृष्टि से नही देखना। परन्तु क्रियाए तो समयपात्र मे ही शोभित होती हैं। कार्यकलापो का कोई न कोई समय निश्चित होता है। "काले पाठ स्तवो ध्यानं शास्त्रे चिन्ता गुरौ नति." इसमें पाठ, स्तवन् ध्यान, स्वाध्याय तथा गुरु भक्ति सबको समय पर करना उचित कहा है। "न हि अत्यायुष सत्रमस्ति—आयु बीत जाने पर कोई यज्ञ नही किया जा सकता', सब आफिस, कार्यालय, दूकान, बाजार, रेलपथ, वायुयान आकाशवाणी अपने अपने निर्धारित समय पर क्रियाशील होते हैं। ग्राहक को यदि विश्वास न हो कि अमुक दूकान अमुक समय पर खुली मिलती है तो वह वहां नही जाता। विश्वास तथा अभिगमन का आधार समय पर बढ़ता है। सूर्य, चन्द्र समय से बंधे है। जीवन की प्रशस्ति नियमो मे हैं, अनियम से व्यभिचार दोष उत्पन्न होते हैं। इसी हेतु से संस्कृत मे समय का अर्थ शपथ भी है, पण भी है और वेला भी है। समय मानो, क्रियमाण कार्यों के साथ अनुबन्ध है, शपथ है। जो कार्य समय पर हो गया, वह प्रशंसित हो गया। यदि

१–तारीख का समाचार-पत्र २ अथवा ३ को प्रकाशित हो तो समय निकल जाने से वह पर्यूषित (बासी) हो जाएगा और उसे पाठक नही पढ़ेगे। वेला का अनतिक्रम मूल्यवान् होने के लिए आवश्यक है। एक घूट पानी के लिए तरसकर मरने वाले के शव पर सहस्र कलशों का पानी उलीचना जैसे व्यर्थ है वैसे समय चले जाने पर किया जाने वाला पुरुषार्थ भी फलशून्य हो जाता है। सर्प निकल जाने पर उसकी रेखा को पीटना, सूख जाने पर कूप से जल की आशा रखना, लुटे हुए धनिक से याचना करना, वर्षाकाल बीतने पर खेत मे बीज वपन करना—ये अवसरहत व्यक्तियो के खेद का सवर्धन करने वाले है।

जो समय का मूल्य रखता है, समय उसका सम्मान करता है और जो समय खो देता है वह समय से खो जाता है। *समय के साथ खेलने वालो से समय भी खेलता है किन्तु समय की समय धूप (आतप) के साथ लगी हुई* छाया को देखकर जो प्रकाश का समय रहते उपयोग कर लेते है, उन्हे अन्धकार घिरने पर आकुलित्व अभाव और अपनी अस्तित्व समाप्ति का भय नही रहता। किसी नीतिकार ने लिखा है—

"ब्राह्मे समापयेत् पूर्वाम् पूर्वाह्णे चापह्निकम्,
एव कुर्वन्नरो नित्यं सुखनिद्रां समश्नुते।"
नित्यमनृणशायी स्यान्नित्यं दानोद्यतक्रमः।
नित्यमासज्जितं भार लघुकुर्यादतन्द्रित ॥"

—नीतिसुधाकर

'प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त मे दिन के पूर्वार्ध का कार्य समाप्त कर ले और पूर्वाह्न मे सन्ध्यान्त कार्यो को निबटा ले। ऐसा करने वाला मनुष्य रात्रि मे सुख पूर्वक शयन करता है। मनुष्य को प्रतिदिन ऋण रहित होकर सोना चाहिए और दिनचर्या मे किसी से लेने के स्थान पर किसी को देने का उपक्रम अधिकतर करना चाहिए। जो कार्य भार आज आ गया है उसे भ्रान्तिरहित होकर नित्य ही लघु (हल्का) करने का अभ्यास करना श्रेयस्कर है।' क्योंकि आज का कार्य यदि कल पर छोड़ दिया तो कल का कार्य परसों पर छोड़ना पड़ेगा। इस प्रकार समयधन ऋण में बदल जाएगा और दैनिकचर्या गतिदिवस के ऋण चुकाने मे ही समाप्त करनी होगी। मुद्रा का ऋण मुद्रा लौटाने पर चुक जाता है किन्तु समय का मूल्य आयु लेकर निःशेष कर देता है। अत. 'श्व.कार्यमद्य कुर्वीत्' आने वाले कल का कार्य आज ही समाप्त कर लेना बुद्धिमान् का लक्षण है। क्योंकि 'विचारयति नो काल. कृतमस्य न वा कृतम्'—काल यह नहीं विचारता कि अभी किसी ने कार्य समाप्त कर लिया है कि नही। उसका आगमन अतर्कित और स्पर्श करुणारहित होता है वह सहज ही अपना कार्य करने मे दक्ष है। राजाओ का कोष, वीरो का बाहुबल, विद्वान् की विद्या, नारी के हाव-भाव, कृपण का हाहाकार, वैद्य की औषधिया, मित्रो के आश्वासन, प्रिया का बाहुपाश, पुत्रो की सेवा-परिचर्या किसी मे वह सामर्थ्य नही जो काल को द्रवित कर दे। राजा-रंक सभी सभी की जीवनमणिया काल की मुट्ठी मे धूलिकण होकर समायी है। काल ने राम को बनवास दिया, श्रीकृष्ण को साधारण व्याध के बाण से विद्ध किया, सती शिरोमणि सीता को परपुरुषगृह वासिनी बनाया—इसके क्रीड़ा कौतुको का अन्त नही। धनिक, निर्धन वीर-कायर, उदय-अस्त सब समय के छन्द है। 'समय एव करोति बलाबलम्'—बल और अबल समय के सापेक्ष धर्म हैं। जिसने समय के इस रहस्य को जान लिया, वह जीवन का मूल्य पा गया।

ससार जिनके कृतित्वो का फल भोक्ता है, ऋणी है उन दार्शनिको, विद्वानो, वैज्ञानिको के पास उतने ही घण्टे-मिनिट और अहोरात्र थे, जितने अन्य लोक सामान्यो के पास होते हैं। उन पर कृपा करते हुए समय ने अपने आप को लघु अथवा बृहत् नही बनाया। न राते छोटी हुई और न दिवस बढे—वही चौबीस घण्टो का अहोरात्र। किन्तु उन्होने इतने ही समय मे विलक्षण कार्य किये, रेले चलाई, वायुयान उडाए, शीत ताप को नियन्त्रित किया, समुद्रो की छाती पर यान तैराए और गुरुत्वाकर्षण को निराद्दत कर चन्द्र तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी पलको पर स्वप्न बसते थे और निद्रा दूर खड़ी शयन का मार्ग देखती थक जाती थी। भोजन की थाली प्रतीक्षा मे पर्यूषित होती रहती थी और रात्रि-दिन अपनी गति पर आते-जाते रहते थे। न उन्हे अपनी सुधि थी और न पार-वारो की। उनके चिन्तन किसी शोध मे खोये रहते थे और आंखे अपनी कल्पना को साकार करने मे लगी रहती

थीं। अर्जुन के लक्ष्य समान उनके समक्ष सम्पूर्ण वृक्ष, पल्लव और चिड़िया नहीं, केवल चिड़िया की आंख होती थी, जिसे वह देखते थे। जब और लोग निशीथोत्तर प्रवहमान शीतल पवन का सुखस्पर्श लेते सोये रहते हैं। कुछ कर गुजरने की धुन रखने वालों की नींद उड जाती है। 'सूआ-पालक-चूका'—गली में सब्जी बेचने वाले से भी उन्हें प्रबोध के स्वर सुनायी देते हैं, वे इनका अर्थ करते हैं, 'सोया पलभर तो चूका' और उसी क्षण उठकर कार्य में लग जाते हैं। उन्हे जगाने के लिए, कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करने के लिए बडे २ शख फूंकने की, प्रबोध-पाठावली पढाने की आवश्यकता नही होती, उनका सचेत अन्तर्मन ही प्रेरणा देता है। राजहस को मानसरोवर का मार्ग स्वय परिचित होता है तथा पवनवेग चलने वाले अश्व चाबुक की मार खाने का स्वभाव नही रखते। महात्मवों का मनोबल, उत्साह और अर्धषित धैर्य ही उन्हें सिद्धियो के समीप ले जाता है। उन्हें प्रतिक्षण किसी न किसी क्षेत्र से आमत्रण आह्वान मिलते रहते है कि आइये, यह कार्य अपूर्ण है यह कार्यक्षेत्र अनदेखा है, ये पक्तिया अजानी है है—आपका अप्रतिहत उत्साह इन्हे पूर्ण करेगा, देखेगा तथा जानेगा। समयमन्द व्यक्तियो के सामने रात-दिन अनेक आयोजन, कार्य सिद्धियां होती रहती है परन्तु वे उन्हे पहचान नही पाते, उन्हे देख नही सकते। और सोचते रहते है कि 'कब प्रभात होगा। कमल खिलेगा और सम्पुट मे बन्द भंवरा उड़ने का मार्ग पायेगा'—परन्तु गजराज आकर उस प्रतीक्षक के आशा कमल को तोड देता है, पैरो से कुचल डालता है। प्राण-भ्रमर देह कमल को छोड कर उड़ जाता है। रात भर के स्वप्नो को चिन्तन चिता की राख बन कर उड़ (बिखर) जाती है। किसी नीति धुरन्धर ने प्रबोध दिया है कि—

"करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥"

जीवन भर सोचते बैठे रहे कि अमुक कार्य कल कर लूंगा, कर लूंगा, कर लूंगा परन्तु कल मर जाऊगा, यह एक बार भी नहीं सोचा। श्री हनुमान जी जब समुद्र लघन कर रहे थे तब मैनाक पर्वत ने उन्हें थोड़ी देर विश्राम करने को कहा—हनुमान जी ने उत्तर दिया, मुझे आज ही लंका पहुँचना है अतः मार्ग मे क्षण काल भी विश्राम नहीं ले सकता। 'न स्थातव्यमिहन्तरा' (वा० रामायण)। ऐसे अथक पुरुषार्थी ही गन्तव्यों की श्री से परिणीत होते हैं। आचार्य सोमदेव ने लिखा है—"धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि सगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः" धर्म, शास्त्र तथा धन का प्रतिदिन लवसंग्रह भी एक दिन सागर के समान प्रचुर-पुष्कल हो जाता है। अकर्मण्य तथा समय को न पहचानने वाले मनुष्य मांसवृक्ष हैं, जो अपने ही स्थान पर खडे-खडे वसन्त की बहारों को पुकारते रहते हैं। किन्तु धीमन् पुरुष प्रतिदिन अपने कार्यों की मानस-दैनन्दिनी रखते है। वे प्रतिसायम् लिखते हैं कि आज का दिन कैसा बीता। रहट के समान रात्रि-दिवस के कूप में डूबता-निकलता मनुष्य यह तो सोचे कि मैं रिक्त हूं कि भरा।

'प्रत्यहं पर्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्य किन्नु सत्पुरुषैस्तथा॥"

जिसने स्वयं अपना पर्यालोचन करना सीख लिया, उसे अनुशासन की आवश्यकता नही। उठते हुए सूर्य के साथ जो उठ खडा होकर उद्यमार्ग नही चल देता, उसे सौभाग्यो की उषा के दर्शन नही मिलते। सूर्य की सहस्रों किरणे घर-घर मे प्रवेश कर जगत् को शय्या त्याग करने के लिए कहती हैं परन्तु जिस करभ (ऊट) को कंटक ही पसन्द हैं वह प्रभात की हरी दूब दूसरो के लिए छोड कर सोया रहता है। इसी हेतु मे कहा गया है—जो सोता है वह खोता है। 'चरैवेति चरैवेति'—समय गतिशील है, चलते रहो, चलते रहो, नही तो पीछे रह जाओगे। सूर्य पूर्व से उड कर पश्चिम पहुँच चुका होगा और तुम अभी घर से निकलने की तैयारी कर रहे होगे। निकलते-निकलते रात्रि हो जाएगी तो मार्ग की पगडंडी जीवन से भटक कर श्मशान की ओर मुड जाएगी। अतः समय के कदम दबाते चलो समय की आंख भापते बढो, काल को अकेला मत छोडो उसे अपने साथ रक्खो नही तो घात करेगा। 'सूर्योदये चास्तमिते शयान विमुचति श्रीरपि चक्रपाणिम्'—जो सूर्योदय और सूर्यास्त समय में सोता रहता है, उसे लक्ष्मी छोड़ कर चली जाती है। 'दीर्घ

सूत्री विनश्यति'—आलसी नष्ट हो जाता है। किसी ने कहा है—

**"टिक टिक करती घड़ी सभी को मानो यह सिखलाती है।
करना है सो जल्दी करलो, घड़ी बीतती जाती है।।"**

समय को मूल्यवान् कहने वाले लोग इसी भाषा में वार्तालाप किया करते हैं। 'एक दूकानदार के पास एक ग्राहक ने कहा—इस पेंसिल को कितने मूल्य में बेचोगे ? दूकानदार ने उत्तर दिया एक रुपये में। ग्राहक ने कुछ सोचकर पुनः पुछा—आप कम से कम कितने में देंगे ? दूकानदार ने कहा—अब सवा रुपये में। ग्राहक बोला मज़ाक छोडिए, इसकी सही कीमत ले लीजिए। दूकानदार ने घडी देखते हुए कहा—आप जितनी बार मोल भाव करते हुए मेरा समय लेते रहेंगे, पेंसिल का मूल्य बढ़ता जाएगा।' समय को व्यर्थ न खोने वाले व्यक्ति ही आगे बढते हैं। श्री उन्ही का वरण करती है जो काटो पर पथ पार करते है। गुदगुदे गद्दो का कोमल स्पर्श चाहने वालो की चौखट पर खडी दरिद्रता प्रवेश के क्षण देखती रहती है।

**"समय महाधन क्रियाशीलका समय ज्ञानधन यतियों का,
समय सदा मूल्यांकन करता कृतियों और प्रकृतियों का।"**

—वैदर्भी महाकाव्य

जिन्होने श्वेतश्मश्रुओ और वार्धक्यजनित कुब्जता मे समय की दीर्घता को देखा है वे उसके बाहरी स्थूल द्रष्टा है; क्योकि 'न तेना वृद्धो भवति येनास्य पलित शिरः'—इस बात से कि शिर के बाल श्वेत हो गये है, कोई वृद्ध (मान्य) नही हो जाता। तुषार को ओढ़ कर सभी पत्थर हिमालय नहीं बन जाते। वृद्ध वही हो पायेगा जिसने समय का अध्ययन, मनन, चिन्तनादि मे सदुपयोग किया है। अन्यथा बालचापल्य की सीमा से जिनका मानस बहिर्भूत नही है, उन वय.प्राप्त (पक्व अवस्था वाले) लोगो को ज्ञानवृद्धों से ऊपर मानना होगा। इस दृष्टि म वृद्धत्व की वास्तविक स्थिति पाने के लिए केवल वय. सापेक्ष होना आवश्यक नहीं, ज्ञानोपासना, तत्त्वाधिगम तथा आचार वैशिष्ट्य अपेक्षित है। "यद् यदाचरति श्रेष्ट स्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोक स्तदुनु वर्तते।' समाज मे श्रेष्ठ पुरुष के आचरण का सामान्य जन अनुकरण करते हैं और उनके द्वारा प्रमाणित को प्रमाण मानते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष महामुनि शुकदेव के समान कोई बालक भी हो सकता है और सत्तर वर्षीय वृद्ध भी नहीं हो सकता। इस मान्यता के लिए बालक हो अथवा वृद्ध, वही पात्र होगा जिसने समय का सतत साहचर्य किया है। जिसने एक-एक रवि के उदयास्तों में समय की बहुमूल्य सम्पदा को नही देखा, उसके पास यदि धन-वैभव का अतिभार भी हो तो उसकी दरिद्रता मे किसे सन्देह हो सकता है ? शतवार्षिक आयुः प्राप्त कर जिसने समय का पर्याप्त लाभ नहीं लिया, उसने मानो, चलनी मे अमृत भरने की चेष्टा की, विरल अजलि मे गोरस पान किया और नेत्रो को मीलित रख कर अन्धचेष्टा की। किसी नीतिकार की सूक्ति है कि 'जो बिन प्रयोजन उन्मार्ग मे एक कौडी का व्यय भी नही करता और सुवर्णमुद्रा के समान उनका सचय किया करता है, समय आने पर वह कोटि मुद्राओ का व्यय करे तो भी लक्ष्मी की उस पर कृपावती बनी रहती है—

**"यः काकिणीमप्यपथ प्रपन्नां समाहरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेन कोटिष्वपि मुक्तहस्त त राजसिंहं न जहाति लक्ष्मी।।'**

—सुभाषित०

वस्तुतः मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि काल को पुरुषार्थ से ही जीता जा सकता है और विद्या को विनम्र होकर प्राप्त किया जाता है। 'पौरुषेण जयेत काल विद्या विनय सम्पदा'—क्योंकि आयु का कोई विश्वास नही। जिन श्वासों के तन्तु ही अदृश्य है, उन्हें बाध रखने का उपाय क्या है ? वे तो किसी भी क्षण अलभ्य हो सकते हैं। इस महत्त्व को हृदयंगम करने वालो ने ही अनुभव किया है कि—

**"आयुः क्षणलवमात्रं न लभ्यते हेम कोटिभिः क्वापि।
तद् गच्छति सर्वमृषतः काधिकाऽस्त्यतो हानि.।।"**

अहो ! आयु अतिमूल्य है, मूल्य से परे है। संसार को विपणी मे सर्वस्व मिल सकता है, परन्तु आयु नही मिल सकती। कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम इसकी वृद्धि का उपाय नहीं जानता। 'सुर, असुर खगाधिप जेते मृग ज्यों हरि काल दलेते। मणि मंत्र तन्त्र बहु होई मरते न बचावे कोई।' —(छह ढाला, दौलतराम) कोटि स्वर्ण देकर भी आयु का क्षण नहीं खरीदा जा सकता। यह अमूल्य

है। यदि इसे यों ही गँवा दिया तो इससे बढ़कर हानि क्या हो सकती है।

कदाचित् नदी का प्रवाह लौट सकता है, पतझर के पश्चात् वसन्त का पुनरागमन हो सकता है, घटी यंत्र की शलाका (सूई) बारह घण्टे के अनन्तर पुनः उसी अंक पर लौट आ सकती है. पुनः पुनः उसी पूर्व क्षितिज पर सूर्य का प्रत्यावर्तन हो सकता है किन्तु गया हुआ समय अतिक्रान्तमुहूर्त फिर नही लौटता। 'प्रत्यायान्ति गता. पुनर्नदिवसा. ।' पवनवेग अश्व और लोकान्तरगाही विमान उसकी क्षिप्रता का अनुधावन नही कर सकते। उसकी गति की उपमा क्षिप्रगामी आंधी से नही दी जा सकती, उसके महत्त्व को अतोल मणिरत्नो की सम्पदा से नहीं आंका जा सकता। वह अपने आप मे सर्वोत्तम है, अनुपम अद्वितीय है। ससार की समस्त वस्तुओ का मूल्यांकन समय करता है। एक समय साधु भिक्षा के लिए अंजलित पाणि होता है और एक समय वही आशीर्वाद की मुद्रा में वरदानो की वृष्टि करता है। समय पर बरसने वाला मेघ कृषि को स्फीत करता है और समयातिक्रमण पर वही उसके विनाश का कारण हो जाता है। ठंडे लोह पर घनों की चोट व्यर्थ है।

मनुष्य के अध्ययन, अर्थोपार्जन, श्रम तथा विश्राम सभी के लिए एक समय निश्चित होता है। यह जीवन समय में विभक्त है। व्यर्थ समय खोने वालो को समय अग्नि मे जलाकर भस्म कर देता है। सूर्य को उदयरथ पर आरूढ़ देख कर ससार अपने समय की निश्चिति करता है क्योंकि वह वेलापनि है, समय के सकेत की सुइया उसकी रश्मियों मे गतिशील है। धन्य है, जो धुन के धनी है, लगन के पक्के और साहस के भण्डार है, ध्रुव सूची (कम्पास) के समान समय उनका मुख देखता रहता है। किन्तु जो आलसी हैं, समय, उनके ऊपर से ढलते सूर्य के समान निकल जाता है और ऐसे दीर्घ सूत्री व्यक्ति जब कुछ करने के बांधनू बांधते हैं तब तक जीवन की सन्ध्या घिर जाती है और मृत्यु के महातिमिर मे वे मिट जाते हैं। इसलिए रात्रि की काली चादर फैलने से पूर्व सारे काम निबटा डाले, कही ऐसा न हो कि एक दिन के लिए छोड़ा हुआ काम किसी दूसरे जन्म के लिए शेष रह जाए।

महान् व्यक्ति बड़े उदार होते हैं। वे इस संसार में विपुल यश, धन, वैभव, बल आदि उपार्जित करते है तथा दोनों हाथों उसे संसार को दान में देते हैं। किन्तु समय-दान मे वे बहुत कृपण होते है। सामान्य लोग हंसी-ठट्ठे मे, मनो-विनोद मे, चलचित्र दर्शन-आदि में समय को जिस प्रकार अपव्यय के गर्त मे डालते है, उसे वे सोच भी नही सकते। मणिबन्ध (कलाई) पर बंधी हुई घड़ी से अधिक वे हृदय मे स्पन्द करती हुई प्राणघटिका की टिक-टिक पर अधिक सावधान रहते है क्योंकि उसकी गति समाप्त होने पर फिर "चाबी" नही दी जा सकती। "बिन्दुभिः पूर्यते घट."—"बूंद-बूंद जल भरहिं तड़ागा"—के उदाहरण को वे क्षण-क्षण बचाकर चरितार्थ करते हैं। ऐसे लोग चौराहे पर नही देखे जा सकते, उन्हे थियेटर-सिनेमाहाल की भीड़ मे नही पाया जा सकता। वे किसी ताम्बूलिक की हाट पर पान की गिलौरिया कपोल गह्वरो मे दबाये नही दिखते। उनका द्वन्द्व तो समय के साथ चलता है। वे रात दिन समय मन्दिर की घटिया बजाते, समय मातृका के क्षण-पत्र पलटते, काल देव की स्मित धारा मे नहाते अपने को कृतार्थ करते है। क्योंकि, जो समय की ध्वजा को अपनी श्वासवायु से ऊपर लहराता है, उसे कृतज्ञ होकर समय कीर्ति प्रदान करता है। समय के साथ मित्रता रखने वालो ने यहा दोनो हाथों रत्न उछाले, मणिवर्षा की, सुख लूटा, आनन्द बाटा और जोते हुए उत्तम लोको का पाथेय साथ ले गये "आयुर्गच्छति पश्यत प्रतिदिनं याति क्षय योवन" प्रतिक्षण आयु समाप्ति की ओर जा रही है। यौवन बीत कर वार्धक्य आ रहा है। इसे समझाने को नीतिकार कहते हैं—

"अजनस्य क्षयं दृष्टवा वल्मीकस्य च संचयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभिः।"

कज्जल की डिबिया मे से बहुत स्वल्पपरिमाण में, अगुलि के अग्रभाग पर लेकर उसे आखों मे लगाया जाता है और इस अल्पमात्रा मे लेते लेते एक दिन कज्जल की डिबिया रिक्त हो जाती है। इसी प्रकार चींटे वल्मीक का निर्माण करते है और पृथ्वी मे बिल बनाकर एक-एक कण मुंह में भर कर बाहर रखते जाते हैं, थोड़े समय में वहाँ मिट्टी का ढेर हो जाता है। यह कज्जल की समाप्ति और

वल्मीक का निर्माण थोड़ा-थोड़ा व्यय-संचय करने का परिणाम है। इस रहस्य को जानकर बुद्धिमान् अपने अहोरात्र का उपयोग दान, अध्ययन तथा सत्कर्मों में करते हैं। "अस्तं व्रजन् रविर्नित्य—मायुरादाय गच्छति"—डूबता हुआ सूर्य प्रतिदिन प्राणिमात्र की आयु का अंश लेकर जाता है। एतावता ज्ञानवान् वह है जो अजर-अमर बुद्धि रख कर विद्योपार्जन करता है, धनार्जन मे लगा है किन्तु मृत्यु किसी भी क्षण आकर कण्ठावरोध कर सकती है, यह विचार कर धर्म का प्रति क्षण आचरण करता है। हितोपदेश में विष्णु शर्मा की उक्ति है कि—

'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥"

—मित्रलाभ

वास्तव मे संग्रह क्षण-क्षण का ही किया जाता है। एक साथ कलश नही भरता और एक प्रहार मे पर्वत नही टूटते निरन्तर बिना श्रान्त हुए उद्यम मे लगे रहने से ही सम्पदाओं की प्राप्ति हो सकती है।

जैन दर्शन में समय नाम आत्मा का है। इस समय को ही जानना मनुष्य भव का सर्वोत्तम फल है। उपनिषदों में भी "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" कहकर आत्मा को ही परम श्रेय कहा है। "समयसार" ग्रन्थ की रचना करते समय आचार्य कुन्द कुन्द ने "नम समय साराय" लिखा है। टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने व्याख्यामात्र से "परमविशुद्धि रूप" फल की प्राप्ति बताई है। "मम परमविशुद्धिः—भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः"। इस प्रकार ससार बन्धन से मुक्ति समयवेदिता से ही सम्भाव्य है। मुनि महाराज अभीक्षण-ज्ञानोपयोग द्वारा समय को ही जानते है। अयमेव हि कालोऽसौ पूर्वमासीदनागत."—यही वह काल है, सुवेला है जो पूर्व में कभी नही प्राप्त हुआ था—ऐसा मानने वालो ने प्रगति के पचाग नही देखे, यात्राओं के मुहूर्तों की प्रतीक्षा नहीं की और अपने प्रयत्नो को, उत्साह से व्यतिरिक्त किसी बन्धन में नही बांधा। क्या सूर्योदय के समय किसी दिन भद्रा नही होती, परिघयोग् नही आता। परन्तु इनके आने पर भी रवि के मंगल-अभियान कभी रुकते है क्या। "मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्"—कार्यशील मनस्वी दुःखों, सुखों की परवाह नहीं करता। उन्हें तो अपने कार्य की धुन रहती है—

"दिनं वा रात्रिर्वा प्रखरतपनो वा हिमरुचिः
कुशानां वीथिर्वा मृदुलनव दूर्वांकुर—चयः
सुदूरं पार्श्वं वा वसतिरिति नानाऽकुलधियो
न जायन्ते कर्मस्वविरत निमग्ना हि सुधियः ॥"

"दिन है अथवा रात्रि, सूर्य का प्रखरताप है अथवा शीतल इन्दुरश्मियां, मार्ग मे कुशों (दर्भों) की वीथि है अथवा कोमल दूर्वांकुर ? गन्तव्य समीप है या दूर ? इस प्रकार की आकुलता उत्पन्न करने वाली बुद्धि कार्य मे दत्तावधान सुधीजनों को खिन्न नही कर सकती। उनके पास एक तुलादण्ड (तराजू) है जिसके रात्रि और दिन दो पलड़े हैं। उनमे एक ओर क्षण तथा दूसरी ओर कार्य समतुलित हो रहे हैं। ऐसा नही होता कि क्षण धरे धरे पर्युषित हो जाए और कार्य क्षण रहित होकर मूल्यवर्जित हो उठे।

"कवीन्द्रों ने गाया, मुकुट पहनाया नियति ने
झुकाया सम्मानस्तिमितशिर धन्या प्रकृति ने
लगाया माथे को तिलक उनके कालभट ने
जिन्होंने अश्रान्त अमित दुलराया समय को।"

—सूक्ति सुधाकर

"कवीन्द्र उनका यशोगान करते हैं, नियति उन्हें मुकुट पहनाती है, प्रकृति भी उनके सम्मान मे नतशिर हो झुक जाती है, और काल जैसा सुभट उनके मस्तक पर तिलक लगाता है, जो अश्रान्त होकर समय को दुलराते हैं, प्यार करते हैं।"

"विजेता दुर्गाणां प्रथमगणनीयः सुकृतिनाम्
प्रणेता शास्त्राणां नवभणिति दक्षोऽथ सुधियाम्
स्वयं क्षेता नानाभवजनितकर्माभिधमहा—
रिपूणां जायेत क्षणविभव संख्यान निपुणः ॥"

—सुधाशतकम्

"वह कठिनताओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, पुण्यवानो मे प्रथम गणनीय हो जाता है, शास्त्रों के निर्माण मे सामर्थ्य पा जाता है तथा पण्डित सभाओं में नूतन सूक्तियाँ कहने में दक्ष हो जाता है। अनेक जन्मों से साथ

लगे कर्म शत्रुओं का क्षय करने में सक्षम हो जाता है जो क्षण क्षण के मूल्य को पहचानने में निपुण होता है।" यह समय काम दुघा धेनु है, इसकी सेवा से मन चाहा वरदान मिल सकता है। एक-एक ईंट रखने से महान् भवन का निर्माण यदि सम्भव है तो एक एक क्षण का मूल्यांकन करने से उन्नति के उच्च शिखरों का स्पर्श सुनिश्चित है। उठो, समय को पहचानो। जीवन का प्रत्येक क्षण मंगलमय है, उसे क्रियाबहुल कर सुखी जीवन की आधार शिला रक्खो।

नरभव की विफलता

सन्त कुमुदचन्द

मैं तो नर भव वादि गमायो ॥

न कियो तप जप व्रत विधि सुन्दर, करम भलो न कमायो ॥१॥
विकट लोभतें कपट कूट करि, निपट विषै लपटायो।
विटल कुटिज शठ संगत बैठो, साधु निकट विघटायो ॥२॥
कृपण भयो कछु दान न दीनो, दिन दिन दाम मिलायो।
जब जोवन जंजाल पडघो तब, परतिरिया चित लायो ॥३॥
अंत समै कोउ संग न आवत, झूठहिं पाप लगायो।
'कुमुदचन्द्र' कहे चूक परी मोह, प्रभुपद जस नहिं गायो ॥४॥

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशन का स्थान	वीर-सेवा-मन्दिर भवन, २१ दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री वीर-सेवा-मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्याये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर
	डा० प्रेमसागर, बडौत
	यशपाल जैन, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत वीर-सेवा-मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर-सेवा-मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

मैं, प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१५-२-६७ ह० प्रेमचन्द (प्रेमचन्द)

जैन चम्पू काव्यों का अध्ययन

अगरचन्द नाहटा

जैन साहित्य बहुत विशाल और वैविध्यपूर्ण है। भाषा और विषय की विविधता होने के साथ-साथ उसकी अपनी ऐसी कई विशेषताएं हैं जिससे भारतीय साहित्य मे ही नहीं विश्व साहित्य मे उसका उल्लेखनीय स्थान हो सकता है पर खेद है जैन विद्वानो एवं समाज ने अपने साहित्य का महत्त्व सर्व विदित होने का यथोचित प्रयत्न नही किया। सैकड़ों नही हजारो महत्त्वपूर्ण रचनाएं अभी अप्रकाशित पडीहै और जो हजारो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका प्रचार भी बहुत सीमित रहा। इसलिए जैनेतरो की बात तो दूर जैन विद्वानो तक को अपने कौन से ग्रन्थ कहा से प्रकाशित हुए है इसकी जानकारी तक नही है तो उसके अध्ययन एव मूल्याकन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। बीच मे कुछ महीने पूर्व मुझे एक दिगम्बर जैन विद्वान् का पत्र मिला कि श्वेताम्बर दिगम्बर समस्त प्रकाशित जैन ग्रन्थो की कोई सूची तक हम प्रकाशित नही कर सके। श्वेताम्बर मुद्रित ग्रन्थो की एक महत्त्वपूर्ण सूची करीब ४०-५० वर्ष पूर्व स्व० श्री बुद्धिसागर सूरिजी ने आध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल से प्रकाशित करवाई थी। उसके अनेक वर्षों बाद श्री पन्नालाल जैन के प्रयत्न से प्रकाशित ग्रन्थो की एक सूची प्रकाशित हुई पर ये दोनो ही प्रयत्न बहुत ही अधूरे हैं। प्रतिवर्ष सैकड़ो छोटे-मोटे जैनग्रन्थ इधर-उधर से प्रकाशित होते है उनकी जानकारी प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। क्योंकि न कोई ऐसा बडा ग्रन्थालय है जिसमे सब ग्रन्थों का प्रयत्नपूर्वक संग्रह किया जाय, न कोई ऐसा प्रकाशनालय है जिसके द्वारा एक ही जगह से सैकड़ो पुस्तके प्रकाशित होती हो। न कोई ऐसा पुस्तक-विक्रेता ही है जो समस्त प्रकाशित जैन ग्रन्थो का क्रय एवं विक्रय करता हो। जैन समाज के लाखों रुपये प्रतिवर्ष ग्रन्थ प्रकाशन मे खर्च होते है। पर न कोई ग्रन्थ का स्तर होता है और न प्रचार ही। अधिकांश साधु-साध्वी और कुछ विद्वान् एवं श्रावक पुरानी रचनाओं का संग्रह-सम्पादन और नई रचनाओं का निर्माण करते हैं। वे जिस किसी को प्रेरणा देकर या सघ से रुपया इकट्ठा कर जहां-कही से ग्रन्थ प्रकाशित कर देते हैं। बहुत से ग्रन्थ तो अपने परिचित आदि को मुफ्त वितरण कर दिये जाते हैं। बहुत-से यों ही कहीं पड़े रहते हैं, बहुत थोडे से ही बिक पाते है। उपयुक्त विद्वानों जिज्ञासुओं, पत्र सम्पादकों, ग्रन्थालयो तक वे पहुंच ही नहीं पाते। न उन ग्रन्थों की समालोचना ही प्रकाशित होती है न विज्ञापन ही। इस स्थिति में लाखों रुपये के खर्च द्वारा जो लाभ जैन एवं अन्य समाज को मिलना चाहिए उसका शताश भी नहीं मिल पाता।

यह बहुत हर्ष की बात है कि इधर हिन्दी में शोध-कार्य बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है। सहस्राधिक शोध-प्रबन्ध विविध विषयक लिखे जा चुके हैं—शताधिक तो प्रकाशित भी हो चुके है। इन शोध प्रबन्धों मे यथा प्रसंग जैन साहित्य एव दर्शन का भी कुछ उल्लेख होता है। यद्यपि उनमें बहुत-सी भूल-भ्रान्तिया भी हो जाती हैं। जैन साहित्य के उपलब्ध न होने से या प्रयत्न समय और श्रम के अभाव मे शोध प्रबन्ध के लेखक मूल जैन ग्रन्थों को कम ही पढ़ते हैं, दूसरों के किये हुए उल्लेखों से अपना काम निकाल लेते हैं। फिर भी कुछ शोध प्रबन्धों मे प्रयत्न पूर्वक जैन ग्रन्थो को प्राप्त कर उनके अध्ययन एव मूल्याकन का प्रयत्न किया जाता है। पर खेद की बात है कि वे अधिकांश शोध प्रबन्ध जैन विद्वानों या पाठकों जिज्ञासुओं के अवलोकन में नहीं आते, इसलिए जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, कला एव संस्कृति के सबन्ध मे किन-किन जैनेतर विद्वान लेखकों ने अपने किन किन ग्रन्थो में क्या-क्या लिखा है उसकी जानकारी प्रायः जैन समाज के सामने नही आ पाती। शोध प्रबन्ध अधिक मूल्य वाले होते हैं इसलिए उन्हें कोई जैन विद्वान् तो क्या बड़े-बड़े जैन ग्रन्थालय व पुस्तकालय भी नही खरीद पाते।

सौभाग्य से मुझे अधिकाधिक ग्रन्थों के अवलोकन का सुअवसर मिलता रहता है। इसमें सबसे प्रधान कारण तो मेरी अपनी साहित्याभिरुचि है कि कोई भी अच्छा ग्रन्थ कही से भी प्रकाशित हुआ मुझे मालूम पड जाय तो जब तक उसे प्राप्त कर पढ़ न लूं, तब तक एक बेचैनी-सी अनुभव करता हूँ। शताधिक पत्र-पत्रिकाए मेरे 'अभय जैन ग्रन्थालय' में आती हैं और जो नही आती वे जहां कहीं भी आती हो मालूम होने पर उन्हे प्रयत्न पूर्वक मगा कर या जाकर पढ़ लेता हूँ और उनसे जो नये प्रकाशनों की जानकारी प्राप्त होती है, उन ग्रन्थो को स्वयं मगाकर या अन्य ग्रन्थालयो से मगाकर सरसरी तौर से अवलोकन कर ही लेता हूँ। इसी के फलस्वरूप पचासों शोध प्रबधादि के सम्बन्ध मे मेरे लेख प्रकाशित हो चुके है। सम्भवत. उनमे से अन्य किसी जैन विद्वान ने २-४ ग्रन्थ ही क्वचित् देखे हों। बड़े-बड़े पुस्तक-विक्रेताओं के सूचीपत्र भी मैं मगाता रहता हूँ जिससे मेरी जानकारी अद्यतन रह सके, और जो कुछ लिखूं उसमे कुछ न कुछ नवीनता, मौलिकता और अज्ञात तथ्यो की जानकारो समावेशित हो सके।

संस्कृत भाषा भारत की एक बहुत प्रसिद्ध एव वैज्ञानिक भाषा है। उसमें सर्वाधिक साहित्य-निर्माण हुआ है। सभी प्रान्तों मे प्रान्तीय भाषाओं के साथ सस्कृत मे भी लिखा व पढ़ा जाता रहा है। अनेक विषयो एव अनेक शैलियो की लक्षाधिक छोटी-बड़ी रचनाए सस्कृत भाषा मे अभिवृद्धि मे अधिकाधिक सहयोग रहा है। 'जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास' गुजराती मे प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, सूरत ने कई भागो मे लिखा है। जिसका प्रथम भाग कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। दूसरा भाग भी काफी छप चुका है। यद्यपि उनके लिखित इतिहास मे अनेक रचनाए आ नही पाई, फिर भी बहुत बड़ी जानकारी इस ग्रन्थ के पूरे प्रकाशित होने पर मिल ही जायेगी। हिन्दी और अग्रेजी मे भी ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित होने ही चाहिए। पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम, वाराणसी की जैन साहित्य के इतिहास के प्रकाशन की योजना में एक-एक विषय के समस्त जैन साहित्य का परिचायक ग्रन्थ तैयार करवाया जा रहा है। इस काम को और तेजी से करवाया जाकर प्रकाशन भी शीघ्रातिशीघ्र करवाना चाहिए।

जैन साहित्य सम्बन्धी शोध प्रबन्ध भी कई अच्छे-अच्छे लिखे गये हैं पर उनमे बहुत से प्रकाशित नहीं हो पाये। कुछ अग्रेजी मे, कुछ हिन्दी में निकले है उनकी भी सूची पूरी प्रकाशित नही हुई। मैंने इस सबन्ध मे पहले भी एक लेख प्रकाशित किया था कि जैन साहित्य संबन्धी किसने, किस विषय पर, किस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शोध प्रबध लिखे या लिखे जा रहे हैं। उन उन मे से कौन-कौन से व कहा-कहा से प्रकाशित हुए हैं इसकी पूरी जानकारी जैन पत्रों में प्रकाशित की जाय। कोई एक जैन शोध सस्थान इस कार्य में प्रयत्नशील हो कि प्रति वर्ष सभी विश्व विद्यालयों से शोधकार्यों की जानकारी प्राप्त कर जैन सम्बन्धी जानकारी प्रकाशित करता रहे। साथ ही स्वतन्त्र रूप मे जैन सम्बन्धी न भी लिखा हो पर प्रासंगिक रूप मे भी अन्य शोध प्रबन्धो में जैन संबधी जो भी लिखा गया हो उसका सक्षिप्त विवरण ही प्रकाशित किया जाता रहे।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के डा० छविनाथ त्रिपाठी का एक शोध प्रबन्ध 'चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन' नामक ग्रन्थ चौखम्बा विद्या भवन बनारस से सन् १९६५ मे प्रकाशित हुआ है। आगरा विश्वविद्यालय से लेखक को इस प्रबन्ध पर पी. एच. डी. की डिग्री प्राप्त हुई है। ग्रन्थ वास्तव मे ही बडी खोज एवं परिश्रम से लिखा गया है। प्रकाशित और अप्रकाशित २४५ चम्पू काव्यों का उसमे उल्लेख मिलता है। लेखक ने प्रस्तावना मे लिखा है कि "सस्कृत के आचार्यो ने गद्य-पद्यमय काव्य को चम्पू की सज्ञा दी है। अव्याप्ति और अति व्याप्ति-दोष से रहित चम्पू की परिभाषा निम्न-लिखित श्लोको मे दी गई है—

"गद्य पद्यमयं श्रव्यं सबन्धं बहुवर्णितम्।
शालं कृत रसैः सिक्तं, चम्पुकाव्यमुदाहृतं।।"

चम्पू काव्य धारा का ४०० वर्षों का इतिहास शिलालेखों की गोद मे छिपा है। समास बाहुल्यता और अलङ्करण की प्रवृत्ति से युक्त मिश्र शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हरिसेण की 'प्रयाग प्रशस्ति' है। २०वी शताब्दी

के मध्य में ही चम्पू काव्यो का ग्रन्थात्मक सृजन आरम्भ हुआ। मिश्र शैली के विकास के अन्वेषण मे दक्षिण भारतीय भाषाओ में उपलब्ध इसके रूपों का सांकेतिक उल्लेख किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध में २४५ चम्पू काव्यों का उल्लेख किया गया है जिनमे मे ७४ चम्पू काव्य तो विविध स्थानों से प्रकाशित भी हो चुके है। इस शोध प्रबन्ध मे १०२ चम्पू काव्यो का कुछ विस्तृत आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। वर्ण्य वस्तु और मूल श्रोतो के अन्वेषण से जो तथ्य सामने आये है उनसे ज्ञात होता है कि रामायण पर ३६, महाभारत पर २७, भागवत पर ४५, शिवपुराण पर १७, अन्य पुराणों पर २३, जैन पुराणों पर ६, ऐतिहासिक और सामान्य व्यक्तियां के चरित्रो पर ४८ तथा यात्रा वृत्तों पर १३ चम्पू काव्य लिखे गये हे। स्थानीय देवताओं के चरित या उनके महोत्सवों पर २५, तथा विचारात्मक या काल्पनिक कथा पर आश्रित ५ चम्पू काव्य हैं।

प्रथम चम्पू काव्य 'नल चम्पू' है+। १५वी शताब्दी तक केवल २० चम्पू काव्य उपलब्ध होने है। शेष बाद के २५० वर्षों मे लिखे गये है। कुछ कवि राज्याश्रित हैं। कुछ विविध मठो, मन्दिरो या सामन्तों से सबंधित है। पौराणिक चम्पू काव्यो की सख्या सबसे अधिक है, उसके बाद चरित चम्पू का पहला स्थान है। चम्पू काव्य के निर्माण मे भक्ति आन्दोलन और दरबारी वातावरण ने प्रभावकारी शक्तियो के रूप मे कार्य किया है। १६वी शताब्दी के बाद के भक्ति परक चम्पू काव्यो मे भी श्रृंगार और विलासता के उत्तान चित्र प्राप्त होते है। शैव चम्पू काव्य इससे बचे हुए है। उत्तर भारत मे केवल ४६ चम्पू काव्यों की रचना हुई है शेष दक्षिण भारत मे लिखे गये है।

अन्त मे एक लोक प्रिय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चम्पू काव्य यशस्तिलक का विस्तृत आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसका उद्देश्य इस भ्रान्ति का निराकरण है कि चम्पू काव्यो की अपनी कोई विशेषता नही है। यहां केवल इस रचना का साहित्यिक मूल्यांकन मात्र किया गया है। वह अपने युग के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश, चिन्तन और निष्ठाओ को भी व्यक्त करता है।"

जहां तक जैन चम्पू काव्यों का प्रश्न है इस ग्रन्थ मे ६ ग्रन्थो का उल्लेख है। इनमे से "समरादित्य कथा" को तो लेखक ने देखा ही नही प्रतीत होता, क्योंकि उसके कर्ता का नाम अज्ञात लिखा है और ग्रन्थ को अप्रकाशित बतलाया है—यह दोनो ही बाते सही नही है। यदि समरादित्य कथा चम्पू काव्य है तो वह कहा प्राप्त है या उसे चम्पू मानने का आधार क्या है? इसका उल्लेख तो लेखक को करना ही चाहिए था। मेरे ख्याल से तो समरादित्य कथा चम्पू काव्य नही है। अन्य ५ जैन चम्पू दिगम्बर विद्वानो के रचित हैं यथा—

१. जीवंधर चम्पू—हरिचन्द्र आधार, उत्तर पुराण
२. पुरुदेव चम्पू—अरहदास, आधार आदिपुराण
३. „ „ —जिनदास शास्त्री, उत्तर पुराण
४. भरतेश्वराभ्युदय—आशाधर, आदिपुराण
५. यशस्तिलक चम्पू—सोमदेव सूरि, उत्तर पुराण

इन पाचो मे से भी जिनदास शास्त्री का पुरुदेव चम्पू का कोई विवरण नही दिया गया। आशाधर का भरतेश्वराभ्युदय चम्पू भी अप्रकाशित होने से त्रिषष्ठीस्मतिशास्त्र की भूमिका के आधार से ही इसका उल्लेख किया गया है। मेरी राय मे यह काव्य है चम्पू नही+। और शेष तीनो चम्पू प्रकाशित होने से उन्ही का परिचय दिया गया है। इनमे से यशस्तिलक चम्पू का तो विशिष्ट अध्ययन एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप मे अन्त के १६५ से ३५६ पृष्ठो मे किया गया है। अत: उसको छोड कर अन्य दो चम्पुओ के विवेचन का आवश्यक अश यहां दिया जा रहा है।

ग्रन्थ के पृष्ठ ६६ में लिखा गया है कि "संस्कृत की तत्सम पदावली से सम्पन्न तमिल भाषा की एक शैली

+ प्राकृत कुवलयमाला उद्योतन सूरिरचित ही भारत का प्राचीन चम्पू काव्य है।

+ जिनरत्न कोश में इसे काव्य बतलाया है। सोनागिर के दि० भट्टारकीय भडार में इसकी प्रति बतलाई गई है अत: देख कर निर्णय कर लेना आवआवश्यक है।

मणिप्रवाल के रूप में विकसित हुई। मणिप्रवाल के प्रयोग का क्षेत्र कन्नड़ और मलयालम भाषाओं तक विस्तृत हुआ। इसके परिणाम स्वरूप इन तीनो भाषाओं का संस्कृत से अधिक सानिध्य रहा। शैवों, वैष्णवों एवं जैन कवियों द्वारा तमिल में सभी भाषाओं से पहले अपने-अपने सिद्धान्तों एव विश्वासों के आधार पर काव्य रचनाएं हुई। 'जैन चम्पू काव्यों' के लिए तो निश्चित रूप से तमिल कृतिया प्रेरणा का स्तोत्र रही।"

यशस्तिलक, जीवंधर और पुरुदेव चम्पू का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

यशस्तिलक चम्पू—इस चम्पू काव्य के रचयिता सुप्रसिद्ध जैन कवि श्री सोमदेव या सोमप्रभ सूरि हैं। यह चालुक्यराज अरिकेशरिन् (द्वितीय) के बड़े पुत्र द्वारा संरक्षित कवि थे। राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराजदेव के समकालिक होने के कारण, सोमदेव ने इस चम्पू काव्य की रचना लगभग ९५९ ई० के आस-पास की। जैनो का उत्तर पुराण इसका मूल्य उत्स (स्रोत) है। इसमे अवन्ती के राजा यशोधर का चरित जैन सिद्धान्तो को लक्ष्य बना कर वर्णित है। कथा का अधिकाश काल्पनिक पुनर्जन्म के विश्वास पर आधारित है। प्रथम चार आश्वासो मे कथा अविच्छिन्न गति से आगे बढती हैं। इस कृति द्वारा सोमदेव के गहन अध्ययन, प्रगाढ़-पाडित्य, भाषा पर स्वच्छन्द प्रभुत्व एव काव्य क्षेत्र मे उनकी नये-नये प्रयोगो की अभिरुचि का परिचय मिलता है। सोमदेव ने कई अन्य कवियो के नामोल्लेख सहित, उनकी मुक्तक कृतियो को इस चम्पू काव्य में उद्धृत किया है। इस चम्पू काव्य पर श्रुतसागर सूरि की सुन्दर व्याख्या है। (विशेष विवरण स्वतंत्र है अध्याय मे है)।

जीवन्धर चम्पू—हरिचन्द्र ने इस चम्पू काव्य की रचना की है। कीथ ने इस हरिचन्द्र को ही 'धर्म शर्माभ्युदय' काव्य का प्रणेता भी माना है, जिसमे पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ जी का चरित वर्णित है। जीवन्धर चम्पू की रचना भी, राजा सत्यंधर और विजया के पुत्र जैन राजकुमार जीवन्धर के चरित को लेकर ही की गई है। यदि इन दोनो काव्यो के प्रणेता हरिचन्द्र एक ही हैं, तो ये नोमक वंश में उत्पन्न कायस्थ थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्यादेवी था। इनका समय अनिश्चित है, किन्तु ई० ९०० से लेकर ११०० तक के मध्य ये विद्यमान थे। हर्षचरित के आरम्भ में बाण भट्ट ने भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

कर्पूर मञ्जरी की प्रथम जवनिका मे नंदिनंद के पूर्व हरिचन्द्र का उल्लेख हुआ है। बाण भट्ट का समय सातवीं सदी का मध्य भाग है, अतः यह भट्टार हरिचन्द्र कोई अन्य गद्यलेखक हैं।

इस चम्पू काव्य का मूल स्तोत्र भी गुणभद्र का उत्तर पुराण है। यह कथा सुधर्मा के द्वारा सम्राट् श्रेणिक को सुनाई गई थी।

या कथा भूतधात्रीशं श्रेणिक प्रति वर्णिता।
सुधर्मगणनाथेन तां वक्तुं प्रयतामहे।१॥१०।
मदीयवाणीरमणी चरितार्था चिराबभूत।
वन्दे जीवन्धरं देवं या भावैनिज नायकम्।१॥११॥

यशस्तिलक, पुरुदेव आदि अन्य जैन चम्पू काव्यों की तरह ही इसमे भी आरम्भ मे जिनस्तुति है। इस चम्पू काव्य मे कुल ग्यारह लम्भ हैं—

(१) सरस्वती लम्भ, (२) गोविन्दालम्भ (३) गन्धर्वदत्तालम्भ, (४) गुणमालालम्भ, (५) पद्मालम्भ, (६) क्षेमश्रीलम्भ, (७) कनकमालालम्भ, (८) विमलालम्भ, (९) सुरमजरीलम्भ, (१०) लक्ष्मणालम्भ, (११) मुक्तिलम्भ।

स्थान स्थान पर जैन सिद्धान्तानुसार धर्मोपदेश है। माघ और वाक्पतिराज का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। धार्मिक भावना की कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति का यह चम्पू काव्य सुन्दर उदाहरण है। हिन्दू पुराणो की तरह कथा का महत्त्व भी अकित किया गया है।

चम्पू काव्य को विशुद्ध परम्परा के अनुसार, कथा की गति-शीलता गद्य-पद्य दोनों मे समान रूप से दिखाई पड़ती है। गद्य काव्य की तरह ही विशेषण-सयुत-समस्त पदावली दिखाई पड़ती है।

पद्य भाग मे भी यशस्तिलक की तरह एकरूपता नही

है। कही तो अलंकृत छन्द मात्र के ही दर्शन होते है। हेतूप्रेक्षा से सम्पन्न उक्ति वैचित्र्य का एक सुन्दर उदाहरण है—

यत्सौधानवलोक्य निर्जरपतिर्द्राङ् निर्निमेषोऽभवद्।
यस्या वीक्ष्य सरोजशोभि परिखां गंगा विषादं गता।
यत्रत्यानि जिनालयानि कलयन् मेरुः स्वकार्तस्वरं।
स्वीचक्रे च बलद्विषं सुरपुरी यां वीक्ष्य शोकाकुला ॥१।१४॥

कथा का उपसंहार करते हुए हरिचन्द्र का यह निम्नलिखित श्लोक, केवल तथ्य का वर्णन मात्र करता है।

गद्य-पद्य के समन्वित आनन्द को हरिचन्द्र ने अज्ञातयौवना वय. सन्धिप्राप्त नायिका-प्रदत्त आनन्द के समकक्ष रखा है। इस चम्पू काव्य का मुख्य उद्देश्य, जीवन्धर के चरित के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन एव उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास करना था। अन्त के दो श्लोक भरत-वाक्य है, जिनमें कवि ने जैनतम एव अपनी सरस तथा अलंकृत वाणी के स्थान रूप से चिरजीवि होने की कामना प्रकट की है।

पुरुदेव चम्पू—पण्डित प्रवर आशाधर के शिष्य अर्हत् या अर्हद्दास की यह रचना जैन सन्त पुरुदेव का जीवनवृत्त प्रस्तुत करती है। आशाधर के शिष्य होने के कारण अर्हद्दास का समय भी १३वी शताब्दी का उत्तरार्ध ही है। इनकी अन्य रचनाए है—मुनि सुव्रत काव्य एवं भव्यजन कंठाभरण।

आदिपुराण, उत्तरपुराण एव मुनि सुव्रतपुराण में पुरुदेव का चरित वर्णित है। यह कथा पहले गौतम नामक गणभृत् ने श्रेणिक नामक राजा को सुनाई थी।

श्रीमद् गौतमनामधेयगणभृत् प्रोवाच यां निर्मलां।
ख्यातश्रेणिकभूभृते जिनपतेराद्यस्य रम्यां कथाम् ॥
तां भक्त्यैव चिकीर्षतो मम कृतिश्चम्पूप्रबन्धात्मिका।
वेलातीतकुतूहलाय विबुधामाकल्पमाकल्पताम् ।१–१६॥

अन्य जैन चम्पू काव्यो के सदृश्य ही इसमे भी जिनवन्दना है।

अपनी कविता के विषय मे स्वयं अर्हद्दास ने कहा है कि वह कोमल-चारू-शब्द-निचय से सम्पन्न है। भगवान् की भक्तिरूपी बीज से, इस कविता लता का उद्भव हुआ है। विविध व्रत इसके पल्लव एव अनेक अलंकार इसके पुष्प-गुच्छ है। ऋषभ कल्पवृक्ष से लिपटी यह कविता-लता व्यंग्य की श्री से सुशोभित है—

जातेयं कवितालता भगवतो भक्तयाख्यबीजेन मे,
चंचत्कोमल चारुशब्दनिचयैः पत्रैः प्रकामोज्ज्वला।
वृत्तैः पल्लविता ततः कुसुमितालंकारविच्छित्तिभिः,
सम्प्राप्ता वृषभेशकल्पतरुं व्यंग्यश्रिया वर्धते ॥१२

गद्य काव्य की भांति अनुप्रासमयी-समस्त-पदावलीसंपृक्त भाषा में नगरी वर्णन से इसका आरम्भ हुआ है—

अथ विशालवीचिमालाविक्षिप्तविविध मौक्तिकपुञ्जसंजातमरालिकाभ्रमसमागतदृढालिंगन मंगलतरंगित······ रजताचलस्योत्तर श्रेण्यामलकाभिधानापुरी परिवर्तिता।१। स्तबक।

कथा के उपसंहार में अहिंसा के प्रभाव का वर्णन किया गया है। और श्रोताओं की सर्व जीव दया की ओर उन्मुखता प्रदर्शित की गई है।

इस ग्रन्थ के पृ० १४७ (२५४) मे अज्ञात कर्तृक 'जैनाचार्य विजय' नामक चम्पू का उल्लेख है। डी. सी. २६/६७४६ मद्रास लायब्रेरी के इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है।

पृ० २०० मे यशोधरचरित सम्बन्धी जैन ग्रन्थों की सूची दी है उसमें कई ग्रन्थकारों के नाम गलत हैं। क्षमा कल्याणादि के तो प्रकाशित हो चुके हैं। इस सम्बन्ध में मेरा खोजपूर्ण लेख दृष्टव्य है। यशस्तिलक सम्बन्धी २-३ महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र अध्ययन भी प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ का ६१ पृष्ठों का विशिष्ट अध्ययन भी पठनीय है।

चम्पू मण्डनादि—कई श्वे० जैन चम्पू काव्यों का इस ग्रन्थ में उल्लेख तक नहीं है उस सम्बन्ध में फिर कभी स्वतंत्र रूप से प्रकाश डाला जायगा।

पार्श्वाभ्युदय काव्यम् : एक विश्लेषण

प्रो० पुष्कर शर्मा एम. ए.

मेघदूत की अनुकृति पर प्रचलित दूतकाव्य-परम्परा मे श्री जिनसेनाचार्य के चतुः सर्गात्मक "पार्श्वाभ्युदय-काव्यम्" का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रंथ के अन्त में दिए गए काव्यावतरण से पता चलता है कि बंकापुर के राजा अमोघवर्ष ने श्री जिनसेनाचार्य को गुरु बनाया था। एक बार उसकी राजसभा मे कालिदास और उन्होंने उपस्थित विद्वानों के प्रति अनादर प्रगट करते हुए मेघदूत पढ़कर सुनाया। तब विनयसेन नामक एक सहपाठी के कहने पर श्री जिनसेनाचार्य ने उठकर कहा कि यह तो एक प्राचीनतर काव्य की चोरी है। इस पर उन्हें वह प्राचीनतर काव्य लाकर दिखाने को कहा गया तो उन्होंने एक सप्ताह का समय मागा। इस बीच उन्होने "पार्श्वाभ्युदय काव्य" लिख डाला और राजसभा मे सुना भी दिया। बाद में रहस्योद्घाटन करके कालिदास को सम्मान भी दिलाया।

इससे लेखक ने स्वय को कालिदास का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु पाठक को इसमे भ्रान्त होने की आवश्यकता नही है। वस्तुतः लेखक ने स्वकीय कृति द्वारा महाकवि कालिदास मे प्रतियोगिता करनी चाही है। ऐसा प्रयत्न अन्य दूतकाव्य-लेखको ने भी किया है। किन्तु यह एक सर्वविदित तथ्य है कि "अनुकृति तो प्रसादन (चापलूसी) का एक उपाय मात्र है"। पार्श्वाम्युदयकाव्य में भी मेघदूत का अनुकरण किया गया है और संभवतः इसमे मौलिकता का भी कुछ अंश है।

कथानक—धनपति कुबेर का सेवक अंबुवाह अपने काम में प्रमाद करने के कारण एक वर्ष के लिए अलकापुरी से निष्कासित कर दिया गया था। एक बार उसने तीर्थंकर पार्श्वनाथ को अपने विमान में स्थित देखा तो उसे पूर्वजन्म की स्मृति से क्रोध हो आया। पूर्वजन्म मे ये दोनों सगे भाई थे। कमठ (अंबुवाह) बड़ा भाई था और मरुभूति (पार्श्वनाथ तीर्थंकर) छोटा भाई। कमठ दुश्चरित्र था। उसने मरुभूति की सुन्दरी पत्नी वसुन्धरा पर कुदृष्टि डाली तो उसकी शिकायत राजा अरविन्दराज तक पहुँची। अरविन्दराज ने कमठ की भर्त्सना की और उसे नगर से निकाल दिया। बाद में मरुभूति सहज प्रेम के कारण उसे ढूढ़ने निकला। उस समय वह धूर्त कमठ सिन्धु नदी के तट पर तपस्वी के छद्म रूप मे बैठा हुआ दिखाई दिया। मरुभूति ने उसे प्रणाम किया, किन्तु धूर्त तपस्वी ने अपना मुंह फेर लिया। इसके बाद संभवत उसने मरुभूति की हत्या भी कर डाली। इसी मरुभूति ने पार्श्वनाथ के रूप मे दुबारा जन्म लिया था और कमठ का जन्म अंबुवाह के रूप में हुआ था। अंबुवाह या शबर दैत्य (?) को तीर्थंकर के दर्शन से पूर्वजन्म की स्मृति हो आई तो उसने तीर्थंकर को युद्ध के लिए चुनौती दी। तीर्थंकर के मौनधारण को उसने कायरता मानकर कहा कि वे मेघ बनकर अलकापुरी जायें और उसकी पत्नी को, जो कि पूर्वजन्म मे वसुन्धरा थी, उसका सन्देश सुना आये। इसके बाद भी तीर्थंकर मौन रहे, किन्तु उस दैत्य ने उन्हे अलकापुरी जाने का मार्ग बताना शुरू कर दिया। बीच-बीच मे उन्हे मार डालने की धमकी भी देता रहा। सदेश-कार्य समझा देने के बाद भी उसने पार्श्वनाथ को चुप देखा तो उसने एक पर्वत-खण्ड उन पर गिराना चाहा। उस समय नागराज और उसकी पत्नी भी वहाँ आ गये थे। नागराज ने तीर्थंकर की स्तुति करते हुए दैत्य को क्षमा कर देने की प्रार्थना की। उस समय तीर्थंकर को कैवल्य-प्राप्ति हो चुकी थी। दैत्य ने भी अपनी भूल स्वीकार करके क्षमा-याचना की और उसे मुक्ति मिल गई।

इस कथानक में पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म के अस्पष्ट से प्रसङ्ग हैं। टिप्पणियों की सहायता के बिना इन्हें समझना कठिन ही है। अंबुवाह और शंबर दैत्य का ऐकात्म्य भी

अंत तक अस्पष्ट ही बना रहता है। यह भी पता नही चलता कि अंबुवाह को स्वकीय प्रमाद के कारण कहाँ निष्कासित किया गया था, किन्तु अनुमान यही होता है कि रामगिरि पर आश्रम बनाकर रहता था। कथानक मे युद्ध के विकल्प के रूप मे सदेश-वहन की याचना मौलिक कल्पना कही जा सकती है। किन्तु सदेश-वहन की चर्चा के मध्य युद्ध की धमकी अस्वाभाविक ही प्रतीत होती है। हां, इससे दैत्य की दुर्बुद्धि स्पष्टतः प्रतिपादित हुई है। इसके अतिरिक्त प्रारभ से अंत तक तीर्थंकर पार्श्वनाथ का मौन-धारण विस्मयोत्पादक है। काव्य के अंतिम स्थल को पढ लेने के बाद ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह दैत्य किसी पूजा-गृह मे पार्श्वनाथ के किसी चित्र के सम्मुख ही सब कुछ कह सुन रहा है।

इस काव्य मे अलकापुरी का वही मार्ग बताया गया है, जो मेघदूत मे वर्णित है। नगरो, नदियों और पर्वतो का वही चिरपरिचित वर्णन और वही काव्य-शैली अपनाई गई है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य मे मेघदूत की एक या दो पंक्तियों का आश्रयण है, जिससे कि मेघदूत मे वर्णित विषय वस्तु को बहुत विशद एव विस्तृत स्वरूप प्रदान किया जा सका है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह काव्य मेघदूत की एक पद्यात्मक टीका ही है। किन्तु जहां जहा पूर्वजन्म की शत्रुता और तज्जन्य प्रतिशोध-भावना अभिव्यक्ति हुई है, वहां कवि की मौलिकता स्वीकार करनी पड़ती है। युद्ध मे वीरगति प्राप्त होने पर स्वर्ग की अप्सरायें स्वागतार्थ आतुर होंगी, यह प्रलोभन किसी भी सामान्य मानव के लिए कम नही होता। सभवतः इसी दृष्टि से वह दैत्य अपने पूर्व-शत्रु को कहता है :—

"जेतुं शक्तो यदि च समरे मामभीक प्रहृत्य
स्वर्गस्त्रीणामभयसुभगं भावुकत्वं निरस्यन्।
पृथ्व्या भक्त्या चिरमिह वहन् राजयुद्धेति रूढि
सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोदप्रियायाः॥" १-२५

"याचे देवं भवसिहृतिभिः प्राप्य मृत्युं निकारान्
मुक्तो वीरश्रियमनुभवन् स्वर्गलोकेऽप्सरोभि.।
नैवं वाक्यं यदि तव ततः प्रेष्यतामेष्य तूष्णीं
सदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य॥" १-२६

एक ओर तो कमठ दैत्य के हृदय में प्रतिशोध की तीव्र ज्वाला प्रज्वलित है तथा दूसरी ओर वह पार्श्वनाथ को भाई कहकर पुकारता है। गले मिलने के लिए उनका आह्वान भी करता है, जिससे कि लोग उन दोनों के भ्रातृ-प्रेम की प्रशंसा कर सकें :—

"पश्चात्तापाद् व्युपरतिमहो मय्यपि प्रीतिमेहि
भ्रातः प्रौढ प्रणयपुलको मां निगूह स्वदोर्भ्याम्।
तस्मे स्निग्धे मयकि जनिता श्लाघनीया जनैः स्तात्
स्नेह व्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्॥"
१-४८

किन्तु दूसरे ही क्षण वह दैत्य उन्हे यमराज के वक्त्रविवर मे भेजने और साथ ही यमराजपुरी का मार्ग बताने के लिए प्रस्तुत दिखाई देता है। यह जानकर तो बहुत विस्मय होता है कि वह यमपुरी का मार्ग बताना भूलकर अपनी प्रेयसी को सदेश भिजवाने के लिए अलकापुरी का मार्ग बताने लगता है। तीर्थंकर को सदेशवाहक बनने के लिए मेघ का रूप धारण करने का परामर्श दिया गया है, जिससे कि वे दैत्य की आकृति एवं वर्ण का अनुकरण कर सके। तीर्थंकर द्वारा मेघ रूप धारण करने का यह कारण अधिक सगत प्रतीत नही होता—

"मय्यामुक्तस्फुरितकवचे नीलमेघायमाने
मन्ये युक्त भवनुकृतये वारिवाहायितं ते।
मेघीभूतो व्रज लघु ततः पातशङ्काकुलाभिः
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः॥"
१-५४

पार्श्वनाथ को 'रो मत' (१-५६) यह कहना कृतिकार की तरलता का ही सूचक माना जाएगा। खड्ग का एक प्रहार किसी प्रकार सह लेने से तीर्थंकर का श्यामल तन प्रवहमान रक्तधारा मे नहाकर अधिक कान्तिमान् हो जाएगा यह अनुरोध कवि की परिहासात्मक वृत्ति का द्योतक है।

यात्रा-वर्णन मे सुरत एवं निधुवन-क्रिया का अत्यधिक वर्णन है। इसी प्रकार वारांगनाओं के वर्णन में भी अत्यन्त उदारता से काम लिया गया है। इस विषय में वे कालिदास से कई कदम आगे बढ़े हैं। गुप्ताङ्गों के प्रति प्रत्यक्ष ध्यानाकर्षण में भी उन्होने कृपणता प्रदर्शित नहीं

की है। उदाहरणतया:—

"सिद्धद्वन्द्वं सुरतरसिकं प्रान्तपर्यस्तवीणं" (१-६६)

"वारस्त्रीणां निधुवनरतिं प्रेक्षमाणस्त्वमेनाम्" (१-९४)

"सिद्धस्त्रीणां रतिपरिमलैर्वासिताभित्यकान्तम्" (१-९८)

"स्रस्तस्रग्भिर्निधुवनविधौ क्रीडतां दम्पतीनाम्" (१-१००)

"स्वर्गस्त्रीणां निधुवनलतागेह सम्भोगदेशान्" (१-८०)

"यूनां कामप्रसवभवनं हारि नाभेरधस्तात्" (१-११३)

कवि केवल सौन्दर्य-द्रष्टा ही नहीं है। उसे कुरूपता को सही रूप में प्रस्तुत करने में कोई हिचक नही है। वह तो विकट दांतों वाली, दीर्घ नासिका युक्त, शिरा से काटे शिथिल नाखूनों वाली और घोड़े के से मुह वाली स्त्रियों की ओर दृष्टिपात करने का अनुरोध भी करता है—

रम्यश्रोणीर्विकटदशनाः प्रोषिनी दीर्घघोणाः।
पीनोत्तुङ्गस्तनतटभराग्मन्दमन्दं प्रयान्तीः।
प्रावक्षुण्ण प्रशिथिलनखा वाजिवक्त्राः प्रपश्ये-
स्तस्मिन् स्थित्वा वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तम्॥
१-७३

दग्ध अरण्यों मे मेघागमन से पूर्व अर्थात् वर्षा हुए बिना पृथ्वी का सुरक्षित होना सभव नहीं है। अतः इस आधार पर मेघ की आसन्नता का अनुमान असहज ही कहा जाएगा। इसी प्रकार मेघों को देखे बिना मयूरों का नृत्यरत होना भी अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है—

"त्वामासन्नं सपदि पथिका ज्ञातुमर्हन्त्यकाले
श्रुत्वा केकाध्वनिमनुवनं केकिनामुन्मदानाम्।
बर्हक्षेपं नटितमपि च प्रेक्ष्य तेषां सलीलं
दावारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः॥"
(१-८३)

इस काव्य के द्वितीय सर्ग में जहां मेघदूत की दो पंक्तियों के आधार पर पद्य-रचना की गई है, उसमें कवि-कल्पना के लिए अधिक स्वतन्त्रता नही है। उदाहरणतया २५वें पद्य में गंभीरा नामक नदी के नाम की दो बार उक्ति द्रष्टव्य है। किन्तु कालिदास की "ज्ञातास्वादो विवृत जघनां को विहातुं समर्थ." इस प्रसिद्ध पंक्ति में निहित भाव-सप्रेषणीयता को अधिक विशद बनाया गया है। इससे सम्बद्ध पद्य मे गंभीरा नदी के प्रतीक से नायिका की जंघाओं के नग्न होने से प्रफुल्ल लता-प्रदेश (रोम-बहुलता), रसोद्रेक तथा पूर्व कामोत्तेजना का चित्रण किया गया है:—

"तामुत्फुल्लप्रततलतिकागूढपर्यन्तदेशां
कामावस्थामिति बहुरसां दर्शयन्तीं निषण्ण।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥" (२-२८)

एक पद्य में स्कन्द को जिन-पूजा करने का इच्छुक बताया गया है, किन्तु इसके साथ ही शिव तथा उमा के द्वारा स्कन्द के चरणों की पूजा करवाने में परम्परा-विरोध दिखाई देता है। यह कहने की भी आवश्यकता नहीं है कि यह उक्ति हिन्दू-धर्म के सर्वथा विपरीत है।

देवगिरि पर्वत के बाद चर्मण्वती, सिन्धु व सीता आदि नदियो तथा ब्रह्मावर्त, कुरु प्रदेश, सारस्वत भूमि एवं कनखल आदि प्रदेशों को पार करके गगा-तट पर पहुँचने का निर्देश दिया गया है। इसके आगे हिमालय पर्वत का वर्णन करते समय उसे मेघों से अनुल्लंघनीय बताया है। अतः हिमगिरि के निकटवर्ती क्रौञ्चरन्ध्र से होकर आगे बढ़ने के लिए परामर्श दिया गया है। अलकापुरी के वर्णन मे छोटे-छोटे क्रीड़ा पर्वतों और रम्य प्रासादो का उल्लेख उपलब्ध है। वहाँ की सुन्दरियो की मनोहर आकृति को देखकर लज्जावनत लक्ष्मी द्वारा अपने बाल नोचने तथा अलको का विसर्जन करना विचित्र कल्पना का परिचायक है—

"दृष्ट्वा यस्याः प्रकृति चतुरामाकृतिं सुन्दरीणां
त्रैलोक्येऽपि प्रथमगणनामीयुषां जातलज्जा।
मन्ये लक्ष्मीः सपदि विसृजेदेव संलुच्य केशान्
हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धम्॥" (२-१०५)

अलकापुरी मे अम्बुवाह की पत्नी, जो कि पूर्व-जन्म मे वसुन्धरा थी, को विरहाकुल बताते समय उसके सौन्दर्य का चित्रण किया गया है—

"तस्याः पीनस्तनतटभरात्सामिनम्राग्रभागा
निश्वासोष्णप्रववितमुखाम्भोजकान्तिर्विरूक्षा।
चिन्तावेशात्तनुरपचिता सालसापाङ्गवीक्षा
जातामन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीवान्यरूपा॥ (३-२५)

अनेक पद्यों में उसके द्वारा पूर्वजन्म के पति (वसुभूति) का स्मरण तथा पुन. उसकी प्राप्ति की आशा प्रदर्शित की

गई है, जैसा कि "त्वां ध्यायंत्या." (३:२७), "आधि त्वत्तः" (३-३४), "त्वत्संप्राप्त्यै" (३-३६), "त्वामुद्दीश्य" (३-३८), "ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं" (३-३९) तथा "त्वामजस्रं स्मरन्तीम्" (३-४२) आदि से स्पष्ट है। दैत्य तो वस्तुतः निर्लज्जतापूर्वक यह भी कह देता है कि वह (मेघरूप तीर्थंकर) उस सुन्दरी का भोग करने के लिए अवश्य जाए। किसी पति के मुह से इस प्रकार का कथन अशोभन ही कहा जाएगा—

"मत्प्रामाण्यादवसुभिरसने निश्चितात्मा त्वमेनां
भोक्तुं याया घनदनगरीं तत्प्रमाणाय सज्जे।" (३-५७)

इस काव्य के अंतिम सर्ग (चतुर्थ) में वह दैत्य संदेश श्रावण के बाद पुनः क्रुद्ध हो उठता है, क्योंकि तीर्थंकर से उसे कोई उत्तर नहीं मिलता। वह अपने यशस्वी खड्ग का नाम लेकर उन्हें धमकाता है, किन्तु उन्हें युद्ध के लिए अनुद्यत देखकर कायर होने का आरोप भी लगाता है। बाद में उन्हे विचलित करने के लिए माया-बल से वसुन्धरा को उपस्थित सा करता है और उसके तथा कथित प्रणय वचनों को सुनाता भी है। इस पर भी दैत्य को जब कोई उत्तर नही मिलता तो वह पार्श्वनाथ के मस्तक पर पर्वत-खण्ड गिराना चाहता है और तभी तीर्थंकर को कैवल्य प्राप्त हो जाता है। वह दैत्य भी क्षमा याचना करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इस काव्य की भाषा सामान्यत. उच्च स्तर की है। शब्दालंकारों का इसमे प्राधान्य है। यमक अलंकार के एक दो लघु उदाहरण भी मिलते है, किन्तु अर्थालङ्कारों का प्रयोग अत्यन्त न्यून मात्रा मे हुआ है। श्लेषालकार तो अप्रयुक्त सा रहा है। वैसे अप्रचलित शब्दों का बाहुल्य स्पष्ट है। उदाहरणतया सिसिधुषि, मन्दसानाः, पेपीयस्व, धुनी, कह्लाराङ्क, तितपसिषवः, जिगलिषु, एवं प्रातीप्य जैसे प्रयोग उल्लेखनीय है। सन्नन्त प्रयोग भी अत्यधिक मात्रा में अत्यधिक उपलब्ध है।

रसों की दृष्टि से वीर और शृङ्गार के अतिरिक्त भयानक रस का भी चित्रण किया गया है, जैसे कि अमरावती नगरी के निकटवर्ती महाकाल नामक अरण्य में गृध्रों द्वारा रचित अंधकार के आधिक्य से दिन में भी प्रेतगोष्ठियों की योजना की गई है—

"द्रष्टुं वाञ्छा यदि च भवति प्रेतगोष्ठीं विचित्रां
तिष्ठातिष्ठन्नुपरि निपतद् गृध्रबद्धान्धकारे।
बोधामन्येप्यहनि नितरां प्रेतगोष्ठीतिरात्रे-
रप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले॥"
(२-५)

प्रेतशवो के सामीप्य, उलूक ध्वनि तथा शृगाली-रुदन आदि से इस अरण्य की भयानकता में और भी वृद्धि की गई है, किन्तु भयानक-रस के तुरंत बाद ही शृङ्गार-रस की योजना रस-चर्वणा में व्याघात उत्पन्न करती है। वैसे जिन-मन्दिरों में सायंकालीन पूजा के पश्चात् संगीत उत्पन्न करने वाली सुकण्ठी (मधुर गायिका) एवं मन्दा-गामिनी प्रौढा वेश्याओं की चरणन्यास-जन्म मेखला-ध्वनि से तत्कालीन समाज मे वेश्याओ की महत्त्वपूर्ण स्थिति का पता चलता है।

इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय काव्य मे पार्श्वनाथ के कैवल्य प्राप्त करने का चित्रण जैन-दर्शन के अनुसार अत्यन्त सशक्त एव सफल हो पाया है। मेघदूत की अनुकृति होने पर भी इसमे मौलिकता का पर्याप्त समावेश हुआ है और विषय-वस्तु के अनुकूल भाषा के प्रयोग में भी कहीं शिथिलता नही आई है। वस्तुत. अनावश्यक चमत्कार के लिए कोई दुराग्रह न दिखाने तथा सहज कल्पना को आधार बनाने के कारण यह काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैन-धर्म के प्रचार की दिशा में कवि का यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। ★

श्रावकव्रत-विधान का अनुष्ठाता

आनन्द श्रमणोपासक

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

आध्यात्मिक विद्वान् श्री आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुष शब्द से चेतन आत्मा का उल्लेख कर उसका स्वरूप स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण से रहित (अमूर्तिक), गुण व पर्यायों से सहित तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त बतलाया है। अनादि परम्परा से प्रवर्तमान ज्ञान की विविध अवस्थाओं में परिणमन करने वाले उक्त आत्मा को उन्होंने अपने ही परिणामों का कर्ता व भोक्ता बतलाया है। वह जब अन्य समस्त अवस्थाओं से रहित होकर स्थिर चैतन्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब वह अपने अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध कर लेने के कारण कृतकृत्य हो जाता है[१]। यद्यपि वह स्वभावतः कर्मकृत समस्त भावों के साथ तन्मय नहीं हो रहा है, फिर भी अज्ञानी बहिरात्मा जीवों को वह उन कर्मकृत भावों से युक्त-सा दिखता है। यही विपरीत बुद्धि (अविवेक) उनके ससार परिभ्रमण का कारण हो रही है[२]। इस विपरीत अभिप्राय को छोड़कर—सम्यग्दृष्टि बनकर—व अपने आत्मस्वरूप का निश्चय करके—सम्यग्ज्ञानी होकर—फिर उससे विचलित नहीं होना—उसीमें लीन रहना; यही (रत्नत्रय) पुरुषार्थसिद्धि का—आत्म-प्रयोजन (परमपद-प्राप्ति) का—उपाय है[३]।

आगे चलकर उक्त अमृतचन्द्र सूरि ने उस अल्पबुद्धि उपदेशक को दण्ड का पात्र बतलाया है जो प्रथमतः मुनि-धर्म का उपदेश न करके गृहस्थधर्म का उपदेश करता है[४]। इसका अभिप्राय यह है कि हित-उपदेशक को सर्वप्रथम मुनिधर्म का ही उपदेश करना चाहिए, पर अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी जब धर्मकांक्षी श्रोता उसके परि-पालन मे अपनी असमर्थता व्यक्त करता है तब ही उसे श्रावक-व्रतविधान का उपदेश देना चाहिए[५]।

यहा एक उदाहरण ऐसे ही सद्गृहस्थ का—आनन्द श्रमणोपासक का—दिया जाता है जिसने भगवान् महावीर के समक्ष मुनिधर्म के परिपालन-विषयक अपनी असमर्थता प्रगट कर गृहिधर्म को धारण किया था। उसका वृत्त श्वे० 'उवासग-दसाओ' में उपलब्ध होता है। तदनुसार यहां कुछ संक्षेप से लिखा जाता है—

आनन्द गृहपति वाणिजग्राम नगर का रहने वाला था। इस नगर का स्वामी (राजा) उस समय जितशत्रु था। आनन्द गृहपति की पत्नी का नाम शिवनन्दा था। वह बहुत धनाढ्य—बारह करोड़ हिरण्य (सुवर्णमुद्रा-विशेष) का अधिपति—था। उसकी चार हिरण्यकोटि तो निधान मे प्रयुक्त थी—भाण्डागार के रूप में सुरक्षित थी, चार हिरण्यकोटि वृद्धि मे प्रयुक्त थी—व्यापारादि मे काम आ रही थी—तथा चार हिरण्यकोटि प्रविस्तर मे प्रयुक्त थीं—स्थावर-जंगम सम्पत्ति मे व्यवहृत थीं। उसके पास १०-१० हजार गायों के चार व्रज थे। नगर में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। अनेक राजा आदि महाजन अपने अभिलषित कार्य के विषय मे उससे मन्त्रणा किया करते थे।

एक समय उस वाणिजग्राम नगर के बाहिर उत्तर-पूर्व (आग्नेय कोण) दिशा मे अवस्थित दूतिपलाश नामक चैत्य में श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। उनकी पर्युपासना के लिए परिषद् गई। कोणिक (श्रेणिक-पुत्र) के समान जितशत्रु राजा भी गया। इस वृत्त को

१. पु. सि. ६–११
२. वही १४
३. वही १५
४. यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
   तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ पु. सि. १८
५. बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न गृह्णाति।
   तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ पु. सि. १७

अवमत कर आनन्द गृहपति भी गया। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर वंदनापूर्वक श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया। भगवान् ने आनन्द गृहपति और अतिशय महती परिषद् को धर्मकथा कही। परिषद् वापिस चली गई, राजा जितशत्रु भी चला गया।

पश्चात् आनन्द गृहपति श्रमण महावीर के पास धर्म को सुनकर अतिशय सन्तुष्ट होता हुआ इस प्रकार बोला—हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मुझे श्रद्धा है, मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन को जानता हूँ, और उसके विषय मे मुझे रुचि भी है। वह यथार्थ व सत्य है। वह मुझे इच्छित, प्रतीच्छित—विशेषरूप से इच्छित—और इच्छित-प्रतीच्छित है। परन्तु भगवन्! आपके धर्मोपदेश को सुनकर जिस प्रकार कितने ही राजा आदि आपके समक्ष दीक्षित होकर गृहवास से अनगारिक अवस्था को प्राप्त हुए है इस प्रकार मैं दीक्षित होकर सन्यास लेने के लिए समर्थ नही हूँ। अतएव मैं आपके समक्ष पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत स्वरूप बारह प्रकार के गृहिधर्म को स्वीकार करूंगा। आप इसमें प्रतिबन्ध न करे[१]।

इस प्रकार प्रार्थना करने के पश्चात् आनन्द गृहपति ने श्रमण भगवान् महावीरके समक्ष प्रथमत स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का "मैं यावज्जीवन दो प्रकार तीन प्रकार से—मन-वचन-काय से न करूंगा और न कराऊंगा" इस प्रकार से प्रत्याख्यान किया[२]। इसी क्रम से उसने स्थूल मृषावाद और स्थूल अदत्तादान का भी प्रत्याख्यान किया। तत्पश्चात् "एक शिवनन्दा भार्या को छोड़ कर अन्य सब स्त्रियों के साथ मैथुनविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ" इस प्रकार से स्वदारसन्तोषता का प्रमाण किया।

तत्पश्चात् इच्छाविधि (परिग्रह) का प्रमाण करते हुए उसने हिरण्य-सुवर्णविधि, चतुष्पदविधि, क्षेत्र-वास्तुविधि, शकट (गाड़ी आदि) विधि और वाहनविधि का प्रत्याख्यान किया[३]।

तत्पश्चात् उपभोग-परिभोगविधि का प्रत्याख्यान करते हुए उसने उल्लणिया—गमछा व तौलिया आदि, दन्तवन (दातौन) विधि, फलविधि, अभ्यंगविधि (मालिश आदि), उवटनविधि, स्नानविधि, वस्त्रविधि, विलेपनविधि, पुष्पविधि, आभरणविधि और धूपनविधि का प्रत्याख्यान किया[४]।

भोजनविधि का प्रमाण करते हुए उसने पेयविधि, भक्ष्यविधि, ओदनविधि, सूप (दाल) विधि, घृतविधि, शाकविधि, माधुर (मधुर-रसयुक्त वस्तु) विधि, जेमनविधि और मुखवास (सुपाड़ी-इलायची आदि) का प्रत्याख्यान किया[५]। पश्चात् उसने अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान और पापोपदेश; इन चार अनर्थदण्डों का प्रत्याख्यान किया।

इस बीच श्रमण महावीर उस आनन्द गृहपति को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार बोले—इस प्रकार की प्रत्याख्यानविधि ठीक है। साथ ही श्रमणोपासक को जीवाजीव तत्त्वो को जानकर अतिक्रमणीय से रहित होते

---

१. तए ण से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव एवं वयासी—"सद्दहामि णं भन्ते निग्गन्थं पावयण, पत्तियामि ण भन्ते निग्गन्थं पावयण, रोएमि णं भन्ते निग्गन्थं पावयण, एवमेय भन्ते, तहमेय भन्ते, अवितहमेय भन्ते, इच्छियमेयं भन्ते, पडिच्छियमेय भन्ते, इच्छिय-पडिच्छियमेय भन्ते, से जहेय तुब्भे वयह त्ति कट्टु जहा ण देवाणुप्पियाणं अन्तिए बहवे राईसर-तलवर–माडंबिय–कोडुम्बिय- सेट्ठि-सत्थवाहप्पभिइया मुण्डा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अह तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइत्तए। अह णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पञ्चाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइय दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।" अहासुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबन्धं करेह।

उवासगदसाओ १, १२

२. तए णं से आणन्दे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ—"जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वचसा कायसा"।

उवासगदसाओ १, १३.

३. उवा० १, १८–२१

४. उवा० १, २२-३२

५. उवा० १, ३३–४२

हुए सम्यक्त्व के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्ड-प्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव; इन पांच अतिचारों को जान लेना चाहिए व तद्रूप आचरण नहीं करना चाहिए१। इसी प्रकार स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावाद-विरमण, स्थूलअदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष, इच्छा-परिमाण, दिग्व्रत, भोजन व कर्म की अपेक्षा दो प्रकार के उपभोग-परिभोग से सम्बद्ध (५+१५), अनर्थदण्डविरमण, सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास, अतिथिसंविभाग और अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना—जोषणाराधना; इन सबके अतिचारों को जान लेना चाहिए और तद्रूप आचरण नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा नामोल्लेख के साथ निर्दिष्ट२ उन सब अतिचारों को जानकर उस आनन्द गृहपति ने उनके समक्ष पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत स्वरूप बारह प्रकार के श्रावकधर्म को स्वीकार किया। तत्पश्चात् वह श्रमण भगवान् महावीर को वंदनापूर्वक नमस्कार करता हुआ उनसे इस प्रकार बोला—आज से मैं अन्यतीर्थिक, अन्यतीर्थिक देवता और अन्यतीर्थिकपरिगृहीत (अन्य साधु आदि); इनको वंदना व नमस्कार नहीं करूंगा। पहिले बिना कहे अथवा कहने पर भी मैं उनको अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन न दूंगा। राजाज्ञा, गणका आग्रह, बलाभियोग, देवताभियोग और वृत्तिकान्तार(?); ये उसके अपवाद होगे। निर्ग्रन्थ श्रमणों को प्रासुक व एषणीय (ग्रहण योग्य) अशन-पानादि, वस्त्र-कम्बल-प्रतिग्रह (पात्र), पादप्रोंछन (रजोहरण) तथा पीठफलक-शय्या-संस्तारक से दान देता रहूँगा३।

इस प्रकार प्रार्थना करके उसने उपर्युक्त श्रावकधर्म को ग्रहण किया व फिर कुछ प्रश्न पूछे तथा तत्त्व को ग्रहण किया। पश्चात् उसने श्रमण भगवान् महावीर की तीन वार वंदना की और तब उनके पास से—उस दूति-पलाश चैत्य से—निकल कर जैसे आया था वैसे ही वाणिजग्राम नगर में स्थित अपने घर पर आ गया। आकर वह शिवनन्दा पत्नीसे इस प्रकार बोला—मैंने श्रमण भगवान् महावीर के पास में धर्म को सुना, जो मुझे अभीष्ट व रुचिकर हुआ। इससे तुम भी जाओ और श्रमण भगवान् महावीर की वंदना एवं पर्युपासना करो तथा उनके पास में पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के श्रावकधर्म को ग्रहण करो।

आनन्द श्रमणोपासकके द्वारा इस प्रकार कहने पर शिवनन्दा को बहुत हर्ष हुआ। उसने उसी समय कौटुम्बिक पुरुष को बुलाया और शीघ्र भगवान् महावीर की पर्युपासनार्थ चलने को कहा व वहाँ पहुँचकर उनकी पर्युपासना की।

तब वहाँ श्रमण भगवान् महावीर ने उस शिवनन्दा के लिए धर्म का निरूपण किया। इस प्रकार उसने उनके पास धर्म को सुनकर सहर्ष गृहि-धर्म को स्वीकार किया।

---

१. इह खलु "आणन्दा" इ समणे भगवं महावीरे आणन्दं समणोवासगं एवं वयासी—एवं खलु, आणन्दा, समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पञ्च अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। त जहा—सङ्का, कंखा, विइगिच्छा, परपासण्डपसंसा, परपासण्डसथवे। उवा. १, ४४

२. वही. १, ४५–५७

३. तए णं से गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पञ्चाणुव्वइय सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, २त्ता समणं भगव महावीरं वन्दइ नमंसइ, २त्ता एवं वयासी—नो खलु मे भन्ते, कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि वा वन्दित्तए वा नमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइयं वा साइमं वा दाउ वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकन्तारेणं। कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-कम्बल-पडिग्गह-पायपुञ्छेणं पीढफलग-सिज्जा-संथारएणं ओसहभेसज्जेणं च पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए"। उवा. १, ५८

तत्पश्चात् उसी धार्मिक यान (रथ आदि सवारी) पर आरूढ़ होकर वह जिस दिशा से आई थी उसी दिशासे वापिस चली गई।

गौतम गणधर श्रमण भगवान् महावीरको नमस्कार कर इस प्रकार बोले—भगवन्! आनन्द श्रमणोपासक आपके पास अनगार-दीक्षा लेने में समर्थ था।

इस पर भगवान् महावीर बोले—गौतम! यह कहना योग्य नहीं है। आनन्द श्रमणोपासक बहुत वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय को प्राप्त होकर सौधर्म कल्पके भीतर अरुणाभ विमानमें देवरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ चार पल्योपम प्रमाण स्थिति है, यही स्थिति आनन्द श्रमणोपासक की कही गई है।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये।

उधर आनन्द गृहपति श्रमणोपासक होकर और जीव-अजीव को जानकर दान देता हुआ रहने लगा। इसी प्रकार उसकी भार्या शिवनन्दा भी श्रमणोपासिका होकर दान देती हुई स्थित हुई।

इस प्रकार शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण–रागादिविरति, प्रत्याख्यान—नमस्कार सहित आदि—और पौषधोपवास; इन व्रतों से अपने को भावित करते हुए उस आनन्द श्रमणोपासकके १४ वर्ष बीत गये। पन्द्रहवें वर्षके मध्यमें किसी समय रात्रिके पिछले भागमें धर्मजागरण करते हुए मनमें विचार आया कि यहाँ वाणिजग्राम मे बहुत-से राजेश्वर आदि है, निजका कुटुम्ब भी है, इन सबका मैं आधार हूँ—ये सब मेरा सम्मान करते व जब तब अनुमति चाहते हैं। इस पपंचमे रहते हुए श्रमण भगवान् महावीरके पास ग्रहण किये गये धर्मका निश्चिन्ततया पालन नही हो सकता है। इसलिये मैं कल जेष्ठ पुत्रको कुटुम्ब का आधार बना कर उससे व मित्र जनोंसे पूछकर—उनकी अनुमति लेकर—कोल्लाक संनिवेशमें स्थित पौषधशालाका प्रतिलेखन कर—स्वच्छ करके—वहाँ रहते हुए उक्त धर्मका निश्चिन्ततासे परिपालन करूँगा।

ऐसा विचार कर उसने मित्रादिकोंको भोजन कराकर व पुष्पमालाओं आदिसे आदर-सत्कार करके उनके समक्ष ज्येष्ठ पुत्रको बुलाया और उससे इस प्रकार बोला—"हे पुत्र! इस वाणिजग्राम नगरमें जैसे अनेक राजेश्वर आदिने धार्मिक अनुष्ठान किया है वैसे ही मैं भी उसका अनुष्ठान निर्द्वन्द्व होकर करना चाहता हूँ। इसलिए अब तुम्हें अपने कुटुम्बका आलम्बन स्थापित कर—तुम्हें अपना सब उत्तरदायित्व सम्हलाकर—मैं धर्मका परिपालन करूँगा।"

तब उस आनन्द श्रमणोपासकके ज्येष्ठ पुत्रने भी 'तथाऽस्तु' कहकर उसे स्वीकार कर लिया।

तत्पश्चात् आनन्द श्रमणोपासक उसीके मित्रादिके समक्ष उसे कौटुम्बिक उत्तरदायित्वके पदपर प्रतिष्ठित करके इस प्रकार बोला—"हे देवानुप्रिय—भद्र! अबसे तुम बहुतसे कार्योंमे—किसी भी कार्य के विषयमें—मुझे नहीं पूछना और न उत्तरकी अपेक्षा रखना, साथ ही मेरे लिये किसी प्रकार का भोजन भी नहीं बनवाना।"

इसके पश्चात् आनन्द श्रमणोपासक ज्येष्ठ पुत्र, मित्र-मण्डली एवं जातिबन्धुओं से पूछकर अपने घरसे बाहर निकल पड़ा। वह उस वाणिजग्राम नगरके मध्यमें से निकलकर जिधर कोल्लाक संनिवेश (ग्राम), ज्ञातकुल और पौषधशाला थी उधर जाता हुआ उस पौषधशालामें पहुँचा व उसे प्रमार्जित कर—साफ-सुथरा करके—उसने मल-मूत्र के स्थान का निरीक्षण किया। तत्पश्चात् डाभ का विस्तर विछाकर व उस पर आरूढ़ होकर वह पौषधोपवासके साथ श्रमण भगवान् महावीरके पास स्वीकृत धर्मप्रज्ञप्तिका परिपालन करता हुआ स्थित हो गया।

तत्पश्चात् आनन्द श्रमणोपासकने उपासकप्रतिमाओं को स्वीकार किया। उनमें से उसने सर्वप्रथम पहली उपासकप्रतिमा पर आरूढ़ होकर उसका यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातत्त्व कायसे स्पर्श किया, पालन किया, शुद्ध किया और पार किया—समाप्त किया।

फिर वह यथाक्रमसे दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं और ग्यारहवी; इन उपासकप्रतिमाओं को प्राप्त करके उनका परिपालन करने लगा।

इन उपासकप्रतिमाओं के नामोंका निर्देश और उनके परिपालन की विधिका यद्यपि यहाँ (उवासग-दसाओंमें) उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी अन्यत्र—समवायांग

आदिमें—उनके नाम आदि उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. दर्शनश्रावक २. कृतव्रतकर्म ३. सामायिककृत ४. पौषधोपवासनिरत ५. दिवा ब्रह्मचारी रात्रिपरिमाणकृत ६. दिवापि रात्रौ अपि ब्रह्मचारी, अस्नायी, विकटभोजी, मौलिकृत ७. सचित्तपरिज्ञात ८. आरम्भपरिज्ञात ९. प्रेष्यपरिज्ञात १०. उद्दिष्टभक्तपरिज्ञात और ११. श्रमणभूत[1]।

इन उपासकप्रतिमाओंका स्वरूप इस प्रकार है[2]—

प्रथम—अणुव्रत व गुणव्रतोंसे रहित होकर निरतिचार सम्यग्दर्शनका आराधन करना। इसका परिपालनकाल एक मास मात्र है।

द्वितीय—पूर्व (प्रथम) प्रतिमाके साथ अणुव्रतादिरूप १२ व्रतोंका पालन करना। इसका परिपालनकाल दो मास है।

तृतीय—पूर्व दो प्रतिमाओं के साथ सावद्ययोगका परित्याग और निरवद्ययोगका आसेवन। इसके परिपालन का काल तीन मास प्रमाण है।

चतुर्थ—पौषधका अर्थ आहार का परित्याग आदि है। पूर्व तीन प्रतिमाओंके साथ अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पौर्णमासी; इन पर्वोंमे चतुर्विध आहार के परित्यागादिरूप उपवासके साथ अवस्थित रहना। इसका परिपालनकाल चार मास है।

पंचम—अष्टमी आदि पर्वदिनों मे एकरात्रिकप्रतिमाकारी—रात्रिमें कायोत्सर्ग करने वाला—होकर शेष दिनों में दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रात्रि में विषयभोग का प्रमाण करना। इसका परिपालनकाल पाँच मास है। इसके पूर्व की चार प्रतिमाओ का परिपालन करना अनिवार्य है[3]।

षष्ठ—दिन व रात्रि दोनों में ही ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना,

---

१. एक्कारस उवासगपडिमाओ प० तं०—दंसणसावए १ कयव्वयकम्मे २ सामाइयकडे ३ पोसहोववासनिरए ४ दिया बंभयारी रत्तिपरिमाणकडे ५ दिवा वि राओ वि बंभयारी असिणाई वियडभोई मोलिकडे ६ सचित्तपरिण्णाए ७ आरंभपरिण्णाए ८ पेसपरिण्णाए ९ उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए १० समणभूए ११ आवि भवइ समणाउसो। समवायाग सूत्र ११. पृ० १८-१९

इन प्रतिमाओं का स्वरूप 'गुरुगुण-षट्त्रिंशत्-षट्त्रिंशिकाकुलक' की गाथा १३ की स्वोपज्ञ वृत्ति मे कुछ गाथाओ को उद्धृत कर दिया गया है। उनमे प्रथम गाथा इस प्रकार है—

दंसण वय सामाइय पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते।
आरंभ पेस उद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य॥

(इसका प्रथम चरण आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्रप्राभृत की गाथा २१ से मिलता हुआ है।)

अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

नाममित्तमिमं वुत्त किंचिमित्तं सरूवओ।
उवासगपडिमाणं च विसेसो सुय-सायरे॥

गु० गु० ष० त्रि० पृ० ४०-४१

२. यह ध्यान रहे कि यहाँ इन प्रतिमाओं का स्वरूप श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार से निर्दिष्ट किया जा रहा है, जो तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी प्रमाणित हो सकता है।

३. तथा पंचमी प्रतिमायामष्टम्यादिषु पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारी भवति, एतदर्थ च सूत्रमधिकृतसूत्रपुस्तकेषु न दृश्यते, दशादिषु पुनरुपलभ्यते इति तदर्थम् उपदर्शित', तथा शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारी, 'रत्ती'ति रात्रौ किम्? अत आह—परिमाणम्—स्त्रीणा तद्भोगानां वा प्रमाणम्—कृत येन स परिमाणकृत इति। अयमत्र भावो दर्शन-व्रत-सामायिकाष्टम्यादिपौषधोपेतस्य पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारिण:, शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारिणो रात्रावब्रह्मपरिमाणकृतोऽस्नानस्यारात्रिभोजिन· अबद्धकच्छस्य पञ्चमासान् यावत् पंचमी प्रतिमा भवतीति। उक्तं च—

अट्ठमी-चउद्दसीसु पडिमं ठाएगराईय॥ उ०
असिणाए-वियडभोई मउलियडो दिवसबंभयारी य।
रत्ति परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु॥ त्ति।

समवायांगसूत्र ११ (अभयदेव वृत्ति)

('अबद्धकच्छ' से क्या अभिप्राय रहा है, यह समझ में नही आया, वैसे 'कच्छा' शब्द का अर्थ लंगोट होता है, पर उसके बाधने का निषेध करना अप्रासंगिक-सा दिखता है। सम्भव है शिर पर पगड़ी आदि न बांधने का अभिप्राय रहा हो।)

स्नान नहीं करना१, प्रकाश मे—दिन में—भोजन करना और अबद्धपरिधानकच्छ रहना। इसका परिपालनकाल छह मास मात्र है तथा पूर्व पांच प्रतिमाओं का परिपालन अनिवार्य है।

सप्तम—सचेतन आहार का उसकी जानकारी के साथ परित्याग। अभिप्राय यह कि पूर्व छह प्रतिमाओं का परिपालन करते हुए सात मास तक प्रासुक आहार का ग्रहण करना, यह सातवीं प्रतिमा है।

अष्टमी—पूर्वोक्त सात प्रतिमाओं का परिपालन करते हुए आठ मास तक पृथिवीकायिकादि के उपमर्दन स्वरूप आरम्भ का तद्विषयक जानकारी के साथ परित्याग करना।

नवमी—पूर्व आठ प्रतिमाओ का परिपालन करते हुए नौ मास तक दूसरे सेवकादिकोके द्वारा आरम्भ न कराना।

दसवी—पूर्व नौ प्रतिमाओ का परिपालन करते हुए आधाकर्मयुक्त भोजन का परित्याग करके शिर का उस्तरे से मुण्डन कराना व चोटी रखना। कुछ गृहसमूह के मध्य मे यदि किसी ने पूछा और उसकी जानकारी हो तो 'जानता हूँ' कहना, अन्यथा 'नहीं जानता हूँ' यही कहना। इसका परिपालनकाल दस मास प्रमाण है।

ग्यारहवीं—श्रमण का अर्थ निर्ग्रन्थ साधु होता है, अत. साधु के समान अनुष्ठान करना, यह श्रमणभूत नाम की ग्यारहवी प्रतिमा है।

पूर्वोक्त विधि से उस कठोर तपःकर्म का आचरण करने के कारण आनन्द श्रमणोपासक का शरीर सूख गया था, वह कृश धमनियो (सिराओ) से सन्तप्त हो रहा था।

इस बीच किसी समय उस आनन्द श्रमणोपासक के पूर्व रात्रि मे धर्मजागरण करते हुए यह विचार उदित हुआ—"इस प्रकार यद्यपि शुष्क धमनियो से मैं सन्तप्त हूँ, फिर भी मुझमे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पौरुष-पराक्रम तथा श्रद्धा, धैर्य एवं सवेग विद्यमान है। इसलिए जब तक यह सब सामग्री बनी हुई है तथा जब तक धर्माचार्य व धर्मोपासक श्रमण भगवान् महावीर जिन सुहत्थी—शुभार्थी (अथवा गन्धहस्ती—अपनी गन्ध से इतर हाथियों को भगा देने वाले हाथी–के समान) स्वतन्त्रता से विहार कर रहे हैं, तब तक मुझे कल प्रातःकाल में अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को ग्रहण कर उसका आराधन करते हुए भोजन-पान का प्रत्याख्यान करके काल (मृत्यु) की आकांक्षा न करते हुए अवस्थित रहना योग्य है।" इस विचार के अनुसार उसने संलेखना का आराधन प्रारम्भ कर दिया।

तत्पश्चात् किसी समय शुभ अध्यवसान, शुभ परिणाम, विशुद्धि को प्राप्त होने वाली लेश्याओं और तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उस आनन्द श्रमणोपासक के अवधिज्ञान प्रादुर्भूत हुआ। उसके प्रभाव से वह पूर्व में लवण समुद्र के भीतर तक पांच सौ योजन प्रमाण क्षेत्र को जानने-देखने लगा, इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम दिशा में भी लवण समुद्र के भीतर तक पांच-पांच सौ योजन प्रमाण ही क्षेत्र को जानने-देखने लगा। उत्तर दिशा मे वह उससे क्षुद्र हिमवान् वर्षधर पर्वत तक जानता देखता था। ऊपर वह सौधर्म कल्प तक जानता देखता था। नीचे इस रत्नप्रभा पृथिवी के चोरासी हजार वर्ष प्रमाण आयुस्थिति वाले लोलुपाच्युत नरक तक जानता देखता था।

उसी समय श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। परिषद् आयी और वापिस चली गई।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति अनगार (गृहविमुक्त मुनि)—जिनका गोत्र गौतम था, जो सात हाथ ऊंचे थे, समचतुरस्रसंस्थान व वज्रर्षभनाराचसंहनन से सुशोभित थे, गौरवर्ण थे; उग्रतप, दीप्ततप, घोरतप, महातप, उदार, घोरतपस्वी एवं घोरब्रह्मचारी आदि अनेक ऋद्धियो से सम्पन्न थे; जो शरीर को छोड़ चुके थे—जिनका उससे ममत्वभाव नष्ट हो चुका था, जिन्होने विस्तीर्ण तेजोलेश्या को सक्षिप्त कर दिया था—ऐसे वे महर्षि बेला (दो उपवास) रूप विच्छेद रहित तपःकर्म व संयम से अपने को सुसंस्कृत कर रहे थे।

उस समय वे भगवान् गौतम बेला की पारणा के

१. अस्नायी स्नानपरिवर्जकः। क्वचित् पठ्यते—'अनिसाइ त्ति' न निशायामत्तीत्यनिशादी।

समः अभयदेववृत्ति ११.

समय प्रथम पौरुषी—पुरुष प्रमाण छायोपलक्षित काल (पहर)—में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान तथा तीसरी पौरुषी में भाजन-वस्त्रादि का निरीक्षण कर रहे थे। वे जिधर श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे उधर आये और भगवान् को नमस्कारपूर्वक इस प्रकार बोले—हे भगवन् ! यदि आपकी अनुज्ञा हो तो मैं पारणा के समय भिक्षाचर्या के लिए वाणिजग्राम नगर में जाना चाहता हूँ।

तत्पश्चात् भगवान् की अनुज्ञा प्राप्त कर ईर्यासमिति आदि आगमोक्त विधि से उधर गये। वे जब आवश्यकतानुसार अन्न-पान को ग्रहण कर वापिस कोल्लाक संनिवेश की ओर आ रहे थे तब मार्ग में उन्होंने बहुत जनों के मुह से "श्रमण भगवान् महावीर का शिष्य आनन्द नामक श्रमणोपासक पौषधशाला में अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का अनुष्ठान कर रहा है।" यह सुना, उसे सुनकर उनके मन में आनन्द श्रमणोपासक को देखने का विचार उदित हुआ। तदनुसार वे उसके पास पौषधशाला की ओर गये।

गौतम को आते हुए देख कर आनन्द श्रमणोपासक को बहुत हर्ष हुआ, तब उसने उन्हें हृदय से वंदना व नमस्कार किया। फिर वह उनसे इस प्रकार बोला—"भगवन् ! मैं इस महान् अनुष्ठान के कारण धमनियों से संतप्त हूँ, अतएव मैं आपके पास आकर शिर से तीन वार चरणों की वंदना करने के लिए समर्थ नही हूँ, अतः कृपा कर आप स्वयं ही यहां पधारें जिससे मैं आप महानुभाव के चरणों की शिर से तीन वार वंदना व नमस्कार कर सकूं१।"

तदनुसार गौतम उस आनन्द श्रमणोपासक के पास गये। तब वह उनके चरणों की तीन वार शिर से वंदना कर इस प्रकार बोला—"गृहस्थ को गृह के मध्य में रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?"

गौतम—हो सकता है।

आनन्द—यदि गृहस्थ के वह हो सकता है तो मुझे भी वह उत्पन्न हुआ है। उसके द्वारा मैं पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण में लवण समुद्रके भीतर तक पांच-पांच सौ योजन; इसके क्रमसे नीचे लोलुपाच्युत नरक तक जानता देखता हूँ।

गौतम—हे आनन्द ! गृहस्थ के अवधिज्ञान तो उत्पन्न होता है, पर उसके वह इतने दूरवर्ती क्षेत्र को विषय करने वाला सम्भव नहीं है। इसलिए हे आनन्द ! तुम इस स्थानकी आलोचना करो व तपःकर्म (प्रायश्चित्त) स्वीकार करो।

आनन्द—भगवन् ! क्या जिनागम में समीचीन, तत्त्व, तथ्य और सद्भूत भावों के लिए भी आलोचना व तपःकर्म का निर्देश है ?

गौतम—ऐसा तो नहीं है।

आनन्द—यदि भगवन् ! ऐसे समीचीन भावों की जिनागम में आलोचना व तपःकर्म नहीं है तो आप ही इस स्थान की आलोचना व तपःकर्म स्वीकार करें२।

आनन्द श्रमणोपासक के इस प्रकार कहने पर भगवान् गौतम शंका, कांक्षा व विचिकित्सा से युक्त होते हुए आनन्द के पास से निकल कर श्रमण भगवान् के पास पहुँचे और तब वहां उन्होंने गमनागमन का प्रतिक्रमण एवं एषण-अन्वेषण की आलोचना कर लाया हुआ अन्न-जल भगवान् को दिखलाया। तत्पश्चात् उन्हें नमस्कार कर इस प्रकार बोले—"हे भगवन् ! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर भिक्षा के लिए गया था, इस प्रकार सब वृत्तान्त कहते हुए उन्होंने कहा कि आनन्द श्रमणोपासक के उक्त कथन से मैं स्वयं शंकित हुआ हूँ, अतः आप कहिए कि उक्त स्थान की आलोचना व प्रायश्चित्त आनन्द श्रमणोपासक करे या मैं करूं।

इस पर भगवान् महावीर बोले कि हे गौतम ! उक्त स्थान की आलोचना व प्रायश्चित्त तुम स्वयं करो और इसके लिए आनन्द से क्षमा करावो३।

तदनुसार गौतम ने 'तथा' कहकर विनीतभाव से इसे स्वीकार करते हुए उक्त स्थान की आलोचना व प्रायश्चित्त किया तथा आनन्द श्रमणोपासक से क्षमा करायी४।

इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर वहां से अन्य प्रदेश के लिए विहार कर गये। [शेष पृ. ३८६ पर]

१. उवा. १, ८१.

२. उवा. १, ८६-८५

३. उवा. १, ८६

४. वही १, ८७

साहित्य-समीक्षा

जिणदत्त चरित—डा० माताप्रसाद गुप्त व डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल संपादित, महावीर भवन, जयपुर से प्रकाशित, पृष्ठ-२५२, मूल्य–५ रु०, सन्–जनवरी १९६६।

कुछ वर्ष पूर्व पाटोदी के मन्दिर (जयपुर) के हस्त-लिखित ग्रन्थों की सूची बनाते समय डा० कासलीवाल को 'जिणदत्तचरिउ' की एक प्रति प्राप्त हुई थी। इसके रचयिता कवि रल्हू ने इस चरित का निर्माण वि० सं० १३५४, भादवा सुदि ५, गुरुवार के दिन पूरा किया था। वह हिन्दी का आदि काल था। इस ग्रन्थ की भाषा भी प्राचीन हिन्दी है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्व है। हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास का विद्यार्थी उसका सही मूल्यांकन कर सकेगा। यह सच है। यदि उस दृष्टि से ग्रन्थ का संकेतात्म का आकलन भूमिका के साथ दे दिया जाता, तो वह पूरी हो जाती। डा० माताप्रसाद गुप्त के सम्पादक होने के कारण हम यह उम्मेद करते थे।

जिणदत्त की कथा जैन परम्परा मे सदैव लोकप्रिय रही है। शायद इसी कारण प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी के अनेक कवियो ने उसे अपनी अनुभूति का विषय बनाया। रल्हू ने लाखू (लक्ष्मण) के जिस 'जिनदत्त चरिउ' को अपना आधार माना है, वह लोक के बीच अत्यधिक प्रिय था। रल्हू की कथा वैसी नही मिली। लाखू की कथा की अनेक प्रतियां मिलती हैं। अच्छा होता कि ग्रन्थ के परिशिष्ट में उसे भी मूल रूप में रख दिया जाता। वैसे, भूमिका में डा० कासलीवाल ने जिणदत्त की कथा को लेकर बने सभी काव्यों का खोजपूर्ण इतिहास दिया है। इसमे उन्हें परिश्रम करना पड़ा होगा। शोध की दृष्टि से वह एक ठोस सामग्री है। पूरी भूमिका ही शोध निबन्ध है। जैन ग्रन्थों की भूमिकाओं को ऐसा होना ही पड़ता है।

डा० कासलीवाल ने इस ग्रन्थ का विभिन्न दृष्टियों से महत्व प्रतिपादित किया है। एक दृष्टि और है, प्रेम को अक मे समेट कर वीर रस के परिपाक का इसका अपना ढंग है। अर्थात् इस काल की अन्य वीर रसात्मक कृतियों से पृथक् है। खूबी है कि अवसान शान्तरस मे कर दिया है। कथानक के प्रबन्ध निर्वाह मे वह स्वाभाविक ढंग से हुआ है। प्रेम और उस पर जड़ा वीर रस जिसकी ढलान शान्ति की ओर। इस ग्रन्थ की देन है। यह सच है कि जयपुर के भण्डारों मे हिन्दी भाषा के ऐसे अनेक रत्न पड़े हुए है। उनका सम्पादन और प्रकाशन महावीर भवन से हो रहा है, इससे केवल जैन वाङ्मय ही नहीं, अपितु हिन्दी साहित्य भी कृतार्थ हैं। इस ग्रन्थ की छपाई, कागज, परिशिष्ट, भूमिका, मूलग्रन्थ और उसका अनुवाद सब कुछ डा० कस्तूरचन्द जी की कर्मठता लगनशीलता और साधना का प्रतीक है। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

चम्पा शतक—चम्पादेवी-विरचित, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल सम्पादित, प्रकाशक—महावीर भवन, जयपुर, सन्—१९६६, पृष्ठ—१२४, मूल्य—२ रु०।

इस लघुकाय पुस्तक में कवियित्री चम्पादेवी के १०१ पदों का सकलन है। सभी पद भक्ति मे विभोर कर देने वाले है। उनमें सहज स्वाभाविकता है। चम्पादेवी न साहित्यकार थी और न साहित्य-निर्माण की दृष्टि से इन पदों की रचना की गई। चम्पादेवी एक भयंकर रोग में ग्रस्त हुई तो मुनि वादिराज की भाति उन्होंने अर्हन्त-भक्ति का आश्रय लिया। एक दिन रोग की वेदना से प्रपीड़ित वे जमीन पर पड़ी सिसक रही थी कि उनके मुख से पहला पद—"पड़ी मझधार मेरी नैया, उबारोगे तो क्या होगा, निःसृत हो पड़ा। शनैः शनैः रोग उपशम हो गया, किन्तु भक्ति उभरती गई। यह भाव इस रचना का मूलाधार है। कृति भक्ति-पूर्ण है। लोकप्रिय इतनी कि उसकी अनेक प्रतियां मिलती है। स्वाभाविकता ऐसी कि आज भी मन तृप्त होता है। उन्होंने इसकी रचना ६६ वर्ष की उम्र मे की। अतः भक्ति की सहजता को स्थान था। वह मिला।

डा० कासलीवाल की भूमिका ने पुस्तक के महत्व को और भी बढ़ा दिया है। उसमें कवियित्री का जीवन-परिचय है तथा काव्य आकलन भी। पदों का वर्गीकरण है और तदनुसार उनके महत्व का प्रतिपादन। यह आवश्यक था। एक महिला कवि की इस रचना का सुष्ठु प्रकाशन कर महावीर भवन जयपुर और उसके मन्त्री धन्यवादार्ह है।

—डा० प्रेमसागर जैन

अनेकान्त के उन्नीसवें वर्ष की विषय-सूची

१ अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान —परमानन्द शास्त्री २७६, ३२६
२ अचलपुर के राजा श्रीपाल ईल—नेमचन्द धन्नूसा जैन १०५
३ अन्तिम तीव्र इच्छाएं—डा० प्रेमसागर २३
४ अनासक्त कर्मयोगी—पं० कैलाशचन्द जैन १०
५ अनेकान्त और वीरसेवामन्दिर के प्रेमी बा० छोटेलालजी—जुगलकिशोर मुख्तार १८१
६ अपभ्रंश चरित काव्य—डा० देवेन्द्रकुमार ८४
७. अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत संस्कृत कर्मप्रकृति—डा० गोकुलचन्द्र जैन एम.ए. पी-एच. डी. ३३५
८ अभिनन्दन पत्र १६५-१६६
९ आश्रम पत्तन ही केशोराय पट्टन है—डा० दशरथ शर्मा ७०
१० आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा—पं० कुन्दनलाल जैन १२४
११ आधुनिक विज्ञान और जैनदर्शन-पदमचन्द जैन १७३
१२ उदार मना स्व० बाबू छोटेलालजी—पं० बंशीधर शास्त्री २
१३ उनकी अपूर्व सेवाएँ—पन्नालाल अग्रवाल ४८
१४ उनके मानवीय गुण—अक्षयकुमार जैन १८
१५ उपनिषदों पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव—मुनि श्री नथमल २६२
१६ एक अकेला आदमी—मुनि कान्तिसागर ३४
१७ एक अविस्मरणीय व्यक्तित्व—भंवरलाल नाहटा २७
१८ एक निष्ठावान साधक—जैनेन्द्रकुमार जैन १८७
१९ एक लाख रुपये का साहित्यिक पुरस्कार······ २८७
२० एक संस्मरण—डा० ज्योतिप्रसाद जैन १९०
२१ एलिचपुर के राजा एल (ईल) और राजा अरिकेशरी—पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन २१६
२२ ऐसे उपकारी व्यक्ति को श्रद्धा सहित प्रणाम (कविता)—कल्याणकुमार 'शशि' ३६
२३ ऋषभ स्तोत्रम्—मुनि पद्मनन्दि २४३
२४ क्या द्रव्य संग्रह के कर्ता व टीकाकार समकालीन नहीं हैं ?—परमानन्द जैन शास्त्री २९९
२५ कल्याण मित्र—डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ८
२६ कुछ पुरानी पहेलियां—डा० विद्याधर जोहरा पुरकर ३३१
२७ क्रोध पर क्रोध—परमानन्द जैन १००
२८ खजुराहो का घण्टइ मन्दिर—गोपीलाल अमर २२९
२९ गंधावल और जैन मूर्तियां—एस. पी. गुप्ता और बी. एन. शर्मा १२९
३० चंपावती नगरी—नेमचन्द धन्नूसा जैन ३२४
३१ चातुर्मास योग—मिलापचन्द जी कटारिया ११७
३२ जसहर चरिउ की एक कलात्मक सचित्र पाण्डुलिपि—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ५१
३३ जिनवर स्तवनम्—मुनि पद्मनन्दि २०३
३४ जीवन संगिनी की समाधि पर संकल्प के सुमन —स्व० बाबू जी की डायरी का एक पृष्ठ ३९
३५ जैन कथा साहित्य की विशेषताएँ—डा० नरेन्द्र-भानावत १३१
३६ जैन चम्पू काव्यों का अध्ययन—अगरचन्द नाहटा ३६७
३७ जैन और वैदिक अनुश्रुतियों में ऋषभ तथा भरत की भवावलि—डा० नरेन्द्र विद्यार्थी ३०९
३८ जैनदर्शन और निःशस्त्रीकरण—साध्वी श्री मंजुला २४०
३९ जैनदर्शन और वेदान्त—मुनि श्री नथमल १६७
४० जैन प्रतिमा लक्षण—बालचन्द्र जैन एम. ए. २०४
४१ जैन बौद्ध दर्शन—प्रो. उदयचन्द जैन १५८
४२ जैन मूर्तिकला का प्रारम्भिक स्वरूप—रमेशचन्द शर्मा १४२
४३ जैन साहित्य के अनन्य अनुरागी—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल २५२

४४ ज्ञान तपस्वी गुणिजनानुरागी—रतनलाल कटारिया २१
४५ तलघर में प्राप्त १६० प्रतिमाएँ—श्री अगरचन्द नाहटा ८१
४६ तिरुकुरल (तमिलवेद) : एक जैन रचना—मुनि श्री नगराज २४६
४७ तीन दिन का आतिथ्य—डा० नेमिचन्द शास्त्री ४५
४८ दिल्ली शासकों के समय पर नया प्रकाश—हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री २५६
४९ द्रव्य संग्रह के कर्ता और टीकाकार के समय पर विचार—परमानन्द जैन शास्त्री १४५
५० देश और समाज के गौरव—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ४२
५१ दो संस्मरण—स्वतंत्र जैन १९९
५२ धर्मचक्र सम्बन्धी जैन परम्परा—डा० ज्योतिप्रसाद जैन १३९
५३ धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध—गोपीलाल 'अमर' १२२
५४ धर्म प्रेमी बा० छोटेलाल जी—विशनचन्द जैन १९७
५५ धर्म और संस्कृति के अनन्य प्रेमी—प० के. भुजबली शास्त्री ४८
५६ धुवेला संग्रहालय के जैन मूर्ति-लेख—बालचन्द एम. ए, २४४
५७ नाम बड़े दर्शन सुखकारी—अमरचन्द जैन १७
५८ निर्वाणकाण्ड की निम्न गाथा पर विचार—प० दीपचन्द पाण्ड्या २६१
५९ पुरानी यादें—डा० गोकुलचन्द जैन ३१
६० प्राकृत वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा का विहंगावलोकन—डा० सत्यरंजन बनर्जी १७५
६१ बंगाल का गुप्तकालीन जैन ताम्रशासन—स्व० बाबू छोटेलाल जैन २३४
६२ बुद्धघोष और स्याद्वाद—डा० भागचन्द जैन एम. ए. पी-एच. डी. २९२
६३ बौद्ध साहित्य में जैनधर्म—प्रो० डा० भागचन्द जैन एम. ए. पी. एच. डी. २९२
६४ मध्य भारत का जैन पुरातत्व—परमानन्द शास्त्री ५४
६५ महाकवि रइधूकृत सावयचरिउ—डा० राजाराम जैन १०१
६६ मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी का ९०वां जन्म-जयन्ती उत्सव—परमानन्द शास्त्री ३३३
६७ मूक जन सेवक बाबू जी—प्रभुलाल प्रेमी ३१
६८ मूक सेवक—प्रो० भागचन्द जैन १९
६९ मेवाड़ के पुरग्राम की एक प्रशस्ति—रामवल्लभ सोमानी ३०३
७० राजघाट की जैन प्रतिमाएँ—नीरज जैन ४९
७१ राजस्थान का जैन पुरातत्व—डा० कैलाशचन्द्र जैन १५३
७२ रामचरित का एक तुलनात्मक अध्ययन—मुनि श्री विद्यानन्द जी ३१५
७३ बयाना जैन समाज को बाबू जी का योगदान—कपूरचन्द नरपत्येला ३७
७४ विचारवान एक सहृदय व्यक्ति (एक संस्मरण)—पन्नालाल साहित्यचार्य १८८
७५ विदर्भ के दो हिन्दी काव्य—डा० विद्याधर जोहरापुरकर ९७
७६ विनम्र सिद्धांजलि—कपूरचन्द बरैया १९४
७७ वीरनन्दी और उनका चन्द्रप्रभ चरित्र—अमृतलाल शास्त्री १४८
७८ वे क्या नहीं थे—श्री नीरज जैन १२
७९ वे महान् थे—प्रकाश हितैषी शा० २००
८० व्यक्तित्व के धनी—यशपाल जैन २९
८१ वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएं—डा० राजकुमार जैन ७४
८२ शान्तिनाथ फागु—कुन्दन लाल जैन एम. ए. २८२
८३ शिक्षा का उद्देश्य—आचार्य तुलसी २०७
८४ श्रद्धाञ्जलि—प्रेमचन्द जैन १९८
८५ श्रद्धाजलि (कविता)—अनूपचन्द जैन न्यायतीर्थ ४४
८६ श्रमण संस्कृति के उद्भावक ऋषभदेव—परमानन्द शास्त्री २७३

८७ श्रावक व्रत विधान का अनुष्ठाता : आनन्द श्रमणोपासक—बालचन्द सि० शा० ४७६
८८ श्री शिरपुर पार्श्वनाथ स्वामी विनति—नेमचन्द्र धन्नूसा जैन ३०१
८९ षट्खण्डागम-परिचय—बालचन्द सि. शास्त्री २२०
९० षट्खण्डागम और शेष १८ अनुयोगद्वार—बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री २७५
९१ सच्चा जैन—डा० दशरथ शर्मा २०
९२ संतुलन-अपना व्यवहार—मुनिश्री कन्हैयालाल ५०
९३ संस्कृत के जैन प्रबन्ध-काव्यों में प्रतिपादित शिक्षा पद्धति—डा० नेमीचन्द शास्त्री १०९
९४ संस्मरण—पं० हीरालाल सि. शास्त्री १९२
९५ समय और साधना—साध्वी श्री राजमती २७०
९६ समय का मूल्य —मुनिश्री विद्यानन्द ३५९
९७ सम्यग्दृष्टि का स्तवन—बनारसीदास १
९८ सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक पर षट्-खण्डागम का प्रभाव—बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री ३२०
९९ सरस्वति-स्तवनम्—मुनि श्री पद्मनन्दि ३३९
१०० साहित्य समीक्षा—परमानन्द शा० २०१,२८९,३३७
१०१ साहित्य-समीक्षा—डा० प्रेमसागर ३८३
१०२ सिद्ध-स्तुति—मुनि पद्मनन्दि २९१
१०३ सुजानमल की काव्य-साधना—गंगाराम गर्ग १२०
१०४ सूरदास और हिन्दी का जैन पद काव्य (एक तुलनात्मक विश्लेषण)—डा० प्रेमसागर २३३
१०५ सूत्रधार मण्डन विरचित रूपमण्डन में जैन मूर्ति लक्षण—अगरचन्द नाहटा २९४
१०६ स्थायी सुख और शान्ति का उपाय—पं० ठाकुर दास जैन १३६
१०७ स्याद्वाद का व्यावहारिक जीवन में उपयोग—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ १९५
१०८ स्व० बाबू छोटेलाल जी का वंश वृक्ष—श्री नीरज जैन ३५
१०९ स्व-स्वरूप में रम २३३
११० हिन्दी जैन कवि और काव्य—डा० प्रेमसागर जैन ३४७

[पृष्ठ ३८२ का शेषांश]

उधर आनन्द श्रमणोपासक बहुत शीलव्रतों से अपने को सुसंस्कृत करते हुए बीस वर्ष तक श्रमणोपासक की पर्याय में रहा। उसने ग्यारह प्रतिमाओं का यथाविधि परिपालन किया और मासिक संलेखना के साथ आलोचना-प्रतिक्रमणादि करते हुए कालमास में—मृत्यु के समय में—मरण को प्राप्त होकर सौधर्म कल्प के भीतर अरुण विमान में देव पद पाया। वह वहां से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र से सिद्धि को प्राप्त करेगा[३]।

---

१. वही १, ८८–९०

[टा० पेज २ कालम दो का शेषांश]

मा० राज्यपाल ने अपने भाषण मे कहा कि पारमार्थिक सस्थाओं के स्वर्ण जयन्ती समारोह का अवसर अनोखा एवं महत्वपूर्ण है। आपने कहा कि आदर्श कार्य सभी धनिको के लिए एक प्रेरणास्त्रोत है। धनिक लोगो को अपने को सम्पत्ति का सरक्षक समझकर सम्पत्ति का सदुपयोग जरूरतमद व्यक्तियो की आवश्यकताओ की पूर्ति मे करना चाहिए। उन्होने सेठ राजकुमार सिंह जी के भाषण से निम्न अश पढ़कर सुनाया —

'धर्म ने जहा एक ओर मनुष्य के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया वहां दूसरी ओर लोक कल्याण की भावना को ध्यान मे रखकर जीवन मे दान एव अपरिग्रह के महत्व का प्रतिपादन भी किया है। आपने आशा व्यक्त की कि स्व० सेठ सा० के परिवार द्वारा इस परम्परा को आगे भी चलाया जावेगा। अन्त मे उन्होने रा० ब० सेठ राजकुमारसिंह जी को इस अवसर पर सम्मिलित होने का अवसर देनेके लिए धन्यवाद दिया।

रा० ब० सेठ राजकुमारसिंह जी ने पारमार्थिक सस्थाओ के ट्रस्ट एव प्र० का० क० के अध्यक्ष के नाते इस सुअवसर पर सस्था के समस्त कर्मचारी गणों को १५ दिन का अतिरिक्त वेतन देने की उदार घोषणा की।

फिर सस्थाओ के उपाध्यक्ष श्री महाराज बहादुरसिह जी ने आगन्तुक महिलाओं एव सज्जनों का हृदय से आभार प्रदर्शन किया।

अन्त मे छात्राओं द्वारा जन, गण, मन का गान हुआ व सभा की कार्यवाही समाप्त हुई। इस अवसर पर सस्मरण विशेषाक, स्वागतभाषण एवं संक्षिप्त विवरण पत्रिका व मानपत्र भी वितरित किये गये।

—नेमिचन्द्र जैन सं० मंत्री

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट, श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन, मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) , सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर (म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ॥॥)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ॥॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ॥॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र— स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित मूल्य ४)

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १।)

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡), (६) महावीर पूजा ।)

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १)

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२)

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५)

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... .. २०)

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी मे अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।